मूल्य : १५-०० रु०



प्रथम संस्करण : १९७७

प्रकाशक



अनीता प्रकागन

३६९६, चर्खेवालान, दिल्ली-६

मुद्रक



अमर प्रिंटिंग प्रेस

८/२५, विजय नगर, दिल्ली-९

Price : Rs. 15 00



BHRAMAR GEET SAR

by . Maya Agarwal

दो शब्द

महाकवि सूरदास भक्तिकालीन कृष्ण काव्य ही नही, विश्व साहित्य में शीर्षस्थ स्थान रखते है। उनकी कीर्ति का एकमात्र स्तम्भ उनका 'सागर' है जिससे 'भ्रमर-गीत सार' के रूप मे मोतियो को चुना गया है। भाव, रस, अलंकार विधान और सगीत-विधान आदि—सभी दृष्टि से उनका साहित्य—विशेषत: भ्रमर-गीत सम्बन्धी साहित्य उच्च कोटि का साहित्य है। मानव-हृदय की जितनी पहचान महाकवि सूरदास को है, सम्भवत: उतनी पहचान किसी साहित्यकार को हो।

'भ्रमरगीत' सूरदास के ४०० उत्कृष्ट पदो का संकलन है। प्रस्तुत पुस्तक मे इन्ही सकलित पदो की विशद् व्याख्या साहित्यिक टिप्पणियों सहित की गयी है। कठिन शब्दो का अर्थ भी अध्ययन की सुविधा के लिए दे दिया गया है। पुस्तक को सर्वागपूर्ण बनाने के उद्देश्य से सूरदास के काव्य के महत्वपूर्ण पक्षो की समीक्षा विवेचना की गयी है और भ्रमरगीत परम्परा मे उनके स्थान को निर्धारित करने की चेष्टा की गयी है। काव्य के विभिन्न पक्षो—वियोग-वर्णन, प्रकृति-चित्रण, प्रतीक-विधान, वक्रोक्ति चित्रण, भाषा और अलकार-विधान सभी पर स्वतन्त्र रूप से विचार किया गया है। विवेचन को यथा सम्भव वैज्ञानिक और सार-गर्भित बनाने की चेष्टा की गयी है।

पुस्तक रचना मे जिन अधिकारी विद्वानो की कृतियों से सहायता ली गयी है लेखक उनके प्रति आभारी है।

आशा ही नही, प्रत्युत विश्वास है कि प्रस्तुत पुस्तक सूर काव्य के सुधी अध्येताओ एव स्नातकोत्तर छात्रो के लिए अधिकाधिक उपयोगी सिद्ध होगी।

विनीत—

भ्रमर-गीत परम्परा

भ्रमर अपनी रसलोलुपता के लिए सर्वविदित है अतः साहित्य में 'भ्रमर' नित नई नवेली से रगरेलियाँ मनाने वाले पुरुष के लिए प्रयुक्त होता रहा है। साहित्यकार अपनी अभिव्यवित को सशवत और सजीव बनाने के लिए प्राय प्रतीको का आश्रय लेता है। इस सम्बन्ध मे यह दृष्टव्य है कि कवि अथवा साहित्यकार इन प्रतीको का प्रयोग किसी चमत्कार की सृष्टि करने अथवा उक्ति-वैचित्र्य उत्पन्न करने के लिए नही करता अपितु इन प्रतीकों की सहायता बहुधा ऐसे अवसरो पर ली जाती है जब हमारी भाषा पगु और अशक्त-सी बन कर मौन धारण करने लगती है और जब अनुभवकर्ता के विविध भाव पत्थरो से चतुर्दिक टकराने वाले स्रोतों की भाँति फूट निकलने के लिए मचलने से लग जाते है। ऐसी दशा मे हम उनकी यथेष्ट अभिव्यक्ति के लिए उनके साम्य की खोज अपने जीवन के विभिन्न अनुभवो में करने लगते है और जिस किसी को उपयुक्त पाते है, उसका प्रयोग कर उसके मार्ग द्वारा अपनी भाव-धारा को प्रवाहित कर देते है।[1] साहित्य के क्षेत्र मे भ्रमर का प्रयोग एक ऐसे ही प्रतीक के रूप में होता रहा है।

भारत का इतिहास इस बात का साक्षी है कि वैदिक युग में नारी को जो समानता का अधिकार प्राप्त था, समय के साथ-साथ पुरुप उस समानता के अधिकार का अपहरण करता रहा और इस सुदीर्घ कथा का चरमोत्कर्प सम्भवत. वहाँ हुआ जहाँ नारी, पुरुप के अविश्वास पूर्ण खिलवाड़ का आधार बन कर रह गई। पुरुष निरन्तर नारी की भावनाओ के साथ खेलता रहा, उसके सुकोमल हृदय की एक निष्ठता के बदले मे छलावा देना ही अपना परम-धर्म मानता रहा। पुरुष की इसी रसलोलुपता की अभिव्यक्ति के लिए कवियो ने भ्रमर और कली के माध्यम से नारी-पुरुष के सम्बन्धो की व्याख्या करनी आरम्भ की। स्वभावत. कली नारी का प्रतीक बन गई और इस प्रकार कवि की कल्पना का सस्पर्श पाकर निरन्तर पुरुष की बेवफाई से ग्रस्त नारी की

---

१. सूर और उनका साहित्य : डा० हरवंशलाल शर्मा, पृष्ठ ३४५।

अन्तर्वेदना साकार हो गई। भ्रमर और कली के प्रतीक द्वारा पुरुष को उपालम्भ देने का प्रयास संस्कृत के महाकवि कालिदास ने सर्वप्रथम किया था। कवि कालिदास ने राजा दुष्यन्त की पहली रानी हंसपदिका के मुख से पहली बार भ्रमर-विषयक उक्ति का प्रयोग किया है। इसके पश्चात गोवर्धन, विकटनितम्बा आदि संस्कृत कवियों ने भ्रमर-विषयक उक्तियों के प्रयोग द्वारा पुरुष की रसलोलुपता के प्रति उपालम्भ दिए हैं।

भ्रमर गीत की इस परम्परा का व्यवस्थित रूप कृष्ण भक्ति सम्बन्धी ग्रन्थों में मिलता है। कृष्ण भक्ति की सुदीर्घ परम्परा में माधुर्य भाव की सृष्टि के साथ ही भ्रमर-गीत की इस परम्परा को नितान्त नया अर्थ मिल गया। एक विद्वान् आलोचक के शब्दों में, "यहाँ आकर भ्रमरोपालम्भ, जो अब तक भौतिक प्रेम के क्षेत्र में ही सीमित रहा था, आध्यात्मिक क्षेत्र में भी अवतीर्ण हुआ। धीरे-धीरे इसमें अनेक तत्वों का समावेश होता गया और एक ओर तो एक विशिष्ट दार्शनिक पृष्ठभूमि में इसकी जड़ जम गई और दूसरी ओर कई दार्शनिक, विचार धाराओं से इसका संघर्ष भी हुआ। अनेक शताब्दियों की दीर्घ अवधि में बदलती हुई परिस्थितियों और विकसित होती हुई भक्ति-साधना के साथ कवित्व का मणीकाचन योग हो जाने के कारण इस परम्परा ने जो रूप धारण किया, वह हिन्दी साहित्य में 'भ्रमर-गीत साहित्य' के नाम से प्रसिद्ध है।"[1] श्रीमद्भागवत दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध के ४७वें अध्याय में गोपियों ने पहली बार भ्रमर विषयक उक्ति का प्रयोग करते हुए अपने निकटस्थ एक भौंरे को सम्बोधित करते हुए कहा है कि "हे धूर्त (श्रीकृष्ण) के बन्धु मधुकर, तुम हमारे चरण मत छुओ तुम्हारी मूछों में सौत के वक्षस्थल पर विहार करने वाली माला का कुंकुम लगा है। मधुपति कृष्ण ही यादवों की सभा में उपहास कराने वाले इस प्रसाद को धारण करें, हम इसे नहीं चाहती। तुम्हारी और कृष्ण की बन्धुता ठीक ही है, क्योंकि जैसे तुम सुमनों को रस लेकर छोड़ जाते हो वैसे ही एक बार मोहिनी अधर-सुधा पिलाकर वे भी एकाएक हमको छोड़ कर चले गए।"[2] तदुपरान्त श्रीकृष्ण के प्रेम में

१. सूर और उनका साहित्य : डा० हरवंशलाल शर्मा, पृष्ठ ३४६।
२. श्रीमद्भागवत् के श्लोक ११, १२, तथा १३ का भावानुवाद।

उन्मत्त गोपियाँ उसी भ्रमर को लक्ष्य करके एक ओर तो कृष्ण के प्रति अपने प्रेम की एकनिष्ठता और अनन्यता का परिचय दे रही हैं तथा दूसरी ओर श्रीकृष्ण के प्रेम मे अनुस्यूत कपटता, अकृतज्ञता, क्रूरता एव निष्ठुरता की सप्रमाण व्याख्या कर रही है। जब गोपियो को यह ज्ञात होता है कि श्रीकृष्ण द्वारा भेजे गए दूत उद्धव व्रज मे पदार्पण कर चुके है तो वे उपालम्भ देती हुई उद्धव को कहती है कि "उद्धव जी ! आप व्रजनाथ, नही-नही यदुनाथ जी के पार्षद है। उन्होने अपने माता-पिता को सुख देने के लिए आपको यहाँ भेजा है। और उनका यहाँ है भी कौन ? अपने माता-पिता के अतिरिक्त दूसरो के साथ जो प्रेम-सम्बन्ध किया जाता है वह स्वार्थवश होता है। मतलब निकल जाने पर प्रेम का स्वाग समाप्त हो जाता है। भौंरो का पुष्प से और पुरुष का स्त्री से ऐसा ही प्रेम होता है। यहाँ सब प्रेम-सम्बन्ध स्वार्थ पर आधृत है। धन न रहने पर वेश्या अपने कामुक को धता बता देती है, अध्ययन समाप्त होने पर कितने शिष्य अपने आचार्यों की सेवा करते है ? वृक्ष पर फल नही रहते तो पक्षी भी उड जाते है। वन मे आग लगी कि पशु भाग खडे हुए। स्त्री के हृदय मे कितनी ही आसक्ति हो, व्यभिचारी पुरुष मतलब निकल जाने पर उलट कर भी नही देखता। ससार के प्रेम-सम्बन्ध ऐसे ही होते है।" गोपियो के इस कथन मे एक ओर तो श्रीकृष्ण के प्रति उनका एकनिष्ठ एव अनन्य प्रेम का परिचय मिलता है तो दूसरी ओर उनकी अन्तर्वेदना भी साकार हो गई है। उनके हृदय का रोम-रोम मानो चिल्ला-चिल्ला कर श्रीकृष्ण की निष्ठुरता, अकृतज्ञता एवं स्वार्थपरता की दुहाई दे रहा है। उनके सुकोमल हृदय, श्रीकृष्ण-प्रेम मे विवश और विरहाकुल है। ज्ञान के अपरिमित उपदेश, बुद्धि के तर्कनिष्ठ एव सुविचारित कथन, उनके समक्ष कोई अर्थ नही रखते। श्रीकृष्ण के प्रेम मे फंसी हुई इन गोपियों को श्रीकृष्ण की कार्य व्यस्तता से कोई सरोकार नही है। वे श्रीकृष्ण के सुन्दर सलोने रूप के प्रति इतनी आसक्त हैं कि उद्धव द्वारा वर्णित निराकार ब्रह्म का रूप उनके गले नही उतरता। भागवतकार ने निर्गुण ब्रह्म की प्रतिष्ठा करने के साथ-साथ गोपियों के मानवी रूप की प्रतिष्ठा करके इस सम्पूर्ण प्रसग को एक नवीन भावात्मक रूप प्रदान किया है।

भागवत में भ्रमर-गीत प्रसग की अनेक ऐसी विशेषताएं हैं जिनके कारण

भागवताकार का यह प्रसंग सूर के भ्रमर-गीत से कदाचित भिन्न आधार-भूमि पर अवस्थित दीखता है। इस सम्बन्ध मे सर्वाधिक उल्लेखनीय तो यह है कि ज्ञान और भक्ति का जो द्वन्द्व सूर के भ्रमरगीत में दीखता है, वह भागवत् मे कही भी नही है। एक विद्वान् आलोचक के शब्दो मे 'स्पष्ट है कि भागवत् में ज्ञान व भक्ति मे द्वन्द्व नही स्थापित किया गया। भागवतकार का उद्देश्य केवल धर्म-साधना का उपदेश देना है यद्यपि उसने यह ध्यान रखा है कि यथा-सम्भव इस धर्म-साधना को कवित्वपूर्ण वनाया जाए। सूरदास का उद्देश्य वही है जो भागवतकार का है। 'ईश्वर से प्रेम'—शिक्षा ही सूर का भी उपदेश है। परन्तु इस उद्देश्य को सूरदास पीछे डालकर कृष्ण व गोपी, वियोग को कवित्व पूर्ण वनाने मे अपनी शक्ति लगा देते है।"[1] सूर के भ्रमर-गीत मे भागवतकार की तरह धार्मिकता का आग्रह नही है। कदाचित् यही कारण है कि सूर का भ्रमर-गीत अपेक्षतया अधिक मौलिक और प्रभावोत्पादक वन पड़ा है। इन दोनो मे दूसरा भेद-उद्धव के व्यक्तित्व को लेकर है। भागवतकार के उद्धव स्थल-स्थल पर गोपियो के श्रीकृष्ण-प्रेम की अनन्यता की प्रशसा करते हैं।" यही नही, वे गोपियो के प्रेम को अज्ञान अथवा मोह कहकर उसकी निन्दा भी नही करते। वस्तुत भागवतकार का मूल उद्देश्य यह रहा है कि वे जनमानस के समक्ष यह सिद्ध कर दें कि चिरकाल से उपेक्षित और तिरस्कृत नारी भी भगवत् प्रेम करती है और उसमे अटूट विश्वास भी रखती है। उद्धव को इसी वात पर घोर आश्चर्य होता है कि व्रज की गोपियाँ वनगामिनी और सस्कारविहीन होते हुए भी ईश्वर के प्रति कितनी अधिक आसक्ति रखती हैं। उद्धव कहते हैं कि—

क्वेमा स्त्रियो वनचरी र्व्यभिचार दुष्टा.
कृष्ण क्व चैष परमात्मनि रूढ भाव.
नन्वीश्वरोऽनुमज तोऽविदुषोऽपि साक्षा—
च्छ्रेयस्तनोत्यगदराज द्वोपयुक्तः ॥

अर्थात् कहाँ तो ये व्यभिचार दूपिता वनवासिनी स्त्रियाँ और कहाँ इनका परमात्मा मे इतना सुदृढ अनुराग। इससे सिद्ध होता है कि यदि अज्ञानी भी

1. सूर का भ्रमर-गीत एक अन्वेषण - विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, पृष्ठ ६।

भगवान् का भजन करे तो वह उसका परम कल्याण करते है जैसे अमृत बिना जाने पीने से भी अमर कर देता है।

सस्कृत साहित्य में भागवत के पश्चात् 'भ्रमर-गीत' परम्परा के कोई सूत्र नही मिलते। हिन्दी मे भ्रमर-गीत परम्परा का निर्वाह करने वालों मे सबसे पहले कवि विद्यापति है। तथापि विद्यापति ने भ्रमर-गीत के इस प्रसग का कोई सुसम्बद्ध, सुगठित रूप प्रस्तुत नही किया। उनकी समस्त पदावली मे केवल दो तीन पद ही भ्रमर-गीत परम्परा के अधीन माने जा सकते हैं यथा—

कत दिन माधव रहब मधुरपुर बिहि बाम।
दिवस लिखि लिखि नखा खो आयनु बिछुरत-गोकुल नाम।
हरि हरि काह कहब सम्बाद।
सुमरि सुमरि नेह खिन भेला मोर देह, जिवनक अब कौन साथ।
पूरब पियारी नारि हल अछन, अब दासनहु सदेह।
भ्रमर भ्रमरी भ्रमि सवहु कुसुम रमि, नहिं तजे कमलनि नेह।
आस निगड़ करि जिउ कत राखब अबहिं जकरत परान।
विद्यापति कह आसहीन नह अउब सो कर कान।

× × ×

ऊधव कब हमसी व्रज जाइब।
कब प्रिय छबलि सरमि स्यामलि, तेइ सखन स दुध दुहाइब।
कब श्रीदामा सुबल प्रिय मित, मिलि कानन धेनु चराइब।
कब जमुना तिर नीप तरुतर मोहन बेनु बजाइब।
कब वृषभानु किशोरि गोरि सौ कुंजहि रास रचाइब।
कब ललितादि सखी सुन्दरि कहं, सादर अंक लगाइब।
विद्यापति कह अइसन सुभ दिन राइक मान मनाइब।

× × ×

प्रेम अकुर जात आत मेल न मेल जुबल पलाशा।
प्रतिपद चाँद उदय जैसे भामिनी सुखलव मै गैल निराशा।
सखि हे अब मोहे निठुर मधाई अवधि रहलि बिसराई।
के जाने चाँद चकोरिणी वंचब माधक मधुप सुजान।

अनुभवि कानु पिरीति अनुमानिये विघटित विहि निरमान।
पाप पराण आन नहिं जानत कान्ह कान्ह करि मूरन।
विद्यापति कह निकरुण माधव गोविन्ददास रस पूरन।

यद्यपि विद्यापति के उक्त पदो मे भ्रमर-गीत परम्परा के किसी विकसित अथवा सुव्यवस्थित रूप के दर्शन नही होते तो भी यह निर्विवाद है कि हिन्दी मे भ्रमर-गीत प्रसग की प्रथम अवतारणा करने का श्रेय विद्यापति को ही जाता है।

भ्रमर-गीत परम्परा को व्यापक और सुदृढ आधार देने का श्रेय कृष्ण भक्त कवि सूरदास को ही दिया जा सकता है। सूरदास ने तीन भ्रमर-गीतो की रचना की है—पहले भ्रमर-गीत मे लगभग ३०० पद है जिनमे कवि ने नन्द, यशोदा और गोपियो की विरह-व्यथा का अत्यन्त सजीव वर्णन किया है। यह भ्रमरगीत समूची भ्रमरगीत परम्परा मे वेजोड और अद्वितीय है। सूर के दूसरे भ्रमरगीत मे केवल दो ही पद है। पहले मे तो श्रीकृष्ण के ज्ञानी सखा उद्धव का व्रज-आगमन, गोपियो की प्रेम जन्य पीडा और श्रीकृष्ण के मिलन की आशा का वर्णन है और दूसरे पद मे उद्धव गोपियो को ज्ञान और योग का पाठ पढाते है किन्तु अन्तत गोपियो के प्रेम की एकनिष्ठता और अनन्यता ही विजयी रहती है और उद्धव गोपियो के तर्को से अभिभूत होकर लौटते है। सूरदास के तीसरे भ्रमर-गीत मे एक ही पद है किन्तु यह पद अपने आप मे दीर्घकाय है। इसमे लगभग सत्तर पक्तियाँ है और इसका आरम्भ ही उद्धव के उपदेश से होता है। सूरदास के इस भ्रमर-गीत मे गोपियाँ अपेक्षा अधिक व्यवहार कुशल और तार्किक है।

अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से सूर के विस्तृत भ्रमरगीत को मुख्यत चार भागो मे विभाजित किया जा सकता है—पहला भाग तो वह जिसमे श्रीकृष्ण अपने ज्ञानी सखा उद्धव को बुलाते हैं और व्रज जाकर ज्ञान की सरिता प्रवाहित करने का आग्रह करते है, दूसरा वह जिसमे उद्धव, व्रज पहुँचते है और श्रीकृष्ण के विरह मे व्याकुल गोपियो को श्रीकृष्ण की पक्तियाँ पढकर सुनाते है और गोपियाँ अपने मन की प्रतिक्रिया को व्यक्त करती है, तीसरा वह जबकि वही एक भ्रमर गुनगुनाता हुआ आ जाता है और तब गोपियाँ उस भ्रमर के माध्यम से उद्धव तथा श्रीकृष्ण-दोनो को उपालम्भ देती है और उद्धव के ज्ञान एव योग के उपदेशो का उपहास करती है, तथा चौथा वह जिसमे स्वयं उद्धव ही

ब्रज की गोपियो के श्रीकृष्ण प्रेम की एकनिष्टता एव अनन्यता से अभिभूत हो जाते है और मथुरा आकर श्रीकृष्ण के समक्ष गोपियो की विरह-दशा का मार्मिक वर्णन करते है।

गोपियो की भ्रमर-विषयक उक्तियो का विश्लेषण करने पर पाँच प्रकार की उक्तियाँ देखने मे आती है। एक विद्वान् आलोचक के अनुसार उक्तियो के ये पाँच प्रकार है—(क) वे उक्तियाँ जिनमे गोपियाँ ज्ञान एव योग की दुस्साध्यता का निरूपण करती है और उद्धव द्वारा दिए गए उनके उपदेश का उपहास करती है। (ख) वे उक्तियाँ जिनमे गोपियाँ उद्धव को नाना भाव मे कोसती तथा उपालम्भ देती है। (ग) वे उक्तियाँ जिनमें वे श्रीकृष्ण को छली-कपटी कहती है, उनकी प्रीति को अस्थिर एव स्वार्थपूर्ण बताती है और कुब्जा को लेकर उन पर व्यग्य पूर्ण प्रहार करती है। (घ) वे उक्तियाँ जिनमे गोपियाँ सच्चे प्रेम व प्रीति का निरूपण करती है, तथा (ङ) वे उक्तियाँ जिनमे गोपियाँ अपने कृष्ण विक्षेप के दुख का सामान्य भाव से निवेदन करती हें और कृष्ण के लिए उद्धव को सन्देश देती है।[1] सूर के भ्रमर-गीत मे कतिपय विशिष्ट मन स्थितियो का वर्णन भी किया गया है। भक्त कवि सूरदास ने निर्गुण तथा योग की दुस्साव्यता का अत्यन्त सजोव वर्णन किया है। इस प्रकार की उक्तियो मे गोपियो ने निर्गुण-ब्रह्म की स्थिति का खण्डन नही किया है पर वे उसे दुस्साध्यय अवश्य मानती है। उन्हे तो पचतत्वो मे भी श्रीकृष्ण के ही दर्शन होते है—

पवन तेज अरु अकास पृथ्वी अरु पान्यौ।
तामै ते नन्दनन्दन कहाँ घालि सान्यौ॥

जब उद्धव कहते है कि निराकार एव निर्गुण ब्रह्म की उपासना ही श्रेयस्कर है तो गोपियाँ उनके तर्को का निराकरण इम प्रकार करती है—

जो उनके गुन नाहिं और गुन भये कहा ते।
बीज बिना तरु जमै मोहि तुम कहो कहां ते।
वा गुन की परछाई री माया दरपन बीच।
गुन ते गुन-न्यारो भये अमल वारि मिल कीच।
सखा सुन श्याम के।

१. सूर का श्रृङ्गार वर्णन : डा० रमाशंकर तिवारी, पृष्ठ १६५।

सूर की गोपियाँ उद्धव की कठोर भर्त्सना भी करती है। अनेक स्थलो पर उद्धव को नीच, धूर्त आदि कह दिया गया है। कुछ पदो मे गोपियाँ उद्धव के प्रति स्पष्ट खीज व आक्रोश व्यक्त करती हैं। तथा कतिपय अन्य पदो मे गोपियो ने विनोदपूर्ण डाँट फटकार से उद्धव का सत्कार किया है। कई पदों मे गोपियो ने उद्धव को सत्परामर्श दिया है और शान्त स्थिर रूप मे उनके ज्ञान और योगपरक उपदेशो की कठोर आलोचना की है। श्रीकृष्ण को लेकर गोपिया तीखे उपालम्भो की बौछार करती है। गोपियाँ स्पष्टत: श्रीकृष्ण के भीतर मधुकर की रसलोलुपता और स्वार्थपरता के दर्शन करती है। सूर के भ्रमरगीत मे गोपियों ने प्रेम-तत्व की अपार महिमा का वर्णन किया है। गोपियो की दृष्टि मे ज्ञान एव योग की तुलना मे प्रेम तथा भक्ति का महत्व कही अधिक होता है। वे उद्धव को समझाते हुए कहती है कि—

ऊधो बात सुनो इक नैसी।
प्रेम-बान की चोट कठिन है लागी होइ कहीं कत ऐसी।
जानै कहा बाझ व्यावर दुख जातक जनै न पीर है कैसी।
जासौं लगन लागी होइ।
कठिन पीर सरीर व्यापै, जानि है पै सोइ।
विरह बाइ बबूर बिरवा, गए हे हरि बोइ।
उठत अग अनग चिनगी, दृगनि सींचो राइ।

प्रेम की महत्ता प्रतिपादित करते हुए गोपियाँ एक स्थल पर कहती हैं—

प्रेम प्रेम तें होइ, प्रेम तें पारहि जइयै।
प्रेम बंध्यौ संसार प्रेम परमारथ लहियै।
सांचौ निहचे प्रेम को जीवन मुक्ति रसाल।
एकै निहचै प्रेम को जबै मिलै गोपाल॥

सूरदास ने अपने भ्रमर गीत मे गोपियो की विरह-भावना का अत्यन्त सजीव वर्णन किया है। विरह की दसो शास्त्रीय दशाओ का विवेचन किया गया है।

सूर के भ्रमर-गीत मे केवल गोपियो के श्रीकृष्ण-प्रेम, उनकी विरह-वेदना और उद्धव का ज्ञान-प्रतिपादन ही नही है, उसमे कवि सूरदास की अद्‌भुत कवित्व शक्ति का परिचय भी मिलता है। भ्रमरगीत मे केवल गोपियो के

हृदय की कसक ही नही, दर्शन साहित्य और संस्कृति के महत्त्वपूर्ण तत्वों का भी सहज विवेचन हुआ है।

भ्रमर-गीत परम्परा में सूर के भ्रमर-गीत के पश्चात् कृष्ण भक्त कवि नन्ददास का भ्रमरगीत उल्लेख्य है। वस्तुत: नन्ददास का भ्रमरगीत सूर के भ्रमरगीत का पूरक है। अन्तर केवल इतना है कि नन्ददास के भ्रमरगीत की गोपियो का वौद्धिक स्तर बहुत ऊँचा है। तर्क और ज्ञान की तुला पर नन्ददास की गोपियाँ कही ऊँची दीखती है। एक विद्वान आलोचक ने इस स्थिति को स्पष्ट करते हुए कहा है कि "सूर तर्क मे सक्षिप्त हैं अत. गोपी जब उद्धव को तर्क मे भी परास्त कर देती है तब हमे एक विशेष प्रकार का सन्तोष होता है, क्योंकि सूरदास में करुणा वहुत अधिक है और उपहास करते समय सूर तर्क अधिक नही देते, वह केवल प्रतिपक्षी की विचार पद्धति की अव्यावहारिकता पर ही प्रहार करते है किन्तु नन्ददास ने गोपियो का वौद्धिक स्तर बहुत ऊचा कर दिया है जिससे अस्वाभाविकता भले ही आई हो परन्तु बुद्धितत्व अधिक होने से नन्ददास की गोपियो को अधिक वुद्धिमती देकर हम प्रसन्न अवश्य होते है।"[1] नन्ददास का भ्रमरगीत मुख्यत: दो भागो मे वटा है—एक भाग मे तो गोपी-उद्धव सवाद है और दूसरे भाग मे गोपियो की विरह-भावना का वर्णन किया गया है। नन्ददास की गोपियों के बौद्धिक स्तर की ऊँचाई के दर्शन गोपी-उद्धव सवाद मे ही होते है जहाँ गोपियाँ अपने प्रवल तर्को और दलीलो से उद्धव को सर्वथा निरुत्तर कर देती है। उदाहरण के लिए उद्धव के निम्न शब्द देखिए—

यह सब सगुण उपाधि रूप निर्गुण है उनको,
निरविकार निरलेप लगति नहि तीनों गुन को।
हाथ न पाँव न नासिका, नैन बैन नहिं कान,
अच्युत ज्योति प्रकाश है सकल विस्व को प्रान।
सुनो ब्रजनागरी।

उद्धव द्वारा निर्गुण-ब्रह्म के इस सबल प्रतिपादन के उत्तर मे तार्किक गोपियो की निम्न उक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

जो मुख नाहिन हुतो कहो किन माखन खायो,
पायन बिन गो सग कहो बन बन को धायो।

१. सूर का भ्रमर गीत एक अन्वेषण : विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, पृष्ठ १०।

आंखिन में अंजन दयो गोवर्धन लयो हाथ,
नन्द यशोदा पूत ह्वै कुंवर कान्ह ब्रजनाथ।
सखा सुन श्याम के।

तथा वे यह भी कहती है कि—

जो उनके गुन नाहि और गुन भये कहाँ ते,
बीज बिना तरु जमैं मोहि तुम कहो कहाँ ते।
वागुन को परछाह री माया दरपन बीच,
गुन ते गुन न्यारे भये अमल वारि मिल कीच।
सखा सुन श्याम के।

यही नही, श्रीकृष्ण के प्रेम मे पगी गोपियाँ उद्धव को नास्तिक तक कह देती है—

नास्तिक जे हैं लोग कहां जाने निजरूपैं।
प्रकट भानु को छाडि गहै पर छांही धूपैं॥

गोपियो की विरह-दशा के वर्णन में नन्हदास ने पाडित्य का नही, भावुकता का वर्णन किया है जो गोपियाँ अपने प्रवल तर्कों से उद्धव को निरुत्तर कर देती है, उन्ही की विरह-दशा के वर्णन मे कवि ने भावमयता और कोमलता का परिचय दिया है।

अष्टछाप के कवियो मे नन्ददास के अतिरिक्त कई अन्य कवियो ने भी भ्रमर-गीत विषयक पदो की रचना की है। इस दृष्टि मे परमानन्ददास का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है जिन्होने गोपियो की विरह-भावना का अत्यन्त सजीव वर्णन किया है। परमानन्ददास का भ्रमर-गीत-भावुकता मे पूरी तरह डूबा हुआ है। उनके प्रत्येक पद मे गोपियो की विरह के भावात्मक चित्र भरे हुए है। उदाहरण के लिए परमानन्ददास के भ्रमर-गीत की निम्न पंक्तियाँ देखिए जिनमे गोपियाँ अपनी दारुण स्थिति के लिए केवल विधाता को ही दोष देती है—

ऊधो यह दुख छीन भई।
बालक दसा नन्द नन्दन सो बहुरि न भेंट भई।
नैन बैन सो नैन मिलावैं बयनि सौं बात।
बहुरि अंग को संग न पायो यह करी क्रूर विधात॥
बहुरि क्यों कान्ह न गोकुल आये मधुबन हम न बुलाई।

परमानन्द स्वामी के बिछुरे-दसमी अवस्था आई ॥

जब उद्धव ब्रज पहुँचते है और गोपियो को श्रीकृष्ण की भेजी हुई पातियाँ देते है तो प्रेमाधिक्य के कारण गोपियाँ उन पातियो को पढ भी नही पाती । कवि परमानन्ददास ने गोपियो की इस दयनीय-स्थिति का अत्यन्त मार्मिक एव सजीव वर्णन किया है—

पतियाँ बांचेहू न आवे ।
देखत अक नैन जल पूरे गदगद प्रेम जनावे ॥
नन्दकिसोर सुहथ अच्छर लिखि ऊधो हाथ पठाए ।
समाचार मधुवन गोकुल के मुख ही बांचि सुनाए ।
ऐसी दसा देखि गोपिन की भक्त मरम सब जान्यो ।
मनक्रम बचन प्रेमपद अम्बुज परमानन्द मन मान्यो ।

अन्तत परमानन्ददास की गोपियाँ अपने प्रेम और भक्ति से उद्धव के समस्त ज्ञान और योग को परास्त कर देती है और उद्धव ज्ञानी एव योगी से भक्त होकर लौटते है।

भ्रमर-गीत परम्परा मे परमानन्ददास के बाद कवि कृष्णदास का नाम उल्लेखनीय है । यद्यपि कृष्णदासकृत भ्रमर-गीत के सम्बन्ध मे विद्वानो मे पर्याप्त मतभेद है तथापि उनके उपलब्ध पदो को देखकर अनेक विद्वान यह मानते है कि कृष्णदास के भ्रमर गीत मे अनेक पद निश्चय ही कृष्णदास द्वारा विरचित है। ऐसी ही स्थिति चतुर्भुजदास, कुम्भनदास, गोविन्दस्वामी, छीत-स्वामी आदि कवियो की भी है ।

भ्रमर-गीत परम्परा मे कृष्ण-भक्त कवियो के अतिरिक्त रामभक्ति शाखा के महाकवि तुलसीदास का योगदान भी उल्लेख्य है । महाकवि तुलसी द्वारा विरचित कृष्णगीतावली मे गोपी उद्धव प्रसग का अत्यन्त भावभीना वर्णन किया गया है । तुलसी दास्य भक्ति मे विश्वास रखते है अत स्वभावत उन्होने इस प्रसंग मे कही भी कटुक्तियो अथवा क्रोधपूर्ण उक्तियो का प्रयोग नही किया है । उन्होने सर्वत्र एक मर्यादा और संयम के भीतर रहकर गोपियो की विरह दशा और श्रीकृष्ण-प्रेम को व्यक्त किया है । तुलसी की गोपियाँ सरल और सहज उक्तियो से ही उद्धव जैसे प्रकाण्ड पंडित को धराशायी कर देती है । उनकी गोपियो में नारी सुलभ लज्जा और शालीनता बराबर बनी रहती

है । जब उद्धव मुक्ति और योग की बात करते है तो गोपियाँ केवल यही कहती हैं—

वह अति ललित मनोहर आनन कौने जतन विसारौं ।
जोग जुगुति अरु मुकुति विविध विधि वा मुरली पर वारौं ।

जिन गोपियो ने श्रीकृष्ण की मनोहर मुरली की धुन सुन रखी है उनके समक्ष योग और मुक्ति की चर्चा नितान्त सारहीन प्रतीत होती है । तुलसी की गोपियो मे विश्वास है, निष्ठा है, वे हठी नही हैं, उन्हे अपनी प्रीति पर भरोसा है, अपने प्रियतम के प्रति सच्ची प्रीति है । जब उद्धव बार-बार योग और मुक्ति की बात कहते है तो गोपियाँ कह उठती है—

भली कही अली हम हूँ पहिचाने ।
हरि निर्गुन निर्लेप निरपने निपट निठुर निज काज सयाने ।
व्रज को विरह, अरु संगमहर को, कुवरिहि बरतन नेकु लजाने ।

तथापि तुलसी का मन केवल राम-कथा मे ही रमा था अतः स्वभावत उनके भ्रमर-गीत विषयक पदो मे सूर का सा लालित्य नही दीख पडता ।

इसी क्रम मे हरिराय, रसखान, मुकुन्ददास, मलूकदास तथा घासीराम कवियो के नाम भी उल्लेखनीय हैं । इन सभी कवियो ने भ्रमर-गीत विषयक छुटपुट पदो की रचना की है किन्तु फिर भी भ्रमर-गीत का कोई व्यवस्थित रूप इनकी रचनाओ मे नही मिलता ।

भ्रमर-गीत की यह परम्परा उक्त सुदीर्घ आयातो को पार करते हुए रीतिकालीन कवियो तक पहुँच गई जिन्होने इस परम पावन प्रसग को नायिका-भेदो और नख-शिख वर्णनो से आप्लावित कर दिया । भ्रमर-गीत विषयक रीतिकालीन कवि मुख्यत तीन श्रेणियो मे रखे जा सकते है—अलकारवादी कवि, भावुक कवि तथा समन्यवादी कवि । अलकारवादी कवियो मे मतिराम, देव, वृन्दावनदास आदि के नाम उल्लेख्य हैं । मतिराम ने गोपी-उद्धव प्रसग को लेकर कोई क्रमवद्ध रचना प्रस्तुत नही की है किन्तु अलकारो के उदाहरणो के रूप मे इस प्रसग का स्फुट वर्णन अवश्य किया है । मतिराम की गोपियो मे सहजता एव बौद्धिकता दोनो का समावेश है । इसी प्रकार देव ने भी गोपी उद्धव प्रसंग को लेकर स्फुट पदो की रचना की है । देव के एतद्विषयक पद निश्चय अधिक सरस और प्रभावोत्पादक बन पडे हैं । उदाहरण के लिए

उद्धव के व्रज आगमन का निम्न चित्र देखिए—

ऊधो आये ऊधो आये, हरि कौ संदेसौ लाये,
सुनि गोपी गोप धाये, धीर न धरत हैं।
बौरी लगि दौरी उठी भौरी लौं भ्रमति माती,
रानति न गनी गुरू लोगन दुरत है;
है गई विकल बाल बालम वियोग भरी,
जोग की सुनत बात गात ज्यों जरत है।
भोर भये भूषन सम्हारे न परत अंग,
आगे को धरत पग पाछे को परत है।।

रहीम की गणना भावुक कवियो मे की जाती है। उन्होने गोपी-उद्धव प्रसग को लेकर कुछ श्रेष्ठ बरवै लिखे है। रहीम ने गोपियो की अन्तर्व्यथा का अत्यन्त सजीव वर्णन किया है।

भ्रमर-गीत परम्परा में घनानन्द, व्रजनिधि आदि कवियो के नाम भी उल्लेखनीय है। घनानन्द की गोपियो मे भावुकता कूट-कूट कर भरी है। व्रजनिधि ने 'प्रीति पचीसी' नामक २५ छन्दो की रचना मे गोपी-उद्धव प्रसग को सफलतापूर्वक सजोया है। व्रजनिधि की गोपियाँ उद्धव की योग-वार्ता से तनिक भी प्रभावित नही होती और कहती है—

रंचक हू सुधि नाहि हमें, जिनको पढि जोग कौ देत कहा सिख।
जैसेइ वे तुम तैसेइ हौ आजु जाणि परे सु दिखावै कहा लिख।
दासी पियारी करी व्रज की निधि, ए सुनि बात उठे हिय में धख।
सांवरे सांप डसी है सबै, तिन्हे ज्ञान सो मूढ़ उतारे कहा विष।।

रसनायक ने भी 'विरह विलास' मे गोपी उद्धव प्रसग का वर्णन किया है। रसनायक की गोपियाँ स्पष्टत: कह देती है कि योग और ज्ञान समझने की क्षमता उनमे तनिक भी नही है—

मधुवन की मानिनी जिती सुघर जानि है सार।
निर्गुन तहाँ लै जाहु अलि व्रज ही बसत गंवार।

कवि पद्माकर ने भ्रमर-गीत विषयक रचना मे अपनी मौलिक प्रतिभा का परिचय दिया है। उद्धव से अपने मन की व्यथा व्यक्त करते हुए गोपियाँ कहती है कि—

पात बिन कीन्हे ऐसी भाँति गन बेलनि के,
परत न चीन्हें जे ये लरजत लुंज हैं।
कहैं 'पद्माकर' बिसासी या बसंत के,
सु ऐसे उतपात गात गोपिन के भुंज हैं।
ऊधौ यह सूधौ सो संदेसौ कहि दीजो भलो,
हरि सौं हमारे ह्यां न फूले वन कुंज हैं।
किंसुक गुलाब कचनार और अनारन की,
डारन पै डोलत अंगारन के पुंज हैं॥

भिखारीदास ने भी उद्धव-गोपी प्रसंग का वर्णन किया है किन्तु उनके वर्णन मे भावुकता की नहीं, बौद्धिकता की बहुलता है। इसी क्रम मे आलम, नागरीदास, प्रेमदास, रसरासि, ग्वाल, संतदास, हरिदास बैन, गंगादत्त, रत्नासिंह-ठाकुर आदि कवियो के नाम उल्लेखनीय हैं जिन्होने किसी न किसी रूप मे गोपी-उद्धव प्रसंग का वर्णन किया है।

भ्रमर-गीत की यह परम्परा आधुनिक युग मे एक नितान्त नया रूप लेकर प्रकट हुई। आधुनिक कवियो ने इस परम्परागत विषय को नए परिप्रेक्ष्य मे देखा और व्यक्त किया है। इन्होने राधा और कृष्ण को राष्ट्रीयता की भावना से परिपूर्ण नायकों का स्थान दिया। इस दृष्टि से भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, हरिऔध, मैथिलीशरण गुप्त, सत्यनारायण कविरत्न, रत्नाकर, रमाशंकर शुक्ल 'रसाल', द्वारका प्रसाद मिश्र, आदि कवियो का उल्लेखनीय स्थान है। भारतेन्दु ने स्फुट रूप मे भ्रमर-गीत विषयक पदो की रचना की है। उनके भ्रमर-गीत में श्रीकृष्ण के वियोग में व्याकुल गोपियों की अन्तर्व्यथा का मार्मिक चित्रण हुआ है। बद्रीनारायण चौधरी के भ्रमर गीत सम्बन्धी स्फुट पद भी भारतेन्दु जी की शैली में में ही लिखे गए हैं। हरिऔध जी ने गोपी-उद्धव प्रसंग मे मौलिकता का परिचय दिया है। एक स्थल पर उनकी गोपियाँ भ्रमर के व्याज से उद्धव को कहती हैं—

कुछ दुख नहीं कोई बाँट लेता किसी का
सब परिचय वाले प्यार ही हैं दिखाते।
यदि नहि—इतना भी हो सका तो कहूंगी,
मधुकर यह सारा दोष है श्यामता का।

कवि मैथिलीशरण गुप्त ने 'द्वापर' मे भ्रमर-गीत-सम्बन्धी कतिपय पदो की रचना की है। उन्होने उद्धव को एक कुशल नीतिज्ञ के रूप मे चित्रित किया है। उनकी गोपियाँ अत्यन्त विनयशीला और मर्यादित है। उनकी गोपियो की वेदना मूक ही बनी रहती है—

माधव भी सच्चे है सखियो
उद्धव भी सच्चे है,
हाय ! हमारे आँख-कान ही
झूठे है, कच्चे है।

रत्नाकर जी के 'उद्धव-शतक' पर पुनः सूर और नन्ददास का प्रभाव परिलक्षित होता है। 'भ्रमर गीत' के आधुनिक रचयिताओं मे रत्नाकर जी अपना विशिष्ट स्थान रखते है। रत्नाकर जी ने जहाँ गोपियो की विरह-भावना का चित्रण किया है, वहाँ श्रीकृष्ण की विकलता का वर्णन करके इस समूचे प्रसग को उभयपक्षीय स्वरूप प्रदान किया है—

सुधि ब्रज-बासिनी दिवैया सुख-रासिनि की
ऊधौ नित हम को बुलावन को आवती।

उनकी गोपियो की उक्तियो में जो सहजता और सरलता दीखती है, वह आधुनिक-भ्रमर-गीतकारो मे प्रायः दुर्लभ है। उनके विश्वास की दृढता तो देखिए—

काहू तो जनम में मिलेंगी स्यामसुन्दर सों।

वे तो एक मात्र श्रीकृष्ण के दर्शनो की प्यासी हैं, उन्हें ब्रह्म की भी कामना नही है। वे स्पष्टतः कह देती है कि—

चेरी है न ऊधौ काहू ब्रह्म के बबा की हम,
सूधौ कहे देति एक कान्ह की कमेरी हैं।

उद्धव के उपदेशो के प्रति अपनी झल्लाहट व्यक्त करते हुए गोपियाँ कहती हैं कि "हे उद्धव, तुम हमे साँस रोकने की विधि क्यों बता रहे हो, यदि हमें मरना ही है तो क्या निम्नलिखित साधन पर्याप्त नही हैं—

कुटिल कटारी है अटारी है उतङ्ग अति,
जमुना-तरंग है तिहारो सतसंग है।

'रमाशकर 'रसाल' के अपने 'उद्धव-शतक' मे गोपियो का वाक्चातुर्य

देखते ही बनता है। द्वारका प्रसाद मिश्र ने अपने 'कृष्णायन' नामक-काव्य के दूसरे काड मे 'भ्रमर-गीत' सम्बन्धी पदो की रचना की है। उद्धव के उपदेशो को खडित करती हुई गोपियां कहती हैं कि—

सबै सहा पर सबल से निबल न कोउ सहाय।
पवन जगावत अगिनि कौं दीपहि देत बुझाय ॥

उपरोक्त कवियों के अतिरिक्त कई अन्य कवियो ने भी हिन्दी की इस सुदीर्घ भ्रमर-गीत परम्परा को पल्लवित करने मे अपना सहयोग दिया है जिनमें हरिविलास, मुकुन्दीलाल, जगन्नाथ सहाय, चन्द्रभानु रज, लाला हरदेव प्रसाद, श्यामसुन्दरलाल दीक्षित, राजराजेश्वरी प्रसाद सिंह, विद्याभूषण आदि के नाम विशेष रूप मे उल्लेख्य हैं।

भ्रमर-गीत परम्परा के उपयुक्त विश्लेपण से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह प्रसग अपने आप मे इतना आकर्षक और रुचिपूर्ण रहा है कि भागवत् के उपरान्त भक्तिकाल, रीतिकाल तथा यहाँ तक कि आधुनिक काल के कवि भी इस प्रसग का वर्णन करने का मोह सवरण नही कर सके। इस सम्बन्ध मे दूसरा महत्वपूर्ण तथ्य यह भी उभर कर आता है कि प्रत्येक युग की परिस्थितियो ने इस भ्रमर-गीत को नए अर्थ और नई दिशाएं भी दी है। एक विद्वान् आलोचक के शब्दो मे "जिस प्रकार निरभ्र आकाश मे वायुमडल की ऊष्मा-से प्रेरित कोई बदली उदित होती है और वह क्रमशः बढ़कर आकाश को आवृत कर अजस्र वर्षा करती है, उसी प्रकार भागवत् पुराण की वारिद लता सूर के भ्रमर-गीत मे पल्लवित और पुष्पित होकर जिन भाव सुमनो की वर्षा करती है, वे सूर के पश्चात् नन्ददास, भारतेन्दु, कविरत्न और रत्नाकर मे केवल यत्र-तत्र ही मिलते हैं, परन्तु सूर का भ्रमरगीत तो हरसिंगार के सदृश पूर्णतया पुष्पित हरसिंगार है। न तो आगे की गोपियो मे वह आवेश दिखाई पड़ता है न वह वाका वाग्वैदग्ध्य, न तर्क का अनुभूतिजन्य रूप, न सतप्त-समग्र व्रज जीवन की अभिव्यक्ति, न सामूहिक नारी की सिसक और सरसता का वर्णन और न वह अन्तर्दृष्टि और आत्मसमर्पण जो हमे तल्लीन कर सके।"

भ्रमर-गीत में वियोग-वर्णन

सूर काव्य का मूलाधार-शृगार और वात्सल्य है। उन्होने मुरली-मनोहर बालकृष्ण की बालसुलभ क्रीड़ाओ और शृगार के सजीले चित्रो की एक पूरी प्रदर्शनी ही सजो दी है। निस्सदेह उन्होने अपने आराध्य श्रीकृष्ण के व्यक्तित्व के कतिपय विशिष्ट पक्षो के भीतर ही झाँका है किन्तु उन दोनो में से कुछ भी ऐसा नही रहा जो उनकी कविता का उपजीव्य न बन सका हो। सूरदास 'भावना' के कवि थे, उन्हे मानवीय भावो की पूरी और सही पहचान थी। कदाचित् इसी कारण सूरदास की गणना उन मध्यकालीन कवियो मे की जाती है जिन्होने भाव-जगत को पूरी लगन से सजाया है, जिन्होने अपने काव्य मे मानवीय भावो को ऐसी धूप-छाही डोर मे बाँधा है जो कि सैकड़ो वर्ष बीत जाने पर भी आज के आधुनिक कहे जाने वाले व्यक्ति के चित्र को बलात् आकृष्ट कर लेती है। भावों की सच्चाई कभी समाप्त नही होती। 'सुई की चुभन' आज भी मनुष्य के लिए उतनी ही पीडाजनक होगी जितनी कि आज से सहस्रो वर्ष पूर्व के मनुष्य के लिए होती होगी। इसी प्रकार मनुष्य के सुख-दुःख आदि भाव मनुष्य जीवन के चिरन्तन सत्य है जिन्हे आज तक कोई भी कवि अथवा साहित्यकार नही भुला सका और यदि किसी ने ऐसा करने का प्रयत्न भी किया तो साहित्य के मच पर वह स्थायी रूप से नही बना रह सका।

सूर का विरह-वर्णन उनकी इसी भावमयता के कारण समूचे हिन्दी साहित्य मे अपना विशिष्ट स्थान रखता है। उनके विरह-वर्णन की सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेपता उसकी परिमाणात्मक व्यापकता है। इसका यह अर्थ भी नही है कि सूर के विरह-वर्णन मे अनावश्यक विस्तार आ गया हो। उनके विरह-वर्णन की व्यापकता अनन्त सागर की गहराई से सादृश्य रखती है और जो अपरिमित आनन्द विशाल जलधि मे उठने-गिरने वाली उत्तग लहरियो और उन लहरियो से उठने वाले कलकल नाद को सुनकर मिलता है, वही मुख और आनन्द सूर के विरह-वर्णन में सहज-सुलभ है। दूसरे शब्दों मे, सूर के विरह-वर्णन मे विशाल समुद्र की सी व्यापकता और गहराई—दोनो ही गुण

विद्यमान हैं। मीरां, जायसी आदि के विरह-वर्णनो की महत्ता कदाचित् इन्हीं कारणों से है।

सूर के विरह वर्णन की दूसरी विशेषता है—मानवीय भावो की सूक्ष्मतम परतो का विश्लेषण और अभिव्यक्ति। यद्यपि कथातत्व के नाम पर भ्रमर-गीत मे वहुत अधिक सामग्री नही है तो भी उन्होने गोपियो की मानसिक स्थितियों, उन स्थितियो के प्रत्येक छोटे-वडे मोड का मार्मिक चित्रण किया है। उनकी सूक्ष्म दृष्टि विषय (गोपियो) के मन की अतल गहराइयो का सहज-स्पर्श कर लेती है। मानवीय भावो के इस सफल चितेरे कवि ने भाव-वैविध्य और भाव-तीव्रता दोनो ही दृष्टियो से असाधारण सूझ-वूझ का परिचय दिया है। उनके विरह-वर्णन मे जायसी जैसी अस्वाभाविकता और कृत्रिमता की गव नही आती। भाव-तीव्रता का आशय भावोत्कर्ष की स्थिति को पहुँचा है—मध्य—युगीन कवियो मे यह दुसाध्य सफलता या तो नटनागर की दीवानी मीरावाई को मिली थी या सूरदास को। तथापि किन्ही दृष्टियो से सूरदास मीरावाई को भी पीछे छोड जाते हैं। मीरावाई के पदो मे प्रेम की पीर तो अवश्य है, प्रियतम (श्रीकृष्ण) के प्रति पूरी दीवनगी भी है किन्तु सूर की गोपियो में अपरिमित दुःख झेलकर भी मुस्कराने की वेजोड क्षमता है। उनकी गोपियाँ केवल रोती ही नही है, वियोग की समस्त वेदना से छिले हुए हृदय से मुस्कराती भी है। निश्चय ही उद्धव का समस्त योग और ज्ञान का भण्डार गोपियो की इस मुस्कराहट के समक्ष श्रीहीन दीखता है।

सूर का विरह-वर्णन काव्यशस्त्रीय मापदण्डो पर भी खरा उतरता है और निश्चय ही सूर इस दृष्टि से मध्ययुगीन कवियो मे अप. विशिष्ट स्थान रखते है। भावो के उन्मुक्त विलास मे शास्त्रीय दृष्टि का निर्वाह करना, कवि की असाधारण प्रतिभा का परिचायक है। शास्त्रकारो ने विप्रलम्भ शृंगार के मुख्यत चार भेद स्वीकार किए हैं—पूर्वराग, मान, प्रवास और करुणा। प्रियतम से मिलन से पूर्व के वियोग को पूर्वराग कहते हैं। पूर्वराग मे प्रियतम के रूप, गुण आदि सुनकर मिलन की कामना वनी रहती है और वस्तुतः मिलन न होने पर आकुलता वनी रहती है। मान की स्थिति प्रियतम के मिलन के वाद की स्थिति है। कई वार किन्ही कारणो से नायक-नायिका के भीतर वैमनस्य उत्पन्न हो जाता है और कोई सा एक पक्ष मान कर वैठता है।

विप्रलम्भ-शृगार का तीसरा भेद प्रवास होता है जिसमे नायक किसी कारणवश विदेश चला जाता है और नायिका उसके आगमन की प्रतीक्षा करती रहती है। करुणात्मक विप्रलम्भ शृगार मे नायक-नायिका के परस्पर मिलन की कोई सभावना नही रहती।

भ्रमर-गीत का विरह-वर्णन प्रवास की श्रेणी मे आता है क्योकि व्रज की गोपियों के प्रियतम श्रीकृष्ण व्रज छोड़ कर मथुरा चले गए है। गोपियों के विरह का चरमोत्कर्ष करुणात्मक स्थिति मे होता है क्योकि अन्ततः श्रीकृष्ण वापिस व्रज मे नही आते और इस प्रकार गोपियो का श्रीकृष्ण से मिलन नही हो पाता। प्रवासजन्य वियोग में गोपियो को श्रीकृष्ण के साथ बिताए हुए सुखमय क्षणो की मधुर स्मृतियाँ कचोटती हैं, यमुना विहार, कुज विहार, रास-लीला-सयोग के क्षणो के ये रुपहले चित्र उनके मानसपटल पर से हटाए नही हटते। उधर श्रीकृष्ण भी 'व्रज की सुधि' को भुला नही पाए है। वे भी चाहते है कि व्रज में जाकर रहे किन्तु कर्त्तव्य पूर्ति के लिए उनका मथुरा मे रहना आवश्यक है। अतः वे अपने एक ज्ञानी सखा उद्धव को व्रज भेजने का निश्चय करते हैं।

जब उद्धव श्रीकृष्ण की पतिया लेकर व्रज में पधारते है तो श्रीकृष्ण के विरह मे आकुल गोपियो के भीतर पुन. एक नवीन उत्साह का सचरण हो जाता है। श्रीकृष्ण की पाती को लेकर गोपियाँ उसे अपने हृदय से लगाती हैं, उमग मे दौड़ी-दौड़ी फिरती है। कवि ने श्रीकृष्ण के वियोग मे खोई हुई इन गोपियो की अन्तर्व्यथा को कुशलता के साथ सजोया है—

पाती सखि। मधुवन तें आई।

× × ×

अपने अपने गृह ते दौरीं लै पाती उरलाई।

× × ×

निरखत अंक स्यामसुन्दर के बार बार लावति लै छाती।
लोचन जल कागद मसि मिलि कै ह्वै गई स्याम स्याम की पाती।

गोपियाँ वेचारी क्या करे। श्रीकृष्ण के वियोग मे उन्हें व्रज में कुछ भी नही भाता। श्रीकृष्ण के प्रेम के रंग में छकी हुई इन गोपियों को अब प्रियतम के दर्शनों की ही प्यास रह गई है। प्रियतम के अभाव ने इन गोपियो को सर्वत्र

एक सूनापन दीखता है और उन्हें इस बात पर बहुत आश्चर्य होता है कि जिस श्रीकृष्ण ने उनके साथ व्रज मे यमुना-विहार, कुंज विहार, रासलीला का सुख भोगा है, वही श्रीकृष्ण इतनी शीघ्र ही यह सब कैसे विस्मृत कर सकते हैं—

कहा करौं सुनो यह गोकुल हरि बिनु कछु न सुहाई।
सूरदास प्रभु कौन चूक तें स्याम सुरति बिसराई॥

श्रीकृष्ण व्रज के कण-कण मे समाए हुए है अत स्वभावत: उनके वियोग मे गोपियाँ ही नही, मूक गाये भी कृशगात हो गई है। श्रीकृष्ण ने अपने कोमल हाथो से जहाँ-जहाँ उनका गोदोहन किया था वे उन्ही-उन्ही स्थानो को सूँघती रहती है। कवि ने इन गायो की मूक-वेदना का वर्णन इस प्रकार किया है—

ऊधो ! इतनी कहियौ जाय।
अति कृसगात भई हैं तुम बिनु परम दुखारी गाय।
जल समूह बरसत अँखियन तें, हूकत लीने नाव।
जहाँ जहाँ गोदोहन कीन्हौ सूँघत सोई सोइ ठाव॥
परति पछार खाय तेहि तेहि थल अति व्याकुल ह्वै मीन॥
मानहुँ सूर काढ़ि डारी है बारि मध्य तें मीन।

निरीह पशुओ की वेदना को समझना और फिर उसे व्यक्त करना, कवि की मौलिक प्रतिभा और सूक्ष्म दृष्टि का परिचायक होता है।

विरह की भावना मन और तन—दोनो को आहत कर देती है किन्तु इस पर भी विरह का मूल स्वरूप उदात्त होता है। उसकी व्यापकता चेतन प्राणियो और निर्जीव प्रकृति तक फैली होती है। श्रीकृष्ण के वियोग मे केवल गोपियाँ ही दुखी नही हैं, समूची प्रकृति दुखी है और उदास है। विरह का ऐसा विस्तार ऐसी व्यापकता देखते ही बनती है—

ऊधो ! यह व्रज विरह बढ़यौ।
घर बाहर सरिता बन उपवन बल्ली द्रुमन चढ़यौ।
बासर रैन सधूम भयानक दिसि दिसि तिमिर बढ़यौ।
द्वंद करत अति प्रबल होत पुर, पयसों अनल उढ़्यौ।
जरि किन होत भस्म छन महियां हा हरि मन्त्र पढ़्यौ।
सूरदास प्रभु नंदनन्दन बिनु नाहिंन जात कढ़्यौ।

उद्धव प्रेम की बारीकियो को क्या जाने ! ज्ञान और योग के अक्षय भडार

को वहन करने वाले उद्धव के लिए ''प्रेम की पीर' सर्वथा अपरिचित थी। प्रेम मे पगी गोपियाँ योग और साधना की भाषा को, निराकार ब्रह्म की आराधना को रूखी बातो से अधिक महत्त्व नही देती। उनकी विवशता है। उन्होंने प्रेम के दिव्य रस का पान कर लिया है, भला योग का विष कैसे उनके गले उतर सकता है—

लरिकाई को प्रेम, कहौ अलि
कैसे करिकै छूटत ?

उद्धव के उपदेशो को सुनकर उनकी प्रतिक्रिया इस प्रकार हुई—

चरन कमल की सपथ करति हो,
यह सदेस मोहि विष सम लागत।

गोपियो को अपने वियोग के कारण दुख नही है। उनकी दृष्टि मे प्रेम की सच्ची परख वियोग की घडियों मे होती है। प्रेम का उद्दाम आवेग ज्ञान और साधना के उपदेशो से शमित नही होता, आश्वासन पूर्ण पत्रो से भी प्रभावित नही होता। ब्रज की गोपियाँ अपने प्रियतम के दर्शनो के लिए लालायित हैं, उन्हे इससे कम अथवा अधिक कुछ नही चाहिए। जब उद्धव उन्हें श्रीकृष्ण की पतियाँ देते है और यह आश्वासन देते है कि श्रीकृष्ण भी उनके वियोग में समान रूप से दुखी है तो वे उद्धव से केवल यही आग्रह करती है—

ऊधौ कही सु फेरि न कहिये।
जो तुम हमें जिवायौ चाहत, अनबोले ह्वै रहियै।

अथवा—

कै हरि हमको आनि मिलावहु, कै सौ चलिये साथै।
सूर स्याम बिनु प्रान तजति है, दोष तुम्हारे माथै।

गोपियाँ यह भी कहती है कि—

ऊधौ स्याम इहाँ लै आवहु।
ब्रज जन चातक मरत पियासे, स्वाति बूंद बरषावहु।
ह्यावे जाहु विलम्ब करो जनि, हमरी दसा जनावहु।
घोष सरोज भयौ है संपुट, ह्वै दिनकर बिगसावहु।
जो हरि ऊधौ इहाँ न आवहि, तौ हमें उहां बुलावहु।
सूरदास प्रभु हमहि बुलावहु, तो तिहुँपुर जस पावहु।

सौतिया-डाह नारी का सहज स्वाभाविक गुण है। श्रीकृष्ण के प्रेम में डूबी हुई गोपियो की यह दृढ धारणा है कि उनके प्रियतम कुब्जा के प्रेम-पाश मे बँध गए हैं। सपत्नी के प्रति नायिका के भाव प्रायः तिरस्कार पूर्ण और निन्दात्मक होते हैं। गोपियो की मनःस्थिति भी ठीक वैसी हो है। कुब्जा के प्रति वे अत्यन्त कठोर वचनो का प्रयोग करती हुई कहती है—

ऊधो अब कछु कहत न आवै ।
सिर पर सौत हमारे कुबिजा, चाम के दाम चलावै ।
कछु इक मन्त्र करयो चन्दन मैं तातै स्यामहि भावै ।
अपने ही रंग रग कै सांवरे सुक ज्यौं बैठि पढ़ावै ॥

प्रेम का ससार अत्यन्त विचित्र होता है। कभी तो गोपियो को अपने प्रियतम के व्यवहार को देखकर उस पर तनिक भी विश्वास नही रहता और कभी दूसरे ही क्षण उसी प्रियतम के प्रति अटूट विश्वास उत्पन्न हो जाता है। श्रीकृष्ण का सदेश लेकर आने वाले उद्धव को वे स्पष्टत' कह देती है कि अब उन्हे श्रीकृष्ण पर कोई विश्वास नही रहा। जो श्रीकृष्ण उनके साथ जमुना-विहार, कुंज-विहार और रासलीलाओ मे खोए रहते थे वे निश्चय ही अब उन्हे भूल गए हैं और इसी कारण उन्होने उद्धव को अपनी पतिया देकर भेजा है। स्वभावत ऐसे स्थलो पर गोपियो के मन मे घोर निराशा जन्म ले लेती है और वे उद्धव से कह उठती है—

ऊधौ अब नहि स्याम हमारे ।
मधुबन बसत बदलिसे गे वे माधव मधुप तिहारे ।
इतनिहि दूर भए कछु औरे, जोय जोय मगु हारे ।
कपटी कुटिल काक कोकिल ज्यो अन्त भए उड़ियारे ।

उद्धव की योग-वार्ता सुनकर श्रीकृष्ण के प्रेम रस मे मदमाती गोपियाँ यह समझने लगती है कि कदाचित् उद्धव को सन्निपात हो गया है। योग और ज्ञान के भडार उद्धव का उपहास करती हुई गोपियाँ कहती है कि—

समुझि न परत तिहारी ऊधो ।
ज्यों त्रिदोष उपजे जक लागत, बोलत वचन न सूधौ ।
आपुन को उपचार करो अति, तब औरनि सिख देहु ।
बड़ो रोग उपज्यो है तुमको भवन सवारे लेहु ।

यद्यपि वे जानती है कि उद्धव प्रेम की पीर का क, ख, ग भी नही जानते फिर भी वे अपने मन के भार को हल्का अवश्य करना चाहती हैं। जब वियोगी मन अपनी व्यथा को व्यक्त कर देता है तो निश्चय ही उसका भार किंचित हल्का हो जाता है। कदाचित् इसी कारण उद्धव के समक्ष अपनी अन्तर्व्यथा व्यक्त करते हुए गोपियाँ कहती है कि—

ऊधौ इक पतिया हमारी लीजै।
चरनि लागि गोबिन्द सौ कहियौ, लिखौ हमारौ दीजै।
हम तौ कौन रूप गुन आगरि जिंहि गुपाल जू रीझै।
निरखत नैन नीर भरि आयें, अरु कचुकि पट भीजै।
तलफत रहति मीन चातक, ज्यों जल बिनु तृषा न छीजै।
अति व्याकुल अकुलाति बिरहिनी, सुरति हमारी कीजै।
अंखियाँ खरी निहारति मधुवन, हरि बिनु ब्रज विष पीजै।
सूरदास प्रभु कबहिं मिलेगे, देखि देखि मुख जीजै॥

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि भ्रमर-गीत मे सूरदास ने गोपियो की विरह-व्यथा को उसकी पूर्णता के साथ व्यक्त किया है। गोपियो के विरह-वर्णन मे कवि ने उनके भीतर की वेदना के सूक्ष्म तारो को चित्रित किया है और उनकी मानसिक अवस्थाओ को व्यक्त किया है। निश्चय ही इन्ही कारणो से हिन्दी के प्रवर आलोचक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है कि "वियोग की जितनी अन्तर्दशाएँ हो सकती है, जितने ढगो से उन दशाओ का साहित्य मे वर्णन हुआ है और सामान्यतः सो सकता है वे सब उसके भीतर मौजूद है।"

काव्यशास्त्रियो ने विप्रलम्भ शृगार के अन्तर्गत वियोग की ग्यारह दशाओ का वर्णन किया है—अभिलाषा, चिन्ता, स्मरण, गुण-कथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता, मूर्च्छा और मरण। भ्रमर-गीत के अनेक पदो मे मन की इन अवस्थाओ का वर्णन मिलता है। विप्रलम्भ शृगार की इन एकादस दशाओ का एक-एक उदाहरण देखिए—

(क) अभिलाषा

ऐसे समय जो हरि जू आवहि।
निरखि निरखि वह रूप मनोहर, नैन बहुत-सुख पावहिं।
कबहुँक संग जु हिलमिल खेलहि, कबहुँक कुज बुलावहिं।

बिछुरे प्रान रहत नहिं घट में, सो पुनि आनि जियावहि।
अबकै चलत जानि सूरज-प्रभु, सब पहिलै उठि धावहि।

(घ) चिन्ता

सुरति करि ह्वाँ की रोइ दियौ।
पथी एक देखि मारग में राधा बोलि लियौ।
कहि धौं बीर कहाँ ते आयो, हम जु प्रनाम कियौ।
पा लागौं मन्दिर पग धारौ, सुनि दुखियान त्रियौ।

(ग) गुण कथन

एक घौस कुंजनि मैं माई।
नाना कुसुम लेइ अपनै कर, दिए मोहिंसो सुरति न जाई।
इतने मैं घन गरजि वृष्टि करी, तनु भीज्यौं मो भई जुडाई।
कपत देखि उठाइ पीत-पट, लै करुनामय कंठ लगाई।
कह वह प्रीति रीति मोहन की, कहं अब धौं एती निठुराई।
अब बलवीर सूर-प्रभु सखि री, मधुवन बसि सब प्रीति भुलाई।

(घ) स्मरण

मेरे मन इतनी सूल रही।
वे बतियाँ छतियाँ लिखि राखीं, जे नन्दलाल कहीं।

(ङ) उद्वेग

ऊधौ इतनी जाइ कहौ।
सबै बिरहिनी पा लागति है, मथुरा कान्ह रहौ।
भूलि हूँ जनि आवहु इहि गोकुल, तपति तरनि ज्यौं चंद।
सुन्दर बदन स्याम कोमल तन, क्यों सहिहैं नदनंद।
मधुकर मोर प्रबल पिक, चातक बन उपवन चढि बोलत।
मनहुँ सिंह की गरज सुनत गो बच्छ दुखित तन डोलत।
आसन असन अनल विष अहि-सम, भूषन विविध बिहार।
जित-तित फिरत दुसइ द्रुम-द्रुम प्रति, धनुष धरे सतमार।
तुम हौ सन्त सदा उपकारी, जानत हौ सब रीति।
सूर स्याम को, क्यों बोले ब्रज बिनुहारे यह रीति।

(च) प्रलाप

सखि मिलि करौ कछुक उपाइ।
मार मारन चढ़यो विरहिनि, निदरि पायौ दाउ।
हुतासन धुज जात उन्नत, चल्यौ हरि-दिस वाउ।

(छ) उन्माद

ऊधौ इतनी कहियौ जाइ।
अति कृसगात भई ये तुम बिनु, परम दुखारी गाय।
जल समूह बरषति दोउ अँखियाँ, हूंकति लीन्हें नाउं।
जहां जहाँ गोदोहन कीन्हौ, सूघति सोई सोइ ठाउं।

(ज) व्याधि

जा दिन तै गोपाल चले।
तादिन तै ऊधौ या ब्रज के सब स्वभाव बदले।
घटे अहार बिहार हरष हित, सुख सोभा गुन गान।
ओज तेज सब रहित सकल विधि आरति असम समान।
बाढ़ी निसा, वलय आभूषन, उर कचुकी उसास।
नैननि जल अंजन अंचल प्रति, आवन अवधि की आस।
अब यह दसा प्रगट या तन की, कहियौ जाइ सुनाइ।
सूरदास प्रभु सो कीजौ जिहिं, बेगि मिलहि अब आइ।

(झ) जड़ता

देखी मै लोचन चुनत अचेत।
मनहुँ कमल ससि त्रास ईस कौ, मुक्ता गनि गनि देत।
कहुँ ककन कहुँ गिरी मुद्रिका कहुँ टाड नहुँ तेत।
चेतति नहीं चित्र की पुतरी, समुझाई सौ चेत।

(ञ) मूर्च्छा

तब तै इन सबहिनि सचु पायौ।
जब तै हरि सदेस तुम्हारै सुनत तांवरौ आयौ।
फूले ब्याल दुरे ते प्रगटे, पवन पेट भरि खायौ।

(ट) मरण

अति मलीन वृषभानु कुमारी।
हरिश्रम-जल भीज्यौ उर-अंचल, तिहिं लालच न धुवावति सारी।

अधमुख रहति अनत नहिं चितवति, ज्यौं गथ हारे थकित जुवारी।

छूटे चिकुर वदन कुम्हिलाने ज्यौं नलिनी हिमकर की मारी।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भ्रमर-गीतकार ने भ्रमर के माध्यम से विरहिनी गोपियो के मन की अवस्थाओ का अत्यन्त सजीव वर्णन किया है। उपर्युक्त शास्त्रीय अवस्थाओ के अतिरिक्त कवि ने कतिपय विशिष्ट मन स्थितियो का वर्णन भी किया है—कही तो उन्होने श्रीकृष्ण प्रेम को कपट-प्रेम की आत्मानुभूति व्यक्त की है तो कही प्रियतम मे अमोघ विश्वास व्यक्त किया है। कभी श्रीकृष्ण-प्रेम मे डूबी हुई गोपियाँ प्रियतम की चित्र-कला रचना करने मे प्रवृत्त हो जाती है तो कभी वे स्वप्न मे ही प्रिय के दर्शन कर लेती है। इस प्रकार के स्वप्न-चित्रो और मन.स्थितियो की अभिव्यक्ति मे गोपियो के मन का उल्लास और अवसाद, सौभाग्य एव दुर्भाग्य की धूप-छाही आभा छिटकी हुई है। एक विद्वान् आलोचक के शब्दो मे "भ्रमर-गीत सूर की सर्वश्रेष्ठ रचना है, इसमे एक ओर विप्रलम्भ शृगार की उद्दाम सरिता का अबाध प्रवाह ब्रज-नारियो के नयनाम्बुज से पूरित होकर उमड़ता हुआ पाठक की मनोभूमि को आप्लावित करता चलता है और दूसरी ओर सगुण भक्ति का निर्झर ऊँची नीची और समतल भाव-भूमि मे योग-मार्ग की कठोर प्रस्तर शिलाओ को तोडता और निर्गुण उपासना के घास-फूंस को आत्मसात करता हुआ प्रवाहित होता है। गोपियो के भक्ति-भाव एव विश्वास से पुष्ट सरस तर्कों की झंझा मे उद्धव की निर्गुण-साधना का शुष्क भुस कही का कही उड गया।" यद्यपि कई विद्वानो ने भ्रमर-गीत मे आत्मा-परमात्मा के रूप मे दार्शनिक सत्यो का अनुसन्धान करने का प्रयत्न किया है किन्तु फिर भी श्रीकृष्ण और गोपियो के लौकिक प्रेम का अर्थ उपेक्षतया अधिक उभरा है

भ्रमरगीत में प्रकृति-चित्रण

प्रकृति मानव की आदि सहचरी है। सृष्टि के ऊषाकाल मे जव आदि मानव ने अपने नेत्र खोले होगे, सर्वप्रथम प्रकृति का ही साहचर्य और सहयोग प्राप्त हुआ होगा। मानव ने प्रकृति के विस्तृत प्रागण मे जन्म धारण किया, उसकी क्रोड़ मे पला और उसके साहचर्य मे चेतना को क्रमश. विकसित किया।

वृक्षों ने फलदान द्वारा और निर्झरो ने शीतल जल द्वारा मानव की सहज वृत्तियो का भी समाधान किया, फलत मनुष्य का निसर्ग के प्रति स्वाभाविक रूप से चिर साहचर्य स्थापित हो गया।

(सूर के काव्य नायक श्रीकृष्ण का न केवल जन्म और बाल्यकालीन पोषण ही प्रकृति के उन्मुक्त प्रागण मे हुआ था, अपितु उनके यौवन की प्रेम भावना का, किशोर केलियो का सम्बन्ध भी प्रकृति की पुत्रियो से हुआ था और व्रज के रम्य कुजो, करील के कल निकुजो, कालिदी कछार मे फैले हुए लता पादपो और मनोरम जनपदो मे ही उन्होने अधिकांश प्रेम-क्रीडाओ का सम्पादन किया था। राधा और कृष्ण के प्रथम समागम का दृश्य आज भी यमुना की आँखो मे घूम रहा है। प्रेमालाप और रति-क्रीडाओ से मुखरित कुँज अब भी रासलीला की अपूर्वता की साक्षी दे रहे है और कृष्ण के स्पर्श से पुलकित और सकेत से पूजित गोवर्द्धन आज भी पूजा करने जा रहा है। यही कारण है, कि सूर के काव्य मे प्राकृतिक उपादानों का परिग्रहण अपेक्षाकृत अधिक मात्रा मे हुआ है और वह उनके आयोजन मे पूर्णत. सफल हुआ है।)

('भ्रमर-गीत का सृजन करते समय कवि ने प्रकृति से विशेष प्रेरणा ग्रहण की है और इस प्रकार उसकी सज्जा से अपने काव्य का शृगार किया है। नैसर्गिक सौन्दर्य के शुभ उन्मेष ने काव्य को नित्य नूतन स्वर प्रदान किए है और उसकी छाया मे कवि ने अपने कवि—कर्म का कुशलता-पूर्वक निर्वाह किया है।) 'वास्तव मे वे सरल और स्वाभाविक वस्तु स्थिति के प्रभाव से पूर्णत. परिचित थे, और यही कारण है कि उन्होने इसमे मूल सहायता प्रदान करने वाली प्रकृति की निसर्ग शोभा का स्पष्ट आधार ग्रहण किया है। इसी के फलस्वरूप जहाँ उन्होने प्रत्यक्ष अनुभूति के आधार पर प्रकृति का मूर्तचित्रण किया है, वह नितान्त श्लाघ्य है।'

('भ्रमरगीत' मे आलम्बन के रूप मे प्रकृति का उपयोग अत्यन्त अल्प मात्रा मे हुआ है और इसका प्रधान कारण मूलत विषय के प्रतिकूल निर्वचन से सम्बद्ध है।) वर्ण्य विषय की दृष्टि से कवि के लिए इसका आधार ग्रहण करना असम्भव नही, तो दुस्साध्य अवश्य था। (वस्तुत. इसमे प्रकृति के उद्दीपन रूप को ही स्वीकार किया है और विषयानुरूप होने के कारण इसे उचित स्थान प्राप्त हुआ है।)

'भ्रमर-गीत' मे प्रकृति के उद्दीपन रूप की झाँकी मिलती है। सूर ने इस ग्रहण मे केवल रूढ़ि का निर्जीव पालन न करके उसको वास्तविक अथवा हार्दिक अनुभूतियो के सत्य व सौन्दर्य से रसार्द्र व सजीव कर दिया है। यह मनोविज्ञान का सत्य है, कि सारी सृष्टि हमें अपने ही मन के रगो मे रगी हुई दिखाई देती है—सुख मे अथवा, प्रिय मिलन मे हास्य-पुलकमयी, चमचमाती और रगीन और दुख मे अथवा वियोग मे क्लात, विषाद पूर्ण, भयकर और दाहक। आचार्य शुक्ल इस प्रसग मे कहते है, कि प्रकृति को सदा अपने मन मे रगी हुई देखा, तो क्या देखा ! यह मनुष्य का स्वार्थ मात्र है, ठीक है। यह बात आदर्श दृष्टि से किन्तु मनोवैज्ञानिक सत्य को भी तो—जो शायद मनो-जगत् मे या आज के यथार्थ जगत मे अधिक सत्य समझा जा रहा है—कवि अस्वीकार कैसे करे, कृष्ण मिलन के समय सुखद लगने वाले समस्त प्राकृतिक दृश्य इस वियोग दशा मे विरह को अधिक तीव्र बनाने वाले है। ब्रज वसुन्धरा का प्रत्येक दृश्य वन, उपवन सभी गोपियो के मन मे वेदना, टीस, पीड़ा उत्पन्न करते है। पीयूषवर्षी चन्द्रमा की शीतलता मे भी उन्हे सन्देह हो गया है—

यह ससि सीतल काहे कहियत।

प्राकृतिक उद्दीपनो मे चन्द्रमा का प्रमुख स्थान है। सूरसागर मे चन्द्रोपा-लम्भ के बहुत सुन्दर पद प्राप्त होते है। गोपियो की उक्तियाँ कही-कही पर ऊहात्मक हो गई हैं।

प्राकृतिक उद्दीपन का दूसरा रूप षट्-ऋतु वर्णन तथा बारहमासा है। इनमे भी प्राय' वसन्त और वर्षा ऋतु का चित्रण प्रधान है। वर्षा एव वसन्त दोनो ही ऋतुओ मे प्रकृति अपने पूर्ण ऐश्वर्य को प्राप्त करती है। उसका सौन्दर्यशाली और मादक रूप समस्त विश्व मे मधुर मादकता की श्री शोभा को विकीर्ण कर देता है। चर और अचर, जड और चेतन आनन्द सरोवर मे आकण्ठ विमग्न दिखाई देता है, तो उसका अभाव द्विगुणित हो जाता है। प्रकृति का यह मादक वातावरण उसकी सम्भोग इच्छा को और भी उद्दीप्त कर देता है। वर्षा ऋतु की काली घटाये, मेघो का गम्भीर घोष, बिजली की चमक, पपीहे की पीन पुकार और भौंरे का उन्मत नृत्य सभी कुछ उनके वियोग को अधिक उत्तेजना देने वाले हैं। कृष्ण का अभाव उनके जीवन मे विभिन्न रूपो मे प्रकट हो जाता है। कभी काले मेघ उन्ही को ऐसे प्रतीत होते है, मानो कामदेव की सेना ने

उन पर चढाई कर दी है और कभी वर्षा आगमन पर जड प्रकृति के केलि—विलास व्यापार को देखकर वे दीन हो सन्देश भेजती है।

ये दिन रुसिबे के नाही।
कारी घटा पौन झकझोरैं, लता तरुन लपटाही।

डा० स्नेहलता श्रीवास्तव के शब्दो मे, जड प्रकृति का यह रूप गोपियो के हृदय मे कृष्ण मिलन की तीव्र उत्कण्ठा उत्पन्न कर देता है। यह मानव-स्वभाव है कि दूसरे को सुखी देखकर उसकी प्रभावात्मक अनुभूति तीव्रतर हो उठती है। गोपियो की भी यही अवस्था है।

अन्य ऋतुओ का वर्णन भ्रमरगीत मे नही के वरावर हुआ है।

इसी विषय मे डा० हरवश लाल शर्मा का मत भी विचारणीय है। वे लिखते हैं, कि वियोग मे तो सूर के उद्दीपन वर्णन अनूठे, सूक्ष्म, सरस है।

'भ्रमरगीत' मे प्रकृति का वर्णन ऊहात्मक रूप मे भी हुआ है। यह ऊहात्मक वर्णन प्रायः चन्द्रोपालम्भ सम्बन्धी पदो मे हुआ है। कहा जाता है, कि चन्द्रमा विरही को अत्यधिक पीडा देता है। कृष्ण वियोग से व्यथित गोपी मन बहलाने के लिए वीणा को लेकर बैठती है, किन्तु उनकी वीणा के स्वर चन्द्र-मृग को मोह लेते है। चन्द्रमा स्थिर हो जाता हैं। इस प्रकार की पद्धति द्वारा प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण प्रगट होता है। इस प्रकार एक चित्र देखिए—

निसि दिन वरसत नैन हमारे।
सदा रहति पावस ऋतु हम पै जब ते स्याम सिधारे।
दृग अंजन लागत नहिं कबहूँ उर कपोल भए कारे।
कंचुकी नहीं सूखत सुनु सजनी उर विच वहत पनारे।
सूरदास प्रभु अबु बढयौ है गोकुल लेहु उबारे।
कहं लौं कहो स्याम घन सुन्दर विकल होत अति भारे।

इसी प्रकार एक पक्ति है—

इन नैनन के नीर सखी री सेज भई घरनाउँ।

'भ्रमरगीत' मे कवि ने प्रकृति के लोकोपकारी तथा सहानुभूतिपूर्ण स्वरूप का वर्णन भी किया है। मानव जगत् की अपेक्षा यह जड जगत् अधिक उदार और सहृदय जान पड़ता हैं। नियम बन्धन मे बँधे वादलो को देखकर गोपियो

को कृष्ण की निष्ठुरता याद हो आती है, और वे कह उठती है—

बरू ये बदराऊ बरसन आए।
अपनी अवधि जानि, नन्दनन्दन गरजि गगन घन छाए।
कहियत है सुरलोक बसन्त, सखि सेवक सदा पराए।
चातक कुल की पीर जानि कैं तेऊ तहाँ ते आए।
तृन किए हरित हरषि बेलि मिली दादुर मृतक जिवाए।

'बादल-तरु' जो जड समझे जाते हैं—आश्रितो के दुःख से द्रवीभूत होकर आते हैं। प्रिय के साथ कुछ रूप साम्य के कारण वे ही मेघ कभी प्रिय लगने लगते है—

आजु घनस्याम की अनुहारि।
उनै आए सांवरे ते सजनी देखि रूप की आरि।

इसी प्रकार पपीहा कभी तो अपनी बोली द्वारा प्रिय का स्मरण कराकर दुःख बढाता हुआ प्रतीत होता है और वह फटकार सुनता है—

हौं तो मोहन के बिरह जारि रे,
तू कत जारत ?
रे पापी तू पखि पपीहा !
'पिउ पिउ पिउ अधिरात पुकारत।

और कभी समदुख भोगी के रूप मे अत्यन्त सुहृद जान पड़ता है, और समानव्रत पालन के द्वारा उनका उत्साह बढता प्रतीत होता है।

बहुत दिन जीवै पपीहा प्यारे।

'भ्रमरगीत' मे प्रकृति का उपयोग अलकार रूप मे भी हुआ है। प्राय. गुण-भाव एवं आकृति का साम्य दिखाने के लिए कवि लोग प्रकृति से ऐसे उपमानो का चयन करते है, जिनसे उनके पात्रो के अंगो एव उनकी प्रवृत्तियो का सम्यक रूप पाठको के समक्ष उपस्थित हो जाता है। इस प्रकार का प्रकृति चित्रण अधिकाश स्मृति स्वरूप किया गया है। प्रकृति का आलकारिक रूप मे एक चित्रण लीजिए—

ऊधो मोहि व्रज बिसरत नाहीं।
हस सुता की सुन्दर कगरि अरु कुन्जन की छाहीं।

वै सुरभी वै वच्छ दोहनी खरिक दुहावन जाहीं।
ग्वाल बाल सब करत कुलाहल नाचत गहि गहि बाहीं ॥

× + +

सूरदास प्रभु मौन ह्वै, कहि कहि पछताहीं।

'भ्रमरगीत मे धर्म साम्य पर दृष्टि रखकर प्राकृतिक उपकरणो का उपमान रूप मे वर्णन किया गया है। इस प्रकार का वर्णन निम्न पंक्तियो मे सुन्दर रूप मे हुआ है–

(क) उपमा न्याय कहि अंगन की। (ख) अखियाँ अनल भई ज्यों गुजे।

निष्कर्ष यह है कि 'भ्रमरगीत' में प्रकृति वर्णन के अनेक प्रकार है, जिनसे काव्य मे प्रवाह स्वाभाविकता तथा सुकुमारता का मिश्रण हुआ है।

भ्रमर-गीत का दार्शनिक आधार

कविता के क्षेत्र में दार्शनिकता का आशय जीवन और जगत के महत्वपूर्ण एव गठीले प्रश्नो का समाधान ढूंढने तथा परम सत्ता के स्वरूप, आकार आदि के सम्बन्ध में चिन्तन करने से होता है। महाकवि सूरदास की गणना ऐसे ही कवियो मे की जाती है जिन्होने अपनी कविता के माध्यम से मानव मन के आध्यात्मिक-प्रश्नो का समाधान प्रस्तुत किया है। सूर ने अपने काव्य मे जीवन और जगत से सम्बन्धित चिन्तन-मनन की अनेक दिशाओं का उद्घाटन किया है, कविता के लौकिक माध्यम से अलौकिक सत्ता के स्वरूप का विवेचन किया है। अज्ञान के कारण उत्पन्न मोह, माया आदि व्याधियो पर विजय पाने के सन्मार्ग को प्रस्तुत किया है। तथापि सूर मूलतः एक कवि थे, दार्शनिक नही। उनका परम साध्य भक्ति है अर्थात् तत्वत. सूरदास एक भक्त कवि थे जिन्होने भक्ति के अथाह सागर के भीतर डूब कर अपनी हृदय तंत्री के उन्मुक्त विलास का परिचय दिया है। मूलतः एक कवि होने के नाते उनकी कविता भक्ति की ऐसी अविरल धरा बन पड़ी है जिसमे आद्योपान्त भक्ति की मधुरता और स्निग्धता ही दीख पडती है। भक्ति के उन्मुक्त गायन में यदि दर्शन और चिन्तन का स्वर सुनाई भी पड़ता है तो वह भक्ति से पूर्णत. आवेष्टित होकर ही। एक विद्वान् आलोचक ने इस स्थिति को स्पष्ट करते हुए कहा है कि

"उनके सभी विचारो का निकष है भक्ति और भक्ति के परिवेश मे एक विचित्र सी मिठास के साथ उन्होने अपने परमाराध्य की लीलाओ का गान जिस उन्मुक्तता के साथ किया है उसमे दार्शनिक तत्त्वों की समाहृति बड़े सहज रूप मे हो गई है, ऐसा नही कि दार्शनिक तत्वो की विवृति के लिए उन्होंने कविता की है।"[1] एक भक्त कवि होने के कारण सूर की कविता मे न तो सतो की साधनात्मक रहस्योन्मुखी वृत्ति का प्रसार है न सूफियो की प्रेमाख्या-नात्मक-कथाओ का 'छलावा'। उन्होने तुलसी की तरह-उपदेश, नीति और मर्यादा के सबल का आश्रय भी नही लिया। कदाचित इसी कारण तुलसी के राम जीवन मे तो व्याप्त हुए किन्तु साहित्य मे उनकी परम्परा का अधिक विकास नही हुआ। केवल श्रद्धा के आधार पर अथवा केवल उपदेशो के सहारे साहित्य नहीं चल पाता। कवि सूर ने समय की इस आवश्यकता को पहचाना और भक्ति के उन्मुक्त गीत गा-गा कर दर्शन की जटिल शकाओ का समाधान प्रस्तुत किया।

महाकवि सूरदास के काव्य के विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि वल्ल-भाचार्य के सम्पर्क मे आने से पूर्व उनके काव्य मे जीवन और जगत की निसा-रता का पक्ष-पोषण किया गया है और उनकी यह काव्यगत प्रवृत्ति सत कवियो से बहुत मेल खाती है। तथापि वल्लभाचार्य के साथ सम्पर्क हो जाने के पश्चात सूर के काव्य मे उपदेशात्मकता, जगत और जीवन की निस्सारता प्रायः नही दीख पडती। उनके काव्य में जीवन के प्रति गहन आस्था और भक्ति के प्रति अटूट विश्वास बराबर बना रहा है। सूर के काव्य का दार्शनिक आधार खोजने से पूर्व वल्लभाचार्य की दार्शनिक स्थापनाओ का किंचित् परि-चय पा लेना आवश्यक है क्योकि सूर को वल्लभाचार्य ने ही सर्वाधिक प्रभावित किया है। वल्लभाचार्य एक ऐसे तत्वचिन्तक थे जिन्होने अपने दार्शनिक विवे-चन मे हृदय और बुद्धि दोनो की प्रगति का परिचय दिया है और कदाचित् इसी कारण सूर को वे सर्वाधिक प्रभावित कर सके। वल्लभाचार्य के दार्शनिक सिद्धान्तो मे वेदान्त और भक्ति का अभूतपूर्व मिश्रण मिलता है। वल्लभाचार्य भी अद्वैतवाद के समर्थक थे किन्तु पारिभाषिक दृष्टि से उनके अद्वैतवाद को शुद्धाद्वैत कहा जाता है। इनके अनुसार ब्रह्म सत, चित और आनन्द स्वरूप हैं

१ सूर काव्य : नया परिदृश्य : डा० हरगुलाल, पृष्ठ २२।

और वह अपनी इच्छा के अनुसार अपने इन तीनों रूपो का विकास और तिरोभाव करता रहता है। जड़ और चेतन दोनो प्रकार के जगत् ब्रह्म ही है, अन्तर केवल यह है कि जड़ जगत् का ब्रह्म, चित् और आनन्द रूपो का पूरी तरह तिरोभाव किए रहता है और सत् रूप आंशिक रूप से विकसित हुए रहता है। दूसरी ओर चेतन जगत् मे ब्रह्म के सत्, चित् और आनन्द—इन तीनो स्वरूपो का विकास और तिरोभाव हुआ रहता है। यही नहीं, वल्लभाचार्य के अनुसार माया को मिथ्या नही माना गया है अपितु उसे ब्रह्म की ही एक शक्ति का स्थान दिया गया हे। जीव की सृष्टि तभी होती है जब ब्रह्म सृष्टि की इच्छा करता है और अपने गुणो का सर्वथा तिरोभाव कर लेता है। यह स्थिति केवल ईश्वर अथवा ब्रह्म की कृपा से ही सभव होती है जिसे पारिभाषिक शब्दावली मे 'पुष्टि' कहा जाता है। वल्लभाचार्य की दृष्टि में जीव की मुक्ति प्रेम की चरम अवस्था मे निहित है और इसी आधार पर उन के आराध्य भी प्रेम की साक्षात् मूर्ति श्रीकृष्ण है। वल्लभाचाय की भाँति ही ही सूर के आराध्य भी श्रीकृष्ण हैं।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वल्लभाचार्य के अनुसार जड और चेतन जगत् और जीव—सभी उसी विराट सत्ता अर्थात् ब्रह्म के अश हैं। सूर ने एक स्थल पर कहा भी है—

प्रकृति पुरुष श्रीपति नारायण सब है अंश गोपाल।

वल्लभ ने भगवान् के तीन रूपो का विवेचन किया है—पूर्ण पुरुपोत्तम रस रूप परब्रह्म श्रीकृष्ण, पूर्ण पुरुषोत्तम अक्षर ब्रह्म तथा अन्तर्यामी ब्रह्म। महाकवि सूर ने ब्रह्म के इन तीनों रूपो का विवेचन किया है। सूर की यह सुस्थापित मान्यता है कि ब्रह्म को वेदो, उपनिषदो आदि मे 'नेति नेति' कह कर अगम और अगोचर सिद्ध किया गया है। वही ब्रह्म भक्तो के वश मे होकर सगुण रूप धारण कर लेता है और सकट की घड़ियो मे भक्तो की रक्षा करता है—

वेद उपनिषद जासु कौ, निरगुनहिं बतावै।

× × ×

भक्त वछल भगवान, धरे तन भक्तनि कैं बस।

अज, अविनाशी, अमर प्रभु, जन्म मरै न सोइ।
नट-वत-करत-कला सकल, बूझै विरला कोई।

सूर के भ्रमरगीत मे मुख्यतः ज्ञान पर भक्ति की विजय स्थापित हुई है। भ्रमरगीतकार जगत् को मिथ्या नही मानता और उसका एक मात्र विरोध कठोर साधना और भावना शून्य बौद्धिक ज्ञान के साथ है। कदाचित् इसी कारण सूर को व्रज के कण-कण मे उसी ब्रह्म के दर्शन होते हैं। यह व्रज, यमुना, गोवर्धन, पशु-पक्षी, गोधन—सभी कुछ सत्य है और उसी विराट् सत्ता ब्रह्म का अश है। वही ब्रह्म लीला करना चाहता है और इसीलिए ससार की सृष्टि होती है। गोलोक उसी ब्रह्म का अश है और विष्णु के वैकुण्ठ से बहुत ऊपर है। जिस प्रकार स्वर्ण का कोई आभूषण पिघल-पिघल कर पुनः स्वर्ण में ही बदल जाता है उसी प्रकार जगत् तिरोहित होकर पुन. ब्रह्म बन जाता है।

आचार्य वल्लभ ने पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण को पूर्ण अवतार माना है और उन के चार व्यूहो की विवेचना की है। उन्होने वसुदेव-देवकी तथा नन्द-यशोदा के यहाँ श्रीकृष्ण का अवतार माना है। वल्लभ-सम्प्रदाय के अन्तर्गत श्रीकृष्ण के लीला रूप को आध्यात्मिक रूप दिया गया है। श्रीकृष्ण के लीलारूप के प्रसंग में चार मुख्य तत्व हैं—राधा, गोपी, मुरली और रास। चैतन्य सम्प्रदाय में राधा को सर्वोपरि महत्व दिया गया है किन्तु वल्लभ सम्प्रदाय मे राधा का अधिक विवेचन नही मिलता। गोपियो को पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण की आनन्द रूपिणी शक्तियाँ माना गया है। राधा को श्रीकृष्ण की आह्लादिनी शक्ति माना गया है और इसी आधार पर श्रीकृष्ण तथा गोपियो मे अभिन्नता सिद्ध की गई है। वल्लभाचार्य ने गुणवत्ता के आधार पर उन्नीस प्रकार की गोपियों का विवेचन किया है जिनमे से गोपियो की तीन श्रेणियाँ मुख्य है—अनन्यपूर्वा, अन्यपूर्वा तथा गुणातीता। यही गोपियाँ श्रीकृष्ण के साथ रासलीलाओं मे भाग लेती हैं। रासलीलाओ को भी प्रतीकार्थ दिया गया है और आचार्य वल्लभ के अनुसार जिस नृत्यादि के कारण रस की अभिव्यक्ति होती है उसे 'रास' कहते है। रस से आशय मानसिक रस से है। एक विद्वान आलोचक के शब्दो मे, "भगवान कृष्ण आनन्दानुभूति की पूर्ण अभिव्यक्ति है और यह रास परम उज्ज्वल रस का एक प्रकार है।"

ब्रह्म—सूर ने भ्रमरगीत मे श्रीकृष्ण को परब्रह्म रूप माना है। उनके अन्तर्यामी स्वरूप को लेकर उद्धव-गोपियो में पर्याप्त वादविवाद होता है। ब्रज आने पर उद्धव गोपियो के समक्ष श्रीकृष्ण के अन्तर्यामी स्वरूप की प्रतिष्ठा करते हैं किन्तु गोपियाँ श्रीकृष्ण के प्रेम में इतनी डूबी हुई है कि उन्हे केवल ऐसे श्रीकृष्ण की कामना है जो सहसा प्रकट होकर उन्हे दर्शन दे। उद्धव का तर्क यह है कि श्रीकृष्ण सर्वव्यापक, अन्तर्यामी है अत: उनसे वियोग कैसा ? उद्धव की इस स्थापना का विरोध करते हुए गोपियाँ स्पष्टत: कह देती है कि निर्गुण ब्रह्म अथवा श्रीकृष्ण के निराकार स्वरूप की आराधना उनके वश से बाहर है। उन्होंने श्रीकृष्ण के साक्षात् दर्शन किए है, उनके साथ रास किया है, उनकी मुरली की मधुर धुन का पान किया है—ऐसी स्थिति मे निर्गुण-ब्रह्म को प्रीति के अयोग्य सिद्ध करते हुए गोपियाँ कहती हैं कि—

रूप न रेख, बदन बपु जाके संग न सखा सहाई,
ता निर्गुन सौ प्रीति, निरन्तर क्यों निबहै री माई ?
मन चुभि रही माधुरी मूरति रोम रोम अरुझाई।
हौं बलि गई सूर प्रभु ताके, वाके 'स्याम सदा सुखदाई'।

भ्रमर-गीत की गोपियाँ इसी निर्गुण-ब्रह्म का विरोध करती रहती है। उनकी दृष्टि मे प्रेम की अभिव्यक्ति के लिए कोई सुस्पष्ट, सुनिश्चित रूप-आकार होना अनिवार्य है। निराकार अथवा निर्गुण ब्रह्म बौद्धिक व्यायाम है, प्रीति का आधार नही। श्रीकृष्ण की निर्गुण साधना का आग्रह करने वाले उद्धव, गोपियो के तर्को को सुनकर निरुत्तर हो जाते है। गोपियाँ यह चाहती हैं कि जिस निर्गुण ब्रह्म की उपासना के लिए उद्धव बार-बार कह रहे हैं, उस का कुछ पता ठिकाना तो हो, कोई ऐसा लक्षण चिह्न तो हो जिसे देखकर अथवा समझकर उसके प्रति मन लगाया जा सके। वे उद्धव से पूछती है कि—

निर्गुण कौन देस को बासी ?
मधुकर ! हँसि समझाय, सौह दे बूझति साँच, न हाँसी।

गोपियो ने अपने मन की शका को कितने सीधे सरल शब्दो मे व्यक्त किया है किन्तु इन सीधे-सरल शब्दो मे भी गोपियो ने ऐसे प्रश्न प्रस्तुत किए है कि ज्ञान और योग के परम साधक उद्धव से कोई उत्तर नही दिए बनता। गोपियो के श्रीकृष्ण—प्रेम के समक्ष—उद्धव का समस्त ज्ञान और योग पराजित

हो जाता है। वे स्पष्टतः कहते हैं कि—

धन्य व्रजबाल, जिनके सर्वस मदन गोपाल।
वह मत त्याग्यो, यह मति ग्रई, तुम्हरे दरस अगति मैं पाई।
तुम मम गुरु मै दास तुम्हारो भगति सुनाय जगत निस्तारो।

जीव—आचार्य वल्लभ के अनुसार कवि सूर ने भी जीव को पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण (गोपाल) का अंश स्वीकार किया है। यह जीव प्रायः माया से आवृत्त रहता है। इसी माया अथवा अविद्या के कारण जीव अपने आपको विस्मृत कर बैठता है। प्रभु के अनुग्रह से यही जीव माया, मोह आदि से मुक्त हो जाता है और उसके साथ ही ब्रह्म का आनन्दांश उसके भीतर समाविष्ट हो जाता है।

मोक्ष—कवि सूरदास ने भगवान् श्रीकृष्ण के दर्शनों मे ही मोक्ष के दर्शन किए है। उनके अनुसार वही भक्त मुक्त हो सकता है जो कि निर्गुण मुक्ति के स्थान पर परमधाम श्रीकृष्ण के दर्शनों से सुखी हो उठता है। धार्मिक दृष्टि से हमारे यहाँ चार प्रकार की मुक्तियों का विधान है—सालोक, सामीप्य, सारूप्य तथा सायुज्य। सालोक मुक्ति का आशय भगवान् के लीला धाम मे पहुँच जाने से है। जब कोई भक्त भगवान् के लीलाधाम मे पहुँच जाता है तो उसकी इस मुक्ति को सालोक मुक्ति कहते है। भगवान् श्रीकृष्ण के अनुरूप, उन्ही की तरह आचरण करने को सारूप्य मुक्ति कहते हैं। जब कोई भक्त श्रीकृष्ण अथवा अपने आराध्य के साथ एकतान, एकभाव हो जाता है, तो उसकी इस भक्ति को सायुज्य भुक्ति कहते है। सूर के भ्रमर गीत मे सायुज्य मुक्ति की ही सर्वाधिक चर्चा है। सायुज्य मुक्ति के पुनः दो भेद किए गए हैं—प्रवेशात्मक और लयात्मक। लयात्मक सायुज्य मुक्ति मे भक्त ईश्वर का ही एक अंश बन जाता है। भ्रमर गीत मे वर्णित गोपियों की विरह-भावना इसी लयात्मक मुक्ति का एक अंश है। श्रीकृष्ण के वियोग मे पीड़ित गोपियाँ जिधर भी देखती है उधर ही उन्हे अपने लीलाधाम श्रीकृष्ण के दर्शन होते हैं। ये गोपियाँ श्रीकृष्ण के रंग मे रंग गई है। उद्धव को सम्बोधित करते हुए कहती हैं—

ऊधौ सूधैं नैक निहारो
हम अबलनि को सिखबन आए, सुन्यौ सयान तिहारौ।

निरगुन कहो कहा कहियत है, तुम निरगुन अति भारी।
सेवत सुलभ स्यामसुन्दर को मुक्ति रही हम चारी।
हम सालोक्य, सरूप, सायुज्यो रहति समीप सदाई।
सो तजि कहते और की औरै तुम अलि बड़े अदाई।
हम मूरख तुम बड़े चतुर हौ, बहुत कहा अब कहिए।
केही काज फिरत भटकत कत, अब मारग निज गहिए।
तुम अज्ञान कतहि उपदेसत, ज्ञान रूप हम ही।
निसिदिन ध्यान सूर प्रभु को अलि देखत जित तितही॥

भ्रमर-गीत के दार्शनिक आधार का विश्लेषण सूर की साधना-पद्धति के विवेचन के बिना अधूरा है। सूर के भ्रमरगीत पर वल्लभीय साधना-पद्धतियों का भरा पूरा प्रभाव है। मनुष्य आरम्भ से ही प्रकृति एव सृष्टि के रहस्यों को जानने के लिए लालायित रहा है और उसकी इसी लालसा ने सूर तुलसी जैसे महान कवियो, बुद्ध और महावीर जैसे धर्म-प्रवर्तको को जन्म दिया है। मनुष्य विवेक शक्ति से सम्पन्न होता है और गुरु शंकराचार्य ने जीवन और जगत को इसी विवेक के माध्यम से समझने-समझाने की बात कही है। तथापि यह निर्विवाद है कि हमारे प्रयत्न, भक्ति-साधना, ज्ञान धर्म-सभी एक ही लक्ष्य से बँध कर चलते है, हम सभी मन की शान्ति के लिए अनवरत रूप से लगे रहते है। हमारी कतिपय वृत्तियाँ इसी मन की शान्ति का हनन करती है और कदाचित इसी कारण हमारे ही नही, समूचे विश्व के प्राय: सभी धार्मिक-ग्रन्थो मे क्रोध, लोभ, माया-मोह आदि मानवीय वृत्तियो की भर्त्सना की गई है। जब मनुष्य का मन इन दुर्बलताओ पर विजय प्राप्त कर लेता है तो उसे मन की सच्ची शान्ति, सच्चा सुख प्राप्त होता है। जब मानव मन अज्ञानवश इस संसार मे रुचि लेने लगता है तो उसकी समस्त वृत्तियाँ भ्रमित हो जाती है। वह पूरी तरह मोह माया के जाल मे फँस जाता है। योग-साधना और ज्ञान की सहायता से मनुष्य धीरे-धीरे शुद्ध आत्मज्ञान को प्राप्त करता है और अपने मन पर विजय पा लेता है। इस प्रकार मनुष्य सासारिक आकर्षणो से ऊपर उठ जाता है और उसके समक्ष जगत् का मिथ्यात्व स्पष्टत: सिद्ध हो जाता है। तथापि यह स्थिति साधारण मनुष्य के लिए दुष्कर है। जगत् के मोह-माया में बँधी हुई मानवीय बुद्धि सहज ही ससार से विलग नही हो पाती।

वल्लभाचार्य ने मनुष्य की इस कठिनाई को समझा और इसी कारण ज्ञान के कठिन मार्ग के स्थान पर प्रेम-साधना का उपदेश दिया। उनकी दृष्टि मे प्रेम का मार्ग ही मनुष्य को सच्चा सुख, सच्ची मानसिक शान्ति देने वाला होता है। प्रेम के इस मार्ग का मूलाधार मनुष्य की 'रागात्मिका' वृत्ति है। 'राग' मनुष्य की सर्वाधिक प्रबल वृत्ति है किन्तु इसका कोई न कोई आधार अवश्य होना चाहिए। वल्लभ के अनुसार मनुष्य को अपनी राग वृत्ति के लिए किसी सुन्दरतम एव पूर्णतम रूप की कल्पना करनी पडती है और वह रूप कदाचित् श्रीकृष्ण का ही हो सकता है। श्रीकृष्ण के प्रति राग की भावना रखने पर भक्त की वृत्ति कृष्णमयी हो जाती है, श्रीकृष्ण के सभी गुणो के साथ भावात्मक एकता स्थापित हो जाती है। यही नही, मनुष्य की वृत्ति के सम्बन्ध मे एक महत्वपूर्ण सत्य यह भी है कि मनुष्य की वृत्ति विषय के अनुरूप बदल जाती है और अन्तत उसमे विषय के सभी गुणो का सहज समावेश हो जाता है। सूर के भ्रमर गीत का मूलाधार यही प्रेम-साधना, यही राग-वृत्ति है जो कि विषय अर्थात् श्रीकृष्ण मे बदल जाती है। पारिभाषिक शब्दावली मे इस प्रेम-साधना को 'शुद्ध-पुष्टि' कहा गया है। 'शुद्ध-पुष्टि' का आशय ऐसी प्रेम-साधना से है जो कि सासारिक स्वार्थों से सर्वथा मुक्त है और अपने आप मे शुद्ध है। श्रीकृष्ण के प्रति यह राग-वृत्ति उन्ही की कृपा से उत्पन्न और विकसित होती है, उन्ही की कृपा से यह वृत्ति 'पुष्ट' होती है। गोपियो के प्रति श्रीकृष्ण के अनुग्रह के कारण ही उनके मन मे श्रीकृष्ण से मिलन की कामना जन्म लेती है और जब एक बार वह कामना जन्म ले लेती है तब श्रीकृष्ण उन्हे अपने दर्शन देकर उनकी मिलन-कामना को और अधिक पुष्ट और सुदृढ बनाते है।

श्रीकृष्ण के प्रति इस राग-भावना की अभिव्यक्ति के दो सशक्त माध्यम हैं—सखाभाव और सखीभाव। सखाभाव मे भक्त अपने आराध्य अर्थात् श्रीकृष्ण के प्रति मित्र के भाव रखता है, उसके साथ खेलता है, खिजाता है, रूठता है, मनाता है किन्तु इस पर भी जो प्रेमातिरेक, और दीवानगी सखी भाव मे है वह सखाभाव मे हो ही नही सकती। स्वभावत. सखीभाव के माध्यम से श्रीकृष्ण की कृपा अपेक्षतया अधिक शीघ्र प्राप्त हो जाती है। इसी आधार पर गोपियो के कई भेद किए गए हैं यथा गोपांग, कुमारिया आदि।

'गोपांग' ऐसी गोपियां (भक्त) होती है जो अपना घर द्वार छोड कर कृष्ण के साथ एकान्त मे मिलती हैं और अपने हृदय की समस्त भाव-सम्पदा उसकी एक-एक चितवन पर न्यौछावर कर देती है। कुमारियाँ ऐसी गोपियो (भक्तों) को कहते है जो अविवाहित होती है और वर के रूप मे श्रीकृष्ण की कामना लिए रहती हैं।

प्रेम का ससार सर्वथा उन्मुक्त और विकार-रहित होता है, उसमें न छलावे होते है न मिथ्या आश्वासन। एक दूसरे के प्रति अटूट और निश्छल विश्वास ही प्रेम-रथ की धुरी होता है। कदाचित् इसीलिए सूर ने ऐसे प्रेम को गुह्य रखने पर वल दिया है। भ्रमरगीत मे उनकी गोपियाँ कहती है—

गुप्त मते की बात कहौ जिनि कही काहू के आगे।
कै हम जानै कै तुम, ऊधो इतनी पावें मांगे।
एक बेर खेलत वृन्दावन कंटक चुभि गयौ पांय।
कंटक सों कंटक लै काढ़यौ, अपने हाथ सुभाय।
एक दिवस विहरत बन भीतर में जु सुनाई भूख।
पाके फल वै देखि मनोहर चढ़े कृपा करि रुख।
ऐसी प्रीति हमारी उनकी बसते गोकुल बास।

प्रेम का यह समूचा खेल समर्पण का खेल है जिसमे प्रिय से मिलन की एक तीव्र उत्कंठा भक्त के चित्त को सर्वथा आलोडित करती रहती है। प्रेम कभी नही मरता—

ऊधो ! प्रीति न मरन बिचारै।
प्रीति पतंग जर पावक परि, जरत अंग नहि टारै।
प्रीति परेवा उड़त गगन चढ़ि गिरत न आप सम्हारै।
प्रीति मधुप केतकी-कुसुम बसि कंटक आपु प्रहारै।
प्रीति जानु जैसे पय पानी जानि अपनपौ जारै।
प्रीति कुरंग नादरस, लुब्धक तानि तानि सर मारै।
प्रीति जान जननी सुत-कारन को न अपनपौ हारै।
सूर स्याम सों प्रीति गोपिन की कहु कैसे निरुवारै॥

प्रेम का यह उन्माद सूर के मन की उदात्तता का परिचायक है। यह सच है कि परवर्ती काव्य अर्थात् रीतिकालीन कवियो ने इस उदात्त प्रेम को साधारण

नायक नायिका के स्तर तक गिरा दिया किन्तु यह भी इतना ही सच है कि सूर के भ्रमरगीत की गोपियो का श्रीकृष्ण प्रेम 'शुद्धराग' की अवस्था का प्रेम था। उन्होने मन, क्रम, वचन से अपने गोकुलनाथ के प्रति पतिव्रत धर्म का पालन किया था। मान-अपमान, लोक लाज और कुल मर्यादा से ऊपर उठकर प्रेम करने वाली इन गोपियो के प्रेम मे एक ऐसी सरिता का आवेग दीखता है जो कि समुद्र से मिलने की धुन मे नाना प्रकार की बाधाओ को लाघकर अह-निश प्रवाहित होती रहती है और अन्तत उसी समुद्र मे विलीन होकर, अपने अस्तित्व को मिटा कर धन्य हो जाती है। उद्धव इस प्रेम को क्या जाने? गोपियो की जिन केश राशियो को श्याम अपने हाथो सुगन्धित किया करते थे, उन्ही केशो मे भभूत लगाना कितना हृदय विदारक होगा,—गोपियों के निम्न शब्दो से स्पष्ट हो जाता है—

ऊधो! जुबतिन ओर निहारो।
तब यह जोग-मोट हम आगे हिये समुझि विस्तारो।
जे कच स्याम आपने कर करि नितहि सुगन्ध रचाए।
तिनको तुम जो विभूति घोरिकै जटा लगावन आए।
जेहि मुख मृगमद मलयज उबटति, छन छन धोवति माजति।
तेहि मुख कहत खेहल पटावन सो कैसे हम लाजति॥

इस प्रकार सूर ने सिद्धान्त और व्यवहार दोनो दृष्टियो से एक ऐसे धरा-तल की प्रतिष्ठा की है जहाँ शुद्ध प्रेम-साधना का उन्मुक्त विलास, हृदय की सच्ची पहचान, प्रिय-मिलन की तीव्र-उत्कठा सभी कुछ एक साथ अविस्थित है। जिन गोपियो को प्रत्येक क्षण, प्रत्येक दिशा और स्थान मे कृष्ण का मुस्कराता मुख ही दीखता था, जिनकी समस्त वृत्तियाँ कृष्णमयी हो गई थी, भला उद्धव का योग और ज्ञान क्यो भाने लगा। एक बार सागर का सुखमय स्पर्श पा लेने के बाद सरिता पुन हिमालय को क्यो लौटना चाहेगी। इसी को ब्रह्म का साक्षात्कार कहते हैं और यही है भ्रमर-गीत का दार्शनिक आधार।

भ्रमरगीत का उद्देश्य

साहित्य के क्षेत्र मे ही नही व्यावहारिक जीवन मे भी मनुष्य का प्रत्येक कार्य किसी न किसी उद्देश्य से प्रेरित होता है। यह उद्देश्य अपने आप मे ऊँचा

नीचा, महान्-अधम आदि किसी भी प्रकार का हो सकता है किन्तु इसकी स्थिति अनिवार्य है। साहित्य और जीवन भी परस्पर एक दूसरे से सम्बद्ध होने हैं। साहित्य में हमारे जीवन का ही चित्रण तो होता है और साहित्य का निर्माण भी जीवन के प्रसंग में होता है। कदाचित् इसी कारण अनेक विद्वानों के अनुसार साहित्य जीवन का प्रतिबिम्ब होता है। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जब व्यावहारिक जीवन का प्रत्येक छोटा-बडा क्रियाकलाप किसी न किसी उद्देश्य से प्रेरित होता है तो इस दृष्टि से साहित्य भी कैसे अपवाद हो सकता है। प्रत्येक कवि अथवा साहित्यकार किसी न किसी उद्देश्य को लेकर साहित्य सृजन करता है, उसकी कृतियो में उसी उद्देश्य का निर्वाह होता है। मध्ययुगीन साहित्य का मूल उद्देश्य भक्ति की प्रतिष्ठा करना है। सूर ने भी भ्रमरगीत में भक्ति की ही प्रतिष्ठा की है किन्तु वास्तविकता यह है कि उन के सम्बन्ध मे केवल यह कह देना कि उन्होने भ्रमरगीत मे भक्ति की प्रतिष्ठा की है, पर्याप्त नही है। सचाई यह है कि उन्होने ज्ञान और योग पर भक्ति की श्रेष्ठता सिद्ध की है और यह निर्विवाद है कि सूर अपने इस उद्देश्य मे सफल रहे हैं। दूसरे शब्दो में सूर के समक्ष उनके समय मे प्रवर्तमान विभिन्न प्रकार की कठिन साधना पद्धतियों की सारहीनता सिद्ध करने के साथ-साथ भक्ति के राजमार्ग की प्रतिष्ठा करने का भी प्रश्न था। भ्रमरगीत मे स्पष्टतः दो पक्ष उभर कर आते हैं—उद्धव और गोपियाँ। उद्धव ज्ञान और योग के पक्षधर है तथा निर्गुण ब्रह्म की उपासना पर बल देते हैं जबकि गोपियाँ श्रीकृष्ण के प्रति सच्चा प्रेम-भाव रखती है। उद्धव के उपदेशो का आधार योग की कठिन साधना और भयंकर व्रतधारियो एवं वामाचारियो का खोखला हठयोग था और सूर ने भ्रमरगीत मे इन्ही उग्रतावादी साधना पद्धतियों का खुलकर विरोध किया है।

भ्रमरगीत के उद्देश्य का विवेचन करने से पूर्व सूर के समय की धार्मिक परिस्थितियो का विश्लेषण करना आवश्यक होगा। १६वी, १७वी शताब्दी में भारतीय समाज के मन-मस्तिष्क पर हठयोगी, अघोरी, कापालिक तथा तन्त्र-मन्त्र धारी साधको का भरापूरा प्रभाव था। योग की साधना करने वाले विभिन्न प्रकार की शारीरिक यन्त्रणाएँ सहन करके सामान्य जनसमूह पर भय और विस्मय की छाप लगाए हुए थे। किंचित् शिक्षित समाज पर शंकर के वेदान्त

का प्रभाव था और इस प्रकार समूचा भारतीय समाज धर्म के नाम पर केवल हठयोगी तथा कनफटे जोगियो से प्रभावित था। निस्सन्देह शैव और बौद्ध जैसे सहजपथी भी थे किन्तु आचार-विचार की दृष्टि से वे भी भारतीय समाज के समक्ष जीवन के उच्च आदर्शो की प्रतिष्ठा नही कर सके। इस प्रकार के सहज पंथियो मे ललित साधनाओ की बहुलता थी और शास्त्रीय भाषा मे उन्हे पचम-कारसेवी कहा जा सकता है। ये पंचमकार थे—मत्र, मुद्रा, मदिरा, मैथुन और माँस। धार्मिक परिस्थितियो के मूल मे राजनीतिक परिस्थितियाँ होती है। कहने का तात्पर्य यह है कि किसी भी देश की राजनीतिक स्थिति का वहाँ की धार्मिक स्थिति पर भरापूरा प्रभाव रहता है। जिस समय श्रीमद्भागवत की रचना हुई उस समय यवनो के आक्रमण के कारण भारतीय समाज धार्मिक और नैतिक दृष्टि से जर्जरित हो चुका था, जीवन के उच्च आदर्श एव मूल्य अपदस्थ हो गए थे। योग सिद्धि और ज्ञान के नाम पर केवल थोथा और कृत्रिम जीवन उभर रहा था।

जहाँ तक भारतीय समाज की सामाजिक स्थिति का प्रश्न है, यह निर्विवाद है कि नारी और शूद्रो के उद्धार के लिए महाभारत युग से ही प्रयास आरम्भ हो गया था। छटी शताब्दी के बाद वैष्णव और शैवो के सिद्धान्तो का प्रचार-प्रसार हुआ। ये वैष्णव वेद और लोक-विरोधी थे और इनके सिद्धान्तो का एक मात्र आधार विष्णु थे। भागवत् पुराण की रचना के मूल मे यही तत्व थे और इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि भागवत् पुराण मे आरधन, पूजा, प्रार्थना आदि का वर्णन है किन्तु उसमे वामाचार के लिए तनिक भी स्थान नही है। श्रीमद्भागवत् की रचना एक व्यावहारिक जीवन पद्धति को लेकर की गई थी और सूर के दार्शनिक सिद्धान्तो का मूलाधार यही श्रीमद्भागत् है। एक विद्वान के शब्दो मे, "यही नही, श्रीमद्भागवत् की समन्वयमयी वुद्धि ने जैनियो के आदि तीर्थंडकर तथा अवधूत जड़ भरत के तपस्या मार्ग व योगमार्ग का पूर्ण आदर किया है। गृहस्थो के लिए निष्काम कर्मयोग व भक्ति का उपदेश देकर मुक्ति सभव वताई है। मतलब यह है कि स्थूल वामाचारी साधनाओ को छोड़कर भागवत पुराण मे सब कुछ स्वीकृत है।[1] इस प्रकार यह

१. सूर का भ्रमरगीत—एक अन्वेषण : डा० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, पृ० ५२।

स्पष्ट हो जाता है कि श्रीमद्भागवत मे तत्कालीन कठोर साधना पद्धतियों के स्थान पर एक अपेक्षतया अधिक बोधगम्य, सरल और व्यावहारिक भक्ति पद्धति की प्रतिष्ठा की गई है।

इस सम्बन्ध में एक अत्यन्त उल्लेखनीय तथ्य यह भी है कि हमारी साधना पद्धतियो और भक्ति सिद्धान्तो के जो तत्व एक बार आत्मसात् हो जाते है, वे परवर्ती साधना-पद्धतियो में भी किसी न किसी रूप मे किसी न किसी मात्रा मे अवश्य बने रहते है। श्रीमद्भागवत् के दशम स्कन्ध मे जो गोपी-कृष्ण की लीलाओ का वर्णन है, वह वस्तुत. शताब्दियो से चले आ रहे वामाचार की अप्रत्यक्ष स्वीकृति ही तो है। यह एक दूसरी बात है कि हम उसे गुह्यलीला अथवा भगवान् के साथ दाम्पत्य-सम्बन्ध अथवा गोपी-कृष्ण विहार इनमे से कोई भी सज्ञा दे दे। बोलचाल की भाषा मे कहा जाए तो श्रीमद्भागवत् का मूल धर्म 'भाव-साधना' है, भगवान के प्रति सर्वात्म समर्पण का पुण्य सकल्प है। वल्लभीय सम्प्रदाय का मूल-तत्त्व भी यही है। हिन्दी के मूर्द्धन्य आलोचक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दो में, "जिस प्रकार ज्ञान की चरमसीमा ज्ञाता और ज्ञेय की एकता है, उसी प्रकार प्रेम-भाव की चरम-सीमा आश्रय और आलम्बन की एकता है। अतः भगवत-भक्ति की साधना के लिए इसी प्रेम-तत्व को वल्लभाचार्य ने सामने रखा और उनके अनुयायी कृष्ण भक्त कवि इसी को लेकर चले।'[1] सूर के समूचे काव्य मे यही प्रेम-तत्व सर्वत्र छाया हुआ है। उनके काव्य मे मुख्यत प्रेम के विविध रूप दीखते है—भगवद्विषयक रति, वात्सल्य और दाम्पत्य रति। इस दृष्टि से सूरकाव्य का विभाजन करने पर सूर के विनय परक पद भगवद्विषयक रति मे आएँगे और बालकृष्ण की क्रीड़ाएं वात्सल्य के अन्तर्गत आएँगी तथा भ्रमरगीत मे सगृहीत गोपियो के प्रेम-संबधी पद दाम्पत्य रति के अधीन आएँगे। भ्रमरगीत की गोपियो का श्रीकृष्ण के प्रति अनन्य प्रेम है। जब उद्धव उन्हे योग और ज्ञान का उपदेश देने लगते है तो वे स्पष्टतः कह देती हैं कि उन्हे तो श्रीकृष्ण और उनकी कथा से ही लगाव है, उन्हे इस संसार मे और कुछ भी नही चाहिए—

हमको हरि की कथा सुनाव।
अपनी ज्ञानकथा ओ ऊधो ! मथुरा ही ले जाव।

---

१. भ्रमर गीत की भूमिका : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ ६।

नागरि नारि भले बूझैंगी अपने वचन सुभाव।
पा लागो इन बातनि रे अलि ! उनही जाय रिझाव।
सुनि, प्रियसखा स्यामसुन्दर के जो पै जिय सति भाव।
जो कोउ कोटि जतन करे मधुकर विरहिनि और सुहाव ?
सूरजदास मीन को जल बिनु नाहिन और उपाय॥

व्रज की जिन गोपियो ने श्रीकृष्ण के साथ उन्मुक्त विहार किया है, उन्हें ससार मे किसी भी वस्तु की कामना नही रह गई है। कृष्ण के प्रेम मे रगी हुई गोपियो का एकमात्र आधार वही कृष्ण है। ऐसी स्थिति मे भला उन्हे उद्धव के ज्ञान और योग के उपदेश क्योकर भा सकते थे। वे स्पष्टत. कह देती है कि "हे उद्धव, हम अबला नारियाँ है, योग की कठिन साधना हमारी सामर्थ्य से बाहर है। हे उद्धव, तुम्हारे ये वचन हमे वैसी ही पीडा पहुँचाते है जैसी कि जले पर नमक छिडकने से होती है।" प्रेम का रग पक्का होता है, उस पर दूसरा कोई रग नही चढता। यद्यपि उद्धव नाना विधियो से गोपियो के इस प्रेम को निर्गुण ब्रह्म, ज्ञान तथा योग आदि दिशाओ की ओर मोडना चाहते हैं किन्तु गोपियाँ है कि उन पर उद्धव के उपदेशो का किंचित भी प्रभाव नही पड़ता। उन्हे इस बात का बहुत दुख है कि उद्धव श्रीकृष्ण को भुलाने की नाना विधियाँ तो बता रहे है किन्तु उनसे मिलन की कोई राह नही सुझा रहे है। गोपियो ने प्रेम को जी भरके भोगा है, व्रज की कुँजलताओ की शीतल छाया मे अपने प्रियतम के साथ उन्मुक्त विचरण किया है अत. उन्हे कौन छल सकता है, उनके प्रेम-भाव को कौन नष्ट कर सकता है ? तनिक उनकी स्पष्ट-वादिता तो देखिए—

बातन सब कोऊ समुझावै।
जेहि विधि मिलन मिलै वै माधव सो विधि कोउ न बतावै।
जद्यपि जतन अनेक रचि पचि और अनत बिरमावै।
तद्यपि हठी हमारे नयना और न देखे भावे।
बासर-निसा प्रानवल्लभ तजि रसना और न गावै।
सूरदास प्रभु प्रेमहि लगि करि कहिए जो कहि आवै।

उनकी यह दृढ धारणा है कि श्रीकृष्ण की प्राप्ति का एकमात्र मार्ग प्रेम-पूर्ण भक्ति का मार्ग है। उन्हें किसी भी अन्य साधना-पद्धति अथवा भक्ति-

सिद्धान्त मे विश्वास नही है। उनके मत से ज्ञान और योग का मार्ग राजमार्ग नहीं है जिस पर कोई भी व्यक्ति चल सकता हो। ऐसी स्थिति मे गोपियाँ उद्धव की बात कैसे मान सकती हैं। इस पर भी जब उद्धव अपने निश्चय पर अडिग रहते है तो गोपियाँ दो टूक कह देती है कि हे उद्धव—

काहे को रोकत मारग सूधो ?
सुनहु मधुप ! निर्गुन कंटक ते राजपथ क्यों रुंधो ।
ताको कहा परेखा कीजै जानत छाँछ न दूधो ।
सूर मूर अक्रूर गए लै ब्याज निवारत ऊधो ॥

सूर की मूल स्थापना यही रही है कि भक्ति का मार्ग सीधा और सर्वथा निष्कटक मार्ग है।

भक्ति के क्षेत्र मे भी गोपियो की अपनी स्वतन्त्र धारणा है। उनकी दृष्टि मे भक्ति के लिए कोई न कोई रूप, आकार अपेक्षित है अर्थात् निराकार, निर्गुण ब्रह्म की उपासना नही की जा सकती। वस्तुत सूर केवल एक कवि नही है अपितु गोपियो के हृदय का सच्चा चित्र है। उद्धव के प्रति गोपियो के वचन वास्तव मे गोपियो के नही, सूर के वचन है। जब गोपियाँ उद्धव पर भक्ति के 'सीधे मार्ग' को रोकने का आरोप लगाती है तो उसके मूल मे भक्ति के प्रति सूर की अपनी आस्था ध्वनित हो रही है। सूर ब्रह्म के साकार रूप के उपासक है और इसी कारण गोपियाँ भी रेख रूप विहीन ब्रह्म के प्रति आस्था नही सजो पाती। जब उद्धव बार-बार निर्गुण ब्रह्म की उपासना का आग्रह करते हैं तो गोपियाँ सहज भाव मे कहती है कि—

रेख न रूप, बरन जाके नहिं ताको हमें बतावत ।
अपनी कहो दरस वैसे को तुम कबहूँ हो पावत ?
मुरली अधर धरत है सो पुनि गोधन बन बन चारत ?
नैन बिसाल, भौंह बंकट करि देख्यो कबहुँ निहारत ?
तन त्रिभंग करि, नटवर बपु धरि पीतांबर तेहि सोहत ?
सूर स्याम ज्यों देत हमें सुख त्यों तुमको सोउ मोहत ?

सूर की दूसरी महत्वरूप स्थापना निर्गुण ब्रह्म के स्थान पर साकार ब्रह्म अर्थात् श्रीकृष्ण की प्रतिष्ठा करना है। सूर का दृढ़ विश्वास है कि उपासना, पूजा के लिए निर्गुण ब्रह्म की कल्पना सर्वथा अव्यवहार्य है। निर्गुण ब्रह्म

अपने आप मे तर्क-वितर्क का विषय है, आस्थामयी भक्ति का नही। भ्रमर गीत की गोपियाँ उद्धव के साथ तर्क करती हैं, उसके विश्वास को झकझोडती हैं और उससे पूछती भी हैं कि "हे उद्धव, यदि एक क्षण को हम तुम्हारी बात मान ले तो तुम अपने निर्गुण ब्रह्म का एक लक्षण तो बताओ। तनिक यह भी तो बताओ कि तुम्हारा वह निर्गुण ब्रह्म कौन से देश का वासी है। तुम हसी मत समझो, हम तुम्हे शपथ देकर पूछ रही हैं कि तुम्हारे निर्गुण ब्रह्म का परिचय क्या है, सच सच बताओ—

निर्गुण कौन देस को बासी ?
मधुकर ! हंसि समझाय, सोहं दे बूझति सांच न हांसी।

भक्ति का मूलाधार ही रागात्मिक वृत्ति होती है और राग अपने आप मे एक अत्यन्त महान् प्रेरणा है। प्रेम का अमृत छकने के बाद किसी भी वस्तु की कामना नही रह जाती, कोई इच्छा शेष नही रहती। प्रेम एक ऐसे जादू की तरह होता है जो सिर पर चढ कर बोलता है। श्रीकृष्ण के प्रति गोपियो का प्रेम ऐसा ही है, वह कभी हार नही मानता, कभी टूटता नही। तनिक कल्पना कीजिए कि एक निश्चित उद्देश्य लेकर ब्रज मे पधारने वाले परम ज्ञानी उद्धव का भी किस प्रकार हृदय-परिवर्तन हो जाता है। गोपियो के निश्छल और अडिग प्रेम के समक्ष उद्धव का समस्त ज्ञान पराजित हो जाता है। ज्ञान और योग का गौरव प्रेम की एक हल्की सी फुहार भी नही सहन कर पाता। उद्धव की इस मनःस्थिति का वर्णन देखिए—

मन मन ऊधो कहे, यह न बूझिए गोपालहि।
ब्रज को हेतु विचारि, जोग सिखवत ब्रजबालिहि।
पाती बाचिन आवई, रहे नयन जल पूरि।
देख प्रेम गोपिन को हो, ज्ञान गरब गयो दूरि।

भ्रमरगीत कार की तीसरी स्थापना श्रीकृष्ण के प्रति गोपियो के प्रेम की एकनिष्ठता और अनन्यता है। श्रीकृष्ण को विस्मृत करना उनके वश मे नही है। गोपियो का विरह भी अन्तत 'परमविरहासक्ति' है जिसे सभी प्रकार की आसक्तियो मे सर्वोपरि माना गया है। वल्लभाचार्य के अनुसार विरह और परमारथ तत्वत एक ही है। एक विद्वान आलोचक के शब्दो मे "भ्रमरगीत मे

सम्पूर्ण विरह के पद मायावादियों और हठयोगियो के विरोध में वल्लभीय मत की अन्तिम और श्रेष्ठ 'ईश्वर विषयक आसक्ति' का प्रचार करते है, इस दृष्टि से सारा भ्रमरगीत ज्ञान व योग के विपरीत भक्ति के प्रचार के रूप मे प्रतीत होता है और यह प्रतीति मिथ्या नही है क्योकि वस्तुतः सूर का उद्देश्य यही था।[१]

इस सम्बन्ध में यह भी स्पष्ट हो जाना चाहिए कि गोपियों के तर्क बाह्यतः सामान्य बौद्धिक विलास नही हैं अपितु उनमे शास्त्रीयता का भी संस्पर्श है। सूर की यह अन्यतम विशेषता है कि जटिल और शुष्क दार्शनिक विषयो का निरूपण करते समय भी उनकी कविता में सरसता और भावमयता बनी रहती है। बुद्धि और हृदय का ऐसा मणि-कांचन संयोग हिन्दी साहित्य में सहज सुलभ नही है। इस सम्बन्ध मे यह भी स्मरणीय है कि वल्लभाचार्य का मूल उद्देश्य भी शास्त्र और लोक के मध्य की खाई को पाटना था। वल्लभीय विचारधारा का अनुसरण करते हुए सूर ने भी लोकानुभाव को सर्वाधिक महत्व दिया हैं।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भ्रमरगीत के रचयिता सूर का मूल उद्देश्य ज्ञान और योग पर भक्ति और प्रेम की श्रेष्ठता सिद्ध करना था और यह निश्चित है कि उन्हें इस उद्देश्य में पूरी सफलता प्राप्त हुई है। उद्धव और गोपियों के वाग्युद्ध मे अन्ततः गोपियो की विजय होती है और उद्धव के ज्ञान और योग पराजित हो जाते हैं। भक्ति के क्षेत्र में भी कवि ने निर्गुण ब्रह्म की तुलना में सगुण ब्रह्म अर्थात् श्रीकृष्ण की महत्ता सिद्ध की है। भक्ति के लिए रूप-रेख की स्थिति आवश्यक है। निर्गुण ब्रह्म की साधना बुद्धि के स्तर पर तर्क-वितर्क का विषय है। सूर की एक अन्यतम विशेषता यह है कि उन्होने दार्शनिक सिद्धान्तो की जटिलता को भावप्रेरित शब्दो मे बाँधकर अधिक बोधगम्य और सरल बना दिया है। दो शब्दो मे कहा जा सकता है कि "सूर का भ्रमरगीत मायावाद और हठयोग पर वल्लभाचार्य द्वारा प्रवर्तित भक्ति-पद्धति की श्रेष्ठता सिद्ध करना है।"

---

१. सूर का भ्रमरगीत एक अन्वेषण : डा० विश्वम्भर नाथ उपाध्याय, पृ०७५।

भ्रमर-गीत में वाग्वैदग्ध्य

सूर ने श्रीकृष्ण और उनके जीवन से सम्बन्धित घटनाओ का इतना अधिक वर्णन किया है कि सामान्य पाठक को उसमे पुनरुक्ति दोष की गन्ध भी आ सकती है। तथापि सूर की कथन शैली की यह अन्यतम विशेषता है कि उन्होने एक ही भाव को अपनी नवनवोन्मेषशालिनी कल्पना का सस्पर्श देकर पूरी सूक्ष्मताओ के साथ वर्णित किया है। उदाहरण के लिए भ्रमर-गीत के प्रसग को ही लीजिए। कथावस्तु के नाम पर भ्रमरगीत में अधिक कुछ नही है किन्तु उस सीमित विषय को भी कवि ने अपनी मौलिक प्रतिभा के बल पर अत्यन्त सजीव और हृदयस्पर्शी बना दिया है। एक विद्वान आलोचक के शब्दो मे, "भ्रमरगीत जरा सी बात है। श्रीमद्भागवत् मे उसका अधिक विस्तार नही है। उसमे सूर ने उद्धव के निर्गुण उपदेश का खण्डन किया है और सगुण उपासना की स्थापना की है—पर इस साधारण सी बात पर भी कवि ने जिस विविध भावरूपता के दर्शन कराए है, वह हिन्दी साहित्य के लिए एकदम अभिनव वस्तु है। इस प्रसग मे न जाने कितनी मानसिक दशाएँ चित्रित की गई है जिनका नामकरण तक साहित्य के आचार्य नही कर पाए।"[1] तथापि सूर की यह वक्रता सायास नही है। दूसरे शब्दों मे, कवि ने केवल चमत्कृत करने भर के लिए काव्य की रचना नही की है। उनकी अभिव्यजना मे न तो कल्पनात्मक दुरुहता है न आडम्बरपूर्ण शब्दो का जाल। सूर ने सीधे सादे शब्दो मे भावो की गहनता को सफलतापूर्वक सजोया है। उनकी कथन-शैली मे काल्पनिकता के साथ रसात्मकता, सहजता के साथ सरसता का सफल निर्वाह हुआ है। कवि ने कल्पना के साथ हृदय के गुह्य भावो की सूक्ष्मतम परतो का उद्घाटन किया है। उन्होने जो कुछ भी कहा है केवल बुद्धि के भावहीन चमत्कार का प्रदर्शन करने के लिए नही अपितु हृदय के कोमलतम भावो की सजीव अभिव्यजना के लिए भी। उदाहरण के लिए भ्रमरगीत की गोपियो का निम्न कथन देखिए—

उर मे माखन चोर गड़े।
अब कैसेहु निकसत नाहि ऊधो, तिरछे ह्वै जु अड़े।

---

१. सूर सचयन: सम्पादक डा० मुन्शीराम शर्मा, पृष्ठ ४२।

देखियत कालिन्दी अति कारी ।"
कहियौ पथिक जाय उन हरि सों भई विरह जुर जारी ।

इन सीधी सच्ची पंक्तियों मे शब्दो की पच्चीकारी और सजावट भले ही न हो किन्तु गोपियो के मन की व्यथा निश्चय ही साकार हो गई है। इस प्रकार के प्रसगो मे कवि सूर की मौलिक प्रतिभा और काल्पनिकता का भरपूर परिचय मिलता है। कदाचित् इसी कारण कवि ने दर्शन के नीरस प्रसगो को अपनी कल्पना के सस्पर्श से भावमय एवं मनोरम बना दिया है। शास्त्रीय भाषा मे सूर की इस काव्यात्मक प्रवृत्ति को वाग्वैदग्ध्य कहा जाता है।

सूर के भ्रमर-गीत का विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि ने इस अत्यन्त लघु कथानक को अपने वाग्वैदग्ध्य के बल पर अत्यन्त प्राणवान बना दिया है। सूर के वाग्वैदग्ध्य की अनेक विशेषताएँ सामने आती है—वैविध्य, प्रयत्नहीन विदग्धता, दृष्टान्त पद्धति, तुलनात्मक पद्धति, प्रेमोपालम्भ, व्यग्य एवं हास्यप्रियता, आदि-आदि। वैविध्य का आशय एक ही प्रकार की मानसिक स्थिति का वैविध्यपूर्ण वर्णन करने से है। भ्रमरगीत मे जब उद्धव गोपियो को ज्ञान और योग का उपदेश देते है तो गोपियो की स्वाभाविक प्रतिक्रिया यही होती है कि "हे उद्धव, हम तो श्रीकृष्ण के प्रेम मे डूबी है हमे तुम्हारा योग और ज्ञान नही चाहिए, हमे तो हमारे कृष्ण की कामना है।" कवि सूर ने गोपियो की इस मनोदशा का वर्णन अनेक प्रकार से किया है—

ए अलि ! कहा जोग में नीको ?
तजि रसरीति नंदनंदन की सिखवत निर्गुन नीको ।

× × ×

हमको हरि की कथा सुनाव ।
अपनी ज्ञानकथा हो ऊधो ! मथुरा ही लै जाव ।
रहुरे, मधुकर ! मधु मतवारे
कहा करौं निर्गुन लैकै हौं जीवहु कान्ह हमारे ।

सूर के वाग्वैदग्ध्य की दूसरी विशेषता है हास्य-व्यंग्य का पुट। उन्होने हास्य-व्यग्य का प्रयोग करके अपनी अभिव्यक्ति को अत्यन्त मर्मस्पर्शी बना दिया है। जब कभी उद्धव, गोपियो को निर्गुण ब्रह्म की उपासना का पाठ

पढाते है तब वे उद्धव के ज्ञान-गौरव के प्रति तीखे व्यग्यो का प्रयोग करती है, उसकी योग-साधना का उपहास करती है। इस प्रकार के वर्णनो से भ्रमर-गीत की गोपियो के कथन मे तनिक तीखापन भी आ गया है जो कि वस्तुतः श्रीकृष्ण के प्रति उनके प्रेमाधिक्य का ही एक परिणाम है। श्रीकृष्ण के प्रेम में निमग्न गोपियाँ उद्धव के ज्ञान और योग की गहनता क्यो कर समझ सकती हैं। कदाचित् इसी कारण उद्धव के ज्ञान और योग साधना के प्रति व्यग्यात्मक शैली का प्रयोग करते हुए गोपियाँ कहती हैं कि—

आए जोग सिखावन पाडे।
परमारथी पुराननि लादे ज्यों बनजारे टाडे।
× × ×
आयो घोष बड़ो व्यापारी।
लादि खेप गुन ज्ञान-योग को ब्रज मे आय उतारी।
फाटक दैकर हाटक मांगत भोरै निपट सुधारी।
× × ×
ऊधो! तुम अपनो जतन करो।
हित की कहत कुहित की लागै, किन वेकाज ररौ।
जाय करो उपचार आपनों, हम जो कहत हैं जीकी।

सूर ने भ्रमर-गीत मे तुलनात्मक पद्धति का प्रयोग करके भी अपनी अभिव्यजना को प्रभावोत्पादक बना दिया है। तुलनात्मक पद्धति मे स्वपक्ष और प्रतिपक्ष की तुलना की जाती है और प्रतिपक्ष पर स्वपक्ष की श्रेष्ठता सिद्ध की जाती है। सूर ने निर्गुण ब्रह्म के स्थान पर मुरली मनोहर श्रीकृष्ण की महानता और श्रेष्ठता सिद्ध की है। एक ओर तो उद्धव निर्गुण ब्रह्म की उपासना का उपदेश देते हुए गोपियो से कहते है कि—

हौं तुम पै ब्रजनाथ पठायो, आतम ज्ञान सिखावन आयो।

इस पर गोपियो का उत्तर देखिए—

ऊधो! तुम आए किहि काज?
हितकी कहत अहित की लागत, वकत न आवै लाज।
आपुन को उपचार करौ कछु तब औरनि सिख देहु।

उद्धव पुनः कहते है कि—

ताहि भजहु किन सबै सयानो। खोजत जाहि महामुनि ज्ञानी।
जाके रूप रेख कछु नाहीं। नयन मूदि चितवहु चित माहीं।

गोपियो का तर्क है—

नंदनन्दन कैसे आनिए उर और ?
चलत चितवत, दिवस जागत सपन सोवत राति।

इसी प्रकार सूर ने वाग्वैदग्ध्य के लिए दृष्टान्त पद्धति का प्रयोग भी किया है। 'कुब्जा प्रसग' के वर्णन में सूर की गोपियो का स्वर अत्यधिक पैना हो गया है। गोपियो को यह जान कर बहुत सन्तोष होता है कि उनके प्रिय श्रीकृष्ण का मन कुब्जा ने चुरा लिया है। श्रीकृष्ण ने गोपियो को व्रज मे बिलखता हुआ छोड दिया है और यही नही, अपने सखा उद्धव के हाथो ज्ञान और योग का सन्देश भी भिजवाया है। प्रेम के रग मे रंगी हुई गोपियो का मन श्रीकृष्ण के इस कठोर व्यवहार के कारण चीत्कार कर उठा। उनको इस बात की हार्दिक प्रसन्नता थी कि उनके साथ छल करने वाले श्रीकृष्ण भी कुब्जा के हाथो छले गए। यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि मनुष्य अपने प्रतिपक्षी को दुखी देख कर प्रसन्न होता है। ठीक यही स्थिति गोपियो की भी है। जब उन्हे यह ज्ञात होता है कि छलिया श्रीकृष्ण के हृदय पर कुब्जा का आधिपत्य हो गया है तो वे कहती है कि—

बरु वै कुब्जा भलो कियो।
सुनि सुनि समाचार ऊधो मो कछुक सिरात हियो।
जाको गुन, गति, नाम, रूप हरि हारयो फिरि न दियो।
तिन अपने मन हरत न जान्यो, हंसि हंसि लोग जियो।
सूर तनिक चंदन चढाय तन ब्रजपति बस्य कियो।
और सकल नागरि नारिन को, दासी दांव लियो।

उक्त पक्तियो से गोपियो के मनोविज्ञान का परिचय मिलता है। उन्हे यह जान कर बहुत हर्ष हुआ है कि उन्हे छलावा देने वाले कृष्ण के साथ भी छल किया गया है।

अनेक स्थलो पर गोपियो ने उद्धव के ज्ञान और योग का उपहास उडाया है। उद्धव के प्रति गोपियो का जो तीव्र आक्रोश है, उसके मुख्यतः दो कारण

हैं—एक तो यह कि उद्धव श्रीकृष्ण के मित्र है और दूसरे यह कि उद्धव प्रेम की पीर से सर्वथा अनभिज्ञ है। यह तो निर्विवाद है कि मथुरा जाने के पश्चात् श्रीकृष्ण व्रज की गोपियो को पूरी तरह विस्मृत कर बैठे थे अत. श्रीकृष्ण के प्रति गोपियो के मन मे अत्यधिक रोष था। क्योकि उन्ही श्रीकृष्ण ने उद्धव को भेजा था अतः गोपियो का रोष उद्धव पर ही उतरना स्वाभाविक था। ऐसे उद्धव को सम्बोधित करते हुए गोपियाँ कहती हैं—

मधुकर जानत है सब कोऊ।
जैसे तुम औ मीत तुम्हारे गुननि निपुन हौ दोऊ।
पाके चोर, हृदय के कपटी, तुम कारे औ बोऊ।

कृष्ण का मित्र होने के नाते उद्धव को गोपियो के मुख से बहुत खरी खोटी सुननी पडती हैं। गोपियो के ऐसे कथनो मे कही तीव्र आक्रोश, कही खीझ, कही झुँझलाहट, कही निराशा और कही अवसाद दीख पड़ता है। इस सम्बन्ध मे एक और महत्वपूर्ण बात यह है कि गोपियो की इन उक्तियो मे एक नारी के निश्छल हृदय की धडकने सवाक् हो गई हैं। कहने का आशय यह है कि सूर ने गोपियो के मन की बहुविध स्थितियो का अत्यन्त सजीव वर्णन किया है। एक स्थल पर वे उद्धव से कहती है कि—

बिलग जनि मनहु ऊधौ प्यारे।
वह मथुरा काजर की कोठरि जे आवहिं ते कारे।
तुम कारे, सुफलक सुत कारे, कारे मधुप भंवारे।

कहना होगा कि वचन की यह वक्रता इसी कारण प्रभावोत्पादक बन पड़ी है क्योकि यह भाव-प्रेरित है। आचार्य शुक्ल के शब्दो मे, "वक्रोक्ति: काव्य जीवितम्" से यही वक्रता अभिप्रेत है, वक्रोक्ति अलकार नही। भावोद्रेक मे उक्ति से जो एक प्रकार का बाकापन आ जाता है, तात्पर्य-कथन के सीधे मार्ग को छोडकर वचन जो एक भिन्न प्रणाली ग्रहण करते है, उसी की रमणीयता काव्य की रमणीयता के भीतर आ सकती है। भाव-प्रसूत वचन-रचना मे ही भाव या भावना तीव्र करने की क्षमता पाई जाती है।"[1] भ्रमर-गीत सम्बन्धी उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि ने भावो से प्रेरित

---

१. भ्रमर-गीत सार की भूमिका, सम्पादक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ ४२।

रमणीयता उत्पन्न करके समूचे भ्रमर-गीत में आद्योपान्त रसात्मकता का निर्वाह किया है।

शास्त्रीय दृष्टि से इस प्रकार के वाग्वैदग्ध्य को वक्रोक्ति की संज्ञा दी जाती है। वक्रोक्ति सिद्धान्त के प्रवर्तक आचार्य कुंतक के अनुसार वक्रोक्ति के मुख्य भेद हैं—वर्णविन्यास वक्रता, पदवक्रता, उपचारवक्रता, विशेषण वक्रता, संवृति वक्रता, वृत्ति वक्रता, परपरार्धवक्रता, काल वैचित्र्य वक्रता, वाक्य वक्रता, वचन वक्रता, प्रकरण वक्रता आदि। वर्णविन्यास वक्रता का अर्थ अनुप्रास से होता है। कुन्तक के अनुसार वर्ण-विन्यास की योजना विषय के अनुरूप होनी चाहिए। भ्रमरगीत का विषय, 'कोमलावृत्ति' के अनुरूप है अतः कवि ने यथा-संभव कोमलकान्त पदावली का प्रयोग किया है। उदाहरण के लिए एक निम्न पंक्ति देखिए—

ह्वै गई स्याम, स्याम की पाती।

पदवक्रता के अन्तर्गत पर्यायवाची संज्ञा शब्दों का प्रयोग करके चमत्कार की सृष्टि की जाती है। सूर ने अनेक स्थलो पर चमत्कारातिशयता उत्पन्न करने के लिए पदवक्रता का प्रयोग किया है। उदाहरण के लिए निम्न दो पंक्तियाँ देखिए जिनमें श्रीकृष्ण के लिए 'गोपाल' शब्द का प्रयोग किया है—

गोकुल सबै गोपाल उपासी।

इन पक्तियो में गोपाल का आशय गोपपुत्र से है और वही अर्थ अधिक सार्थकता प्रदान कर सका है। उसी प्रकार निम्न दो पक्तियाँ और देखिए जिन मे भ्रमर के खिए 'पीतवदन' और 'छपद' का प्रयोग किया गया है—

मधुकर पीतवदन केहि हेत।
माथे परौ जोग पद तिनके वक्ता छपद समेत।

उपचार वक्रता मे प्रस्तुत व अप्रस्तुत परस्पर विरोधी होते हुए भी लेश-मात्र सम्बन्ध के कारण परस्पर सम्बद्ध हो जाते है। इस प्रकार की वक्रता किसी वस्तु के सामान्य धर्म का किसी दूरस्थ वस्तु से लेशमात्र सम्बन्ध के कारण आरोपण कर दिया जाता है। मानवीकरण और विशेपणविपर्यय अलकार इसी प्रकार की वक्रता उत्पन्न करने के लिए प्रयोग किए जाते है। मानवीकरण का एक उदाहरण देखिए—

देखियत कालिंदी अति कारी।

विशेषण वक्रता के अन्तर्गत कारक या क्रिया की महत्ता के कारण चमत्कार सृष्टि की जाती है। उदाहरण के लिए निम्न दो पंक्तियाँ देखिए—

मधुकर स्याम हमारे चोर।

मन हरि लियो माधुरी मूरति, चितै नयन की ओर।

सवृति वक्रता मे सर्वनाम आदि के प्रयोग द्वारा वस्तु का सवरण अर्थात् गोपन कर लिया जाता है। श्रीकृष्ण के मथुरा चले जाने के कारण ब्रज-प्रदेश का अग-अग दुखी हो उठा है यहाँ तक कि पशु-पक्षी भी उनके वियोग से व्यथित है। निम्न पक्ति मे सूर ने गोपियाँ और मोर (पक्षी) की व्यथा का वर्णन करते हुए इसी प्रकार की वक्रता का परिचय दिया है—

हमारे माई | मोरउ बैर परे।

प्रस्तुत पक्ति मे गोपियाँ कह रही है कि "श्रीकृष्ण के वियोग मे केवल हम ही व्यथित नही है अपितु मोर भी हमारे बैरी हो गए है।" कालवैचित्र्य वक्रता मे कविगण औचित्य के अनुसार 'काल' की रमणीयता प्रदान करते है। सूर ने भ्रमरगीत मे काल-वैचित्र्य वक्रता के अनेक उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। भूतकाल विषयक निम्न पक्तियाँ देखिए—

नीके रहियो जसुमति मैया।
जा दिन ते हम तुम तें बिछुरे, काहु न कह्यो कन्हैया।
कबहुं प्रात न कियो कलेवा, सांझ न पीन्ही छैया।
एक वेर खेलत वृन्दावन, कटक चुभि गयो पांय।
कटक सों कटक लै काढयो, अपने हाथ सुभाय।

एक और उदाहरण देखिए—

हरि आए सो भली कीन्हीं।
छूटी लट, भुज फूटी वलया, टूटी फटि कंचुक झीनी।
मनो प्रेम के परन परेवा, याहीं ते पढ़ि लीनी।
अवलोकति यह भांति मानो छूटी अहिमनि छीनी।

(वृत्तिवक्रता मे समासो का प्रयोग करके चमत्कार सृष्टि की जाती है। भ्रमरगीत मे लघु समासों का प्रचुर प्रयोग किया गया है। अनेक स्थलो पर कवि ने भावातिशयता उत्पन्न करने के लिए शब्दो को तोड़ा मरोडा है और नए-नए शब्दो का निर्माण भी किया है। उदाहरण के लिए निम्न पक्ति देखिए जिसमें

'मधुवन' के लिए 'मधुवनहिं' शब्द का प्रयोग किया है—

मधुकर ! को मधबनहि गयो ।

इसी प्रकार चुहुल के लिए 'चकचोही' कुपथ के स्थान पर 'कुपैड़ो' के प्रयोग से कवि ने अपनी अभिव्यक्ति को बहुत सजीव और भावपूर्ण बना दिया है।

कई बार कवि चमत्कार सृष्टि के लिए वचन का विपर्यय कर देते है जिस के फलस्वरूप अर्थ मे एक नवीनता जन्म लेती है। इस प्रकार की वक्रता को वचन-वक्रता कहा जाता है। उदाहरण के लिए जब कृष्ण के भेजे हुए उद्धव ब्रज में आते है तो गोपियाँ कहती है कि —

ऊधो जोग सिखावन आए।

इस पक्ति में गोपियो ने उद्धव के लिए 'आए' शब्द का प्रयोग करके आदर व्यक्त किया है किन्तु जब वही गोपियाँ उसी उद्धव के लिए एक-वचन का प्रयोग करती है तो गोपियो के अन्तर्मन का आक्रोश स्पष्टत. उभर कर आता है। ये पक्तियाँ इस प्रकार है—

ऊधो ! राखति हौ पति तेरी।
मधुकर छाँड़ि, अटपटी बाते।

प्रकरण-वक्रता में कवि किन्ही विशेष परिस्थितियो में अत्यधिक उत्कर्ष उत्पन्न करके समूचे प्रकरण अथवा प्रसंग को आकर्षक और प्रभावोत्पादक बना देता है। उदाहरण के लिए एक ऐसी स्थिति की कल्पना कीजिए कि श्रीकृष्ण किन्ही अपरिहार्य कारणो से मथुरा चले गए है और ब्रज की गोपियाँ उनके वियोग मे व्यथित हो रही है। दोनो ही पक्षो मे प्रेम का आवेश अपनी परम स्थिति मे है किन्तु लोकलाज, कुलमर्यादा आदि के कारण दोनो ही पक्ष मौन है। अपनी-अपनी व्यथा को हृदय मे सजोए हुए है। ऐसी स्थिति मे कृष्ण के भेजे हुए उद्धव विरहदग्ध गोपियो को ज्ञान और योग का उपदेश देने के लिए ब्रज-प्रदेश में आ जाते है। इस पृष्ठभूमि मे गोपियो का निम्न आशीष देखिए—

जहं जहं रहौ, राज करौ तह तहं, लेहु कोटि सिर भार।
यह असीस हम देति सूर सुनु, न्हात खसै जनि बार॥

भ्रमर-गीत मे सूर ने गोपियो के विरह का सविस्तार वर्णन किया है जो

कि पुन: प्रकरण वक्रता का ही एक अंग कहा जाएगा।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि भ्रमरगीत मे आचार्य कुन्तक द्वारा प्रतिपादित 'वक्रोक्ति' के विभिन्न भेदो उपभेदो का सफल निर्वाह हुआ है किन्तु इस पर भी यह उल्लेख्य है कि प्रस्तुत प्रसग मे 'वक्रोक्ति' का प्रयोग व्यापक अर्थ मे किया गया है। मूलत: वक्रोक्ति एक अलकार है किन्तु अपने व्यापक अर्थो मे वह वाग्वैदग्ध्य का पर्याय भी कहा जा सकता है। सूर के भ्रमरगीत मे भाव-प्रेरित वाग्वैदग्ध्य ही उसका प्रमुख आकर्षण बन पडा है। नीरस अथवा सामान्य स्तर के प्रसगो को भी कवि ने अपनी मौलिक प्रतिभा का सस्पर्श देकर सजीव बना दिया है। यह सूर की ही विशेषता है कि दर्शन के जटिल और नीरस प्रकरण उन्होने अत्यन्त सीधे सरल शब्दो मे सजो दिए है। हृदय-पक्ष और बुद्धि-पक्ष की ऐसी पूर्णता केवल महान् कवियो मे ही मिलती है। सूर के भ्रमर-गीत मे हमे इस पूर्णता के बराबर दर्शन होते हैं। कदाचित् इसी कारण भ्रमरगीत मे मानवीय भावो की छटा सर्वत्र बिखरी दीखती है। बुद्धि के चमत्कार और कला की सूक्ष्मताए भले ही न दीख पडे किन्तु भावो का आलोक सारे 'भ्रमर-गीत' पर झिलमिलाता दीखता है। भ्रमर-गीत के वाग्वैदग्ध्य का एकमात्र रहस्य बुद्धि और हृदय का मणिकाचन सयोग है और यह बुद्धि भी भावप्रेरित है, निर्लिप्त शुद्ध बुद्धि नही।

भ्रमरगीत में लोकतत्व

साहित्य और जीवन एक दूसरे के पूरक है। साहित्य का निर्माण समाज के प्रागण मे होता है और समाज साहित्य मे प्रतिविम्बित होता है। जिस साहित्य मे जीवन की कथा नही है, वह कभी भी स्थायी साहित्य की श्रेणी में नही आ सकता और इसी प्रकार जो साहित्य समाज मे एक नई चेतना का सूत्रपात नही कर सकता, वह साहित्य जीवन से अछूता ही रह जाता है। जब हम साहित्य मे लोकतत्व की बात कहते हैं तो इसका आशय साहित्य मे सामाजिकता से है। लोकतत्व का अर्थ सामाजिक परिवेश है और सामाजिक परिवेश वह है जिसमे सामान्य जन जन्म लेता है, जीता है और विकसित होता है।

सूर के काव्य पर एक बहुत बडा आरोप यह है कि उनके काव्य मे

सामाजिक एव नैतिक मूल्यों के प्रति घोर उपेक्षा बरती गई है। इसका मूल कारण यह है कि उन्होंने अपने आराध्य अर्थात् श्रीकृष्ण के केवल मनोरंजक रूप का ही वर्णन किया है। इस दृष्टि से हिन्दी के मध्ययुगीन कवियो मे तुलसी को सर्वोच्च स्थान दिया जाता है क्योकि उनके रामचरितमानस मे जीवन के उच्च मूल्यो की प्रतिष्ठा की गई है, मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र के माध्यम से एक आदर्श राजा, एक आदर्श पति, एक आज्ञाकारी पुत्र, एक स्नेहपूर्ण भाई सभी प्रकार के उच्चादर्शों की स्थापना की गई है। कदाचित् इसी कारण आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कहते हैं कि "सूर का प्रेम-पक्ष लोक से न्यारा है। गोपियो प्रेमभाव की गम्भीरता से आगे चलकर उद्धव का ज्ञान-गर्व मिटाती हुई दिखाई पड़ती हैं। वह भक्ति की एकान्त साधना का आदर्श प्रतिष्ठित करती हुई जान पड़ती हैं, लोकधर्म के किसी अंग का नही। × × × तुलसी के समान लोकव्यापी प्रभाव वाले कर्म और लोकव्यापिनी दशाए सूर ने वर्णन के लिए नही ली हैं।[1] उदाहरण के लिए सूर के श्रीकृष्ण ने कागासुर, शकटासुर, वका-सुर आदि राक्षसो का वध किया और लोकजीवन को निष्कंटक बना दिया किन्तु कवि ने इस सारी कथा को एक ही पद मे समाहित कर दिया है। इसके विपरीत जब तुलसी के राम मारीच, खरदूषण और ताडका आदि का वध करते हैं तो उन प्रसंगों के वर्णन में तुलसी के भीतर अदम्य उत्साह, एक अपराजेय आत्मविश्वास दीखता है। यही कारण है कि शुक्ल जी के अनुसार सूर की तुलना मे तुलसी के काव्य में लोकतत्व अधिक महिमान्वित हुआ है। इस सम्वन्ध में दो मत नही हो सकते कि तुलसी ने तत्कालीन हिन्दू समाज को एक नई दिशा दी और धार्मिक एवं सामाजिक दृष्टियों से समूचे हिन्दू समाज को प्रभावित किया था।

तथापि लोकतत्व की दृष्टि से तुलसीदास की तुलना मे सूर की उपेक्षा करना और वह भी केवल इसलिए कि तुलसी ने जीवन के उच्चादर्शों की प्रतिष्ठा की तथा सूर श्रीकृष्ण के केवल मनोरंजक रूप को ही सजो सके, अपने आप में कोई सर्वथा निर्भान्त धारणा नही है। इस सम्वन्ध मे कोई भी निर्णय लेने से पूर्व तुलसी और सूर के समय की धार्मिक, राजनीतिक और सामाजिक

१. भ्रमरगीत सार की भूमिका : सम्पादक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० १२-१३।

परिस्थितियो का विश्लेषण आवश्यक है। तुलसी के समय हिन्दू समाज मुगल शासको के क्रूर शासन-तन्त्र मे पिस रहा था, उसके नैतिक एव धार्मिक मूल्य जर्जरित होते जा रहे थे, कुल मिलाकर हिन्दुओ का जीवन आस्थाहीन और आश्रयहीन होता जा रहा था। इस प्रकार तुलसी के समक्ष एक महान् उत्तर-दायित्व था और वे धार्मिकता का प्रसार करके तत्कालीन शासको और मनुष्यों को अधिक उदार एव सहिष्णु बनाना चाहते थे। तत्कालीन भारतीय जनता के 'सामाजिक सम्मिलन' की आवश्यकता तुलसी और सूर के समय की सबसे बड़ी आवश्यकता थी और यह निर्विवाद है कि इन दोनो महान् कवियो ने अपने अपने ढग से इस समस्या का समाधान प्रस्तुत किया। एक विद्वान आलोचक के शब्दो मे, "तुलसीदास जी तथा भक्तकवि सूरदास इस युग के सामजस्यवादी प्रतिनिधि माने जाते है। तुलसीदास ने समाज के धरातल पर मानवता का उद्घाटन किया तो सूरदास ने व्यक्तिगत साधना को महत्व देकर मानव हृदय के चिरन्तन समान भावो का स्पर्श किया। यही कारण है कि इस आन्दोलन की प्रेरणाओ का जितना स्फुट प्रतिबिम्ब तुलसी के काव्य मे लक्षित होता है, उतना सूर की कृतियो मे नही।[1]

सूर और तुलसी के काव्य के उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि हममे से अधिकाश यह मानकर चलते है कि इतिहास के निर्माण मे केवल जीवन के उच्च मूल्यो एव मर्यादाओ का ही योगदान रहता है। वस्तुतः हमारी यह धारणा भ्रामक है क्योकि केवल उच्चादर्शों से ही इतिहास का निर्माण नहीं होता। सूफियो के प्रेमाख्यानक काव्यो में तुलसी का सा 'मर्यादावाद' कही भी नही मिलता किन्तु क्या इस महान् सत्य को नकारा जा सकता है कि इतिहास के निर्माण में जहाँ तुलसी के मर्यादावाद का योगदान है वहाँ सूफियो की मस्ती की उपेक्षा भी नही की जा सकती। यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि भारतीय भक्ति-पद्धति मे माधुर्य-भाव की प्रतिष्ठा करने मे सूफी-सिद्धान्त का विशिष्ट योगदान है। डा० हरवंश लाल शर्मा के शब्दो मे, "सूफी सम्प्रदाय ने भारतीय भक्ति-साधना को बहुत प्रभावित किया है, इन लोगों में कट्टरता या धर्मान्धता न थी, आचरण की विशुद्धता, पारस्परिक सहानुभूति, ईश्वर मे श्रद्धा, विश्वप्रेम

---

१. सूर और उनका साहित्य : डा० हरवंश लाल शर्मा, पृ० ६३।

आदि इनके सम्प्रदाय की विशेषताएँ थी। भारतीय साधना के लिए इन सूफियों की मुख्य देन है 'प्रेम-साधना।' इन्होंने हमारी भक्ति मे माधुर्य-भाव को पूर्णतया भर दिया।"[1] भारतवर्ष मे भक्ति के विकास का विश्लेषण करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि तुलसी ने भले ही 'मर्यादावाद' की प्रतिष्ठा की किन्तु राजनीतिक उथल-पुथल और युद्धो की इन दुर्भाग्यपूर्ण घडियो मे 'प्रेम और एकता' का मन्त्र प्रसारित करने मे सूफियों के महत्वपूर्ण योगदान को विस्मृत नही किया जा सकता। तात्पर्य यह है कि सूर और तुलसी और यहाँ तक कि जायसी आदि कवियो ने भी अपने-अपने ढग से मानवता की सेवा की और 'सामाजिक सम्मिलन' के पुण्य कार्य मे निष्ठा से हाथ बटाया। इन सभी के साधन-भिन्न थे किन्तु साध्य स्थूलतः एक ही था और वह था सामाजिक सम्मिलन।

वैष्णव भक्त भी इसी उद्देश्य को लेकर चले थे। ऐसी स्थिति मे किसी भी कवि की सफलता की एकमात्र कसौटी यही थी कि वह समाज को किस रूप मे कितना अधिक प्रेरित कर सका। सूर ने भी अपने ढंग से इस पुनीत उद्देश्य की पूर्ति की। इस सम्वन्ध मे आचार्य शुक्ल का यह कहना बहुत न्याय सगत नही दीखता कि "चूंकि तुलसी ने आदर्श-दिए, जीवन मे सघर्ष करने की प्रेरणा दी अत तुलसी का कार्य लौकिक दृष्टि से उपयोगी रहा है और सूर ने कृष्ण के लोकरक्षक रूप को महत्व न देकर केवल मनोरंजक रूप को ही महत्व दिया अत. वे संघर्ष से दूर जा पडे और अलौकिकता मे रमे रहे। × × × वल्लभ मत मे नाचने-कूदने और रगरेलियाँ मनाने का यह प्रभाव हुआ कि जहाँदारशाह जैसे बादशाह भी कन्हैया बनने लगे अर्थात् कृष्ण के नाम पर विलास करने लगे और दूसरी ओर स्वय वल्लभ मत मे व्यर्थ की शान, सजावट होने पर संघर्ष का अभाव होने से चरित्र-भ्रष्टता शुरू हो गई।[2]

सूर का समूचा काव्य वल्लभीय सिद्धान्तों से प्रभावित है। अतः सूर-काव्य मे लोकतत्व का विवेचन करने मे वल्लभीय सिद्धान्तो का परिचय बहुत सहायक हो सकता है। वल्लभ-सम्प्रदाय की पहली उपलब्धि जाति-विरोधी भक्ति-धारा

---

१. सूर और उनका साहित्य : डा० हरवशलाल शर्मा पृष्ठ ७०।
२. सूर का भ्रमरगीत—एक अन्वेषण : डा० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, पृ० २१६

को सैद्धान्तिक आधार प्रदान करना था। वल्लभ का उद्देश्य, सामाजिक व्यवस्था को भग करना नही था। यद्यपि वल्लभ के समय 'जातियाँ' व्यवसायो के साथ बंध चुकी थी और इस कारण किसी भी प्रकार के जाति-विरोधी आन्दोलन का अर्थ अशान्ति फैलाना हो सकता था—किन्तु वल्लभ का उद्देश्य जाति गत अहकार का नाश करना था। वल्लभ ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि ब्राह्मण केवल इसीलिए पूज्य नही है कि वह ब्राह्मण वश में उत्पन्न हुआ है वल्कि उसकी श्रेष्ठता का आधार मानवीय गुण होते है। इस प्रकार वल्लभ ने जाति, वर्ण और वर्ग-भेदों के विरुद्ध एक सशक्त स्वर फूंका। वल्लभ ने वर्ग, जाति के भेदो के कारण समाज मे फैली हुई विभिन्न प्रकार की कुरीतियो का सैद्धान्तिक विरोध किया। इस प्रकार वल्लभ ने तुलसी की अपेक्षा अधिक सरल और आकर्षक मार्ग की स्थापना की।

वल्लभीय सम्प्रदाय की दूसरी महत्वपूर्ण उपलब्धि गृहस्थ धर्म की महत्ता सिद्ध करनी थी। वल्लभ से पूर्व विभिन्न प्रकार की कठोर साधनाओ, योग, हठयोग की वर्जनाओं के कारण गृहस्थ जीवन का सन्तुलन निरन्तर विगडता जा रहा था। यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि १६वी, १७वी शताब्दी मे कापालिको अघोरियो, हठयोगियो तथा सिद्ध गणो ने गृहस्थ जीवन का सन्तुलन बिगाड दिया था। गृहस्थ धर्म का पालन करने वाले सामान्य जन का जीवन आस्थाहीन हो गया था। जनमानस के निकट आने के लिए एक ऐसी साधना-पद्धति की आवश्यकता थी जो योग की कठोर साधनाओ से हटकर सामान्य जन के अनुरूप हो। कदाचित् इसीलिए वल्लभ ने प्राणायाम आसन, नाडियो के शोधन जैसी कठिन यौगिक क्रियाओ के स्थान पर 'राग' अथवा प्रेम तत्व की प्रतिष्ठा की। वल्लभीय भक्ति पद्धति की इसी सहजता ने जनमानस को अपनी ओर आकृष्ट कर लिया। सूर के भ्रमरगीत मे योग की इन कठिन क्रियाओ पर सर्वाधिक प्रहार किए गए हैं। वास्तविकता तो यह है कि भ्रमर-गीतकार का मूल उद्देश्य ही हठयोग के स्थान पर सहज भक्ति की श्रेष्ठता सिद्ध करना है। जब श्रीकृष्ण के परम ज्ञानी एव योगी सखा उद्धव व्रज मे आते हैं और गोपियों को योग की शिक्षा देते हैं तो गोपियाँ दो टूक उत्तर देते हुए कहती हैं—

आयो घोष बड़ो व्योपारी।
लादि खेप गुन ज्ञान-जोग की ब्रज में आय उतारी।
फाटक दै कर हाटक-मांगत भोरै निपट सुधारी।
धुर ही तें खोटो खायो है लये फिरत सिर भारी।
इनके कहे कौन डहकावै ऐसी कौन अजानी ?
अपनो दूध छाँड़ि को पीवै खार कूप को पानी।
ऊधो जाहु सवार यहाँ ते वेगि गहरु जनि लावौ।
मुंह माँग्यो पैहौ सूरज प्रभु साहुहि आनि दिखावौ।

वल्लभ की एक अन्यतम विशेषता यह है कि उन्होने ईश्वर को 'प्रेम' का का आधार बनाया जिसकी प्राप्ति सहज व्यक्तिगत साधना एव भक्ति के मार्ग से सभव थी। मानवीय भावनाओ मे 'प्रेम' भाव सर्वाधिक कोमल भाव होता है और श्रीकृष्ण को प्रेम का विषय बनाने का श्रेय वल्लभ को ही जाता है। एक विद्वान् आलोचक के शब्दो मे, "कोमल भावनाओ मे भी 'रति' भावना ही प्रबलतम है। यह घोर पाखण्डी भी हृदय से स्वीकार करता है। अतः इस 'रतिभावना' का विषय कृष्ण को बना देने के कारण ही जनता ने उसे अपनाया। हिन्दू, मुसलमान, ब्राह्मण, शूद्र सब कृष्ण के प्रेम मे बह गए। × × × कृष्ण ने सारे भारत को अपने प्रेम मे लपेट लिया, सच्चे अर्थो मे कृष्ण का धर्म जनता का धर्म था।[1] समाज को प्रेम की कोमल डोर मे बाँधने का सूर का यह प्रयास अत्यन्त स्तुत्य था। इसके विपरीत तुलसी के राम केवल श्रद्धा और आदर के पात्र ही बन सके। जन-मानस उनसे प्रेम नही कर सका, उनके साथ रास-लीलाओ मे भाग नही ले सका। वल्लभ का यह मत 'कातासम्मित' उपदेश की तरह है, उसमे ज्ञान और योग की शुष्कता नही है, गुरु उपदेश जैसी दूरी नही है। सूर ने भी इसी 'भाव-साधना की महिमा का गुणगान किया है। भक्ति का यह मार्ग जन-जन के लिए है, यह राजमार्ग है जिस पर कोई भी जा सकता है। इसमे न कोई वर्जनाएं है न कोई प्रतिबन्ध। जब उद्धव बार-बार ज्ञान और योग की कथा कहते हैं तो गोपियाँ उन्हे यही कहती है कि "हे उद्धव, हमारे इस सीधे मार्ग को क्यो रोक रहे हो ? हमने तो साकार श्रीकृष्ण से प्रेम किया है और यही सच्चा राजमार्ग है, इसे मत रोको—

१. सूर का भ्रमरगीत एक अन्वेषण . डा० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय २२५।

काहे को रोकत मारग सूधौ ।
सुनहु मधुप ! निर्गुन कटक ते राजपथ क्यो रुधौ ?
कै तुम सिखै पठाए कुब्जा कै कही स्याम घन जू धौं ।
वेद पुरान सुमृति सब ढूँढौ जुवतिन जोग कहूँ धौं ?
ताको कहा परेखो कीजै जानत छाछ न दूधौ ।
सूर मूर अक्रूर गए लै ब्याज निबेरत ऊधौ ॥

गोपियो के उक्त वचनो मे कितनी सहजता और प्रभावोत्पादकता है । उक्त वचनो से यह स्वत. स्पष्ट हो जाता है कि गोपियो के श्रीकृष्ण कोई ऐसी अलौकिक सत्ता नही है जिसका सामीप्य सहज सुलभ नही है । श्रीकृष्ण से मिलन का उनका मार्ग सहज-सीधा राजमार्ग है ।

सन्त कवियो ने और स्वय गोस्वामी तुलसीदास ने भी साधना के मार्ग मे नारी को सबसे बडी बाधा माना है । किसी ने उसे माया कहा है तो किसी ने उसकी उपमा 'भुजग' से दी है । वल्लभाचार्य ने नारी की महिमा पुन प्रतिष्ठित की है । नारी को मान्यता देने के साथ ही दाम्पत्य-भाव की स्थिति का आरम्भ हो जाता है । सृष्टि के आरम्भ से ही नारी और पुरुष एक दूसरे के पूरक रहे हैं । मनुष्य की रागात्मिका वृत्ति के प्रसार के लिए नारी-पुरुष का सम्बन्ध सर्वाधिक उपयुक्त है । तत्कालीन समाज मे व्याप्त विग्रह और जाति, वर्ग, वर्ण, आदि भेदो को पाटने का एक मात्र मार्ग 'प्रेम का मार्ग था जो कि वल्लभ ने प्रवर्तित किया और सूर ने अपनाया । श्रीकृष्ण और गोपियो के मध्य की यह आसक्ति ही भ्रमरगीत का सार है । भ्रमरगीत मे श्रीकृष्ण-गोपी के प्रसग द्वारा कवि ने यह सिद्ध कर दिया है कि पुरुष की तुलना मे नारी ईश्वर के अधिक निकट है । दाम्पत्य रति निखरे हुए कचन की तरह होती है, उसमे न कोई खोट होता है न कृत्रिमता । प्रेम की जो एकनिष्ठता और अनन्यता दाम्पत्य-रति मे मिलती है वह कही भी और नही मिलती । इस सम्बन्ध मे यह भी उल्लेख्य है कि कई विद्वान् श्रीकृष्ण गोपी के इस दाम्पत्य-भाव मे भी शील का पतन देखते हे । सचाई यह है कि शील की रक्षा वस्तुत एकनिष्ठ और अनन्य प्रेम-सम्बन्धो मे ही हो सकती है, अन्यत्र नही । कदाचित् इसी कारण गोपियाँ अपने प्रियतम की सलोनी मूरत को भुला नही पाती । वे बहुत प्रयत्न करती है किन्तु विवश है । तनिक उनकी विवशता तो देखिए—

उर में माखन चोर गड़े।
अब कैसेहु निकसत नहिं ऊधो! तिरछे ह्वै जु अड़े।
जदपि अहीर जसोदा नन्दन तदपि न जात छंडे।
वहाँ बने जदुबस महाकुल हमहिं न लगत बड़े।
को बसुदेव, देवकी है को, न जाने औ बूझै।
सूर स्यामसुन्दर बिनु देखे और न कोऊ सूझै।

प्रेम का मार्ग राजमार्ग है, उसमे वर्ग, वर्ण और जाति के भेद नहीं होते। सूर का सिद्धान्त-वाक्य है कि 'प्रेम बध्यौ ससार-प्रेम सो पारहिं जैए। कहने का आशय यह है कि सूर की दृष्टि मे यह सारा ससार प्रेम के पावन सूत्र मे बँधा हुआ है, अतः इस ससार में मुक्ति का साधन भी यही प्रेम है। इस स्थिति का विश्लेषण करते हुए एक विद्वान् कहते है कि स्कूल मास्टर की डांट-डपट का जैसे बच्चे पर प्रभाव नही पड़ता वैसे ही शास्त्र का प्रभाव व्यर्थ जा रहा था, तभी ऐतिहासिक परिस्थितियों ने वल्लभाचार्य द्वारा इस कवित्वपूर्ण मार्ग का उन्मेष कराया।"[1] वासना की शक्ति अपने आप मे एक बहुत बडी प्रेरक शक्ति होती है। वल्लभाचार्य ने इस महान् मानवीय शक्ति को प्रेम मे परिणत कर दिया और सूर ने भ्रमर-गीत की रचना करके प्रेम की कीर्ति का एक अक्षय कोश स्थापित कर दिया। इस प्रकार सूर का काव्य जनता के बहुत निकट हो गया।

वल्लभीय सिद्धान्तो की एक अन्यतम उपलब्धि धार्मिक द्वेष, कट्टरता और कटुता के स्थान पर सहिष्णुता एव प्रेम की प्रतिष्ठा करना था। 'कृष्णकाव्य' ने युद्ध की बर्बरता मे सरसता का प्रसार किया, मनुष्य-मनुष्य के बीच की दूरी को पाट दिया। प्रेम के आलोक में सब कुछ खिल उठा। सूर ने भ्रमरगीत में यह सिद्ध कर दिया है कि प्रेम का मन्त्र सिर पर चढ़ कर बोलने वाले जादू की तरह होता है। प्रेम की अग्नि मे सभी प्रकार के मानव निर्मित भेदो का तिरोभाव हो जाता है। भ्रमरगीत मे ज्ञान और योग का उपदेश देने के लिए आए उद्धव को अन्ततः गोपियो के प्रेम के सम्मुख नतमस्तक होना पडा। मथुरा लौटने पर उद्धव अपने मित्र श्रीकृष्ण के समक्ष अपनी पराजय स्वीकार करते

१. सूर का भ्रमरगीत एक अन्वेषण . डा० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, पृ०२२६।

हुए कहते है कि—

अब अति पंगु भयो मन मेरो ।
गयो तहाँ निर्गुन कहिवो को, भयो सगुन का चेरो ।
अति अज्ञान कहत कहि आये, दूत भयो वहि केरो ।
निज जन जानि जतन तें तिनसों कीन्हों नेह घनेरो ।
मै कछु कही ज्ञान गाथा ते नेकु न दरसति नेरो ।
सूर मधुप उठि चल्यो मधुपुरी बोरि जोग को बेरो ॥

इस प्रकार सूर ने सारे भारतवर्ष के लिए प्रेम का सीधा सच्चा मार्ग प्रशस्त किया और कण-कण मे कृष्ण के भव्य रूप का प्रसार कर दिया । सूर ने कृष्ण-भक्ति के माध्यम से समूची-भारतीय-जीवन-पद्धति मे सहिष्णुता, सरलता और उदारता के तत्व समाविष्ट कर दिए, सोचने समझने का तरीका बदल दिया, युद्धो और विग्रह की शताब्दी मे जर्जरित मानव-मात्र मे एक नई आस्था, एक नई शक्ति का सचार कर दिया । उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहना कहाँ तक न्यायसगत होगा कि सूर के काव्य मे सामाजिकता अथवा लोकतत्व की उपेक्षा की गई है । यह सब लोक धर्म नही है तो और क्या है ? लोक कल्याण किसे कहते है ? सूर ने मनुष्य की रागात्मिका-वृत्ति से जुडी हुई जिस भक्ति-पद्धति का प्रवर्तन किया, क्या वह लोक कल्याण की परिधि मे नही आएगी ? एक ओर युद्धो से आक्रान्त और दूसरी ओर योग की कठोर साधनाओ के कारण टूटे हुए मानव-मन मे जीने की चाह बढ़ा देने से बढकर लोक कल्याण और क्या होगा ? सगीत, रास और दाम्पत्य-रति से छलकते हुए सूर के पदो ने मानव-मात्र को मोहित कर लिया । इस सम्बन्ध मे यह उल्लेख्य है कि सूर का समूचा काव्य इसी भावात्मक आन्दोलन की एक कडी है । एक विद्वान् आलोचक के शब्दो मे, "वस्तुतः धर्म व सम्प्रदाय के माध्यम से वैष्णव आचार्यो व सूर जैसे कवियो ने अत्याचारियो के अत्याचार तथा कट्टर धर्मान्ध मुल्ला-पडित वर्ग के विरुद्ध सहिष्णुता शान्ति व प्रेम का एक आन्दोलन ही चलाया था, इस आन्दोलन से लोक-कल्याण की सबसे आवश्यक शर्त 'हिन्दू-मुस्लिम एकता' स्थापित करने में ही मदद नही मिली अपितु स्वय हिन्दू समाज मे आपसी भेदभाव भी कम हुए । ये सारे भेदभाव उस समय जीवन के प्रत्येक व्यावहारिक क्षेत्र मे बाधक थे क्योकि देश मे न तो मुसलकान

केवल विजेता बनकर रह सकते थे और न हिन्दू केवल दूर से तमाशा देखते रह सकते थे।[1] इस प्रकार इस सम्बन्ध मे दो मत नही हो सकते कि लोक-कल्याण के पुण्य कार्य मे सूर का भी अपना विशिष्ठ योगदान था।

भ्रमरगीत का भाव सौंदर्य

काव्य कला का आशय कविता की आत्मा और शरीर—दोनो की समीक्षा से होता है। कविता की आत्मा का अर्थ उसकी भाव-सम्पदा होता है और कविता के शरीर का आशय उसके बाह्य रूप अर्थात् शैली आदि से होता है। इन दोनो तत्वो का सम्बन्ध कविता के आन्तरिक तथा बाह्य सौदर्य से होता है। कविता की भावसम्पदा का सम्बन्ध हृदय से होता है और कला का सम्बन्ध बुद्धि से। हृदय के भाव अपनी अभिव्यक्ति के लिए शैली की अपेक्षा रखते है और इसी प्रकार शैली की सार्थकता भावो की सफल अभिव्यजना मे निहित रहती है। "क्या कहा गया है"—इस बात का महत्व "कैसे कहा गया है" से निश्चय ही अधिक होता है, तथापि अभिव्यंजना की शैली भी अपना विशिष्ट स्थान रखती है। इसी कारण विद्वानो ने श्रेष्ठ काव्य की सज्ञा उसी काव्य को दी है जिसमे हृदय और बुद्धि—दोनों का आदर्श समन्वय बना रहता है। प्रस्तुत प्रसंग में भ्रमरगीत के केवल भावपक्ष का ही विवेचन किया गया है।

सूर के भ्रमरगीत मे कथा के नाम पर अधिक कुछ नही है किन्तु सूर ने इस अत्यल्य कथाक्रम में भी भावों का समुचित उत्कर्ष दिखलाया है। सूर का मन कथा और तत्सम्बन्धी घटनाओं के वर्णन में नही रमा है। उन्होने घटनाओ के भीतर भावात्मक विकास के उच्चतम शिखरो की स्थापना की है और उनकी इस सफलता का श्रेय एकान्ततः उनकी उद्भावना शक्ति को दिया जाना चाहिए। सूर ने एक ही विषय को अनेक दृष्टियो और कोणो से देखा है, एक ही भाव की सूक्ष्मताओ का मार्मिक वर्णन किया है, एक ही दृश्य मे 'भावो' की अनेकरूपता का दिग्दर्शन कराया है। सूर की विशेषता यह है कि उन्होने

---

१. सूर का भ्रमरगीत एक अन्वेषण : डा० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, पृ० ३१।

भ्रमरगीत में मानवीय भावो की ऐसी आकर्षक 'हाट' सजाई है कि कही भी नीरसता की गध नही आती। भावो के विभिन्न स्तरो, स्तरो के विभिन्न बिन्दुओ के अकन मे कवि ने अपनी मौलिक प्रतिभा का परिचय दिया है। किसी एक घटना से हमारे हृदय मे एक साथ बहुविध भाव उत्पन्न होते हैं, जिन्हे मानसिक स्थितियाँ कहते हैं। ये मानसिक स्थितियाँ एक के बाद दूसरी, क्रम से आती जाती रहती है। मानव-मन की इन विभिन्न स्थितियो के चित्रण के लिए कवि मे गहरी, पैनी अन्तर्दृष्टि होनी आवश्यक है और निश्चय ही सूर को यह अन्तर्दृष्टि प्राप्त थी। उदाहरण के लिए एक ऐसी स्थिति की कल्पना कीजिए कि श्रीकृष्ण कार्य व्यस्तता के कारण मथुरा मे रुके है और उनके प्रेम मे डूबी हुई गोपियाँ अत्यन्त उत्सुकता से उनकी प्रतीक्षा कर रही है। प्रेम का आवेग दोनो ओर है। तथापि श्रीकृष्ण के प्रेम मे रगी हुई गोपियो को श्रीकृष्ण तो नही मिलते, हाँ उनके भेजे हुए ज्ञानी सखा उद्धव अवश्य ही योग की शिक्षा देने के लिए व्रज में पहुँच जाते है। प्रेम मे डूबी गोपियो को योग और ज्ञान के उपदेश, निर्गुण ब्रह्म की उपासना क्योकर रास आ सकती थी। जिन गोपियो ने श्रीकृष्ण के साथ मिलन का परम-सुख भोगा था, उन्हे उद्धव की यह उपदेशवार्ता असह्य हो उठी। कवि ने गोपियो की इस मनोदशा का अत्यन्त सजीव वर्णन किया है—

हमसौं कहत कौन की बातें।
को नृप भयो, कंस किन मारयो, को वसुधो-सुत आहि।
को व्यापक, पूरन अविनासी, को विधि-वेद अपार।
सूर, वृथा बकवाद करत हो, या व्रज नन्दकुमार।

प्रस्तुत पक्तियो में कवि ने गोपियो की मानसिक स्थिति का सही विश्लेषण प्रस्तुत किया है। उद्धव के मुख से योग की बाते सुनकर गोपियो की पहली प्रतिक्रिया तो आश्चर्य की ही हुई है किन्तु उसके साथ खीझ का भाव भी है। कवि ने इन दोनो भावो की एक साथ अभिव्यक्ति की है।

भ्रमर-गीत के भावसौन्दर्य की दूसरी महत्वपूर्ण विशेषता उसकी शिष्टता है। जिस प्रकार एक छोटी सी ककडी फेकने से जल राशि मे असख्य लहरियाँ उत्पन्न हो जाती हैं, उसी प्रकार गोपियो के हृदय मे श्रीकृष्ण द्वारा भेजे गए उद्धव की एक बात को सुनकर अनेक भाव एव विचार उठते है जिन्हे

पकड पाना एक दुष्कर कार्य होता है। सूर ने इन भावों को उनकी पूर्णता के साथ व्यक्त किया है। मन में उठने तिरने वाले भावो की गति बहुत क्षिप्र होती है किन्तु सूर की पैनी दृष्टि से कुछ भी बचा नही रहा। सूर गोपियों के हृदय की व्यथा को पूरी तरह समझते थे। जिस सचाई और ईमानदारी के साथ उन्होंने गोपियो के हृदय के बीचिविलास का अकन किया है, उसे देखकर सहज ही यह विश्वास हो जाता है कि उन्होने गोपी-हृदय की प्रत्येक धडकन को सुना था, और बहुत निकट से सुना था। जब श्रीकृष्ण के लिए 'सदेसा' भेजने का प्रश्न उठा तो गोपियाँ सकते मे आ गई क्योंकि कहने को इतना कुछ है कि यही निश्चय करना दुष्कर है कि क्या कहा जाए और क्या न कहा जाए। तनिक एक ऐसी स्थिति की कल्पना कीजिए कि किसी नारी का पति वर्षो बाद लौट आया हो। स्वभावत. वह वर्षों की प्रतीक्षा के बाद आने वाले प्रियतम के स्वागत में पता नही क्या-क्या कहना चाहती है किन्तु भावातिरेक के कारण वस्तुत. कुछ भी नही कह पाती। इसी से मिलती जुलती स्थिति गोपियो की भी है। अपने मन की इस द्विविधात्मक स्थिति को व्यक्त करते हुए गोपियाँ कहती हैं कि—

संदेसो कैसे कै अब कहौं।

इन नैनन्ह या तन को पहरो कब लौं देति रहौं।
जो कुछ विचार होय उर-अन्तर, रचि परि सोचि रहौं।
मुख आनत, ऊधों तन चितवत न सो विचार न हौं।

गोपियो के मन की इस विवशता को समझने की सामर्थ्य सूर में ही थी।

गोपियो का दुर्भाग्य यह था कि अभी उन्होने अपने प्रियतम श्रीकृष्ण को जी भर देखा भी नही था कि परिस्थितिवश उन्हें मथुरा जाना पड़ गया। मिलन की घड़ियाँ बहुत जल्दी बीत जाती है और शेष बच रहती है केवल मधुर स्मृतियाँ। गोपियो को अब मिलन की वही मधुर स्मृतियाँ कचोट रही हैं, उसी छबीले कृष्ण का रूप बार-बार मानस-पटल पर उभर रहा है। श्री कृष्ण की मोहनी 'मूरत' और फिर 'लरिकाई का प्रेम' भला कैसे छूट सकता है। उद्धव उन्हे श्रीकृष्ण का सदेश देते हैं तो वे अपनी मनोदशा का वर्णन करते हुए कहती है—

लरिकाई को प्रेम, कहौ अलि, कैसे करिकै छूटत ?
कहा कहौं ब्रजनाथ-चरित अब अन्तरगति यों लूटत ।
चाल मनोहर चितवनि, वह मुसुकानि मन्द धुनि भावत ।
× × ×
चरन कमल की सपथ करति हौं यह सदेसा मोहि विष सम लागत ।
सूरदास मोहि निमिष न विसरत मोहन मूरति सोवत जागत ।

योग और प्रेम पूर्ण भक्ति के मध्य का यह सघर्ष ही भ्रमर-गीत का मूलाधार है। यह सघर्ष चिरन्तन काल से चला आ रहा है और आज के सभ्य युग मे भी किसी न किसी रूप मे विद्यमान है। वस्तुत योग और भक्ति के मध्य का यह सघर्ष हृदय और बुद्धि का सघर्ष है, प्रेम और साधना का सघर्ष है, श्रद्धा और ज्ञान का सघर्ष है जो किसी न किसी रूप मे युग-युगो से चला आ रहा है। भ्रमर-गीत मे ज्ञान और योग के पक्षधर उद्धव अन्तत: गोपियो के समक्ष बाजी हार जाते हैं, बौद्धिक ज्ञान पर हृदय की विजय सिद्ध हो जाती है। उद्धव का समस्त ज्ञानाभिमान गोपियो के निश्छल प्रेम के समक्ष धराशायी हो जाता है और वे कह उठते है—

हौं इक बात कहति निर्गुन की, वाही में अटकाऊँ
वे उमड़ी वारिधि तरंग ज्यो जाकी थाह न पाऊँ ।
कौन कौन को उत्तर दीजै ताते भज्यों अगाऊँ ।
वे मेरे सिर पाटी पारहिं, कंथा कहि उढ़ाऊँ ?
सूर सकल ब्रज षटदरसी, हौं, बारहखड़ी पढ़ाऊँ ।

सूर की काव्य कला की एक अन्यतम विशेषता भाव-प्रेरित अभिव्यजना है। दर्शन के सिद्धान्त पक्ष का निरूपण भी कवि ने ऐसी रसात्मक और भाव-प्रेरित शैली मे किया है कि इसमे कही भी दर्शन की नीरसता का भास नही होता। उदाहरण के लिए गोपियो के प्रेममार्ग और उद्धव के ज्ञानमार्ग सम्बन्धी विवेचन को लीजिए। सूर मूलत एक भक्त-कवि थे और भक्ति का मूलाधार मनुष्य की रागात्मिका वृत्ति होती है। उन्होनें भ्रमर-गीत मे ज्ञान पर भक्ति की, योग पर प्रेम की विजय सिद्ध की है। जब उद्धव ब्रज की गोपियो को ज्ञान और योग के उपदेश देने आरम्भ करते हैं तो गोपियाँ स्पष्टत. कह देती है—

काहे को रोकत मारग सूधो ?

सुनहु मधुप ! निर्गुन कंटक तें राजपंथ क्यों रुंधो ?
ताको कहा परेखो कीजै जानत छांछ न दूधो ?
सूर मूर अक्रूर गए लै व्याज निबेरत ऊधो ।।

गोपियों की दृढ़ धारणा है कि भक्ति और प्रेम का मार्ग सीधा-सरल मार्ग है अतः जब उद्धव निर्गुण की उपासना का उपदेश देते है तो उनका सहज उत्तर यही हो सकता था कि "हे उद्धव, तुम हमारे भक्ति के सीधे-सादे मार्ग मे बाधाएँ क्यो उत्पन्न कर रहे हो ? हमारा यह मार्ग तो राजमार्ग है और निर्गुण की बात कह कर तुम केवल हमारे इस मार्ग मे काँटे बिछा रहे हो ? कहने का भाव यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने मार्ग पर चलने की छूट है तो हे उद्धव, तुम हमारा मार्ग क्यो अवरुद्ध कर रहे हो ? तुम्हारी दृष्टि मे ज्ञान का मार्ग श्रेयस्कर है तो तुम उसी पर चलो, हम तुम्हारे मार्ग में बाधा नही प्रस्तुत करेंगी ।" प्रस्तुत पक्तियो को गोपियों और उद्धव के मध्य एक सामान्य वार्ता ही मान लेना, सूर के कवि-व्यक्तित्व के प्रति अन्याय होगा । वस्तुतः इन सीधे-सादे शब्दो के माध्यम से कवि ने ज्ञान पर भक्ति की श्रेष्ठता सिद्ध की है ।

भ्रमर-गीत में गीतितत्त्व—गेयतत्त्व के प्रति मनुष्य आदिकाल से ही श्रद्धावान रहा है । हिन्दी मे गीतिकाव्य की एक सुदीर्घ परम्परा विद्यमान है । जयदेव, विद्यापति, कबीर आदि ने हिन्दी की इस गीतिकाव्य परम्परा की श्रीवृद्धि की है । सूर से पूर्व हिन्दी मे जो गीतिकाव्य उपलब्ध था, उसमे माधुर्य, प्रसाद और ओजगुण—तीनों का निर्वाह किया जाता था । सूर के भ्रमरगीत मे अधिकांशतः माधुर्य और प्रसाद गुणो का निर्वाह हुआ है । गीत की अन्यतम विशेषता कवि के व्यक्तित्व की प्रधानता होती है जो कि भ्रमर-गीत मे बराबर मिलती है । भ्रमर-गीत मे सूर ने अपने मन को पूरी तरह उडेल दिया है । एक विद्वान आलोचक के शब्दो मे, "सूर का भ्रमरगीत उनके हृदय का चित्र लिए है, गोपियो का कथन स्वय सूर का सदेश है, उद्धव व गोपी तो मात्र माध्यम हैं, एक बात को समझाने का तरीका है, परन्तु गोपी द्वारा कथित संदेश एवम् सम्प्रेरित भावनाएँ स्वत. सूर के ही 'सदेश' और भावनाएँ हैं ।"[1] निश्चय ही भ्रमर-गीत सूर के हृदय की अभिव्यक्ति है ।

1. सूर का भ्रमरगीत : एक अन्वेषण: डा० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, पृ० १३४ ।

भ्रमरगीत मे गोपियो और उद्धव का परस्पर सवाद-मात्र नही है अपितु एक सच्चे भक्त कवि के हृदय से निकले हुए शब्द है। उदाहरण के लिए निम्न पक्तियाँ देखिए जिनमे गोपियो के विरह से कही अधिक सूर जैसे भक्त की आर्त्तवाणी व्यक्त हुई है—

अंखियाँ हरि-दरसन की भूखी।
कैसे रहै रूप रस राची ये बतियाँ सुनि रुखी।
अवधि गनत इकटक मग जोवत तब एती नहि झूखी।
अब इन जोग संदेसन ऊधो अति अकुलानी दूखी।
बारक वह मुख फेरि दिखाओ दुहि पय पिवत पतूखी।
सूर सिकत हरि नाव चलावो ये सरिता है सूखी।

सूर के भ्रमर-गीत मे सामूहिक भावना की अभिव्यक्ति की भी प्रधानता है और इसका मूल कारण यही है कि सूर वल्लभाचार्य द्वारा प्रतिपादित आदोलन के अनुयायी थे। सामूहिक भावना की अभिव्यक्ति भी गीत की एक विशषता होती है। तथापि गीत और गीति के मध्य अन्तर होता है। गीति में कवि के व्यक्तित्व की असाधारणता अवश्य होती है, उसका एक निजीपन, स्वतन्त्र इच्छाएँ, विचार आदि की अभिव्यक्ति अवश्य ही होती है। मीरा के पदो मे गीति तत्व की प्रधानता है। सूर के भ्रमर-गीत मे जो आत्माभिव्यक्ति का स्वर सुनाई पड़ता है, वह सामूहिक भावना से प्रेरित है अतः उसमे वह निजीपन नही मिलता जो कि गीतिकारो की विशेषता होती है। इस आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि सूर एक सफल गीतकार थे, गीतिकार नहीं। उनके भ्रमरगीत मे भी सामूहिक भावना से प्रेरित आत्माभिव्यक्ति के दर्शन होते है।

भ्रमर गीत मे प्रकृति-वर्णन पर विचार करते समय यह स्पष्ट हो जाता है कि सूर ने स्वतन्त्र प्रकृति-चित्रण नही किया है। सूर ही नही, मध्य युग के अन्य कवियो ने भी प्रकृति-चित्रण मे विशेप रुचि नही ली है और इसका एक मात्र कारण यह था कि मध्ययुगीन कवियो का मूल उद्देश्य कविता के माध्यम से अपने आराध्य का रूप-विश्लेषण करना था। अतः मध्ययुगीन हिन्दी कविता मे जहाँ कही प्रकृति-चित्रण हुआ भी है वहाँ वह प्रासगिक रूप से ही हुआ है, आराध्य के रूप-विश्लेषण, उसके गुण-कथन आदि के उद्देश्य

को लेकर ही किया गया है। सूर के भ्रमर-गीत मे कवि का मूल उद्देश्य श्री कृष्ण के वियोग में व्यथित गोपियो के हृदय की वेदना को साकार करना है और इसके साथ ही ज्ञान और योग पर भक्ति और प्रेम की श्रेष्ठता सिद्ध करना है। स्वभावतः सूर को स्वतन्त्र रूप से प्रकृति-चित्रण के लिए अधिक अवकाश नही मिला है। तथापि गोपियों की विरह-व्यथा के वर्णन मे कवि ने प्रकृति के भीतर संवेदनशीलता के दर्शन किए है। व्रज और उसका निकटवर्ती सारा प्रदेश कृष्णमय है और कृष्ण के वियोग मे गोपियो की तरह दुखी है। गोपियो की विरह-व्यथा व्रज के वृक्षो-कुजो और लताओ मे व्याप्त है। गोपियो के साथ प्रकृति का कण-कण द्रवित हो उठा है—

बिन गोपाल बैरिन भईं कुजें।
तब ये लता लगति अति सीतल, अब भईं बिषम ज्वाल की पुंजें।
बृथा बहति जमुना, खग बोलत बृथा कमल फूलैं, अलि गुंजैं।
पवन, पानि, घनसार सजीवनि दधिसुत किरन भानु भई भुजैं।
ए, ऊधो, कहियो माधव सों बिरह कदन करि मारत लुंजैं।
सूरदास प्रभु को मग जोवत अखियाँ भईं बरन ज्यों गुंजैं।

कवि ने अनेक स्थलो पर उद्दीपन रूप मे भी प्रकृति चित्रण किया है। प्रकृति का सौन्दर्य कुछ क्षणो के लिए गोपियो के मन को लुभा जाता है किन्तु फिर भी प्रियतम के वियोग की भावना उन्हे बराबर कचोटती रहती है। प्रकृति का इस प्रकार का वर्णन भावोद्दीपन कहलाता है। भ्रमर-गीत मे सूरदास ने प्रकृति के इस प्रकार के वर्णनो की भरमार लगा दी है। श्रीकृष्ण के प्रेम मे रगी हुई गोपियाँ उद्धव के ज्ञान और योग के उपदेशो को सुन-सुन कर तग आ गई हैं। जिन गोपियो ने प्रेम का अमृत छका हुआ है, उन्हें योग की साधना अथवा ज्ञान के उपदेशों से क्या लेना? जब इसी प्रकार उद्धव गोपियो को निर्गुण ब्रह्म की उपासना और योग की कठिन साधना का उपदेश देने लगे तो गोपियाँ व्रज के कुजो में कूजती हुई कोयल की मधुर ध्वनि की ओर उद्धव का ध्यान आकृष्ट करते हुए कहने लगी—

ऊधो ! कोकिल कूजत कानन।
तुम हमको उपदेस करत हौ भसम लगावत आनन।

औरौ सब तजि सिंगी लै लै टेरन चढ़न पखानन ।
पै नित आनि पपीहा के मिस मदन हनत जिन बानन ।

कृष्ण के मथुरागमन के कारण व्रज की लताएँ, कुज और वृक्षादि सभी अपना स्वधर्म भूल गए हैं और वे सब, गोपियो की वेदना से आकंठ भीग गए है। सूर ने जड़ प्रकृति मे मानवीय भावो का सचरण कर दिया है और इस प्रकार—श्रीकृष्ण का वियोग केवल गोपियो को ही नही, प्रकृति के अंग-प्रत्यंग को व्यथित किए हुए है। प्रकृति और गोपियों की दशा एकसी हो गई है। सूर ने व्रज के प्रत्येक कण मे कृष्ण के विरह का प्रभाव देखा और व्यक्त किया है। सूर कहते हैं कि—

व्रज तें द्वै ऋतु पै न गईं ।
पावस अरु ग्रीष्म प्रचड सखि, हरि बिनु अधिक भईं ।

श्रीकृष्ण के वियोग मे यमुना का रग भी काला हो गया। सुख और दुख वस्तुओ अथवा जड पदार्थों में नही होते, वे तो देखने वाले के हृदय मे होते हैं। दुखी व्यक्ति को अपना सारा परिवेश दुखमय दीखता है और उसी प्रकार सुखी व्यक्ति को सर्वत्र हर्षोल्लास के ही दर्शन होते हैं। जड पदार्थों के भीतर मानवीय सवेदना जागृत करने का काम कवि का होता है। इस दृष्टि से सूर को भ्रमरगीत मे अपार सफलता मिली है।

भ्रमरगीतकार ने अपनी अभिव्यजना को अधिक सजीव और प्रभावशाली बनाने के लिए हल्के हास्य और व्यग्य का प्रयोग भी किया है। इस प्रकार के प्रयोगो के पीछे भी कवि की मूल दृष्टि भावोद्दीपन की रही है। भ्रमर-गीत की गोपियाँ उद्धव के ज्ञानोपदेशो को सुन-सुन कर दुखी हो उठी हैं और जब उद्धव उन्हे निर्गुण ब्रह्म की उपासना का पाठ पढाते हैं तो वे कह उठती हैं—

निर्गुन कौन देस को बासी ।
मधुकर हँसि समुझाइ सौंह दै बूझति सांच न हांसी ।
को है जनक, जननि को कहियत, कौन नारि को दासी ।
कैसो बरन भेस है कैसो, केहि रस में अभिलाषी ।।

अनेक स्थलो पर कवि ने भावों को उद्दीप्त करने के लिए व्यंग्य का आश्रय भी लिया है।

सूर के भ्रमर-गीत की भाषा में चित्रमयता के भी दर्शन होते है। कवि ने

अनेक स्थलो पर मानवीय भावो का एक सजीव चित्र सा प्रस्तुत कर दिया है। इन भाव-चित्रो मे कवि ने अभिव्यक्ति को अत्यधिक प्राणवान बना दिया है। उदाहरण के लिए उद्धव के व्रज आगमन का चित्र देखिए। यदि कवि केवल यही कह देता कि उद्धव व्रज मे आए तो इससे पाठक के मन मे केवल एक सामान्य अर्थ का बोध ही उत्पन्न हो सकता था। सूर कहते है कि जब श्रीकृष्ण के भेजे हुए उद्धव व्रज मे आए तो व्रज की गोपियाँ उद्धव और श्रीकृष्ण में अद्भुत साम्य देखकर ठगी रह गई, उनके रोम-रोम मे एक पुलक सी दौड़ गई और वे जहाँ भी जिस भी स्थिति में थी, उद्धव को देखने के लिए दौड पड़ी। कवि ने इस समूचे दृश्य को एक सुरम्य भावचित्र मे सजोया है—

कोऊ आवत है तन स्याम।
वैसेइ पट, वैसिय रथ बैठनि, वैसिय है उर दाम।
जैसी दुति उठि तैसिय दौरीं छांड़ि सकल गृह-काम।
रोम पुलक, गदगद भई तिहि छन सोचि अ ग अभिराम।
इतनी कहत आए गए ऊधो, रहीं ठगी तिहि ठाम।
सूरदास प्रभु यहाँ क्यों आवे बंधे कुब्जा-रस स्याम।

भ्रमर-गीत सम्बन्धी उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि कवि ने गोपियो की मानसिक स्थितियो को पूरी निष्ठा और ईमानदारी के साथ चित्रित किया है। उनकी मौलिक उद्भावना का सस्पर्श पाकर भ्रमरगीत की सीमित सी कथा अपने आप मे गौरवान्वित हो गई है। कवि ने घटनाओ अथवा कथा-प्रसंगो की ओर अधिक ध्यान नही दिया है, उसका मूल उद्देश्य मानव-मन के भीतर उठने वाली असख्य भाव-वीचियों का उद्घाटन करना रहा है और निश्चय ही कवि इस कसौटी पर पूरी तरह सफल रहा है। उन्होने गोपियो के मन की निरन्तर बदलती हुई स्थितियों को अच्छी तरह पहचाना और व्यक्त किया है। एक विद्वान् आलोचक के शब्दों में, "उसमें घटनावली के प्रेरक भावों की राशि सन्निहित है, मनोविकारों का साम्राज्य सा फैला है और हृदय रूपी सहस्रदल कमल का चतुर्दिक विकास हो रहा है। भाव के इस भव्य भवन में सूर की अन्तर्दृष्टि ने जितना गंभीर और विस्तृत अवलोकन किया है, उतना विश्व का महान् से महान् कवि भी नही कर सका।"[1]

१. सूर सचयन : सम्पादक डा० मुंशीराम शर्मा, पृ० ४१।

भ्रमरगीत का कला-सौष्ठव

कविता के दो पक्ष होते हैं—भावपक्ष और कलापक्ष। कलापक्ष का सवव अभिव्यंजना मे होता है और अभिव्यजना के अन्तर्गत भाषा, शैली, अलकार, वृत्ति गुणो आदि का विवेचन किया जाता है। कलापक्ष के अन्तर्गत कविता का बाह्य सौन्दर्य आता है। सूर के भ्रमरगीत की गणना उन विरली रचनाओ मे की जाती है जिनमे हृदय और बुद्धि का. भावपक्ष और कलापक्ष का मणि-कांचन सयोग दीखता है। भ्रमरगीत मे जहाँ कवि ने भावो की सूक्ष्मताओ का वर्णन किया है वहाँ उनकी भाषा मे चित्रमयता, प्रभावोत्पादकता और भाव-मयता आदि के कारण एक विशिष्ट अर्थ सौन्दर्य की भी सृष्टि स्वत. ही हो गई है।

भ्रमरगीत की रचना ब्रजभाषा मे हुई है। सूरदास से पूर्व ब्रजभाषा को साहित्य मे प्रवेश-पत्र नही मिला था। सूर से पहले मुख्यतः दो प्रकार की भाषाओ का प्रयोग किया जाता था—अपभ्रशमिश्रित डिंगल तथा साधुओ सतो आदि द्वारा प्रयुक्त पचमेली खिचडी भाषा। ब्रजभाषा को सर्वप्रथम साहित्य की भाषा का गौरव प्रदान करने का श्रेय निश्चय ही सूरदास को जाता है। एक विद्वान आलोचक के शब्दो मे, 'चलती हुई ब्रजभाषा मे सर्वप्रथम और सर्वोच्च रचना सूर की ही उपलब्ध होती है। कोमल पदावली के साथ सूर की ब्रजभाषा सानुप्रास, स्वाभाविक, प्रवाहमयी, सजीव और भावो के अनुरूप बन पड़ी है।'[1] सूर ने ब्रजभाषा के बोली वाले स्वरूप को समृद्ध किया और सस्कृत के तत्सम शब्दो के प्रयोग से ब्रजभाषा को मध्ययुगीन श्रेष्ठतम साहित्य की भाषा का गौरव प्रदान किया है। सूर की भाषा की एक अन्यतम-विशेषता उसकी प्रवाह-मयता है। भाषा स्वत. भावो का अनुगमन सी करती दीखती है। भ्रमरगीत की भाषा को देखकर ऐसा प्रतीत नही होता कि कवि ने बहुत सोच सोचकर शब्दो की जडायट की हो। वस्तुतः भ्रमरगीत मे गोपियो के कथन तो उनके अन्तर्मन से स्वत. स्फूर्त से प्रतीत होते हैं। भ्रमरगीत की भाषा भावप्रेरित है और यही उसकी लोकप्रियता का मूल रहस्य है। कवि की मूल दृष्टि गोपियो के हृदय की बात कहने मे रही है और स्वभावतः हृदय की बात कहने के लिए

१. सूर सचयन सम्पादक डा० मुंशीराम शर्मा पृ० ४६।

किसी प्रकार की तैयारी अथवा साधना की अपेक्षा नही रहती। मन के भाव अविरल गति से बहने वाली उस सरिता की तरह होते है जो किसी नियम में बँधकर नही चलती। उदाहरण के लिए निम्न पक्तियाँ देखिए जिनमें गोपियाँ उद्धव के ज्ञानोपदेशो के प्रति अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त कर रही है। गोपियो के इस कथन मे एक सहजता सर्वत्र बनी हुई है—

लरिकाई को प्रेम, कहौ अलि, कैसे करि कै छूटत ?
कहा कहौं ब्रजनाथ-चरित अब अंतरगति यों लूटत।
चचल चाल मनोहर चितवनि, वई मुसुकानि मन्द धुनि गावत।
नटवर भेस नन्दनन्दन को वह विनोद गृह बन ते आवत।
चरनकमल की सपथ करति हौ यह सन्देस मोहि विषसम लागत।
सूरदास मोहि निमष न बिसरत मोहन मूरति सोवत जागत।

भ्रमरगीत की भाषा मे कही भी कृत्रिमता के दर्शन नही होते। कवि ने गोपियो के हृदय को निकट से देखा और परखा है और बिना लागलपेट के उसे व्यक्त भी किया है। सीधे मन से निकले हुए शब्दो मे किसी के भी हृदय को छूने की क्षमता होती है। मूल बात यह है कि शब्दो के पीछे भावो की प्रेरणा अनिवार्यत रहनी चाहिए। शब्दो की पच्चीकारी, अलंकारो की छटा तभी तक आकर्षक और प्रभावोत्पादक होती है जब तक उनके भीतर भावों की प्रेरणा सचित रहती है। भावशून्य कविता केवल चमत्कृत कर सकती है, हृदय को स्पर्श नही कर सकती। भ्रमरगीतकार ने भाषा को सजीव बनाने के लिए अलकारो और लोकोक्तियो आदि का प्रयोग अवश्य किया है किन्तु वह इतने सहज और स्वाभाविक रूप मे किया गया है कि वह कविता का प्राण बन गया है, उसकी आत्मा मे घुलमिल गया है।

सुर ने ब्रजभाषा को साहित्यिक स्वरूप प्रदान करने के लिए अनेक मौलिक प्रयोग किए है। उदाहरण के लिए उन्होने ब्रजभाषा मे अनुनासिकता पर अधिक बल दिया है और परिणामत भाषा अधिक कोमल हो गई है। भ्रमर-गीत मे कोमल भावो की प्रधानता होने के कारण इस प्रकार का प्रयोग आवश्यक था। उदाहरण के लिए भ्रमरगीत की कतिपय पक्तियाँ देखिए—

सदेसो कैसे कै अब कहौं।
इन नैनन्ह या तन को पहरो कब लौं देति रहौं।

जो कछु विचार होय उर अन्तर रचि पचि सोचि गहौं।
मुख आनत, ऊधो तन चितवत न सो विचार, न हौं।
अब सोई सिख देहु सयानी ! जातें सखहि लहौं।
सूरदास प्रभु के सेवक सों विनती कै निवहौं।

तथापि इसका यह अर्थ भी नही है कि सूर ने भ्रमरगीत मे तत्सम प्रधान शब्दो का प्रयोग किया ही नही है। वस्तुत चित्रण के समय अथवा भागवत्-आधृत प्रसगो के वर्णन मे कवि ने तत्सम शब्दावली का प्रयोग किया है। स्वभावत: ऐसे स्थल भावसौंदर्य की दृष्टि से अधिक प्रभावशाली नही बन पाए हैं और कवि का मन भी अधिक नही रमा है। भ्रमरगीत का श्रेष्ठतम अश केवल वही पद है जहाँ हृदय की निश्छल भाषा का प्रयोग हुआ है, जहाँ मानवीय भावो की निष्कपट अभिव्यक्ति हुई है। जहाँ कही कवि चित्रण का लोभ संवरण नही कर सका है वहाँ तत्सम प्रधान शब्दावली का प्रयोग हुआ है। निश्चय ही ऐसे स्थल सख्या मे अत्यल्प है। भ्रमरगीत मे प्रयुक्त तत्समप्रधान शब्दावली की की एक बानगी देखिए—

नयनन नन्दनन्दन ध्यान।
पानि-पल्लव-रेख गनि गुन अवधिविधि बंधान।
चन्द्रकोटि प्रकाम मुख अवतंस कोटिक भान।
कोटि मन्मथ वारि छवि पर निरखि दी जाति ध्यान।
भ्रकुटि कोटि कोदंड रुचि, अवलोकनी संधान।
कोटि वारिज बँक नयन, कटाच्छ कोटिक बान।

यही नही सूर ने भ्रमर गीत की भाषा को भावानुकूल बनाने के लिए प्रसगं की आवश्यकतानुसार फारसी, अवधी तथा अरबी आदि भाषाओ के कतिपय शब्दो का भी प्रयोग किया है। जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, सूर का मूल लक्ष्य भावसौन्दर्य का अकन करना रहा है, अत उनकी भाषा, उनके अलंकार, छन्द आदि इसी मूल लक्ष्य से प्रेरित हैं। सहजता उनकी भाषा की सबसे बडी पहचान है।

सूर ने भ्रमरगीत की भाषा को सजीव और भावप्रेरित बनाने के उद्देश्य से प्रसग और स्थिति के अनुसार मुहावरो और लोकोक्तियों का भरपूर प्रयोग किया है। भाषा मे मुहावरो और लोकोक्तियों के प्रयोग के कारण लोकतत्व

की प्रधानता हो जाती है और इस प्रकार कविता मे छिपे हुए भाप अधिक बोधगम्य हो जाते हैं। काव्य अथवा साहित्य मे लोकोक्तियो-मुहावरों आदि का अपना विशिष्ट स्थान है। इस प्रकार के प्रयोगो से कविता जीवन के व्याव-हारिक पक्ष के अधिक निकट रहती है। उदाहरण के लिए भ्रमरगीत की निम्न पक्तियाँ देखिए जिनमे कवि ने लोकोक्तियो का प्रयोग करके समूचे पद को अधिक सजीव और हृदयस्पर्पी बना दिया है—

कहु षटपद कैसे खैयतु है, हाथिन के संग गांड़े।
काको भूख गई बयारि भख, बिना दूध घृत मांड़े।
सूरदास तीनों नहिं उपजत, धनिया, धान, कुम्हाड़े

× × ×

जोग ठगौरी ब्रज न बिकैहै।
दाख छाँड़ि कै कटुक निबौरी, को अपने मुख खैहे।
मूरी के पातन के केना को मुक्ताहल दैहै।

भ्रमरगीत की भाषा की एक अन्यतम विशेपता प्रसगानुरूप भाषा का प्रयोग है। कवि ने प्रसग और स्थिति को बहुत अच्छी तरह पहचाना है और तदनुसार भाषा के रूप का प्रयोग किया है। जब उद्धव बार-बार ज्ञान और योग की बात कहते हैं तो एक स्थिति ऐसी आ जाती है जब कि गोपियो उसके ज्ञान-योग का उपहास करने लगती हैं। ऐसे स्थलो पर कवि ने हल्के हास्य और व्यंग्यमिश्रित भाषा का प्रयोग किया है। उदाहरण के लिए गोपियो के निम्न कथन द्रष्टव्य है—

ऊधो ! तुम अपने जतन करो।
हित की कहत कुहित की लागै, किन बेकाज रहौ।
जाय करौ उपचार आपनो, हम जो कहत हैं जी की।

× × ×

ऊधो जोग सिखावन आए।
सिन्धी, भस्म, अधारी, मुद्रा लै ब्रजनाथ पठाए।

× × ×

आयो घोष बड़ो व्यापारी।
लादि खेप यह ज्ञान-योग की ब्रज में आय उतारी।

फाटक दै कर हाटक मांगत भोरी निपट सुधारी।

उपर्युक्त पक्तियो मे भाषा का चपल, व्यावहारिक रूप देखा जा सकता है और वस्तुतः हृदय की सच्ची भाषा भी यही है। उद्धव के ज्ञान और योग के प्रति गोपियो के व्यंग्यो मे एक ऐसा तीखापन है जिसे देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि यदि वस्तुतः उद्धव को गोपियो के उपरोक्त वचन सुनने पडे होंगे तो वे निश्चय ही तिलमिला उठे होगे।

सूर भावो का सफल चितेरा है और उसने भावानुरूपी भाषा का प्रयोग करके अपनी मौलिक प्रतिभा का परिचय दिया है। भ्रमरगीत मे ऐसे भी अनेक स्थल आए है जहाँ गोपियों के मन मे घोर अवसाद और निराशा के भाव आए हैं। मनुष्य का मन परिस्थितियो के घातो को सहन करते हुए बहुविध विचारो-भावो मे तैरता रहता है। गोपियो के मन मे कभी तो उद्धव के प्रति आक्रोश उत्पन्न होता है तो कभी उसकी स्थिति पर दया आती है। कभी स्वय उनके अन्तर्मन मे घोर निराशा उत्पन्न हो जाती है तो कभी उनका मन पुनः आश्वस्त हो जाता है। मन की इस गति का चित्रण केवल वही कवि कर सकता है जिसकी अनुभूति मे सचाई हो। निश्चय ही सूर की गणना ऐसे ही समर्थ कवियो मे की जा सकती है। उन्हे मानव-मन मे उठने-तिरने वाले भावो की पूरी पहचान थी और इसके साथ ही भाषा पर पूर्ण अधिकार भी था। निराशा और अवसाद के क्षणों का चित्रण करते समय कवि की भाषा स्वतः किंचित कोमल होती जाती है। उदाहरण के लिए निम्न पक्तियाँ देखिए—

निरमुहिया सों प्रीति कीन्ही, काहे न दुख होय।
कपट कर करि प्रीत कपटी, लै गयो मन गोय।
काल मुख तै काढ़ि आनो, बहुरि दीन्हीं ढोय।
मेरे जिय की सोइ जाने जाहि बीती होय।

× × ×

जीवन मुँह चाही को नीको।
दरस परस दिन राति करति है, कान्ह पियारे पी को।

इसी प्रकार पश्चाताप का एक विचित्र भावचित्र देखिए—

ऊधो ! मन की मन ही मांझि रही।
कहिए जोग कौन सो, ऊधो, नाहिन परत कही।

विरह की पीड़ा मन को ही नही, शरीर को भी तोड़ देती है। ठीक यही स्थिति गोपियो की भी है। श्रीकृष्ण के वियोग में उनका अंग-अग टूट गया है। मिलन के समय की मधुर स्मृतियाँ बराबर कचोटती रहती है, नीद भाग जाती है, आँखें प्रियतम की बाट जोहने-जोहते थक जाती हैं। कवि ने गोपियो की इस मन:स्थिति का अत्यन्त सजीव वर्णन किया है—

और सकल अगन ते ऊधो ! अँखियाँ अधिक दुखारी।
अतिहि पिराति, सिराति न कबहूँ बहुत जतन कर हारी।
एकटक रहत, निमेष न लावति, बिथा बिकल भई भारी।
भरि गई विरह बाय बिनु दरसन, चितवति रहति उघारि।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि सूर ने भावों के अनुरूप भाषा का प्रयोग किया है। भाषा की दृष्टि से कविता के मूल्याकन का एक अत्यन्त विश्वसनीय आधार यही है कि उसमें भावों का कहाँ तक निर्वाह हो सका है। भाषा अपने आप में जड़ होती है, निष्प्राण शब्दो की ठठरियो का संग्रह होती है। वस्तुतः भाषा का प्रयोक्ता कवि, लेखक ही उन शब्दों में भावो को अवस्थित करता है, उनमें अर्थवत्ता उत्पन्न करता है। दूसरे शब्दो मे, भाव ही शब्दो को अर्थ प्रदान कर पाते हैं। विशुद्ध रूप से भावशून्यता भाषा की कल्पना नही की जा सकती। इस प्रकार अभिव्यजना अपने आप मे एक अखण्ड वस्तु है अर्थात् भाषा और भाव को नितान्त अलग-अलग कोष्ठो मे बाँधकर नही रखा जा सकता। तथापि अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से भाषा के स्वरूप, शब्दशक्तियों, अलंकारो आदि का विवेचन भी किया जाता रहा है।

अलंकार विधान—सूर के भ्रमरगीत मे भावो की स्पष्टता और प्रभावोत्पादकता के लिए आवश्यकतानुसार अलकारो का प्रयोग भी किया गया है। भ्रमरगीत में अलकारों का प्रयोग भी सहज रूप में हुआ है। केवल चमत्कार सृष्टि अथवा पाडित्य प्रदर्शन के लिए उन्होने अलकारों का प्रयोग नही किया। वस्तुत. अलकारो का प्रयोग अभिव्यजना को अधिक सजीव एव प्रभावोत्पादक बनाने के लिए किया जाता है। अलंकारो का वही प्रयोग सार्थक और सफल कहा जाता है। जिसमे वह भाव के साथ पूरी तरह घुलमिल गया हो? कवि के मन मे भावो का प्रवाह अविरल गति से बहती हुई सरिता की तरह कभी ऋजु और कभी टेढ़ी-मेढ़ी पगडडियो में से होकर जाता है तो अर्थालकारो के प्रयोग

से ही उन प्रवाह-गतियों की पहचान होती है। अर्थालंकारो का प्रयोग विशेष रूप से मानसिक स्थितियो के विवेचन के लिए किया जाता है। सूर ने भ्रमरगीत में अलकारो का प्रयोग एक ऐसे समर्थ कवि के रूप मे किया है जो भावो की विभिन्न प्रवाह गतियो की पूरी पहचान रखता है और तदनुसार अलकारो का प्रयोग करता है। एक विद्वान् आलोचक के शब्दो मे, "सूर की रचनाओ मे अलकारो का प्रयोग केवल अलकारो के लिए ही नही हुआ है अपितु वह सहृदयतापूर्वक आवश्यकता से प्रेरित होकर किया गया है। इन अलकारो ने सूर काव्य की शोभा बढाई है।"[1] सूर ने अलकारो का प्रयोग भावलालित्य की सृष्टि के लिए किया है। भ्रमरगीत मे प्रयुक्त कतिपय अलकारो के कुछ उदाहरण नीचे दिए गए है—

साम्यमूलक अलकार

(क) रूपक

ज्ञानकुसुम लै आए ऊधो, चपल न उचित कियो।
हरि मुख, कमल अमियरस सूरज, चाहत वहै लियो।
× × ×
प्रीति नदी मे पांव न बोरयो, दृष्टि न रूप परागी।

(ख) रूपकातिशयोक्ति

आछे कमल-कोस-रस लोभी द्वै अति सोच करे।
कनक वेलि और नवदल के ढिग बसति उझकि परे।
कबहुँक पच्छ सकोचि मौन ह्वै अबु प्रवाह भरे।
कबहुँक कपित चकित निपट ह्वै लोलुपता बिसरे।

(ग) उपमा

जोग हमें ऐसे लागत ज्यों तोहि चंपक फूल।
× × ×
पुरइनि-पात रहत जल-भीतर ता रस देह न दागी।
ज्यों जल माँह तेल की गागरि बून्द न ताके लागी।
+ + ×

---

१. सूर सचयन. सम्पादक डा० मुशीराम शर्मा, पृ० ४६।

अब मन भयो सिन्धु के खग ज्यों फिरि फिरि परत जहाजन।

(घ) उत्प्रेक्षा

रतन जटित कुंडल श्रवननि कर, गंड कपोलनि झांई।
मनु दिनकर-प्रतिबिम्ब मुकुर महं ढूंढत यह छबि पाई।
दुसह दसन-दुख दलि नैनन जल परस न परत सह्यौ।
मानहुँ स्रवत सुधा अन्तर ते, उर पर जात बह्यौ।

× × ×

कहियो नन्द कठोर भए।
हम दोऊ वीरे डारि पर-घरै मानो थाती सौंपि गए।

(ङ) सांगरूपक

प्रीति करि दीन्ही गरे छुरी।
जैसे अधिक चुगाय कपटकन पाछे करत बुरी।
मुरली मधुर चेंप कर कांपो, मोरचन्द्र टटवारी
वंक बिलोकनि लूक लागि बस, सकी न तनहिं सम्हारी।
तलफत छांडि चले मधुवन को फिरि कै लई न सार।
सूरदास वा कलपतरोवर फेरि न बैठी डार।

× × ×

कानन-देह बिरह-दव लागी, इन्द्रिय जीव जरौ।
बुझै स्याम-घन कमल-प्रेम मुख, मुरली बूंद परौ।

(च) काव्यलिंग

ऊधो! अब यह समझ गई।
नन्दनन्दन के अंग अंग प्रति उपमा न्याय दई।
कुतल, कुटिल, भंवर भरि भांवरि, मालति मुरै लई।
तजत न गहरू कियौ कपटी जब, जानी निरस गई।
आनन इन्दु बरन-संमुख तजि करखें ते न नई।
निरमोही नहिं नेह, कुमुदिनी अंतहि हेम हई।
तन घनस्याम सेई निसिबासर रटि रसना छिजई।
सूर विवेकहीन चातक-मुख बूंदो तौ न सई।

(छ) अन्योक्ति

मधुकर ! पीत बदन केहि हेत ?
जनु अन्तर मुख पांडु रोग भयो, जुवतिन जो दुख देत ।
+ + +
मधुकर ! ये सुनु तन मन कारे ।
कहूँ न सेत सिद्धताई तन, परसे है अंग कारे ।
कीन्हीं कपट कुम्भ विषपूरन, पयमुख प्रकट उघारे ।
बाहिर बेष मनोहर दरसत, अन्तर गत ठगारे ।

(ज) लोकोक्ति

काहे को झाला लै मिलवत, कौन चोर तुम डाँडे ।
सूरदास तीनो नहिं उपजत धनिया, धान, कुम्हांडे ।
× × ×
आए जोग सिखावन पांडे ।
× × ×
कहौ मधुप, कैसे समायेंगे, एक म्यान दो खाँडे ।
कहु षटपद, कैसे खैयत है, हाथिन के संग गांडे ।

(झ) उदाहरण

ज्यों दरपन मधि हम निरखत जह हाथ तहाँ नहिं जाई ।
त्यों ही सूर हम मिली, वावरे बिरह-विथा विसराई ।

(ञ) निदर्शना

मधुकर ! राखि जोग की जात ।
कहि कहि कथा स्यामसुन्दर की सीतल करु सब गात ।
तेहि निर्गुन गुनहीन गुनैबो, सुनि सुन्दरि अनखात ।
दीरघ नदी नाव कागद की, को देख्यो चढ़ि जात ।

(ट) अतिशयोक्ति

सीतल चन्द अगिनि सम लागत, कहिए धीर कौन बिधि धरिबो ।
× × ×
जदुपति जोग जानि जिय सांचो नयन अकास चढ़ायो ।

शब्दालंकार

(ठ) अनुप्रास

बरु ये बदराऊ बरसन आए।
अपनी अवधि जानि, नन्दनदन गरजि गगन घन छाए।

× × ×

नाम गोपाल, जाति कुलगोपहि, गोप गोपाल-उपासी।
गिरिवरधारी, गोधन धारी, वृन्दावन-अभिलासी।
राजा नन्द, जसोदा रानी, जलधि नदी जमुना सी।

(ड) यमक

निरखत अंक स्याम सुन्दर के बार बार लावति छाती।
लोचन-जल कागद मसि मिलि कै ह्वै गई स्याम स्याम की पाती।

× × ×

तागुन स्याम भई कालिन्दी, सूर स्याम गुन न्यारे।

× × ×

कहिये कहा यही नहिं जानत काहि जोग है जोग।

(ढ) श्लेष

तेहि निर्गुन गुनहीन गुनैबो, सुनि सुन्दरि अनखात।

× × ×

ऊधो। ब्रज में पैठ करी।
यह निर्गुन, निर्मूल गाँठरी, अब किन करहु खरी।

× × ×

पहिले ही चढ़ि रह्यौ स्याम छुटत न देख्यो धोय।

विरोधमूलक अलंकार

(ण) विभावना

बिन पावस पावस ऋतु आई, देखत हौ विदमान।
अब धौं कसा कियो चाहत हौ ? छाँडहु नीरस ग्यान।

(त) वक्रोक्ति

ऊधो ! स्याम सखा तुम साँचे।
कै करि लियो स्वांग बीचहि ते वैसेहि लागत काँचे।

जैसे कही हमहिं आवत ही, औरनि कहि पछिताते।
अपनो पति तजि और बतावत, महिमानी कछु खाते।
तुरत गौन कीजै मधुबन को, यहाँ कहाँ यह ल्याए।
सूर सुनत गोपिन की बानी, उद्धव सीस नवाए।

(थ) अपह्नुति

मधुकर हम न होहिं वै बेली।

× × ×

औरौ सब तजि, सिंगी लै लै, टेरन चढ़त पखानन।
पै नित आनि पपीहा के मिस मदन हनत निज बानन।

(द) प्रतीप

चन्द्र कोटि प्रकास मुख, अवतंस कोटिक भान।
कोटि मन्मथ बारि छवि पर, निरखि दीजत दान।

(ध) व्यतिरेक

देखौ माई, नैनन सों घन हारे।
बिन ही ऋतु बरसत निसि बासर, सदा सजल दोउ तारे।

× × ×

हम अलि गोकुल नाथ अराध्यो।
मन्त्र दियो मनोजात भजन लगि ज्ञान ध्यान हरि ही को।
सूर कहौ गुरु कौन करै अलि! कौन सुनै मत फीको।

(न) सन्देह

किधौं घन गरजत नहि उन देसनि।
किधौं उहि इन्द्र हठहि हरि बरज्यो, दादुर खाए सेसनि।

(प) स्मरण

ऊधो! यहि ब्रज बिरह बढ़्यो।
आज घनश्याम की अनुहारि।
उनै आए सांवरे ते सजनी, देखि रूप की आरि।
सूरदास गुन सुमिरि श्याम के, बिकल भई ब्रजनारि।

(फ) परिकरांकुर

ऊधो! तुम सब साथी भोरे।

वै अक्रूर, क्रूर, कृत तिनके, रीते भरे, भरे गहि ढोरे।

(ब) विषादन

ए सखि आजु की रैन को दुख, लह्यो न कछु मो पै परै।
मन राखन को बैनु लियो कर, मृग थाके उडपति न चरै।

(भ) विषम

वै रस रूप रतन सागर निधि क्यों मनि खाय खवावत घूरी ?
कह मुनि ध्यान कहां व्रज जुवती, कैसे जगत-कुलिस करि चूरी।

(म) परिकर

सुमिरि सुमिर गरजत निसि बासर, अश्रु सलिल के धारे।
बूढ़त ब्रजहिं सूर को राखे, बिनु गिरिवरधर प्यारे।
चितवनि बान लगाए 'मोहन' निकसे उर बहि ओर।
सूरदास प्रभु कबहि मिलोगे, कहाँ रहे रनछोर।

(य) परिवृत्ति

मोहन मांग्यो आपनो रूप।
या ब्रज बसत ऊंचे तुम बैठीं ता बिनु तहाँ निरूप।
हमसों बदला लेन उठि धाए, मनौ धारि कर सूप।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि सूर ने भावो को उद्दीप्त करने और अभिव्यजना को अधिक सजीव, सरस और प्रभावोत्पादक बनाने के लिए ही अलकारो का प्रयोग किया था। इस सम्बन्ध मे एक विद्वान आलोचक के अनुसार, "अलकारो की विशेषता यह है कि अलकारो का प्रयोग सूर को इष्ट नही था, सूर भाव विभोर होकर पद कहते थे। अतएव उनके अलकार सूर के 'कलाभवन' के वेलबूटे मात्र नही हैं, न उन्हे सूर के काव्य शरीर का 'आभूषण' ही कहा जा सकता है, उन्हे वस्तुत सूर की वाणी की प्रवाहगति ही कह सकते हैं, जिस प्रकार नृत्य करते समय पद, हस्तादि अवयवो की मुद्राओ को आप नृत्य-कर्ता के उल्लास और आवेश से अलग नही कर सकते उसी प्रकार सूर के अलकारो को उनके भावावेश से अलग नही किया जा सकता।[1]

कवि ने अपनी अभिव्यजना को अधिक हृदयस्पर्शी और सजीव बनाने के

---

१. सूर का भ्रमरगीत : डा० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, पृष्ठ १९०।

लिए लक्षणा का प्रयोग भी किया है। लक्षणा का प्रयोग करते समय कवि शब्दो का प्रयोग ऐसे अर्थों मे करता है जो कि सामान्य अथवा प्रचलित अर्थों से भिन्न होता है और इस प्रकार अभिव्यक्ति अधिक मार्मिक बन पड़ती है। लक्षणा शब्द-शक्ति के प्रयोग के कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं—

रूढ़ि लक्षणा—जब प्रसिद्धि के कारण कतिपय शब्द मुख्यार्थ को छोड़कर उससे सम्बन्ध रखने वाले किसी अन्य अर्थ को प्राप्त होते हैं तो वहाँ रूढ़ि लक्षणा का प्रयोग माना जाता है। उदाहरण के लिए निम्न पक्तियाँ देखिए—

आए जोग सिखावन पाँडे।
काकी भूख गई बयारि भखि, बिना दूध घृत मांडे।
सूरदास तीनों नहिं उपजत धनिया, धान, कुम्हाड़े।
काकी भूख गई मन लाड़ू सो देखहु चित चेत।

गौणी प्रयोजनवती—गौणी प्रयोजनवती लक्षणा वहाँ होती है जहाँ समान गुण अथवा धर्म के कारण अन्य अर्थ की प्राप्ति होती है। इस दृष्टि से निम्न पक्तियाँ द्रष्टव्य है—

भृकुटि कोटि कुदड रुचि अवलोकनि सधान।
कोटि वारिज वंक नयन कटाच्छ कोटिक दान।
मुरली मनोहर चेंप कर कांपो मोरचन्द्र टटवारी।
वंक विलोकनि लूक लागि बस, सकी न तन ही हमारी।

शुद्ध प्रयोजनवती—शुद्ध प्रयोजनवती लक्षणा वहाँ होती है जहाँ सादृश्य सम्बन्ध को छोड़, अन्य सम्बन्ध से लक्ष्यार्थ की प्राप्ति होती है—

ऊधो ! तुम सब साथी भोरे।
वै अक्रूर, क्रूर कृत तिनके, रीते भरे, भरे गहि ढोरे।
+ + +
ऊधो ! भली करी अब आए।
व्रज करि अक जोग करि ईंधन, सुरति अगिन सुलगाए।

उपादान लक्षणा—उपादान लक्षणा वहाँ होती है जहाँ शब्दो से अन्य अर्थ लक्षित होने पर भी उनका अपना अर्थ नही छूटता—

सूर जहाँ लौ स्यामगात हैं तिनसों क्यों कीजिए लगाय।

प्रस्तुत पंक्ति मे 'स्यामगात' का सगत काव्यार्थ काले शरीर वालो से है किंतु

इस पर भी यहाँ 'स्यामगात' का अर्थ श्रीकृष्ण है क्योंकि यह अर्थ छूटता नहीं है।

सारोपालक्षणा—सारोपा लक्षणा वहाँ होती है जहाँ उपमेय पर उपमान का जो आरोपण होता है, उसमे उपमेय और उपमान दोनो की स्थिति रहती है। उदाहरण के लिए निम्न पंक्तियाँ देखिए—

तुम्हारे विरह, ब्रजनाथ, अहो प्रिय ! नयनन नदी बढ़ी।
लीने जात निमेष कूल दोउ, एते मान चढ़ी।
गोलक नव नौका न सकत चलि स्यों सरकनि बढ़ि बोरति।
ऊरध स्वास समीर तरंगन तेज तिलक तरु तोरति।

साध्यवसाना लक्षणा—साध्यवसाना लक्षणा वहाँ होती है जहाँ उपमेय का विषय लुप्त हो जाता है और केवल उपमान का ही वर्णन होता है—

आछे कमल-कोस-रस लोभी, द्वै अलि सोच करे।
कनक वेलि औ नवदल के ढिग वसते उझकि परे।

प्रस्तुत पंक्तियो मे नेत्र, शरीर अथवा अवयव आदि उपमेय है। जिनकी उपमा क्रमश. अलि, कनक वेलि, नवदल आदि से की गई है। तीनों ही उपमेय लुप्त हैं और उपमानो का ही वर्णन है।

व्यंजना—व्यजना का क्षेत्र वहाँ से आरम्भ होता है जहाँ अभिधा और लक्षणा शब्द शक्तियो का विराम होता है। इस प्रकार जिस अर्थ की प्रतीति होती है उसे व्यग्यार्थ कहते है और जिस शक्ति के माध्यम से इस व्यग्यार्थ की प्रतीति होती है उसे व्यजना शब्दशक्ति कहते है। व्यजना शब्दशक्ति के अनेक भेद किए गए है जिनके उदाहरण भ्रमर-गीत मे मिलते है।

अभिधामूलाशाब्दी व्यंजना—इस प्रकार की व्यजना मे भिन्नार्थी शब्दो का अर्थ निर्धारण किया जाता है। अभिधा द्वारा प्रस्तुत विभिन्न अर्थो मे से कौन सा अर्थ लिया जाएगा। इसका निश्चय व्यंजना द्वारा किया जाएगा—

रहु रे मधुकर ! मधुमतवारे।

'मधु' शब्द के विभिन्न अर्थ है। शहद, मदिरा, कोई मीठा पदार्थ किन्तु प्रस्तुत सन्दर्भ मे मधुकर का अर्थ 'भ्रमर' होगा और 'मधु मतवारे' मे प्रयुक्त 'मधु' का अर्थ मदिरा से लिया जाएगा।

लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना—लक्षणामूला शाब्दी व्यजना मे लक्षणा का चमत्कार उत्पन्न किया जाता है। उदाहरण के लिए निम्न पक्तियाँ देखिए।

हम अलि गोकुलनाथ अराध्यो ।

\+ +

ऊधो ! भली करी अब आए ।

\+ +

ब्रज सगुन दीप परगास्यो ।

वक्तृवैशिष्टयोत्पन्न लक्ष्यसंभवा—इस प्रकार की व्यजना मे वक्ता के वचनो की विशिष्टता का आश्रय लिया जाता है और लक्ष्यार्थ के माध्यम से व्यजना का चमत्कार उत्पन्न किया जाता है । उदाहरण के लिए निम्न पक्तियाँ देखिए—

ऊधो ! यह ब्रज विरह बढ़यो ।
दूंद करत अति प्रबल होत पुर, पय सों अनल डढ़्यों ।
जरि किन होत भस्म छन महियों हा हरि, मन्त्र पढ़्यो ।

वक्तृवैशिष्टयोत्पन्न व्यंग्यसभवा—इस प्रकार की व्यजना मे व्यग्यार्थ के सहारे व्यजना का चमत्कार उत्पन्न किया जाता है—

तब तें इन सबहिन सचु पायो ।
जब तें हरि सदेस तिहारो, सुनत तांवरो आयो ।
फूले व्याल, दुरे ते प्रगटे, पवन पेट भरि खायो ।
ऊचे बैठि विहंग सभा विच, कोकिल मंगल गायो ।

बोद्धकवैशिष्टयोत्पन्न वाच्यसंभवा—इस प्रकार की व्यंजना मे श्रोता की विशिष्टता के माध्यम से व्यजना का चमत्कार उत्पन्न किया जाता है—

तुमहि मधुप गोपाल दुहाई ।
कबहूँक स्याम करत यहाँ को मन ।
किधों निपट चित सुधि बिसराई ।

वाक्यवैशिष्टयोत्पन्न वाच्यसंभवा—इस प्रकार की व्यंजना मे वक्तव्य की विशिष्टता से व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है । उदाहरण देखिए—

काहे कों गोपीनाथ कहावत ।
जो पै मधुकर कहत हमारे गोकुल काहे न आवत ।

प्रस्ताव वैशिष्टयोत्पन्न वाच्यसभवा—इस प्रकार की व्यंजना मे प्रकरणवश वक्ता के वचनो से व्यग्यार्थ की प्रतीति होती है

पथिक ! संदेसो कहियो जाय ।
आवेंगे हम दोनों भैया, मैया जनि अकुलाय ।



भ्रमर-गीत-सार

पहिले करि परनाम नन्द सों समाचार सब दीजो।
और वहाँ वृषभानु गोप सों जाय सकल सुधि लीजो।
श्रीदामा आदिक सब ग्वालन मेरे हुतो भेंटियो।
सुख-संदेस सुनाय हमारो गोपिन को दुख मेटियो।
मंत्री इक वन बसत हमारो ताहि मिले सचु पाइयो।
सावधान ह्वै मेरे हूतो ताही माथ नवाइयो।
सुन्दर परम किसोर वयक्रम चचल नयन बिसाल।
कर मुरली सिर मोरपंख पीताम्बर उर बनमाला।
जनि डरियो तुम सघन बनन मै ब्रजदेवी रखवार।
वृन्दावन सो बसत निरन्तर कबहुँ न होत नियार।
उद्धव प्रति सब कही स्यामजू अपने मन की प्रीति।
सूरदास कृपा करि पठए यहै सकल ब्रजरीति॥ १॥

शब्दार्थ—परनाम=प्रणाम। दीजो=देना। बृषभानु गोप=राधा के पिता। सकल=सम्पूर्ण। हुतो=ओर से। सचु=सुख। ताही=उसको। माथ नवाइयो=मस्तक झुकाना। वयक्रम=अवस्था। जनि=मत। रखवार=रक्षा करने वाली। नियार=पृथक्। प्रति=से। व्रज रीति=व्रजपद्धति।

प्रसग—सूरदास प्रणीत 'भ्रमरगीत' का यह प्रारम्भिक पद है। भगवान् श्रीकृष्ण को अपने माता-पिता एव गोपिकाओ की सुध हो आई है। इसी कारण वह अपने ज्ञानी सखा उद्धव को दूत बना कर व्रज-वासियो एव प्रिय जनो की कुशल-क्षेम ज्ञात करने के लिए भेज रहे है। प्रस्थान करने से पूर्व वह उद्धव को व्रज की रीति-नीति से अवगत करा रहे है।

व्याख्या—श्रीकृष्ण उद्धव को समझा रहे है कि व्रज पहुँचने पर सबसे पहले तुम नन्द बाबा को प्रणाम करके सारा समाचार कह सुनाना। इसके पश्चात् वहाँ राधा के पिता वृषभानु गोप के पास जाकर उनका सम्पूर्ण कुशल-क्षेम मालूम करना। मेरी ओर से श्रीदामा आदि सभी से मिलकर स्नेहवद्ध

प्रणाम करना। साथ ही गोपियो को हमारा सुख-सन्देश अर्थात् कुशल समाचार सुनाकर उनका विरह-जन्य दुख-सन्ताप दूर करना। वहाँ वन मे हमारा एक मत्री (यहाँ राधा से अभिप्राय है) रहता है, उससे मिलकर सुख प्राप्त करना। जव तुम उसके सम्मुख जाओ तो हमारी ओर से मस्तक नवाकर प्रणाम करना। श्रीकृष्ण का उद्धव को सावधान करने का कारण यह है कि कही वह राधा से मिलकर भ्रम मे न पड़ जाएँ क्योकि वह उनका वेप धारण करके ही वहाँ विचरती रहती है।

हमारा वह मन्त्री अत्यन्त सुन्दर एवं किशोरावस्था का है। उसके नेत्र चंचल और वड़े-वड़े हैं। वह हाथ मे मुरली, सिर पर मोर पंख, शरीर पर पीताम्वर और हृदय मे (गले मे) वनमाला धारण करता है। वह अत्यन्त सघन वन में निवास करता है। तुम वहाँ जाकर उससे मिलना। वन मे जाने के लिए डरने का कोई कारण नही क्योकि व्रजदेवी वहाँ सवकी रक्षा करती है, इसलिए चिन्ता का कोई कारण नही। वह व्रजदेवी सदा वृन्दावन मे निवास करती है और वहाँ से कभी पृथक् नही होती। कृष्ण ने उद्धव से अपने मन की समस्त प्रेममयी स्थिति का स्पष्टीकरण किया। सूरदास जी कहते हैं कि इस प्रकार श्रीकृष्ण ने कृपा करके उद्धव को सारी व्रजरीति समझाकर व्रज भेजा और उनसे कहा कि वह इसी के अनुसार व्यवहार करे।

विशेष—(१) इस पद की पाँचवी पक्ति मे प्रयुक्त 'मंत्री' शब्द विवादास्पद है। काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा सम्पादित 'सूर-सागर' मे 'मंत्री' के स्थान पर 'मित्र' शब्द का प्रयोग हुआ है। पाठ इस प्रकार है—

'मित्र एक वन वसत हमारे। ताहि मिले सुख पाइहौ।
करि करि समाधान नीकी विधि, मौ कौं माथे नाइहौ।।'

(२) यहाँ मंत्री' से अभिप्राय' स्पष्टत. राधा से है। शुक्ल जी ने 'मंत्री' का अर्थ कृष्ण से लिया है जो उचित नही जान पडता। उनके मतानुसार ब्रह्म के दो रूप है रसरूप एंव ऐश्वर्य रूप। उद्धव ने कृष्ण के ऐश्वर्य रूप को देखा था। कृष्ण चाहते थे कि वह उनके उस रूप को भी देखे तभी उन्होने उद्धव को व्रज भेजा क्योकि वहाँ वह सदा रस रूप मे निवास करते है। यहाँ 'मत्री' शब्द का प्रयोग करके सूरदास जी ने इसी तथ्य की ओर सकेत किया है तो फिर 'मत्री' शब्द से राधा का अभिप्राय किस प्रकार ग्रहण किया जा सकता

है ? इसका उत्तर यह है कि कृष्ण-भक्तो मे राधा को कृष्ण का अविभक्त अग स्वीकार किया गया है। कृष्ण एवं राधा एक ही आदिशक्ति के दो रूप है इसलिए परस्पर अभिन्न है।

(३) भक्ति की चरमावस्था में भक्त और भगवान् में कोई अन्तर नही रह जाता, भक्त भगवान् का स्वरूप धारण कर लेता है। राधा भी कृष्ण का रूप धारण करके इसी अवस्था को प्राप्त हो गई है। विद्यापति ने भी राधा की इस चरमावस्था का वर्णन किया है—"राधा माधव, माधव राधा, राधा भेल मधाई।"

उद्धव ने व्रज मे राधा के इसी रूप के दर्शन किए थे। तभी तो मथुरा लौटकर वह कृष्ण से कहते है—

'व्रज में एक अचम्भौ देख्यौ।
मोर मुकुट पीताम्वर धारे, तुम गाइनि संग पेख्यौ।
गोप बाल संग धावत तुम्हरैं, तुम घर घर प्रतिजात।
दूध दही अरु मही लै ढारत, चोरी माखन खात॥
गोपी सब मिलि-पकरति तुमकौ, तुम छुड़ाई कर भागत।
सूर स्याम नित प्रति यह लीला, देखि देखि मन लागत॥'

कहियो नन्द कठोर भए।
हम दोउ बीरैं डारि पर-घरैं मानो थाती सौंपि गए।
तनक-तनक त पालि बड़े किए बहुतै सुख दिखराए।
गोचारन को चलत हमारे पाछे कोसक धाए।
ये बसुदेव देवकी हमसों कहत आपने जाए।
बहुरि विधाता जसुमतिजू के हमहिं न गोद खिलाए।
कौन काज यह राज, नगर को सब सुख सो सुख पाए।
सूरदास व्रज समाधान करु आजु कालिह हम आए॥ २॥

शब्दार्थ—बीरैं=भाई। परघरैं=दूसरे के घर मे, मथुरा मे। थाती=धरोहर, अमानत। तनक-तनक तै=छोटे-छोटे से। कोसक=एक कोस या कोस भर। धाए=दौडे आते थे। बहुरि=फिर। जसुमति=यशोदा माता। समाधान=सान्त्वना, तसल्ली, प्रबोध। आजु कालिह=आज कल ही मे।

प्रसंग—पूर्ववत् ही है। कृष्ण उद्धव को समझाते हुए कह रहे है।

व्याख्या—हे उद्धव ! तुम नन्द वावा से यह कहना कि वह इतने कठोर क्यो हो गए हैं। वह हम दोनो भाइयो—कृष्ण-वलदेव को पराए घर मथुरा ने इस प्रकार डाल गए हैं जैसे कोई किसी की धरोहर लौटा कर एकदम निश्चिन्त हो जाता है और पुन· उसकी कोई खोज-खवर नही लेता। कहने का भाव यह है कि हम दोनो भाइयो के प्रति अव उनका कोई अनुराग नही रह गया है। हम वहुत छोटे-छोटे से थे जव उन्होने हमारा पालन-पोषण आरम्भ किया था। हमे पाल-पोस कर उन्होने हम दोनो को अनेक सुख प्रदान किए किन्तु आज न जाने उन्हे क्या हो गया है जो हमें इस प्रकार विस्मरण कर वैठे हैं।

देखो न ! जव हम गाय चराने के निमित्त वन को जाते थे तो वह हमें छोडने के लिए कोस-कोस भर हमारे पीछे दौडे जाते थे। तव तो उनका हमारे साथ इतना स्नेह था किन्तु अव न जाने उन्हे क्या हो गया है। यहाँ ये वसुदेव-देवकी हमे अपना आत्मज कहते है। ये लोग हमें ब्रह्म समझे वैठे हैं और कहते है कि यशोदा माता ने अपनी गोद मे नही खिलाया।

श्रीकृष्ण आगे कहते हैं कि हमने इस नगर के सम्पूर्ण सुखो को भली प्रकार भोग लिया है। हमारे लिए यह सुख-भोग सव व्यर्थ हैं क्योकि व्रज के सुखो की तुलना मे ये थोथे सुख महत्वहीन हैं, इनका कोई मूल्य नही। सूरदास जी कहते है कि श्रीकृष्ण उद्धव से कह रहे हैं कि तुम व्रजवासियो को हमारा कुशल समाचार देना और उनको सान्त्वना देते हुए यह कहना कि हम आजकल ही मे अर्थात् शीघ्र ही वृन्दावन आकर उनसे मिलेगे।

विशेष—(१) सम्पूर्ण पद मे 'स्मृति' नामक सचारी भाव का अत्यन्त सुन्दर चित्रण हुआ है।

(२) 'ये वसुदेव-देवकी' पक्ति मे श्रीकृष्ण की नवीन नागरिक परिस्थितियो के प्रति विरक्ति, नन्द-यशोदा को वास्तविक माता-पिता समझना, उनका वाल-सुलभ भोलापन आदि विशेषताएँ अभिव्यक्त होती हैं। 'ये' शब्द का प्रयोग कृष्ण का वसुदेव-देवकी के प्रति आक्रोश एव विरक्ति की भावना का द्योतन करते हुए-सम्पूर्ण पद को आकर्षण प्रदान कर रहा है।

(३) 'वहरि विधाता जसुमतिजू के हमहिं न गोद खिलाए' पंक्ति का यह अर्थभी हो सकता है कि विधाता ने हमे यशोदा मैया की गोद में पुनः खेलने

का अवसर न प्रदान करके परमसुख से वंचित कर दिया है।

(४) सूर के कृष्ण के समान रत्नाकर के कृष्ण भी राजा के पद को हेय एवं तुच्छ समझते हैं—

'प्यारो नाम गोविन्द को बिहाय,
हाय, ठाकुर त्रिलोक के कहाइ करि हैं कहा।'

(५) इस पद मे बाल्यकालीन मधुर स्मृतियों का यथातथ्य एवं हृदयग्राही वर्णन उपलब्ध होता है।

(६) मार्मिकता एवं स्वाभाविकता की दृष्टि से यह पद अद्वितीय है।

अलंकार—'मानो थाती सौंपि गए'—वस्तूत्प्रेक्षा।

तबहिं उँपगसुत आय गए।
सखा सखा कछु अन्तर नाहीं भरि-भरि अंक लए।
अति सुन्दर तन स्याम सरीखो देखत हरि पछिताने।
ऐसे को वैसी बुधि होती ब्रज पठवैं तब आने॥
या आगे रस-काव्य प्रकासे जोग वचन प्रगटावैं॥
सूर ज्ञान दृढ़ याके हिरदय जुवतिन जोग सिखावैं॥ ३॥

शब्दार्थ—उपगसुत=उद्धव। अंक लए=आलिंगनबद्ध होकर भेंट की। सरीखो=समान। वैसी बुधि=रागात्मक चेतना। आने=अन्य विषय को लेकर। पठवैं=भेजें। या=इसके। रस-काव्य=प्रेम की कवित्वपूर्ण बातें। प्रकासे=प्रगट करते समय। याके हृदय=इसके हृदय मे।

प्रसंग—भगवान श्रीकृष्ण ब्रज की सुधि-स्मृति मे निमग्न हैं और किसी को ब्रज भेजना चाहते हैं—

व्याख्या—कृष्ण ब्रज की स्मृतियों मे डूबे हुए भाव-विभोर हो रहे थे, उसी समय उद्धव वहाँ पर आ गए। दोनो में शारीरिक रूप से तनिक भी अन्तर दृष्टिगत नही हो रहा था। दोनो परस्पर स्नेहपूर्वक आलिंगनबद्ध हो गए, एक-दूसरे से स्नेहपूर्वक मिले। उद्धव का शरीर अत्यन्त सुन्दर और कृष्ण के समान श्यामल द्युतिवाला था। यह देख कर कृष्ण मन ही मन पछताए। उन्होने सोचा कि यदि इसमें शारीरिक सौन्दर्य के साथ बुद्धि और विवेक भी होता तो कितना अच्छा था। अर्थात् इसकी बुद्धि ज्ञान पर आधारित न होकर

प्रेममार्गीय भक्ति भावना पर आधारित होती तो उत्तम था। इसलिए उन्होंने उद्धव को किसी अन्य कारण हेतु व्रज भेजने का निश्चय किया क्योंकि वहाँ जाने पर ही इनकी योगमार्गी बुद्धि का सस्कार होना सम्भव था और तभी यह प्रेमानुगा भक्ति का भली-भाँति परिपालन कर सकेंगे। यह उद्धव तो ऐसे है कि यदि इनके सम्मुख प्रेम की रस सिक्त वाणी सुनाएँ तो यह योग की नीरस चर्चा करने लगेगे और इस प्रकार वक्ताश्रोताओ को उबा देगे। इनके हृदय मे ज्ञान अर्थात् योगमार्गीय आस्था इतनी दृढ है कि यदि इन्हे व्रज भी भेजा गया तो वह व्रजवासियो को भी योग की शिक्षा-दीक्षा ही देना आरम्भ कर देगा। किन्तु सम्भव है कि वहाँ गोपिकाओ के अनन्य प्रेम-अनुराग को देखकर इसका योग खण्डित हो जाए और यह प्रेम-मार्ग की महत्ता स्वीकार करके उसे अपना ले।

विशेष—(१) इस पद के भाव को देख कर लगता है कि यह भ्रमरगीत का आरम्भिक पद है, शुक्ल जी ने इसे ठीक क्रम मे नही रखा। क्योकि इसी पद मे कृष्ण ने अभी उद्धव को व्रज भेजने का निश्चय किया है जब कि पूर्वपदों में उन्हे व्रजरीति बताई गई है, भेजने के निश्चय से पूर्व यह किस प्रकार सम्भव था ?

(२) 'वैसी बुद्धि' से तात्पर्य प्रेम-मार्गीय भक्ति से है। यह पद 'भ्रमरगीत' की मूल-भावना को अभिव्यक्त करता है। वस्तुतः कवि का उद्देश्य उद्धव के माध्यम से प्रेमानुगा भक्ति का प्रतिपादन कराना है।

(३) डा० शकरदेव अवतरे इस पद पर टिप्पणी करते हुए लिखते हैं कि "जिस प्रकार 'मुखमनक्षर स्वीकृते' सूक्ति के अनुसार सुन्दर मुख वाला व्यक्ति वे पढ़ा-लिखा होने पर ज्ञानियो के लिए शोच्य होता है, उसी प्रकार नीरस होने पर वह सहृदयो के लिए दुखदायी होता है किन्तु यदि सुन्दर पर नीरस व्यक्ति के साथ सरस व्यक्ति की घनिष्ठता हो तो उसका दर्द (सरस का) भी उसी अनुपात में सघन हो जाता है। यहाँ उद्धव के सम्बन्ध मे कृष्ण के मन को वही दुश्चर्वणा प्रस्तुत है।"

हरि गोकुल की प्रीति चलाई।
सुनहु उँपगसुत मोहि न बिसरत ब्रजवासी सुखदाई।
यह चित होत जाउं मै अबही, यहाँ नहीं मन लागत।

गोप सुग्वाल गाँय बन चारत अति दुख पायो त्यागत ।
कहं माखन-चोरी ? कह जसुमति 'पूत जेंव' करि प्रेम ।
सूर स्याम के वचन सहित सुनि ब्यापत आपन नेम ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—प्रीति चलाई=प्रीति-प्रसंग की चर्चा की। बिसरत=भूलता। सुखदाई=सुख प्रदान करने वाले। चित होत=मन करता है। जेंव=खाओ। सहित=प्रेमपूर्ण। आपन नेम=अपना नियम अर्थात् उद्धव का योग-मार्ग का नियम।

प्रसंग—इस पद में कृष्ण उद्धव से व्रजवासियो के प्रेम की चर्चा करते हुए चित्रित किए गए हैं।

व्याख्या—उद्धव के आ जाने पर श्रीकृष्ण ने उनके सम्मुख गोकुल का प्रेम-प्रसग छेड़ दिया अर्थात् गोकुल के प्रेम की चर्चा आरम्भ की। वे कहने लगे, हे उद्धव ! सुनो। मुझे व्रजवासी और उनका मेरे प्रति प्रेम भुलाए नही भूलता। वे मेरे मन मे सदैव बसे रहते हैं, क्योकि उन्होने अपने प्रेम से मुझे सदा सुख पहुँचाया है। इसी कारण मेरा मन यहाँ नही लगता, इच्छा होती है कि तुरन्त वहाँ चला जाऊँ। वहाँ मैं गोप-ग्वालो के साथ वन मे गाएँ चराने जाया करता था। उनसे बिछुडते समय मुझे अति दुख हुआ था। आज भी हे उद्धव ! मुझे व्रज की अनेक बातें बरबस स्मरण हो आती है। न तो अब वह माखन चोरी है और न ही यहाँ कोई ऐसा स्वजन है जो माता यशोदा के समान अत्यन्त प्रेम के साथ आग्रह करके कहे कि बेटा ले खा ले।

सूरदास जी कहते है कि कृष्ण के प्रेम से सिक्त वचनो को सुनकर भी उद्धव अपनी नियम-साधना मे निमग्न रहे—उनका मन अपने योगमार्ग के विधि विधानों मे डूबा रहा—अर्थात् उद्धव ने कृष्ण के इस प्रेममार्ग को महत्व न देकर हेय समझा। योगमार्गी उद्धव का प्रेम-भावना की ओर ध्यान न देना स्वाभाविक ही था क्योकि उनकी दृष्टि मे प्रेमभावना सासारिक मोहमात्र ही था जिसका तिरस्कार करना ही उचित है।

विशेष—(१) 'हरि गोकुल की प्रीति चलाई' पक्ति से यह ध्वनित होता कि कृष्ण प्रेम-प्रसग की चर्चा चला कर उद्धव के मन की थाह ले रहे है। इस के माध्यम से कृष्ण उद्धव को यह भी बता देना चाहते है कि व्रज मे व्यर्थ ही योगमार्ग की चर्चा न चलाएँ, वहाँ इसका कोई परिणाम नही निकलेगा।

(२) इस पद से स्पष्ट है कि कृष्ण ब्रज को भूले नहीं, माता-यशोदा के स्नेह-दुलार के लिए उनका हृदय बार-बार व्याकुल हो उठता है। वह उन्हें भूलने मे असमर्थ है। 'कहँ माखन चोरी ? कहि जसुमति' 'पूत जेंव करि प्रेम' पंक्ति में उनके हृदय की व्यथा स्पष्टतः अभिव्यक्त हुई है।

जदुपति लख्यो तेहि मुसकात।
कहत हम मन रही जोई सोइ भई यह बात।
वचन परगट करन लागे प्रेम-कथा चलाय।
सुनहु उद्धव मोहिं ब्रज की सुधि नहीं विसराय।
रैनि सोवत, चलत, जागत लगत नहिं मन आन।
नन्द जसुमति नारि नर ब्रज जहाँ मेरो प्रान।
कहत हरि, सुनि उपंगसुत ! यह कहत हौं रसरीति।
सूर चित तें टरति नाहीं राधिका की प्रीति ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—जदुपति=कृष्ण। लख्यो=देखा। तेहि=उसको, उद्धव को। जोई=जो। रैनि=रात्रि। आन=अन्यत्र।

प्रसंग—पूर्ववत् ही है। श्रीकृष्ण उद्धव से ब्रज के विषय में बात-चीत कर रहे है।

व्याख्या—श्रीकृष्ण की प्रेम-दुर्बलता को देख कर उद्धव मुस्करा पड़ते है। यह मुस्कराहट उद्धव की सैद्धान्तिक विजय की सपद अभिव्यक्ति थी जिसे कृष्ण ने ताड़ लिया। फलतः कृष्ण ने उसे उछाल देने के लिए अपने प्रेम का व्यामोह और भी खोल कर रख दिया। जिसे पीछे 'मंत्री' पद से संकेतित किया गया था। उस राधिका का यहाँ नाम रतिनिष्ठा के साथ कृष्ण ने लिया है। इससे उद्धव का गर्व पूरे आयाम के साथ अपने कर्त्तव्य का सारम्भ पाता है जो काव्य की प्रबन्धता को अत्यन्त चुस्त बना देता है।

श्रीकृष्ण ने उद्धव को प्रेम-प्रसंग की चर्चा पर मुस्कराते हुए देख लिया। वह अपने मन मे सोचने लगे कि हमने उद्धव के विषय मे जो धारणा निश्चित की थी, वह आज सत्य प्रमाणित हो रही है, क्योंकि उनका यह मुस्कराना स्पष्ट करता है कि वह दृढ़ योगमार्गी है। इतने पर भी उन्होंने अपने मन के भावो को हृदय मे दबाए रखा और पुनः ब्रजवासियों की प्रेमकथा की चर्चा आरम्भ कर दी। वह कहने लगे, "हे उद्धव ! मैं ब्रज की स्मृति को भुला

पाने मे सर्वथा असमर्थ हूँ। रात्रि में सोते समय, दिन मे जागते समय और इधर-उधर घूमते समय मै व्रज की स्मृति ही मे डूबा रहता हूँ, मेरा मन अन्यत्र कही नही लगता। जहाँ व्रज मे नन्द बाबा, यशोदा माता तथा अन्य नर-नारियाँ—अर्थात् गोप-गोपिकाएँ निवास करती है, वही उन्ही के पास मेरे प्राण रहते है—मैं सदैव उनकी स्मृति मे खोया रहता हूँ, ऐसा लगता है कि इनके अतिरिक्त मेरा कोई स्वतन्त्र अस्तित्व ही नही है। हे उद्धव, सुनो ! मै तुम्हारे सम्मुख प्रेम की रीति का वर्णन करता हूँ। मेरे हृदय से राधा की प्रीति क्षण भर के लिए भी दूर नही हो पाती। कवि का कहने का आशय यह है कि प्रेम की रीति ही ऐसी है कि प्रेमी निरन्तर अपने प्रिय के ध्यान में निमग्न रहे। मै यहाँ राधा से दूर हूँ। किन्तु वस्तुत मै उसे क्षण भर के लिए भी विस्मृत नही कर पाता।

विशेष—इस पद मे कृष्ण अत्यन्त लाघव के साथ राधा को सम्पूर्ण गोपिकाओ में अनन्य स्थान की अधिकारिणी घोषित करते हुए उसके प्रति अपनी अनन्य प्रीति की व्यजना कर रहे है।

सखा ? सुनो मेरी इक बात।
वह लतागन सग गोपिन सुधि करत पछितात।
कहाँ वह वृषभानुतनया परम सुन्दरगात।
सुरति आए रासरस की अधिक जिय अकुलात।
सदा हित यह रहत नाहीं सकल मिथ्या-जात।
सूर प्रभु यह सुनो मोसों एक ही सों नात ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—लतागन=लताओ का समूह। वृषभानुतनया=वृषभानु गोप की पुत्री राधा। गात=शरीर। सुरति=स्मृति। रासरज=आनन्द विहार, क्रीडा-केलि। जिय=हृदय। अकुलात=व्याकुल हो जाता है। सकल=समस्त, सम्पूर्ण। मिथ्या जात=मिथ्या भावना के कारण उत्पन्न, भ्रमरूप। नात=नाता, सम्बन्ध।

प्रसग—पूर्ववत्। श्रीकृष्ण उद्धव से व्रज की चर्चा करते हुए राधा के विषय में अपनी प्रेम-भावनाएँ व्यक्त कर रहे है।

व्याख्या—श्रीकृष्ण ने उद्धव से कहा कि हे सखा ! मेरी एक बात सुनो। के लताकुजो में मैंने गोपिकाओ के साथ अनेक प्रकार की रासलीलाएँ की है।

उन मधुर क्षणों को स्मरण कर मैं पश्चाताप करता रहता हूँ कि उन्हें और उनके साथ व्यतीत होने वाली आनन्द की घडियो को छोड कर यहाँ क्यो आ गया ? वह सुन्दर और आकर्षक शरीर वाली वृषभानुतनया राधा यहाँ कहाँ है ? जब मुझे ब्रज मे गोपियो और राधिका के साथ किए गए आनन्द-विहार की स्मृति हो आती है तो हृदय और भी आकुल-व्याकुल हो उठता है ।

कृष्ण की इन प्रेम रसपूर्ण बातो को सुन कर ज्ञानमार्गी उद्धव उनसे कहते है, 'हे मित्र ! प्रेम सदा एक-सा और स्थिर नही रहता क्योकि यह ससार जिसके प्रति यह प्रेम उत्पन्न होता है, भ्रम है। अत. मिथ्या ससार के प्रति उत्पन्न प्रेम भी अस्थिर और भ्रममात्र है। हे कृष्ण ! तुम मेरी एक बात सुनो, वह यह कि केवल एक ब्रह्म से सम्बन्ध रखो क्योकि वही नित्य, स्थायी, सर्वत्र विद्यमान और स्थिर है तथा वही सत्य एव शाश्वत है ।

विशेष—(१) वस्तुत. यह पद आगे आने वाले ज्ञान और भक्ति के विवाद की भूमिका है। ज्ञान के प्रतिनिधि उद्धव कृष्ण के प्रेम का उपहास करते हुए 'ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या' के सिद्धान्त का प्रतिपादन कर रहे हैं। यही विवाद आगे चल कर गोपी-उद्धव सवाद मे परिवर्तित हो जाता है ।

(२) 'मेरी इक बात' प्रयोग अत्यन्त सारगर्भित है। इससे कृष्ण, उद्धव के ध्यान को सब ओर से खीच कर अपने प्रति केन्द्रित करना चाहते हैं। इस पक्ति का 'एक सो नात' कहकर उतनी ही गहनता से उत्तर भी दिया गया है। कृष्ण की दृष्टि मे प्रेम ही सब कुछ है और उद्धव की दृष्टि मे ब्रह्म सत्य है, बाकी सब-कुछ मिथ्या है ।

(३) कृष्ण अत्यन्त मनोवैज्ञानिक ढग से प्रेम की बारम्बार चर्चा करके ज्ञानमार्गी उद्धव को उकसाना चाह रहे हैं कि उन्हे ब्रज भेजकर प्रेम के सात्विक रूप के दर्शन दिलाएँ और इस प्रकार उनका ज्ञान-गर्व खण्डित हो सके ।

उद्धव ! यह मन निस्चय जानो ।
मन क्रम वच मैं तुम्हें पठावत ब्रज को तुरत पलानो ।
पूरन ब्रह्म, सकल, अविनासी ताके तुम हो ज्ञाता ।
रेख, न रूप, जाति, कुल नाहीं जाके नहिं पितु माता ।
यह मत दै गोपिन कह आवहु बिरह नदी मे भासति ।
सूर तुरत यह जाय कहो तुम ब्रह्म बिना नहिं आसति ॥ ७ ॥

शब्दार्थ— क्रम=कर्म । वच=वचन । पठावत=भेजताहूँ । तुरत =तुरन्त । पलानौ=जाओ, प्रस्थान करो । अविनाशी=जिसका नाश न हो सके । जाके=जिसके । ज्ञाता=जानकर । भासति=डूबती हैं । आसति= सामीप्य, मुक्ति ।

प्रसंग—उद्धव ने कृष्ण के मन के मर्म को न समझा और बार-बार ब्रह्म की महत्ता की रट लगाते रहे, तो कृष्ण ने उनसे कहा कि—

व्याख्या—हे उद्धव ! तुम अपने मन में यह निश्चय जानो कि मैं सम्पूर्ण सद्भावना एवं मन-वचन, कर्म के साथ ब्रज भेज रहा हूँ, इसलिए तुम तुरन्त वहाँ के लिए प्रस्थान करो । कवि के कहने का भाव यह है कि कृष्ण उद्धव को सच्चे हृदय से ब्रज जाने के लिए कह रहे हैं । इससे उन्हे दो कार्यो की सिद्धि अभीप्ट है । एक तो उन्हें वहाँ का कुशल समाचार प्राप्त हो जायेगा और दूसरा यह कि गोपियो के अनन्य प्रेम को परख कर ज्ञान-गर्वित उद्धव प्रेम के सरल, सीधे मार्ग का महत्त्व जान सकेगे । कृष्ण कहते हैं, तुम्हारा ब्रह्म पूर्ण, अनीश्वर और अखण्ड रूप है तुम्हे ऐसे अविनाशी ब्रह्म का पूर्ण ज्ञान प्राप्त है । तुम्हारे ब्रह्म की न तो कोई रूपरेखा है, न ही कोई कुल-वश है और न ही उसके कोई माता-पिता हैं । कहने का भाव यह है कि तुम्हारा ब्रह्म अनादि, अखण्ड अजर, अमर, और पूर्ण है । वह सब प्रकार के सासारिक सम्वन्धो से अछूता एव स्वतत्र है । इसलिए कृपा करके तुम अपना यह ब्रह्म-विषयक ज्ञान ब्रज-वल्लभियो को जाकर सुना आओ । तुम वहाँ शीघ्र जाकर गोपिकाओ को समझा-बुझा आओ, क्योकि वे मेरे विरह मे निमग्न होकर विरह की नदी मे डूब रही है । तुम तुरन्त उनसे जाकर कहो कि ब्रह्म के बिना जीवन मे मोक्ष प्राप्त नही हो सकता । वह ब्रह्म ही जीवन का सारतत्व है । तुम उन्हे जाकर यह समझाओ कि प्रेम-भाव त्यागकर अविनाशी ब्रह्म का ध्यान करे और उसी में अपनी समस्त शक्ति लगा दे, तभी उन्हे मोक्ष प्राप्त हो सकेगा अन्यथा नही ।

विशेष— (१) इस पद मे कृष्ण अभीष्ट कार्य की सिद्धि के लिए उद्धव को 'चग पर' चढा रहे हैं ।

(२) निर्गुण-सम्प्रदाय के अनुसार ब्रह्म बिना मुक्ति असम्भव है :
'ऋते ज्ञानान्नमुक्तिः'

अलंकार—'विरह-नदी'···निरंग रूपक ।

उद्धव ! बेगि ही ब्रज जाहु ।
सुरति संदेस सुनायँ मेटो वल्लभिन को दाहु।
काम पावक तूलमय तन बिरह-स्वास समीर।
भसम नाहिन होन पावत लोचनन के नीर।
अजौं लौं यहि भाँति ह्वै है कछुक सजग सरीर।
इते पर बिनु समाधाने क्यों धरैं तिय धीर।
कहौ कहा बनाय तुमसों सखा साधु प्रवीन ?
सूर सुमति बिचारिए क्यों जियँ जल बिनु मीन ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—बेगि=शीघ्र। जाहु=जाओ। सुरति=प्रेम। वल्लभिन= गोपियाँ। दाहु=विरहजन्य पीड़ा। काम पावक=कामाग्नि, काम की उत्तप्त ज्वाला। तूलमय=रुई के समान कोमल। तन=शरीर। समीर=वायु। लोचन=नेत्रों के। नीर=जल, आँसुओं का पानी। अजौं लौं=आज तक। ह्वै है=होगा। समाधान=सान्त्वना देना, तसल्ली कराना। तिय=नारियाँ व्रजवलभियाँ। धीर=धीरज, हौसला। साधु=सज्जन। प्रवीन=निपुण, ज्ञानी। मीन=मछलियाँ।

प्रसंग—श्रीकृष्ण उद्धव को व्रज भेजते समय बता रहे हैं कि वह शीघ्र वहाँ जाये और विरह मे सतप्त गोपिकाओ को तसल्ली दे।

व्याख्या—हे उद्धव ! शीघ्र ही ब्रज चले जाओ तथा वहाँ जाकर व्रज की नारियो को मेरा सन्देश सुनाओ जिससे उनके चित्त में स्थित विरह-जन्य पीडा समाप्त हो सके। उनके रुई के समान कोमल शरीर कामाग्नि मे प्रज्ज्वलित हो रहे है। विरहातिरेक के कारण उनकी तीव्र साँसे वायु के समान उनकी कामाग्नि को ओर भी भड़का रही है परन्तु उनके नेत्रो से होने वाली आँसुओ की वर्षा के कारण उनके शरीर कामाग्नि मे जलने से बच गए हैं। कवि का कहने का भाव यह है कि गोपियाँ रोकर अपने हृदयस्थित विरह-ताप को हल्का कर लेती है और इस प्रकार उनका जीवन नष्ट होने से बच जाता है।

हे उद्धव ! इसी कारण उनके शरीर मे अभी तक कुछ सजगता शेष है किन्तु इस सजगता का सदा बना रहना कठिन है। इसलिए यदि उन्हे शीघ्र ढाढस न बधाया गया तो उनके लिए धैर्य धारण करना कठिन हो जायेगा।

हे सखा ! अब मैं तुम्हें कैसे समझाऊँ और किस प्रकार बताकर कहूँ। तुम स्वयं ही साधु-स्वभाव के और विवेकशील हो, इसलिए मेरे मन के भावों को समझ लेना तुम्हारे लिए कोई कठिन कार्य नहीं। तुम अपनी विवेकशक्ति के बल पर स्वयं ही विचार करो कि बिना जल के मछलियाँ किस प्रकार जीवित रह सकती हैं ? अर्थात् जिस प्रकार जल से विलग होकर मछली का जीवन नहीं चलता उसी प्रकार मेरे बिना गोपिकाओं का जीवन भी चलना कठिन है। मैं ही उनका सर्वस्व हूँ। अतः तुम शीघ्र जाकर उन्हें मेरा प्रेम-सन्देश सुनाकर सांत्वना दो।

विशेष—(१) 'कहौ कहा······प्रबीन' पंक्ति में व्यंग्यार्थ की छटा देखने योग्य है।

(२) इस पद में कृष्ण ने स्वयं गोपियों की विरहावस्था का मार्मिक चित्र प्रस्तुत किया है।

(३) इस पद के विषय में डा० अवतरे ने कहा है कि विरह वेदना पुरुष को भी नचा देती है, नारी का तो कहना ही क्या। इसीलिए नारियों को प्रबोध की अधिक आवश्यकता पड़ती है। 'सखा साधु-प्रबीना' में 'परिकर' अलंकार से विशेष अवधारणा की प्रार्थना वस्तुरूप में व्यंजित है। सखा होने के नाते, मेरी अभ्यर्थना को अन्यथा ग्रहण न करोगे और प्रवीण होने के नाते तुम वस्तुस्थिति का सम्यक् बोध करने में समर्थ हो।

अलंकार (१) 'काम पावक······समीर'—सांगरूपक।

(२) 'भस्म······नीर'—काव्यलिंग।

(३) 'सूर······मीन'—अप्रस्तुत प्रशंसा।

पथिक ! संदेसो कहियो जाय।
आवैंगे हम दोनों भैया, मैया जनि अकुलाय।
याको बिलगु बहुत हम मान्यो जो कहि पठयो धाय।
कहँ लौं कीर्ति मानिए तुम्हरी बड़ो कियो पय प्याय।
कहियो जाय नन्द बाबा सों, अरु गहि पकरयो पाय।
दोऊ दुखी होन नहिं पावहिं धूमरि धौरी गाय॥
यद्यपि मथुरा बिभव बहुत है तुम बिन कछु न सुहाय।
सूरदास ब्रजबासी लोगनि भेंटत हृदय जुड़ाय॥ ६॥

शब्दार्थ—पथिक=यात्री, उद्धव। जनि=मत। अकुलाय=व्याकुल हो।

विलगु=बुरा। याको=इसका। धाय=दाई, पालने-पोसने वाली नौकरानी। पय=दूध। धूमरि=काली। धौरी=सफेद। विभव=ऐशो-आराम। सुहाय=अच्छा लगता। जुडाय=प्रसन्न होता है।

प्रसग—उद्धव व्रज के लिए प्रस्थान करने वाले हैं। श्रीकृष्ण उनसे नन्द बावा एव यशोदा माता के लिए सन्देश कह रहे है।

व्याख्या—हे पथिक, उद्धव! तुम व्रज जाकर हमारा यह सन्देश कहना है कि हम दोनो भाई व्रज मे सबसे मिलने शीघ्र आवेंगे। माता यशोदा से कहना कि वह व्याकुल न हो। उनसे जाकर यह कहना कि उन्होने माता देवकी को जो 'धाय' कहकर सन्देश भेजा है उसका हमने बहुत बुरा माना है। उनसे यह भी कहना कि हे माता, तुम्हारी कीर्ति का मैं कहाँ तक वर्णन करूँ। वह तुम ही हो जिसने हमे दूध पिला कर इतना बडा किया है।

हे उद्धव! तुम नन्द बावा से उनके चरण पकड कर यह कहना कि वह गायो का ध्यान रखे। मेरी काली और सफेद गाये मेरे बिना दुखी न होने पावे। कृष्ण का कहने का भाव यह है कि नन्द बावा हमारे आदरणीय है। अत: उनके चरण पकडकर उन्हे यथोचित सवाद देना अनिवार्य है। यद्यपि मथुरा नगरी मे अपार वैभव एव सुख हमे प्राप्त है किन्तु तुम्हारे बिना हमे यहाँ कुछ भी नही सुहाता। एक तरफ तो यह वैभव है और दूसरी ओर तुम्हारा स्नेह। सूरदास जी कहते है कि कृष्ण के हृदय को तो तभी सान्त्वना एव सतोष प्राप्त होता है जब वह व्रजवासियो के मध्य मे होते है अर्थात् श्रीकृष्ण कहते है कि हमे व्रजवासियो से मिलकर ही वास्तविक ज्ञान की अनुभूति होती है।

विशेष—(१) 'धाय' शब्द कह कर कृष्ण ने अपने हृदय की सम्पूर्ण वेदना, क्षोभ और आक्रोश व्यक्त किया है। इस शब्द मे अत्यधिक मार्मिकता एव सवेदना है। यशोदा ने देवकी को यह सदेश भेजा था—

'हौ तो धाय तिहारे सुत की, कृपा करत ही रहियो।'

(२) गायो की चिन्ता द्वारा कवि ने कृष्ण का ग्रामीण जीवन के प्रति अमित आकर्षण तथा वैभवपूर्ण नागरिक जीवन के प्रति गहरी विरक्ति को स्पष्ट किया है।

(३) 'पथिक' शब्द का प्रयोग भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यह उद्धव के

लिए प्रयुक्त हुआ है। इससे कृष्ण की व्रज में सन्देश भेजने की उत्सुकता व्यंजित होती है।

(४) यशोदा की उक्ति का कि 'हौ तो धाय तिहारे सुत की, कृपा करत ही रहियो' का उत्तर कृष्ण ने तृतीय पंक्ति से आरम्भ किया है। छठी पंक्ति मे अर्थपत्ति अलंकार व्यग्य है। गायो के साथ इतनी ममता है तो नन्द-यशोदा के साथ कितनी होगी। जो पशुओ को भी नही भुला सका है, वह अपने इतने दिनों के साथी व्रजवासियो को कैसे भुला सकेगा ? इसलिए अन्तिम पंक्ति मे दिल खोलकर मिलने का आश्वासन सगत और विश्वसनीय है। राजकीय वैभव मे डूब जाने से पुराने अकिंचन साथियो को कृष्ण न भूल गये हो, इस आशंका का उत्तर कृष्ण ने सातवी पंक्ति मे उत्तरालकार से दिया है। कृष्ण वैभव से नही प्रेम से आकृष्ट है तभी मथुरा छोडकर वृन्दावन लौटने को तैयार हैं ?

नीके रहियो जसुमति मैया।
आवेंगे दिन चारि पांच में हम हलधर दोउ भैया।
जा दिन तें हम तुमतें बिछुरे काहु न कह्यो कन्हैया।
कबहूं प्रात न कियो कलेवा, साँझ न पीन्ही छैंया॥
बंसी बेनु सभारि राखियो और अबेर सवेरो।
मति लै जाय चुराय राधिका कछुक खिलौनो मेरो।
कहियो जाय नन्द बाबा सों निपट निठुर जिय कीन्हो।
सूर स्याम पहुँचाय मधुपुरी बहुरि संदेस न लीन्हो॥ १०॥

शब्दार्थ—नीके=अच्छी, भली। चारि पांच में=शीघ्र ही। पीन्ही=पी, पान किया। छैंया=गाय के थन से सीधी निकलती हुई दुग्ध की धारा। अबेर-सवेरो=देर या जल्दी, अवसर पाकर। मति=कही, न। निपट=बिल्कुल, नितान्त। जिय=कलेजा। मधुपुरी=मथुरा। संदेस=खोज-खबर। बहुरि=फिर लौटकर।

प्रसंग—श्रीकृष्ण उद्धव के व्रज प्रस्थान करने के समय माता यशोदा के लिए सदेशा कह रहे है—

व्याख्या—हे उद्धव ! तुम माता यशोदा से जाकर कहना कि वह भली-भाँति हँसी-खुशी से वहाँ रहे। हमारे लिए चिन्तित एव व्याकुल न हों। हम

दोनो भाई अर्थात् मैं और बलराम चार पाँच दिन में अर्थात् शीघ्र ही वहाँ व्रज मे आकर सबसे मिलेगे। माता से कहना कि जिस दिन से हम उनसे विलग हुए है हमे प्यार से किसी ने कन्हैया भी नही कहा। हमने न कभी प्रातः काल नाश्ता किया है और न ही छैया—गाय के थन से निकलता हुआ ताजा-ताजा दूध ही पिया है। देखो उद्धव, माता से यह भी कहना कि वह वंशी आदि मेरे सभी खिलौने सम्हाल कर रखे। ऐसा न हो कि कही राधा मौका पाकर मेरा कोई खिलौना चुरा कर ले जाये।

हे उद्धव ! तुम हमारे नन्द बाबा से कहना कि उन्होने तो हमारी ओर से अपना हृदय बिल्कुल निष्ठुर एव कठोर कर लिया है। वह जब से हमें मथुरा छोडकर गए हैं, न तो हमारी कोई खोज-खबर ही ली और न किसी के हाथ कोई सन्देश ही भिजवाया है।

विशेष—(१) प्रायः सूर-साहित्य पर यह आक्षेप लगाया गया है कि भ्रमर गीत मे तुल्या राग की प्रतिष्ठा न होकर गोपियो का एकपक्षीय प्रेम ही अंकित हुआ है। यह पद इस आक्षेप का खण्डन करने मे पूर्ण समर्थ है। यहाँ कृष्ण नन्द, यशोदा, राधा तथा यहाँ तक कि अपने खिलौनो, वशी एव वेणु की सुधि-स्मृति मे व्याकुल हैं।

(२) 'काहु न कह्यौ कन्हैया' पंक्ति मे माता के दुलार भरे सम्बोधन को एक बार फिर सुनने की मार्मिक व्याकुलतापूर्ण लालसा है।

(३) 'वशी वेनु' का प्रयोग सगत प्रतीत होता नही क्योकि दोनो का एक ही अर्थ है। नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा सम्पादित सूरसागर में इस पुनरुक्ति को स्थान नही मिला। उसका पाठ इस प्रकार है—

'नोई, बेंत, विघान बाँसुरी, द्वार अबेर सवेरे।
ले मति जाई चुराइ राधिका, कछुक खिलौना मेरे॥"

(४) 'अबेर-सवेर' व्रज में प्रचलित आम मुहावरा है जिसका अर्थ है देर-सवेर या मौका देखकर।

उद्धव मन अभिलाष बढ़ायो।
जदुपति जोग जानि जिय सांचो नयन अकास चढायो॥
नारिन पै मोको पठवत हो कहत सिखावन जोग।
मनहीं मन अब करत प्रसंसा है मिथ्या सुख-भोग।

आयसु मानि लियो सिर ऊपर प्रभु-आज्ञा परमान।
सूरदास प्रभु पठवत गोकुल मै क्यों कहौं कि आन ॥ ११ ॥

शब्दार्थ—अभिलाषा बढ़ायो=अभिलाषाओ को सर्वोच्च समझना और गर्वोन्नत हो सैद्धान्तिक विजय की कामना से प्रसन्न होना। जदुपति=कृष्ण जोग=योग। आयसु=आज्ञा। परमान=प्रमाण। आन=अन्य।

प्रसग—श्रीकृष्ण उद्धव को सन्देश सुना चुके हैं। इन पक्तियो मे उद्धव के मन में इन सन्देशो की जो प्रतिक्रिया हुई है उसकी अभिव्यक्ति की गई है।

व्याख्या—कृष्ण की प्रेम-जन्य विह्वलता को देखकर उद्धव को मन ही मन अत्यन्त आनन्द हुआ। उनका यह आनन्द दो कारणो से था। एक तो वह अपने ज्ञान की सर्वोच्चता के कारण प्रसन्न थे, दूसरे ब्रज जाकर उन्हें अपने ज्ञान की विजय की पूर्ण आशा थी। उद्धव ने सोचा कि कृष्ण ने हमारे योगमार्ग को ही सच्चा एव वास्तविक मोक्ष का मार्ग स्वीकार कर लिया है, तभी तो वह हमे गोपिकाओ को योग की शिक्षा देने के निमित्त ब्रज भेज रहे है। यह विचार कर उद्धव फूलकर कुप्पा हो गए। गर्व के मारे उनके नेत्र आकाश की ओर चढ गए अर्थात वह गर्वोन्नत होकर ऊपर की ओर देखने लगे। वह अपने मनोनुकूल कार्य पाकर कहने लगे—अच्छा नारियो को योग की शिक्षा देने के लिए मुझे ब्रज भेज रहे हो। उनका अनुमान था कि अब कृष्ण सांसारिक सुख-भोग को मिथ्या समझने लगे हैं तभी तो मुझे ज्ञान-योग की शिक्षा देने के लिए भेज रहे हैं।

यह विचार कर उद्धव ने कृष्ण की आज्ञा को शिरोधार्य कर लिया। कृष्ण उनके स्वामी और सखा थे, इसलिए उनकी आज्ञा ही उद्धव के लिए प्रमाण था। इसलिए उन्होने इस कथन को अन्तिम रूप से स्वीकार करके प्रस्थान करने के लिए तत्परता प्रदर्शित की। सूरदास जी कहते हैं कि उद्धव ने सोचा कि जब मेरे स्वामी कृष्ण स्वय मुझे गोपियो को ज्ञानोपदेश देने के लिए गोकुल भेज रहे हैं तो वहाँ जाने में कोई बुराई नहीं है, इसलिए अब मेरे लिए वहाँ जाना ही उचित है, आनाकानी करना अथवा अन्य बात सोचना व्यर्थ है।

विशेष—(१) 'नयन आकाश चढ़यो' एक मुहावरा है जो ब्रज मे प्रचलित है।

(२) इस पद में उद्धव के ज्ञान-गर्व और ज्ञान सिखाने के लिए ब्रज जाने

की तत्परता पर सुन्दर व्यंग्य प्रस्तुत हुआ है।

(३) काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा सम्पादित 'सूरसागर' में 'अभिलाषा' के स्थान पर 'अभिज्ञान' शब्द उपलब्ध होता है किन्तु दोनों स्थितियों में अर्थ में कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता।

(४) 'मन ही मन......मुख-भोग' की पंक्ति का यह अर्थ भी हो सकता है कि सांसारिक सुख-भोग मिथ्या है। कृष्ण द्वारा इस तथ्य को स्वीकार कर लेने से उद्धव मन ही मन 'अपने योगमार्ग' की प्रशंसा कर रहे हैं।

अलंकार—'नयन अकाश चढाये' —अतिशयोक्ति।

सुनियो एक संदेसो ऊधो तुम गोकुल को जात।
ता पाछे तुम कहियो उनसों एक हमारी बात।
माता-पिता को हेत जानि कैं कान्ह मधुपुरी आए।
नाहिंन स्याम तिहारे प्रीतम, ना जसुदा के जाए।
समुझौ बूझौ अपने मन में तुम जो कहा भलो कीन्हो।
कह बालक, तुम मत्त ग्वालिनी सबै आप बस कीन्हो।
और जसोदा माखन काजैं बहुतक त्रास दिखाई।
तुमहिं सबै मिलि दाँवरि दीन्हीं रंच दया नहि आई।
अरु वृषभानसुता जो कीन्ही सो तुम सब जिय जानो।
याही लाज तजी ब्रज मोहन अब काहे दुख मानो?
सूरदास यह सुनि सुनि बातें स्याम रहे सिर नाई।
इत कुब्जा उत प्रेम ग्वालिनी कहत न कछु बनि आई॥ १२॥

शब्दार्थ—हेत=स्नेह, भलाई, कल्याण। मधुपुरी=मथुरा। नाहिंन=नहीं है। जाए=उत्पन्न किये हुए। मत्त=मस्त, मदमाती। आप बस=अपने वश। त्रास=भय, डर। दाँवरि दीन्ही=रस्सी से बांधा। रंच=लेशमात्र। वृषभानुसुता=राधा। याही=इसी। सिरनाई=मस्तक नीचा किये रहे।

प्रसंग—उद्धव ब्रज जाने को तत्पर है। इस पद में कृष्ण की पटरानी कुब्जा गोपियों के लिए उद्धव को संदेश दे रही हैं।

व्याख्या—हे उद्धव! तुम गोकुल को जा रहे हो तो मेरा भी एक संदेशा लेते जाओ। जब तुम कृष्ण के सन्देशे सब लोगों को सुना चुको तो

ब्रजवल्लभियो से मेरी भी एक बात कहना। उनसे कहना कि माता-पिता—वसुदेव व देवकी जो कारागार मे थे—उनका हित समझकर और उनका उद्धार करने के लिए कन्हैया गोकुल से मथुरा आये थे। वस्तुतः कृष्ण न तो तुम्हारे प्रियतम है और न ही यशोदा ने उन्हे जन्म दिया है। अतः तुम लोग स्वय सोच-समझकर विचार करो कि तुमने कृष्ण की कुछ भलाई भी की है जो आज उन पर अपना अधिकार जतला रही हो ? कहा तो वह बालक कृष्ण और कहाँ तुम मद-मस्त युवतियाँ—तुम्हारा और उनका तो कोई मेल ही नहीं था। तुमने तो बरबस उनको अपने वश मे कर लिया था। और यशोदा जो आज कृष्ण पर माता होने का अधिकार जतला रही है, उसने वस्तुत. कृष्ण के साथ कोई भलाई ही नही की, माता का दुलार देना तो दूर रहा, उसने कृष्ण को तुच्छ मक्खन के लिए कितने कष्ट दिए है। कहने का भाव यह है कि बालक कृष्ण और यौवन-मदमाती गोपिकाओ का वह प्रेम सर्वथा अनुचित एव अव्यावहारिक था। तथा माता यशोदा का कृष्ण के प्रति पुत्रवत् न तो स्नेह था और न दुलार ही।

उद्धव से कुब्जा कहती है कि वे गोपिकाओ से कहे कि तुम सबने मिलकर तुच्छ मक्खन की चोरी के कारण कृष्ण को रस्सियो से बाँधा था। तुम्हे ऐसा करते समय कृष्ण के मासूम चेहरे पर लेशमात्र भी दया नही आई। और राधा ने कृष्ण के साथ जो दुर्व्यवहार किया वह तो तुम सब लोग जानती ही हो, वह तुम्हारे द्वारा किए गए व्यवहार से दो कदम आगे था। राधा द्वार कृष्ण के प्रति किए गए दुर्व्यवहार के कारण वे क्षुब्ध हो गए थे। इस लज्जा के कारण उन्होने राधा तो क्या व्रज का ही त्याग कर दिया था। अब तुम इस बात का दुःख क्यों मान रही हो। तुमने जैसा किया है उसी के अनुसार अब फल भुगतो।

सूरदास जी कहते है कि कृष्ण उद्धव और कुब्जा की बात-चीत मस्तक झुकाकर सुन रहे थे। उनके मन मे द्विविधा थी। वे असमंजस मे थे। इधर कुब्जा का आकर्षण था तो उधर ब्रजवल्लभियो का प्रेम-प्रणय-निवेदन परिपूरित हृदय था।

विशेष—(१) इस पद मे कवि ने कुब्जा के सौतिया-डाह का स्वाभाविक चित्रण किया है। इसमे एक ओर तो कुब्जा कृष्ण और गोपियो के सम्बन्ध की

आलोचना करती है और दूसरी ओर उन्हे 'मत्त' कहकर उन पर आक्षेप करती है। इससे कृष्ण के अज्ञान की ओर भी संकेत किया गया है। जिसके कारण वह 'मत्त' ग्वालनियो के प्रेमजाल मे फँस गए।

(२) कृष्ण दक्षिण नायक हैं, इसलिए वह न तो कुब्जा को रुष्ट करना चाहते है और न गोपियो को, किन्तु इससे यह सकेत नही मिलता कि कुब्जा से उन्हे स्नेह है। वह किसको चाहते हैं, यह तो निम्न पक्तियो से स्पष्ट हो जाता है—

'इत कुब्जा उत प्रेम ग्वालिनी कहत न कछु बनि आई।
सूरदास यह सुनि-सुनि बातें स्याम रहे सिर नाई॥'

कोऊ आवत है तन स्याम।
वैसेइ पट, वैसिय रथ-बैठनि, वैसिय है उर दाम।
जैसी हुति उठि तैसिय दौरीं छाँडि सकल गृह-काम।
रोम पुलक, गदगद भई तिहि छन सोचि अंग अभिराम।
इतनी कहत आए गए ऊधो, रहीं ठगी तिहि ठाम।
सूरदास प्रभु ह्याँ क्यों आवैं बँधे कुब्जा-रस स्याम॥ १३॥

शब्दार्थ—तन-स्याम=काले शरीर वाला। वैसिय=वैसे ही। पट=वस्त्र। बैठनि=बैठने का ढग। दाम=माला। हुति=थी। तैसिय=उसी प्रकार ही, वैसे ही। सकल=सारा। गृह-काम=घर का काम-काज। रोम-पुलक=रोमाचित। अभिराम=सुन्दर। गद्गद् भई=प्रसन्नता के कारण गला भर आया। ठाम=स्थान। तिहि=उसी। ठगी=जड़वत, आश्चर्यचकित। रस=प्रेम।

प्रसंग—उद्धव मथुरा से रथ मे बैठकर व्रज आन पहुँचे हैं। उनका रूप, रग, वस्त्र सब कृष्ण के समान हैं। कृष्ण के रथ मे बैठे हुए उन्हे देखकर सब व्रजवासियो को कृष्ण के लौट आने का भ्रम होता है। इसी स्थिति का वर्णन करते हुए कवि कहता है—

व्याख्या—उद्धव के व्रज आ पहुँचने पर सभी व्रजवासियो को उनके कृष्ण होने का भ्रम हुआ। एक गोपी ने अपनी अन्य सखियो से कहा, देखो कोई काले शरीर वाला पुरुष व्रज की ओर चला आ रहा है। शायद कृष्ण ही हो। उसने

कृष्ण के समान वस्त्र धारण किए हुए है, वैसे ही रथ मे बैठा है अर्थात् उसका रथ मे बैठने का ढग भी कृष्ण जैसा ही है, और उसने कृष्ण के समान ही गले मे मोतियों की माला पहन रखी है। गोपियाँ उस समय जिस स्थिति मे थी, वैसे ही यह बात सुनकर उठी और जिधर से उद्धव का रथ आ रहा था, दौड चली, उन्होने अपना समस्त गृह-काज जिसमे वे सलग्न थी, छोड़ दिया। अत्यधिक आनन्द के कारण उनका समस्त शरीर रोमांचित हो गया। उस क्षण वे कृष्ण के सुन्दर शरीर की स्मृति आ जाने पर गद्गद् हो उठी। साँवले शरीर वाले (उद्धव) की छबि को देखकर वे प्रफुल्लित हो गईं। वे आपस मे कृष्ण के सौन्दर्य और क्रीड़ाओं के विषय मे बात ही कर रही थी कि इतने मे उद्धव उन के निकट पहुँच गए। वे उनको देखते ही स्तब्ध होकर उसी स्थान पर जड़वत् खड़ी रह गई। अर्थात् उन्होने तो कृष्ण के आने की कल्पना की थी किन्तु रथ के निकट आने पर वह उद्धव निकले, गोपियो को इससे अपार दुःख हुआ और वे जहाँ खडी थी, वही ठगी-सी खड़ी रह गईं।

सूरदास जी कहते है कि कृष्ण के स्थान पर उद्धव को आया जान कर गोपियो ने परस्पर एक-दूसरे से कहा कि कृष्ण तो मथुरा में कुब्जा के प्रेमपाश मे बँधे हुए है, वे अब यहाँ क्यों आयेंगे, अब उन्हे हमारी क्या आवश्यकता है।

विशेष—(१) 'रोम पुलक···ठगि तिहि ठाम' मे सात्विक भाव का स्वाभाविक चित्रण उपलब्ध होता है।

(२) इस पद की अन्तिम पक्ति मे 'असूया' सचारी भाव और ईर्ष्याभाव स्पष्ट दृष्टिगत होता है।

(३) 'छाड़ि सकल गृह काज' मे औत्सुक्य सचारी भाव का विधान किया गया है।

(४) कृष्ण की कल्पना में निमग्न गोपियो द्वारा उनके स्थान पर उद्धव को पाकर स्तब्ध रह जाने मे परस्पर विरोधी भावो का अत्यन्त मनोवैज्ञानिक एव स्वाभाविक परिवर्तन हुआ हैं।

अलकार—इस पद मे 'स्मरण' एवं 'भ्रांतिमान' अलंकारो का संदेह संकर है।

है कोई वैसीई अनुहारि।
मधुबन तें इत आवत, सखि र! चितौ तु नयन निहारि।

माथे मुकुट मनोहर कुंडल पीत बसन रुचिकारि ।
रथ पर बैठि कहत सारथि सो ब्रज-तन बाँह पसारि ।
जानति नाहिन पहिचानति हौं मनु बीते जुग चारि ।
सूरदास स्वामी के बिछुरे जैसे मीन बिनु वारि ।। १४ ।।

शब्दार्थ—अनुहारि=बनावट, रूपरेखा, मुखाकृति । मधुबन=मथुरा । इत=इधर । चितौ=सोच । पीत=पीले । वसन=वस्त्र । रुचकारि=सुन्दर । पसारि=फैल कर । तन=ओर । नाहिन=नही । मनु=मानो । बिछुरे=बिछड़ने पर । मीन=मछली । वारि=जल ।

प्रसग—उद्धव व्रजभूमि मे आन पहुँचे हैं । उनको देख कर एक गोप दूसरी गोपी से कह रही है ।

व्याख्या—हे सखी ! इस रथ मे वैठा हुआ मनुष्य विलकुल कृष्ण की रूप-रेखा और मुखाकृति वाला जान पडता है । यह व्यक्ति मथुरा से इधर की ओर ही आ रहा है । तू स्वय अपने नेत्रो से देख और सोच-समझ । इसे कृष्ण ही होना चाहिए । उसने अपने मस्तक पर मोर-मुकुट, कानो मे मनोहर कुण्डल और शरीर पर सुन्दर पीले वस्त्र धारण किए हुए हैं । वह रथ मे वैठे हुए व्रज की ओर वाह फैलाकर अपने सारथी से कुछ कह रहा है । इस सबसे स्पष्ट है कि वह व्रज की ओर आ रहा है और कृष्ण ही है ।

सखी ! मैं उसे जानती तो नही कि वह कौन है किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ-कुछ पहचानती अवश्य हूँ । ऐसा लगता है कि इसे देखे चार युग हो गए हैं, अर्थात् वहुत समय पूर्व इसे कही देखा था । सूरदास जी कहते है कि उद्धव को आया जान कर, गोपियो को अपने स्वामी कृष्ण की स्मृति हो आई और वे उसी प्रकार विरह-वेदना मे छटपटाने लगी जिस प्रकार मछली जल के विना छटपटाती है ।

विशेष—(१) उद्धव और कृष्ण के रूप एव वेष साम्य के कारण गोपियों को यह भ्रान्ति हो रही है कि उन्होने इस व्यक्ति को वहुत समय पूर्व कही देखा था । भूली हुई-सी इस स्मृति का अकन अत्यन्त सुन्दर, मनोवैज्ञानिक एव व्यावहारिक रूप से हुआ है ।

(२) इस पद के सन्दर्भ मे डा० अवतरे का कथन है कि "गीतकाव्य मे मुक्तक के अनुरोध से पुनरुक्ति दोषाभाव के रूप मे ठहरती है । इस पद्य मे

पहले पद्य के अनुरोध से प्रासंगिक भाव की अनुगूँज है। गोपी के हृदय मे कृष्ण का सस्कारी रूप उपस्थित है इसलिए समान वेशभूषा से उद्धव मे उसने कृष्ण की पहचान तो कर ली पर उस रूप मे जानने का सौभाग्य उसे प्राप्त नहीं हो सका। गहरे प्रेम में थोड़े दिन का विरह भी युग के समान बीतता है, इस वस्तु की व्यंजना 'मनु बीते जुग चारि' मे उत्प्रेक्षा अलकार से हो रही है।

अलंकार—(१) 'मनु बीते जुग चारि...' उत्प्रेक्षा।
(२) 'जैसे मीन बिनु बारि'—धर्मलुप्तोपमा।

देखो नन्दद्वार रथ ठाढ़ो।
बहुरि सखी सुफलकसुत आयो परचो संदेह उर गाढ़ो।
प्रान हमारे तबहि गया लै अब केहि कारन आयो।
जानति हौं अनुमान सखी री! कृपा करन उठि धायो॥
इतते अन्तर आय उपंगसुत तेहि छन दरसन दीन्हो।
तब पहिचानि सखा हरिजू को परम सुचित तन कीन्हो।
तब परनाम कियो अति रुचि सों और सबहि कर जोरे।
सुनियत रहे तैसेई देखे परम चतुर मति-भोरे॥
तुम्हरो दरसन पाय आपनो जन्म सफल करि जान्यो।
सूर ऊधो सों मिलत भयो सुख ज्यों झख पायो पान्यो॥ १५॥

शब्दार्थ—बहुरि=फिर, पुनः। सुफलकसुत—अक्रूर। गाढ़ो=गहरा। केहि कारन=किस कारन से। उपंगसुत=उद्धव। तेहिछन=उसी क्षण। सुचित=स्वस्थ। भोरे=भोले। झख=मछली। पान्यो=पानी, जल।

प्रसंग—उद्धव ब्रज मे पहुँच कर नन्द बाबा से भेंट कर रहे है। उनका रथ नन्दद्वार पर खड़ा है जिसे देख कर गोपियाँ अक्रूर के पुनः ब्रज मे आने का अनुमान लगाती हुई परस्पर बातचीत कर रही है।

व्याख्या—एक गोपी दूसरी गोपी से कहने लगी कि हे सखी! देखो वही रथ नन्दबाबा के द्वार पर खड़ा है। मेरे हृदय मे यह गहरा सन्देह हो रहा है कि अक्रूर जी फिर आ गए है (पहले अक्रूर ही कृष्ण एव बलराम को मथुरा लिवा ले गए थे। गोपियो का उसी प्रसग की ओर ही संकेत है।) यह अक्रूर हमारे प्राण-हमारे जीवन-श्रीकृष्ण को तो तभी ले गए थे, अब किस कारण यहाँ पधारे है। हे सखी, मै अनुमान करके समझ रही हूँ कि यह फिर हम पर कोई कृपा करने के लिए दौड़ते हुए आए हैं। सम्भव है इस बार यह हमारी

कोई मनोकामना पूर्ण करने के लिए पधारे हो। हमे इनका आगमन सार्थक प्रतीत होता है।

गोपियाँ परस्पर इस प्रकार के वार्तालाप मे सलग्न थी कि इसी समय उद्धव नन्द बावा से भेट करके बाहर आए और उन्होने गोपियो को अपने दर्शन देकर लाभान्वित किया। उद्धव के निकट आने पर गोपियो ने अपने प्राण श्रीकृष्ण के परम सखा के रूप में उन्हे पहचाना और तन-मन मे सन्तोष प्राप्त किया। उनके सन्तोष का एक कारण यह भी था कि वह अक्रूर न होकर उद्धव थे। उन्हे अक्रूर के पूर्व आगमन एव कृष्ण के कारण अब तक भी भय बना हुआ था जो उद्धव के आगमन पर निर्मूल सिद्ध हुआ था। कृष्ण के सखा उद्धव को पहचान कर सभी गोपिकाओ ने उन्हे अत्यन्त प्रेम के साथ हाथ जोड़े और प्रणाम किया। वे उद्धव से कहने लगी कि हमने तुम्हारे विषय मे जो कुछ सुन रखा है, तुम्हारे विषय मे हमारी जो धारणा स्थिर हुई थी, तुम उसके अनुरूप हो। तुम अत्यन्त चतुर बुद्धि वाले और भोले-भाले प्रतीत होते हो। तुम्हारे दर्शन पाकर हम अपना जन्म सफल हुआ समझती है, तुम हमारे प्रियतम श्रीकृष्ण के परमसखा हो, इसलिए हमारे लिए पूज्य हो। सूरदास जी कहते हैं कि ये गोपियाँ उद्धव से भेट करके इस प्रकार प्रफुल्लित और प्रसन्न हुई कि जैसे मछलियाँ जल को पाकर आनन्दित हो रही हो।

विशेष—(१) 'देखो नन्द द्वार रथ ठाढ़ो' पंक्ति अत्यन्त नाटकीय है। नन्द बाबा के द्वार पर उद्धव को आया जानकर गोपियो को अधिक आश्चर्य हुआ होगा और उनका हृदय अधिक सशकित हुआ होगा।

(२) कवि-कौशल के कारण यह पद अत्यन्त नाटकीय और प्रभावशाली बन पड़ा है।

(३) गोपियो द्वारा उद्धव को 'परम चतुर मति भोरे' कहना भावी गोपी-उद्धव विवाद और गोपियो के अनुकूल परिणाम का द्योतक है क्योकि अन्त में उद्धव सचमुच ही भोले निकलते है।

अलंकार—(१) 'ज्यो झख पायो पान्यो'—उपमा।'

कहौ कहाँ तें आए हौ।
जानति हौं अनुमान मनो तुम जादवनाथ पठाए हौ।
वैसोई बरन, बसन पुनि वैसेइ, तन भूषन सजि ल्याए हौ।

सरबसु लै तब संग सिधारे अब का पर पहिराए हो।
सुनहु, मधुप ! एकै मन सबको सो तो वहाँ लै छाए हो।
मधुबन की मानिनी मनोहर तहँहि जाहु जहँ भाए हो।
अब यह कौन सयानप ? ब्रज पर का कारन उठि धाए हो।
सूर जहाँ लौं स्यामगात है जानि भले करि पाए हो ॥ १६ ॥

शब्दार्थ—मनो तुम=मानो तुम। जादवनाथ=श्रीकृष्ण। पठाए=भेजे गए। वरन=वर्ण। वसन=वस्त्र। तनभूषन=शारीरिक अलकार, आभूषण। सरबसु=सर्वस्व, सब कुछ। का पर=क्यो, किस निमित्त, हेतु। पहिराए=ले जाने के लिए। एक मन=एक भावना। छाए हौ=सुशोभित हुए हो। मधुबन=मथुरा। मानिनी=गर्ववती। तहंहि=वहाँ ही। सयानप=सयानापन, चतुराई। कारन=किस उद्देश्य से। उठि धाए=चले आए हो। स्याम गात=काले शरीर वाले। जानि भले करि=भली भाँति जान लिए गए है।

प्रसंग—उद्धव ब्रज पहुँचते हैं और गोपियो से वार्तालाप करने के लिए तत्पर हैं। गोपियाँ सूत्र अपने हाथ मे लेकर उनसे प्रश्न कर रही है कि वह कहाँ से आए हैं ?

व्याख्या—हे उद्धव ! कहिए आपका किस स्थान से आगमन हुआ है ? हमारा अनुमान है कि तुम्हे यादव कुल के स्वामी कृष्ण ने मथुरा से भेजा है। इस अनुमान का आधार यह है कि तुमने अपना रूप-रंग और साज-सज्जा कृष्ण के समान वना रखो है। तुम्हारा उन्ही के समान स्याम रूप-रग है, तुम ने अपने शरीर पर कृष्ण के समान ही वस्त्र धारण कर रखे हैं और उन्ही के समान तुम अपने शरीर पर आभूषण सजा कर लाए हो। कृष्ण हमारा सर्वस्व लेकर यहाँ से मथुरा के लिए प्रस्थान कर गए थे, अब तुम्हें उन्होने हमारे पास किस प्रयोजन से भेजा है, अब तुम हमसे क्या लेने के लिए यहाँ पधारे हो ?

हे मधुप ! सुनो, हमारा सबका एक ही मन था जो कृष्ण अपने साथ ले कर मथुरा में विराजमान है। मथुरा की नारियाँ मानवती और सुन्दर है, अत. तुम वही लौट जाओ, वही तुम्हारा मन लगेगा क्योकि तुम उनको भाते हो, वे तुम्हे भाती हैं। कवि के कहने का भाव यह है कि आसानी से प्राप्त वस्तु के प्रति आकर्षण नही रह पाता। गोपियाँ ब्रज मे कृष्ण पर अपना तन-मन न्यौछावर किए हुए थी, फिर श्रीकृष्ण उनसे ऊब कर मथुरा को चले गए

और वहाँ उन्हे मानवती और सुन्दर कुब्जा जैसी नारियाँ कठिनता से उपलब्ध हुई, अतः वह आजकल उन्हे रिझाने मे ही व्यस्त है ।

हे उद्धव ! यहाँ आकर अब तुम अपनी कौन-सी चतुराई दिखाना चाहते हो । हमे तो इसमे तुम्हारी कोई दुरभिसधि (षड्यन्त्र) की बू आ रही है । अच्छा अपने आने का प्रयोजन बताओ तो सही, हमारा सर्वस्व अक्रूर महाशय तो पहले ही ले जा चुके है, अब हमारे पास बचा ही क्या है, जिसका हरण करने तुम यहाँ पर पधारे हो । सूरदास जी के शब्दो मे उद्धव जी से गोपियाँ कहती है, कि जहाँ तक स्याम शरीर वालो का सम्बन्ध है, हम उन्हे भली-भाँति समझ गई है कि वे सब मन के खोटे और धोखेबाज हैं । काले कृष्ण हमारे मन का हरण करके मथुरा जा बैठे, काले अक्रूर कृष्ण के रूप मे हमारा सर्वस्व हरण कर ले गए । अब काले शरीर वाले तुम हमसे किस प्रकार का छल करने आए हो ।

विशेष—(१) इस पद मे प्रयुक्त 'मधुप' सम्बोधन से भ्रमरगीत का उपालम्भ आरम्भ होता है ।

(२) 'सरबसु लै तब सग सिधारे अब कापर पहिराए हौ ।'···इस पक्ति का यह अर्थ भी हो सकता है कि तुम अक्रूर के रूप मे हमारे सर्वस्व कृष्ण को पहले ही अपने साथ ले गए थे, अब यहाँ हमारे पास शेष ही क्या है, जिसे हरण करने के लिए पधारे हो ।

(३) 'मधुबन···भाए हौ' नामक पक्ति के माध्यम से गोपियाँ कृष्ण और कुब्जा के सम्बन्ध पर व्यग्य कर रही है ।

(४) सम्पूर्ण पद मे गोपियो की कथन-पद्धति अत्यन्त आकर्षक है । इस पद मे व्यंजना शब्द-शक्ति के माध्यम से गोपियाँ-उद्धव से यह कहना चाहती हैं कि मथुरा से आने वालो के छल-कपट से वे भलीभाँति परिचित हैं, अतः उचित यही है कि वे इनसे कुछ कहे, नही तो वे अपनी ओर से कुछ कसर उठा न रखेगी ।'

ऊधो को उपदेस सुनौ किन कान दै ?
सुन्दर स्याम सुजान पठायो मान दै ।।
कोउ आयो उत तायं जितै नन्द सुवन सिधारे ।
वहै वेनु-धुनि होय मनो आए नन्दप्यारे ।
धाई सब गलगाजि कै ऊधो देखे जाय ।

लै आई ब्रजराज पै हो, आनन्द उर न समाय।
अरघ आरती, तिलक, दूब, दधि माथे दीन्हो।
कंचन-कलस भराय आनि परिकरमा कीन्हो।
गोप-भीर आँगन भई मिलि बैठे यादवजात।
जलझारी आगे धरी, हो, बूझति हरि-कुसलात।
कुसल छेम वसुदेव, कुसल देवी कुबजाऊ।
कुसल-छेम अक्रूर, कुसल नीके बलदाऊ।
पूछि कुसल गोपाल की रही सकल गहि पाय।
प्रेम-मगन ऊधो भए, हो, देखत ब्रज को भाय।
मन मन ऊधो कहै यह न बूझिय गोपालहि।
ब्रज को हेतु विसारि जोग सिखवत ब्रजबालहि।
पाती बाँचि न आवई रहे नयन जल पूरी।
देखि प्रेम गोपीन को, हो ज्ञान-गरब गयो दूरि।
तब इत उत बहराय नीर नयनन में सोख्यो।
ठानी कथा प्रबोध बोलि सब गुरु समोख्यो।
सो व्रत सीखो गोपिका, हो छाँड़ि विषय-बिस्तार।
सुनि ऊधो के वचन रहीं नीचे करि तारे।
मनो सुधा सों सींचि आनि विषज्वाला जारे।
हम अबला कह जानहीं जोग-जुगुति की रीति।
नँदनंदन व्रत छाँड़ि कै, हो, को लिखि पूजै भीति।
अबिगत अगह, अपार, आदि अबगत है सोई।
आदि निरंजन नाम ताहि रंजै सब कोई।
नैन नासिका-अग्र है तहाँ ब्रह्म को बास।
अविनासी बिनसै नहीं, हो, सहज ज्योति-परकास।
घर लागै औघूरि कहे मन कहा बँधावै।
अपना घर परिहरे कहो को घरहि बतावै?
मूरख जादवजात हैं हमहिं सिखावत जोग?
हमको भूली कहत हैं, हो, हम भूली किधौं लोग?
गोपिहु तें भयो अंध ताहि दुहुँ लोचन ऐसे!

ज्ञाननैन जो अन्ध ताहि सूझै धौं कैसे ?
बूझै निगम बोलाइ कै कहै वेद समुझाय।
आदि अन्त जाके नहीं, हो, कौन पिता को माय ?
चरन नहीं, भुज नहीं, कहौ, ऊखल किन बांधो ?
नैन नासिका मुख नही चोरि दधि कौने खाँधो ?
कौन खिलायो गोद में, किन कहे तोतरे बैन ?
ऊधो ताको न्याव है, हो, जाहि न सूझै नैन।
हम बूझति सतभाव न्याव तुम्हरे मुख साँचो।
प्रेम-नेम रसकथा कहौ कंचन की काँचो।
जो कोउ पावै सीस दै ताको कीजै नेम।
मधुप हमारी सौं कहौ, हो जोग भलो किधौं प्रेम।
प्रेम प्रेम सो होय प्रेम सों पारहि जैए।
प्रेम बध्यो ससार, प्रेम परमारथ पैए।
एकै निहचै प्रेम को जीवन-मुक्ति रसाल।
साँचो निहचै प्रेम को, हो, जो मिलिहैं नन्दलाल।
सुनि गोपिन को प्रेम नेम ऊधो को भूल्यो।
गावत गुन-गोपाल फिरत कुंजन में फूल्यो।
छन गोपिन के पग धरै, धन्य तिहारो नेम।
धाय धाय द्रुम भेटही, हो, ऊधो छाके प्रेम।
धनि गोपी, धनि गोप, धन्य सुरभी बनचारी।
धन्य, धन्य ! सो भूमि जहाँ विहरे बनवारी।
उपदेसन आयो हुतो मोहि भयो उपदेस।
ऊधो जदुपति पै गए, हो, किए गोप को वेस।
भूल्यो, जदुपति नाम, कहत गोपाल गोसांई।
एक वार ब्रज जाहु देहु गोपिन दिखराई।
गोकुल को सुख छाँड़ि कै कहाँ बसे हौ आय।
कृपावत हरि जानि कै, हो, ऊधो पकरे पाय।
देखत ब्रज को प्रेम नेम कछु नाहिन भावै।
उमड़्यो नयननि नीर बात कछु कहत न आवै।

सूर स्याम भूतल गिरे, रहे नयन जल छाय।
पोंछि पीतपट सों कह्यो, 'आए जोग सिखाय'? ॥ १७ ॥

शब्दार्थ—किन=क्यो नही। कान दे=ध्यान दे। सुजान=चतुर, बुद्धिमान, समझदार। मान दै=सम्मान देकर। उततायँ=उधर से, वहाँ से। जितै=जिधर। नन्दसुवन=कृष्ण। वेनु-धुनि=मुरली की ध्वनि। धाई=दौड़ी गई। गलगाजि=आनन्दित हो शोर मचाती हुई। कचन=स्वर्ण। यादव जात=यादव कुल से उत्पन्न उद्धव। जलझारी=जल से भरा हुआ पात्र। गहि पाँय=पाँव पकड कर। भाय=भाव। हेतु=प्रेम। बिसारि=भुला कर। बहराय=बहलाकर। ठानी=निश्चय किया। प्रबोध=उपदेश। गुरु=बड़प्पन। समोख्यो=समेटा। नीचे करि तारे=आँख की पुतलियो को नीचे करके। आनि—लाकर। भीति=दीवार। अविगत=शाश्वत। अगह=अगम्य। अवगत=ज्ञात। रजै=शोभित। अग्र=अग्रभाग। घर लागै=ठिकाने लगता है। औघूरि=घूमकर। परिहरे=छोड़कर, त्यागकर। किधौं=अथवा। लोचन=नेत्र। निगम=शास्त्र। खाँद्यो=खाया। काँचो=काँच। सीस दै=प्राण देकर। सौं=सौगन्ध। परमारथ=स्वर्ग, मोक्ष। निहचै=निश्चय। रसाल=मधुरा। नेम=नियम, योग। फूल्यो=मगन, प्रफुल्लित। छाके=अघाए। सुरभी=गाएँ। विहरे=विहार किया। बनवारी=कृष्ण।

प्रसंग—सूरदास जी ने इस लम्बे भ्रमरगीत की सम्पूर्ण कथा का सक्षिप्त संस्करण प्रस्तुत किया है। प्रारम्भिक गोपी-उद्धव संवाद, प्रेम और ज्ञान सम्बन्धी वाद-विवाद, उसमे गोपियो की विजय, उद्धव का प्रेम-भावना से ओत-प्रोत होकर मथुरा लौटना और कृष्ण के सम्मुख प्रेम की महत्ता का वर्णन करना आदि इस पद का वर्ण्य-विषय है। इस प्रकार इस पद को भ्रमरगीत का सार-तत्व कहना ही उचित है।

व्याख्या—उद्धव के व्रज आने पर जब सम्पूर्ण गोपिकाए शोर मचाती हुई उनके सम्मुख प्रकट हुई और उनके शोर मे उद्धव की वाणी डूब गई, तो एक गोपी ने खडे होकर सबको सम्बोधित करते हुए कहा—

तुम उद्धव के सन्देश को कान देकर क्यो नही सुनती? इन्हे सुन्दर, बुद्धिमान्, ज्ञानवान, श्रीकृष्ण ने अत्यन्त सम्मान देकर हमारे पास यहाँ व्रज में भेजा है। जिस दिशा को श्रीकृष्ण यहाँ से पधारे थे, यह सज्जन उसी दिशा से

आए हैं। श्रीकृष्ण की वंशी की वैसी ही सुरीली ध्वनि हो रही है जिससे प्रतीत होता है कि श्रीकृष्ण स्वय यहाँ पधारे है और वशी बजा रहे हैं। गोपी की यह वात सुन कर समस्त ग्वालनियाँ आनन्दित हुई और शोर मचा कर उस ओर दौड पडी। वहाँ उन्हे उद्धव के दर्शन हुए। तव वह उद्धव को व्रज-राज नन्द के पास ले गई, उनके हृदय मे आनन्द समा नही पा रहा था—अर्थात् वे अत्यन्त प्रसन्न थी। उन्होने उद्धव को अर्घ्य दिया, उनकी आरती उतारी दूब नामक घास मे दही मिला कर उनके माथे पर तिलक लगाया। इसके उपरान्त सोने के कलश मे जल भर कर उद्धव की परिक्रमा की। उद्धव के आगमन की सूचना पाकर नन्द के आँगन मे गोप-ग्वालो की भीड़ जमा हो गई। उद्धव उनसे भेट करने के उपरान्त बैठ गए। गोपियो ने उद्धव के सम्मुख जल से भरी हुई सुराही रख दी और कृष्ण की कुशल-क्षेम पूछने लगी। फिर उन्होने कृष्ण के पिता वसुदेव और माता देवकी की, देवी कुब्जा, अक्रूर, वल-राम आदि सभी की कुशल-क्षेम पूछी। अन्त मे पुन कृष्ण का कुशल समाचार ज्ञात किया। तत्पश्चात् वे उद्धव के चरण पकड कर बैठ गई।

व्रजवासियो के कृष्ण के प्रति अत्यन्त दृढ प्रेम को देखकर उद्धव प्रेम-भावना मे आत्म-विभोर हो गए। वह मन-ही-मन सोचने लगे कि गोपाल की यह नीति समझ मे नही आ रही कि वह व्रज-वल्लभियो के अनन्य प्रेम को विस्मृत कर उन्हे योग-ज्ञान सिखाना चाहते है। इस प्रकार सोचते हुए उद्धव के नेत्रो में आँसू भर आए और जो पत्रिका कृष्ण ने अपने संदेश के रूप मे व्रजवासियों के लिए भेजी थी, वह उनसे नही पढी गई। कृष्ण के प्रति अनन्य प्रेम को देख कर उनके ज्ञान का गर्व दूर हो गया। तब उन्होने अपने मन को इधर-उधर बदल कर अपने नेत्रो मे वहते हुए आँसुओ को किसी प्रकार नियन्त्रण मे किया। इस प्रकार वह प्रयत्न कर प्रेम-विभोरावस्था से स्वय को मुक्त कर पाए और स्वस्थ-चित्त होकर अपने योग का उपदेश देने के लिए तत्पर हुए। तब उन्होने अपना समस्त बडप्पन समेट कर ज्ञानोपदेश देने का निश्चय किया।

गोपियो के प्रति अपने ज्ञानोपदेश को आरम्भ करते हुए उन्होंने कहा कि तुम समस्त सासारिक विषय-प्रपंचो को त्याग कर उस व्रत का पालन करो जिसका श्रेष्ठ मुनिगण ध्यान करते है, फिर भी उसको पूर्ण रूप से जान पाने

में असफल रहते है। अर्थात् मै तुम्हे उस ब्रह्म रूपी व्रत की शिक्षा देना चाहता हूँ जिसका पूर्ण रहस्य श्रेष्ठ मुनिगण प्राप्त करने मे भी समर्थ नही—अर्थात् मुनिगण चिन्तन करने पर भी जिस परब्रह्म का रहस्य नही जान पाते, मै उसी का रहस्य तुम्हारे सम्मुख अभिव्यक्त कर रहा हूँ। उद्धव की इस प्रकार की चर्चा सुन कर गोपियाँ स्तब्ध हो गई और नीचे नेत्र किए हुए बैठी रह गई। इस समय उनकी दशा उस लता के समान थी जिसे पहले तो अमृत द्वारा सीचा गया हो और तदुपरान्त विप की ज्वाला मे दग्ध कर दिया गया हो। कवि के कहने का भाव यह है कि उद्धव के दर्शन करके तो गोपियो का मुरझाया हुआ मन प्रफुल्लित हो उठा था क्योकि उन्हे उनसे कृष्ण के निजी सन्देश प्राप्त होने की आशा थी। किन्तु उनके ब्रह्म-सम्बन्धी व्याख्यान को सुन कर उनकी यह आशा समाप्त हो गई और वे अत्यन्त तीव्र वेदना के कारण दुखी हो गई। गोपियो के लिए उद्धव के दर्शन तो अमृत के समान जीवन देने वाले थे किन्तु निर्गुण ब्रह्म का उनका उपदेश विष के सदृश प्राण लेवा था।

उद्धव के निर्गुण ब्रह्म सम्बन्धी वचनो को सुन कर गोपियो ने उनसे कहा कि हम अबला है, योग की युक्तियाँ हमारी समझ से बाहर है। साक्षात् नन्द-नन्दन कृष्ण से प्रेम के व्रत को तोडकर हम क्या ऐसी मूढ है जो दीवार पर चित्र खीच कर निर्गुण ब्रह्म की पूजा करे। अर्थात् हम तो साक्षात् ब्रह्म के प्रतिरूप को जानती है और उससे प्रेम करती है, फिर उनसे विमुख होकर तुम्हारे ब्रह्म के काल्पनिक चित्र अथवा वास्तविक ब्रह्म को छोड कर नकली ब्रह्म की पूजा करे ऐसी मूर्ख हम नही हैं। तुम्हारा ब्रह्म अजाना, अगम्य, अज्ञेय, अपार आदि रूप मे जाना जाता है, फिर भी तुम कहते हो कि उसे जान लेना सम्भव है। वह संसार में आदि निरंजन के नाम से सबको विदित है, विख्यात है फिर भी भक्तजन उसे प्रसन्न करने के लिए उसकी पूजा-अर्चना करते है। अर्थात् जो तुम्हारे मत मे सुख-दुख से ऊपर है, उसे किस प्रकार पूजा-अर्चना द्वारा प्रसन्न किया जा सकता है। कवि का कहने का आशय यह है कि जब उद्धव का ब्रह्म गोपियो के मत मे इतना अज्ञेय है, तो उसकी उपासना मे इतना समय नष्ट करने का क्या लाभ ?

तुम्हारे ब्रह्म का निवास नेत्र और नासिका के अग्र भाग अर्थात् त्रिकुटी पर कहा जाता है, वह अविनाशी है और कभी नष्ट नही होता, वह स्वय ज्योति-

स्वरूप है। तुम्हारा आग्रह है कि हम ऐसे ब्रह्म मे अपने मन को एकाग्रचित्त करे किन्तु मन की तो यह दशा प्रसिद्ध है कि वह घूम-फिर कर पुनः अपनी उसी पूर्वस्थिति मे आकर ही विश्राम पाता है। उसे समझा-बुझाकर किसी एक स्थान पर बाँध रखना, अथवा एकाग्र करना एक असम्भव व्यापार है। इसी कारण यह हमारे लिए सम्भव नही कि हम अपने मन को साकार-साक्षात् ब्रह्मरूप कृष्ण के अनुराग से वंचित करके तुम्हारे नीरस निर्गुण ब्रह्म मे लगाएँ। यद्यपि यह सम्भव है कि यह मन पलभर को तुम्हारे समझाने मे आकर निर्गुण की उपासना करना आरम्भ कर दे, किन्तु यह निश्चित है कि अन्तत यह कृष्ण के अनुराग में ही आनन्द अनुभव करेगा। कोई व्यक्ति अपने घर का त्याग कर के अन्यत्र कही भी सुख-चैन नही प्राप्त कर सकता है और यही मन की स्थिति है। इस प्रकार यह हमारा मन कृष्ण की साक्षात् प्रीति को त्यागतर गृहहीन व्यक्ति की भाँति भटक कर अन्य किसी ब्रह्म का ठिकाना ढूँढने मे असमर्थ है। जब उसे सच्चा एव प्रिय आश्रय प्राप्त है तो उसके लिए भटकना उचित भी नही।

हे उद्धव ! तुम तो निपट मूढ हो जो हमे योग-मार्ग का शिक्षण प्रदान करने आए हो। तुम हमे भ्रमित अथवा पथभ्रष्ट कर रहे हो किन्तु एक बार विचार करके अपना मन टटोल करके देखो कि वस्तुतः हम पथभ्रष्ट है अथवा वे लोग जो अबलाओ को अपना घर त्यागकर धूनि रमा कर घर-घर भटकने और अज्ञात ब्रह्म की खोज करने के लिए कह रहे है। तुम तो हम गोपियो से भी अधिक अन्धे प्रतीत हो रहे हो। अर्थात् तुम्हारे तो बाह्य एव ज्ञान दोनो नेत्र विनष्ट हो गए हैं जिससे तुम ऐसी बहकी-बहकी बाते कर रहे हो। जिसके ज्ञानरूपी नेत्र नष्ट हो गए हो, उसे फिर उचित-अनुचित का भान किस प्रकार हो सकता है? शास्त्रो की साक्षी देकर जिस ब्रह्म के विषय मे विचार किया जाता है और वेदो के सन्दर्भ मे जिसकी व्याख्या की जाती है, जिसका न कोई आदि है और न कोई अन्त, जिसके माता-पिता अर्थात् जन्मदाताओ के विषय में कोई सूचना नही, जिसके न तो चरण है—अर्थात् वह चलने-फिरने मे असमर्थ है, न ही उसकी भुजाएँ हैं—अर्थात् वह कर्म करने मे समर्थ नही, फिर भी उसे यहाँ ब्रज मे ऊखल में बाँधा गया। बताओ तो सही, ऐसा किसके साथ हुआ? तुम्हारे मत मे ब्रह्म [के नेत्र, नासिका और मुख नही तो फिर इन्द्रियो की

सहायता से किसने चोरी करके माखन-दधि खाई ? कौन यहाँ आकर ब्रजवासियों की गोद मे खेला ? और किसने अपने तोतले वचनों से सभी को प्रसन्न एवं आनन्दित किया ? हे उद्धव ! तुम्हारी अज्ञान भरी बाते तो आँखों से अन्धो को ही उचित एवं न्यायपूर्ण प्रतीत होंगी किन्तु हम न तो अज्ञानी है और न ही अन्धी, अत: तुम अपनी इस बकवाद से हमें अपने योग की ओर प्रवृत्त नही कर सकते। तुम हमारी समझ मे ज्ञानवान् और नेत्रो वाले हो, अतः हम तुम्हे न्याधीश स्वीकार करती है और सत्य भाव से तुमसे न्याय चाहती है कि हमारे प्रेम-मार्ग और तुम्हारी योग-साधना मे से कौन सा मार्ग स्वर्ण के समान शुद्ध और खरा है तथा कौन सा कांच के सदृश एक ही झटके से नष्ट हो जाने वाला अर्थात् त्याज्य है ? योग-साधना उसी वस्तु के लिए उचित है जिसे प्राण देकर प्राप्त करने का प्रण हो किन्तु हमने आज तक ऐसा नही सुना कि किसी ने योग-साधना के बल पर ब्रह्म के साथ तादात्म्य स्थापित किया हो अथवा उसे प्राप्त किया हो, फिर ऐसे निर्गुण ब्रह्म के लिए प्राणो को सकट मे डालना कहाँ तक उचित है ? इससे तो हमारा प्रेम-मार्ग ही ठीक है जिसमे आराध्य-देव के साथ साक्षात्कार करना सम्भव है। इसलिए हे मधुप ! तुम्हे हमारी सौगन्ध है, तुम निर्णय करके ठीक ठीक बता दो कि तुम्हारे योगमार्ग और हमारे प्रेम-मार्ग मे से कौन-सा मार्ग श्रेष्ठ है ?

प्रेम की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए गोपियाँ आगे कहती है कि प्रेम-प्रेम से ही सम्भव होता है अर्थात् प्रिय के प्रति अगाध स्नेह धारण करके ही उसका प्रेम पाना सम्भव होता है। प्रेम के द्वारा ही संसार के रहस्य को जानना और उससे पार पाना सम्भव है। इस प्रेम के कारण समस्त ससार परस्पर बाध्य है। प्रेम के द्वारा परमार्थ अथवा मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है। इस बात मे कोई सशय नही कि प्रेम के माध्यम से ही मधुर जीवन-मुक्ति जिसका बडे-बडे भक्तजन स्वप्न देखते है, उपलब्ध हो सकती है। यदि प्रेम-सम्बन्धी हमारा यह मत निश्चित एव सही है, तो हमे विश्वास है कि हमे नन्दलाल श्रीकृष्ण की प्राप्ति अवश्य होगी। इस पक्ति का यह भी अर्थ हो सकता है कि नन्दलाल की प्राप्ति होने पर ही इस प्रेम की सच्चाई सिद्ध हो सकेगी।

गोपियो की प्रेम-सम्बन्धी बातो को सुनकर उद्धव अपनी नियमित योग-साधना को भूल गए। अर्थात् वह भी गोपियों की प्रेम की भावना से प्रभावित

हुए बिना न रह सके। वह प्रफुल्लित होकर कृष्ण के गुण गाते हुए व्रज के कुंजो मे भ्रमण करने लगे। एक क्षण तो गोपियो के चरण पकड़ लेते और उन से कहते कि तुम्हारा प्रेम-नियम धन्य है। उद्धव प्रेम मे इतने डूब गए, इतने तृप्त हो गए कि दौड कर वृक्षो से लिपट कर भेंट करने लगे, कृष्ण ने इन्ही वृक्षो की छाया मे बैठकर गोपियो के साथ प्रेम की क्रीड़ाएँ की थी। कृष्ण के प्रेम मे मदोन्मत्त होकर वह कहते है ये कि व्रजवासी गोप-गोपियाँ धन्य है और वन मे भ्रमण करने वाली ये गौएँ धन्य हैं, यह व्रजभूमि धन्य है, क्योंकि यहाँ वनवारी श्रीकृष्ण ने विहार किया था, केलि-क्रीड़ाओ की थी। मैं इन गोपियों को योग-साधना का उपदेश देने आया था किन्तु यहाँ आकर मैंने गोपियो से स्वय ज्ञान प्राप्त किया है। मै योग-साधना के भ्रम मे भटक रहा था, यहाँ मैने प्रेम-माग के अमृत-तत्व को समझा और उसका मर्म जाना। आज तक मैं कितना भ्रम मे था इसका ज्ञान मुझे यहाँ आकर हुआ।

इसके उपरान्त उद्धव गोप का वेश धारण करके श्रीकृष्ण के पास गए। प्रेम के वशीभूत होने के कारण अपने स्वभावानुसार वह कृष्ण को 'जदुपति' के नाम से सम्बोधित करना भूल गए और 'गोपाल गोसाईं', के नाम से सम्बोधन किया। उन्होने कृष्ण को सम्बोधन करते हुए अनुरोध किया कि वह एक बार अवश्य व्रज जाकर गोपियो को दर्शन दे आएँ। उद्धव ने कृष्ण से पूछा कि तुम गोकुल का सुख-आनन्द छोडकर यहाँ कहाँ आन बसे हो। इस प्रकार कृष्ण को सब पर दयालु जानकर उद्धव ने उनके पांव पकड लिए। इस समय वह अपने पूर्व ज्ञान-गर्व के अपराध के कारण लज्जा अनुभव कर रहे थे। व्रज के निवासियो का कृष्ण के प्रति प्रेम और विश्वास देखकर, उद्धव को अपने पर धिक्कार होने लगा, अब उन्हे अपना योग अच्छा नही लगता। प्रेमाधिक्य के कारण उन के नयनो मे जल भरा हुआ है, गला भी भरा हुआ है, कुछ भी कहते नहीं बनता। वह प्रेम-विह्वल होकर श्रीकृष्ण के सम्मुख पृथ्वी पर गिर पडे। उनके नेत्र आँसुओ से भर गए। श्रीकृष्ण ने अपने तन पर पहने हुए पीत वस्त्र से उनके आँसुओ को पोछा और उनसे इतना ही पूछा कि 'योग सिखा आए हो।'

विशेष—(१) इस दीर्घ पद मे सूर ने भ्रमरगीत की सम्पूर्ण कथा का साराश वर्णित किया है। इस पद मे निर्गुण धारा के भक्तो पर व्यग्य किया गया है। अन्त मे उद्धव को गोपियो की प्रेम-साधना से प्रभावित दिखा कर

निर्गुण पर सगुण ब्रह्म की विजय की ओर कवि ने संकेत किया है।

(२) अन्तिम पंक्ति मे काकुजन्य व्यग्य है। अत्यन्त मीठी चुटकी है—'आए जोग सिखाय।'

हमसों कहत कौन की बाते ?
सुनि ऊधो ! हम समुझत नाहीं फिरि पूँछति है ताते।
को नृप भयो कंस किन मारयो को वसुद्यौ-सुत आहि ?
यहाँ हमारे परम मनोहर जीजतु है मुख चाहि॥
दिनप्रति जात सहज गोचारन गोप सखा लै संग।
बासरगत रजनीमुख आवत करत नयन गति पंग।
को व्यापक पूरन अविनासी, को विधि-वेद-अपार ?
सूर वृथा बकवात करत हो या ब्रज नन्दकुमार॥ १६॥

शब्दार्थ—कौन=किस। ताते=इसलिए। नृप=राजा। वसुद्यौ-सुत=वसुदेव-देवकी का पुत्र कृष्ण। आहि=है। जीजतु=जीती। चाहि=देखकर। बासर=दिन। रजनीमुख=सध्या। पग=स्तब्ध। को=कौन। विधि=ब्रह्म। वृथा=व्यर्थ।

प्रसग—उद्धव गोपियो को अपना ब्रह्म-ज्ञान का उपदेश देते हुए अपने निर्गुण ब्रह्म के विषय मे बताते है कि निर्गुण ब्रह्म की भक्ति और ज्ञान के द्वारा ही मोक्ष सम्भव है, इसलिए गोपियो को कृष्ण के प्रति अपने आकर्षण को त्यागकर ऐसे अविनाशी ब्रह्म की ओर अपने मन को एकाग्र करना चाहिए. उद्धव के इस उपदेश की प्रतिक्रिया स्वरूप गोपियाँ उन्हे कह रही है--

व्याख्या—तुम हमसे किस विषय में बाते कर रहे हो ? हे उद्धव ! सुनो, हमे तुम्हारी बाते समझ मे नही आई, इसी कारण हम तुमसे पुन: पूछ रही हैं। भला, बताओ तो सही, कि मथुरा का शासक कौन हो गया है, कंस का वध किसने किया है और वसुदेव-देवकी का पुत्र कौन है ? यह कोई और ही कृष्ण होगा, जिसने उक्त सभी कार्य सम्पन्न किये है, हमारे यहाँ तो हमारे कृष्ण परम सुन्दर है जिनके मनमोहक मुख को देखकर ही हम सब जी रही है। वह सहज रूप से अपने स्वभावानुसार प्रतिदिन अपने गोपसखाओ को साथ लेकर गाएँ चराने वन मे जाया करते थे और दिन बीत जाने पर सध्या समय लौट कर आते थे। ऐसे कृष्ण की अनुपम सुन्दरता को देखकर हमारे नेत्रों की गति

पगु हो जाती थी अर्थात् हम उनके सौन्दर्य की छवि मे स्तब्ध होकर स्वय को भूल जाती थी। कृष्ण के इस सौन्दर्य को हम अपलक देखती रहती थी। तुम्हारा यह सर्वव्यापी, परिपूर्ण, अविनाशी ब्रह्म जो ब्रह्मा, जो वेद के ज्ञान से भी परे है, कौन-सा है ? हम ऐसे ब्रह्म के विषय मे कुछ नही जानती।

हमारे विचार मे तो ब्रह्म-सम्बन्धी तुम्हारी सभी बाते, वस्तुतः व्यर्थ का प्रलाप हैं। ब्रज मे तो नन्दकिशोर कृष्ण ही सर्वस्व हैं और हम किसी ब्रह्म को नही जानती।

विशेष—(१) गोपियो की वाग्विदग्धता दर्शनीय है जिसके बल पर उन्होने उद्धव की ब्रह्म स्थापना को निस्तेज बना दिया है।

(२) गोपियो के मत मे उनके ब्रह्म कृष्ण हैं। जो सगुण-साकार रूप मे उनके प्रियतम हैं और सम्मुख विद्यमान हैं। इसी कारण उन्हे उद्धव की तर्क-भरी बाते 'वृथा बकवाद' लग रही हैं।

(३) भाषा का प्रवाह सुन्दर है। प्रश्नात्मक शैली के व्यवहार से उसकी व्यजना-शक्ति और भी बढी है।

तू ! अलि कासो कहत बनाय ?
बिन समुझे हम फिरि बूझति है एक बार कहौ गाय।
किन वै गवन कीन्हो सकरनि चढ़ि सुफलकसुत के संग।
किन वै रजक लुटाइ त्रिविध पट पहिरे अपने अंग ?
किन हति चाप निदरि गज मारयो किन वै मल्ल मथि जाने ?
उग्रसेन बसुदेव देवकी किन वै निगड हठि भाने ?
तू काकी है करत प्रसंसा, कौने घोष पठायो ?
किन मातुल बधि लयो जगत जस कौन मधुपुरी छायो।
माथे मोरमुकुट बनगुंजा, मुख मुरली धुनि बाजै।
सूरजदास जसोदानन्दन गोकुल कह न बिराजै॥ १६॥ ✓

शब्दार्थ—अलि=भ्रमर। कासो=किससे। फिरि=पुनः। बूझति=पूछती। गाय=गाकर, समझाकर, धीरे-धीरे। सकरनि चढ़ि=रथ पर चढकर। सुफलक-सुत=अक्रूर। सग=साथ। रजक=धोबी। त्रिविध=अनेक प्रकार के। पट=वस्त्र। पहिरे=धारण किए। अग=शरीर। हति=तोडा। चाप=धनुष। निदरि=निरादर करके। गज=हाथी। मल्ल=पहलवान, योद्धा।

मथि जाने=पछाड़ दिए। निगड़=हथकड़ी, बेड़ी। भाने=तोड़ी। काकी=किसकी। कौने=किसने। घोष=ब्रज। मातुल=मामा, कस। जस=कीर्ति। किन=किसने। मधुपुरी=मथुरा।

प्रसग—उद्धव गोपियों के प्रति कृष्ण का उपदेश सुनाने के उपरान्त अपना ज्ञान-योग का उपदेश दे चुके हैं। उद्धव के मत मे गोपियो ने जिस कृष्ण के प्रति अपने हृदय की लौ लगाई हुई है, वह ब्रह्म नही, वह मथुरा का राजा है और वसुदेव-देवकी का पुत्र है, अतः उन्हे निर्गुण ब्रह्म की भक्ति मे लीन होना चाहिए, तभी मोक्ष सम्भव है। इसके प्रति उत्तर मे गोपियाँ कह रही है—

व्याख्या—हे मधुप ! तुम ये न समझ मे आने वाली ज्ञान वाली बाते गढ़-गढ़कर किसे सुना रहे हो ? तुम्हारी ये बातें अभी तक हमारी समझ मे नही आई, इसी कारण हम तुम से पुन. पूछ रही है कि उन्हे एक बार फिर गाकर—धीरे-धीरे समझा कर हमसे कहो। अच्छा यह तो बताओ कि ब्रज से रथ पर बैठकर अक्रूर जी क साथ मथुरा कौन गया था। किसने कस के धोबी के सभी वस्त्र लुटवा दिए थे और अपन शरीर पर अनेक प्रकार के राजसी वस्त्र धारण किए थे ? किसने कस के सुरक्षित धनुष का भंजन किया था, और किसने कस के कुवलयापीड नामक मदमस्त एव वलवान हाथी का निरादर करके वध कर दिया था और किसने कस द्वारा भेजे गए चाणूर, मुष्टिक नामक मल्लो को पछाड़ कर मार दिया था ? उग्रसेन, वसुदेव, देवकी कारागार मे बन्द थे, किस ने उनकी बेड़ी दृढ़तापूर्वक काट कर उन्हे मुक्त करवाया है ? तू किस ब्रह्म की प्रशसा कर रहा है, गुणगान कर रहा है, किसने तुझे यहाँ ग्वालो की बस्ती मे भेजा है ? किसने अपने मामा कस को मृत्यु के घाट उतार कर सारे संसार मे यश अर्जित किया है और अब वह मथुरा पर शासन कर रहा है ? हम उन्हे नही जानती।

सूरदास जी कहते है कि गोपियो के कृष्ण मस्तक पर मोर-मुकुट और उर मे गुंजाओ की माला को धारण करने वाले अत्यन्त मनमोहक है और वह अपने मुख से वंशी की मधुर ताने निकाला करते है। वह ब्रज मे सर्वत्र विद्य-मान रहते हैं। हे उद्धव ! तुम बताओ, वह गोकुल मे कहाँ नही विद्यमान है ?

विशेष—(१) इस पद मे गोपियाँ उपहास कर रही है। इस उपहास मे दो प्रकार की असगति है।

(अ) सैद्धान्तिक असंगति—उद्धव निर्गुणवादी हैं और गोपियाँ सगुण रूप की चितेरी।

(आ) रुचि असगति—उद्धव को कृष्ण का राजसी रूप प्रिय है और गोपियो को उनका ग्राम्य रूप।

(२) इस पद मे सूरदास जी ने अनेक अन्तर्कथाओ का निर्देश दिया है जिनका सक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—कृष्ण जब अक्रूर जी के साथ मथुरा गए तो उन्होंने कस के धोबी से पहिनने के लिए वस्त्रो की माँग की जिसकी अस्वीकृति पर उन्होने उसकी सब वस्त्र-सम्पत्ति लुटवा दी।

कस का एक धनुष था जिसकी रक्षा अनेक रक्षको द्वारा होती थी। कृष्ण ने वहाँ जाकर इन रक्षको को मार कर धनुष को तहस-नहस कर दिया।

कृष्ण को मारने के लिए कस ने कुवलयापीड़ नामक विशाल मदमस्त हाथी को भेजा। कृष्ण ने उसके दाँत उखाड कर उसे मार डाला।

इसके उपरान्त उन्होने कस के भेजे हुए चाणूर और मुष्टिक नामक मल्लो का भी वध कर दिया। ये मल्ल भी कृष्ण को मारने के लिए भेजे गए थे।

(३) प्रस्तुत पद मे गोपियाँ कृष्ण के साकार रूप की स्थापना करके उद्धव के निर्गुणवाद का उपहास कर रही है।

(४) इसमे अनेक अन्तर्कथाओ के सम्मिलन के कारण काव्य-प्रवाह अवरुद्ध हुआ है।

हम तो नन्दघोष की वासी।
नाम गोपाल जाति कुल गोपहि, गोप-गोपाल-उपासी।
गिरिवरधारी, गोधनचारी, वृन्दावन-अभिलासी।
राजा नन्द, जसोदा रानी, जलधि नदी जमुना सी।
प्रान हमारे परम मनोहर कमलनयन सुखरासी।
सूरदास प्रभु कहौं कहाँ लौं अष्ट महासिधि दासी॥ २०॥

शब्दार्थ—नन्द-घोष=नन्द का शख, गोकुल। वासी=निवासिनी, रहने वाली। उपासी=उपासना, पूजा, अर्चना करते है। गोधन चारी=गायो को चराने वाले। अभिलाषी=प्रेम-अनुराग रखने वाले। जलधि=समुद्र। कमल-नयन=कमल रूपी नेत्रो वाले। सुखरासी=सुख की राशि, खान।

प्रसग—उद्धव के ज्ञानोपदेश देने के उपरान्त गोपियाँ उन्हे उत्तर दे रही

हैं। गोपियो का कहना है कि कृष्ण सदा गोकुल मे विद्यमान है। वह अपनी रूप-राशि एव वंशी की तानों के कारण अभी आकर्षण का केन्द्र हैं। ऐसे कृष्ण को त्याग कर कौन निर्गुण ब्रह्म को भजे।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से उनके ज्ञानोपदेश के उत्तर मे कहती है कि हम नन्दगाँव—गोकुल की रहने वाली हैं। हमारा नाम गोपाल है, हमारी जाति और कुल गोपो का है। गोप होने के कारण हम गोपाल श्रीकृष्ण की उपासिका है—अर्थात् उनकी पूजा-अर्चना करती हैं और इस प्रकार अत्यन्त प्रसन्न है। कृष्ण के गोपाल होने से और हमारे गोप वश और कुल होने से दोनो में निकट का सम्बन्ध है। हमारे गोपाल गोवर्द्धन पर्वत को धारण करने वाले, गायो रूपी धन को चराने वाले है, वृन्दावन में ब्रज अनुराग रखते हैं। यहाँ नन्दबाबा हमारे राजा है और यशोदा माता हमारी रानी हैं। इस प्रदेश मे समुद्र के समान विशाल यमुना नदी प्रवाहित होती हैं। कमल के समान सुन्दर नेत्रो वाले परम मनोहर, सौन्दर्य एव सुखो की खान श्रीकृष्ण हमारे जीवन-प्राण है—अर्थात् हमें प्राणो से भी प्रिय हैं। सूरदास जी कहते है कि हे उद्धव! हम तुम्हे यहाँ के सुख का और अधिक क्या वर्णन करें। यहाँ के सुख की तुलना में आठ महासिद्धियो से प्राप्त सुख भी फीका है।

विशेष—(१) अमरकोष के निम्न दोहे के अनुसार सिद्धियाँ आठ हैं—अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्रकाम्य, ईशित्व, वशित्व—

'अणिमा महिमा चैव गरिमा लघिमा तथा।
प्राप्ति, प्राकाम्यीशत्व वंशित्व चाष्टसिद्धयः॥'

(२) वैष्णव भावानुसार आठो सिद्धि एवं नवनिधि की प्राप्ति से पूर्ण सुख की उपलब्धि देवताओ अथवा महान् अवतारो को ही प्राप्त होती है किन्तु गोपियाँ इस सुख को श्रीकृष्ण के सुन्दर मुख और वशी की तान से प्राप्त सुख मे तुच्छ मानती है।

(३) वस्तुतः गोपियाँ उक्त पद मे उद्धव को यह बताना चाहती हैं कि उनका अपना एक राज्य है, जिसके राजा-रानी नन्द-यशोदा है और समुद्र के समान वहने वाली विशाल यमुना नदी इसकी सीमा का निर्धारण करती है।

(४) लगता है यह पद वर्षा ऋतु मे रचा गया है, इसी ऋतु मे यमुना का विशाल स्वरूप दृष्टिगत होता है, शेष ऋतुओं मे तो इसमे पानी नही मिलता।

सम्भवत: सूरदास जी के समय मे इसमे पर्याप्त जल रहता था। किन्तु इसके कोई प्रमाण उपलब्ध नही।

अलकार—(१) अनुप्रास…सम्पूर्ण पद मे।
(२) उपमा—'जलधि नदी जमुना सी।'
(३) अतिशयोक्ति—'अष्ट महासिद्धिरासी।'

गोकुल सबै गोपाल-उपासी।
जोग-अंग साधत जे ऊधो ते सब बसत ईसपुर कासी।
यद्यपि हरि हम तजि अनाथ करि तदपि रहति चरननि रसरासी।
अपनी सीतलताहि न छाड़त यद्यपि है ससि राहु-गरासी।
का अपराध जोग लिखि पठवत प्रेमभजन तजि करत उदासी।
सूरदास ऐसी को बिरहिन मांगती मुक्ति तजे गुनरासी ? ॥ २१ ॥

शब्दार्थ—उपासी=उपासना, अर्चना-पूजा करते हैं। जोग-अग=अष्टांग योग। बसत=रहते है। ईसपुर=महादेव की नगरी। रसरासी=प्रेम मे पगी हुई है। तथापि=तो भी। ससि=चन्द्रमा। गरासी=ग्रसित होता है। पठवत =भेजा है। उदासी=उदासीन, विरक्त। गुनरासी=गुणो की खान।

प्रसंग—उद्धव जी के ज्ञान-योग के उपदेश को सुन कर गोपियो मे अनेक प्रकार की प्रतिक्रियाएँ हुई। उद्धव की योग-स्थापना के विरुद्ध गोपियाँ अपने प्रेम-मार्ग की श्रेष्ठता प्रतिपादित करती हैं। उनके मत मे श्रीकृष्ण की रूप-राशि और वशी की धुन के आगे आठो महासिद्धियो से प्राप्त सुख भी तुच्छ है, त्याज्य है। इस पद मे वह उद्धव से पूछ रही हैं कि उनके किस अपराध के कारण कृष्ण ने उनके लिए योग का सदेश लिख कर भेजा है—

व्याख्या—हे उद्धव! गोकुल मे सब नर-नारी गोपालक श्रीकृष्ण के उपासक हैं, उसी की रूप-राशि मे रसलीन हैं। जो जन अष्टांग योग की साधना करते हैं वे शिव जी की नगरी काशी में निवास करते हैं, यहाँ उनका कोई कार्य नही। यद्यपि श्रीकृष्ण ने हमे त्याग दिया है और इस प्रकार हम अनाथ हो गई हैं तो भी हमे उनके चरणो मे रति है, उनके चरणो की रूप-राशि मे हम पगी हुई हैं, उनमे ही हमारा अनुराग है। यह उसी प्रकार सम्भव है जिस प्रकार चन्द्रमा राहु द्वारा ग्रसे जाने पर भी अपना स्वाभाविक गुण-ससार को शीतलता प्रदान करना नही छोड़ता। उसी प्रकार कृष्ण को यह अधिकार है

कि वह हमें त्याग दे किन्तु हम अपना स्वभाव, धर्म नही छोड़ेंगी, उनके चरणों में ध्यानस्थ ही रहेंगी। हमारी समझ में नही आता कि हमारे किस अपराध के कारण दण्ड के रूप मे कृष्ण ने हमारे लिए योग का सदेश लिख भेजा है ? इस प्रकार हमे हरि-भक्ति छोड़ने को कह कर संसार से विरक्त करना चाहते है। सूरदास जी कहते है कि यहाँ ब्रज मे ऐसी कौन-सी विरहिणी है जो गुणो की खान श्रीकृष्ण को छोडकर मुक्ति की कामना करती हो। अर्थात् गोपियाँ कृष्ण-प्रेम के सम्मुख निर्गुणोपासना से प्राप्त मुक्ति का कोई महत्व नही समझती।

विशेष—(१) अन्तिम पक्ति मे निवृत्तिमार्ग से प्रवृत्ति मार्ग की श्रेष्ठता प्रतिपादित की गई है। इससे प्रेम की ऋजुता की रक्षा हुई है। प्रवृत्ति को ही महत्व देने के कारण गोपियाँ 'सायुज्य' नही अपितु 'सामीप्य' चाहती है। इस प्रकार भक्त मुक्ति की आकांक्षा न करके भगवत्-प्रेम मे लीन रहना चाहता है। मुक्ति की कामना तो योग-मार्गी साधक ही करते है।

(२) 'ईस पुर कासी' का अत्यन्त सुन्दर साभिप्राय प्रयोग हुआ है। काशी आरम्भ से ही योगियो का गढ रही है। फिर शिव से इसका सम्बन्ध जोड़ने से इस पंक्ति की व्यजना शक्ति बढ जाती है क्योकि योगियो के सभी सम्प्रदायो—विशेपतया नाथो का शिव एव शैव सम्प्रदाय से पर्याप्त सम्बन्ध रहा है।

(३) रत्नाकर की गोपियो ने भी स्पष्ट कहा है कि जब वह 'मोहनलला' पर 'मन-मानिक' वार चुकी है तो उनके सम्मुख मुक्ति-मुक्ता' का 'मोल' ही क्या है। इसी कारण—

'वाही मुख मंजुल की चहति मरीचै सदा,
हमको तिहारी ब्रह्म ज्योति करिबो कहा।'

(४) वस्तुत: गोपियाँ ज्ञान-योग से प्राप्त निर्गुण ब्रह्म का विरोध न करके स्वय को उसका अधिकारी नही समझती। इससे यह सिद्ध होता है कि सूर योग आदि से प्राप्त निर्गुण ब्रह्म के विरुद्ध न होकर उसके लिए अधिकारी भेद स्वीकार करते थे।

(५) 'जोग-अग' योग के अष्टांग-साधनो के लिए प्रयुक्त हुआ है जो इस प्रकार हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि।

अलंकार—उदाहरण…'ससिराहु गरासी।'

जीवन मुँहचाही को नीको।
दरस परस दिनरात करति हैं कान्ह पियारे पी को।
नयनन मूँदि मूँदि किन देखौ बँध्यो ज्ञान पोथी को।
आछे सुन्दर स्याम मनोहर और जगत सब फीको।
सुनौ जोग को का लै कीजै यहाँ ज्यान है जी को?
खाटी मही नहीं रुचि मानै सूर खवैया घी को ॥ २२ ॥

शब्दार्थ – मुँहचाही=प्रियतम को प्रिय लगने वाली प्रेमिका। नीको= अच्छा, सुन्दर। दरस=दर्शन। परस=स्पर्श। कान्ह=कन्हैया। ज्ञान-पोथी को=पुस्तक से प्राप्त ज्ञान। आछे=अच्छे। जगत=संसार। फीको=तुच्छ, त्याज्य। ज्यान=हानि। मही=मट्ठा, छाछ। खवैया=खाने वाला।

प्रसंग—उद्धव का उपदेश सुनने के उपरान्त गोपियाँ शान्त नही रहतीं बल्कि अनेक युक्तियो द्वारा अपने प्रेम मार्ग की श्रेष्ठता प्रतिपादित करती हैं। उनके मत मे कृष्ण ने यह योग का सन्देश उनके किसी अपराध के दण्डस्वरूप उन्हे लिखकर भेजा है किन्तु वे मोक्ष की कामना न करते हुए भगवत्-रति मे लीन रहना चाहती है।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि प्रियतम को भाने वाली प्रेमिका का जीवन अच्छा है, सफल है—अर्थात् प्रियतम के मन मे समाने के कारण उसने संसार के जीवन का फल भोग लिया है। इस प्रकार वे यहाँ कुब्जा से ईर्ष्या का भाव प्रकट करते हुए कहती है कि जीवन तो उसका अच्छा है, सफल है क्योकि वह कृष्ण की चहेती प्रेमिका है। वह अपने प्रियतम कन्हैया का प्रतिदिन दर्शन प्राप्त करती है और उनके स्पर्श से उसे शारीरिक सुख आनन्द भी प्राप्त होता है। किन्तु उसे भी इतना सुख आनन्द प्राप्त नही क्योकि वह प्रेम करने की उचित रीति से परिचित नही। हे उद्धव! आँखे मूंद-मूंद कर किसने पुस्तक मे निहित ज्ञान को प्राप्त किया है, उसे तो आँखें खोलकर अध्ययन से ही प्राप्त किया जा सकता है। उसी प्रकार प्रियतम के पास बने रहने से, दर्शन-स्पर्श से जीवन सफल नही होता। यह तो तभी सम्भव है जब वह प्रेम की रीति से सुपरिचित हो और प्रियतम को रिझाने में समर्थ हो।

हमारे लिए तो श्यामसुन्दर कृष्ण ही एक मात्र सुन्दर एव मनोहर हैं। उसके सम्मुख हमे समस्त ससार और उससे प्राप्त सुख फीका प्रतीत होता है

अर्थात् हमारे लिए सुन्दर और परम मनोहर कृष्ण की तुलना मे समस्त सांसारिक सुख नीरस है। हे उद्धव ! तुम हमारी बात सुनो। हम तुम्हारे जोग-ध्यान को लेकर क्या करे, यह हमारे किसी काम का नही क्योकि इससे हमें प्राणहानि का भय है। कवि का कहने का तात्पर्य यह है कि योग-साधना पर अमल करने से हमे अपने प्राणप्रिय श्रीकृष्ण से बिछुड़ना पड़ेगा। उनके बिना हमारा जीवित रहना सम्भव नही। जिस प्रकार शुद्ध घी का प्रयोग करने वाला व्यक्ति खट्टी छाछ पीकर प्रसन्न नही रह सकता, उसी प्रकार कृष्ण के प्रेमामृत का पान करने वाला हमारा यह हृदय तुम्हारी योग की नीरस बाते सुनकर आनन्दित नही होता।

विशेष—(१) 'जीवन मुंह चाही को नीको' मे गोपियाँ असूयाभाव से ग्रसित हो कुब्जा के प्रति ईर्ष्या प्रकट कर रही है। कुब्जा के प्रति सूर-काव्य मे ऐसे पदो ने ही रीतिकालीन सपत्नी कलह वर्णन को प्रोत्साहन प्रदान किया हैं।

(२) 'ज्यान' शब्द प्रदेश विशेष से सम्बन्धित है और ज्यो-का-त्यो यहाँ आया है। इसका अर्थ है हानि, नुकसान। आज भी यह शब्द 'लहंदा भाषा मे इसी रूप मे प्रयुक्त हाता है।

अलंकार—(१) 'जोग...जी'—मे वृत्यानुप्रास।

(२) 'घी को......मे उदाहरण।

(३) 'प्यारे पी' तथा 'स्यामसुन्दर' मे छेकानुप्रास।

(४) 'खाटी मही' मे लोकोक्ति।

आयो घोष बड़ो व्योपारी।
लादि खेप गुन ज्ञान-जोग की ब्रज में आय उतारी।
फाटक दै कर हाटक माँगत भोरै निपट सुधारी।
धुर ही तें खोटो खायो है लये फिरत सिर भारी।
इनके कहे कौन डहकावै ऐसी कौन अजानी?
अपनो दूध छाँड़ि को पीवै खार कूप को पानी।
ऊधो जाहु सबार यहां तें बेगि गहरु जनि लावौ।
मुंह माग्यो पैहो सूरज प्रभु साहुहि आनि दिखावौ॥

शब्दार्थ—घोष=अहीरो की बस्ती, गोकुल। खेद=गठरी। फाटक=

फटकन, भूसा । हाटक=सोना । भोरै=भोले-भाले, शरीफ । निपट=बिल्कुल । धारी-समझ कर । धुर=आरम्भ, मूल । टहकावै=ठगा जाय, धोखा खाय । अजानी=अज्ञानी । खारकूप=खारी जल का कुआँ । सवार=शीघ्र । वेगि=जल्दी । गहरू= विलम्ब, देर । जनि=मत । साहुहि =महाजन को, कृष्ण । आनि=लाकर ।

प्रसंग—उद्धव के योग-उपदेश देने के उपरान्त गोपियों के मन पर पर्याप्त प्रतिक्रिया हुई । उद्धव के निर्गुण ब्रह्म से गोपियाँ सगुण कृष्ण को श्रेष्ठ घोषित करती हैं । वह स्पष्टतः कहती है कि योग-साधना मे प्राणों की हानि है, हमे तो श्रीकृष्ण ही प्रिय है । इस समय वे उद्धव को सम्बोधित न करके परस्पर वार्तालाप कर रही हैं ।

व्याख्या—आज हमारी इस अहीरो की बस्ती मे एक अत्यन्त विचित्र व्यापारी आया हुआ है । उसने ज्ञान और योग के गुणों से युक्त सामान की गठरी यहाँ ब्रज म बेचने के लिए लाकर उतार दी है । उसने यहाँ के निवासियों को अत्यन्त भोला और अज्ञानी समझ लिया है जिससे फटकन के समान निस्सार वस्तु अर्थात् ज्ञान-योग समर्थित ब्रह्म को देकर उसके प्रतिकार स्वरूप अर्थात् स्वर्ण के समान बहुमूल्य एव प्रिय कृष्ण माँगा है । इस व्यापारी का असबाब बिल्कुल व्यर्थ है जिसके कारण यह बिक नही रहा और इसे आरम्भ से ही हानि उठानी पड रही है अर्थात् इसका सामान कोई भी नहीं खरीद रहा, अतः उसका भारी बोझ सिर पर लाद कर यह इधर-उधर भटकता फिर रहा है । यहाँ ब्रज मे हम ही कौन-सी नासमझ और अज्ञानी है जो इसका माल खरीदकर धोखा खा जाएं । हमने तो आज तक ऐसा कोई मूर्ख नहीं देखा जो जो अपने घर का मधुर दूध त्यागकर खारे जल के कुएँ का पानी पीने जाए ।

हे उद्धव ! तुम यहाँ से अत्यन्त शीघ्र मथुरा चले जाओ और अपने महाजन अर्थात् ज्ञान-योग की गठरी भेजने वाले साहूकार रूपी कृष्ण को यहाँ लाकर हमे उनके दर्शन करा दो तो तुम्हे मुहमाँगा पुरस्कार प्राप्त होगा अर्थात् तुम जो माँगोगे हम देंगी, तुम एक वार कृष्ण के हमे दर्शन करा दो ।

विशेष—(१) 'आयो घोष बडो व्यापारी' पक्ति में उद्धव के प्रति गोपियो का व्यग्य दर्शनीय है ।

(२) सम्पूर्ण पद मे अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य-ध्वनि है । उद्धव के ज्ञान-यगो

रूपी माल को निस्सार वस्तु घोषित करते हुए उसका तिरस्कार किया गया है।

(३) 'भर्त्सना' सचारी के साथ-साथ स्मृति और आवेश भी है।

(४) यहाँ कृष्ण-प्रेम अथवा कृष्ण को स्वर्ण के समान अमूल्य और स्पृहणीय तथा ज्ञान-योग से प्राप्त ब्रह्म को निस्सार वस्तु के समान उपेक्षणीय घोषित किया गया है।

(५) सम्पूर्ण-पद मे अभिव्यक्त व्यग्य निर्गुण-सम्प्रदाय पर मार्मिक चोट करता है।

(६) 'फाटक' एव 'हाटक' मे अत्यन्त सुन्दर शब्द-मैत्री है।

(७) 'धुरते ही खोटो खायो है' में अत्यन्त सुन्दर मुहावरे का प्रयोग हुआ है।

अलंकार—(१) सम्पूर्ण पद मे रूपक और अन्योक्ति का संकर रूप है।

(२) 'फाटक'······सुधारी'—में लोकोक्ति।

(३) 'खार कूप को पानी'—मे दृष्टान्त अलंकार है।

जोग ठगौरी व्रज न बिकैहै।
यह व्योपार तिहारो ऊधो! ऐसोई फिरि जैहै।
जापै लै आए हौ मधुकर ताके उर न समैहै।
दाख छाँड़ि कै कटुक निबौरी को अपने मुख खैहै।
मूरी के पातन के केना को मुक्ताहल देहै।
सूरदास प्रभु गुनहि छाँड़ि कै को निर्गुन निरबैहै? ॥

शब्दार्थ—ठगौरी=ठगी से भरा हुआ सौदा। फिरि जैहै=वापिस चले जाओगे। जापै=जिसके पास से। कटुक=कड़वी। निबौरी=नीम का फल। केना=सौदा। मुक्ताफल=मोती। निरबैहै=निर्वाह करेगा, साधना करेगा।

प्रसग—यह पद पूर्व-पद का पूरक है। गोपियाँ उद्धव के योग-ज्ञान को निस्सार वस्तु बताकर उन पर व्यग्य करती हैं। उद्धव का ज्ञान खारे जल के कुए के समान है, इसी कारण मधुर दूध रूपी कृष्ण को छोड़कर उसका पान कौन करना चाहेगा?

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव के ज्ञान-योग पर व्यंग्य करती हुई कह रही हैं कि हे उद्धव! तुम्हारा यह ज्ञान-योग रूपी ठगी और धूर्तता का माल व्रज में नही बिक पायेगा। तुम्हारा यह सौदा यहाँ से इसी प्रकार लौटा दिया जायेगा। इसे यहाँ कोई नही खरीदेगा। तुम जिनके लिए यह सामान इतनी दूर तक

लाए हो, उन्हे यह पसन्द नही आएगा और न ही यह उनके हृदय मे समा सकेगा। ऐसा कौन मूर्ख है जो अपने मुख के अंगूर के दानो को त्यागकर नीम के कड़ुए फल को खाएगा और मूली के तीखे पत्तो के बदले मे मोतियों के दाने देगा। कहने का तात्पर्य यह है कि तुम्हारा यह ब्रह्म नीम के फल के समान कडवा और मूली के पत्तो के समान समान तीखा अर्थात् तुच्छ, व्यर्थ और त्याज्य है और हमारे कृष्ण अंगूर के समान मधुर और मोतियो के समान बहुमूल्य हैं। इसलिए हम ऐसी मूर्ख नही कि कृष्ण को त्याग कर निर्गुण ब्रह्म की साधना करें। सूरदास जी कहते हैं कि ऐसा कौन है जो सम्पूर्ण गुणो के भण्डार-सगुण रूप कृष्ण को छोड़कर तुम्हारे गुणहीन-निर्गुण ब्रह्म के साथ निर्वाह करे अर्थात् उसकी साधना करे।

विशेष—इस पद में प्रथम दो पंक्तियो मे निहित व्यग्य की छटा दर्शनीय है

अलंकार—'दाख······निबौरी।'—अन्योक्ति।

(२) 'मूरी······मुक्ताफल'—तुल्योगिता।

(३) 'गुन निर्गुन'—श्लेप।

(४) 'जोग...बिकैहै'—रूपक।

आए जोग सिखावन पांडे।
परमारथी पुराननि लादे ज्यों बनजारे टांडे।
हमरी गति पति कमलनयन की जोग सिखै ते रांड़े
कहो, मधुप, कैसे समायँगे एक म्यान दो खांडे
कहु षटपद, कैसे खैयतु है हाथिन के संग गांडे
काकी भूख गई बयारि भखि बिना दूध घृत मांड़े
काहे का झाला लै मिलवत, कौन चोर तुम डांडे।
सूरदास तीनों नहिं उपजत धनिया धान कुम्हांड़े॥ २

शब्दार्थ—परमारथी=परमार्थ की शिक्षा देने वाले। बनजारे=खानाबदोश। पुराननि=पुराणो की, पुरानी, वासी। टांडे=सौदा, व्यापार का माल। रांडे=विधवा। खांडे=तलवारे। षटपद=छ पैरो वाला भौरा। गांड़े=गन्ना। बयारि=हवा। भखि=खाकर। मांडे=रोटी। झाला=बकवाद, झल्ल।। डांडे=दंड। कुम्होडे=कुम्हडा, काशीफल, कद्दू।

प्रसंग—उद्धव के ज्ञान-योग के उपदेश की प्रतिक्रियास्वरूप गोपियाँ

अत्यन्त खिन्न हैं। उनके मत मे ज्ञान-योग रूपी व्यापार का सौदा अत्यन्त निस्सार वस्तु है, इसके बदले दाख के समान मीठे और स्वर्ण के समान बहु-मूल्य श्रीकृष्ण को छोडना ठीक नही। वे योग की साधना न करके श्रीकृष्ण रूपी शाह से मिल कर अपना जीवन सफल करना चाहती है। इस पद में यही प्रसंग है और उसी प्रकार उद्धव पर गोपियों का व्यंग्य जारी है।

व्याख्या—हे उद्धव! तुम पडा के समान परमार्थ की शिक्षा देने वाले पुराणो मे निहित ज्ञान के बोझ को उसी प्रकार अपने सिर पर लादे फिर रहे हो जिस प्रकार खानाबदोश लोग अपने सिर पर माल लादे बेचने के लिए घूमते-फिरते हैं। अथवा तुम योग को सिखाने वाले पडे के समान परमार्थ रूपी पुरानी, बासी, व्यर्थ की वस्तु को लिए फिरते हो और हमारे ऊपर मढना चाहते हो। हमारी गति अपने पति के साथ है और हमारे पति कमलनयन श्रीकृष्ण हैं जो हमे शरण और प्रतिष्ठा देने वाले हैं। योग उन्ही के लिए उचित है जो विधवा और अनाथ हैं। हमारे पति कमलनयन श्रीकृष्ण जीवित है और हमे शरण एव प्रतिष्ठा देने वाले है, अतः योग हमारे लिए व्यर्थ की वस्तु है।

हमारे लिए योग सीखना उसी प्रकार है जिस प्रकार एक म्यान में दो तलवारों का समा जाना। जैसे एक म्यान में दो तलवारो का समा जाना असम्भव है उसी प्रकार हमारे लिए योग-ज्ञान की साधना करना असम्भव है क्योकि कृष्ण हमारे हृदय में समाए हुए है, वहाँ निर्गुण ब्रह्म की समाई नही हो सकती है। यह सभव नही। हे भ्रमर! हमे बताओ कि किस प्रकार हाथी के साथ गन्ने को खाया जा सकता है? क्योकि हाथी तो एक ही बार मे अनेक गन्नों को खा जाता है जबकि मनुष्य एक ही गन्ने को खाने मे पर्याप्त समय लगा देता है। जिस प्रकार हाथी के साथ गन्ना खाने मे मनुष्य स्पर्धा नही कर सकता उसी प्रकार हम अबला नारियो के लिए योग-मार्ग की कठिन और दुरूह साधना करना भी कठिन है।

हे उद्धव! हमे यह बताओ कि बिना दूध, घी, रोटी खाए केवल वायु के भक्षण अर्थात् प्राणायाम करने से किसकी भूख मिट सकती है? जिस प्रकार यह ... प्रकार हमारे लिए योग की साधना करना भी असभव है। ... ते बना-बनाकर व्यर्थ की थोथी

हम लोगो ने ऐसी आखिर कौन-सी चोरी की है जिसका तुम हमें दण्ड देने आए हो। अथवा तुम ऐसे महाजन हो जो हमे चोर समझकर दण्ड देने आए हो। वस्तुतः तुम स्वयं चोर हो क्योंकि हमारे प्रिय, मूल्यवान, सर्वस्व कृष्ण को, जो हमारे हृदय मे विराजमान हैं, चुराने, हमसे छीन कर ले जाने के लिए आए हो। तुम भली भाँति जानते हो कि जिस प्रकार धनिया, धान और काशीफल की खेती एक स्थल पर होनी असभव है, उसी प्रकार हमारे लिए भी कृष्ण को छोड़कर तुम्हारे ब्रह्म को स्वीकार करना असभव है।

विशेष—(१) सपूर्ण पद मे व्यजना एव लक्षणा शब्द-शक्तियो के माध्यम से भाषा की वाग्वैदग्धता मे वृद्धि हुई है।

(२) सूर ने इस पद मे विभिन्न उदाहरणो द्वारा यह सिद्ध किया है कि असंभव को सभव नही बनाया जा सकता। गोपियो के लिए कृष्ण को त्याग कर उद्धव के निर्गुण ब्रह्म को स्वीकार करना भी असंभव बात है जो सभव नही हो सकती।

(३) धनिए की खेती शीत ऋतु मे, धान की खेती पावस ऋतु मे और काशीफल की खेती ग्रीष्म ऋतु मे होती है, अतः तीनो की खेती एक स्थल पर एक समय होनी असभव है।......'तीनो नही उपजात' से कतिपय विद्वान् भक्ति, योग और ज्ञान का अर्थ लेते हैं किन्तु यह भ्रामक है क्योंकि इन तीनों का समन्वय कबीर जैसे ज्ञानमार्गी कवियो मे उपलब्ध होता है।

अलंकार—(१) 'एक म्यान दो खाडे'—लोकोक्ति।
(२) 'परमारथी...टांडे'—उपमा।

(३) ४, ५ और सातवा पक्ति मे लोकोक्ति अलकार के माध्यम से लोकोक्तियो और मुहावरो का सुन्दर एव सार्थक प्रयोग हुआ है।

ए अलि! कहा जोग मे नीको?
तजि रसरीति नन्दनन्दन की सिखवत निर्गुन फीको।
देखत सुनत नाहि कछु स्रवननि, ज्योति ज्योति करि ध्यावत।
सुन्दरस्याम दयालु कृपानिधि कैसे हो बिसरावत?
सुनि रसाल मुरली-सुर की धुनि सोई कौतुक रस भूले।
अपनी भुजा ग्रीव पर मेले गोपिन के सुख फूले।
लोककानि कुल को भ्रम प्रभु मिलि-मिलि कै घर बन खेली।
अब तुम सूर खवावन आए जोग जहर की बेली॥ २६॥

शब्दार्थ—नीको=अच्छाई, गुण। तजि=त्याग कर। रसरीति=प्रेम-क्रीडा की पद्धति। स्रवननि=कानों से। ध्यावत=ध्यान करते हैं। बिसरावत=भूलना। रसाल=मधुर। ग्रीव=गरदन, गला, उर। मेलें=डाल देते थे। लोककानि=लोक-लाज एव मर्यादा। खवावन=खिलाने। बेली=बूटी।

प्रसंग—उद्धव के योग के उपदेश से गोपियों पर गहन प्रतिक्रिया हुई है। वे अत्यन्त खिन्न है। अब वे भ्रमर के माध्यम से उद्धव को खरी-खोटी सुना रही हैं। उनके मत में कृष्ण का प्रेम बहुमूल्य वस्तु है, उसके बदले मे वे फटकने के समान व्यर्थ निर्गुण ब्रह्म की उपासना नही कर सकती। यहाँ तक कि उन्होने उद्धव को चोर का दर्जा भी दे डाला है क्योकि वह उनके हृदय मे विराजमान कृष्ण को उनसे छीन कर ले जाना चाहते हैं।

व्याख्या—हे उद्धव रूपी भ्रमर! तुम्हारे इस ज्ञान-योग मे ऐसी कौन-सी अच्छाई है जिससे तुम हमे नन्द-नन्दन श्रीकृष्ण के सुन्दर प्रेम को त्यागकर इस फीके, गुणहीन, रसरहित निर्गुण ब्रह्म की उपासना करने की बात कह रहे हो। योगमार्गी भक्त न तो नेत्रो से कुछ देख ही पाते है और न ही कानो से कुछ सुन पाते है, केवल 'ज्योति-ज्योति' कह कर व्यर्थ ही उसका ध्यान करने का प्रयत्न करते रहते हैं। निर्गुण-ब्रह्म ज्योति-स्वरूप तो अवश्य हो सकता है किंतु वह न तो कृष्ण के समान सुन्दर दर्शनीय ही है और न ही मधुर सरस वचनो से कानो को सुख पहुँचा सकता है। हम अपने ऐसे सुन्दर, दयालु, कृपा के भंडार कृष्ण को तुम्हारे इस ब्रह्म के लिए किस प्रकार भुला दे। उस नीरस ब्रह्म के लिए सुन्दर रसयुक्त कृष्ण को भुलाना असभव है।

हे उद्धव! हम उनकी मधुर मुरली की ध्वनि को सुनकर उसके आनन्द में रसलीन हो, उनके प्रेम मे हम स्वय को भूल जाती थी, पूर्ण विस्मृत हो जाती थीं। हमारी ऐसी अवस्था को देखकर वे हमारे गले मे अपनी भुजाएँ डाल देते थे, हमे अपने आलिंगन मे बद्ध कर लेते थे, ऐसे सुख मे हम फूली न समाती थी। हमने कृष्ण के साथ प्रेमलीलाएँ करते हुए, उनके साथ क्रीडा-विहार करते हुए लोक, समाज और परिवार के समस्त गौरव, मान-मर्यादा के भ्रम को विनष्ट कर दिया था, इस सबकी कुछ प्रवाह नही की। हमने कृष्ण के साथ प्रेम-क्रीड़ा करने मे लोक और कुल की भ्रान्ति पूर्ण मर्यादाओ की तनिक चिंता नही की थी। अब तुम हमे उस अमृत के समान मधुर-मादक कृष्ण-प्रेम को छोडने का उपदेश देकर अपने विष-फल उत्पन्न करने वाली योगरूपी इस बूटी

के फल को खिलाने यहाँ आए हो—अर्थात् तुम्हारा यह योग का उपदेश हमारे लिए विष के समान प्राणघातक होगा और कृष्ण का प्रेम हमारे लिए मधुर और जीवन-दायक है।

विशेष—पुष्टिमार्गी भक्ति-सिद्धान्त के अनुसार लोक-मर्यादा एवं कुल बन्धन की सीमाओ को तोडना भक्त के लिए आवश्यक है।

अलंकार—'जोग-जहर की वेली'—रूपक।

हमरे कौन जोग व्रत साधै ?
मृगत्वच, भस्म अधारि, जटा को को इतनो अवराधै ?
जाकी कहुँ थाह नहिं पैए अगम, अपार, अगाधै।
गिरिधर लाल छबीले मुख पर इते बांध को बांधै ?
आसन पवन विभूति मृगछाला ध्यानिनि को अवराधै ?
सूरदास मानिक परिहरि कै राख गाँठि को बांधै ? २७ ॥

शब्दार्थ—साधै=साधना करे। मृगत्वच=हरिण की छाल। अवराधै=आराधना करे। जाकी=जिसकी। अधारि=साधुओ की हाथ टिकाने की लकडी। अगाधै=अथाह। बांध=बन्धन। पवन=वायु, यहाँ प्राणायाम। विभूति=राख। मानिक=मोती। परिहरि=त्यागकर।

प्रसंग—उद्धव के ज्ञान के उपदेश की प्रतिक्रियास्वरूप गोपियाँ अत्यन्त खिन्न है। उनका कहना है कि परम प्रिय सुन्दर कृष्ण को छोडकर निर्गुण-ब्रह्म की साधना करना नितान्त असम्भव है। कृष्ण के साथ क्रीडा-विहार करते हुए उन्होने लोक-मर्यादा और कुल की सीमा को तोड दिया था। ऐसे अमृत को त्याग कर विष की बूटी के फल के रूप मे निर्गुण ब्रह्म की अराधना करना हमारे लिए सम्भव नही।

व्याख्या—हे उद्धव ! हम तुम्हारे योग-व्रत की साधना रही कर सकती। हम कहाँ खाली बैठी हैं कि इतने बडे झंझट को मोल लें। कौन मृगछाला, भस्म और अधारी-वस्तुओ को एकत्रित करके और सिर पर जटा बांध कर तुम्हारे निर्गुण ब्रह्म की आराधना करे। यह तो अत्यन्त कठिन कार्य है। तुम्हारा निर्गुण ब्रह्म तो ऐसा है जिसकी थाह पाना सम्भव नही, जो अगम्य, अपार और अगाध है, उसे प्राप्त करना क्या कोई सरल कार्य है जो तुम हम अबलाओ को इसका उपदेश दे रहे हो। ये सब प्रयत्न तो व्यर्थ ही है हमारे सुन्दर-सलोने

कृष्ण के छबीले-चंचल मुख के दर्शन करने के लिए तो किसी को इतने आडम्बर करने की आवश्यकता नही। उन्हे प्राप्त करने के लिए, प्रसन्न करने के लिए आसन, प्राणायाम, भस्म, मृगछाला आदि माध्यमो की कतई आवश्यकता नही। यहाँ तो केवल एक सच्चा प्रेम चाहिए। सूरदास जी कहते है कि हे उद्धव, ऐसा कौन मूर्ख है जो इन सारे प्रपंचो मे पड कर निर्गुण ब्रह्म की आराधना करे और इस प्रकार कृष्ण रूपी माणिक-मुक्ता को त्याग कर उसके स्थान पर निर्गुण-ब्रह्म रूपी राख को अपनी गाँठ मे बाँध ले।

विशेष—(१) इस पद में सूरदास जी ने यह स्पष्ट किया है कि सगुण-मार्गीय भक्ति सहज और सरस है जबकि योग-मार्गी भक्ति क्लिष्ट, कठिन और असहज है।

(२) इस पद में अष्टाँग योग के साधनो का उल्लेख किया गया है जो इस प्रकार है—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि।

(३) 'बाँध-बाँधना' आदि मुहावरो के प्रयोग से भाषा की व्यजना शक्ति बढी है।

अलंकार—सम्पूर्ण पद में अन्योक्ति अलकार है।

हम तो दुहूँ भाँति फल पायो।
जो ब्रजनाथ मिले तो नीको, नातरु जग जस गायो।
कहँ वै गोकुल की गोपी सब बरनहीन लघुजाती।
कहँ वै कमला के स्वामी सँग मिलि बैठीं इक पाँती।
निगम ध्यान मुनिज्ञान अगोचर, ते भए घोष निवासी।
ता ऊपर अब साँच कहो धौ मुक्ति कौन की दासी ?
जोग-कथा, पा लागों ऊधो, ना कहु बारंबार।
सूर स्याम तजि और भजै जो ताकी जननी छार॥ २८॥

शब्दार्थ—दुहूँ भाँति=दोनो प्रकार से। नीको=अच्छा, श्रेष्ठ। नातरू=नही तो। बरनहीन=नीच कुल की। लघुजाती=नीच जाति की। कमला के स्वामी=लक्ष्मी पति विष्णु के अवतार श्रीकृष्ण। पाँति=पक्ति। निगम=वेद। अगोचर=अप्राप्त। घोष निवासी=अहीरो की बस्ती मे आकर रहे। छार=राख, यहाँ धिक्कार।

प्रसंग—उद्धव के योग-उपदेश की प्रतिक्रिया स्वरूप गोपियाँ उन्हे खरी-

खोटी सुना रही हैं। गोपियो के मत में निर्गुण ब्रह्म की साधना करना अत्यन्त दुष्कर व्यापार है। इसके लिए आसन, मृगछाला, भस्म, आधारी आदि साधनो को एकत्रित करना पडता है। फिर भी यह कहना कठिन है कि ब्रह्म के साथ साक्षात्कार भी हो सकेगा। किन्तु कृष्ण को प्राप्त करने के लिए इस सब आडम्बर की आवश्यकता नही, यहाँ तो केवल सच्चा प्रेम चाहिए।

व्याख्या—हे उद्धव ! कृष्ण-प्रेम का फल तो हमे दोनो प्रकार मे प्राप्त हो सकेगा। यदि हमे अपने इस विरह के अन्त मे व्रजनाथ श्रीकृष्ण मिले तो यह अति उत्तम रहेगा क्योकि हम ब्रह्म मे लीन हो जायेंगी। और यदि हमारी उनसे भेंट न हो सकी तो हमारे मरणोपरान्त सारा ससार हमारा यशगान करेगा कि गोपियाँ कृष्ण के प्रति अपने प्रेम मे सदा एकनिष्ठ रही। वस्तुत. हमारी और कृष्ण की कोई समानता ही नही, कहाँ हम नीच जाति की कर्म-वर्णहीन, गोकुल की गोपियाँ और कहाँ वे लक्ष्मीपति ब्रह्मस्वरूप कृष्ण। यह तो हमारा परम सौभाग्य ही था, कि हमे उनसे प्रेम करने का अवसर मिला और उन्होने भी हमे अपने प्यार के योग्य समझा और इस प्रकार हम उनके साथ एक पक्ति मे बैठी अर्थात् उन्होने हमे अपने साथ समानता का दर्जा प्रदान किया।

वेद भी जिन भगवान का सदा ध्यान करते हैं, जिन्हे पूर्ण ज्ञानी मुनिगण भी प्रयत्न करने पर प्राप्त नही कर पाते, वही भगवान इस अहीरो की वस्ती मे आकर रहे थे। इससे ऊपर तुम हमे यह वताओ कि मुक्ति किसकी दासी है ? मुक्ति ब्रह्म की दासी है और वह ब्रह्म निश्चय ही कृष्ण हैं। हम तुम्हारे पाँव पडती हैं कि हे उद्धव ! योग की कथा बार-बार हमे मत सुनाओ। सूरदास जी कहते है कि गोपियो का यह निश्चय मत है कि जो कृष्ण को त्याग कर किसी अन्य की उपासना करता है, उसकी जन्म-दायिनी माता भी धिक्कार के योग्य है।

विशेष—(१) प्रस्तुत पद मे कृष्ण के प्रति गोपियो के अनन्य प्रेम और उनके दैन्य भाव का अत्यन्त सुन्दर चित्र प्रस्तुत हुआ है।

(२) दैन्य भाव के कारण परिवर्तित मनोदशाओ का मनोहारी अंकन है, और उपालम्भ का भाव स्पष्टतः तिरोधान हो रहा है।

अलकार—'सूर स्याम'''जननी छार'—लोकोक्ति।

पूरनता इन नयन न पूरी।
तुम जो कहत स्रवननि सुनि समुझत, ये याही दुख मरति बिसूरी।
हरि अंतर्यामी सब जानत बुद्धि बिचारत बचन समूरी।
वै रस रूप रतन सागर निधि क्यों मनि पाय खवावत धूरी॥
रहु रे कुटिल, चपल, मधुलंपट, कितव संदेस कहत कटु कूरी।
कह मुनिध्यान कहाँ व्रजयुवति! कैसे जात कुलिस करि चूरी॥
देखु प्रगट सरिता, सागर, सर सीतल सुभग स्वाद रुचि रूरी।
सूर स्वातिजल बसै जिय चातक चित लागत सब झूरी॥२६॥

शब्दार्थ—पूरनता=पूर्णता। न पूरी=नही जँचती। बिसूरी=बिलख-बिलख कर। समूरी=पूर्णरूप से। धूरी=धूल-मिट्टी। कुटिल=छली। चपल=चचल। मधुलंपट=रस के लोभी। कितव=धूर्त्त। कूरी=क्रूर, निष्ठुर। कुलिस=वज्र। सर=तालाब। सीतल=ठण्डा। सुभग=मधुर। रूरी—अच्छी। झूरी=नीरस।

प्रसग—उद्धव के ज्ञानोपदेश की प्रतिक्रियास्वरूप गोपियाँ खीझी हुई है और उद्धव को खरी-खोटी सुना कर अपने प्रेमपथ की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करना चाहती है। अब उनकी खीझ दीनता मे परिवर्तित होती जा रही है और उपालम्भ का तिरोधान हो रहा है। उन्हे यदि श्रीकृष्ण मिलते हैं तो श्रेष्ठ है, नही तो उनकी एकनिष्ठता का सारा ससार यश गान करेगा। वे नीच कुल और नीच जाति की हैं, किन्तु कमलापति विष्णु के अवतार श्रीकृष्ण ने उनसे समानता का व्यवहार किया और अपने निकट उन्हे एक पक्ति मे बिठाया। यह भी उनके लिए परम सौभाग्य की बात है। प्रस्तुत पद मे गोपियाँ उद्धव पर व्यग्य कर रही है क्योकि उन्होने कृष्ण को पूर्ण ब्रह्म कहा था।

व्याख्या—हे उद्धव! तुमने पूर्ण ब्रह्म का जो वर्णन किया है, उसकी वह पूर्णता हमारे इन नेत्रो मे पूरी तरह समा नही पाती अर्थात् हमारे इन नेत्रो को वह पूर्णता जँचती ही नही। तुमने हमसे ब्रह्म की पूर्णता के विषय मे जो-जो बातें कही है, उसे हम अपने कानो से सुन कर समझने का प्रयत्न कर रही है, परन्तु इस पर हमारी आँखे दुखी है और बिलख-बिलख कर मरी जा रही है। इस बिलखने के दो कारण हो सकते है। एक तो यह कि इन्हे तुम्हारे

द्वारा वर्णित ब्रह्म की पूर्णता कही भी दृष्टिगत नही होती अथवा इन्हे यह भय है कि कही हम तुम्हारी बातो में आकर कृष्ण को न त्याग दें और तुम्हारे निर्गुण ब्रह्म को स्वीकार न कर लें। ऐसा होने पर कृष्ण के सौन्दर्य मे छकी हुई इन आँखो को ऐसी स्थिति में फिर कृष्ण के मधुर रूप के दर्शन न हो सकेंगे।

सब जन को यह जानकारी है कि भगवान अन्तर्यामी हैं। बुद्धि द्वारा इस बात पर पूर्ण रूप से विचार करने पर हमे भी तुम्हारा यह कथन सत्य प्रतीत होता है और इस पर विश्वास होने लगता है किन्तु हमारे कृष्ण तो प्रेम, रूप और रत्नो के सागर है, वे अति मूल्यवान है। ऐसे कृष्ण रूपी माणिक को प्राप्त कर लेने पर तुम क्यो हमे धूल के समान तुच्छ अपने निर्गुण ब्रह्म को अपना लेने का उपदेश दे रहे हो। तुम्हारा यह उपदेश व्यर्थ ही जाएगा। हम अपना धर्म बदलने वाली नही। क्योकि यह तो गाँठ की मणि को त्याग कर धूल फाँकने के समान मूर्खता ही होगी।

तदुपरान्त भ्रमर को सम्बोधित करते हुए वे उद्धव को खरी-खोटी सुनाती हुई कहती हैं कि रे छली, चचल, रस के लोभी, धूर्त भँवरे ठहर जा! तू हमे ऐसा योग का कटु सन्देश क्यो सुना रहा है? तू हमे यह तो बता कि कहाँ मुनियो की ब्रह्म विषयक कठोर साधना और कहाँ हम कोमलांगी ब्रज की युवतियाँ, कही भी तुम्हे समानता दिखाई देती है। हम ब्रज की कोमलांगनाए किस प्रकार योग-विषयक क्लिष्ट साधना करने मे समर्थ हो सकती है? जिस प्रकार कठोर वज्र को तोड कर चकनाचूर करना असम्भव है, उसी प्रकार हमारे लिए भी इस योग का करना असम्भव है। इस ससार मे सरिता, सागर, तालाब का जल मीठा, निर्मल और शीतल होता है, यह देख कर भी स्वाति-जल के प्रेमी चातक के हृदय मे तो केवल स्वाति-नक्षत्र के समय उपलब्ध जल के प्रति ही प्रेम होता है, वह उसी का पान करके अपनी तृषा को शान्त करता है, उसके लिए अन्य स्रोतो से प्राप्त जल शीतल और मधुर होने पर भी नीरस और व्यर्थ है। इसी प्रकार तुम्हारा ब्रह्म निश्चय ही मुक्ति देने वाला हो किन्तु हमे तो कृष्ण ही एकमात्र प्रिय लगते हैं, हम उन्ही से प्रसन्न है, हमे मोक्ष की आकांक्षा नही, अतः हम तुम्हारे ब्रह्म को स्वीकार करने मे असमर्थ है।

विशेष—(१) गोपियो ने चातक का उदाहरण देकर अपने प्रेम की अनन्यता

की घोषणा की है। उनका कृष्ण-प्रेम चातक के समान अटल है। निर्गुण ब्रह्म की अवहेलना न कर, उसे श्रेष्ठ स्वीकारते हुए भी वे कृष्ण के सम्मुख उसे महत्व नही देती।

(२) चातक के प्रेम की अनन्यता का आदर्श प्रतीक स्वीकार किया गया है। तुलसी ने भी चातक की अनन्यता पर अनेक दोहों की रचना की है। देखिए कुछ उदाहरण—

(क) 'चरग चंगु गत चातकहि नेम प्रेम की पीर।
तुलसी परवस हाड़ पर परिहै पुहुमी नीर॥

(ख) 'बध्यो बधिक पर्‌यो पुन्यजल उलटि उठाई चोंच।
तुलसी चातक प्रेम पट मरतहुँ लगी न खोंच॥"

(३) 'सरिता सागर सर' मे दुष्क्रमत्व दोष है।

अलकार—(१) सम्पूर्ण पद मे छेकानुप्रास, वृत्यानुप्रास अलकार अनेक स्थलो पर आए है।

(२) 'कह मुनि···चूरी' में निर्दशना अलंकार है।

हमतें हरि कबहूँ न उदास।
राति खवाय पिवाय अधररस सो क्यों बिसरत ब्रज को बास॥
तुनसो प्रेमकथा को कहिबो मनहुँ काटिबो घास।
बहिरो तान-स्वाद कह जानै, गूँगो बात-मिठास॥
सुनु री सखी, बहुरि फिरि ऐहैं वे सुख बिबिध बिलास।
सूरदास ऊधो अब हमको भयो तेरहों मास॥ ३९

शब्दार्थ—राति=प्रेमपूर्वक। काटिबो घास=घास काटना, व्यर्थ माथा-पच्ची करना। तान स्वाद=सगीत से प्राप्त आनन्द। बहुरि=पुनः। फिरि ऐहै=लौट आयेगे। बिबिध=अनेक। बिलास=प्रेमक्रीड़ाएँ। तेरहो मास=पर्याप्त अवधि का बीत जाना।

प्रसंग—उद्धव के ज्ञानोपदेश की गोपियो के हृदय पर गहन प्रतिक्रिया हुई है। वे अत्यन्त खिन्न हैं। उद्धव को उन्होने पर्याप्त खरी-खोटी सुनाई है। अब वे अपने एव कृष्ण के प्रेम को न्यायोचित ठहराने का प्रयत्न कर रही हैं। उनका कहना है कि उनका कृष्ण के प्रति प्रेम चातक के समान अटल है। उन्हे यह भी विश्वास है कि कृष्ण भी उनसे उदासीन नही।

व्याख्या—हे उद्धव ! हमारे प्रभु कृष्ण हमसे कभी भी उदासीन एव विरक्त नही हो सकते क्योंकि उन्हें ब्रजभूमि का अपना निवास कभी भी विस्मृत नही हो सकता। यहाँ जब वे हमारे सानिध्य मे थे तो हमने उन्हे अत्यन्त प्रेमपूर्वक मक्खन खिलाया था और प्रेमावस्था मे अपने अधरो के अमृतरस का पान कराया था। परन्तु तुम्हारे सम्मुख इस प्रेम-कथा का बखान करना तो घास काटने के समान व्यर्थ माथा-पच्ची करना है क्योंकि न तो तुम इसके महत्व को ही समझ सकते हो और न ही इससे आनन्दित हो सकते हो। तुम्हारी गति तो उस बहरे मनुष्य के समान है जो सगीत के उतार-चढाव से नि सृत मधुर तानो का स्वाद नही जानता अथवा उस गूगे व्यक्ति के समान है जो प्रेमालाप से उपलब्ध रस को ग्रहण नही कर सकता।

तदुपरान्त एक गोपी ने अपनी एक अन्य सखी से कहा कि हे सखी ! सुन क्या हमारे जीवन मे पुन. वही सुख अनेक प्रकार की प्रेम-केलियाँ कभी फिर भी आएँगी ? अर्थात् क्या कभी कृष्ण पुन ब्रज वापिस आएँगे और हमारे साथ वही प्रेम-क्रीड़ाएँ करेंगे जिससे हमे पूर्व सुख प्राप्त होगा। अब तो उनके आने का समय भी आ गया है क्योकि जितनी अवधि के लिए वह मथुरा गए थे वह समाप्त हो रही है, अतः आशा है कि अब वह शीघ्र वापिस लौटेंगे।

विशेष—(१) प्रस्तुत पद मे सूर ने 'मनहु काटिबो घास', 'भयो तेरहो मास' आदि ग्रामीण मुहावरो का प्रयोग कर लोकगीतो की छटा उत्पन्न की है।

(२) एक वर्ष मे बारह मास होते हैं। तेरहवें मास के लगने से अभिप्राय है कि अब प्रियतम की बताई गई अवधि समाप्ति पर है और अब उसके आने का समय हो रहा है।

अलंकार—(१) 'बहिरो···बात मिठास'—निदर्शना।
(२) 'मनहुँ काटिबो घास'—उत्प्रेक्षा।

तेरो बुरो न कोऊ मानै।
रस की बात मधुप नीरस, सुनु, रसिक होत सो जानै॥
दादुर बसै निकट कमलन के जन्म न रस पहिचानै।
अलि अनुराग उड़न मन बांध्यो कहे सुनत नहिं कानै॥
सरिता चलै मिलन सागर को कूल मूल द्रुम मानै।
कायर बकै, लोह तें भाजै, लरै जो सूर बखानै॥ ३१॥

शब्दार्थ—रसिक=प्रेमी। दादुर=मेढक। कूल=किनारा। मूल=जड़ सहित। मानै=नष्ट करना। द्रुम=वृक्ष। बकै=थोथी बकवास करता है। लोह=लोहा, तलवार। भाजै=दूर रहता है। बखानै=कहा जाता है। सूर=वीर।

प्रसग—गोपियाँ अब कुछ सम्भल गई है। अब वे अपनी पूरी शक्ति अपने प्रेम के महत्व का वर्णन करने मे लगा रही है। उनका कहना है कि कृष्ण के प्रति उनका प्रेम चातक-प्रेम के समान अटल है। उन्हे विश्वास है कि कृष्ण भी उनके प्रति उदास नही है। अब उनके मथुरा-प्रवास की अवधि भी समाप्त हो रही है, आशा है कि वह लौटेगे और हम पुन: उनके साथ आनन्द-विहार कर सकेगी। प्रस्तुत पद मे वे पुन. उद्धव के ज्ञानोपदेश पर व्यग्य कर रही है।

व्याख्या—हे नीरस स्वभाव वाले भ्रमर ! सुन ! तेरी बात का बुरा यहाँ कोई नही मानता क्योकि प्रेम की रसभरी बाते वही सोच-समझ सकता है जो स्वयं प्रेमी और रसिक हो। तू तो मधु के लोभ मे प्रत्येक पुष्प पर मँडराता फिरता रहता है। किसी एक पुष्प के साथ तुझे कोई लगाव नही। इसलिए तू प्रेम की बाते नही समझ सकता और न ही प्रेम की बातो मे रस ले सकता है। मेढक अपने पूरे जीवन मे कमल-पुष्पो के निकट निवास करता है किन्तु फिर भी कमल के पराग से प्राप्त रस को पहचान पाने मे सर्वथा असमर्थ रहता है। किंतु भ्रमर कमल के पराग की सुगन्ध को पहचानता है, वह उसका सच्चा पारखी है, तभी तो वह उससे अनुराग रखता है। वस्तुत: उसका मन कमल मे बन्ध कर रह जाता है, तभी तो वह कही भी हो कमल के पास तत्काल उड़कर जाता है और मार्ग मे किसी भी बाधा की तनिक भी परवाह नही करता। और न ही किसी के कहने की ओर कान देता है। कवि का कहने का तात्पर्य यह है कि उद्धव का जीवन दादुर के समान व्यर्थ है क्योकि वह कृष्णरूपी कमल के पास निवास करता हुआ भी उसकी रसिक प्रवृत्ति से परिचय प्राप्त न कर सका और जीवन भर प्यासा ही रहा जबकि हम गोपिकाओ का मन भ्रमर के सदृश उनके प्रेम मर्म को जानता है, उनमे निहित प्रेमरस से परिचित है तभी तो सदा उड कर उनके पास जाना चाहता है और ऐसा करने में वह किसी लोक-मर्यादा, कुल, जाति के गौरव की किसी बाधा की तनिक भी परवाह नही करता।

सरिता की गति भी अलि जैसी ही है। जब वह अपने प्रियतम सागर के प्रेमवश उससे मिलने के लिए चल पड़ती है तो पथ की बाधाएँ—किनारे पर उत्पन्न लता-द्रुमो को उखाड़कर नष्ट कर देती है। तुम्हारे जैसी व्यक्ति ही प्रेम-पथ पर चलता हुआ ऊंच-नीच पर विचार-विमर्श करता है, परन्तु हम जैसे प्रेमी-जन सब लोक-मर्यादाओ का त्यागकर अपने प्रिय से एकाकार हो जाते हैं। कायर व्यक्ति केवल बातो के धनी होते है, हथियार देखकर भाग खडे होते है, वास्तविक वीर वही है जो युद्ध में सम्मुख होकर सघर्ष करता है और वस्तुतः विजयश्री का वरण करता है। कवि का कहने का अर्थ यह है कि उद्धव वस्तुतः कायर है क्योंकि वह योग-ज्ञान से प्राप्त ब्रह्म सम्बन्धी कोरी बातो मे विश्वास करते हैं, अपने निकट बसने वाले कृष्ण के मर्म को पहचानने का प्रयत्न नही करते, उन से प्रेम की लौ लगाकर अपना जीवन सफल करना नही चाहते। प्रेम करना रण-क्षेत्र के युद्ध के समान साहस का कार्य है। तभी तो कोरी बातो का सहारा लेने वाले उद्धव प्रेम के क्षेत्र मे गोपियो की समानता नही कर सकते।

विशेष—(१) भ्रमर कमल का प्रेमी स्वीकार किया गया है। दादुर और अलि की इस प्रकृति के अन्तर को कवि जायसी ने भी स्पष्ट किया है।

> भंवर आइ बन खड सग, लेहि कवल कै बास।
> दादुर बास न पावई, भलई जो आछै पास॥

(२) दादुर और अलि की प्रतीकात्मक योजना अत्यन्त प्रभावशाली बन पडी है।

(३) प्रस्तुत पद मे उत्तम रीति से अलि और सरिता का उदाहरण देकर प्रेममार्ग की दृढता और एकनिष्ठता का प्रतिपादन किया है।

अलकार—(१) 'तेरो···मानै'—वक्रोक्ति।

(२) 'दादुर···बखानै—उल्लेख।

(३) 'सरिता···मानै—अप्रस्तुतप्रशसा।

(४) 'कायर···बखानै—अर्थान्तरन्यास।

> घर ही के बाढे रावरे।
> नाहिन मीत बियोगबस परे अनवउगे अलि बावरे।
> भुख मरि जाय चरै नहिं तिनुका सिह को यहै स्वभाव रे।

स्रवन सुधा-मुरली के पोषे जोग-जहर न खवाव, रे।
ऊधो हमहि सीख का दैहो ? हरि बिनु अनत न ठाँव रे।
सूरदास कहा लै कीजै थाही नदिया नाव, रे! ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ—बाढे=बढ़-बढ़ कर बातें करने वाले। रावरे=तुम। अनवउगे=अंगवोग, सहोगे। मीत=मित्र, प्रिय। स्रवन=कान। सुधा-मुरली=मुरली की धुनि रूपी अमृत। पोषे=पोषण किए गए। अनत=अन्यत्र, कही और। ठाँव=स्थान। थाही=उथली।

प्रसंग—उद्धव के ज्ञानोपदेश की प्रतिक्रियास्वरूप गोपियाँ अत्यन्त खिन्न है। वे अपने प्रेम-मार्ग की श्रेष्ठता सिद्ध कर रही है। उनके मत मे उद्धव का जीवन उस मेढक के समान है जो कृष्ण रूपी कमल के निकट बस कर भी प्रेमरस को नही पहचानता, इसलिए तो हमें ज्ञान-योग की शिक्षा दे रहा है।

व्याख्या—हे उद्धव ! तुम तो घर के ही शेर हो। तुम्हारे जैसे ज्ञान-योग का गुणगान करने वाले घर पर बैठे-बैठे ही बडी-बडी बाते बनाते है, उनसे कोई क्रियात्मक कार्य करते नही बनता। सुन बावले भ्रमर ! तुमने अभी तक अपने प्रिय का वियोग नही सहा, जब तुम्हारे लिए अपने प्रिय का वियोग सहने का अवसर आयेगा, तभी तुम जान सकोगे कि यह कितना दुखदायी और प्राणान्तक होता है। सिंह का तो यह स्वभाव होता है कि वह स्वय शिकार करके ही अपने शिकार के गोश्त से अपने पेट की क्षुधा को शान्त करता है। वह भूखा मर सकता है, किन्तु घास अथवा किसी अन्य के किए गए शिकार का गोश्त नही खाता। सिंह की इस दृढता के समान हम भी अपने कृष्ण प्रेम मे दृढ हैं। प्रेम की वियोग-व्यथा से चाहे हमारे प्राण निकल जाएँ, परन्तु हम कृष्ण के प्रेम को नही छोड़ेगी और न ही तुम्हारे निर्गुण ब्रह्म को स्वीकार करेगी।

हमारे इन कानो का पोषण कृष्ण की मुरली की अमृत के समान मधुर तान से हुआ है। ये उन तानो को सुनने के ही अभ्यस्त हो चुके है, अतः इन्हे तुम विष के सदृश कटु योग की बाते सुना कर व्यथित न करो। हे उद्धव ! तुम भला हमे क्या शिक्षा एवं उपदेश दोगे, हमारे लिए तो भगवान् श्रीकृष्ण ही एकमात्र आश्रय है, उनके अतिरिक्त हमे जाने को अथवा शरण पाने को अन्य कोई स्थान नही। हम कृष्ण-प्रेम मे निमग्न हैं, हमारे लिए यह संसार

उस उथली नदी के समान है जिसे पार करने के लिए किसी नावरूपी सहारे की आवश्यकता नही होती, अतः हम तुम्हारे योग रूपी सम्बल को लेकर क्या करेंगी ? वस्तुतः इसकी हमे कोई आवश्यकता नही ।

सूरदास जी का कहने का भाव यह है कि संसार उद्धव जैसे ज्ञानियो के लिए अथाह और अगम्य हो सकता है तथा उसे पार करने के लिए तुम्हे निर्गुण ब्रह्म रूपी सहारे की भी आवश्यकता होती है परन्तु कृष्ण-प्रेम मे लीन गोपियो के लिए यह ससार उथली नदी के समान सहज है, जिसे भक्ति और विश्वास पर ही तैरा जा सकता है ।

विशेष—(१) योग-मार्गियो द्वारा भव-सागर को पार करना कठिन बताए जाने वाले सिद्धान्त पर गहन व्यग्य है । प्रेम-मार्गी इस ससार को सरल, ग्राह्य एव मधुर स्वीकार करते है ।

(२) तृतीय पक्ति का भाव-साम्य एक अन्य कवि मे भी उपलब्ध होता है, देखिए निम्न पक्ति—

'केहार तृण नही चर सके तो व्रत करैं पचास ।'

अलकार—(१) 'सुधा-मुरली'—रूपक ।

(२) 'मुख···स्वभाव ।'—उदाहरण ।

(३) 'स्रवन···खवाव'—विषम ।

(४) 'कहा···नाव'—तुल्योगिता एव लोकोक्ति ।

स्यामसुख देखे ही परतीति ।
जो तुम कोटि जतन करि सिखवत जोग ध्यान की रीति ।
नाहिंन कछू सयान ज्ञान में यह हम कैसे मानै ।
कहौ कहा कहिए या नभ को कैसे उर में आनै ।
यह मन एक, एक वह मूरति, भृंगकीट सम माने ।
सूर सपथ दै बूझत ऊधो यह ब्रज लोग सयाने ॥ ३३

शब्दार्थ—परतीति=विश्वास । जतन=यत्न । सयान=सयानापन, चालाकी । नभ=आकाश, यहाँ शून्य । आनै=लाएँ । भृंगकीट=बिलनी नाम का एक कीड़ा जिसके विषय मे प्रसिद्ध है कि वह अपने संपर्क मे आने वाले अन्य कीडो को पकडकर उन्हे भी अपने आकार का बना देता है ।

प्रसग—गोपियो के मत मे उद्धव जैसे ज्ञानी पुरुष ही योग-ध्यान की बाते

करते हैं क्योकि ये लोग क्रियात्मक कार्य करने में असमर्थ होतें है, इन्ही के लिए यह भवसागर अगम्य एव अथाह है, और इससे पार उतरने के लिए ब्रह्मरूपी सबल की आवश्यकता है। गोपियाँ कृष्ण के प्रेमरस मे लीन है, उनके लिए यह ससार उथली नदी के समान सहज हैं।

व्याख्या—हे उद्धव ! अब तो कृष्ण के दर्शन करने पर ही हमे विश्वास हो सकेगा कि वास्तविकता क्या है ? तुम्हारे ज्ञान-योग के उपदेश की प्रामाणिकता भी तभी सिद्ध होगी। तुम अनेक प्रयत्नो के द्वारा हमे योग और ज्ञान की पद्धतियो की शिक्षा देना चाहते हो किन्तु इन पर हमारा मन स्थिर नही हो पाता। हम किस प्रकार यह स्वीकार कर ले कि तुम्हारे इस ज्ञानोपदेश मे कही कोई खोट, चालाकी अथवा दुरभिसधि का समावेश नही। हमे स्पष्ट यह लग रहा है कि तुम हम लोगो को कृष्ण-प्रेम से उदासीन करके अपनी कोई स्वार्थ-सिद्धि करना चाहते हो।

यह तो बताओ कि इम आकाश जैसे विस्तृत ब्रह्म (शून्य) को हम किस प्रकार अपने हृदय मे समेट ले, आत्मसात् कर ले ? हमारा यह हृदय एक है और इसमे पहले से ही एक मूर्ति (श्रीकृष्ण की) विराजमान है। हमारा हृदय और कृष्ण मूर्ति पहले से ही मिलकर भृग और कीट के समान एक हो चुके हैं। हमारे हृदय पूर्णरूप से कृष्णमय बन गए है। अत' अब यह ज्ञानवान व्रज-वासी तुम्हे शपथ देकर यह जानना चाहते है कि क्या इनके कृष्णमय हृदयो मे निर्गुण-ब्रह्म के लिए कोई स्थान उपलब्ध हो सकता है ? क्या इनके लिए निर्गुण ब्रह्म की साधना करना सम्भव है ? जब इनका हृदय कृष्ण-मूर्ति के साथ एकरूप हो चुका तो हमे ब्रह्म की साधना असम्भव ही जान पडती है।

विशेष—(१) प्रस्तुत पद मे गोपियो द्वारा अनन्य प्रेम की स्थापना हुई है।

(२) 'नभ' से यहाँ दो अर्थ ग्रहण किए जा सकते है। नभ का एक अर्थ आकाश है जो इतना विशाल है कि हृदय में समेटा नही जा सकता। दूसरा अर्थ शून्य है जिसके हृदय में धारण करने से कोई लाभ नही, इस दूसरे अर्थ में शून्य से अभिप्राय निर्गुण ब्रह्म से है।

(३) प्रेम की अनन्यता की अवस्था मे प्रिय और प्रियतम अथवा उपासक एव उपास्य एक रूप हो जाते हैं, उनकी पृथक् कोई स्थिति नही रहती। 'भृंग-

कीट सम' का यही अभिप्राय है।

अलंकार—(१) 'कहो'''आने'—रूपकातिशयोक्ति।

(२) 'भृंगकीट सम'—उपमा।

लरिकाई को प्रेम, कहौ अलि, कैसे करिकै छूटत
कहा कहौ ब्रजनाथ-चरित अब अंतरगति यों लूटत ॥
चचल, मनोहर चितवनि, वह मुसुकानि मंद धुनि गावत।
नटवर भेस नदनंदन को वह विनोद गृह वन तें आवत ॥
चरनकमल की सपथ करति हौं यह संदेस मोहिं विष सम लागत।
सूरदास मोहि निमिष न विसरत मोहन मूरति सोवत जागत ॥ ३४ ॥

ब्दार्थ—लरिकाई=बचपन, शैशवावस्था। अन्तरगति=मन, चित्त की निमिष=क्षण भर भी।

सग—गोपियाँ अनेक दृष्टान्तो द्वारा अपने पथ की श्रेष्ठता का प्रतिपादन चाहती हैं। उनका कहना है कि कृष्ण की मोहिनी सूरत उनके मन मे कर उनके मन के साथ एकरूप हो चुकी है, अब वहाँ निर्गुण-ब्रह्म की ा के लिए कोई स्थान नही। कृष्ण और गोपियो का सम्पर्क और प्रेम .....मन से ही रहा है, इसलिए इसे भुला पाना सरल नही, इसी बात को स्पष्ट करती हुई गोपियाँ इस पद मे कह रही है—

व्याख्या—हे उद्धव! यह बताओ कि बालापन मे साथ-साथ रहते हुए उत्पन्न प्रेम किस प्रकार छूट सकता है। यह तो असम्भव है। हम ब्रजनाथ श्री-कृष्ण के चरित्रो अर्थात् क्रीडाओ का कहाँ तक वर्णन करे? उनके इन चरित्रों का ध्यान अब भी हमारे मन को सहज रूप से उनकी ओर आकर्षित करता रहता है। उनका स्मरण आते ही हम स्वय को विस्मृत कर बैठती हैं। उनकी वह चचल गति, वह मनोहर चितवन, वह मोहक मुस्कान तथा मन्द एव मधुर स्वर मे गान हम कभी भी भुला नही सकती। नन्दनन्दन श्रीकृष्ण का नटवर वेष धारण किए हुए विनोद करते हुए वन से घर की ओर लौटना—हमारे मन मे सदैव छाया रहता है। हम चरण-कमल की शपथ खाकर यह कहती है कि निर्गुण-ब्रह्म की साधना करने का उनके द्वारा भेजा हुआ यह सन्देश हमे विष के समान अत्यन्त कड़वा एवं घातक प्रतीत होता है। हमे तो सोते-जागते, शरीर की समस्त अवस्थाओ मे श्रीकृष्ण की मनोहर मूर्ति क्षण

भर के लिए भी नही भूलती।

विशेष—(१) यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि बालापन के साहचर्य, सम्पर्क से जन्य प्रेम का छूटना सम्भव नही होता है।

(२) प्रस्तुत पद में गोपियों का हृदय उँडेला हुआ है, वे कृष्ण की मनोहर छवि के प्रति आकर्षित है, सोते-जागते इसी का ध्यान उन्हे रहता है।

(३) 'लरिकाई को प्रेम' मे अत्यन्त सहजता, मार्मिकता और आत्मीयता की व्यजना हुई है।

(४) सम्पूर्ण पद मे 'स्मृति' नामक सचारी भाव का चित्रण हुआ है।

अलंकार—उपमा।

अटपटि बात तिहारी ऊधो सुनै सो ऐसी को है ?
हम अहीरि अबला सठ मधुकर ! तिन्है जोग कैसे सोहै ?
बूचिहि खुभी आँधरी काजर, नकटी पहिरै बेसरि।
मुंडली पाटी पारन चाहै, कोढी अगहि केसरि।
बहिरी सो पति मतो करै सो उतर कौन पै पावै ?
ऐसो न्याव है ताको उधो जो हमै जोग सिखावै।
जो तुम हमको लाए कृपा करि सिर चढ़ाय हम लीन्हे।
सूरदास नरियर जो विष को करहि वंदना कीन्हें।। ३५॥

शब्दार्थ—अटपटि=व्यर्थ की। बूचिहि=कनपटी। खुभी=कान का गहना, लौंग। वेसिर=नथ। मुडली=गंजी। पाटीपारन=बालो मे माग निकालना। मतो करै=सलाह करे। नरियर=नारियल।

प्रसंग—गोपियो का कृष्ण-प्रेम कोई आजकल की बात नही, अपितु यह बालपन से उत्पन्न हुआ है। वे प्रत्येक क्षण कृष्ण की मोहिनी मूर्ति के ध्यान मे खोई रहती है। उनके पास इतना समय ही कहाँ है कि वे उद्धव की योग-ज्ञान सम्बन्धी अटपटी बातें सुने और उन पर विचार करे। प्रस्तुत पद मे वे उद्धव से कह रही है कि—

व्याख्या—हे उद्धव ! हम ऐसी कौन खाली बैठी है जो तुम्हारे योग की अटपटी एव व्यर्थ की बातो को सुने और उन पर ध्यान दे। हे दुष्ट भ्रमर ! हम अहीर जाति की अबला नारियाँ है, हमे तुम्हारा यह योग किस प्रकार शोभा दे सकता है ? यह बात उसी प्रकार अनहोनी और असम्भव है जिस

प्रकार कनकटी हुई स्त्री कानो मे लौंग रूपी गहने पहनने का प्रयत्न करे, अथवा अंधी स्त्री अपने नेत्रो मे काजल डालने का, नाक कटी हुई नाक मे नथ पहनने का, गजी का अपने सिर पर बालो की पटियाँ काढने का अथवा माँग काढने का और कोढी अपने कोढ से गलित अंगों का केसर से शृंगार करने का प्रयत्न करे। यदि एक पति अपनी बहरी पत्नी से किसी प्रकार का कोई विचार विमर्श करने का प्रयत्न करे तो वह क्या उत्तर प्राप्त कर सकेगा ? बहरी पत्नी कुछ भी न सुन पाने के कारण उत्तर ही क्या दे सकेगी ? जिस प्रकार यह सब असम्भव है, उसी प्रकार हे उद्धव ! योग साधना हमारे लिए भी असभव है और जो हमे योग सिखाने का प्रयत्न करेगा, उसकी स्थिति भी बहरी के पति के समान शोचनीय होगी।

हे उद्धव ! तुम हमारे लिए श्रीकृष्ण से जो कुछ लाए हो वह हमने सादर सिर पर चढा कर अंगीकार किया है। परन्तु तुम्हारा यह योग का उपदेश हमारे लिए उस विष भरे नारियल के समान है जिसे दूर से ही नमस्कार किया जाता है। जिसे यदि स्वीकार कर लिया जाए तो प्राण सकट मे पडने अवश्यम्भावी है। अर्थात् तुम्हारा यह योग-सन्देश हमारे प्रियतम कृष्ण द्वारा भेजा गया होने पर हमारे लिए वन्दनीय तो है परन्तु यह स्वीकार करने के योग्य नहीं, क्योंकि यह हमे प्रियतम कृष्ण को त्याग निर्गुण ब्रह्म की साधना करने को कहता है, इसलिए यह घातक है। इसलिए हम विष भरे नारियल के समान इसे दूर से ही प्रणाम करती है, इसे स्वीकार करने मे असमर्थ हैं।

विशेष—(१) 'जो तुम…लीन्हे' का अर्थ है कि तुम्हारा योग-सन्देश श्री कृष्ण के साथ सम्बन्धित है, इसलिए हमने उसे ससम्मान सुना है। यदि यह कृष्ण का सन्देश न होता तो हम तुम्हे बिना सुने ही यहाँ से लौटा देती।

(२) 'विष-नरियर' से तात्पर्य योग-ज्ञान ही है।

(३) विष का नारियल एक मुहावरा है, जिसका व्रज मे पर्याप्त प्रयोग मिलता है।

अलंकार—सम्पूर्ण पद मे उपमा अलंकार है।

बरु वै कुब्जा भलो कियो।
सुनि सुनि समाचार ऊधो मो कछुक सिरात हियो।
जाको गुन, गति, नाम,, रूप, हरि हार्‍यो, फिरि न दियो।

तिन अपनो मन हरत न जान्यो हँसि हँसि लोग जियो।
सूर तनक चन्दन चढ़ाय तन ब्रजपति वस्य कियो।
और सकल नागरि नारिन को दासी दाँव लियो।। ५६।।

शब्दार्थ—मो=मेरा। सिरात हिया=कलेजा ठण्डा होता है। कछुक=थोड़ा सा। हार्यो=हर लिया। जाको=जिसका। फिरि=वापिस। तिन=उन्होने। तनक=थोड़ा सा। वस्य=वश। नागरि=नगर मे रहने वाली, मथुरा वासी सुन्दरियाँ। दासी=कुब्जा। दाँव लियो=वाजी मार ली। वरू=तो भी।

प्रसंग—जब उद्धव अपने उद्देश्य मे सफल न हो सके और उन्होने देखा कि उनके योग-सन्देश का अपेक्षित प्रभाव नही हो पा रहा तो उन्होने कुब्जा के कृष्ण-प्रेम की चर्चा की। इसमे भी उनका यही उद्देश्य निहित है कि किसी प्रकार गोपियाँ कृष्ण-प्रेम से विमुख हो और निर्गुण-ब्रह्म की साधना के लिए तत्पर हो किन्तु इससे गोपियो को कृष्ण पर व्यग्य करने की सामग्री ही उपलब्ध होती है, इस बात का अन्य कोई प्रभाव नही होता।

व्याख्या—हे उद्धव! यह अच्छा ही हुआ अर्थात् कुब्जा ने कृष्ण को अपने वश मे करके एक अति उत्तम कार्य सम्पन्न किया है। इस समाचार को सुन कर हमारे हृदयो मे थोड़ी-बहुत ठण्डक मिली है, अर्थात् इस बात से हमें सान्त्वना मिली है कि कुब्जा ने कृष्ण के हृदय को अपने वश मे कर लिया है। अब तक तो कृष्ण का यह स्वभाव ही था कि एक बार जिसका भी गुण, गति, नाम और रूप उन्होने हर लिया था, उसे फिर लौटा कर नही दिया अर्थात् वह सदैव दूसरो का सर्वस्व हरण करके उन्हे अपने वश मे करते रहे। वही कृष्ण कुब्जा द्वारा हरण होते हुए अपने मन की गति को नही जान पाए और पूर्ण रूप से कुब्जा के वश मे आ गए। कृष्ण की कुब्जा के हाथो इस पराजय को देख-सुन कर समस्त संसार हँस-हँस कर जीवित रहता है। अर्थात् उनका उपहास करके अत्यन्त प्रसन्न हो रहा है। उस कुब्जा ने तो उनके शरीर पर तनिक सा चन्दन का लेप चढा कर ही उन्हे अपने वश मे कर लिया। इस प्रकार वह मथुरा नगर की सम्पूर्ण स्त्रियो को चतुराई से पराजित करके दाँव मार ले गई। अर्थात् केवल एक दासी मात्र कुब्जा कृष्ण के प्रेम को प्राप्त

करने मे मथुरा नगर की अन्य चतुर स्त्रियों से बाजी जीत कर आगे निकल गई।

विशेष—(१) इस पद मे दुर्जन-दोष-न्याय पद्धति द्वारा गोपियाँ कुब्जा की कृष्ण पर विजय पर व्यंग्य कर रही हैं। दुर्जन-दोष-न्याय से तात्पर्य है प्रति-पक्षी को हराने के लिए उसके तर्क की पुष्टि करना, उसी के दाँव पर उसे हरा देना। गोपियो के मत मे कृष्ण अपने को बहुत कुछ समझते थे, अन्त में उन्हें एक दासी के हाथो हार खानी पड़ी।

(२) 'तनक चन्दन चढाय' मे भी गहन व्यंग्य निहित है। गोपियाँ तो कृष्ण पर अपना सर्वस्व न्योछावर कर चुकी थी, फिर भी वह उन्हें छोडकर मथुरा चले गए और अपने उद्देश्य की सिद्धि हो जाने पर भी उनकी सुधि नही ली, किन्तु अब कुब्जा द्वारा उनके शरीर पर तनिक-सा चन्दन लेप चढाने पर वह इतने अधिक उसके वश मे हो गए हैं कि यहाँ आकर हमसे मिलने का छोटा सा स्वतन्त्र कार्य कर पाने मे भी अपने आपको असमर्थ पा रहे हैं।

(३) 'और सकल······दाँव लियो' का यह अर्थ भी हो सकता है कि मथुरा नगर की समस्त चतुर नारियो का दाँव अर्थात् अधिकार केवल कुब्जा को ही प्राप्त हो गया है और अब वह उनकी एकमात्र प्रेमिका है।

अलकार—'सुनि······हियो'—काव्यलिंग।

हरि काहे के अन्तर्यामी ?
जो हरि मिलत नहीं यहि औसर, अवधि बतावत लामी।
अपनी चोप जाय उठि बैठे और निरस बेकामी ?
सो कह पीर पराई जानै जो हरि गरुड़ागामी॥
आई उघरि प्रीति कलई सी जैसे खाटी आमी।
सूर इते पर अनख मरति है, ऊधो, पीवत मामी॥ ३७॥

शब्दार्थ—अन्तर्यामी=सर्वज्ञ। औसर=अवसर। लामी=लंबी। चोप=चाव, इच्छा। निरस=नीरस। बेकामी=निष्काम। कह=क्या। गरुड-गामी=गरुड़ की सवारी करते हैं, पैदल नही चल सकते। उघरि=खुल गई है। आमी=अमिया, आम। अनख=अनखना कर, कुढ़ कर। पीवत मामी=बात पीना, चुप्पी साध जाना।

प्रसग—उद्धव ने कहा कि भगवान अन्तर्यामी हैं, सबके हृदय की बात

जानते हैं। इसका उत्तर देते हुए गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं कि यह बात गलत है। यदि ऐसा होता तो वह हमारे हृदय की भी बात जान लेते और हम जो उनके प्रेम में इतनी व्याकुल हो रही है, तो वह अवश्य आकर हमसे मिलते और हमारे हृदय की विरह-ज्वाला को शान्त करते।

व्याख्या—हरि किस प्रकार के सर्वज्ञ है? यदि ऐसा होता तो वह हमारे हृदय की विरहावस्था को भी जान लेते और हमे दर्शन लाभ देकर हमारे शोक सन्ताप को दूर करते। ऐसा करने के बजाय वह तो अपने आने की लम्बी अवधि बता रहे है। अर्थात् हमे उनके दर्शन देने का यह उचित अवसर है किन्तु वह अपने आने का अन्य लम्बा समय बता रहे है, ऐसी स्थिति मे उन्हे किस प्रकार हम अन्तर्यामी मान सकती हैं? वह यहाँ से अपनी इच्छानुसार उत्साह के साथ प्रस्थान करके मथुरा जा बैठे है और अब पूर्ण निष्काम और नीरस बन बैठे हैं। अब उनके हृदय मे हमसे भेंट करने की इच्छा ही नही उत्पन्न हो रही। वस्तुत बात यह है कि वह हमारी पीडा को नही जान पा रहे क्योकि वह सदा गरुड़ की सवारी करते है, उन्होने कभी पैदल चल कर नही देखा। वह हम जैसे पैदल चलने वाले लोगो के पैर मे फटी हुई बिवाइयो के विषय मे क्या जान सकते है? कहने का तात्पर्य यह है कि कृष्ण वहाँ जाकर कुब्जा के प्रेम मे निमग्न है और हमे विस्मृत कर बैठे है। अब न उन्हे हमारी विरह-वेदना की ही कोई खबर है और न ही वह इस कष्ट का अनुभव ही कर रहे हैं।

जिस प्रकार खट्टे आम के द्वारा बर्तन पर चढाई हुई कलई उतर जाती है और उसका असली रूप सबके सामने स्पष्ट हो जाता है, उसी प्रकार कृष्ण की इस निष्ठुरता से उनका असली रूप हमारे सम्मुख स्पष्ट हो गया है। वस्तुतः वह हमसे प्रेम नही करते थे, बल्कि प्रेम की बनावटी बातो से हमारा जी बहलाए रखते थे। यह सब जानते हुए भी कि हम इस बात पर कुढ-कुढ़ कर मरी जा रही है, वह हमारे प्रेम के सम्बन्ध मे मौन साध कर मथुरा मे जमे हुए हैं। न तो वह यह कहते हैं उन्हे हमसे प्रेम है और न यह कि उन्हे हमसे प्रेम नही।

विशेष—(१) समस्त पद में मुहावरो के प्रयोग से भाषा की व्यजना-शक्ति बढी है।

(२) 'आई उघरि प्रीति कलई'—यह एक सुन्दर लोकोक्ति है।

अलंकार—(१) 'गरुडगामी'—अर्थश्लेष।

(२) 'सो कह'''खाटी आमी'—उपमा।

विलग जनि मानहु, ऊधो प्यारे !
वह मथुरा काजर की कोठरि जे आवहिं ते कारे।
तुम कारे, सुफलकसुत कारे, कारे मधुप भंवारे।
तिनके संग अधिक छवि उपजत कमलनैन मनिआरे।
मानहु नील माट ते काढ़े लै जमुना ज्यो पखारे।
ता गुन स्याम भई कालिंदी सूर स्याम-गुन न्यारे ॥ ३

शब्दार्थ—विलग=बुरा। जनि=मत। सुफलकसुत=अक्रूर। मनिआरे=मणिधारी, काला सर्प। काढे=निकाले। पखारे=धोए। कालिन्दी=यमुना।

प्रसंग—उद्धव के योग-सन्देश पर गोपियां अत्यधिक क्षुब्ध हैं और प्रतिक्रियास्वरूप उन्हे अत्यन्त खरी-खोटी सुना रही है। प्रस्तुत पद मे वे उन पर व्यग्य करती हुई कहती है कि वह उनकी बात का बुरा न माने। वस्तुतः उनका कोई दोष नहीं, यह मथुरा ही ऐसी काजल की कोठरी है, जहाँ से आने वाले सभी काले तन वाले और खोटे मन वाले है।

व्याख्या—हे प्यारे उद्धव! हमारी बातो का बुरा मत मानो। वस्तुतः तुम जो हमे योग-ज्ञान की शिक्षा देने आए हो, उसमे तुम्हारा कोई अपना दोष नही। असलियत यह है कि वह मथुरा काजल की कोठरी है और वहाँ से आने वाले सभी जन तन के काले होते है। तुम भी काले हो, अक्रूर जी, जो श्रीकृष्ण को यहाँ से ले गए थे, भी काले थे। उस ओर से उडकर आने वाले भ्रमर भी घोर काले होते है। इन सम्पूर्ण काले लोगो के साथ कमल-नेत्रो वाले कृष्ण मणिधारी काले सर्प के समान भयकर है, क्योंकि उन्होंने हमें डस कर अपने विरह रूपी विष से संतप्त कर दिया है।

काले लोगो को देखकर ऐसा लगता है कि मानो तुम लोग नीले रंग के भरे हुए एक मटके मे अब तक पड़े हुए थे और किसी ने तुम्हें उसमे से निकाल लिया है तथा यमुना के पानी से धोकर साफ करने का प्रयत्न किया था। इसी कारण तुम्हारे शरीर से अलग हुए उस नीले रंग के कारण ही यमुना का पानी भी नीला हो गया है। इन काले लोगो के गुण ऐसे ही

निराले अर्थात् अद्‌भुत होते है ।

विशेष—(१) सूर के समान अन्य कृष्ण-कवियो ने भी काले रंग को लेकर व्यंग्य किया है । रत्नाकर ने तो मथुरा की टकसाल के समस्त सिक्को को खुटल घोषित किया है—

'मधुपुर वारे एके ढार ढारे हो ।'

किन्तु सूर की विशेषता यह है कि अन्य कवियो ने जहाँ केवल वर्णमात्र पर व्यग्य किया है, वहाँ सूर ने काले के अन्तर मे भी काला गुण बताया है—

'सूर स्याम गुन न्यारे ।'

(२) शुक्ल जी ने 'मनिआरे' शब्द का अर्थ 'सुहावना' अर्थात् रौनकदार किया है, परन्तु यह अर्थ सगत प्रतीत नही होता । वस्तुतः इस पद मे कवि मथुरा के काले लोगो मे काले कृष्ण की श्रेष्ठता प्रतिपादित करना चाहता है । प्रसिद्ध है कि मणिधारी सर्प भयंकर रूप से काला और तेजस्वी होता है । इसी कारण यहाँ कृष्ण की श्रेष्ठता स्थापित करने के लिए 'मणिधारी सर्प' अर्थ ही उपयुक्त लगता है । प्रभाव की दृष्टि से भी यही अर्थ अधिक सगत है । सौन्दर्य के लिए उसी पक्ति मे 'छवि' शब्द पहले ही प्रयुक्त हो चुका है ।

अलकार—(१) 'मानहु······काढै'—उत्प्रेक्षा ।

(२) 'तागुन······कालिन्दी'—तद्‌गुण ।

(३) 'स्याम'—श्लेष ।

अपने स्वारथ को सब कोऊ ।
चुप करि रहौ, मधुप रस-लपट ! तुम देखे अरु वोऊ ।
औरौ कछू सदेस कहन को कहि पठयो किन सोऊ ।
लीन्हे फिरत जोग जुवतिन को बड़े सयाने दोऊ ।
तब कत मोहन रास खिलाई जो पै ज्ञान हुतोऊ ?
अब हमरे जिय बैठो यह पद, होनी होउ सो होऊ ।
मिटि गयो मान परेखो ऊधो हिरदय हतो सो होऊ ।
सूरदास प्रभु गोकुलनायक चित-चिता अब खोऊ ।। ३९ ।।

शब्दार्थ—रस-लम्पट=रस-लोभी । अरु=और । बोऊ=वह भी । पठियो=भेजा । किन=क्यो नही । सोऊ=उसे भी । हुतोऊ=था । परेखो=पश्चाताप ।

प्रसग—गोपियो ने अनेक प्रकार से उद्धव को समझाया कि उनका प्रेम-पथ उद्धव के निर्गुण ब्रह्म से श्रेष्ठ है किन्तु उद्धव नें इस बात को न मानकर अपने योग-ज्ञान के उपदेश को जारी रखा। इस पर गोपियाँ अत्यन्त खिन्न होती हैं और उद्धव को जली-कटी सुनाती हैं।

व्याख्या—हे उद्धव ! सभी ससार मे अपने स्वार्थ को ही देखते हैं। दूसरो की चिन्ता कोई नही करता। हे रस के लोभी भ्रमर ! तुम अब चुप रहो। ज्यादा चीं-चपड न करो और न ही और अधिक बातें बनाओ। हमने तुम्हें और तुम्हारे कृष्ण दोनो को ही देख और समझ लिया है। तुम दोनो ही एक समान अपना स्वार्थ साधन करने वाले हो। यदि कृष्ण ने तुम्हे हमारे पास कोई और भी सन्देश कहने के लिए भेजा है तो उसे भी कह क्यो नही चुकते ? तुम दोनो तो अत्यन्त समझदार और ज्ञानवान कहलाते हो और हम युवतियो के लिए योग का सन्देश लिए फिरते हो, क्या यही तुम्हारी चतुराई है ?

यदि कृष्ण को सचमुच ज्ञान-योग पर इतना विश्वास था तो उन्होने हमारे साथ केलि-विहार, रास-लीला क्यों रचाई थी ? अब तो हमारे मन मे यह बात घर कर गई है कि विधाता ने जो हमारे लिए विधान रचा होगा, वह तो सम्पन्न होगा ही, हम क्यो प्रीति का बन्धन तोडें ? हे उद्धव ! कृष्ण की उपेक्षा और मौन के प्रति हमारे हृदय मे अब तक जो भी मान-सम्मान और पश्चात्ताप की भावनाएँ थी, वे भी समाप्त हो गई है। अब हमे अपने प्रेम की उपेक्षा के प्रतिकार मे कृष्ण के प्रति न तो कोई शिकायत अथवा न ही उलाहने की भावना है। हमारे कृष्ण गोकुल के स्वामी है, अत हमें दृढ विश्वास है कि वह हमारे हृदय की सारी चिन्ताएँ दूर कर देगे। अतः तुम भी अपने हृदय की इस चिन्ता से निर्मूल हो जाओ कि तुम हमे योग-मार्ग की शिक्षा देने मे असफल रहे।

विशेष—(१) प्रस्तुत पद मे कृष्ण की स्वार्थपरता और गोपियो के अनन्य प्रेम का एक साथ चित्रण हुआ है।

(२) इस पद मे गोपियो के इस दृढ विश्वास का भी ध्वनन हुआ है कि कृष्ण उनके हैं।

(३) सम्पूर्ण पद मे 'अमर्ष' सचारी भाव की व्यंजना हुई है।

(४) अन्तिम पक्ति में पुष्टिमार्गीय भक्त के अनुकूल 'शिशुमाजारवत्'

समर्पण भाव की गोपियो में व्यंजना कराई गई है।

तुम जो कहत सँदेसो आनि।
कहा करौं या नन्दनन्दन सों होत नहीं हितहानि।
जोग-जुगुति किहि काज हमारे जदपि महा सुखखानि।
सने सनेह स्यामसुन्दर के हिलि मिलि कै मन मानि।
सोहत लोह परसि पारस ज्यों सुबरन बारहबानि।
पुनि वह चोप कहाँ चुंबक ज्यों लटपटाय लपटानि।
रूपरहित नीरासा निरगुन निगमहु परत न जानि।
सूरजदास कौन बिधि तासों अब कीजै पहिचानि॥

शब्दार्थ—आनि=अन्य, दूसरा। हितहानि=प्रेम की हानि। किहि=किस। सने=भीगे हुए। सोहत=शोभा देता है। परसि=स्पर्श। पारस=एक पत्थर, जो अपने स्पर्श से लोहे को सोना बनाता है। बारहबानि=बारह कलाओ के साथ चमकने वाले सूर्य के समान उज्ज्वल, खरा सोना। पुनि==फिर। चोप=चाह, इच्छा, आकर्षण। नीरास=निराशा।

प्रसग—उद्धव के ज्ञानोपदेश के कारण गोपियाँ अत्यन्त क्षुब्ध है। वे अपने प्रेम-पथ की श्रेष्ठता अनेक बार घोषित कर चुकी है। वे चाहती है कि उद्धव उनके साथ केवल कृष्ण की बात करे, उनके विषय मे ही वार्तालाप करे किन्तु उद्धव बीच मे निर्गुण ब्रह्म को ले आते है। इसी कारण वे उद्धव से कह रही हैं कि तुम हमारे मन-वांछित सन्देश को न कह कर दूसरी बात कहते हो जो हमे अप्रिय है।

व्याख्या—हे उद्धव! तुम हमे कृष्ण-प्रेम का सन्देश न कहकर कोई अन्य योग ज्ञान से सबधित सन्देश कह रहे हो जिसमे हमारी तनिक भी रुचि नही है। इस सन्देश को सुनना हमारे लिए उचित नही क्योकि इससे नन्दनन्दन कृष्ण के साथ हमारे प्रेम की हानि होती है किंतु हम उनसे प्रेम करना नही छोड़ सकती। तुम्हारे कथनानुसार यद्यपि योग-साधना महान् सुखो की खान है—अर्थात् महान् सुखो को प्रदान करने वाली है किन्तु वह हमारे किस काम की है? योग साधना को अपनाने पर हमे कृष्ण-प्रेम को त्यागना पडेगा, जो हमारे लिए संभव नही, अतः तुम्हारा यह योग हमारे लिए व्यर्थ है। हमारा समस्त सुख तो कृष्ण-प्रेम मे ही निहित है। हमारा मन श्याम-सुन्दर के साथ हिलमिल कर

उनके स्नेह में पूर्ण रूप से डूब गया है, छक गया है। लोहा पारस नाम के स्पर्श से बारहबानि-उज्ज्वल एव खरा सोना बन जाता है, किंतु ऐसे सोने मे वह उत्साह अथवा आकर्षण शेष नही रह जाता जो उसे चुम्बक के प्रति आकर्षित कर उससे चिपका देता है। ऐसे ही योग साधना के कारण भले ही हमारा मन निर्मल, खरे सोने के समान क्यो न हो जाय परन्तु उसकी सर्वस्व प्रेम-भावना नष्ट हो जायेगी।

तुम कहते हो कि तुम्हारा ब्रह्म, निष्काम, अगम्य है, आज तक वेदो ने भी उसका पार नही पाया तो फिर तुम्हारे इस ब्रह्म के साथ हम किस प्रकार परिचय प्राप्त कर सकती है ? अर्थात् जब वेदो के लिए भी तुम्हारा यह निर्गुण और निष्काम ब्रह्म गम्य नही तो हम अबला, मूढ़ नारियाँ उसका ज्ञान किस प्रकार प्राप्त कर सकती है ? और जब हमारा उससे परिचय ही नही हो सकेगा, तो हम उससे प्रेम किस प्रकार करेंगी ?

विशेष—प्रेम मे आकर्षण प्रधान होता है, इसी कारण गोपियाँ योग-साधना नही करना चाहती क्योंकि उन्हे इस प्रकार कृष्ण-प्रेम से हाथ धोना पडेगा।

अलंकार—(१) 'सने……स्यामासुन्दर—अनुप्रास ।

(२) 'सहित……लपटानि—दृष्टान्त ।

हम तौ कान्ह-केलि की भूखी ।
कैसे निरगुन सुनहि तिहारो बिरहिनि बिरह-बिदूखी ?
कहिए कहा यही नहि जानत काहि जोग है जोग ।
पा लागों तुमही सो वा पुर बसत बावरे लोग ।
अंजन, अभरन, चीर, चारु बरु नेकु आप तन कीजै ।
दंड, कमन्डल भस्म, अधारी जो जुवतिन को दीजै ।
सूर देखि दृढ़ता गोपिन की ऊधो यह ब्रत पायो ।
कहै कृपानिधि हो कृपाल हो ! प्रेमै पढ़न पठायो ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ—केलि=क्रीडा । बिदूखी=दुखी । जोग=योग्य । वा=उस । पुर=नगर । बसत=रहते हैं । अभरन=आभरण=आभूषण । चारु=सुन्दर । प्रेमै=प्रेम को ही ।

प्रसग—उद्धव के ज्ञानोपदेश को सुनकर गोपियाँ अत्यन्त खिन्न है। उन्हे

तो उद्धव से श्रीकृष्ण के ब्रज-आगमन के सन्देश की आशा थी किन्तु उन्होने अन्य अर्थात् निर्गुण-ब्रह्म की साधना करने का सन्देश सुनाया। गोपियाँ निर्गुण ब्रह्म की स्थापना करने मे असमर्थ है, वे कृष्ण को नही त्याग सकती। प्रस्तुत पद मे गोपियाँ उद्धव से कहती है कि—

व्याख्या—हम तो श्रीकृष्ण के साथ पहले जैसी क्रीड़ाएँ करने के लिए लालायित है, भूखी है। हम कृष्ण के विरह मे व्यथित विरहिणी नारियाँ है, हम किस प्रकार तुम्हारे निर्गुण-ब्रह्म के उपदेश को सुन सकती है। तुम्हे इस बात का ज्ञान नही कि हम जैसी कृष्ण—प्रेम-विरह मे सतप्त अबलाओ के साथ किस प्रकार की बाते करनी चाहिएँ। तुम्हारा कर्त्तव्य था कि तुम हमे सात्वना देते, कृष्ण-आगमन की घड़ी का निर्देश करते, उल्टा तुम हमे योग की शिक्षा देने लगे। तुम्हे इस बात का भी ज्ञान नही कि तुम्हारे योग के योग्य पात्र कौन है ? अर्थात् तुम विरहिणियो को निर्गुण ब्रह्म की साधना करने का उपदेश दे रहे हो, जो अनुचित है, क्योकि योग-साधना तो योगियो के लिए ही उचित है, वे ही इसके योग्य हैं, हम अबला नारियाँ तो नन्दनन्दन के प्रेम के लिए ही है। तुम इन सब बातो पर ध्यान न देकर, योग का उपदेश देकर हम पर अन्याय कर रहे हो। हम तुम्हारे पॉव पडती है, हमसे इस प्रकार की बाते न करो, इससे हमे दु.ख होता है। तुम्हे देखकर हमे लगता है कि उस मथुरा नगरी मे सभी बावले, अनाड़ी लोग ही निवास करते है। कृष्ण भी इस बात के प्रमाण है क्योकि उन्होने तुम्हारे हाथो हम अबला नारियो के लिए ऐसा अनुचित सन्देश भेजा है।

यदि तुम्हारे मत मे हम युवतियो को दन्ड, कमडल, भस्म, अधारी आदि योग-साधना के उपकरण धारण करने उचित है तो तुम अपने शरीर पर तनिक हमारा अजन, आभूषण, सुन्दर वस्त्र धारण करके तो देखो, क्या ये तुम्हें शोभा देते है और तुम्हारे लिए उचित है ? जिस प्रकार हमारे ये शृगार-प्रसाधन तुम्हारे लिए अनुपयुक्त है, उसी प्रकार योग से सबद्ध सभी उपकरण हमारे लिए अनुपयुक्त है।

सूरदास जी कहते है कि गोपियो की इस प्रकार की प्रेम की दृढता और अनन्यता को देखकर उद्धव को यह विश्वास हो गया कि कृपालु और दयानिधि श्रीकृष्ण ने उन्हे यहाँ ब्रज मे गोपियो को योग का उपदेश देने न भेजकर, उनसे

प्रेम का पाठ ग्रहण करने के लिए भेजा है ।

विशेष—(१) इस पद मे पुष्टिमार्गीय भक्ति के अनुकूल गोपियो की 'लीलारुचि' का वर्णन है ।

(२) आगे चलकर योग और ज्ञान पर होने वाली प्रेम और भक्ति की विजय का पूर्वाभास अन्तिम पक्ति मे ध्वनित हो रहा है ।

अलकार—'काहि जोग है जोग'—यमक ।

अँखिया हरि दरसन की भूखी ।
कैसे रहैं रूपरसरांची ये बतियाँ सुनि रूखी ।
अवधि गनत इकटक मग जोवत तव एती नहि झूखी ।
अब इन जोग-सँदेसन ऊधो अति अकुलानी दूखी ।
बारक वह मुख फेरि दिखाओ दुहि पय पिवत पतूखी ।
सूर सिकत हठि नाव चलायो ये सरिता है सूखी ॥५२॥

शब्दार्थ—रूपरसराची=रूप (सुन्दरता) के रस मे पगी हुई । बतियाँ=बाते । रूखी=शुष्क । गनत=गिनते हुए । इकटक=विना पलक झपकाए । मग जोवत=राह देख रही है । झूखी= दुखी हुई, सतप्त हुई । बारक=एक बार । फेरि=पुन. । पय=दूध । पतूखी=पत्ते का दोना । सिकत=बालू, रेत ।

प्रसंग—उद्धव के ज्ञानोपदेश के कारण गोपियाँ अत्यन्त खिन्न हैं । उन्हे उद्धव से तो श्रीकृष्ण के प्रेमरसपूर्ण सन्देश की आशा थी किन्तु वहाँ से अन्य सन्देश ही मिला । गोपियाँ तो-कृष्ण के क्रीडा-विहार के लिए लालायित हैं । कृष्ण के प्रेम के विरह मे सतप्त गोपियो के लिए योग-ज्ञान किसी काम का नही, व्यर्थ है । उनकी अखियाँ कृष्ण के दर्शन की प्यासी हैं । वे उद्धव से कहती है कि—

व्याख्या—हमारी आँखें तो कृष्ण के दर्शनो की प्यासी हैं । हमारी ये आँखें कृष्ण के रूप और रस मे पगी हुई हैं, उनमे पूर्णतया अनुरक्त हैं, अतः ये किस प्रकार तुम्हारी इन नीरस योग की बाते सुनकर धैर्य धारण कर सकती है ? जब ये आँखे कृष्ण के लौट कर आने की अवधि के एक-एक दिन की गणना करती हुई मार्ग की ओर बिना पलक झपकाए निहारती थी, तब भी वे इतनी संतप्त और दुःखी नही हुई, अब तुम्हारे योग के नीरस और व्यर्थ

सन्देशों को सुनकर अत्यधिक संतप्त और अकुलाई हुई हैं।

अब हमारी तुमसे केवल यही प्रार्थना है कि हमें कृष्ण के उस मुख के दर्शन एक बार फिर करवा दो जिससे वह पत्ते के दोनों मे दूध दुहकर पान किया करते थे। तुम्हारा हमे योग का उपदेश देना वैसा असम्भव कार्य करने का प्रयत्न करना है जैसा सूखी हुई नदी की बालू मे हठपूर्वक नाव चलाने का प्रयत्न करना। कृष्ण-प्रेम मे अनुरक्त हमारे हृदयो पर तुम्हारे योग का कोई प्रभाव पड़ने वाला नही।

विशेष—(१) इस पद मे वल्लभ-सम्प्रदाय की पुष्टिमार्गीय विचार धारा का स्पष्ट प्रभाव है। रागानुगा भक्ति मे उपास्य के रूप और रस का विशेष महत्त्व होता है। यहाँ कृष्ण का रूप और उससे जन्य प्रेमरस ही गोपियो को प्रिय है, अत योग-उपदेश और निर्गुण-ब्रह्म की साधना उनके लिए व्यर्थ है।

(२) सूखी नदी की बालू मे नाव चलाने का उदाहरण देकर निर्गुण ब्रह्म की असम्भाव्यता प्रदर्शित करते हुए उसका निराकरण किया गया है।

(३) कृष्ण की विभिन्न चेष्टाओं, छवियो की व्यजना के साथ-साथ विकल्प चिन्ता, उन्माद आदि सचारी भावो का भी मार्मिक चित्रण प्रस्तुत हुआ है।

(४) विप्रलम्भ श्रृगार अपने पूर्ण प्ररिप्रेक्ष्य मे प्रस्तुत है—मूलभाव रति, आलम्बन कृष्ण आश्रय गोपियाँ, उद्दीपन उद्धव का ज्ञानोपदेश।

अलंकार—(१) 'बारक पतूखी'—सस्मरण।

(२) 'सूर······सूखी'—निदर्शना।

(३) ये सरिता हैं सूखी'—रूपकातिशयोक्ति।

जाय कहाँ बूझी कुसलात।
जाके ज्ञान न होय सो मानै कही तिहारी बात।
कारो नाम, रूप पुनि कारो, कारे अग सखा सब गात।
जो पै भले होत कहुँ कारे तौ कत बदलि सुता लै जात।
हमको जोग, भोग कुब्जा को काके हिये समात।
सूरदास सेए सो पति कै पाले जिन्ह तेहि, पछितात।। ४३ ।।

शब्दार्थ—बूझी=पूछी। कुशलात=कुशल-क्षेम। तिहारी=तुम्हारी। गात=शरीर। कत=क्यो। सुता=लड़की। काके=किसके। हिये=हृदय। सेए=सेवा की। पाले=पालन किया।

प्रसंग—उद्धव के ज्ञानोपदेश पर गोपियाँ अत्यन्त खिन्न हैं। वे तो कृष्ण की रूपमाधुरी मे इतनी पगी हुई है कि उन्हे त्यागना बिलकुल असम्भव है। और फिर वे अबला नारियाँ हैं, योगियों से सम्बद्ध क्रियाएँ भी अत्यन्त दुष्कर है, वे किस प्रकार उन्हे कार्यान्वित कर सकती है। उन्हे ज्ञान का उपदेश देना तो सूखी नदी की बालू पर नाव चलाने के समान समय नष्ट करना है। अत वे माथुरा लौट जाये और कृष्ण से कहे कि वह गोपियो का कुशल-क्षेम पूछ आए हैं।

व्याख्या—हे उद्धव! तुम मथुरा वापिस चले जाओ और कृष्ण से कहो कि हमने उनकी कुशल-क्षेम पुछवा भेजी है। हमारा समाचार देने के उपरान्त उनसे यह कहना कि तुम्हारे योग-मार्ग को अपना लेने का सन्देश वही मान सकता है जो सर्वथा अज्ञानी होगा। कृष्ण का नाम भी काला अर्थात् श्याम है फिर रंग एव स्वरूप भी काला है। उनके सारे सखाओ—अक्रूर, उद्धव आदि के शरीर का समस्त अंग भी श्याम है। इस प्रकार कृष्ण स्वय और उनके सब मित्र तन-मन से काले अर्थात् कपटी है। यदि ये काले वर्ण वाले कपटी और धोखेबाज न होकर अच्छे होते, तो वसुदेव अपने पुत्र श्यामवर्ण कृष्ण को यहाँ छोड उसके बदले मे नन्दबाबा की लडकी को न ले जाते। काले वर्ण वाले बुरे होते है, तभी तो वसुदेव ने काले कृष्ण को यहाँ छोड़ कर उससे पीछा छुडा लिया था।

तुम सब काले लोग इतने दुष्ट हो कि नारी-नारी मे भी अन्तर करते हो। हम गोपियो के लिए तो योग-साधना उचित बताते हो और कुब्जा के लिए भोग। तुम्हारी यह विलक्षण गति किसके हृदय मे समाने वाली है? यह तुम्हार सरासर अन्याय है, किसी की समझ मे भी नही आने वाला। कृष्ण के इस प्रकार छल-कपट भरे व्यवहार पर, पति के तुल्य उन्हे स्वीकार करने वाली हम गोपियाँ ही नही पछताती अपितु पुत्र तुल्य मानते हुए उनका भरण-पोषण करने वाले नन्द-यशोदा भी पछताते है।

विशेष—(१) इस पद मे गोपियाँ काले वर्ण वाले सभी लोगो पर व्यग्य करती हुई उन्हे छली और कपटी बता रही है। श्याम वर्णी उद्धव, अक्रूर आदि पर इससे पूर्व भी वे व्यग्य कर चुकी है—

विलग जनि मानहु ऊधौ प्यारे।
वह मथुरा काजर की कोठरि जे आवहि ते कारे।

तुम कारे, सुफलकसुत कारे, कारे मधुप भँवारे।
तिनके संग अधिक छबि उपजत कमलनैन मनिआरे।
मानहु नील माट तें काढे लै जमुना ज्यों पखारे।
तागुन स्याम भई कालिंदी सूर स्याम गुन-न्यारे।

(२) नन्ददास की गोपियो ने भी इसी प्रकार काले वर्ण वाले श्याम और उनके मित्रो पर गहन व्यग्य किया है—

'कोउ कहै री विस्व माँझ जेते हैं कारे,
कपट कुटिल कौ कीट परम मानुष मसि हार।
एक स्याम तन परस कै जरत आज लौ अंग,
ता पाछै यह मधुप हू लायौ जोग भुजंग।
कहा इनको क्या।

(३) कृष्ण के जन्म होते ही वसुदेव आधी रात को चुपचाप कृष्ण को गोकुल छोड़ गये थे और वहाँ से नन्द की अन्य पत्नी रोहिणी की नवजात कन्या को लेकर मथुरा चले गये थे। यह कन्या कस द्वारा वध कर दी गई थी। कस द्वारा कृष्ण के मार दिए जाने का भय था, इसी कारण वस्तुत: नवजात शिशुओ की अदला-बदली हुई थी क्योकि भविष्यवाणी के अनुसार कृष्ण द्वारा ही कंस की हत्या होनी थी।

(४) जोग और भोग मे शब्द-मैत्री है।

अलंकार—अन्त्यानुप्रास।

कहाँ लौं कीजै बहुत बड़ाई।
अतिहि अगाध अपार अगोचर मनसा तहाँ न जाई।
जल बिनु तरंग, भीति बिनु चित्रन, बिन चित ही चतुराई।
अब ब्रज मे अनरीति कछू यह ऊधो आनि चलाई।
रूप न रेख, बदन, बपु जाके सग न सखा सहाई।
ता निर्गुन सों प्रीति निरन्तर क्यों निबहै, री माई?
मन चुभि रही माधुरी मूरति रोम रोम अरुझाई।
हौं बलि गई सूर प्रभु ताके जाके स्याम सदा सुखदाई ॥

शब्दार्थ—लौ=तक। मनसा=मन। भीति=दीवार, आधार। अनरीति=अनोखी, विपरीत रीति। बपु=शरीर। बदन=मुख। निबहै=निर्वाह हो।

प्रसग—गोपियाँ उद्धव के ज्ञानोपदेश पर अत्यन्त खिन्न हैं। उद्धव के निर्गुण ब्रह्म की अपेक्षा उन्हे कृष्ण का मनोहर रूप अधिक प्रिय है। उन्हें अपने प्रेममार्ग पर भी गर्व है। निर्गुण ब्रह्म पर उनका व्यग्य जारी है।

व्याख्या—हे उद्धव ! तुम्हारे निर्गुण ब्रह्म की प्रशसा कहाँ तक करें ? उसके सम्बन्ध मे तुम्हारी उक्तियाँ अत्यन्त विचित्र है। तुम्हारे मन मे तुम्हारा निर्गुण-ब्रह्म अत्यधिक अगाध, अपार और न दिखाई देने वाला है। वह इतना अगम्य है कि मानव-मन भी उस तक नही पहुँच सकता। वह मन की पहुँच-कल्पना से भी परे है। तुम्हारा यह निर्गुण-सम्प्रदाय अति विचित्र है क्योंकि इसमे अपेक्षित उपादानो के विना ही वस्तुए निर्मित हो जाती हैं। इसमे विना जल के तरगे उत्पन्न होती है, विना भीति (दीवार अथवा कोई अन्य आधार) के चित्रो का अकन होता है। यहाँ चित्त के विना ही चतुराई प्रदर्शित की जाती है। तुमने यहाँ ब्रज मे आकर इस प्रकार की अनोखी रीति चलाई है। तुम असम्भव और अनहोनी वाते कह कर हमे वहला रहे हो और अपने जाल मे फसाना चाहते हो।

तुम्हारे ब्रह्म की न तो कोई रूपरेखा है अर्थात् आकार है, न उसका कोई मुख और न ही कोई शरीर है। उसके साथ न तो कोई मित्र है और न कोई सहायक ही है। ऐसी स्थिति मे तुम ही हमे वताओ कि उक्त विशेषताओं से सम्पन्न तुम्हारे निर्गुण ब्रह्म के साथ हमारा निरन्तर प्रेम-निर्वाह किस प्रकार हो सकता है ? हमारे कृष्ण रूप-गुण सम्पन्न है, इसलिए उनके साथ हमारा निरन्तर प्रेम-व्यापार चलता रहा है। हमारे मन मे तो कृष्ण की मधुर एव रूपहली मूर्ति घर कर गई है, वह मोहिनी मूर्ति हमारे रोम-रोम मे समाई रहती है। हम तो सदा कृष्ण की माधुर्यपूर्ण मोहिनी मूर्ति के ध्यान मे मस्त रहती हैं। हम उन जनो पर पर वलिहारी जाती हैं जिनके लिए हमारे प्रभु कृष्ण सदा सुखदाई है। हम कृष्ण-प्रेमियो पर अपना सर्वस्व न्योछावर करने को उद्यत हैं।

विशेष—(१) 'री माई' शब्द यहाँ किसी विशेष अर्थ की व्यजना न करके केवल गोपियो की आश्चर्य-भावना को ही व्यक्त करता है।

(२) इस पद मे सूरदास ने शकराचार्य के 'वेदान्त-अद्वैतवाद' का निरूपण कर उसका खंडन करते हुए वल्लभाचार्य के 'उपादानवाद' और अपने

'परिणामवाद' की स्थापना की है ।

(३) 'जल बिनु तरग भीति बिनु चित्रन, बिनु चित ही चतुराई', मे अभिव्यक्त शुद्धाद्वैत का प्रतिपादन तुलसी की निम्न पक्तियो मे भी मिलता है—

'केशव कहि न जाय का कहिए ?
शून्य भित्ति पर चित्र रंग नहिं तन बिन लिखा चितेरे ।

(४) सूर ने 'सूरसागर' के आरम्भ मे ब्रह्म के निर्गुण रूप को ही प्रधानता दी है किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से सगुण रूप को ग्राह्य स्वीकार करते हुए कहा है—

'रूप रेख गुन जाति जुगुति बिन निरालम्ब मन चक्र धावै ।
सब बिधि अगम बिचारहि ताते सूर सगुन लीला पद गावै ।

(५) 'जल बिनु तरग''''''चतुराई'—आदि पक्तियो मे प्रयुक्त निर्गुण ब्रह्म की विशेषताएँ ज्ञानवादियो के प्रमुख अस्त्र है ।

अलंकार—अन्त्यानुप्रास एव वृत्तानुप्रास ।

काहे को गोपीनाथ कहावत ?
जो पै मधुकर कहत हमारे गोकुल काहे न आवत ?
सपने की पहचानि जानि कै हमहिं कलंक लगावत ।
जो पै स्याम कूबरी रीझे सो किन नाम धरावत ।
ज्यों गजराज काज के औसर औरे दसन दिखावत ।
कहन सुनन को हम है ऊधो सूर अनत बिरमावत ।। १

शब्दार्थ—काहे को=किसलिए । काहे न=क्यो नही । आवत=आते । कूबरी=कुबड़ी, कुब्जा । किन=क्यो नही । धरावत=रखते । औसर=अवसर । औरे=और । दसन=दाँत । अनत=अन्यत्र, और कही । बिरमावत=विश्राम करते है ।

प्रसंग—कृष्ण मथुरा जाकर गोपियों को भुला बैठे है, उन्हे गोपियो के साथ किया केलि-विहार विस्मृत है । वहाँ जाकर वह कुब्जा के प्रेम में फंस गए है । अब वह कुब्जा से विवाह करके वही आनन्द विहार कर रहे हैं फिर भी उन्हे गोपीनाथ कहा जाता है । गोपियाँ असूयाभाव से भर कर इस बात पर व्यग्य करती हैं ।

व्याख्या—कृष्ण अब भी स्वय को 'गोपीनाथ' क्यो कहलवाते है ? जबकि

अब इस नाम मे कोई तथ्य नही रहा क्योकि वह मथुरा जाकर हमे भुला बैठे हैं। हे मधुकर ! यदि वह अभी भी हमारे स्वामी कहलाते है तो मथुरा से लौटकर गोकुल क्यो नही चले आते ? एक ओर तो हमारे साथ स्वप्न के समान अत्यन्त थोड़ा परिचय बताते है, और फिर स्वयं को 'गोपीनाथ' भी कहलवाते हैं। इस प्रकार वह परोक्ष रूप से हम पर कलक लगा रहे हैं। यदि श्यामसुन्दर उस कुबडी दासी कुब्जा पर ही रीझ गए हैं तो उसी के नाम पर अपना नाम कुब्जानाथ' अथवा 'कुब्जापति' ही क्यो नही रख लेते ? उनके 'गोपीनाथ' नाम पर सारा ससार हमे कलकिनी समझ रहा है, जबकि उनका-हमारा अब कोई साथ नही रहा। अब तो वह कुब्जा पर ही मोहित है और उसके साथ मथुरा में रहते हैं। इस प्रकार का उनका कार्य उसी प्रकार है जिस प्रकार कि हाथी के दाँत खाने के और दिखाने के और होते है। अर्थात् कृष्ण की कथनी और करनी मे पर्याप्त अन्तर है। कहने-सुनने के लिए हम उनकी प्रेमिकाएँ है और वे हमारे स्वामी होने के कारण 'गोपीनाथ' भी कहलाते हैं किन्तु वास्तविक स्थिति यह है कि वह हमारे प्रियतम न होकर कुब्जा के प्रेम मे फँसे हुए है और आजकल उसी के साथ मथुरा मे विश्राम कर रहे हैं।

विशेष—(१) 'गोपीनाथ' शब्द का प्रयोग करके गोपियाँ कृष्ण के कपट छल एवं निष्ठुरता पर मार्मिक व्यग्य कर रही है। इससे कुब्जा के प्रति उनका असूयाभाव भी प्रकट होता है। अत. यहाँ असूया सचारी भाव प्रधान है। कृष्ण को 'गोपीनाथ' कहाने के सन्देश की व्यजना अन्य कवियो ने भी की है। इस दृष्टि से बगला के प्रसिद्ध कवि चडीदास की पक्तियाँ दर्शनीय है—

'यतेक तो मारे पिरीत करुकते मन पिरीत हवेना।
राधानाथ बिने कुब्जार केहत लोमारेकबेना ॥'

(२) 'सपने की पहिचानि' तथा 'गजराज-काज के औसर' और 'दसन दिखावत'—मुहावरो के प्रयोग से भाषा की व्यजना-शक्ति मे वृद्धि हुई है।

अलंकार—(१) 'गोपीनाथ'—परिकर।

(२) 'ज्यो गजराज······दिखावत—' दृष्टान्त।

अब कत सुरति होति है राजन् ?
दिन दस प्रीति करी स्वारथ-हित रहत आपने काजन।

सबै अयानि भईं सुनि मुरली ठगीं कपट की छाजन।
अब मन भयो सिंधु के खग ज्यों फिरि फिरि सरत जहाजन।
वह नातो टूटो ता दिन तें सुफलकसुत-संग भाजन।
गोपीनाथ कहाय सूर प्रभु कत मारत हौ लाजन॥ ४६॥

शब्दार्थ—सुरति=स्मृति। काजन=कार्य के लिए। अयानि=अज्ञानी। छाजन=कपटपूर्ण व्यवहार। सिन्धु=समुद्र। खग=पक्षी। सरत=बढता है। सुफलकसुत=अक्रूर जी। भाजन=भाग गए, चले गए, प्रस्थान कर गए।

प्रसग—उद्धव के माध्यम से कृष्ण द्वारा भेजे गए योग-सदेश से गोपियाँ अत्यन्त खिन्न हैं। कुब्जा के प्रति उनका असूया भाव अब भी जारी है। वे कृष्ण पर व्यग्य करती हुई उद्धव से कह रही है कि अब उन्हे हमारी सुधि किस प्रकार आती होगी। वस्तुतः वह कृष्ण के विश्वासघात पर अत्यन्त दुखी है।

व्याख्या—हे उद्धव ! अब कृष्ण को हमारी सुधि किस प्रकार आती होगी ? अब वह मथुरा के राजा हो गए है, और कुब्जा उनकी रानी है। उसके सानिध्य मे अब उन्हे हमारा अभाव क्या खटकता होगा। उन्होने अपने स्वार्थ-वश दस दिन अर्थात् थोड़े समय के लिए हमसे प्रेम बढाया था। किन्तु अब राजा बन जाने के कारण राज-काज मे ही समय निकल जाता होगा। अब उन्हे हमारी स्मृति किस प्रकार आती होगी। कृष्ण की वंसी की मादक स्वर-लहरी को सुनकर हम सब उस समय अज्ञानी हो गई थी और उसके प्रभाव मे तन-मन खो वैठी। उन्होने तो वस्तुतः प्रेम का ढोंग रचा था किन्तु हम इसे सत्य समझ कर अपनी सुध-बुध खो बैठी और इस प्रकार उनके चंगुल मे फस गई। अब तो हमारा मन जहाज के उस पंछी के समान हो गया है जो अन्यत्र कोई ठौर प्राप्त नही कर पाने के कारण पुनः जहाज पर लौट आता है। हमारे मन को अब कृष्ण के अतिरिक्त अन्य किसी भी स्थान पर आश्रय, सुख-सन्तोष नही मिलता, इसी कारण हमारा ध्यान उन्ही की ओर जाता है। कृष्ण से हमारा प्रेम का नाता तो उसी दिन टूट गया था जिस दिन वह हमे अकेला, निराधार छोड़कर अक्रूर जी के साथ स्वय मथुरा चले गये थे। अब तो हमे इस बात का दुःख है कि हमसे स्नेह का रिश्ता तोड़ जाने पर भी अभी तक वह 'गोपीनाथ' बने हुए हैं। जिससे सारा ससार हमे लांछित कर रहा है और हम लाज से मरी जा रही हैं।

विशेष—(१) 'गोपीनाथ' शब्द का प्रयोग पूर्व प्रसग मे भी हुआ है। इस शब्द के माध्यम से गोपियाँ कृष्ण के कपट-पूर्ण प्रेम और निष्ठुरता पर गहरा व्यग्य कर रही हैं।

(२) 'कपट की छाजन' अत्यन्त सुन्दर मुहावरा है। इसके प्रयोग से भाषा की व्यंजना-शक्ति बढी है।

(३) 'अब मन······सरत जहाजन'—जैसा भाव सूर के एक अन्य विनय पद मे भी उपलब्ध होता है—

"मेरो मन अनत कहाँ सचु पावै ?
जैसे उडि जहाज को पंछी फिरि जहाज पर आवै।'

अलकार—'सिन्धु के खग ज्यो'—उपमा।

लिखि आई ब्रजनाथ की छाप।
बाँधे फिरत सीस पर ऊधो देखत आवै ताप।
नूतन रीति नन्दनन्दन की घर घर दीजत थाप।
हरि आगे कुब्जा अधिकारी ताते है यह दाप।
आए कहन जोग अवराधो अविगत-कथा की जाप।
सूर सदेसो सुनि नहि लागै कहौ कौन को पाप ॥ ४७॥

शब्दार्थ—छाप=चिन्ह, मनोहर, चिट्ठी पत्र। ताप=ज्वर। नूतन=नवीन। थाप=स्थापित करना, थोपना। आगे=बढकर, अधिक। ताते=इसी कारण। दाप=दर्प, घमड। अवराधो=आराधना, साधना करो। अविगत=निराकार ब्रह्म।

प्रसग—गोपियो का कृष्ण एवं कुब्जा दोनो पर व्यग्य करना जारी है।' पहले उन्हे सन्देह था कि निर्गुण-ब्रह्म की आराधना करने का सन्देश कृष्ण ने भेजा ही नही है किन्तु उद्धव से प्राप्त पत्र पर कृष्ण की मुद्रा की छाप देखकर उन्हे विश्वास करना पडा। अब इस बात को लेकर वे व्यग्य करती हुई कहती है कि—

व्याख्या—अरे देखो तो सही। व्रजनाथ कृष्ण के हाथो का लिखा हुआ पत्र आया है जिस पर उनकी मुद्रा का चिन्ह भी अकित है। इस प्रकार इस उद्धव विचारे का दोष नही, योग का सन्देश वस्तुतः कृष्ण ने स्वय हमारे लिए भेजा है। उद्धव अपनी ओर से कुछ नही कह रहे। उद्धव इस पत्र की सुरक्षा

के कारण इसे अपनी पगड़ी मे खोसे फिरते है जिसे देखकर इन्हे क्रोध और क्षोभ के कारण ज्वर आने लगता है। यह नन्दनन्दन कृष्ण की सन्देश देने की नवीन नीति है। उनकी आज्ञानुसार ही तो उद्धव घर घर मे इस पत्र मे निहित सन्देश की स्थापना कर रहे है। अर्थात् सभी को कृष्ण को भुलाकर निर्गुण-ब्रह्म की आराधना करने की शिक्षा दे रहे है।

ऐसा प्रतीत होता है कि मथुरा मे सभी कार्यो मे कृष्ण की कुछ नही चलती, सर्वत्र कुब्जा का आदेश चलता है और उसके अधिकार कृष्ण से भी अधिक है। इसी कारण तो उसे इतना घमण्ड हो गया है कि उसने कृष्ण से चोरी करके इस पत्र पर उनकी मोहर छापकर इसे प्रामाणिक बना दिया है। वस्तुतः वह कृष्ण को अपने मे ही सीमित करना चाहती है। कहने का भाव यह है कि इस पत्र पर मोहर कृष्ण द्वारा न लगाई जाकर कुब्जा द्वारा लगाई गई है। इस प्रकार यह कुब्जा द्वारा हमे भेजा गया सन्देश है। कुब्जा हमे अन्य राह पर डाल कर कृष्ण का स्वय अकेले ही भोग करना चाहती है, तभी तो उद्धव उसके सकेत पर यहाँ आए है और हमे निर्गुण अगम्य ब्रह्म की कथा सुना कर योग-साधना के बल पर उसे प्राप्त करने की शिक्षा दे रहे है। इस अनुचित, अनर्गल सन्देश को सुनने मे बताओ, किसको पाप नही लगेगा। हम गोपियाँ एकमात्र कृष्ण की ही अनुरागिनी है। कृष्ण को त्याग कर निर्गुण ब्रह्म की उपासना करने मे हमे पाप लगता है। यह भारतीय नारी के पातिव्रत्य धर्म के प्रतिकूल है। हम कृष्ण की सच्ची प्रेमिकाओ के लिए अपने प्रियतम कृष्ण को त्याग किसी अन्य से प्रेम करना अथवा उसका ध्यान करना निश्चय ही पापाचार है।

विशेष—(१) इस पद मे कुब्जा के प्रति गोपियो के असूया भाव की व्यजना की गई है।

(२) वस्तुतः इस पद का भाव-वल्लभाचार्य के शुद्धाद्वैतवाद' के सिद्धान्तो के विपरीत है क्योकि यहाँ गोपियो के स्वकीयाभाव की अभिव्यजना की गई है जब कि इस सिद्धान्त में स्वकीया प्रेम की अपेक्षा परकीया प्रेम को स्वीकार किया गया है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सूरदास ने सर्वत्र वल्लभाचार्य के दर्शन का ही प्रतिपादन नही किया बल्कि स्वतन्त्र चिन्तन भी किया है। सूर ने गोपियो के प्रेम मे स्वकीया और परकीया दोनो प्रेम-पद्धतियो का सम्मिश्रण

कर उसे अधिक गहन एव एकनिष्ठ बना दिया है।

(३) 'बाँधे फिरत सीस पर ऊधो'...पुराने समय मे पत्र को सुरक्षित रखके लिए पगड़ी मे खोस लिया जाता था। इस पंक्ति मे इसी अर्थ का प्रकाशन किया गया है।

फिरि फिरि कहा सिखावत बात ?
प्रातकाल उठि देखत, ऊधो घर घर माखन खात।
जाकी बात कहत हौ हमसो सो है हमसों दूरि।
ह्याँ है निकट जसोदानन्दन प्रान-सजीवन मूरि।
बालक संग लये दधि चोरत खात खवावत डोलत।
सूर सीस सुनि चौंकत नावहिं अब काहे न मुख बोलत ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ—ह्याँ=यहाँ। प्रान-सजीवनमूरि=संजीवनी बूटी के समान प्राण एव जीवन का सचार करने वाली। लए=लिए हुए। दधि=दही। खवावत=खिलाता हुआ। डोलत=घूमता फिरता है। सीस नवावहिं=सिर को झुका लेते हो।

प्रसंग—उद्धव के ज्ञानोपदेश पर गोपियाँ अत्यन्त क्षुब्ध है। उन्होने क्रमश निर्गुण-ब्रह्म का विरोध करते हुए अपने प्रेम-मार्ग की श्रेष्ठता की घोषणा की है। फिर भी उद्धव हार नही मानते और ज्ञानोपदेश दिए जा रहे है, इस पर गोपियाँ उन्हें खरी-खोटी सुनाने पर उतारू हो जाती हैं ?

व्याख्या—हे उद्धव ! तुम हमे बार-बार निर्गुण-ब्रह्म की साधना करने का उपदेश क्यो दे रहे हो ? यह वस्तुत तुम्हारा व्यर्थ का प्रयास है क्योकि हमारे जीवन मे कृष्ण इतने गहरे पैठ गए है कि हमारे लिए उन्हें भुला पाना अत्यन्त कठिन है। हम यहाँ व्रज मे नित्य प्रात उठकर उन्हे घर-घर मक्खन खाते हुए देखती हैं। तुम जिस निर्गुण ब्रह्म की आराधना करने के लिए हमसे कह रहे हो वह हमसे बहुत दूर है हमारी पहुँच से परे है जबकि सजीवनी बूटी के समान जीवन-सचार के लिए यशोदा-नन्दन श्रीकृष्ण यहाँ व्रज मे हमारे निकट निवास करते है। हमे वह आज भी ग्वाल वालो को साथ लिए दही चुराते हुए, कुछ स्वयं खाते और कुछ दूसरो को खिलाते हुए घूमते-फिरते दिखाई देते हैं। जब हम उन्हें चोरी करते हुए रँगे हाथो पकड लेती हैं, तो वह चौक कर लज्जित हो सिर झुका कर चुपचाप खडे हो जाते है और हमारी डाँट-फटकार का कुछ भी उत्तर नही देते।

विशेष—(१) अन्तिम पंक्ति का यह अर्थ भी हो सकता है कि हे उद्धव ! तुम हमारी इन बातो को सुनकर सिर नीचा किए क्यो बैठ गए हो। स्तब्ध क्यो हो गए हो ? अब कुछ बोलो, हमे निर्गुण ब्रह्म का उपदेश दो।

(२) प्रस्तुत पद मे कृष्ण के प्रति गोपियो के अनन्य प्रेम की व्यंजना हुई है। गोपियों को कृष्ण की उपस्थिति का भास होता रहता है और वे उनकी प्रचलित लीलाओं को स्मरण कर के आत्मविस्मृत होती रहती है। स्मृति द्वारा प्रत्यक्ष का अनुभव करना एकान्त प्रेम-निष्ठा का प्रतीक है।

(३) उद्धव ने भी व्रज मे गोपियो के समान कृष्ण की उपस्थिति को अनुभव किया था। व्रज से लौटकर उन्होने कृष्ण के सम्मुख स्पष्ट शब्दो मे इस बात का उल्लेख किया—

'व्रज में सम्मुख मोहि भयो।
तुम्हरौ ज्ञान सन्देसौ प्रभु जू, सबै जू भूल गयौ॥
तुम ही सौं बालक किसोर वपु मैं घर-घर प्रति देख्यौ।
मुरलीधर घनस्याम मनोहर अद्‌भुत नटवर पेख्यौ॥'

अलकार—(१) 'घर-घर'...पुनरुक्ति प्रकाश।
(२) 'ह्याँ डोलत'...स्मरण'।

अपने सगुन गोपालै, माई ! यहि विधि काहे देत ?
ऊधो की ये निरगुन बातें मीठी कैसे लेत ?
धर्म, अधर्म कामना सुनावत सुख औ मुक्ति समेत।
काकी भूख गई मन लाडू सो देखहु चित चेत।
सूर स्याम तजि को भुस फटकै मधुप तिहारे हेत ? ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ—मीठी कैसे लेत=स्वीकार कर ग्रहण करे। तजि=छोड़कर। भुस फटकै=व्यर्थ परिश्रम करे। तिहारे हेत=तुम्हारे लिए।

प्रसंग—उद्धव गोपियो से खरी-खोटी सुनने पर भी अपने ज्ञानोपदेश को जारी रखते हैं। गोपियां अनेक बार अपने प्रेम मार्ग को उद्धव के ज्ञान-मार्ग से श्रेष्ठ घोषित कर चुकी है। प्रस्तुत पद मे वे पुन. निर्गुण-ब्रह्म से सगुण ब्रह्म की श्रेष्ठता प्रमाणित कर रही है।

व्याख्या—गोपियां परस्पर वार्तालाप मे संलग्न हैं। एक गोपी दूसरी गोपी से कहती है कि हे सखी ! हम अपने सगुण रूप गोपाल कृष्ण को किस प्रकार

और क्यो कर उद्धव को दे दे ? और उद्धव की निर्गुण-विषयक विष सदृश प्राण-घातक वचनावली को मधुर, प्रिय और ग्रहण करने योग्य मान कर किस प्रकार स्वीकार कर ले ? उद्धव ने हमारे सम्मुख अनेक बार धर्म, अधर्म की व्याख्या की है और हमे यह प्रलोभन दिया है कि यदि हम निर्गुण-ब्रह्म की उपासना करे तो हमे सुख और मोक्ष दोनो की प्राप्ति हो सकती है किन्तु उद्धव की ये सब बाते असगत और असभव है, इसलिए हम इन्हें समझ नही पा रही। अपने मन मे यह विचार कर देखो कि आज तक मन मे लड्डू खाने से किसकी भूख शान्त हुई है। उद्धव लड्डू के समान प्रत्यक्ष ग्रहणीय कृष्ण-प्रेम को त्याग, अलक्ष्य, अगम्य निर्गुण-ब्रह्म की उपासना करने का उपदेश दे रहे हैं।

उनके शब्दो मे इस उपासना से मुक्ति प्राप्त होती है किन्तु हमे तो यह लगता है कि जैसे किसी सामने की प्रत्यक्ष हाथ मे आई हुई वस्तु को त्याग कर नितान्त काल्पनिक एव अप्राप्य वस्तु के पीछे भागना और उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करना। कृष्ण और उनका प्रेम हमे सुलभ है और प्रत्यक्ष है तो हम उन्हे त्याग कर क्यो निर्गुण ब्रह्म के पीछे भागती फिरें ? हे मधुप ! यहाँ हम कौन खाली बैठी हैं जो कृष्ण को त्याग कर निर्गुण की साधना जैसा भुस फटकने का व्यर्थ कार्य करे। ब्रह्म की आराधना करना व्यर्थ के किसी कार्य मे मगज-पच्ची करना है। ऐसे कार्यों का कोई उचित परिणाम नही निकला करता।

विशेष——प्रस्तुत पद मे 'भुस फटकै' मुहावरे का और मनलाडू' लोकोक्ति का अत्यन्त सुन्दर एव सार्थक प्रयोग हुआ है।

अलकार——'भुस फटकै' तथा 'मनलाडू'——लोकोक्ति।

हमको हरि की कथा सुनाव।
अपनी ज्ञानकथा हो, ऊधो ! मथुरा ही लै गाव।
नागरि नारि भले बूझैंगी अपने वचन सुभाव।
पा लागों, इन बातनि, रे अलि ! उनहीं जाय रिझाव।
सुनि, प्रियसखा स्यामसुन्दर के जो पै जिय सति भाव।
हरिमुख अति आरत इन नयननि बारक बहुरि दिखाव।
जो कोउ कोटि जतन करै, मधुकर, बिरहिनि और सुहाव।
सूरजदास मीन को जल बिनु नाहिन और उपाव ॥ ५०॥

शब्दार्थ—नागरि नारि=मथुरा नगर की चतुर स्त्रियाँ। बूझैगी=पूछेगी। रिझाव=प्रसन्न करो। जिय=हृदय। सतिभाव=सच्चा सहानुभूति का भाव। आरत=व्याकुल, उत्सुक। बारक=एक बार। बहुरि=पुनः, फिर। कोटि=करोड़। जतन=यत्न, प्रयत्न। मीन=मछली। उपाव=उपाय।

प्रसंग—गोपियो को उद्धव की ज्ञानोपदेश एवं निर्गुण ब्रह्म की चर्चा अच्छी नही लगती, वे बार-बार उनसे विनय करती है कि उनके सम्मुख इसकी चर्चा कदापि न की जाए। वे तो केवल सगुण रूप कृष्ण की कथा मे रुचि रखती हैं, अत. उनके सम्मुख तो उन्ही की कथा कही जानी चाहिए।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव की ज्ञानोपदेश एव निर्गुण ब्रह्म की निरन्तर चर्चा से ऊब उठी है, अब यह उन्हे नितान्त अरुचिकर लगती है, इसलिए वे उद्धव से कहती है कि हे उद्धव! तुम हमे केवल कृष्ण की कथा सुनाओ, हमारे सम्मुख उन्ही की चर्चा करो, तुम्हारे निर्गुण-ब्रह्म के प्रति हमारी कोई रुचि नही है, हम उसकी कथा तुम्हारे मुख से सुनकर ऊब चुकी है। तुम अपनी इस ज्ञानोपदेश और निर्गुण-ब्रह्म की कथा को मथुरा लौटाकर ले जाओ और वहाँ के लोगो के सम्मुख गा-गाकर सुनाते रहो। नगर की नारियाँ चतुर होती हैं, अत. वे अपने स्वभावानुसार तुम्हारे इस निर्गुण ब्रह्म के विषय में जिज्ञासा प्रकट करेंगी, पूछेंगी, तुम्हे वार्तालाप मे घसीटेंगी और समझने का प्रयत्न भी करेंगी। वस्तुतः वे इस प्रकार की बाते सुनने और कहने की अभ्यस्त होती है, अत तुम्हारी बात शीघ्र ही उनकी पकड मे आ जाएगी। हे भ्रमर! हम तुम्हारे पाँव पडती है, अपनी योग-ज्ञान और निर्गुण-ब्रह्म सम्बन्धी चर्चा को तुम कृपा करके वही मथुरा नगर लौटाकर ले जाओ और इससे वहाँ की चतुर स्वभाव वाली स्त्रियो को रिझाने का प्रयत्न करो।

हे उद्धव! अपनी इस ज्ञान-योग की चर्चा को तनिक छोडकर तुम हमारी बात सुनो। यदि तुम श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण के प्रिय और वास्तविक सखा हो, और यदि तुम्हारे हृदय मे हम विरहिणियो के प्रति सच्ची सहानुभूति का भाव है तो कृष्ण के मुख के दर्शन के लिए तडप रहे, इन हमारे व्याकुल नेत्रो को पुनः एक बार उस मोहिनी मूर्ति के दर्शन करा दो, इसके लिए हम तुम्हारा अत्यन्त आभार मानेगी।

हे मधुकर ! तुम हमें यह बताओ कि क्या करोड़ो यत्न करने पर भी विरहिणी नारियो को अपने प्रियतम की चर्चा के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार की चर्चा सुहा सकती है ? जिस प्रकार तड़पती हुई मछली के लिए जल के अतिरिक्त जीवन प्राप्त करने का अन्य कोई उपाय नही, उसी प्रकार विरह सतप्त हम गोपियो के लिए कृष्ण-चर्चा ही एक ऐसा उपाय है जिससे हम जीवन धारण किए रह सकती है, अन्यथा नही । अत. यदि तुम बार-बार ज्ञान-योग और निर्गुण ब्रह्म की चर्चा करते रहोगे तो हमारा जीवन धारण किए रहना कठिन हो जाएगा ।

विशेष—(१) प्रस्तुत पद मे गोपियो के अनन्य कृष्ण-प्रेम का सरल, मार्मिक एवं हृदयग्राही चित्रण हुआ है ।

(२) मथुरा-नगर की नागरि नारियो के माध्यम से कुब्जा पर करारा व्यग्य है ।

अलकार—(१) समस्त पद में अनुप्रास ।

(२) 'मीन······उपाव'—मे निदर्शना ।

अलि हो ! कैसे कहौ हरि के रूप-रसहि ?
मेरे तन में भेद बहुत विधि रसना न जानै नयन की दसहि ॥
जिन देखे ते आहि बचन बिनु, जिन्हैं बचन दरसन न तिसहि ।
बिन बानी भरि उमगि प्रेमजल सुमिरि वा सगुन-जसहि ॥
बार बार पछितात यहै मन कहा करै जो विधि न बसहि ।
सूरदास अगन की यह गति को समुझावै याछपद पसुहि ॥३७॥

शब्दार्थ—रसना=जिह्वा, जीभ । रसहि=दशा को । आहि=है । तिसहि=उसे । सुमिरि=स्मरण; ध्यान करती है । जसहि=यश को । न बसहि=वश मे नही । विधि=विधाता । छपद=षट्पद, भ्रमर । पसुहि=पशु को ।

प्रसग—गोपियां श्रीकृष्ण के स्मरण-ध्यान में खोई हुई है किन्तु वे कृष्ण के रूप का बखान करने मे असमर्थ है क्योकि आंख देखती है किन्तु जिह्वा के अभाव मे वर्णन नही कर सकती । जबकि जिह्वा वर्णन करने मे समर्थ होने पर भी नेत्रो के अभाव मे कृष्ण की रूप-माधुरी का जायजा नही ले सकती ।

व्याख्या—एक गोपी भ्रमर के माध्यम से उद्धव से कह रही है कि हे मधुप ! मैं कृष्ण के रूप-रस-शृंगार का किस प्रकार वर्णन करूँ ? मेरे इस शरीर के विभिन्न अवयवो मे परस्पर अत्यधिक विभेद है। एक अग एक ही कार्य कर सकता है। मेरी जिह्वा मेरे नयनो की दशा को नही जानती और न ही वह उस दशा का अनुभव कर सकती है। नयनो ने कृष्ण की रूप-माधुरी के दर्शन किए हैं किन्तु वे वचनो के अभाव मे उसका वर्णन करने मे असमर्थ हैं और जिह्वा जो बोलने मे, वर्णन करने मे समर्थ है, नेत्रो के विना उस रूप-माधुरी को देखने-अनुभव करने में असमर्थ है। नेत्र बोल न सकने के कारण कृष्ण के उस सगुण रूप और उसके यश का स्मरण कर उमंगित हो प्रेम के आवेग के कारण उमडते हुए आँसुओ से भर उठते हैं। अपनी इसी विवशता के कारण हमारा मन बारम्बार पश्चाताप से भर उठता है। जब विधाता ही वश में नही है तो यह मन कर भी क्या सकता है—अर्थात् भाग्य की विवशता के कारण हम कुछ भी करने के लिए सर्वथा असमर्थ हैं। हमारे भाग्य मे अपने प्रियतम कृष्ण से वियोग होना बदा था, अब हम उसे भुगत रही है। सूरदास जी कहते है कि गोपियो ने कहा कि अपने शरीर के विभिन्न अगो की विवशता से इस मूढ़ छः पैर वाले भौरे को कौन समझाये ? यह प्रेम के महत्व एव प्रभाव को नही समझ पाता, यह मूर्ख है, अत. इससे कौन माथा खपाए ?

विशेष—(१) शुक्ल जी ने 'या छपद पसुहिं' के साथ 'पाछपद पसुहि' पाठ भी स्वीकार किया है। पाछपद का अर्थ होता है पीछे हटने वाला अर्थात् अडियल ! इस पाठ भेद को स्वीकार करने पर इस पंक्ति का अर्थ होगा—'जो पीछे हटने वाले पशु (अश्व) के समान आगे न बढ़ पीछे हटना चाहता है अर्थात् अडियल है उस मूढ़ को आगे बढ़ने के लिए किस प्रकार प्रेरित किया जा सकता है।'

(२) गोपियों के मत में कृष्ण का रूप-सौदर्य अनिर्वचनीय है जिसे कवि ने अगो की विषमता का रूपक बाँध कर अत्यन्त मार्मिक ढग से प्रस्तुत किया है।

(३) ब्रह्म की अनिर्वचनीयता का उपनिषदो ने भी वर्णन किया है—

'न शक्यतेवर्णं चितुंगिरा सदा स्वयं तदन्तः करणेन गुह्यते।'

(४) निर्गुण ब्रह्म और सगुण ब्रह्म—दोनो के उपासक साधना की अन्तिम अवस्था अर्थात् चरम-स्थिति मे पहुँच कर मौन हो जाते हैं। इस साक्षात्कार का अनुभव तो वे करते है किन्तु अभिव्यक्त नही कर पाते। कवि-गण ने इस स्थिति को 'गूंगे का गुड' कहा है।

(५) सम्पूर्ण पद मे गोपियो के वाग्वैदग्ध्य का चमत्कार द्रष्टव्य है।

(६) अन्तिम पक्ति मे अमर्श संचारी भाव की व्यजना की गई है।

(७) सूरदास ने अन्य पद मे भी ऐसे भाव का प्रदर्शन किया है—

'जो मेरी अखियत रसना होती कहती रूप बनाई री।'

(८) तुलसी दास जी ने भी वाणी और नेत्रों की विषमता को स्वीकारा है—"गिरा अनयन नयन विनु वानी।"

हमारे हरि हारिल की लकरी।
मन बच क्रम नंदनदन सों उर यह दृढ़ करि पकरी॥
जागत, सोवत, सपने सौंतुख कान्ह-कान्ह जक री।
सुनतहि जोग लगत ऐसो अलि! ज्यों करुई ककरी॥
सोई व्याधि हमै लै आए देखी सुनी न करी।
यह तौं सूर तिन्है लै दीजै जिनके मन चकरी॥ ५३॥

शब्दार्थ—हारिल की लकरी=हारिल नामक पक्षी सदैव अपने पंजों मे कोई-न-कोई लकडी का टुकडा अथवा तिनका पकडे रहता है—यहाँ उसी से तात्पर्य है। वच=वचन। क्रम=कर्म। उर=हृदय। सौतुख=प्रत्यक्ष। कान्ह=कन्हैया, कृष्ण। जक=रट, धुन। करुई=कडवी। सोई=वही। व्याधि=रोग, वीमारी। तिन्है=उनको। चकरी=चचल, चकई के समान सदैव अस्थिर रहने वाली।

प्रसग—प्रस्तुत पद सूरदास जी के भ्रमरगीतसार का एक अंश है। गोपियाँ उद्धव के निर्गुण-ब्रह्म सम्बन्धी उपदेश को सुन कर अत्यन्त खिन्न हैं। इस पद मे वे कृष्ण के प्रति अपने दृढ प्रेम को प्रकाशित करती हुई उद्धव से कह रही हैं कि कृष्ण तो उनके लिए हारिल पक्षी की लकड़ी के समान बन गए है।

व्याख्या—जिस प्रकार हारिल पक्षी कही भी हो और किसी भी दशा में हो, सहारे के लिए अपने पजो मे कोई-न-कोई लकडी अथवा किसी तिनके को

पकडे रहता है, उसी प्रकार हम गोपियाँ भी निरन्तर कृष्ण के ध्यान मे निमग्न रहती हैं। हमने अपने मन, वचन और कर्म से नन्दनन्दन कृष्ण रूपी लकड़ी को अपने हृदय मे दृढ़ करके पकड़ लिया है अर्थात् नन्दनन्दन कृष्ण की रूप-माधुरी हमारे हृदय मे गहरे पैठ गई है और अब यह हमारे जीवन का एक अग बन गई है। हमारा मन जागते, सोते, स्वप्नावस्था में, प्रत्यक्ष रूप में अर्थात् सभी दशाओं में कृष्ण के नाम की रट लगाता रहता है। उन्ही का स्मरण मात्र एक कार्य हमारा रह गया है जिसे हमारा मन सभी अवस्थाओ मे करता रहता है।

हे भ्रमर! तुम्हारे निर्गुण ब्रह्म सम्बन्धी ज्ञान उपदेश की बातें सुन कर ऐसा लगता है जैसे हमने कड़वी ककडी मुह मे रख ली हो अर्थात् तुम्हारी ये योग ज्ञान की बाते हमारे लिए कडवी ककडी के समान अरुचिकर और अग्रहणीय हैं। निर्गुण-ब्रह्म के रूप में उद्धव तुम हमारे लिए ऐसा रोग ले आए हो जिसे न तो हमने कभी देखा है, न सुना है और न ही उसका भोग किया है—इस योग-ज्ञान रूपी बीमारी से हम पूर्ण रूप से अपरिचित हैं। अतः तुम्हारे लिए यह उचित होगा कि तुम उन लोगो को यह ज्ञान-योग रूपी बीमारी प्रदान करो जिनके मन चकई के समान सदा चंचल रहते है। वे ही इसका आदर करने मे समर्थ है।

गोपियो के कहने का भाव यह है कि उनके हृदय तो कृष्ण-प्रेम मे दृढ़ एव स्थिर है, उनके हृदय मे योग-ज्ञान एव निर्गुण-ब्रह्म सम्बन्धी बातो के लिए कही कोई स्थान नही। उद्धव के योग की बातें वही जन ही स्वीकार कर सकते हैं जो अपनी आस्था मे दृढ नही होते। वे भावावेश मे अपनी आस्था और विश्वास को बदलते रहते हैं। अतः ऐसे अस्थिर चित्त वाले लोगों के लिए ही योग का उपदेश उचित है, गोपियाँ तो पहले ही कृष्ण-प्रेम मे दृढ़ है, उनके लिए योग का उपदेश व्यर्थ है।

विशेष—(१) इस पद में विरह की प्रलापावस्था का चित्रण प्रस्तुत किया गया है।

(२) गोपियों के द्वारा निर्गुण के उपदेश के लिए 'व्याधि' शब्द का प्रयोग करवा कर सूरदास जी ने परोक्ष रूप से स्वयं निर्गुण-ब्रह्म की अवहेलना की है। इसके साथ यह भी स्पष्ट किया गया है कि योग-साधना चचल एव अस्थिर चित्त वालो के लिए ही उचित है। स्थिर प्रेममार्गियो के लिए यह व्यर्थ है।

अलंकार—'सुनतहि''''''ककरी'—में उपमा।

फिरि फिरि कहा सिखावत मौन ?
दुसह वचन अलि यों लागत उर ज्यों जारे पर लौन ॥
सिंगी, भस्म, त्वचामृग, मुद्रा, अरु अवरोधन पौन।
हम अबला अहीर, सठ मधुकर! घर बन जानै कौन ॥
यह मत लै तिनहीं उपदेसो जिन्हें आजु सब सोहत।
सूर आज लौं सुनी न देखी पोत सूतरी पोहत ॥ ५३॥

शब्दार्थ—दुसह=असह्य, कठोर। जारे पर लौन=जले पर नमक। त्वचा-मृग=मृगछाला। अवरोधन पौन=साँस रोकना, प्राणायाम करना। पोत=काँच की बनी छोटी-सी गुरिया अथवा मोती। सूतरी=सुतली।

प्रसंग—उद्धव के ज्ञानोपदेश पर गोपियाँ अत्यन्त क्षुब्ध हैं। वे श्रीकृष्ण के विरह के कारण वैसे ही असह्य कष्ट पा रही हैं। उद्धव के बार-बार मौन साधने के उपदेश पर झल्ला उठती है और कहती हैं।

व्याख्या—हे उद्धव! तुम हमें बार-बार मौन साधने का उपदेश क्यों दे रहे हो? कम-से-कम हमें अपना दुःख तो कह लेने दो। हे भ्रमर! तुम्हारे ये योग-साधना-रूपी असह्य, कठोर वचन इस प्रकार कष्ट दे रहे हैं जैसे कि जले पर नमक छिड़क दिया हो। कवि का कहने का भाव यह है कि गोपियाँ कृष्ण वियोग में पहले ही दुःखी और घायल हैं, ऊपर से उद्धव जो उन्हें कृष्ण-त्याग कर ब्रह्म प्राप्ति के लिए योग-साधना का उपदेश दे रहे हैं, वह ऐसा है जैसा जले पर नमक छिड़क कर घायल को और कष्ट देना।

तुम हमसे सिंगी, भभूत रमाने, मृगछाला तथा मुद्रा धारण करके प्राणायाम की साधना करने को कहते हो, किन्तु हे मूर्ख भ्रमर! क्या तुमने यह भी सोचा है कि हम अबला, अहीर नारियाँ हैं? हमारे लिए यह किस प्रकार सम्भव है कि हम तुम्हारे कठिन योग-साधना से प्राप्त निर्गुण ब्रह्म को अपना लें? योग-साधना तो वन में रह कर अपनायी जा सकती है, हम न घर को त्याग सकती हैं और न ही अपने घर को वन के समान निर्जन कर सकती हैं। यह असम्भव है क्योंकि हमारे घरों में कृष्ण-सम्बन्धी सभी पुरानी स्मृतियाँ समाई हुई हैं, जिन्हें हमें भुलाना पड़ेगा और यही हमारे लिए सम्भव नहीं। अतः तुम्हारी यहाँ दाल नहीं गल सकेगी। तुम्हारे लिए तो यही उचित है कि तुम

अपना यह उपदेश उन्ही लोगो के पास ले जाओ जिन्हें आजकल सब कुछ करना शोभा देता है। कवि का कहने का भाव यह है कि उद्धव का यह योग-साधना का उपदेश कुब्जा के लिए ही उचित है क्योकि वह कृष्ण का नैकट्य पाकर सभी प्रकार से समर्थ और प्रसन्न चित्त है, जो अनुराग मे रत है, उसके लिए ही योग-साधना का उपदेश उचित है, हम तो पहले से ही वैराग्य का जीवन व्यतीत कर रही है, इस योग-साधना के उपदेश की वस्तुतः उस कुब्जा को अधिक आवश्यकता है जो कृष्ण के साथ विषय भोग में लिप्त है।

हमने आज तक किसी भी जन को मोटी सुतली में धागा पिरोते हुए न तो देखा है और न सुना ही है। वस्तुतः यह एक असम्भव कार्य है। हमे भी तुम योग-साधना द्वारा निर्गुण ब्रह्म को प्राप्त करने का उपदेश देकर इसी प्रकार का असम्भव कार्य कर रहे हो। तुमको इस कार्य मे सफलता नही मिल सकती।

विशेष—(१) प्रस्तुत पद मे गोपियो की झल्लाहट का अत्यन्त सुन्दर चित्रण प्रस्तुत हुआ है।

(२) 'मौन' शब्द मे श्लेष है। योगी वाणी का सयम प्राप्त करने के लिए मौन साधना करते है। यह योग का एक उपलक्षण है।

(३) अन्तिम पक्ति का यह अर्थ भी हो सकता है कि हमारी बुद्धि तो सुतली के समान मोटी है और तुम्हारा ज्ञानोपदेश गुरियो के सुराख के समान अत्यन्त सूक्ष्म है, अतः तुम्हारी ये ज्ञान की सूक्ष्म बाते हमारी बुद्धि ग्रहण करने के सर्वथा अयोग्य है।

अलंकार—(१) 'दुसह वचन···लौन,'—उपमा।

(२) 'जारे पर लौन'—लोकोक्ति।

प्रेमरहित यह जोग कौन काज गायो ?
दीनन सों निठुर वचन कहे कहा पायो ?
नयनन निज कमलनयन सुदर मुख हेरा ?
मूँदन ते नयन कहत कौन ज्ञान तेरो ?
तामे कहु मधुकर ! हम कहा लैन जाहीं।
जामें प्रिय प्राननाथ नदनदन नाही ?
जिनके तुम सखा साधु बातें कहु तिनकी।

जीवें सुनि स्यामकथा दासी हम जिनकी ॥
निरगुन अविनासी गुन, आनि आनि भाखौ।
सूरदास जिय के जिय कहाँ कान्ह राखौ ? ॥

शब्दार्थ—प्रेम-रहित=अनुराग रहित, नीरस। काज=कार्य। कौन काज =किस कारण, किसलिए। दीनन=दुखियो, विरह-ग्रस्त अवलाओ। निठुर=निष्ठुर, कठोर। निज=अपने। हेरो=निहारो, देखो। लैन=लेने के लिए। तिनकी=उनकी। आनि आनि=अन्य-अन्य। भाखौ=कहते हो। जिय के जिय=प्राणो के प्राण।

प्रसग—गोपियाँ उद्धव के योग-साधना के उपदेश को सुन कर अत्यन्त झल्लाई हुई है। प्रस्तुत पद मे वे अपनी वेदना तथा कृष्ण-प्रेम सम्वन्धी विवशता का वर्णन करती हुई कर रही है कि—

व्याख्या—हे उद्धव ! तुमने इन नीरस योग के गीतो को हमारे सम्मुख क्यो गाया ? इनकी यहा क्या आवश्यकता थी ? इनमे प्रेम का सर्वथा अभाव है, अतः ये हमारे लिए विलकुल व्यर्थ है। हम अवलाओ, विरहिणी नारियो के सम्मुख इस प्रकार की कठोर वाते कह कर तुम्हे क्या मिला ? हमारे इन नयनो ने कमल नेत्रो वाले सुन्दर, मनमोहक कृष्ण के सुन्दर मुख के दर्शन किये है। यह तुम्हारी किस प्रकार की बुद्धि है, कैसा विवेक है कि तुम हमे इन्हे वन्द करके निर्गुण-ब्रह्म की साधना करने को कहते हो ? हम अपने नेत्र वन्द करके तुम्हारे निर्गुण- ब्रह्म के पीछे क्यो भटकती फिरे ? जवकि हम जानती है कि इससे कुछ प्राप्त होने वाला नही। इससे हमे क्या उपलब्ध होगा ? हे मधुकर ! हमे यह वताओ कि हम तुम्हारी इस योग-साधना को किस लालसा के वशीभूत होकर अपनाए, जवकि हम जानती है कि इससे हासिल होने वाला कुछ नही, और फिर इसमे नन्दनन्दन कृष्ण की भी हानि है क्योकि उन्हे त्याग कर ही इसे अपनाना होगा। अत. हमारे लिए तुम्हारी यह साधना निरर्थक है।

कुछ तो हमे उन्ही कृष्ण की बाते सुनाओ, तुम तो उन्ही के सच्चे मित्र हो न। हम उनकी दासी एव सेविका है। उन्ही श्याम की कथा और रस भीनी वाते सुन कर हम जी उठेगी, हमे प्राण मिल जायेगे और हमारी विरह-वेदना भी जाती रहेगी। किन्तु तुम उनकी वातें न करके किसी निर्गुण, अविनाशी ब्रह्म के विषय मे कुछ अन्य प्रकार की बाते कह रहे हो। ऐसी वाते करते हुए

न जाने तुम हमारे प्राणों के प्राण कृष्ण को कहाँ छुपाकर रख लेते हो, उनके सम्बन्ध मे हमे कुछ भी नही बताते।

विशेष—(१) इस पद मे वस्तुतः गोपियो के उपालम्भ की भावना पीछे चली गयी है, यहाँ मुखर हो उठी है उनके व्यथित हृदय की दीन भावना। इसी कारण इन पक्तियो मे व्यग्य का स्थान हृदय के निश्छल सरल उद्‌गारो ने ले लिया है।

(२) इस पद मे कृष्ण के प्रति गोपियो की अनन्य भावना की मार्मिकता उपलब्ध होती है।

जनि चालो, अलि, बात पराई।
ना कोउ कहै सुनै या ब्रज में नइ कीरति सब जाति हिराई॥
बूझै समाचार मुख ऊधो कुल की सब आरति बिसराई।
भले संग बसि भई भली मति, भले मेल पहिचान कराई॥
सुंदर कथा कटुक सी लागति उपजत उर उपदेस खराई।
उलटी नाव सूर के प्रभु को बहे जात माँगत उतराई॥५३॥

शब्दार्थ—जनि=मत, न। पराई=दूसरे की। हिराई=नष्ट की। आरति=दुख, कष्ट, विपदा। बिसराई=भुला दी। कटुक=कड़वी। उर=हृदय। खराई=विरक्ति। उतराई=पारिश्रमिक।

प्रसंग—गोपियाँ उद्धव के निर्गुण-ब्रह्म सम्बन्धी योग-ज्ञान की बातो को सुनकर अत्यन्त खिन्न और दुखी है। वे अपनी वेदना और कृष्ण-प्रेम सम्बन्धी अपनी विवशता का वर्णन करती हुई कहती है कि—

व्याख्या—हे अलि! तुम यहाँ कृष्ण के अतिरिक्त अन्य किसी की बात न चलाओ। क्योकि यहाँ ब्रज मे कृष्ण के अतिरिक्त अन्य किसी की बात न तो कोई करता ही है और न सुनता ही है। तुम्हारे बार-बार इस प्रकार की बात को दोहराने से तुम्हारी वह समस्त नई कीर्ति नष्ट हुई जा रही है जो तुमने यहाँ आकर कृष्ण के सखा के रूप में स्थापित की थी। कवि के कहने का भाव यह है कि कृष्ण को त्याग निर्गुण-ब्रह्म की साधना का उपदेश सुन कर सभी लोग तुम्हारे विरुद्ध होते जा रहे है। तुम मथुरा से आये हो और कृष्ण के सखा हो, इसीलिए हम तुम से यह समाचार पूछती है कि क्या उन्होंने अपने कुल की विपदाओ, कष्टो को विस्मृत कर दिया है। अर्थात् तुम अपने मुख से हमे यह

बताओ कि क्या उन्हे अब अपने कुल की कोई चिन्ता नही। मथुरा जाने पर कृष्ण को अत्यन्त अच्छे लोगो का सत्सग प्राप्त हुआ है जिसके परिणामस्वरूप उनकी अपनी बुद्धि भी श्रेष्ठ हो गई है। अपनी इसी नई बुद्धि के कारण उन्होने तुम जैसे भले लोगो को हमारे पास भेज कर हमे तुम्हारा परिचय प्राप्त करने का अवसर दिया है। वस्तुत· गोपियाँ यहाँ व्यग्य करती हुई यह कह रही है कि मथुरा मे बुरे लोगो की सगति के कारण ही कृष्ण की ऐसी मति हो गई है कि उन्होने उद्धव को यहाँ ब्रज मे योग का सन्देश देने के लिए भेजा है।

तुम्हारी अपनी रुचि और विवेक के अनुसार तुम्हारी यह निर्गुण-ब्रह्म की चर्चा सुन्दर है किन्तु हमे कडवी और अरुचिकर लगती है। इससे हमे विरक्ति सी अनुभव होती है। हमे तुम्हारी निर्गुण-ब्रह्म सम्बन्धी योग-ज्ञान की ये बातें तनिक भी भली नही लगती। तुम्हारे सखा का अद्भुत न्याय हमारी समझ मे नही आ रहा। नाव तो नदी के मध्य मे उलट गई है, यात्री जल मे बहे चले जा रहे है। मल्लाह उन्हे डूबने से न बचा कर उनसे उतराई का पारिश्रमिक माँग रहा है। कवि के कहने का भाव यह है कि कृष्ण गोपियो से प्रेम की लौ लगा कर उन्हे त्याग कर स्वय मथुरा जा बैठे है। अब वे मँझधार मे हैं। इसी कारण वे अत्यधिक व्याकुल और व्यथित हैं, फिर कृष्ण ने उन्हे योग-साधना के माध्यम से निर्गुण ब्रह्म की आराधना करने का सन्देश भेज कर और भी व्यथित किया है। यह उनका सरासर अन्याय है और यह ऐसा है जैसे बहे जा रहे यात्रियो से नाव का भाडा माँगना।

विशेष—'भले सग···पहिचान कराई'—इस पक्ति मे काकुवक्रोक्ति के प्रयोग द्वारा मथुरावासियो पर और 'उलटी नाव' द्वारा कृष्ण के अन्याय पर गहन आघात किया गया है।

अलंकार—(१) सम्पूर्ण पद मे लोकोक्ति अलकार है।

(२) 'भले···कराई' मे विपरीत लक्षण और काकुवक्रोक्ति है।

याकी सीख सुनै ब्रज को, रे।
जाकी रहनि कहनि अनमिल, अलि, कहत समुझि अति थोरे।।
आपुन पद-मकरन्द सुधारस हृदय रहत नित बोरे।
हमसो कहत बिरस समझौ, है गगन कूप खनि खोरे।।

धान को गाँव पयार तें जानौ, ज्ञान विषयरस भोरे।
सूर सो बहुत कहे न रहै रस गूलर का फल फोरे ॥४८॥

शब्दार्थ—याकी=इसकी। सीख=योग-साधना का उपदेश, शिक्षा। अनमिल=परस्पर विरोधी। आपुन=स्वयं। नित=प्रतिदिन। बोरे=डूबे। निरस=रसहीन। खनि=खोद कर। खोरे=नहाए। पयार=पयाल, धान का भूसा। विषयरस=प्रेमरस। भोरे=भोले, बावले। फोरे=फोड़ने पर।

प्रसंग—उद्धव के ज्ञानोपदेश के जारी रहने पर गोपियाँ अत्यन्त क्षुब्ध और झल्लाई हुई हैं। वे उद्धव के कथन का खण्डन उनके व्यवहार और कथनी में अन्तर स्पष्ट करके प्रस्तुत करती हैं।

व्याख्या—गोपियाँ खीझकर भ्रमर के माध्यम से उद्धव पर ही व्यंग्य करती हुई कह रही है कि इनके योग-साधना सम्बन्धी निर्गुण-ब्रह्म का उपदेश यहाँ ब्रज मे कौन सुनेगा ? जिसके कहन-गहन और व्यवहार में अर्थात् करनी और कथनी मे इतना विरोध रहता हो, उसकी बातें यहाँ कोई भी सुनना पसंद नहीं करता। हे अलि ! हमने यह बात खूब समझ-बूझ ली है और अब अत्यन्त थोड़े शब्दों मे अर्थात् सक्षेप में तुमसे कह रही हैं।

तुम्हारी तो स्थिति यह है कि तुम स्वयं तो श्रीकृष्ण के चरण-कमलों के मकरन्द रूपी अमृत मे सदैव अपने हृदय को डुबोए रहते हो। अर्थात् स्वय तो कृष्ण के प्रेम रूपी अमृत में तल्लीन रहते हो और हमें कहते हो कि उन कृष्ण को रसहीन-नीरस समझ लो। यह तो उसी प्रकार असम्भव है जिस प्रकार आकाश मे कुआँ खोद कर उसके जल से स्नान करने का प्रयत्न करना।

धान के गाँव का परिचय उसके चारों ओर पड़े पयाल भूसे के ढेरों से ही प्राप्त होता है, उसी प्रकार तुम्हें देखकर हमें यही लगता है कि तुम स्वयं तो

भरे कीड़ो को देख कर विरक्ति उत्पन्न हो जाती है। इसी आधार पर ठीक यही रहेगा कि तुम अपनी बात को गुप्त ही रहने दो। हम तुम्हारी वास्तविकता पूर्णतया जान गई हैं, यदि इसे न खुलवाओ तो यह तुम्हारे पक्ष में उचित होगा।

विशेष—(१) गोपियो ने उद्धव की कथनी और करनी मे अन्तर बताकर उनके ढोंगीपन का उद्घाटन किया है। इस पद मे गोपियो ने यह सिद्ध कर दिया है कि उद्धव को उन्हे योग-साधना का उपदेश देने का कोई अधिकार नही क्योंकि वह स्वय कृष्ण के चरण से प्राप्त मकरन्द रूपी अमृत पीकर मतवाले बने हुए हैं।

(२) 'गूलर के फल फोरे' मे अत्यन्त प्रसिद्ध लोकोक्ति का प्रयोग कर कवि ने इस पद को गहन मार्मिकता और संवेदनशीलता प्रदान की है।

अलकार—(१) आपुन''बोरे'—मे तद्गुण।
'गगन''खोरे'—निदर्शना।
(३) 'वान-जानी' और 'गूलर फोरे'—लोकोक्ति।

निरखत अंक स्यामसुन्दर के बारवार लावति छाती।
लोचन-जल कागद-मसि मिलि कै ह्वै गई स्याम स्याम की पाती॥
गोकुल बसत सग गिरिधर के कबहुँ बयारि लगी नहिं ताती।
तब की कथा कहा कहौं, ऊधो, जब हम बेनुनाद सुनि जाती॥
हरि के लाड़ गनति नहिं काहू निसिदिन सुदिन रासरसमाती।
प्राननाथ तुम कब धौं मिलोगे सूरदास प्रभु बालसंघाती॥५७॥

शब्दार्थ—निरखत=देखते ही। अंक=अक्षर, पत्री। लावति=लगाती है। लोचन=नेत्र। जल=आँसू। कागद-मसि=कागज पर की स्याही। पाती=चिट्ठी, पत्री। बयारि=हवा। ताती=गरम। बेनुनाद=मुरली की मधुर ध्वनि। लाड=प्रेम। गनति=गिनती, समझती। काहू=किसी को। निसिदिन=रात-दिन। रासरसमाती=रास-रग मे उन्मत्त। बालसघाती=बालापन के साथी, बालमित्र।

प्रसंग—कृष्ण ने उद्धव को गोपियो के नाम एक पत्र भी दिया था जिस मे उन्होंने अपना सन्देश प्रेषित किया था। कृष्ण की पत्री को पाकर गोपियाँ अत्यन्त भाव-विह्वल हो उठी थी। प्रस्तुत पद में सूरदास जी ने गोपियो की उस

समय की स्थिति का अत्यन्त हृदयग्राही वर्णन प्रस्तुत किया है।

व्याख्या—श्यामसुन्दर कृष्ण के पत्र मे लिखे उनके अक्षरों को देख-देख कर गोपियाँ प्रेमविह्वल हो गईं और भावावेश मे उस पत्र को बार-बार अपने हृदय से लगाने लगी। प्रेमावेश के कारण उनके नेत्रो मे आँसू भर आए, अश्रुधारा से श्याम द्वारा भेजी गई पत्री भीग गई। इस प्रकार नेत्रो के जल से कागज पर की स्याही का मिलन हो जाने पर सारे कागज पर स्याही फैल गई जिससे पूरी की पूरी चिठ्ठी काली हो गई। इस पत्र को निहारते ही गोपियो की पूर्वकाल की स्मृतियाँ साकार हो उठी। वे उद्धव को बताने लगी कि जब हम यहाँ गोकुल मे गिरिधर कृष्ण के साथ निवास करती थी, तो हमे वायु भी कभी गर्म नही लगी अर्थात् हमे कभी किसी प्रकार का कष्ट अथवा विपदा नही झेलनी पडी।

हे उद्धव ! हम तुम्हे तब की क्या-क्या बाते बताएँ। जब हम कृष्ण की मुरली की मधुर ध्वनि सुनकर उनके पास वन मे भागी चली जाती थी, तब हमें उनके साथ अनेक प्रकार की रास क्रीडाओ के करने का आनन्द प्राप्त होता था। उस समय कृष्ण के प्रेम को पाकर हम इतनी गर्वित अनुभव करती थी कि अपने-सम्मुख किसी को कुछ नही समझती थी। वे दिन हमारे जीवन के अत्यन्त श्रेष्ठ दिन थे। हम रात-दिन रास-रग मे उन्मत्त रहती थी। चारो ओर आनन्द ही आनन्द था। इस प्रकार प्राचीन काल की स्मृतियाँ जाग जाने पर गोपिया अत्यन्त भाव-विह्वल और कातर हो उठती है और कृष्ण को पुकारते हुए कहती है कि हे प्राणनाथ ! हे बालापन के साथी ! अब तुम हमे कब दर्शन दोगे ? हम कब तुमसे मिल भेट सकेंगी ?

विशेष—(१) 'ह्वै गई स्याम स्याम की पाती' मे कवि ने थोडे शब्दो मे बहुत कुछ कह दिया है। कृष्ण की पत्री ही गोपियो के लिए कृष्ण बन गई है, और इससे अनेक प्रकार की पूर्वकाल की पुरानी स्मृतियाँ जाग्रत हो उठी है।

(२) इन पंक्तियो मे विह्वल गोपियो की कातर अवस्था का हृदयग्राही चित्रण प्रस्तुत हुआ है। कृष्ण के पत्र से पूर्व स्मृतियाँ जाग जाने पर उनकी अवस्था और भी कातर हो उठी है। इस अवस्था की चरम-परिणति अन्तिम पक्ति 'प्राननाथ'''बालसघाती' मे हुई है जब गोपियाँ प्रेम-विह्वल होकर कृष्ण को पुकारने लगती है।

अलंकार—(१) 'स्याम-स्याम'—यमक।
(२) 'लोचन-जल···पाती'—तद्गुण।
(३) 'गिरिधर' को सभिप्राय मानते हुए परिकरांकुर।

मोहिं अलि दुहूं भाँति फल होत।
तब रस-अधर लेति मुरली, अब भई कूबरी सौत॥
तुम जो जोगमत सिखवन आए भस्म चढ़ावन अंग।
इन बिरहिन में कहुँ कोउ देखी सुमन गुहाये मंग?
कानन मुद्रा पहिरि मेखली धरे जटा आधारी।
यहाँ तरल तरिवन कहुँ देखे अरु तनसुख की सारी॥
परम बियोगिनि रटति रैन दिन धरि मनमोहन-ध्यान।
तुम तो चलो वेगि मधुवन को जहाँ जोग को ज्ञान॥
निसिदिन जीजतु हैं या व्रज में देखि मनोहर रूप।
सूर जोग लै घर घर डोलौ, लेहु लेहु धरि सूप॥५८॥

शब्दार्थ—दुहूँ भाति=दोनो अवस्थाओ मे। जोगमत=योग-साधना। सुमन=पुष्प। मंग=माँग। गुहाये=सजाई हो। कानन=कानो मे। मेखली =एक प्रकार का झीना कपडा। सारी=साडी। जोग को ज्ञान=योग के ज्ञाता, पारखी। निसिदिन=रात-दिन। जीजतु=जीती है।

प्रसग—प्रस्तुत पद मे गोपियाँ उद्धव पर व्यग्य करना छोडकर अपने भाग्य को दोष देती हैं। कृष्ण से पृथक् होना उनके भाग्य मे वदा था, इसमे कृष्ण का अथवा किसी अन्य का कोई दोष नही। उनके मत मे जब कृष्ण यहाँ थे तब मुरली उनके ओष्ठो का रस लेती थी, हम इस सुख से वंचित थीं, अब वैसा सुख वहाँ मथुरा मे कुब्जा को प्राप्त है।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं कि हे भ्रमर! हमे तो दोनो अवस्थाओ मे—कृष्ण के सामीप्य मे और उनसे दूर रह कर एक जैसा ही फल मिला है। जब कृष्ण यहाँ व्रज मे हमारे निकट थे, तो मुरली सदा उनके ओठो पर विराजमान रहती थी और उनके अधरो का अमृत पान किया करती थी। हम इस अमृत से वंचित थीं, इस प्रकार कृष्ण का सानिध्य प्राप्त होने पर भी हम उनके ओष्ठ-सुधारस को पान करने के लिए तडपती रहती थी। अब मथुरा मे मुरली के स्थान पर कुब्जा हमारी सौत बन गई है और कृष्ण के सामीप्य

का पूर्ण लाभ उठा रही है। हे उद्धव! तुम जो यहाँ हम विरहिणियो को योग-साधना द्वारा प्राप्त निर्गुण-ब्रह्म का उपदेश देने आए हो और हमारे शरीर पर भस्म, भभूत का लेप चढ़वाना चाहते हो, तो क्या तुमने हममे से किसी विरह-सतप्त गोपी को अपनी मांग मे फूल चढ़ाए हुए देखा है ? तुम हमे उपदेश दे रहे हो कि हम अपने कानो मे मुद्रा पहन कर मूज की करधनी, जटाजूट और अधारी धारण करे। यह तुम हमे क्यो कह रहे हो, क्या तुमने हममे से किसी को अपने कानो मे सदैव हिलते-चमकते रहने पाले चचल कर्णफूल तथा अपने शरीर पर तनसुख कपडे से बनाई हुई भीनी साड़ी धारण किये हुए देखा है ? हम तो कृष्ण-प्रेम के विरह मे सतप्त है और हमने पहले ही शारीरिक सम्पूर्ण साज-सज्जा तथा शृगार-प्रसाधनो को तिलाजलि दे रखी है और इस प्रकार पहले ही योगिनी बनी हुई है।

इस प्रकार की ये परमयोगिनी बनी हुई गोपियाँ रात-दिन मन-मोहन श्रीकृष्ण का ध्यान करती हुई उन्ही का नाम रटने मे सलग्न है जबकि तुम उन्हे ब्रह्म का ध्यान करने का उपदेश दे रहे हो। यह किस प्रकार सम्भव हो सकता है। इसलिए उचित यही है कि तुम शीघ्र ही मथुरा नगरी लौट जाओ क्योकि वहाँ तुम्हारे इस योग के अनेक पारखी मिलेंगे। इसलिए वही तुम्हारे इस योग का आदर-सम्मान हो सकेगा। हम गोपियाँ व्रज मे तो रात-दिन कृष्ण के मनोहर रूप को देखकर और स्मरण करके जीवित रह रही है। तुम हे उद्धव! व्यर्थ ही यहाँ अपने योग को लादे हुए घर-घर घूम रहे हो और अपना समय नष्ट कर रहे हो। यहाँ तुम्हारे योग का कोई ग्राहक नही। तुम उसी प्रकार सबको अपने योग की विशेषताएँ समझा कर इस निस्सार वस्तु को ग्रहण करने का आग्रह कर रहे हो जिस प्रकार कोई व्यापारी अपने ग्राहको से अपने माल को सूप से भलीभाँति छान-फटक कर खरीदने आ आग्रह करे। परन्तु इतना करने पर भी हम तुम्हे विश्वास दिलाती है कि यहा तुम्हे इस व्यर्थ की चीज़ का कोई ग्राहक, खरीददार प्राप्त नही होगा। वस्तुतः यह योग इतना व्यर्थ और बेकाम है कि व्रज में इसकी कोई उपयोगिता नही। हम लोग तो कृष्ण के नाम-स्मरण से ही प्रसन्न है।

विशेष—(१) प्रस्तुत पद की प्रारम्भिक पक्तियो मे कुब्जा और मुरली के प्रति गोपियो का असूयाभाव प्रकट होता है। पद के शेष भाग मे योग की

निस्सारता का मनोरंजक चित्रण प्रस्तुत हुआ है।

(२) अंतिम पंक्ति मे निहित व्यंग्य से योग पर गहन प्रहार हुआ है।

बिलग जनि मानौ हमरी बात।
डरपति बचन कठोर कहति, मति बिगु पति यों उठि जात॥
जो कोउ कहत जरे अपने कछु फिरि पाछे पछितात।
जो प्रसाद पावत तुम ऊधो कृस्न नाम लै खात॥
मन जु तिहारो हरिचरनन तर अचल रहत दिनरात।
'सूर स्याम तें जोग अधिक, केहि कहि आवत यह बात ? ॥ ८६॥

शब्दार्थ—बिलग जनि मानौ=बुरा मत मानो। पति उठि जात=मर्यादा जाती रहती है। जरै अपने=अपना जी जलने पर।

प्रसंग—प्रस्तुत पद मे गोपियाँ उद्धव की कृतघ्नता और एहसान-फरामोशी पर आक्षेप करती हुई कहती हैं।

व्याख्या—हे उद्धव ! तुम हमारी बात का बुरा मत मानना। हमें तुमसे कठोर बचन कहते हुए डर लगता है, क्योकि अविवेकशील व्यक्ति से बातें करने पर व्यक्ति की मर्यादा जाती रहती है। जिस प्रकार की तुम बाते कर रहे हो, उससे यही लगता है कि तुम्हारी मति भ्रष्ट हो गई है। तभी तो तुम हमे श्रीकृष्ण को त्याग निर्गुण ब्रह्म की उपासना करने का उपदेश दे रहे हो। यदि कोई व्यक्ति अपने मन के आहत हो जाने पर किसी के प्रति अनर्गल बाते कहता है तो उसे बाद मे पछताना भी पडता है। तुम्हारी बाते सुनकर हमारा मन भी अशात हो गया था जिसके कारण तुम्हारे प्रति हमारे मुख से भी कठोर वचन निकल पडे जिसका अब हमे दु ख है और पछतावा हो रहा है।

हे उद्धव ! तुम सम्भवत यह बात अभी तक नही समझ पा रहे कि तुम्हें यहाँ व्रज मे जो कुछ सम्मान प्राप्त हुआ है, वह केवल श्रीकृष्ण के नाते ही है; क्योकि तुम श्रीकृष्ण के सखा और इस प्रकार हमारे पूज्य हो। तुम श्रीकृष्ण के आन्तरिक मित्र हो और सदा उनके सानिध्य में बने रहते हो। इस प्रकार तुम्हारा मन रात-दिन उनके चरणो में दृढ बना रहता है। ऐसी स्थिति मे हम यह समझ पाने मे सर्वथा असमर्थ हैं कि तुम यह किस प्रकार कह सके कि योग द्वारा प्राप्य निर्गुण-ब्रह्म श्रीकृष्ण से अधिक श्रेष्ठ है ? स्वय तो तुम दृढ कृष्ण-भक्त बने हुए हो और हमे उस पर से डिगाना चाहते हो ? जिसका दिया हुआ

खाते हो उसको ही हानि पहुँचाना चाहते हो ? क्या यह बात तुम्हारा कृतघ्न होना सिद्ध नही करती । ऐसी स्थिति मे यदि हम तुम्हे कुछ कह बैठी है तो इसमे हमारा क्या दोष ?

विशेष—प्रस्तुत पद में दो विचार प्रकट हुए है जिससे गोपियो के मन का अन्तर्द्वन्द्व स्पष्ट होता है। एक ओर तो गोपियाँ उद्धव के प्रति अपने दुर्व्यवहार पर पश्चाताप कर रही है तो दूसरी ओर उन्ही को कृतघ्न सिद्ध करके उन्हें लज्जित कर रही है।

अपनी सी कठिन करत मन निसिदिन ।
कहि कहि कथा, मधुप, समुझावति तदपि न रहत नंदनंदन बिन ॥
बरजत श्रवन सँदेस, नयन, जल, मुख बतियाँ कछु और चलावत ।
बहुत भाँति चित धरत निठुरता सब तजि और यहै जिय आवत ॥
कोटि स्वर्ग सम सुख अनुमानत हरि-समीप-समता नहिं पावत ।
थकित सिंधु-नौका के खग ज्यों फिरि फिरि फेरि वहै गुन गावत ॥
जे बासना न बिदरत अन्तर तेइ तेइ अधिक अनूअर दाहत ।
सूरदास परिहरि न सकत तन बारक बहुरि मिल्यो है चाहत ॥५०॥

शब्दार्थ—अपनी-सी=अपने जैसी, अपने समान, भरसक प्रयत्न करना । निसिदिन=दिवा-रात्रि । तदपि=तो भी । बरजत=रोकती है । जिय= हृदय । खग=पक्षी । फिरि-फिरि=लौट कर । फेरि=पुनः । बासना= इच्छा । बिदरत=फटना । अन्तर=हृदय । अनूअर=निरन्तर । दाहत=दग्ध करना । परिहरि=त्यागना, छोड़ना । तन=शरीर । बारक=एक बार । बहुरि=पुनः ।

प्रसग—उद्धव के उपदेश पर गोपियाँ कहती है कि उन्होने अपने प्रयत्नो के द्वारा मन को दूसरी ओर लगाया किन्तु उन्हें सफलता नही मिली । उनके मन को अन्यत्र कही भी शाति नही मिलती । वे कृष्ण को भुलाने की यथोचित चेष्टा करती है किन्तु असमर्थ है । गोपियाँ प्रस्तुत पद मे अपनी इसी विवशता का वर्णन कर रही है ।

व्याख्या—हे उद्धव ! हम रात-दिन अपने मन को अपने समान कठोर बने रहने का भरसक प्रयत्न करती हैं, हम इसे भाँति-भाँति की अन्य कथाएँ सुना कर इसे श्रीकृष्ण से विमुख करना चाहती हैं, किन्तु यह हमारा मन ही ऐसा है

कि सभी प्रयत्नों को निष्फल कर देता है। हम तो इसे समझा कर हार गई है। यह नन्द नन्दन कृष्ण के बिना रहता ही नही। सदैव उनकी स्मृति मे विमग्न रहता है। हम अपने कानो को कृष्ण का सन्देश सुनने से वरजती हैं, रोकती हैं, उनकी स्मृति के कारण नेत्रो मे आँसू न लाने का पूरा प्रयत्न करती है तथा श्रीकृष्ण को छोड़कर अपने मुख से अन्य विषयो की चर्चा करती है—इस प्रकार हम विविध भाँति अपने मन को कठोर एव दृढ़ बनाने का प्रयत्न करती है—किन्तु अन्य सारी बातो, सब विषयो एव प्रसगों को छोड़ कर हमारे हृदय मे यही आता है कि श्रीकृष्ण के सानिध्य से जो सुख आनन्द प्राप्त होता है उसके सम्मुख करोडो स्वर्गो का सुख व्यर्थ है अर्थात् श्रीकृष्ण के सामीप्य से प्राप्त सुख ही सर्वश्रेष्ठ है, उसकी तुलना मे कल्पनाजनित करोडो स्वर्गों का सुख कुछ भी आकर्षण नही रखता।

इस समय हमारी दशा समुद्र मे जाने वाले जहाज पर बैठे पक्षी के समान हो जाती है जो बार-बार उडकर इधर-उधर विचरण करता है किन्तु अन्यत्र कोई आश्रय का स्थान न पाकर थक कर जहाज पर ही लौट आता है। हमारा मन भी ऐसे पक्षी के समान क्षण भर के लिए अन्य प्रसंगो मे आकर्षण ढूंढने का प्रयत्न करता है किन्तु उसे वहाँ कोई सुख नही मिलता, अतः वह फिर लौट आता है और कृष्ण के गुणगान की ओर पुनः प्रवृत्त होता है। हमारे हृदय मे अब केवल एक ही इच्छा शेष रह गई है कि किसी प्रकार कृष्ण से हमारी पुन भेंट हो सके, इसी कारण हमारा हृदय विदीर्ण नही हो पाता, वह प्राणो को धारण किए हुए है। इसी इच्छा के कारण ही हमारा हृदय कृष्ण वियोग से निरन्तर अधिकाधिक दग्ध होता रहता है। हम अभी मृत्यु को प्राप्त नही होना चाहती और न ही अपने शरीर को त्यागना चाहती हैं क्योंकि यह शरीर कृष्ण से एक वार फिर मिलना चाहता है, सयोग-सुख प्राप्त करना चाहता है।

विशेष—(१) कृष्ण-प्रेम मे व्याकुल एवं विवश गोपियो का अत्यन्त हृदयग्राही चित्रण प्रस्तुत किया गया है। वे उन्हे भुलाने का प्रयत्न करने पर भी असफल रहती हैं—यह प्रेम की एकान्तनिष्ठा का प्रतीक है।

(२) गोपियाँ कृष्ण से सयोग की आशा के कारण मरणान्तक व्यथा को भी सहन कर रही हैं।

(३) 'थकित......गावत' जैसे भाव कवि ने अन्यत्र भी व्यक्त किया है :

'मेरो मन अनत कहाँ सुख पावै ।
जैसे उड़ि जहाज को पछी फिरि जहाज पै आवै ।'

अलंकार—'थकित-खग' मे उपमा ।

बिलग जनि मानौ हमरी बात ।
डरपति बचन कठोर कहति, मति बिनु पति यों उठि जात ।
जो कोउ कहत जरे अपने कछु फिरि पाछे पछितात ।
जो प्रसाद पावत तुम ऊधो कृस्न नाम लै खात ।
मन जु तिहारो हरिचरनन तर अचल रहत दिनरात ।
'सूर स्याम ते जोग अधिक' केहि कहि आवत यह बात ॥५१॥

शब्दार्थ—बिलग=बुरा । जनि=मत । मति=बुद्धि, विवेक । पति=मर्यादा=लोक-लज्जा । उठि जात=नष्ट हो जाती है । जरे अपने=अपना जी जलने पर । प्रसाद=सम्मान । तर=नीचे ।

प्रसग—गोपियाँ उद्धव के निर्गुण-ब्रह्म के उपदेश की प्रतिक्रियास्वरूप उन्हे पर्याप्त जली-कटी सुना रही है । अब वे कुछ पछताती हुई प्रतीत होती है और उद्धव से प्रार्थना करती है कि वे उनकी बात का बुरा न माने । उनका कहना है—

व्याख्या—हे उद्धव ! तुम हमारी बातो का बुरा मत मानना और न ही इन्हे अन्यथा लेना । वस्तुतः तुम्हे कठोर वचन कहने मे हमे भय लगता है क्योकि विवेकहीन वार्ता करने से तुम्हारी तरह व्यक्ति की मर्यादा ही नष्ट हो जाती है और न ही उसे लोकलाज का ध्यान रहता है । तुम अपनी मर्यादा और लोकलज्जा दोनो खो चुके हो इसी कारण तो हमे कृष्ण को त्याग कर निर्गुण ब्रह्म की ओर प्रवृत्त करना चाहते हो । यदि कोई व्यक्ति अपने मन के जल जाने अर्थात् वियोग से पीड़ित हो जाने पर कोई उल्टी-सीधी बात कह बैठता है तो बाद मे उसके लिए पश्चाताप ही शेष रह जाता है । तुमने आते ही हमे अपने उपदेश के कारण दुखी किया जिससे हम लोग उत्तेजना मे आकर तुम्हारे लिए कठोर वचनों का प्रयोग कर बैठी, अब हमे इस बात का खेद है और हम हृदय से पछता रही है ।

हे उद्धव ! यहाँ आने पर तुम्हे जो सम्मान, आदर, सत्कार मिला है, वह

केवल इसलिए कि तुम कृष्ण के सखा हो। तुम भी कृष्ण का नाम लेकर ही इस सम्मान का उपभोग कर रहे हो, तुम कृष्ण के सखा हो, सदा उनके सान्निध्य मे निवास करते हो—अर्थात् तुम्हारा मन रात-दिन कृष्ण के चरणो मे दृढता से ध्यानमग्न रहता है फिर यह कहना तुम्हारे लिए किस प्रकार सम्भव हो सका कि योग, निर्गुण ब्रह्म, कृष्ण से श्रेष्ठ है—अर्थात् श्रेष्ठ कृष्णभक्त होते हुए भी तुम उनके विषय मे किस प्रकार से अनर्गल बातें कह रहे हो, यह तो तुम्हारी भक्ति को शोभा नही देता और तुम्हे कृतघ्न सिद्ध करता है।

विशेष—इन पक्तियो मे अपढ, गँवार गोपियो का वाक्चातुर्य अतुलनीय है। वे अत्यन्त युक्तिपूर्ण शब्दो मे उद्धव को कृष्णभक्त सिद्ध करके उनमे कृष्ण के प्रति प्रेम उत्पन्न करना चाहती है और दूसरी ओर उन्हे कृतघ्न कह कर लज्जित भी कर रही हैं।

काहे को रोकत मारग सूधो ?
सुनहु मधुप ! निर्गुन कंटक तें राजपथ क्यो रूँधो ?
कै तुम सिखै पठाए कुब्जा, कै कही स्यामघन जू धौं।
वेद पुरान सुमृति सब ढूँढ़ौ जुवतिन जोग कहूँ धो ?
ताको कहा परेखो कीजै जानत छाछ न दूधो।
सूर मूर अक्रूर गए लै ब्याज निबेरत ऊधो ॥६७॥

शब्दार्थ—सूधो=सीधा=सरल=अकटक। राजपथ=राजपथ के समान अकंटक, बाधा रहित। रुँधो=रोकते हो। कै=यातो। सिखै=सिखाकर। पठाए=भेजे गए हो। धौं=सभवतः। सुमृति=स्मृति। जुवतिन=युवतियाँ, नारियाँ। परेखो=बुरा मानना। मूर=मूलधन, मूल राशि। निबेरत=उगाहने, वसूल करने।

प्रसग—गोपियो की दृष्टि मे प्रेम का मार्ग सरल, सीधा और अकटक होता है किन्तु उद्धव बारम्बार उन्हे योग और निर्गुण-ब्रह्म का उपदेश देकर कटक-पूर्ण, टेढे-मेढ़े मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित कर रहे है, इसलिए वे खीझ उठती हैं और उद्धव से कहती हैं कि वह उनके सीधे-सादे प्रेम-मार्ग मे बाधा उपस्थित न करे।

व्याख्या—हे उद्धव ! तुम हमारे सीधे-सादे, सरल प्रेम-मार्ग मे क्यो बाधा उपस्थित कर रहे हो ? योग-मार्ग का उपदेश देकर हमे प्रेम-मार्ग से विचलित

न करो। हे मधुप! हमारी बात सुनो। राजपथ के समान प्रशस्त-बाधा रहित, अकटक प्रेम-मार्ग को तुम कंटकपूर्ण, अनुचित और कष्टदायक योग-मार्ग से क्यों अवरुद्ध कर रहे हो? तुम्हारा योग-मार्ग अनेक कठिन साधनाओ के कारण असाध्य है, इसीलिए हम अपने सीधे-सादे, प्रेम-मार्ग को त्याग कर उसे नही अपना सकती। हमे ऐसा प्रतीत होता है कि कुब्जा ने हमारे प्रति अपनी ईर्ष्या के कारण तुम्हे हमारे पास सिखा-पढा कर भेजा है। जिससे हम कृष्ण-प्रेम को भूल कर योग मे भटकती रहे और वह कृष्ण के प्रेम का एकाकी भोग करे, उनके साथ रँगरेलियाँ मनाए, क्रीड़ा-विहार करे। उसे इस बात का भय है कि कही कृष्ण पुनः गोपियो की सुधि न कर बैठे और उसे त्याग कर हमारे पास न लौट आएँ—अर्थात् उसे अपने प्रेम पर विश्वास नही जबकि हमे है। सम्भवतः कृष्ण ने ही यह सन्देश देकर तुम्हे यहाँ हमारे पास भेजा भेजा हो जिससे वह निष्कंटक कुब्जा के प्रेम को भोग सके।

हे उद्धव! वेद, पुराण, स्मृतियाँ आदि सम्पूर्ण धार्मिक सार-ग्रथो का अध्ययन करके देख लो। उनसे कही भी यह स्पष्ट नही होता कि कोमल नारियो को योग की शिक्षा देनी चाहिए। हम युवतियाँ तो प्रेम करने की वस्तु हैं, हमे क्या योग शोभा देगा? अब हम तुम्हारे जैसे दूध और छाछ मे अंतर न जानने वाले मूर्ख की बात का क्या बुरा माने? अर्थात् हमारे कृष्ण दूध के समान सर्वगुण सम्पन्न हैं, तुम्हारे निर्गुण-ब्रह्म छाछ के समान सारहीन व्यर्थ है, किन्तु तुम उन दोनो मे स्थित स्पष्ट अन्तर को समझ नही पा रहे हो, अतः तुम मूर्ख हो। हम तुम्हारी बात का बुरा नही मानती।

हे उद्धव! मूलधन (कृष्ण) को तो अक्रूर यहाँ से ले गए थे, क्या तुम अब यहाँ व्याज उगाहने आए हो? अर्थात् कृष्णरूपी मूलधन को तो अक्रूर हम से छीन कर ले गए, अब यहाँ उनकी स्मृति मात्र शेष है। क्या तुम व्याज के रूप मे उस स्मृति को भी हमसे छीन लेना चाहते हो? इसी कारण हमे निर्गुण ब्रह्म का उपदेश दे रहे हो।

विशेष—(१) इस पद मे प्रेम-मार्ग और योग मार्ग की सुन्दर तुलना की गई है। कवि की दृष्टि में प्रेम-मार्ग राजपथ के समान अत्यन्त सीधा, सरल और प्रशस्त है जबकि योगमार्ग कटकपूर्ण, दुरूह और अगम्य है।

(२) स्वच्छन्द कवि घनानन्द भी प्रेम के मार्ग को अत्यन्त सीधा और

सरल स्वीकार करते हैं—उन्होने कहा भी है—

'अति सूधो सनेह को मारग है,
जहँ नेकहु सयानप बाँक नही है।'

(३) 'सूर······ऊधो' पंक्ति के भाव को रत्नाकर जी ने भी अपने 'उद्धव शतक' मे पल्लवित किया है। उनकी सम्बन्धित पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

"लै गयो अक्रूर क्रूर तब सुख-मूर कान्ह,
आए तुम आज प्रान-व्याज उगहन को।'

(४) समस्त पद मे 'उग्रता' नामक सचारी भाव व्याप्त है।

अलंकार—(१) 'निर्गुन कटक'—रूपक।
(२) 'राजपथ'—रूपकातिशयोक्ति।
(३) 'सूर-ऊधो'—लोकोक्ति।

बातन सब कोऊ समुझावै।
जेहि विधि मिलन मिलैं वै माधव सो विधि कोउ न बतावै॥
जद्यपि जतन अनेक रचीं पचि और अनत बिरमावै।
तद्यपि हठी हमारे नयना और न देखे भावै॥
बासर-निसा प्रानवल्लभ तजि रसना और न गावै।
सूरदास प्रभु प्रेमहिं लगि करि कहिए जो कहि आवै॥६३॥

शब्दार्थ—बातन=बातो द्वारा। पचि=थक गई। अनत=अन्यत्र। बिरमावै=विश्राम करते है। भावै=अच्छा लगता है। बासर-निशा=रात-दिन। तजि=त्याग, छोड कर। रसना=जिह्वा। लगि=नाते से।

प्रसग—उद्धव के निर्गुण ब्रह्म के उपदेश की प्रतिक्रियास्वरूप गोपियाँ उसे अत्यन्त बुरा-भला कहती हैं और उन्हे वहाँ से चले जाने को बाध्य करती हैं किन्तु इस पर भी उद्धव अपना उपदेश जारी रखते है। इस पर गोपियाँ अत्यन्त खीझ उठती है।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव के उपदेश पर खीझ उठती हैं कि सब लोग बातो से ही हमे समझाने का प्रयत्न करते है। अर्थात् सभी लोग बातो-बातो मे ही रिझाना जानते हैं किन्तु कोई ऐसा उपाय नही बताता जिससे श्रीकृष्ण से हमारा मिलन सम्भव हो सके। हम तो श्रीकृष्ण के दर्शन की प्यासी है किन्तु लोग हमे कृष्ण के दर्शन का उपाय न बता कर केवल बातो से ही हमारा

परितोष करना चाहते हैं। हमने उनसे मिलने के अनेक प्रयत्न किये किन्तु वह अन्यत्र अर्थात् कुब्जा के सान्निध्य में मथुरा में आनन्दपूर्ण विहार करते रहे। उन्होंने हमारी कोई खोज-खबर नही ली। इतने पर भी हमारे ये हठीले नेत्र श्रीकृष्ण के दर्शनो के प्यासे हैं, इन्हे किसी अन्य को देखना रूचिकर नही लगता। हमारी जीभ रात-दिन प्राणप्रिय कृष्ण के ही गुणो का गान करती है, उन्हे छोड़ कर अन्य किसी के गुणगान मे इसका मन नही रमता। यह सदैव उन्ही के नाम की रट लगाए रहती है।

हे उद्धव! तुम हमारे इस कृष्ण-प्रेम को चाहे जो समझो और चाहे जो कहो, इससे हमारे लिए कोई अन्तर नही पड़ने वाला, हम तो मन से, वचन से और कर्म से एकमात्र कृष्ण की ही अनुरागिनी है, अतः तुम्हारे उपदेशो का हम पर कोई प्रभाव पडना सभव नही।

विशेष—(१) सपूर्ण पद मे अमर्श नामक सचारी भाव व्याप्त है।

(२) इसमे गोपियो की विवशता और कातरता स्पष्ट अभिव्यक्त हो रही है, व्यजित कुछ भी नही।

(३) इस पद मे गोपियों की एकान्त प्रेम-निष्ठा और कृष्ण के प्रति एकान्त समर्पण का भाव दर्शनीय है। चाहे कोई कुछ भी कहे, वे कृष्ण की अनुरागिनी रहेगी।

निर्गुन कौन देस को बासी ?
मधुकर! हँसि समुझाय, सौह दै बूझति सांच, न हाँसी।।
को है जनक, जननि को कहियत, कौन नारि, को दासी ?
कैसो बरन भेम है कैसो केहि रस में अभिलासी।।
पावैगो पुनि कियो आपनो जो रे! कहैगो गाँसी।
सुनत मौन ह्वै रह्यो ठग्यो सो सूर सबै मति नासी।।६४।।

शब्दार्थ—सौंह दे=सौगन्ध देकर। बूझति=पूछती है। साँच=सत्य बात। हाँसी=हँसी नही कर रही। जनक=पिता। जननि=माता। नारि=पत्नी। बरन=वर्ण, रग। भेस=वेश-भूषा। गांसी=कपट की बात। नासी= नष्ट हो गई। मति=बुद्धि, विवेक।

प्रसंग—गोपियो को उद्धव के निर्गुण-ब्रह्म पर विश्वास नही, अतः वे उनसे

निर्गुण-ब्रह्म विषयक अत्यन्त मनोरजनपूर्ण प्रश्न पूछ कर उद्धव की हँसी उड़ा रही हैं।

व्याख्या—गोपियाँ भ्रमर के माध्यम से उद्धव से पूछ रही है कि हे उद्धव ! तुम्हारा यह निर्गुण-ब्रह्म वस्तुतः कौन से देश मे निवास करता है ? क्या उसका कोई पता ठिकाना भी है ? हम तो अपने सगुण कृष्ण के निवास-स्थान से भलीभाति परिचित है। हे मधुप रूपी उद्धव, हमे उसके निवास स्थान के विषय मे प्रसन्न होकर भलीभाति समझा दे। हम कसम खाकर कहती है कि हमे यह नही मालूम, इसी कारण हम तुम से सच-सच पूछ रही है, हम तुमसे कोई हँसी नही कर रही, अत तुम क्रोध न करके हमे निर्गुण-ब्रह्म के निवास के सम्बन्ध मे ठीक-ठीक बता दो। तुम हमे यह भी बताओ कि तुम्हारे ब्रह्म का पिता कौन है, और उसकी जननी कही जाने का श्रेय किसे है, कौन उसकी पत्नी है, और कौन उसकी दासी है जो दिवा-रात्रि उसकी सेवा-टहल मे व्यस्त रहती है ? उसका रूप-रग और वेश-भूषा किस प्रकार की है और किस प्रकार के कार्यो मे उसकी रुचि है ?

इन पक्तियो मे गोपिया उद्धव को सावधान करती हुई कहती है कि यदि उसने निर्गुण-ब्रह्म विषयक उक्त बातो के सम्बन्ध मे कपटपूर्ण बात कही, झूठ बोला तो फिर उसे स्वय अपनी इस करनी के अनुसार उचित फल भी भुगतना पडेगा। गोपियो के मुख से निकली हुई इस प्रकार की चातुर्यपूर्ण बातो को सुन कर उद्धव ठगे-से मौन खडे रह गये, उनके मुख से एक भी शब्द न निकला। उनका समस्त ज्ञान, विवेक उनका साथ छोडता प्रतीत होता था।

विशेष—(१) 'हँसि समुझाय' का तात्पर्य है कि गोपियो को उद्धव के क्रुद्ध हो जाने की आशका थी, अत. उन्होने उनसे प्रसन्नचित्त सब कुछ बताने की प्रार्थना की।

(२) 'को है···अभिलाषी', गोपिया जानती थी कि निर्गुण-ब्रह्म इन सम्पूर्ण सम्बन्धो एव विशेषताओ से परे है, ये प्रश्न केवल उद्धव को परेशान करने और उनकी हँसी उडाने के लिए ही किये गये हैं।

(३) 'सुनत···नासी' से अभिप्राय यह है कि उद्धव ब्रह्म-विषयक गोपियो के प्रश्नो को सुन कर किंकर्त्तव्यविमूढ हो गये, क्योकि वेद ने ब्रह्म के विषय में कहा है कि—'न तस्य प्रतिमा अस्ति', तथा उपनिषद् ब्रह्म के विषय मे 'नेति-

नेति' कहकर स्पष्ट करते है कि 'न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग् गच्छित न मनः।' अतः उद्धव ऐसे ब्रह्म का निरूपण करने मे किस प्रकार सफल हो सकते थे ? गोपियो ने वस्तुतः सब कुछ जानते हुए ही उद्धव को निरुत्तर कर देने के लिए ही ऐसे प्रश्न किये थे।

(४) यह पद व्यग्य-काव्य का सुन्दर उदाहरण है। सपूर्ण पद मे गोपियो का उद्धव के प्रति व्यग्य-भाव अत्यन्त रमणीय है। उनका वाग्वैदग्ध्य द्रष्टव्य है। वे उद्धव की हँसी भी उडाती हैं किन्तु साथ-साथ उन्हे विश्वास भी दिलाती जा रही हैं कि वे ब्रह्म के विषय मे जिज्ञासु है। व्यग्यात्मक शैली द्वारा प्रस्तुत निर्गुण-ब्रह्म का खण्डन अत्यन्त आकर्षक बन पडा है और कवि के काव्य कौशल का परिचायक है।

नाहिन रह्यो मन में ठौर।
नंदनंदन अछत कैसे आनिए उर और ?
चलत, चितवत, दिवस जागत, सपन सोवत राति।
हृदय तें वह स्याम मूरति छन न इत उत जाति ॥
कहत कथा अनेक ऊधो लोक-लाभ दिखाय।
कहा करौं तन प्रेम-पूरन घट न सिंधु समाय ॥
स्याम गात सरोज-आनन ललित अति मृदु हास।
सूर ऐसे रूप-कारन मरत लोचन प्यास ॥६५॥

शब्दार्थ—ठौर=स्थान। अछत=रहते हुए। आनिए=लाए। उर=हृदय। छन=एक पल भी। लोक-लाभ=सासारिक लाभ। गात=शरीर। सरोज-आनन=कमल के समान मुख। ललित=आकर्षक। रूपकारण=रूप के लिए। लोचन=नेत्र।

प्रसंग—उद्धव के उपदेश की प्रतिक्रिया मे अधिकांशतः गोपिया गम्भीर रही है और उन्होने निर्गुण ब्रह्म को स्वीकार करने मे अपनी विवशता प्रकट की है, कही-कही उन्होने उद्धव की हँसी उड़ाई है किन्तु ऐसे स्थल न्यून है। यहाँ पुन. वे कृष्ण-प्रेम को त्याग कर निर्गुण-ब्रह्म को अपनाने मे अपनी असमर्थता दिखा रही है।

व्याख्या—निर्गुण-ब्रह्म को स्वीकार करने में अपनी विवशता प्रकट करती हुई गोपियां उद्धव से कह रही हैं कि कृष्ण हमारे मन मे पहले से ही

विराजमान हैं, अत. उसमे अन्य किसी के लिए स्थान नही रहा है। नन्दनन्दन श्रीकृष्ण के इस हृदय मे रहते हुए, तुम ही बताओ उद्धव ! हम किसी अन्य को अर्थात् निर्गुण-ब्रह्म को अपने हृदय मे किस प्रकार ला सकती हैं। इस प्रकार हम तुम्हारे निर्गुण-ब्रह्म को स्वीकार करने मे पूर्णतया असमर्थ है क्योकि उसे स्वीकार करने पर हमे कृष्ण को अपने हृयय से विदा करना पडेगा जो हमारे लिए एक असंभव कार्य है। हमे चलते-फिरते, इधर-उधर देखते हुए, दिन मे जाग्रतावस्था मे तथा रात्रि को सोते समय स्वप्नावस्था मे श्रीकृष्ण की मधुर-मूर्ति लुभाती रहती है और हमारे हृदय से यह मोहनी मूरत क्षण भर के लिए भी ओझल नही होती। हम तो अपने जीवन मे प्रत्येक अवस्था मे श्रीकृष्ण के ध्यान मे मग्न रहती है।

हे उद्धव ! तुम योग एव निर्गुण-ब्रह्म सम्बन्धित अनेक कथा-वार्ता सुना कर हमे सासारिक लाभ का मार्ग सुझा रहे हो अर्थात् इस मार्ग पर चलाकर हमारे लिए मोक्ष प्राप्ति का साधन उपलब्ध करा रहे हो। किन्तु हम बाध्य हैं, हम तुम्हारे इस मार्ग को नही अपना सकती, हम कृष्ण-प्रेम के लिए पुन. शरीर धारण करने के लिए भी तत्पर है क्योकि हमारा यह तन कृष्ण-प्रेम मे परिपूर्ण है और फिर जिस प्रकार सिन्धु का जल एक छोटे से घडे मे नही समा सकता, उसी प्रकार हमारे नन्हे-से हृदय मे भी तुम्हारा अनन्त ब्रह्म नही समा सकता।

श्रीकृष्ण का शरीर साँवला सलोना है, उनका मुख कमल के समान सुन्दर और मनमोहक है, उनकी हँसी अत्यन्त मधुर और बरबस अपनी ओर खीचने वाली है। हमारे नेत्र कृष्ण की इस आकर्षक रूप-माधुरी का पान करके तृप्त होने के लिए व्याकुल बने रहते हैं।

विशेष—(१) इस पद मे गोपियो ने अपने हृदय मे कृष्ण के अतिरिक्त अन्य किसी के लिए स्थान न होने की बात कही है। भक्त कवि कबीर तथा रहीम ने इसी भाव को नेत्रो के माध्यम से अभिव्यक्त किया है।

कबीर के नेत्रो मे प्रियतम बसे हुए हैं अतः वहाँ काजल की रेखा के लिए भी स्थान नही रहा—

"कबिरा काजर रेखहू अब तो दई न जाय।
नैनन प्रीतम रमि रहा दूजा कहाँ समाय।"

रहीम का कथन है कि प्रियतम की छवि नयनो में वसी हुई है। अतः अब वहाँ अन्य किसी के लिए स्थान नही रहा—

'प्रियतम छबि नयनन बसी, पर छबि कहाँ समाय।
भरी सराय रहीम-लखी, पथिक आप फिर जाय।।"

(२) प्रस्तुत पद मे गोपियो की कृष्ण-प्रेम विषयक विवशता एकान्त दृढ प्रेम-निष्ठा की अभिव्यक्ति अत्यन्त मार्मिक है।

अलंकार—'सरोज-आनन' मे रूपक।

ब्रजजन सकल स्याम-ब्रतधारी।
बिन गोपाल और नहिं जानत आन कहे व्यभिचारी।।
जोग मोट सिर बोझ आनि कै कत तुम घोष उतारी?
इतनी दूरि जाहु चलि कासी जहाँ बिकति है प्यारी।।
यह सदेस नहिं सुनै तिहारा, है मंडली अनन्य हमारी।
जो रसरीति करी हरि हमसों सो कत जात बिसारी?
महामुक्ति कोऊ नहिं बूझै, जदपि पदारथ चारी।
सूरदास स्वामी मनमोहन मूरति की बलिहारी।।६६।।

शब्दार्थ—ब्रजजन=ब्रजवासी। सकल=सारे। स्याम-ब्रतधारी=कृष्ण-प्रेम का व्रत धारण करने वाले। आन=अन्य। मोट=गठरी। घोष=अहीरो की वस्ती—गोकुल। प्यारी=महँगी। अनन्य=अनोखी, विचित्र। रसरीति=प्रेम-रस-विहार, प्रेम-क्रीडाएँ। बिसारी=भुलाई। कत=कैसे। पदारथ चारी=धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष नामक चार पदार्थ।

प्रसग—गोपियो ने उद्धव के निर्गुण-ब्रह्म विषयक उपदेश की प्रतिक्रिया-स्वरूप उसे स्वीकार करने मे अपनी विवशता प्रदर्शित की है। वे कृष्ण-प्रेम के समक्ष मोक्ष को भी तुच्छ समझती हैं। उन्ही की भाँति अन्य ब्रजवासी भी श्रीकृष्ण-प्रेमव्रतधारी है और कृष्ण-प्रेम के लिए मोक्ष को ठुकरा सकते है।

व्याख्या—हे उद्धव! हमारी तरह सम्पूर्ण ब्रजवासी भी कृष्ण-प्रेम के व्रत को दृढता से धारण किये हुए है, वे कृष्ण के अतिरिक्त अन्य किसी को प्रेम करना तो दूर रहा, उसके प्रति आकर्षित भी नही हो सकते। हम गोपाल कृष्ण के अतिरिक्त अन्य किसी को नही जानती। यदि हम किसी अन्य अर्थात् तुम्हारे निर्गुण ब्रह्म की बाते भी करे तो हम व्यभिचारी कही जायेगी क्योंकि पतिव्रता

नारी किसी अन्य को अपने मन मे नही ला सकती, यदि वह ऐसा करती है तो वह व्यभिचारिणी है। हम कृष्ण की पतिव्रताएँ है, हम तुम्हारे ब्रह्म का विचार कर व्यभिचारिणी बनना नही चाहती, तुमने अपनी योग की गठरी का भारी बोझ यहाँ अहीरो की बस्ती—गोकुल मे लाकर क्यो उतारा है? यहाँ इस निरर्थक वस्तु का कोई ग्राहक नही। अतः उचित यही है कि तुम इसे यहाँ से दूर स्थित काशी ले जाओ, वहाँ के लोग इसका मर्म समझते है, अत वहाँ यह महँगी बिक सकेगी।

हे उद्धव! हमारी यह गोपियो की मण्डली अत्यन्त विलक्षण है और कृष्ण-प्रेम मे निमग्न है, अतः यहाँ तुम्हारा निर्गुण-ब्रह्म सम्बन्धी उपदेश कोई सुनने वाला नही। हमारे साथ कृष्ण ने यहाँ प्रवास करते समय जो प्रेम-लीलाएँ की थी क्या वे भुलाई जा सकती है? उन प्रेम-क्रीडाओ की स्मृति के सम्मुख धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—चारो पदार्थो से युक्त महामुक्ति का कोई मूल्य नही अर्थात् व्यर्थ है, त्याज्य है। हमे तो कृष्ण-प्रेम मे ही उक्त चार पदार्थो से युक्त महा-मुक्ति प्राप्त हो चुकी है, अत निर्गुण-ब्रह्म के मार्ग पर चलकर प्राप्त होने वाली मुक्ति का हमारे लिए कोई आकर्षण नही। हम तो अपने स्वामी मनमोहन कृष्ण की सुन्दर मूर्ति पर अपने प्राण न्यौछावर करती है।

विशेष—(१) 'इतनी-प्यारी।' काशी को योगियो का केन्द्र स्वीकार किया गया है, अत गोपियो के मत मे उद्धव का निर्गुण ब्रह्म सम्बन्धी उपदेश वहाँ के निवासियो के लिए उपयोगी सिद्ध होगा। यहाँ व्रज मे तो सभी कृष्ण-प्रेम का व्रत धारण किए हुए है, यहाँ तो यह व्यर्थ की वस्तु है।

(२) 'प्यारी' शब्द प्रादेशिक प्रयोग है। इसका प्रचलन पंजाब मे है।

(३) 'है मण्डली अनन्य हमारी' से गोपियो के कृष्ण-प्रेम की एकाग्रता सिद्ध होती है। इस प्रेम को कोई आकर्षण अथवा प्रलोभन प्रभावित नही कर सकता।

(४) 'महामुक्ति ··· ···चारी' पंक्ति से यह भी अर्थ ग्रहण किया जा सकता है कि गोपियो को कृष्ण-प्रेम से धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष नामक चारो पदार्थ प्राप्त थे अत· निर्गुण-ब्रह्म, जिसके अपनाने से उन्हें केवल मोक्ष ही प्राप्त होता, उनके लिए निरर्थक था।

(५) गोपियों ने कृष्ण-प्रेम के समक्ष मोक्ष को अग्रहणीय कहा है।

राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने भी एक स्थल पर ऐसे ही भाव व्यक्त किये है—

"जो जन तुम्हारे पद-कमल के असल मधु को जानते है,
वे मुक्ति की भी कर अनिच्छा उसको तुच्छ मानते हैं।"

कहति कहा ऊधो सों बौरी।
जाको सुनत रहे हरि के ढिग स्यामसखा यह सो री !
हमको जोग सिखावन आयो, यह तेरे मन आवत ?
कहा कहत री ! मै पत्यात री नही सुनी कहनावत ॥
करनी भली भलेई जानै, कपट कुटिल की खानि।
हरि को सखा नही री माई ! यह मन निसचय जानि ॥
कहाँ रास-रस कहाँ जोग-जप ? इतनो अंतर भाखत।
सूर सबै तुम कत भईं बौरी याकी पति जो राखत ॥६७॥

शब्दार्थ—बौरी=बावली, पगली। ढिग=पास, समीप। पत्यात=विश्वास करती हूँ। कत=क्यो। याकी=इसकी। पति=विश्वास। राखत=करती हो।

प्रसंग—गोपियों के मत मे योग का सदेश लाने वाला कृष्ण का सखा कभी नही हो सकता, वह कोई धूर्त और कपटी है, ऐसा समझ कर गोपियाँ अप्रत्यक्ष रूप से उद्धव को जली-कटी सुना रही है।

व्याख्या—उद्धव का उपदेश सुनने के उपरान्त एक गोपी दूसरी गोपी से कहती है कि हे पगली ! तू उद्धव से क्या बात कर रही है ? अरी पगली। यह श्याम का वह सखा है जो सदा उनके पास निवास करता है और जिसके विषय मे हम कब से सुनती आ रही है। क्या तू यह समझती है कि यह यहाँ हमे योग की शिक्षा प्रदान करने आया है ? आखिर तू कह क्या रही है, मुझे तो इस बात पर विश्वास ही नही आता कि यह यहाँ हमे योग का उपदेश देने आया है। तूने वह कहावत तो सुनी ही होगी कि सज्जन और भले लोग अपनी प्रकृति के अनुसार दूसरो की भलाई मे रत रहते है और नीच मनुष्य अत्यन्त कपटी होते है और दूसरो का कार्य बिगाड़ने मे प्रसन्नता अनुभव करते है। अतः हे सखी ! यह कृष्ण का सखा नही है, यह तू अपने मन में निश्चय जान ले। यह तो कोई धूर्त और कपटी है जो कृष्ण के सखा के रूप मे हमसे छल करने आया है। कृष्ण स्वय भले है, तो उनका मित्र इतना धूर्त किस

प्रकार हो सकता है क्योकि यह हमारे कृष्ण-प्रेम को तुच्छ वता कर हमें निर्गुण ब्रह्म को अपना लेने का उपदेश दे रहा है और इस प्रकार हमें श्रेष्ठ प्रेम-मार्ग से हटा कर दुर्गुण-पूर्ण निर्गुण-मार्ग पर चलाना चाहता है।

हे सखी! तनिक इस बात पर तो विचार करो, कि कहाँ तो कृष्ण के साथ प्रेम विहार, क्रीडाओ का आनन्द और कहाँ योग-साधना तथा तपस्या का कठिन कार्य। यह किस प्रकार दो परस्पर-विरोधी बाते कह रहा है। यदि यह कृष्ण का सखा होता तो हमे उनके प्रेम से विमुख होकर योग-तपस्या का उपदेश न देता। क्या तुम सब पागल हो गई हो जो इसकी बातो का विश्वास करके इसे कृष्ण के सखा के समान आदर दे रही हो। यह तो कोई छलिया है जिसे अपमानित करके यहाँ से भगा देना ही उचित है।

विशेष—(१) इस पद मे अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य-ध्वनि का प्रयोग हुआ है। जिसके आधार पर गोपियाँ उद्धव को अत्यन्त खरी-खोटी सुना रही हैं।

(२) इस पद का व्यग्य अत्यन्त मार्मिक और चुभने वाला है।

(३) गोपियो द्वारा परस्पर बाते करने का ढंग, एक दूसरी को बावली, पगली, कहना और 'री' जैसे सम्बोधन का अनेकश प्रयोग करना उनके उत्कृष्ठ वाग्वैदग्ध्य का प्रमाण है और इससे उनकी परस्पर अनौपचारिकता का भी परिचय मिलता है।

(४) 'करनी ··· ··· खानि' पक्ति मे एक विख्यात लोकोक्ति के प्रयोग से इस पद के सौन्दर्य मे वृद्धि हुई है।

ऐसेई जन दूत कहावत।
मोको एक अचभो आवत या मे ये कह पावत?
बचन कठोर कहत, कहि दाहत, अपनी महत गँवावत।
ऐसी परकृति परति छाँह की जुवतिन ज्ञान बुझावत॥
आपुन निलज रहत नखसिख लौं एते पर पुनि गावत।
सूर करत परसंसा अपनी, हारेहु जीति कहावत॥६८॥

शब्दार्थ—मोको=मुझे। या मे=इसमे। महत=महत्ता, गुरुत्व, सम्मान। परकृति=प्रकृति, ससर्ग अथवा छाया का प्रभाव। जुवतिन=युवतियो, अबलाओ, गोपियो को। बुझावत=समझाते है। आपुन=स्वयं। निलज=निर्लज्ज। नखसिख-लौं=ऊपर से नीचे तक पूरी तरह। एते पर=इतने

पर भी।

प्रसंग—गोपियाँ योग का सन्देश लाने वाले उद्धव को छली-कपटी सिद्ध करते हुए उनके सन्देश पर कटाक्ष कर रही हैं। उनके मत मे सफल दूत वही है जो वास्तविक सन्देश न कहकर इधर-उधर की झूठी बाते गढ़ कर सुनाया करता है।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव के सन्देश की सत्यता पर सन्देह करती हुई, उनके योग पर व्यग्य करती हुई परस्पर वार्तालाप करती हुई कहती है कि वस्तुतः ऐसे ही लोग सफ़ल दूत कहे जाते है जो वास्तविक सन्देश न कह कर इधर-उधर की बाते गढ़ कर सुनाया करते है। सच बात तो यह है कि कृष्ण ने उद्धव के द्वारा हमे योग का सन्देश न भेजकर कोई अन्य सन्देश भेजा होगा। किन्तु उद्धव कृष्ण के उस सन्देश को हमसे न कह कर अपनी ओर से योग का सन्देश दे रहे है। मुझे इस बात का आश्चर्य है कि ऐसा करने से अर्थात् योग का सन्देश सुना कर हमे संतप्त करने से इन्हे क्या लाभ होता है? ऐसे लोग दूसरो से कठोर वचन कहते है जैसे उद्धव हमसे कृष्ण को भुलाकर निर्गुण-ब्रह्म की उपासना करने को कह रहे है, इस प्रकार के वचनो से दूसरों को दुखी करते है, संतप्त करते है और इस प्रकार अपनी महत्ता, सम्मान भी गवा बैठते है।

वस्तुतः संगति का प्रत्येक व्यक्ति पर प्रभाव पड़ता है जिसके कारण वह बौरा जाता है और ऊटपटाँग बाते करने लगता है, उद्धव इसके साक्षात् प्रमाण हैं। कुब्जा की सगति के कारण इनकी बुद्धि भ्रष्ट हो गई है जिससे हम अबलाओ को योग और निर्गुण-ब्रह्म की शिक्षा देने यहाँ आ गये है। यह समझ नही रहे कि इनका यह कार्य कितना अनुचित है। ऐसे लोग पूरी तरह निर्लज्ज होते हैं, वे अपने उक्त प्रकार के निर्लज्ज कार्यों के लिए लज्जा अनुभव न करके निरन्तर अपनी ही हांके चले जाते है। ये लोग स्वय अपनी ही प्रशसा मे रत रहते हैं तथा अपनी पराजय को भी विजय कहते है अर्थात् उद्धव विवेक मे हमसे पराजित हो चुके है क्योकि इनसे हमारी एक भी वात का उत्तर देते नही वनता किन्तु फिर भी वह स्वय को विजयी घोपित कर रहे है और निरन्तर निर्गुण-ब्रह्म सम्बन्धी अपनी रट लगाए हुए है।

विशेष—(१) इस पद मे व्यग्य की अभिव्यक्ति अत्यन्त मार्मिक है।

उद्धव के साथ कुब्जा पर भी व्यग्य किया गया है।

(२) गोपियो को उद्धव की सज्जनता पर सन्देह नही, यह तो कुब्जा की संगति का प्रभाव है कि वह अपना विवेक खो बैठे है, और हम अबलाओ को योग की शिक्षा देने आ गए है।

(३) कुब्जा स्वय निर्लज्ज है जो हमारे प्रेम को स्वय भोग रही है। उसके सामीप्य रह कर उद्धव भी पूरी तरह निर्लज्ज हो गये हैं और अपनी हार को भी जीत का दर्जा दे रहे है।

(४) गोपियो की उद्धव के प्रति प्रयुक्त इन कटूक्तियो से सस्कृत की यह लोकोक्ति स्मरण हो आती है कि लज्जा को छोड़ने से त्रिलोक भी विजय हो सकता है—"लज्जामेका परित्यज्य त्रैलोक्य विजयी भवेत्।"

प्रकृति जोई जाके अंग परी।
स्वान-पूँछ कोटिक जो लागै सूधि न काहु करी॥
जैसे काग भच्छ नहि छांड़ै जनमत जौन घरी।
धोये रंग जात कहु कैसे ज्यौं कारी कमरी ?
ज्यो अहि डसत उदर नहि पूरत ऐसी धरनि धरी।
सूर होउ सो होउ सोच नहि, तैसे हैं एउ री॥६६॥

शब्दार्थ—प्रकृति=स्वभाव, आदत। स्वान=कुत्ता। कोटिक=करोड़ो। सूधि=सीधी। न काहु करी=कोई नही कर सका। काग=कौआ। भच्छ=खाने न खाने योग्य पदार्थ। कारी कमरी=काला कम्बल। अहि=सर्प। जनमत=जन्म लेते ही। जौन घरी=जिस समय। धरनि धरी=टेक पकड़ रखी है, स्वभाव बन गया है। एउ=यह भी।

प्रसग—गोपियो के खीझने पर भी उद्धव योग और निर्गुण-ब्रह्म सम्बन्धी अपना उपदेश जारी रखते है जिस पर गोपियाँ और अधिक झल्ला उठती है और उन पर तथा उनके स्वभाव पर फब्तियाँ कसना आरम्भ कर देती है।

व्याख्या—एक गोपी अन्य गोपियो से कहती है कि जिसका जैसा स्वभाव हो जाता है, उसे फिर बदला नही जा सकता। करोड़ो प्रयत्न करने पर भी कुत्ते की पूंछ को आज तक कोई सीधा नही कर सका। इसका कारण यह है कि पूंछ का स्वभाव सदा टेढा रहने का हो गया है, अब उसे सीधा किया ही नही

जा सकता। कौआ जन्म से भक्ष्याभक्ष्य अर्थात् खाने-न-खाने योग्य पदार्थों को खाना आरम्भ करता है और अपने सम्पूर्ण जीवन मे इस स्वभाव को नही छोड़ता। अच्छा यह बताओ कि क्या धोने से काले कम्बल का रंग उतर सकता है। यद्यपि सर्प का दूसरो को डसने से पेट नही भरता क्योंकि उसके पेट मे तो कुछ जाता ही नही तथापि डसने का उसका स्वभाव पड़ गया है, इसे वह नही छोड़ता। यह उद्धव भी ऐसे ही है, दूसरो को दुखी करने का इनका स्वभाव बन गया है, अतः इन्हे तो इसी बात में आनन्द मिल रहा है, इन्हे इस बात की कोई चिन्ता नही कि इनके इस प्रकार के व्यवहार का क्या परिणाम निकलने वाला है।

विशेष— (१) 'धोये······कमरी'—इस पक्ति के भाव को कवि ने एक अन्य स्थल पर इस प्रकार व्यक्त किया है—

'सूरदास प्रभु कारी कामरि, चढ़ै न दूजो रंग।'

(२) गोपियो ने मानव स्वभाव का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते हुए उद्धव पर मार्मिक कटाक्ष किए है। उर्दू के प्रसिद्ध कवि अकबर इलाहाबादी ने भी स्वभाव के विषय मे लगभग इसी प्रकार की बात कही है—

'आदत जो पडी हो पहले से, वह दूर भला कब होती है।
पाकिट में रखी चुनौटी, पतलून के नीचे धोती है॥
नसीहत का असर क्या खाक होगा ऐसे पागल पर।
चढ़ाते हो गुलाबी रंग तुम भी काले कम्बल पर॥'

अलंकार—'स्वान-पूंछ करी' में अर्थान्तरन्यास।

तौ हम मानैं बात तुम्हारी।
अपनो ब्रह्म दिखावहु ऊधो मुकुट-पिताम्बरधारी॥
भजि हैं तब ताको सब गोपी सहि रहि हैं बरु गारी।
भूत समान बतावत हमको जारहु स्याम बिसारी॥
जे मुख सदा सुधा अँचवत हैं ते विष क्यों अधिकारी।
सूरदास प्रभु एक अंग पर रीझि रहीं ब्रजनारी॥७०॥

शब्दार्थ—बरु=भले ही। गारी=गाली—चरित्रहीन होने की गाली। भूत-समान=छायामात्र, आकार रहित। जारहु=दग्ध करते हो। बिसारी=भुला कर। अंचवत=आचमन करते है, पान करते है। रीझि=मुग्ध हुई।

प्रसंग—उद्धव के निर्गुण-ब्रह्म के उपदेश की प्रतिक्रियास्वरूप गोपियाँ अत्यन्त दुखी है फिर भी उन्हे नीचा दिखाने का कोई भी अवसर हाथ से नही जाने देती। यहाँ वे अपने वाग्वैदग्ध्य द्वारा उद्धव के सम्मुख एक शर्त प्रस्तुत करके उन्हे छकाने का प्रयत्न कर रही है।

व्याख्या—हे उद्धव! एक शर्त पर तुम्हारी बात मान कर हम तुम्हारे ब्रह्म को स्वीकार कर लेगी। वह शर्त यह है कि तुम अपने ब्रह्म के मोर-मुकुट तथा पीताम्बर धारण किए हुए दर्शन करा दो। अर्थात् यदि तुम्हारा ब्रह्म कृष्ण का वेश धारण कर हमारे सम्मुख आता है तो उसे स्वीकार करने मे हमे कोई सकोच नही होगा। हम सब गोपियाँ फिर उसी ब्रह्म का ध्यान-भजन करने लगेगी। भले ही इसके लिए उन्हे ससार चरित्रहीन कुलटा होने की गाली दे, वे इसे भी सहन कर लेंगी किन्तु हमे यह सम्भव प्रतीत नही होता क्योकि तुम अपने ब्रह्म को छायाहीन अर्थात् आकारहीन बताते हो, अतः उसका मोर-मुकुट और पीताम्बर धारण करना असम्भव ही है, इस पर हम कृष्ण को भुलाकर उसे स्वीकार नही कर सकती। तुम ऐसा कह कर हमे अत्यन्त पीड़ा पहुँचा रहे हो, दग्ध कर रहे हो। इस प्रकार एक तो हम कृष्ण को भुला देगी और दूसरी ओर तुम्हारे आकारहीन अर्थात् आभास मात्र ब्रह्म को भी प्राप्त नही कर सकेगी। इस प्रकार हमारे लिए तो दोनो ओर दुख ही दुख है। हम तो सदा अपने मुख से अमृतपान करती आई है, उसी मुख से आज विष का पान किस प्रकार कर सकती है? अर्थात् हमारा मुख अमृत के समान प्राणदायक एव मधुर कृष्ण का नाम स्मरण करने का अभ्यस्त हो चुका है, वह आज तुम्हारे विष के समाज घातक एव कटु ब्रह्म का नाम किस प्रकार जप सकता है?

हे उद्धव! सम्पूर्ण ब्रजनारियाँ तो अपने प्रमुखी के मनोहर शरीर पर मुग्ध हैं, वे उन्हे त्याग कर तुम्हारे शरीर-विहीन निराकार ब्रह्म को स्वीकार नही कर सकती।

विशेष—यह पद गोपियो के वाकचातुर्य का सुन्दर उदाहरण है। वे उद्धव के सम्मुख ऐसी शर्त प्रस्तुत कर रही हैं जिनकी पूर्ति सम्भव नही।

यहै सुनत ही नयन पराने।
जबहीं सुनत बात तुव मुख की रोवत रमत ढराने॥

बारंबार स्यामघन घन तें भाजत फिरत लुकाने।
हमकों नहिं पतियात तबहिं तें जब ब्रज आपु समाने॥
नातरु यहौ काछ हम काछति वै यस जानि छपाने।
सूर दोष हमरे सिर धरिहौ तुम हो बड़े सयाने॥७१॥

शब्दार्थ—पराने=पलायन करते है, भाग खडे होते है। तुव=तुम्हारे। रमत=व्यस्त हो जाते है। ढराने=ढुलक गये। भाजत=भागते। लुकाने=छिपने के लिए। पतियात=विश्वास करते। आपु=अपने। समाने=समाए है। नातरु=नही तो। काछ हम काछति=वेश धारण करती। छपाने=छिप गए है।

प्रसग—उद्धव के निर्गुण-ब्रह्म के उपदेश पर गोपियाँ अत्यन्त दुःखी है, उन्हे यह उपदेश अति भयानक लगता है। वे बाध्य है, वे निर्गुण ब्रह्म को स्वीकार नही कर सकती क्योकि उनके नेत्र निर्गुण-ब्रह्म का ,उपदेश सुनते ही डरकर भाग खड़े होते है।

व्याख्या—गोपियाँ अपने नेत्रो की व्याकुल, भयभीत दशा का वर्णन करती हुई उद्धव से कहती है कि हे उद्धव! तुम्हारी निर्गुण-ब्रह्म सम्बन्धी बाते सुनते ही हमारे नेत्र भयभीत हो कर भाग खडे हुए है। जैसे ही ये तुम्हारे मुख से इस प्रकार की बाते सुनते है, तुरन्त ही इनसे आँसू ढुलक आते है और ये बन्द हो जाते है। वस्तुतः ये नेत्र कृष्ण के रूप-दर्शन के उपासक है। तुम्हारी बाते सुनकर उन्हे यह शका होने लगती है कि हम तुम्हारी बातो मे आकर कृष्ण को त्याग कर निर्गुण-ब्रह्म को स्वीकार कर लेगी और इस प्रकार ये नयन कृष्ण-दर्शन से सदैव के लिए वचित हो जायेगे। इसी कारण ये भयभीत है और तुम्हारे उपदेश आरम्भ करते ही भाग खडे होते है। अब तो इनकी यह दशा है कि वर्षा ऋतु मे श्याम रंग के बादलो को देखकर उनसे छिपने के लिए ये इधर-उधर भागते-फिरते है। इसका कारण यह है कि एक तो काले-बादलों को देखकर इन्हे कृष्ण की स्मृति हो आती है, दूसरे सभी काले रग वालो ने धोखा दिया है, अतः ये काले मेघो से भी अब डरने लगे है। काले कृष्ण इनकी भावनाओ का निरादर करके इन्हे छोड गये, काले अक्रूर इनके प्रिय कृष्ण को इनसे दूर ले गये और अब श्याम-वर्णीय उद्धव कृष्ण की स्मृति को ही ले जाने के लिए ब्रज आए हुए है।

हे उद्धव ! जब से आप ब्रज मे आकर विराजमान हुए हैं, तब से हमारे ये नेत्र हमारा भी विश्वास नही करते। इन्हें इस बात का सन्देह है कि हम तुम्हारी बात मानकर निर्गुण-ब्रह्म को स्वीकार कर लेगी, इस कारण ये छिप गये हैं।' वस्तुत यदि हमारे नेत्र मुँद न जाते तो हम तुम्हारे उपदेशानुसार वही योगियो का वेश अब तक धारण कर चुकी होती और इस प्रकार योग-साधना के मार्ग को अपना लेती। अब जबकि ये नेत्र ही हमारे अधिकार में न रहे, ब्रह्म-दर्शन हम किस प्रकार करेगी ? यह हमारे लिए असम्भव है, अत हम बाध्य हैं, तुम्हारी बात स्वीकार करने में असमर्थ है। यद्यपि इसमे हमारा कोई दोप नही, पर तुम स्वय को अधिक विवेकशील समझते हो, अतः सारा दोप हमारे सिर पर थोप दोगे।

विशेष—(१) गोपियो का वाक्चातुर्य यहाँ दर्शनीय है। वह 'निर्गुण-ब्रह्म को स्वीकार करने की असमर्थता प्रकट करते हुए, इसमे सारा दोप अपने नेत्रो पर थोप रही हैं। नेत्रों के कारण वे बाध्य है क्योकि उनके नेत्र कृष्ण की रूप-माधुरी मे पगे हुए है, अत निर्गुण-ब्रह्म की बात चलते ही भाग खड़े होते हैं।

(२) 'सूर······सयाने' पक्ति अत्यन्त मार्मिक है। इसमे उद्धव की विवेकशीलता पर करारी चोट की गई है।

नयननि वहै रूप जौ देख्यो।
तौ ऊधो यह जीवन जग को साँचु सफल करि लेख्यो॥
लोचन चारु चपल खजन, मनरंजन हृदय हमारे।
रुचिर कमल मृग मीन मनोहर स्वेत अरुन अरु कारे॥
रतन जटित कुंडल श्रवननि वर, गंड कपोलनि झाँई।
मनु दिनकर-प्रतिबिंब मुकुर महँ ढूँढ़त यह छवि पाई॥
मुरली अधर विकट भौहैं करि ठाढ़े होत त्रिभंग।
मुकुतमाल उर नीलसिखर तें धँसि धरनी ज्यों गंग॥
और भेस को कहै बरनि सब अँग अँग केसरि खौर।
देखत बनै, कहत रसना सो सूर विलोकत और॥७२॥

शब्दार्थ—लेख्यो=समझे। लोचन=नेत्र। चारु=सुन्दर, रमणीक। चपल=चचल। रुचिर=मनोहारी। श्रवननि=कान। गंड=गर्दन। झाँई=

परछाई। दिनकर-प्रतिबिम्व=सूर्य का प्रतिबिब। मुकुर=दपरण। त्रिभंग=तीन जगह से टेढ़ा शरीर, त्रिभगी मुद्रा। मुकुतमाल=मोतियो की माला। नील सिखर=पर्वत का नील शिखर। धँसि=घुसकर। धरनी=पृथ्वी। बरनि=वर्णन। खौर=तिलक। और=अन्य।

प्रसंग—गोपियाँ अपने नेत्रो के कारण निर्गुण-ब्रह्म को स्वीकार करने में असमर्थ है क्योकि ऐसा वर्णन आरम्भ होते ही वे भाग खडे होते है। वे तो कृष्ण की रूप-माधुरी मे पगे हुए है, उन्होने कृष्ण का अत्यन्त सलोना रूप देखा है—

व्याख्या—अपने नेत्रों द्वारा देखे हुए कृष्ण के अनुपम, मनोहर रूप का वर्णन करती हुई गोपियाँ कहती है कि हे उद्धव ! यदि हम अपने नेत्रो से कृष्ण के उसी मनोहर रूप के पुन दर्शन कर ले तो इस ससार मे प्राप्त अपने जीवन को सार्थक स्वीकार कर ले, सचमुच सफल हुआ समझ ले। कृष्ण के खजन पक्षी के समान सुन्दर और चचल नेत्र हमारे हृदय को प्रसन्न करने वाले है। उनके वे नेत्र कमल, मृग और मछली के नेत्रों के समान सुन्दर एव मनोहारी है। वे श्वेत, लाल और काले रगो का अद्भुत मिश्रण है—अर्थात् उनके नेत्रों की पुतली काली है, आस-पास का भाग श्वेत है तथा लाल डोरे है, इस प्रकार उनमे इन तीनो रंगो की अद्भुत छटा दिखाई देती है।

कृष्ण के कानो मे रत्नजडित कुण्डल लटके रहते है जिनकी सुन्दर झलक उनकी गर्दन तथा कपोलो पर पड़ती है। इस झलक से ऐसा प्रतीत होता है मानो सूर्य दर्पण में अपना प्रतिबिब ढूँढ रहा हो और उसकी इस खोज से ऐसी शोभा उत्पन्न हो रही हो।

कृष्ण अधरो पर मुरली धारण किये हुए उसे बजाने के प्रयत्न में जब अपनी भौहे टेढी करके त्रिभगी मुद्रा मे खडे होते है तो उनकी छवि हमारे मन को मोह लेती है कृष्ण के वक्षस्थल पर पड़ी मोतियो की माला इस प्रकार सुशोभित हो रही है मानो पर्वत के नीले शिखर से उतर कर गंगा धरती पर आ गई हो। हम कृष्ण के अन्य वेश का वर्णन कहाँ तक करे। केसर के तिलको से शोभायमान उनके सपूर्ण अग-प्रत्यग अत्यन्त मनोहारी दृश्य प्रस्तुत करते है। उनके इस सौन्दर्य का वर्णन करना मानव-रसना के लिए असभव है क्योकि नेत्र देखते हैं, अनुभव करते हैं किन्तु वर्णन करने मे असमर्थ हैं जबकि जिह्वा

देख न पाने के कारण सौन्दर्य को वर्णन नही कर पाती। इस प्रकार इन दोनो इन्द्रियो की अपूर्णता के कारण कृष्ण के स्वर्णिम सौन्दर्य का वर्णन असभव है क्योकि एक की अनुभूति को दूसरा अभिव्यक्त नही कर पाता।

विशेष—(१) सपूर्ण पद मे कृष्ण के अनिवर्चनीय एव अनिन्द्य सौन्दर्य का अत्यन्त मार्मिक वर्णन हुआ है।

(२) 'रुचिर…कारे'…पक्ति के भाव से मिलता-जुलता भाव रसलीन कवि बिहारी ने भी एक दोहे मे प्रस्तुत किया है—

'अमिय हलाहल मद भरे, स्वेत स्याम रतनार।
जियत मरत झुकि झुकि परत, जेहि चितवत इकवार॥'

(३) 'रतन…छवि पाई'… यहाँ कुण्डल सूर्य तथा कपोल दर्पण के समान है। जिस प्रकार सूर्य का प्रतिबिंब दर्पण मे पड़कर सतरग हो जाता है, वैसे ही विभिन्न प्रकार के रगो वाले रत्नोजडित कुण्डलो का प्रतिबिंब गण्डस्थल और कपोलो पर पड कर सतरगा वन जाता है और अद्भुत छवि उत्पन्न करता है। गण्डस्थल और कपोल दर्पण के समान स्वच्छ और चिकने हैं, इसी कारण उन पर कुण्डलो की परछाईं प्रतिबिंबित हो रही है।

(४) 'मुरली…त्रिभग'—मुरली बजाते समय गर्दन, कमर और पैर तिरछी मुद्रा मे रहते है, इसी कारण उसे त्रिभगी मुद्रा अथवा तीन स्थलो से टेढ़ी छवि कहा जाता है।

(५) 'मुकुतमाल…गग' यहाँ नीली ग्रीवा नील शिखर, मोतियो की माला श्वेत गगा तथा विस्तृत वक्षस्थल धरती के समान हैं।

(६) अन्तिम पक्ति का वास्तविक भाव यह है कि कृष्ण का सौन्दर्य अनिवर्चनीय है। महाकवि तुलसी ने इस पक्ति के भाव को दो स्थलो पर विभिन्न रूप से अभिव्यक्त किया है—

(क) 'अवस देखिये देखन जोगू।'
(ख) 'गिरा अनयन नयत बिनु बानी।'

अलंकार—(१) 'लोचन…हमारे'—लुप्तोपमा।
(२) 'रुचिर…कारे'—क्रम।
(३) 'मनु…पाई'—वस्तूत्प्रेक्षा।

(४) 'धरनी'''गग'—पूर्णोपमा।

नयनन नंदनंदन ध्यान।
तहाँ लै उपदेस दीजै जहाँ निरगुन ज्ञान॥
पानिपल्लव-रेख गनि गुन-अवधि बिधि-बंधान।
इते पर कहि कटुक बचनन हनत जैसे प्रान॥
चंद्र कोटि प्रकास मुख, अवतस कोटिक भान।
कोटि मन्मथ वारि छबि पर, निरखि दीजित दान॥
भृकुटि कोटि कुदंड रुचि अवलोकनी सधान।
कोटि वारिज बंक नयन कटाच्छ कोटिक बान॥
कबु ग्रीवा रतनहार उदार उर मनि जान।
आजानुबाहु उदार अति कर पद्म सुधानिधान॥
स्याम तन पटपीत की छबि करै कौन बखान?
मनहु निर्तत नील घन में तड़ित अति दुतिमान॥
रासरसिक गोपाल मिलि मधु अधर करती पान।
सूर ऐसे रूप बिनु कोउ कहा रच्छक आन॥७३॥

शब्दार्थ—गनि=गिनकर, समझकर। गुन-अवधि=सर्वगुण-सम्पन्न। विधि-बधान=ब्रह्मा की रचना। इते पर=इतने पर। हनत=मारते हो। अवतस=मुकुट, कुण्डल। भानु=सूर्य। मन्मथ=कामदेव। वारि=न्यौछावर। दीजित=दिया है। कुदण्ड=कोदण्ड, धनुष। अवलोकननी=चितवन। सधान =धनुष की प्रत्यचा खीचना। वारिज=कमल। वक=तिरछे, टेढे। कबु= शख। ग्रीवा=गर्दन। उदार उर=विस्तृत वक्षस्थल। मनि=मणियो की माला। अजानुबाहु=घुटनो तक लम्बी एवं विशाल भुजाएं। पद्म=कमल। सुधानिधान=अमृतसागर। बखान=वर्णन। निर्तत=नृत्य करती हुई। तड़ित=बिजली। दुतिमान=प्रकाशवान। आन=अन्य। रच्छक=रक्षक।

प्रसग—गोपियाँ उद्धव के नीरस निर्गुण ब्रह्म से चिढ चुकी है। वह उसकी तुलना मे अपने अद्भुत, अनुपम, सुन्दर प्रियतम का वर्णन करते हुए उन्हे निर्गुण ब्रह्म से श्रेष्ठ सिद्ध करके यह स्पष्ट करती हैं कि ऐसी रूप राशि के सम्मुख उद्धव के अनुरूप, नीरस ब्रह्म को ब्रज मे स्वीकार करने वाला कोई नही।

व्याख्या—वे उद्धव से कहती है कि हे उद्धव ! हमारे ये नेत्र सदा नंदनदन श्रीकृष्ण के ध्यान मे निमग्न रहते हैं। उन्हे अन्य न तो कुछ भाता है और न ही सुहाता है। अत. तुम अपने निर्गुण-ब्रह्म के ज्ञान को वहाँ ले जाओ, जहाँ लोग इसकी परख करने मे समर्थ हो और इसका मर्म समझ सकते हो। तुम्हारा ब्रह्म गुणहीन अर्थात् निर्गुण है जबकि हम पत्तो के समान अपनी कोमल हथेलियो पर अंकित रेखाओ को गिन-गिन कर ब्रह्म द्वारा लिखित अपने इस भाग्य पर गर्व अनुभव करती है कि इसी के कारण हमे गुणो की सीमा अर्थात सर्वगुण सम्पन्न कृष्ण जैसे प्रियतम उपलब्ध हुए हैं। हम तो उनके वियोग से पहले से ही पीडित है और तुम ऊपर से कृष्ण को भूल जाने के लिए कठोर, कटु वचन कह कर हमारे प्राणो को और अधिक व्यथित कर रहे हो। हमे मारे डाले दे रहे हो। तुम्हे चाहिए यह था कि हम विरह-विदग्ध कामिनियो पर तरस खाते और हमे कृष्ण के लौटने का समाचार देकर आश्वस्त करते किन्तु तुम्हारी गति विपरीत है, तुम तो हमे और अधिक पीडा पहुँचा रहे हो।

हमारे कृष्ण अत्यधिक सुन्दर है। उनके मुख की शोभा करोडो चन्द्रमाओ के सम्मिलित प्रकाश के समान शुभ्र, शीतल और शान्तिदायक है। और कानो मे धारण किये हुए उनके कुण्डलो की चमक करोड़ो सूर्य के प्रकाश के समान देदीप्यमान है। कृष्ण के सौन्दर्य पर करोड़ो कामदेवो की छवि को न्योछावर किया जा सकता है और इनकी इसी सौन्दर्य-छवि को देखकर हमने अपना सर्वस्व उनके प्रति समर्पित कर दिया है। उनकी भृकुटियाँ करोड़ो धनुषो के समान वक्र और खिची हुई हैं, उनकी चितवन धनुष की खिची हुई प्रत्यचा के समान खिची हुई है तथा सबको अपनी ओर आकर्षित करती है। जिस प्रकार धनुष की खिची प्रत्यचा को देख कर लोग भयभीत एव स्तम्भित हो उसी की ओर देखते रह जाते है, उसी प्रकार कृष्ण की मोहक, एवं खिची हुई चितवन को देख लोग आकर्षित होते है। उनके बाँके नयन करोडो कमलो के समान मनोहारी हैं तथा उनके नयनो के कटाक्ष बाणो के समान मर्मभेदी एवं हृदय को निकाल कर अपनी ओर ले जाने वाले हैं।

उनकी शख सदृश सुन्दर गर्दन मे रत्नो से जडा हुआ हार सुशोभित होता है जिसमें पिरोई हुई कौस्तुक मणि उनके विशाल वक्षस्थल पर शोभा पा

रही है। उनकी घुटनो तक दीर्घ भुजाएँ शरणागत की सहायता करने में समर्थ है। उनके हाथ कमल के समान सुन्दर है तथा अमृत के सागर के समान सबको जीवन-दान देने एव रक्षा करने मे समर्थ है। उन्होने अपने श्यामशरीर पर पीत परिधान धारण किया हुआ है और उससे उत्पन्न शोभा का वर्णन नही किया जा सकता। श्याम शरीर पर पीत-परिधान को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि अतिशय प्रकाशित विद्युत् काले बादलो मे नृत्य कर रही हो।

ऐसे शोभा सम्पन्न रासलीला मे हमारे साथ आनन्द का अनुभव करने वाले गोपालकृष्ण को मिल कर हम प्रसन्न होती थी तथा उनके अधरो के अमृत का पान करती थी। हे उद्धव ! अब तुम ही कहो कि ऐसे अनुपम रूप सम्पन्न कृष्ण के अतिरिक्त हमारी रक्षा और पालन कौन कर सकता है अर्थात् कोई नही कर सकता। इसलिए हमे कृष्ण को छोड निर्गुण ब्रह्म स्वीकार्य नही।

विशेष—(१) इस पद मे कृष्ण के लोकरजक सौन्दर्य का अत्यन्त प्रभाव-शाली वर्णन प्रस्तुत किया गया है। इसके साथ ही उनके लोकरक्षक रूप की ओर भी सकेत किया गया है। ऐसे कृष्ण की तुलना मे निर्गुण-ब्रह्म त्याज्य है।

(२) 'पानि-पल्लव ··· ··· बखान—इस पक्ति का अर्थ इस प्रकार भी किया जा सकता है कि हम अपनी हस्त-रेखाओ को गिन-गिन कर विधाता के इस भाग्य लेख पर खेद प्रकट करती रहती है कि सर्व-गुण-सम्पन्न कृष्ण निश्चित अवधि बीत जाने पर भी लौट कर नही आये।

अलंकार—(१) 'चन्द्रकोटि ··· ··· कोटिक भान' तथा 'कंबु-ग्रीवा' में उपमा।

(२) 'कोटि मन्मथ ··· ··· दीजित दान'—प्रतीप।
(३) भृकुटि ··· ··· कोटिक बान'—सागरूपक।
(४) 'मनहु नितंत ··· ··· दुतिमान'—उत्प्रेक्षा।

देन आए ऊधो मत नीको।
आवहु री ! सब सुनहु सयानी, लेहु न जस को टीको ॥
तजन कहत अंबर आभूखन, गेह नेह सब ही को।
सीस जटा, सब अंग भस्म, अति सिखवत निर्गुन फीको ॥

मेरे जान यहै जुवतिन को देत फिरत दुख पी को।
तेहि सर-पंजर भए स्याम तन, अब न गहत डर जी को॥
जाको प्रकृति परी प्रानन सो, सोच न पोच भली को।
जैसे सूर व्याल डसि भाजत का मुख परत श्रमी को॥७४॥

शब्दार्थ – नीको=अच्छा। तजन=छोड़ने के लिए। अम्बर=आकाश, यहाँ वस्त्र। पी=प्रीयतम। सर-पजर=वाणो का समूह। पोच=वुरी। व्याल=सर्प। श्रमी=अमृत।

प्रसग—गोपियाँ उद्धव के योग-उपदेश के कारण अत्यन्त खीझी हुई हैं, यहाँ वे उन्हे स्वभाव से ही हत्यारा घोषित करती हुई उन पर व्यग्य कर रही है।

व्याख्या—गोपियाँ परस्पर कह रही है कि हे सखी! ये उद्धव हमे बहुत अच्छा उपदेश देने के लिये यहाँ पधारे हैं। हे विवेकशील सखियो! तुम सब यहाँ आकर इनकी बातें सुनो और उन पर आचरण करके यश प्राप्त करो। अर्थात् इनका उपदेश सुन कर, इनका सत्सग करने का यश क्यो नही प्राप्त करती? ये हमसे वस्त्र, आभूषण, घर तथा स्नेहजनित सब सम्बन्धो को त्याग देने का आग्रह कर रहे हैं तथा कहते है कि हम शीश पर जटा-जूट धारण कर ले एव समस्त शारीरिक अगो पर भस्म मल लें, इस प्रकार ये हमे अत्यन्त फीके निर्गुण-ब्रह्म को अपना लेने का उपदेश दे रहे हैं। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि ये उद्धव निर्गुण-ब्रह्म का उपदेश देकर युवतियो को उनके प्रियतम के वियोग का दुःख देते फिर रहे है।

अपना यह काम उद्धव अपने उपदेश रूपी वाणो से कर रहे हैं, जिसके कारण इसका शरीर काला पड गया है—अब इनके पास इन उपदेश रूपी वाणो के समूह के अतिरिक्त किसी को देने के लिए कुछ नही रहा। इन्हे इन वाणो से प्रहार करने मे भय नही लगता, वस्तुतः ये स्वय को अब अजेय समझते हैं। किसी ने उचित ही कहा है जिसका जैसा स्वभाव बन गया, अथवा जिसका स्वभाव प्राणो मे समा जाता है, वह व्यक्ति अपने स्वभावानुसार कार्यरत रहता है और उसके सम्पन्न करते समय उसे भले-बुरे का विवेक नही रहता। वह यह विचार करता ही नही कि इससे उसे लाभ होने वाला है, या हानि। जैसे सर्प का स्वभाव दूसरो को काटने का होता

है, वह काट कर भाग जाता है किन्तु क्या ऐसा करने मे उसके मुख मे अमृत पड जाता है ? नही यह बात नही है। वस्तुतः दूसरो को डसना उसका स्वभाव बन गया है, इसलिए वह अपनी प्रकृति अनुसार कार्य करता है और हानि-लाभ का विचार नही करता, चाहे इससे दूसरो के प्राण ही क्यों न चले जाय।

उद्धव का स्वभाव भी इसी प्रकार की क्रूरता लिये हुए है। इन्होने हम दुर्बल नारियो को प्रियतम कृष्ण के वियोग मे अवश्य व्यथित करना है, जबकि यह तय है कि इससे इन्हे कोई लाभ होने वाला नही।

विशेष—(१) सम्पूर्ण पद मे व्यंग्य की छटा दर्शनीय है। गोपियाँ उद्धव को सर्प के समान क्रूर सिद्ध करती हुई उन पर व्यग्य कर रही है।

(२) 'आवहु री ··· ··· टीको'—का काकुवक्रोक्ति से यह भी अर्थ निकल सकता है कि तुम लोग उद्धव की बाते सुन कर और उन पर आचरण करके इस यश की अधिकारिणी मत बन जाना कि तुमने प्रियतम कृष्ण को त्याग नीरस निर्गुण ब्रह्म को स्वीकार कर लिया है।

अलंकार—(१) 'देन ··· ··· टीको'—विपरीत लक्षण।
(२) 'मेरे जान ······पी को'—उत्प्रेक्षा।
(३) 'व्याल डसि ··· ··· अमी को' --दृष्टान्त।

प्रीत करि दीन्हीं गरे छुरी।
जैसे बधिक चुगाय कपट कन पाछे करत बुरी॥
मुरली मधुर चेप कर कॉपो मोरचद्र ठटवारी।
बक बिलोकनि लूक लागि बस सकी न तनहिं सम्हारी॥
तलफत छांडि चले मधुबन को फिरि कै लई न सार।
सूरदास वा कलप-तरोवर फेरि न बैठि डार॥७५॥

शब्दार्थ—कन=अनाज के दाने। बुरी=बुराई बुरी दशा। कापी=कम्पा, नोक पर लासा लगा हुआ चिड़ियो को चिपका कर पकड़ने वाला बांस। टटवारी=टटिया। लूक=आग। सार=खबर, समाचार। कलप-तरोवर=कल्प वृक्ष।

प्रसंग—प्रस्तुत पद मे गोपियाँ कृष्ण के प्रेम को कपटपूर्ण व्यवहार घोषित करती है। कृष्ण ने पहले तो गोपियो के प्रति अपना प्रगाढ़ प्रेम प्रकट

किया किन्तु एक दिन आकस्मिक रूप से उन लोगों को त्यागकर मथुरा चले गए तथा आज उद्धव के हाथो निर्गुण-ब्रह्म को अपना लेने का सन्देश भेज रहे हैं। इस प्रकार कृष्ण ने गोपियो से विश्वासघात किया है।

व्याख्या—हे उद्धव ! कृष्ण ने हमारे प्रति अपना प्रेम प्रदर्शित करके अन्तत हमारे गले पर छुरी चला दी है, और इस प्रकार हमारी भावनाओ की जीते-जी हत्या कर डाली है। उन्होने हमारे साथ इस प्रकार का व्यवहार किया है जैसा बहेलिया पक्षियो के साथ उन्हे पकडने के लिए करता है। बहेलिया सबसे पहले पक्षियो को चुगने के लिए कपटपूर्ण अनाज के दाने डालता है और जब दाने के लालच मे वह उसके जाल मे फँस जाते है तो उनकी अत्यन्त बुरी गत बनाता है। कृष्ण ने भी हमे पहले झूठा प्रेम दर्शा कर अपने कपट-जाल मे फाँस लिया और फिर हमे वियोग पीडा मे तडपता हुआ छोडकर स्वय मथुरा जा बैठे और अब तुम्हारे हाथो निर्गुण-ब्रह्म-सम्बन्धी सन्देश भेज कर मर्मान्तक पीडा पहुँचा रहे है। कृष्ण ने मुरली के मधुर स्वर रूपी लासा को अपने हाथ रूपी बाँस पर लगा कर कम्पा बनाया, तत्पश्चात् मोर पख के मुकुट रूपी टटिया की आड मे छिप कर हम गोपियो रूपी चिडियो को अपने प्रेमजाल मे फाँस लिया। और फिर हमे अपनी तिरछी चितवनरूपी ज्वाला मे जलने के लिये छोड दिया। इस प्रेम की ज्वाला मे हमारा सब-कुछ होम हो गया, हम अपने शरीर को भी बचाने मे सफल न हो सकी अर्थात् तन-मन से कृष्ण के प्रेम-जाल मे फस कर उस कपटी बहेलिये के पूर्णरूप से वश मे हो गई।

फिर जिह प्रकार बहेलिया पक्षियो को तडपा-तडपा कर आग मे भूनता है और फिर उनका भक्षण करता है, उसी प्रकार कृष्ण भी वियोगाग्नि मे तडपने के लिये हमे छोडकर स्वय मथुरा के लिए प्रस्थान कर गये और न कभी स्वयं ही लौटे और न कभी कोई शुभ-समाचार ही भेजा और न ही कभी कोई खोज-खबर ली। इसके पश्चात् हम फिर कभी उस कृष्ण रूपी कल्प-वृक्ष की डाल पर बैठ कर आनन्द का उपभोग न कर सकी। अब हम आश्रयहीन पक्षियो के समान भटकती रहती है, अब हमे सम्पूर्ण मनोकामनाओ को पूरा करने वाले कृष्ण रूपी कल्पवृक्ष की छाया उपलब्ध नही होती।

विशेष—(१) प्रस्तुत पद मे बहेलियो, के रूप मे कृष्ण के छलपूर्ण

व्यवहार की निन्दा की गई है। व्यग्य के स्थान पर इसमे दैन्यमिश्रित उपालम्भ है। दैन्य सचारी भाव के रूप मे प्रस्तुत हुआ है, उसके साथ भर्त्सना भी है।

(२) कृष्ण के विश्वासघात, निष्ठुरता के साथ उनके प्रति गोपियो के असीम अनुराग का मार्मिक चित्र प्रस्तुत हुआ है। कृष्ण गोपियो के लिए कल्पतरु के समान सम्पूर्ण मनोकामनाएँ पूर्ण करने वाले है।

अलकार—(१) सम्पूर्ण पद मे उपमा से संम्पुष्ट साँगरूपक।

(२) प्रथम पंक्ति मे उपमा।

कोउ ब्रज बाँचत नाहिंन पाती।
कत लिखि लिखि पठवत नंदनदन कठिन बिरह की काती॥
नयन, सजल, कागद अति कोमल, कर अंगुरी अति ताती।
परसत जरै, बिलोकत भीजै दुहूँ भाँति दुख छाती॥
क्यों समुझै ये अंक सूर सुनु कठिन मदन-सर-घाती।
देखे जियहि स्यामसुंदर के रहहिं चरन दिनराती॥७६॥

शब्दार्थ—कोउ=कोई। बाँचत=बाँचता, पढता। पाती=पत्री, चिठ्ठी, पत्र। काती=छुरी। ताती=गर्म। परसत=स्पर्श करते ही। अक=अक्षर। मदन-सर-घाती=कामदेव के बाणो के समान घातक।

प्रसग—कृष्ण द्वारा भेजी हुई चिट्ठी को पहले तो गोपियाँ पढने के लिए व्याकुल हो रही थी। किन्तु उसमे योग का सन्देश होने के कारण अब उसे पढना नही चाहती।

व्याख्या—इस ब्रज मे कोई भी कृष्ण द्वारा भेजे हुए पत्र को नही पढ़ना चाहता। न जाने क्यो नन्दनन्दन कृष्ण हमारी इस वियोगावस्था मे इस प्रकार की कठोर एव छुरी के समान प्राणघातक चिठ्ठियाँ लिख कर हमे और भी दुखी कर रहे है? इस पत्र का पढना हमारे लिए सम्भव नही हो पा रहा क्योकि इसके लिए प्रयुक्त कागज अत्यन्त कोमल है। हमारे नेत्र आँसुओ से भीगे हुए है और विरह की अग्नि मे जलते रहने के कारण हमारी उंगलियाँ गर्म है, इस प्रकार यदि हम इसे स्पर्श करती है तो इसके जल जाने का भय है, यदि पढने के लिए देखती है तो आँसू गिरने के कारण इसके भीग जाने का भय है। ... स्थितियो मे इसे न पढ पाने के कारण हमारे हृदय मे दुःख

हो रहा है। हे उद्धव ! सुनो ! हम कृष्ण द्वारा लिखे हुए इन अक्षरो को किस प्रकार समझें—ये तो हमे कामदेव के कठोर बाणो के समान अत्यधिक पीड़ा पहुँचा रहे हैं। अर्थात् अपने प्रियतम कृष्ण द्वारा लिखित इन अक्षरो को देखकर हमारे हृदय मे उनकी स्मृति हो आने से हमारे हृदय मे काम-भावना उत्पन्न हो जाती है, जिससे हमारी वेदना और भी बढ जाती है। हम तो श्यामसुन्दर कृष्ण को देखकर तथा दिवा-रात्रि उनके चरणो मे पडे रहकर ही जीवित रह सकती हैं। उनके बिना हमारा यह जीवन व्यर्थ है।

विशेष—(१) गोपियो की विरह-वेदना इस पद मे साकार हो उठी है, उनके लिए कृष्ण के बिना जीवन धारण किये रहना कठिन हो रहा है।

(२) 'काती', 'ताती'– ये दोनो शब्द लहदा भाषा से गृहित है और आज भी इसी रूप मे एव अर्थ मे वहाँ प्रचलित है जबकि व्रज में अब इनका प्रचलन नही रहा।

(३) 'नयन सजल— दुख छाती' मे अक्रमत्व दोष है।

अलंकार—(१) 'क्यो······घाती'—उपमा।

मुकुति आनि मदे मे मेली।
समूझि सगुन लै चलो न, ऊधो ! ये सब तुम्हरे पूँजि अकेली ॥
कै लै जाहु अनत ही बेंचन, कै लै जाहु जहाँ विष-बेली।
याहि लागि को मरै हमारे बृंदावन पायँन-तर पेली ॥
सीस धरे घर घर कत डोलत, एकमते सब भई सहेली।
सूर वहाँ गिरिधरन छबीलो जिनकी भुजा अस गहि मेली ॥७७॥

शब्दार्थ—मदे=सस्ता बाजार। अनत=अन्य किसी स्थान पर। विष-बेली=विष की बेल अर्थात् कुब्जा। मरै=जान खपाये। पाँयन-तर पेली=पाँवो के नीचे कुचल दिया जायेगा। अस=कन्धा। मेली=रख ली।

प्रसंग—गोपियाँ अपनी दैन्य-भावना, कातरता को त्याग कर पुनः उद्धव के योग-सन्देश पर व्यग्य-बाण छोडने के लिए तत्पर हो गई है।

व्याख्या—हे उद्धव ! तुमने निर्गुण-ब्रह्म से प्राप्त मुक्ति का सौदा यहाँ व्रज के सस्ते बाजार मे बेचने के लिए लाकर उतारा है किन्तु यहाँ इसका कोई ग्राहक या खरीदार तुम्हे नही मिलेगा। हमे लगता है कि तुम मथुरा से शुभ शगुन मे नही चले, इसलिए तुम्हारा सौदा यहाँ न बिक सकेगा। तुम्हारे पास

यही हो एकमात्र पूंजी है और यदि यह यहाँ न बिकी तो तुम्हें बडी हानि उठानी पडेगी, अतः तुम्हारे लिए यही उचित है कि इसे किसी अन्य स्थान पर बेचने के लिए ले जाओ (अथवा इसे वहाँ ले जाओ जहाँ वह बिष की बेल कुब्जा रहती है। वह तुम्हारी इस मुक्ति के महत्व को समझती है अतः तुम्हारे वहाँ पहुँचते ही वह तुरन्त इसे खरीद लेगी।

इसके लिए यहाँ व्रज मे कौन अपनी जान खपाता फिरे, अपनी मतिभ्रष्ट करे, यहाँ वृन्दावन में तो इसे पाँवो के तले कुचल दिया जायेगा, यहाँ इसके महत्व को कोई नहीं समझता, यह सभी के लिए त्याज्य है। इसके बोझ को अपने सिर पर लेकर तुम व्यर्थ ही घर-घर घूम रहे हो और इसे बेचने का प्रयत्न कर रहे हो। वस्तुत· हम सब सहेलियाँ एकमत हो गई है और हमने मिल कर इसे न खरीदने का फैसला किया हैं। इस मुक्ति की तो भोग मे पडे हुए लोगो को आवश्यकता है, हम तो पहले ही कृष्ण के विरह मे सतप्त है। वह अद्भुत छैल-छबीले, रंगीले गोवर्धनधारी कृष्ण वही मथुरा मे है और उनकी भुजाओ को कुब्जा ने पकड़ कर अपने कन्धे पर रख लिया है—वे दोनों परस्पर रगरेलियाँ मना रहे हैं, वे दोनो भोगी हैं, सम्भवतः तुम्हारी गुहार सुनकर उनके मन मे विरक्ति की भावना उत्पन्न हो जाए और वह तुम्हारी इस मुक्ति को खरीद ले।

विशेष—(१) प्रस्तुत पद में गोपियाँ कृष्ण और कुब्जा पर गहरा व्यग्य कर रही हैं क्योकि वे दोनो स्वय तो भोग-विलास में डूबे हुए है और उन्हे योग का सन्देश भेज दिया है।

(२) गोपियाँ मुक्ति को प्रेम की तुलना मे हेय और तिरस्कृत घोषित करती हुई अनुराग की महत्ता पर बल देती है।

(३) 'विष-बेली'—वस्तुतः गोपियो को सन्देह है कि उद्धव का लाया हुआ सन्देश कुब्जा ने ही भेजा है, इसी कारण वह उसे सारे फसाद की जड समझती हैं।

(४) अन्तिम पक्ति मे 'गिरिधरन' के स्थान पर 'गिरिधर न' पाठ शुद्ध एव युक्तियुक्त प्रतीत होता है। उस स्थिति मे इस पक्ति का अर्थ होगा—यदि हम तुम्हारी मुक्ति ग्रहण कर लेती है तो हमें गिरिवरधारी कृष्ण नही मिलेगे जिनकी भुजाओ को हम अपने कन्धे पर रख कर उनके आलिंगन का

सुख प्राप्त करती थी।

हम, अलि, गोकुलनाथ अराध्यो।
मन वच क्रम हरि सों धरि पतिव्रत प्रेमयोग-तप साध्यो॥
मातु-पिता-हित-प्रीति निगम-पथ तजि दुख सुख-भ्रम नाख्यो।
मानऽपमान परम परितोषी अस्थिर थित मन राख्यो॥
सकुचासन, कुलसील परस करि, जगतबंद्य करि बंदन।
मानऽपवाद पवन-अवरोधन हित-क्रम काम-निकंदन॥
गुरुजन-कानि अगिनि चहुँदिसि, नभ-तरनि-ताप बिनु देखे।
पिवत धूम-उपहास जहां तहँ, अपजस श्रवन अलेखे॥
सहज समाधि बिसारि वपु करी, निरखि निमेख न लागत।
परम ज्योति प्रतिअग-माधुरी धरत यहै निसि जागत॥
त्रिकुटी सँग भ्रूभग तराटक नैन नैन लगि लागे।
हँसन प्रकाम, सुमुख कुंडल मिलि चद्र सूर अनुरागे॥
मुरली अधर श्रवन धुनि मो सुनि अनहद सब्द प्रमाने।
बरसत रस रुचि-वचन-सग, सुख-पद-आनंद-समाने॥
मंत्र दियो मनजात भजन लगि, ज्ञान ध्यान हरि ही को।
सूर, कहौ गुरु कौन करै, अलि, कौन सुनै मत फीको ? ॥७८॥

शब्दार्थ—क्रम=कर्म। निगम पथ=स्त्रियों के लिए वेदों द्वारा निर्धारित मार्ग। नाख्यो=लांघा, पार किया। थित=स्थित, स्थिर। परस=स्पर्श। अवरोधन=रोक दिया है। काम-निकन्दन=काम भावना पर विजय प्राप्त कर ली है। कानि=लज्जा, मर्यादा। तरनि=सूर्य। वपु=शरीर। निमेख=निमिप पल। त्रिकुटी=त्रिकुटचक्र, दोनो भौहो के बीच का स्थल। तराटक=त्राटक, योग के छः कर्मों मे से एक, टकटकी बाँध कर किसी एक बिन्दु पर ध्यान केन्द्रित करना। मनजात=कामदेव। समाने=समा जाना, लीन हो जाना।

प्रसग—गोपियाँ कृष्ण के प्रति अपने प्रेम और आराधना को किसी भी योग-साधना से कम नही समझती। वह अपनी प्रेज-साधना को योगियो की योग-साधना के साथ तुलना करती हुई उद्धव से कहती हैं कि—

व्याख्या—हे भ्रमर ! हमने तो केवल गोकुलनाथ कृष्ण की आराधना

की है। हमने मनसा, वाचा, कर्मणा अर्थात् मन, वचन, एव कर्म से कृष्ण के प्रति पतिव्रत धर्म को धारण करते हुए प्रेम रूपी योग की साधना एवं तपस्या की है। जिस प्रकार एक योगी ससार के बन्धनो से स्वयं को मुक्त कर, सुख-दुःख के भ्रम से छुटकारा पाकर, समरसता की स्थिति को प्राप्त कर लेता है, उसी प्रकार हमने भी प्रेम-योग मे अपने माता-पिता तथा अन्य बन्धुओ एव हितैपियो के स्नेह को, वेदो एव शास्त्रो द्वारा निर्धारित पथ एव नारी सुलभ लोकलज्जा एव मर्यादा को त्याग कर सुख-दु ख तथा तज्जन्य भ्रम आदि तीनों सासारिक अवस्थाओं को पार कर लिया है और इस प्रकार अब हमे योगियो के समान ही समरसता की स्थिति प्राप्त हो गई है। हम मान एव अपमान—दोनो स्थितियो मे पूर्ण सन्तुष्ट रहती हैं, हमे अब ये दोनो अवस्थाए ही प्रेम-मार्ग से विचिलित नही कर पाती, हमने अपने अस्थिर एव चचल मन को कृष्ण-प्रेम मे इस प्रकार एकाग्र कर लिया है कि उस पर मानापमान अथवा सासारिक प्रलोभनो का कोई प्रभाव नही होता।

जिस प्रकार योगी आसन पर बैठ कर ध्यान करता है, जल को हाथ मे लेकर आचमन करता है और फिर संसार द्वारा पूज्य ब्रह्म की वन्दना करता है, उसी प्रकार हमने भी सकोच को अपना आसन बनाया है अर्थात् अब हम सारे ससार से विरक्त हो गई है और अपने प्रेम को केवल कृष्ण मे ही सीमित एवं सकुचित कर लिया है अर्थात् कुल की मर्यादा और नारी सुलभ सहज गुणशीलता का हमने आचमन कर लिया है अर्थात् हमने कुल की मर्यादा और शील की भावना को स्वय मे आत्मसात् कर लिया है और इस प्रकार अब हमारे लिए कुल-मर्यादा और शील की भावना का अस्तित्व ही नही रहा। इस स्थिति मे अर्थात् संकोचरूपी आसन पर बैठ कर, कुल-मर्यादा एव शील की भावना का आचमन करके हम ससार द्वारा पूज्य श्रीकृष्ण की वन्दना करती रहती हैं। जिस प्रकार योगी प्राणायाम द्वारा कामभावना को पूर्णतया नष्ट कर देता है, उसी प्रकार हम भी मानापमान—प्रशसा एवं बुराई की भावना को सर्वदा त्याग चुकी है तथा इन्ही के द्वारा ही हमने काम-वासना पर विजय प्र प्त कर ली है।

जिस प्रकार योगी ब्रह्म प्राप्ति के लिए पचाग्नि मे तप कर साधना करते हैं, उसी प्रकार हम भी कृष्ण को प्राप्त करने के लिए तपस्या कर रही है।

इसके लिए हमने अपने चारो ओर गुरु-जनो की मर्यादा रूपी अग्नि प्रज्ज्वलित कर रखी है अर्थात् हम अपने गुरु जनो की मर्यादा का पूर्ण पालन करने के लिए कोई भी अमर्यादित—उच्छृखलता पूर्ण कार्य नही करती। जिस प्रकार योगी पाँचवी-अग्नि के रूप मे सूर्यताप को सहन करता है, उसी प्रकार हम भी कृष्ण की वियोगजन्य अग्नि के ताप को झेल रही हैं। जिस प्रकार योगी पचाग्नि से उत्पन्न धुएँ का पान करता है, उसी प्रकार हम भी संसार द्वारा किए गए उपहास रूपी कडवे धुएँ का पान कर रही हैं अर्थात् ससार के उपहास को सहन कर रही हैं। जिस प्रकार योगी अपने मन को पूर्णतः एकाग्र कर, अपनी श्रवण-शक्ति पर आधिपत्य पा लेता है और इस प्रकार किसी भी होने वाली ध्वनि से उसका ध्यान भग नही होता, उसी प्रकार हम भी ससार मे व्याप्त अपने अपयश को धैर्यपूर्वक सुनती हैं किन्तु उसकी अवहेलना नही करनी है, उससे प्रभावित हो दु ख अनुभव नही करती।

जिस प्रकार योगी अपने ध्यान को पूर्णतं ब्रह्म मे लीन कर सहज समाधि की अवस्था धारण कर लेता है उसी प्रकार हम भी अपने शरीर की समस्त सुधि खोकर कृष्ण ध्यान मे लीन है, हमारी पलकें टकटकी बाँधे है, पलभर को भी नही झपकती। जिस प्रकार योगी रात को जाग कर परम-ज्योति अर्थात् ब्रह्म के दर्शनो का आनन्द-लाभ उठाता है, उसी प्रकार हम भी रात-रात भर जागते हुए कृष्ण के प्रत्येक अग के सौन्दर्य एव रूप-माधुरी का स्मरण करती हैं और उनके दर्शनो का लाभ उठाती है। 'इस प्रकार हम योगियों के समान 'युज्जान-अवस्था' को पार कर 'मुक्तावस्था' को प्राप्त कर चुकी हैं। योगी त्रिकूट-चक्र मे अपने ध्यान को—अर्थात् अनिमेष रूप से अपनी दृष्टि को केन्द्रित कर लेते है, उनकी भाँति हम भी अपने ध्यान को कृष्ण के भ्रू-भंग पर केन्द्रित कर उनके भावो को जानने की चेष्टा करती रहती हैं। योगी इस स्थिति मे 'पूर्ण स्थिर' हो जाते है—इस अवस्था को 'त्राटक मुद्रा' धारण करना कहते हैं—जबकि हम अपने नेत्रो को प्रियतम कृष्ण के नेत्रों से मिला कर उनकी ओर टकटकी बाँधे देखती रहती हैं—हमारी यह अवस्था पूर्ण स्थिर है और त्राटक मुद्रा के समान हैं।

जिस प्रकार योगी की कुण्डलिनी, इडा, पिंगला आदि नाडियों को भेदती हुई सुषुम्ना नाड़ी से होकर छः चक्रो को भेदती हुई ब्रह्मरन्ध्र में पहुँच जाती

है तथा इस स्थिति मे पहुँच कर साधक को परम-ज्योति के दर्शन होते है, यहाँ चन्द्र और सूर्य मिल कर एकाकार हो जाते है और परमज्योति का प्रकाश चारो ओर फैल कर सारे ससार को ज्योतिमान करता है, उसी प्रकार हम भी कृष्ण के सुन्दर एव शीतलतादायक मुखरूपी चन्द्र तथा कानो मे पडे कुण्डल रूपी सूर्य के सम्मिलित प्रकाश से युक्त कृष्ण के शोभायमान मुख पर परम ज्योति के समान व्याप्त मुस्कान के दर्शन करती है और इस प्रकार स्वयं को धन्य मानती है। योगी सहज समाधि में स्थित अहनद-नाद का श्रवण करता है, उसी के समान हम भी कृष्ण के सुशोभित अधरो पर स्थित मुरली की मधुर तान को सुनती है। योगी अपनी जिह्वा को उलट कर ब्रह्मरन्ध्र से प्रवाहित अमृत रस का पान करके आनन्द अनुभव करता है, जबकि हमे कृष्ण के प्रिय एव मधुर बोलो को सुन कर अमृतरस के समान आनन्द मिलता है। योगी इस अवस्था मे पहुँच कर पूर्ण रसलीन हो जाता है जबकि हम कृष्ण के साथ रासरग, क्रीड़ा-विहार मे पूर्ण सुख का अनुभव करते हुए रसलीन हो जाती है और हमे संसार की सुधि नही रहती।

योगी किसी गुरु से मत्र प्राप्त कर योग-साधना की ओर प्रवृत्त होता है और ब्रह्म मे ध्यान लगाता है, उसी भाँति हमने भी कामदेव रूपी गुरु से कृष्ण-प्रेम रूपी मन्त्र ग्रहण किया है और निरन्तर कृष्ण के ध्यान मे खोई रहती है। अत हे भ्रमर ! अब तुम्ही यह बताओ इस स्थिति मे हम किसी अन्य को किस प्रकार अपना गुरु धारण कर ले ? अर्थात् अब हम तुम्हे अपना गुरु धारण करके योग-मार्ग की दीक्षा लेने मे असमर्थ है। इसी कारण हम तुम्हारे इस नीरस योग-सिद्धान्त को सुनना नही चाहती।

विशेष—प्रस्तुत पद मे योग सम्बन्धी कठिन पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग करके इसे जन-साधारण के लिए दुर्गम बना दिया गया है। अत इसे श्रेष्ठ काव्य की सज्ञा नही दी जा सकती।

अलंकार—(१) सम्पूर्ण पद मे सागरूपक।
(२) 'सूर, कहौ···फीको···' व्यतिरेक।

कहिबे जोय न कछु सक राखो।
लावा मेलि दए है तुमको बकत रहौ दिन आखो॥

जाकी बात कहौ तुम हमसों सो धौं कहौ को काँधी।
तेरो कहो सो पवन भूस भयो, बहो जात ज्यों आंधी ॥
कत श्रम करत, सुनत काह्मा है, होत जो वन को रोयो।
सूर इते पै समुभत नाहीं, निपट दई को खोयो ॥७६॥

शब्दार्थ—सक=शक, सन्देह। लावा मेलि दए=जादू का टोना करके पागल कर देना। आखो=पूरा, सारा। काँधी=स्वीकार की, अगीकार की। दई को खोयो=नासमझ, गया बीता।

प्रसंग—गोपियो के अनेक प्रकार से समझाने-बुझाने और विरोध करने पर भी उद्धव अपनी ज्ञान चर्चा बन्द नही करते, इस पर गोपियाँ खीझ उठती है। उनकी यही खीझ प्रस्तुत पद मे व्यक्त हुई है।

व्याख्या—हे उद्धव ! तुमने जो कुछ कहना है, कह डालो, तनिक भी सकोच न करो। ऐसा प्रतीत होता है कि किसी ने तुम पर जादू-टोना करके तुम्हें पागल बना दिया है, इसी कारण तुम सारा दिन बकते रहते हो। तुम हमसे जिस ब्रह्म को स्वीकार कर लेने की बाते कर रहे हो, क्या उसे पहले भी किसी ने स्वीकार या अगीकार किया है ? अब तक निर्गुण ब्रह्म के सम्बन्ध में जो कुछ भी तुमने कहा है, वह यहाँ ऐसे विलीन हो गया है जैसे आँधी भूसे को उडा कर ले जाती है और उसका निशान-मात्र भी नही रहता—अर्थात् यहाँ तुम्हारे निर्गुण ब्रह्म सम्बन्धी उपदेश का किसी पर भी रचमात्र प्रभाव नहीं पडा। तुम अपनी बातो को कहने मे व्यर्थ इतना श्रम कर रहे हो, यहाँ इस पर कोई ध्यान देने और आचरण करने वाला नही। यहाँ तुम्हारा यह उपदेश उसी प्रकार व्यर्थ है जिस प्रकार निर्जन वन मे किसी विपत्तिग्रस्त व्यक्ति का सहायता के लिए चिल्लाना क्योंकि वहाँ उसकी सहायता करने कोई नही आने वाला। हमे इस बात का अत्यन्त खेद है कि तुम्हे इतना समझाने पर भी तुम समझ नही पा रहे, तुम तो निरे मूर्ख हो।

विशेष—(१) सम्पूर्ण पद मे व्यग्य की छटा दर्शनीय है।

(२) 'आखो'—गुजराती शब्द है जिसका अर्थ है, पूरा, सारा।

(३) 'बकत रहौ दिन आखो', इस पक्ति से यह ध्वनि निकलती है कि गोपियों के लिए उद्धव के ब्रह्म-ज्ञान सम्बन्धी समस्त उपदेश पागलों के प्रभाव के समान अनर्गल, व्यर्थ एव मूर्खतापूर्ण हैं।

अब नीके कै समुझि परी।
जिन लगि हुती बहुत उर आसा सोऊ बात निबरी ॥
वै सुफलकसुत, ये सखि ! ऊधो मिली एक परिपाटी।
उन तो वह कीन्ही तब हमसों, ये रतन छँड़ाई गहावत माटी ॥
ऊपर मृदु भीतर तें कुलिस सम, देखत के अति भोरे।
जोइ जोइ आवत वा मथुरा तें एक डार के से तोरे ॥
यह सखि, मै पहिले कहि राखी असित न अपने होंहीं।
सूर कोटि जौं माथो दीजै चलत आपनी गौ हीं ॥८०॥

शब्दार्थ—नीके कै=भलीभाँति। हुती=थी। निबरी=समाप्त हो गई। परिपाटी=परम्परा। सुफलकसुत=अक्रूर जी। गहावत=ग्रहण करने को कहते है। माटी=धूल के समान व्यर्थ निर्गुणोपदेश। रतन=रत्नो के समान कृष्ण-प्रेम। छँड़ाइ=छुड़ा कर, छीन कर। कुलिस=वज्र के समान कठोर। असित=श्यामवर्णीय। माथो दीजै=सिर फोडे, प्रणाम करे। गौं=गैल, रास्ता।

प्रसग—उद्धव के व्रज आगमन के समय गोपियो को कृष्ण की ओर से शुभ-सन्देश की अपेक्षा की थी। किन्तु उद्धव के निर्गुण-ब्रह्म के उपदेश को सुन कर वे निराश हो गई और उद्धव को खरी-खोटी सुनाने को तत्पर हो उठी।

व्याख्या—अब उद्धव के व्रज पधारने का मूल उद्देश्य हमारी समझ मे भली-भाँति आ गया है। इनके दर्शन करके हमारे मन मे यह आशा उठी थी कि अब हमे कृष्ण के शीघ्र लौटने का सन्देश प्राप्त होगा। किन्तु अब वह सब कुछ समाप्त हो गया है। हे सखी ! वह अक्रूर और यह उद्धव—ये दोनो एक ही परम्परा से सम्बद्ध है—दोनो का एक ही उद्देश्य को लेकर व्रज आगमन हुआ था। वह कृष्ण को हम से छीन कर ले गए थे, यह उनकी स्मृति को हम से छीनने आए है। अक्रूर शीघ्र ही कृष्ण को व्रज लौटा जाने का आश्वासन देकर उन्हे यहाँ से ले गए और वह फिर कभी न लौटे, अब यह उद्धव कृष्ण की स्मृति रूपी अमूल्य रत्न को हम से छीनकर प्रतिकार मे धूल के समान व्यर्थ निर्गुण-ब्रह्म को हम पर थोपना चाहते है। ये लोग ऊपर से मृदुभाषी और कोमल-हृदय प्रतीत होते है किन्तु इनके हृदय भीतर से पत्थर से भी कठोर है

और उनमे कपट भरा हुआ है। ये वस्तुतः कृष्ण के समान कठोर और छली है।

वह मथुरा वस्तुतः कपट की नगरी है, वहाँ से जो भी आते है, सभी एक ही डाली से तोडे हुए फलो के समान कपटपूर्ण व्यवहार मे दक्ष है। हे सखी! मैंने तो पहले ही कह रखा था ये श्याम-वर्णी कपटी होते है—ये अपने नही हो सकते, और न ही इन पर विश्वास किया जा सकता है। तुम इनके साथ लाख सिर फोडो, माथापच्ची करो किन्तु इनमे सुधार होना सम्भव नही, ये सदा अपनी ही चाल चलेगे। उचित बात इनकी समझ मे नही आने की।

विशेष—(१) गोपियो की दृष्टि मे श्यामवर्णी—कृष्ण, अक्रूर और उद्धव सब कपटी है, ऊपर से कोमल दिखाई देते हैं किन्तु है वस्तुत. कठोर।

(२) अन्तिम पक्ति का यह भी अर्थ हो सकता है कि तुम चाहे लाख बार इनके (उद्धव के) सम्मुख शीश झुकाओ, इन्हे प्रणाम करके सम्मानित करो किन्तु ये अपना कपटपूर्ण व्यवहार नही छोडेगे, सदा अपनी ही स्वार्थसिद्धि मे रत रहेगे।

(३) सम्पूर्ण पद मे व्यग्य की छटा दर्शनीय है।

मधुकर रह्यो जोग लौं नातो।
कतहि बकत बेकाम काज बिनु, होय न ह्याँ तें हातो॥
जब मिलि मिलि मधुपान कियो हो तब तू कहि धौं कहाँ तो।
तू आयो निगुन उपदेसन सो नहि हमै सुहातो॥
काँचे गुन लै तनु ज्यो बेधौ; लै बारिज को ताँतो।
मेरे जान गह्यो चाहत हौ फेरि कै मैगल मातो॥
यह लै देहु सूर के प्रभू को आयो जोग जहा तो।
जब चहिहैं तब माँगि पठैहै जो कोउ आवत-जातो॥८१॥

शब्दार्थ—लौं=तक। हातो=दूर, अलग। तो=था। गुन=धागा। ताँतो=तन्तु, रेशा। बारिज=कमल। मैगल=हाथी। मातो=मदमत्त। तो=से। आवत-जातो=मथुरा जी की ओर से आता-जाता हुआ व्यक्ति अर्थात् यात्री।

प्रसग—गोपियाँ उद्धव के ज्ञान-योग के सन्देश को बार-बार सुन कर खीझ उठती है और भ्रमर के माध्यम से उन्हे खूब फटकारती है।

व्याख्या—हे भ्रमर ! यदि हम एक बार यह स्वीकार कर ले कि कृष्ण ने तुम्हारे द्वारा हमे यह योग-सन्देश भेजा है तो क्या उनसे हमारा सम्बन्ध योग तक ही सीमित है ? तुम्हे तो वास्तविकता का ज्ञान नही, इसी कारण तुम व्यर्थ ही बिना काम के बकते चले जा रहे हो । तुम यहाँ हमे क्यो और भी दुखी कर रहे हो, यहाँ से कही दूर जाकर हमारी नजरो से ओझल क्यो नही होते । उस समय तुम कहाँ थे जब कृष्ण हमारे साथ प्रेम-क्रीड़ाएँ करते समय हमारे अधरो का रसपान किया करते थे ? हम उन मधुर क्षणो की स्मृति मे इस प्रकार डूबी हुई है कि तुम्हारे द्वारा लाया यह निर्गुण ब्रह्म सम्बन्धी उपदेश हमारे लिए स्वीकार करना उसी प्रकार असम्भव है जिस प्रकार कच्चा धागा अर्थात् सूत का डोरा लेकर शरीर को बाँधने का प्रयत्न असम्भव है । क्योकि कच्चा धागा कमजोर होता है, उसके तुरन्त टूट जाने के कारण उसे शरीर मे बाँधा नही जा सकता । तुम्हारा निर्गुण-ब्रह्म को स्वीकार कराने का प्रयत्न वैसा ही व्यर्थ है जैसा कमल के कोमल तन्तुओ द्वारा एक मदमस्त हाथी को बाँध कर अपने वश मे करने का प्रयत्न व्यर्थ है ।

अतः तुम्हारे लिए यही उचित है कि तुम इसे वही ले जाओ जहाँ से लाए हो, अर्थात् इसे कृष्ण के पास ले जाओ और उन्हे लौटा दो, वह दिवारात्रि कुब्जा के साथ भोग-विलास मे निमग्न रहते हैं, उन्हे ही इसकी आवश्यकता है और वही इसका उचित उपयोग कर सकेगे । जब हमे इस योग एव निर्गुण-ब्रह्म की आवश्यकता अनुभव होगी हम किसी मथुरा जाने-आने वाले यात्री के द्वारा इसे मँगा लेगी ।

विशेष— गोपियाँ किसी प्रकार उद्धव से तथा उनके निर्गुण-ब्रह्म से पीछा छुड़ाना चाहती है, इसलिए वे उन्हे आश्वासन दे रही है कि वह इसे मथुरा ले जाएँ, जब उन्हें आवश्यकता पडेगी, वे मगा लेगी । उनकी यह व्यग्योक्ति अत्यन्त कलात्मक बन पडी है ।

अलकार—(१) सम्पूर्ण पद मे उपमा ।

(२) 'काँचे…मातो…' निदर्शना ।

मोहन माँग्यो अपनो रूप ।
या ब्रज बसत अँचै तुम बैठीं, ता बिनु तहाँ निरूप ।।

मेरो मन, मेरो अलि ! लोचन लै जो गए धुपधूप ।
हमसों बदलो लेन उठि धाए मनो धारि कर सूप ॥
अपनो काज सँवारि सूर, सुनु, हमहिं बतावत कूप ।
लेवा-देइ बराबर में है, कौन रंक को भूप ॥८२॥

शब्दार्थ—अचे=आचमन कर बैठी । निरूप=रूपहीन, निराकार । धुपधूप=दिन दहाडे । सँवारि=सवार कर, बना कर । लेवा-देइ=लेन-देन । रक=निर्धन, गरीब ।

प्रसग—उद्धव बार-बार निर्गुण-निराकार ब्रह्म की रट लगाए रहते हैं । इस पर एक गोपी प्रकारान्तर से राधा के कृष्ण-प्रेम की प्रशसा करती हुई राधा से कहती है कि मोहन ने उसका रूप मँगा भेजा है ।

व्याख्या—हे सखी राधा ! मोहन ने उद्धव द्वारा तुमसे वह रूप मँगा भेजा है जिसे तुमने उनके यहाँ ब्रज मे रहते समय स्वयं मे आत्मसात कर लिया था । उनका वह रूप अभी भी तो तुम्हारे पास है और कृष्ण उस रूप के बिना वहाँ मथुरा मे निराकार बने हुए है । तभी तो उन्होने हमसे निर्गुण-ब्रह्म को अपना लेने का सन्देश भेजा है जिससे तुम उन्हे छोड कर निराकार ब्रह्म की प्रार्थना करो और उन्हे अपना रूप प्राप्त हो सके ।

अब राधा इस गोपी की बात का उत्तर देती हुई कहती है कि हे सखी ! यदि वह अपना रूप मुझ से वापिस माँगते हैं तो मेरा मन जो वह दिन-दहाड़े अपनी बाँकी चितवन द्वारा चुरा कर ले गए थे, मेरा अपना है । वह पहले मेरा मन तो मुझे लौटाये । यह तो न्यायोचित नही कि वह अपनी वस्तु तो लौटाने को कहते है और दूसरे की वस्तु फेरना नही चाहते ।

उनसे बढ़ कर एक यह उद्धव है जो दाल-पानी लेकर यहाँ आ गए है और बदला लेने के लिए हमारे पीछे पड गए है । अर्थात् यह उद्धव भी एक ही है—हमारी वस्तु लौटवाने का नाम नही लेते और कृष्ण का रूप वापिस लेने के लिए भागे चले आए हैं । इस प्रकार यह उद्धव अपना काम तो बना लेना चाहते हैं और हमे निर्गुण-ब्रह्म की उपासना का उपदेश देकर कुए मे धकेल रहे हैं । वस्तुत सच तो यह है कि लेन-देन मे तो समानता का व्यवहार चलता है, उसमे बडा-छोटा कोई नही होता और न ही राजा एव रंक का मतभेद होता है, अत. न्यायोचित यही है कि यदि कृष्ण ने अपना रूप वापिस लेना है तो

पहले वह हमारा मन लौटा दे।

विशेष—(१) 'हम सों......कर सूप'—सूप हाथ में लेकर किसी के पीछे पड़ जाना एक ग्रामीण मुहावरा है जिसका अर्थ है—हाथ धोकर किसी के पीछे पड़ जाना।

(२) 'बतावत कूप'—यह भी एक मुहावरा है जिसका अर्थ है कि हमारी ओर से चाहे तुम कुए मे पडो, हमें इससे कोई सरोकार नही।

(३) इस पद मे राधा द्वारा कृष्ण का रूप आत्मसात् कर लेने मे गर्व नामक संचारी भाव है।

(४) मुहावरों एव लोकोक्तियो के प्रयोग से भाषा की व्यजना-शक्ति मे वृद्धि हुई है।

अलंकार—(१) 'मनो...सूप'—व्यग्योक्ति।

(२) 'या...निरूप'—उत्प्रेक्षा।

(३) सम्पूर्ण पद में परिवृत्ति अथवा विनिमय अलकार।

हरि सों भलो सो पति सीता को।
बन बन खोजत फिरे बंधु-सँग, कियो सिंधु बीता को॥
रावन मारयो, लंका जारी, मुख देख्यो भीता को।
दूत हाथ उन्हे लिखि न पठायो निगम-ज्ञान गीता को॥
अब धौं कहा परेखो कीजै कुबजा के मीता को।
जैसे चढ़त सबै सुधि भूली, ज्यो पीता चीता को?
कीन्ही कृपा जोग लिखि पठयो, निरखु पत्र री! ताको।
सूरदास प्रेम कह जानै लोभी नवनीता को॥८३॥

शब्दार्थ—भलो=अच्छा। बीता=बालिश्त। भीता=भयभीत। मीता=मित्र, स्नेही। पीता=मदिरा पीने वाला। चीता=चैतन्य हुआ। ताको=उनका। नवनीता=मक्खन।

गोपियो को निर्गुण-ब्रह्म को अपना लेने की वात कही है। राम और कृष्ण के इन व्यवहार-भेद की चर्चा करते हुए राधा अपनी एक सखी से कहती है—

व्याख्या—कृष्ण से कही अधिक भले और अच्छे तो सीता के पति राम थे। सीता का हरण हो जाने पर उन्हे राम ने छोटे भाई लक्ष्मण के साथ वन-वन ढूंढा था। जब उन्हे सूचना मिली कि सीता समुद्र पार लका मे हैं तो उन्होने अपने अथक परिश्रम से सिन्धु पर पुल बाँधा और उसे इस प्रकार पार कर गए जैसे वह बालिश्त भर चौड़ी पानी की नाली हो। उन्होने महान् पराक्रम प्रदर्शित करते हुए रावण का वध किया। लका को तहस-नहस कर डाला और अन्त मे रावण के त्रास से सतप्त एव भयभीत अपनी प्रिया सीता के दर्शन किए और उन्हे त्रासमुक्त किया। राम ने हमारे इन कृष्ण के समान अपने दूत द्वारा सीता के पास शास्त्रीय ज्ञान और गीता के उपदेश का सन्देश नही भेजा था अपितु राम ने दूत हनुमान के हाथो सीता को यह सन्देश भेजा था कि वह धैर्य धारण करें, प्रभु को उनकी सुधि है, वह शीघ्र ही रावण का नाश करके उनके सताप को दूर करेगे।

हमारे कृष्ण तो कुब्जा के प्रेम मे निमग्न है, आज उसके मीत बने हुए हैं, उससे प्रभावित होकर उन्होने हमे योग का सन्देश लिख कर भेजा है, अत. ऐसे पराधीन व्यक्ति की वातो का क्या बुरा माने। कुब्जा के प्रेम मे मदमत्त हुए उनकी गति ही ऐसी है और आज वह हमे इस प्रकार विस्मृत कर बैठे हैं जिस प्रकार मदिरापान के उपरान्त मस्त शराबी अपनी चैतन्यता खो बैठता है और उसे अपने स्नेही जनो की स्मृति नही रहती।

हे सखी! उन्होने हम पर अत्यधिक कृपा की है जो योग का सन्देश लिखकर भेजा है, इस बहाने हमे स्मरण तो किया है। जरा इनके पत्र को तो देखो। जो केवल मक्खन मे ही रुचि रखता है, वह प्रेम के महत्व को किस प्रकार जान सकता है? मक्खन यूँ ही अनायास प्राप्त नही हो जाता उससे पूर्व दही बिलोना आदि अनेक क्रियाए सम्पन्न होने पर ही मक्खन प्राप्त हो सकता है, इसी भाँति नाना प्रकार के कष्टो को सहन कर, वियोग के ताप को बर्दाश्त करते हुए प्रेम जैसी 'स्निग्ध' एव 'सारभूत' वस्तु उपलब्ध होती है। कृष्ण इन क्रियाओ से नही गुजरे, इसी कारण वह प्रेम के महत्व को नही जानते, वह तो मक्खन के लोभी अर्थात् इन्द्रिय-सुख मे रुचि रखते हैं तभी तो

हमें यहाँ विलखता हुआ छोड़ कर वहाँ मथुरा मे कुब्जा के साथ भोग-आनन्द में निमग्न है।

विशेष—(१) प्रस्तुत पद में राम और कृष्ण के प्रिय-प्रेम का अत्यन्त प्रभावशाली एवं मनोवैज्ञानिक वर्णन प्रस्तुत किया गया है।

(२) अनेक चित्तवृत्तियो के संश्लिप्ट वर्णन द्वारा उपालम्भ का सुन्दर वर्णन प्रस्तुत किया गया है।

(३) इस पद मे असूया संचारी भाव का चित्रण हुआ है।

(४) 'जैसे चढ़त······चीता को' इस पक्ति मे कृष्ण के कुब्जा-प्रेम में निमग्नता की तुलना चैतन्यता खोए हुए शराबी से की गई है जिससे यह ध्वनि निकलती है कि जिस प्रकार शराबी नशे के प्रभाव तक ही अपने स्नेहीजनो की सुधि नही रखता उसी प्रकार कुब्जा के प्रेम मे पडे कृष्ण की विस्मृति भी अस्थायी है, वह शीघ्र ही इस स्थिति से उबरेंगे और हमारी सुधि लेंगे।

(५) 'कीह्नी······ताको' मे मधुर किन्तु तीखा व्यग्य है।

अलकार—(१) 'बन-बन'···पुनरुक्तिप्रकाश।

निरमोहिया सों प्रीति कीन्हीं काहे न दुख होय ?
कपट करि करि प्रीति कपटी लै गयो मन गोय ॥
काल मुख ते काढ़ि आनी बहुरि दीन्ही ढोय।
मेरे जिय की सोइ जानै जाहि बीती होय ॥
सोच, आँखि मँजीठ कीन्ही निपट काँची पोय।
सूर गोपी, मधुप आगे दरकि दीन्ही रोय ॥८४॥

शब्दार्थ—निरमोहिया=निर्मोही। गोय=चुरा कर, छिपा कर। बहुरि= फिर। ढोय=धकेल दिया। मजीठ=लाल। पोय=पकाना। दरकि=फूट-फूट कर।

प्रसंग—कृष्ण के उपेक्षापूर्ण व्यवहार पर गोपियो को मर्मान्तिक पीडा हो रही है। अपने प्रिय की उपेक्षा सदैव सहन नही होती। गोपियो को अब इस बात का खेद है कि उन्होने कृष्ण जैसे निर्मोही के साथ प्रेम ही क्यो किया। प्रस्तुत पद मे उनकी यही पीडा व्यक्त हुई है।

व्याख्या—प्रेम-भावना से रहित निर्मोही व्यक्ति से प्रेम करने पर क्यो न दुःख हो ? अर्थात् हमने निर्मोही कृष्ण से प्रेम किया जिससे अब हमे यह दुख

झेलना पड रहा है। वह कपटी था और हमारे प्रति ऊपरी कपटपूर्ण प्रेम रच कर अर्थात् थोथा प्रेम प्रदर्शित कर हमारे मन को चुपचाप चुरा कर अपने साथ ले गया। उद्धव के व्रज आगमन पर हमने समझा था कि अब हमारे दुख के दिन व्यतीत हो गए क्योंकि हमे आशा थी कि वह वियोग रूपी काल के मुख से हमारा उद्धार करने के लिए आए है अर्थात् वह कृष्ण के शीघ्र यहाँ पर आने का सन्देश लेकर आए है जिससे हमारा वियोग-सन्ताप दूर होगा किन्तु उन्होने उनके आने की आशा दिला कर क्षण भर के लिए जो हमे काल के मुखसे निकाला था, पुनः उसी मे धकेल दिया है अर्थात् हमे अपने को भूल जाने और निराकार-उपासना का सन्देश देकर मर्मान्तिक दुख दे रहे हैं। हमारे हृदय की इस मार्मिक वेदना को केवल वही अनुभव कर सकता है जिसने प्रिय-वियोग की वेदना को अनुभव किया हो। हमे इस बात का अत्यन्त खेद है कि कृष्ण के पूर्ण रूप से कच्चे अर्थात् ऊपरी प्रेम को हमने सच्चा परिपक्व समझा और हमने उनके वियोग मे रो-रोकर अपनी आँखें मजीठ के रंग की भाँति लाल कर ली है। अब हमारी आँखो की अवस्था ऐसी हो गई है जैसे गीली लकड़ियो को फूक-फूक कर जलाने और उन पर रोटियाँ सेकने से हो जाती है।

इस प्रकार कृष्ण की निर्मोहिता का वर्णन करते-करते उनकी निर्ममता तथा वियोगजन्य व्यथा के कारण वह फूट-फूट कर रो उठी।

विशेष—(१) अन्तिम पंक्ति मे गोपियो की समस्त वेदना साकार हो उठी है। इसमे गर्व एव उपालम्भ का भाव लगभग विलुप्त हो गया है तथा उसके स्थान पर विवशता तथा दैन्य का भाव व्यजित हुआ है।

(२) 'मेरे हिय की सोइ जानै जाहि बीता होय'—इस पक्ति से मिलता-जुलता भाव मीरा मे भी उपलब्ध होता है। देखिए निम्न पक्ति—

'घायल की गति घायल जानै, और न जानै कोय।'

अलंकार— प्रथम एवं पचम पक्ति मे लोकोक्ति।

बिन गोपाल बैरिन भई कुंजे।
तब ये लता लगति अति सीतल, अब भई विषम ज्वाल की पुंजे॥
वृथा बहति जमुना, खग बोलत, वृथा कमल फूलें, अलि गुंजे।
पवन पानि घनसार संजीवनि दधिसुत किरन भानु भई भुंजे॥

ए, ऊधो, कहियो माधव सो बिरह कदन करि मारत लुंजै।
सूरदास प्रभु को मग जोवत अँखियाँ भईं बरन ज्यों गुंजै ॥८५॥

शब्दार्थ—बिषम=भयानक। पुंजै=समूह। बृथा=व्यर्थ। अलि=भ्रमर। गुंजै=गुँजार करते हैं। पानि=जल। घनसार=कपूर। दधिसुत=चन्द्रमा। भानु=सूर्य। भुंजै=भूनती है। कदन=छुरी। लुंजै=लुंज-पुंज बना रही है। बरन=वर्ण, रंग। गुंजै=गुंजा।

प्रसग—यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि संयोग-काल मे सुखदायी वस्तुएँ वियोगावस्था मे विरह-जन्य पीड़ा को बढ़ाती है। प्रस्तुत पद मे गोपियो ने इसी मनोवैज्ञानिक तथ्य का उद्घाटन किया है कि वृन्दावन की कुँज गलियाँ गोपाल की अनुपस्थिति मे वैरिन हो गई है।

व्याख्या—कृष्ण की अनुपस्थिति मे अब वे सुखदायक कुंजें जिनमे हम उनके साथ क्रीड़ा-विहार करती थी, शत्रु के समान हमे पीड़ा पहुँचा रही है। जब कृष्ण यहाँ थे तब ये लतायें हमे अत्यन्त शीतलता प्रदान करती थी किन्तु अब उनके अभाव मे ये भयानक अग्नि-ज्वालाओ के समूह के समान दग्ध करने वाली बन गई हैं। अब यह यमुना व्यर्थ प्रवाहित होती है तथा पक्षी भी व्यर्थ ही चहचहा रहे है एव बोल रहे है। व्यर्थ ही कमल विकसित होते है तथा उन पर व्यर्थ ही भ्रमर गुंजार करते है। अर्थात् अब इन सबको देख कर हमे दुख होता है। ये सब बाते सुखदायी तभी थी जब कृष्ण यहाँ थे, अब हमारे लिए इनकी कोई उपयोगिता नही रही। संयोगावस्था मे वायु, जल, कपूर आदि हमे सजीवनी बूटी के समान जीवन-दायक प्रतीत होते थे किन्तु अब हमे विरह मे सतप्त करने वाले है। उस समय चन्द्रमा की किरणे सुख एव शान्तिदायक थी किन्तु अब ग्रीष्मकालीन सूर्य की तप्त किरणो के समान भूनने वाली बन गई है।

हे उद्धव! तुम माधव से जाकर यह कहना कि उनका विरह बधिक के समान हमे गोद-गोद कर हमारे अग-प्रत्यगो को क्षीण किए दे रहा है अर्थात् हमे मारे डाल रहा है। कृष्ण की बाट जोहती अर्थात् राह देखती हमारी अखियाँ गुंजा के समान लाल पड गई है।

विशेष—(१) इस पद मे प्रकृति के उद्दीपन रूप का चित्रण हुआ है। सयोगावस्था मे सुखदायक प्रकृति वियोगावस्था मे गोपियो के विरह को और भी उद्दीप्त कर रही है।

(२) किसी कवि ने इस सन्दर्भ मे कहा भी है कि संयोग मे जो सुखद था, वही वियोग मे दुखद हो गया है—

'जोइ जोइ सुखद, दुखद अब सोइ सोइ।'

(३) सीता हरण के उपरान्त विरही राम को भी प्रकृति की इस विषमता का अनुभव हुआ था—

'नवतरु किसलय मनहु कृषानू।
काल निसा सम निसि ससि भानू॥
जे हित रहे करत तेइ पीरा।
उरध स्वास सम त्रिविध सरीरा।'

अलंकार—(१) अतिशयोक्ति। (२) उपमा।

संदेसो कैसे कै अब कहौं ?
इन नैनन्ह या तन को पहरो कब लौं देति रहौं ?
जो कछु विचार होय उर-अंतर रचि पचि गोचि गहौं।
मुख आनत, ऊधो-तन चितवत न सो विचार, न हौं॥
अब सोई सिख देहु, सयानी ! जातें सखहि लहौं।
सूरदास प्रभु के सेवक सो विनती कै निवहौं॥८६॥

शब्दार्थ—कैसे कै=किस प्रकार। रचि-पचि=अच्छी तरह। तन=ओर। लहौं=प्राप्त करूं। निवहौं=निर्वाह करूं।

प्रसंग—कृष्ण के नैष्ठुर्य पर गोपियाँ सतप्त हैं, उन्हे अब इस बात की चिन्ता है कि योग का सन्देश भेजने वाले निष्ठुर प्रिय के पास वे अपना प्रेम-सन्देश किस प्रकार भेजें जबकि सन्देशवाहक उद्धव भी प्रेम-भावना से शून्य शुष्क-हृदय व्यक्ति है। एक गोपी अपने मन की इस दुविधा को दूसरी के सम्मुख व्यक्त करती हुई कहती है कि—

व्याख्या—हे सखी ! अब मैं अपना प्रेम सन्देश प्रियतम कृष्ण के पास किस प्रकार भेजूं ? मैं अपने इस शरीर पर अपने इन नेत्रो का पहरा किस प्रकार बैठाती रहूँ। मेरा शरीर कृष्ण के वियोग मे पहले ही क्षीण हो चुका है फिर योग के सन्देश को सुन कर यह मृत-प्राय हो गया है और प्राणो को छोड़ना चाहता है किन्तु मेरे नेत्रो को कृष्ण के दर्शनो की आशा है, इसलिए

ये शरीर पर पहरा लगाये हुए हैं ताकि यह प्राण न त्याग दे। यदि कभी मेरे हृदय मे कृष्ण को प्रेम-सन्देश भेजने की भावना उत्पन्न होती है तो मैं अत्यधिक सोच-विचार के उपरान्त मन मार कर चुप रह जाती हूँ, मेरे मन मे प्रेम-संदेश भेजने की दुविधा उत्पन्न हो जाती है क्योकि कृष्ण ने तो हमे योग का उपदेश लिख कर भेजा है उसके प्रत्युत्तर मे क्या हमारा प्रेम-सन्देश भेजना उचित हे ? फिर समस्त बल एकत्रित कर मै कुछ कहना चाहती हूँ, मेरे मन मे स्थित भावनाएँ वाणी का रूप धारण करना ही चाहती है कि उद्धव की ओर देखते ही न तो मेरे वे विचार ही स्थिर रह पाते है और न मैं ही। योग-सन्देश वाहक उद्धव को देखते ही मुझे उनके हृदयहीन मन का ध्यान आ जाता है जिससे मैं फिर सकोच वश मौन हो जाती हूँ। मेरे विचार पूर्णतया विलीन हो जाते हैं।

अत. हे चतुर सखी ! अब तू मुझे कोई ऐसी शिक्षा दे जिससे मैं अपने सखा एव प्रियतम कृष्ण को पुनः प्राप्त कर सकूँ। मेरा विवेक तो यह कहता है कि स्वामी कृष्ण के इस सखा—उद्धव से प्रार्थना करने से हमारा निर्वाह हो सकता है अर्थात् यदि इनकी हम पर कृपा हो जाय तो प्रियतम कृष्ण से हमारा मिलन सम्भव है क्योकि यदि हम इनसे प्रार्थना करके इन्हे मथुरा भेजे तो यह हमारी दीनावस्था पर तरस खाकर कृष्ण को यहाँ ला सकते है।

विशेष—(१) सम्पूर्ण पद मे गोपियो की असमजसता का अत्यन्त सुन्दर चित्रण प्रस्तुत हुआ है।

(२) अन्तिम पक्ति मे उद्धव की खुशामद करके गोपियो ने पुरानी कहावत को चरितार्थ किया है कि आवश्यकता के समय गधे को भी बाप बनाया जा सकता है। अब तक तो वे उन्हे जली-कटी सुनाती रही है किन्तु अब उनसे प्रार्थना कर रही है कि वे मथुरा से कृष्ण को लाकर उनके दर्शन कराएँ।

बहुरो ब्रज वह बात न चाली।
वह जो एक बार ऊधो कर कमलनयन पाती दै घाली।।
पथिक ! तिहारे पा लागति हौं मथुरा जाव जहाँ बनमाली।
करियो प्रगट पुकार द्वार ह्वै 'कालिदी' फिरि आयो काली।।
जबै कृपा जदुनाथ कि हम पै रही, सुरुचि जो प्रीति प्रतिपाली।

मांगत कुसुम देखि द्रुम ऊँचे, गोद पकरि लेते गहि डाली ॥
हम ऐसी उनके केतिक हैं अग-प्रसंग सुनहु री, आली !
सूरदास प्रभु प्रीति पुरातन सुमरि सुमरि राधा-उर साली ॥८७॥

शब्दार्थ—बहुरो=फिर कभी, पुनः। घाली=भेजी थी। काली=कालीनाग। केतिक=कितनी ही। अग-प्रसग=कथाएँ-उपकथाएँ। आली=सखी। साली=पीडा देने लगी।

प्रसग—उद्धव गोपियो का सन्देश लेकर मथुरा चले गये। उसके उपरान्त ब्रज मे कृष्ण का कोई सन्देश न मिला। इससे राधा अत्यधिक व्याकुल हो गई और उसने पथिक द्वारा कृष्ण के पास सन्देश भेजने का निर्णय किया।

व्याख्या—हे पथिक ! ब्रज मे फिर कभी योग-सन्देश तथा निर्गुण-ब्रह्म सम्बन्धी चर्चा जो एक बार उद्धव द्वारा कमलनयन कृष्ण ने अपनी चिट्ठी भेज कर आरम्भ की थी, नही चली। हे पथिक ! मैं अब तुम्हारे पाँव पड़ती हूँ कि तुम एक बार मथुरा चले जाओ जहाँ हमारे प्रियतम वनमाली कृष्ण का निवास है। वहाँ उनके द्वार पर पहुँच कर तुम ऊँचे स्वर मे यह पुकार लगाना कि यमुना नदी मे काली नाग ने फिर अपना डेरा जमा लिया है। सम्भवतः इससे कृष्ण के हृदय में हमारा प्रेम पुनः जाग उठे और वह ब्रज की रक्षा करने हेतु दौडते हुए चले आयें।

जब कृष्ण यहाँ थे, तो उनकी सदैव हम पर कृपा बनी रहती थी। उस समय वह हमारे प्रेम को सुरुचि के साथ स्वीकार करते थे तथा प्रतिदान मे भी प्रेम-प्रदर्शित करते थे। जब हम किसी ऊँचे वृक्ष पर लटकते हुए पुष्पो को पाने की इच्छा व्यक्त करती थी तो हमे गोद मे उठा कर डाली पकडा देते थे जिससे हम फूल तोड लेती थी। हमारे समान न जाने उनकी कितनी प्रियतमाएँ हैं। हे सखी ! हम तुम्हें उनकी ऐसी क्रीड़ाएँ एव प्रसग कहाँ तक सुनाएँ, कहाँ तक स्मरण दिलाएँ ? जब वह यहाँ थे तो इसी प्रकार हमारे साथ प्रेम-क्रीड़ाओ मे निमग्न रहते थे।

इस प्रकार राधाकृष्ण के प्राचीन प्रेम-भरे व्यवहारो को स्मरण करके अत्यन्त व्याकुल हो गई। ये स्मृतियाँ उसके पीडित हृदय को सालने लगी, व्यथित करने लगी।

विशेष—इस पद का महत्व केवल इतना है कि इसमे राधा मुखर हो

उठी है अन्यथा कथा-प्रवाह मे यह एक प्रक्षेप है क्योकि इसके उपरान्त उद्धव गोपी सवाद पूर्ववत् चलता रहता है जबकि इस पद से यह स्पष्ट होता है कि उद्धव मथुरा लौट गये है।

ऊधो ! क्यों राखौं ये नैन ?
सुमिरि सुमिरि गुन अधिक तपत है सुनत तिहारो बैन ॥
है जो मनोहर बदनचद के सादर कुमुद चकोर।
परम-तृषारत सजल स्यामघन के जो चातक मोर ॥
मधुप मराल चरनपकज के, गति बिलास-जल मीन।
चक्रवाक, मनिदुति दिनकर के, मृग मुरली आधीन ॥
सकल लोक सूनी लागतु है बिन देखे वा रूप।
सूरदास प्रभु नंदनंदन के नखसिख अग अनूप ॥८८॥

शब्दार्थ—राखौ=रोकूँ, समझाऊँ। मनोहर=मनोहर, मन को हरने वाले। बदनचद=चन्द्रमुख। तृषारत=प्यासे। मराल=हँस। दिनकर=सूर्य। सकल=सार। लोक=संसार।

प्रसग—गोपियो के नेत्र कृष्ण के वियोग मे अत्यधिक व्यथित है। गोपियाँ उन्हे कृष्ण का अनुरागी घोषित करते हुए कृष्ण के मन-मोहक रूप का वर्णन करती है जिसके बिना देखे समस्त ससार सूना है।

व्याख्या—हे उद्धव ! कृष्ण-वियोग मे हमारे ये नेत्र अति व्यथित हैं. हमारे लिए इनको समझा कर रखना भी एक समस्या बन गई है। हम इन्हे किस प्रकार सान्त्वना दे, हमारी समझ मे नही आता ? तुम्हारी निर्गुण-ब्रह्म सम्बन्धी बातो को सुन कर इन्हे कृष्ण के गुणो की स्मृति आ गई है जिससे ये अब अधिक दुख अनुभव कर रहे है। हमारे ये नेत्र हमारे मन के चोर कृष्ण के चन्द्र-सम सुन्दर मुख के प्रति अत्यन्त श्रद्धा एव अनुराग से भर कुमुदिनी और चकोर के समान उनके दर्शनो को लालायित रहते है। ये काले मेघ के समान कृष्ण के सुन्दर शरीर को देखने के लिए उसी प्रकार प्यास अनुभव करते हैं जिस प्रकार चातक एव मयूर।

हमारे ये नेत्र श्रीकृष्ण के कमल-चरणो के भ्रमर एव हस के समान उत्कट प्रेमी है। जिस प्रकार मीन केवल जल मे ही जीवित रह सकती है, उसी प्रकार हमारे ये नेत्र कृष्ण की मन्द-मथर चाल को देखकर जीवन पाते हैं।

ये उनके दर्शन पाकर उसी प्रकार आनन्दित होते है और आलोक से भर उठते है जिस प्रकार चकवा-चकवी और सूर्यकान्त मणि सूर्य के प्रकाश को देखकर आनन्द एव प्रकाश से आपूरित होते है। जिस प्रकार वधिक की मुरली की तान सुनकर मृग अपनी सुध-बुध खो बैठता है और उसके पास भागा चला आता है, उसी प्रकार ये कान भी कृष्ण की मुरली की मधुर ध्वनि को सुनकर उसके वशीभूत हो जाते है और अपनी सुधि खो बैठते है। इन नेत्रो को कृष्ण के उस मधुर रूप को देखे बिना सारा ससार सूना-सूना प्रतीत होता है। स्वामी श्रीकृष्ण के नख से लेकर शिख तक सारे अग-प्रत्यगो का सौन्दर्य विलक्षण है जिन्हे देखे बिना हमारे नेत्रो को चैन नही।

विशेष—कृष्ण के नख-शिख का अत्यन्त मनोहारी चित्रण प्रस्तुत किया गया है। गोपियो के नेत्र कृष्ण के इस विलक्षण स्वरूप के अनुरागी है, उसके बिना उनके लिये सारा ससार सूना है।

अलकार— रूपक।

सदेसनि मधुबन-कूप भरे।
जो कोउ पथिक गए हैं ह्याँ तें, फिरि नहिं अवन करे॥
कै वै स्याम सिखाय समोधे कै वै बीच मरे?
अपने नहिं पठवत नंदनदन हमरेउ फेरि धरे॥
मसि खूँटी कागद जल भीजे, सर दव लागि जरे।
पाती लिखे कहो क्यों करि जो पलक-कपाट अरे? ॥८९॥

शब्दार्थ—अवन करे=आए, लौटे। समोधे=समझा-बुझा दिये। मसि=स्याही। खूटी=चूक गई, समाप्त हो गई। सर=सरकडे। दव=दावाग्नि, वन मे लगने वाली आग। कपाट=द्वार, दरवाजा।

प्रसंग—गोपियो ने कृष्ण को अनेक पत्र भेजे जिनसे सम्भवतः मथुरा के सब कुएँ भी भर गये होगे। किन्तु उनमे से किसी एक का भी उत्तर नही आया जिससे गोपियाँ अत्यन्त दुखी है। इसी दुख को एक गोपी दूसरी गोपी के सम्मुख व्यक्त कर रही है।

व्याख्या—हमने मथुरा मे कृष्ण को इतने सन्देश लिख-लिख कर भेजे कि उनसे मथुरा के सब कुएँ भी भर गए होगे। यहाँ से जितने भी पथिक हमारे सन्देश लेकर मथुरा की ओर गए, उनमे से कोई लौट कर वापिस नही आया।

हमें लगता है कि कृष्ण उन्हे समझा-बुझा कर वही रोक लेते है अथवा वे रास्ते में मर कर समाप्त हो गये। नन्दनन्दन कृष्ण अपनी ओर से सन्देश रूप मे कोई पत्र नही भेजते और जो सन्देश पत्र हम उनके लिये यहाँ से भेजती है, उन्हे भी चुपचाप अपने पास रख लेते हैं, उनका उत्तर तक भी नही देते।

अब हम उन्हे और अधिक लिख कर भेजने मे भी असमर्थ है क्योकि सारी स्याही विरहाग्नि के ताप से सूख कर समाप्त हो गई है, सारे कागज नेत्रो के जल से भीग कर नष्ट हो गए हैं तथा हमारी विरह जन्य उत्तप्त उसाँसो के ताप से सारे जगल में आग लग गई है जिससे कलम बनाने वाले सरकण्डो के झुण्ड जल गये हैं। अर्थात् स्याही, कागज, कलम—इन तीनो के अभाव मे हमारे लिये पत्र लिखना असम्भव है। इतना सब होता तो ठीक था किन्तु अब हमारी आँखे भी काम करने के योग्य नही रही। कृष्ण के विरह मे रो-रोकर नेत्रों की पलके इतनी सूज गई है कि ये पलके एक रूप से किवाड़ वन गई है जो बन्द है अर्थात् नेत्र बन्द हो गये है, वे कुछ भी देख सकने मे असमर्थ है।

इस प्रकार न तो आँखो से ही हमे कुछ दिखलाई देता है और न लिखने के अन्य साधन—मसि, कागज, लेखनी ही उपलब्ध है, अत अब हम कृष्ण को और पत्र किस प्रकार लिख सकती हैं।

विशेष—प्रस्तुत पद मे गोपियो के सन्देशो की अधिकता का अतिशयोक्ति-पूर्ण वर्णन किया गया है।

अलकार—(१) 'सदेसनि ··· ··· भरे'—अतिशयोक्ति।

(२) 'पलक-कपाट'—रूपक।

नँदनंदन मोहन सों मधुकर! है काहे की प्रीति?
जौ कीजै तौ है जल, रवि औ जलधर की सी रीति॥
जैसे मीन, कमल, चातक की ऐसे ही गइ बीति।
तलफत, जरत, पुकारत सुनु, सठ! नाहिन है यह रीति॥
मन हठि परे, कबंध जुद्ध ज्यों, हारेहू भइ जीति।
बँधत न प्रेम-समुद्र सर बल कहुँ बारुहि की भीति॥९०॥

शब्दार्थ—काहे की=कैसी, किस बात की। कबन्ध=मस्तक विहीन धड़। बारुहि=बालू की, रेत की। भीति=दीवार।

प्रसंग—कृष्ण निर्मोही हैं, निष्ठुर हैं, उनसे प्रेम करने वालों की ऐसी विषमावस्था है। गोपियों ने इसी बात का प्रस्तुत पद मे वर्णन किया है।

व्याख्या—हे मधुकर ! नन्दनन्दन कृष्ण से हमारी किस प्रकार की प्रीति है, हम उनसे क्यों प्रेम करें ? यदि कोई उनसे प्रेम करे तो उसकी वैसी ही गति होती है जैसी जल, सूर्य और बादल से प्रेम करने वालो की होती है अर्थात् मीन जल से प्रेम करती है और उससे पृथक् होते ही तड़प-तड़प कर प्राण त्याग देती है किन्तु जल पर इसका कुछ भी प्रभाव नही पड़ता और वह चुपचाप आगे बढ़ जाता है, उसी प्रकार कमल का सूर्य से प्रेम है, कमल सूर्य को देखकर विकसित होता है किन्तु सूर्य दिन-भर अपने ताप से उसे जलाता है और संध्या समय उसकी पूर्ण उपेक्षा कर विश्राम करने चला जाता है। चातक की भी घन-प्रेम में यही गति है। वह प्रेम मे सदा बादल को 'पिय-पिय' कह कर पुकारा करता है किन्तु बादल उसकी खुली चोंच में स्वाति नक्षत्र की एक बूँद टपकाने की भी कृपा नही करता। मीन, कमल और चातक अपने प्रिय के वियोग मे तड़प-तड़प कर प्राण त्याग देते है किन्तु इस पर भी इनके प्रियतम प्रभावित नही होते। प्रेम तो एकमार्गी नही, ऐसा प्रेम घातक एवं वेदनापूर्ण होता है। प्रेम की यह रीति नही। वह तो दोनों ओर पलता है। उसमे आत्म-समर्पण की भावना मुख्य होती है। उभय-पक्षीय प्रेम ही सफल है।

अब हम अपने इस मन को क्या कहें ? इसने कृष्ण के साथ प्रेम करने का हठ पकड़ रखा है। यह अन्य किसी की ओर न तो आकृष्ट ही होता है और न प्रेम करना चाहता है। यह प्रेम-संघर्ष मे पराजित हो चुका है क्योंकि कृष्ण उसके प्रेम को ठुकरा कर यहाँ से पलायन कर गये है किन्तु यह स्वयं को उसी प्रकार विजयी समझ रहा है जिस प्रकार युद्धभूमि मे किसी योद्धा का सिर कटा कबन्ध निरन्तर युद्धरत रहता है और शत्रुओं के संहार का यश प्राप्त करता है। उसे पराजित हो जाने पर भी विजयी समझा जाता है। हमारा मन सदैव कृष्ण के ध्यान में डूबा रहता है। अतः हे उद्धव ! तुम्हारा योग-ज्ञान एवं निर्गुण-ब्रह्म की उपासना का उपदेश हमारे इस अगाध प्रेम-सागर के प्रवाह को रोक पाने मे उसी प्रकार असमर्थ है जिस प्रकार बालू की दीवार से समुद्र के प्रवाह को रोकना अथवा बाँधना। हमारी कृष्ण के प्रति अनन्य प्रेम-निष्ठा अवि-चल है, उसे तुम अपने उपदेशों एवं योग-ज्ञान की शिक्षा द्वारा डिगा नही सकते।

विशेष—(१) गोपियो ने विभिन्न प्रतीको द्वारा कृष्ण के प्रति अपनी अनन्य प्रेम-निष्ठा व्यक्त की है। वे जानती हैं कि कृष्ण के प्रेम मे उनकी मीन, कमल और चातक जैसी गति है किन्तु उनका मन हठ पकड़े हुए है और कवन्ध के समान स्वय पराजित होते हुए भी विजयी समझ रहा है।

(२) इस प्रकार इस पद से यह ध्वनि निकलती है कि सच्चे प्रेमी प्रतिदान न मिलने पर भी अपने प्रेम मे निष्ठावान एव दृढ़ रहते हैं।

अलंकार—(१) 'जौ...रीति'—क्रम।

(२) 'मन'...जीति'—निदर्शना।

(३) 'प्रेम-समुद्र—रूपक।

मधुबनियाँ लोगनि को पतिआय ?
मुख औरै अंतर्गत औरै पतियाँ लिखि पठवत है बनाय॥
ज्यों कोइल सुत काग जिआवत भाव-भगति भोजनहिं खवाय।
कुहकुहाय आए वसंत ऋतु, अंत मिलै कुल अपने जाय॥
जसे मधुकर पुहुप-वास लै फेरि न बूझै बातहु आय।
सूर जहाँ लौं स्यामगात हैं तिनसों क्यों कीजिए लगाय ?॥६१॥

शब्दार्थ—मधुवनियाँ=मथुरा के। को=कौन। पतिआय=विश्वास करे। अन्तर्गत=हृदय मे। बनाय=बना-बना कर। भाव-भगति=प्रेमसहित। कुहकुहाय=कूक उठती है। पुहुप=पुष्प। बातहु=बात भी। स्याम—काले शरीर वाले। तिनसों=उसके साथ। लगाय=लगन, प्रेम।

प्रसंग—कृष्ण के उपेक्षा एव कपट भरे व्यवहार से गोपियाँ अत्यन्त दुखी हैं। वे कोयल सुत तथा भ्रमर की पुष्प-पराग पान करने की स्वार्थ-भावना की कृष्ण के साथ तुलना करते हुए समस्त काले शरीर वालो को स्वार्थी सिद्ध करती है।

व्याख्या—मथुरावासी सब छली और कपटी हैं, ये विश्वसनीय नही, इन पर विश्वास कौन करे ? इनके मुख मे तो कुछ और है और हृदय मे कुछ और है और वहाँ से बैठे बैठे पत्र बना-बना कर लिख रहे है। अर्थात् ये मुख से तो मृदु वचन बोलते है और यही वचन अपने पत्रो मे बना-बना कर लिख भेजते है किन्तु इनके मन कपट और छल से भरे हुए है, अतः ये पत्र मे असली मन की बात [illegible]जते नही, हमे बहलाने के लिए चिकनी-चुपड़ी बाते लिख भेजते हैं।

कौवा कोयल के बच्चे का अत्यन्त लगन के साथ पालन-पोषण करता है, प्रेम-पूर्वक उसे खिलाता है किन्तु वसन्त ऋतु के आते ही वह बच्चा कूकने लगता है और उड कर अपने कुल के साथ जा मिलता है, वह अपने माता-पिता के पास पहुँच कर कौए के त्याग को पूर्णतया विस्मृत कर देता है। कृष्ण ने भी बिलकुल ऐसा ही किया है। व्रज मे नन्द-यशोदा ने उनका बड प्रेम एव लगन के साथ पोषण किया, दूध-दही मक्खन खिलाया, स्वय कष्ट पाकर उन्हे सुखी रखा, किन्तु बडे होने पर कृष्ण नन्द-यशोदा के इस स्नेह को पूर्णतया विस्मृत कर बैठे। उनके त्याग को भूलकर वह अपने वास्तविक माता-पिता वसुदेव-देवकी के पास मथुरा चले गए। अब तुम ही बताओ उद्धव ! ऐसे लोगो का किस प्रकार विश्वास किया जा सकता है।

जिस प्रकार एक भ्रमर पुष्प के पराग का आनन्द लूट कर पुन. उसके पास नही आता, ठीक उसी प्रकार का व्यवहार कृष्ण ने हमारे साथ किया है। वे हमे प्रेम-क्रीड़ाओ मे निमग्न कर हमारे अधरो का रसपान करके मथुरा जा बैठे हैं और हम उनके विरह मे तड़प रही हैं। ये सभी काले शरीर वाले—कोयल, भ्रमर, कृष्ण निर्मोही, निष्ठुर होते है, इनसे क्यो कर प्रेम किया जाय ?

विशेष—गोपियो ने सभी काले शरीर वालो को कपटी सिद्ध करके उन पर व्यग्य किया है, वे सभी निष्ठुर हैं और प्रेम करने के योग्य नही।

अलकार— 'कुहकुहाए'''जाय'—अर्थान्तरन्यास।

हरि हैं राजनीति पढ़ि आए।
समुझी बात कहत मधुकर जो ? समाचार कछु पाए ?
इक अति चतुर हुते पहिले ही, अरु करि नेह दिखाए।
जानी बुद्धि बड़ी, जुवतिन को जोग-सँदेस पठाए॥
भले लोग आगे के, सखि री ! परहित डोलत धाए।
वे अपने मन फेरि पाइए जे हैं चलत चुराए॥
ते क्यों नीति करत आपुन जे औरनि रीति छुड़ाए ?
राजधर्म सब भए सूर जहँ प्रजा न जाय सताए॥६२॥

शब्दार्थ—इक=एक तो। हुते=थे। नेह=प्रेम, स्नेह। जुवतिन=युवतियो को, हम गोपियो को। डोलत धाए=दौड़ते-फिरते थे। नीति=न्याय, सदाचार। आपुन=स्वयं। जे=जिन्होने। औरन=औरों की।

प्रसग—गोपियों के मत मे उद्धव द्वारा कृष्ण का योग-सन्देश उन पर घोर अत्याचार एवं अन्याय है। कृष्ण अब राजनीति के पण्डित हो गये है, उन्हे यह अनीति शोभा देती है।

व्याख्या—हे सखी ! अब कृष्ण ने राजनीति-शास्त्र मे पूर्ण दक्षता प्राप्त कर ली है, वे पूर्ण राजनीतिज्ञ हो गए है, तभी तो वह प्रेम मे भी छल-कपट एव कुटिलता से काम ले रहे है। यह भ्रमररूपी उद्धव जो ज्ञान-योग सम्बन्धी बाते हमसे कह रहा है, क्या ये तुम्हारी समझ में आ गई है ? और इन बातो से तुमने कुछ मथुरा का समाचार जाना है अर्थात् क्या तुम इस योग-सन्देश मे निहित कृष्ण के वास्तविक अभिप्राय को समझ सकी हो ? एक तो कृष्ण पहले ही अधिक चतुर थे जिसे उन्होने हमारे साथ कपटपूर्ण प्रेम करके प्रमाणित कर दिया था क्योकि हमे अपने प्रेम-जाल में फाँस कर यहाँ तड़पता-बिलखता छोड़ कर वहाँ मथुरा चले गए। अब वह हम नारियो को योग-सन्देश भेज कर अपनी विशाल बुद्धि एव विवेक का परिचय दे रहे है। वस्तुतः वह विवेकशील न होकर मूढ़ है जो हम युवतियो को योग का सन्देश भेज रहे है।

हे सखी ! पुरातन काल मे, वस्तुतः सज्जन पुरुषो का निवास था, वे सदा दूसरो के कल्याण एवं उपकार के लिए इधर-उधर भागते-फिरते थे। एक यह सज्जन पुरुष उद्धव हैं जो हम अबलाओ को सताने और व्यथित करने के लिए यहाँ भागे-चले आये है। अब हम तो कृष्ण से केवल इतना चाहती है कि वे हमारा वह मन जो यहाँ से प्रस्थान करते समय चुपचाप चुराकर अपने साथ ले गए है, हमे लौटा दें किन्तु हमे कृष्ण से ऐसे न्यायपूर्ण कार्य की आशा नही है क्योकि वह तो दूसरो से परम्परागत व्यवहारो एव प्राचीन रीतियो को छुडवाने मे रत है तो फिर स्वय उन पर क्यो कर आचरण करेगे। देखो न ! हमारा आचरण तो यह है कि हम कृष्ण-प्रेम मे निष्ठावान रहे और उद्धव के माध्यम से योग-सन्देश भेजकर वह हमारी इस निष्ठा को भग करना चाहते है, तो फिर उनसे न्यायपूर्ण आचरण [illegible] किस प्रकार की जा सकती है ?

हमे योग-सन्देश लिख भेजा है।

विशेष—(१) प्रस्तुत पद मे कृष्ण एव उद्धव पर चुभता हुआ व्यग्य किया गया है।

(२) गोपियो के मत मे राजा का धर्म है प्रजा का अनुरजन करना और उसे सुखी रखना किन्तु कृष्ण इस धर्म से च्युत हो गए है और कुब्जा से प्रेम कर पाने की सुविधा प्राप्त करने के लिए गोपियो का सुख-चैन लूटना चाहते हैं। इस प्रकार गोपियो ने कृष्ण को कुटिल राजनीति का पोषक, अन्यायी, स्वार्थी और धोखेबाज सिद्ध किया है।

अलंकार—'ते'''सताए'—लोकोक्ति।

जोग की गति सुनत मेरे अंग आगि वई।
सुलगि सुलगि हम रहीं तन मे फूँक आनि दई॥
जोग हमको भोग कुबर्जाह, कौने सिख सिखई।
सिंह गज तजि तृनहिं खंडत सुनी बात नई॥
कर्मरेखा मिटति नाही जो विधि आनि ठई।
सूर हरि की कृपा जापै सकल सिद्धि भई॥६३॥

शब्दार्थ—वई=लग गई। खडत=विदीर्ण करना। ठई=निश्चित कर दी। जापै=जिस पर।

प्रसंग—गोपियाँ योग की असंगत बाते नही सुन पाती, उनके शरीर मे आग लग जाती है।

व्याख्या—गोपियाँ कहती है कि उद्धव की योग साधना की इस पद्धति की बाते सुन कर हमारे अग-प्रत्यग अर्थात समस्त शरीर मे आग लग गई है, हमारी विरहाग्नि और भी प्रज्ज्वलित हो उठी है। हम तो कृष्ण-वियोग मे पहले ही अन्दर-ही-अन्दर सुलग रही थी, उद्धव ने यहाँ आकर अपनी योग की बातो से हमारी विरहाग्नि को उसी प्रकार और भी भडका दिया है जैसे कोई सुलगती हुई अग्नि को फूँक मार कर और भी भडका दे, प्रज्ज्वलित कर दे। हमारी समझ मे नही आता कि उद्धव को यह शिक्षा किसने दी है, वह किस बलबूते पर हमे तो योग की साधना करने का उपदेश दे रहे हैं और कुब्जा के लिए भोग को उचित घोषित कर रहे हैं। हम वियोगिनियां पहले से ही ससार से विरक्त है, केवल कृष्ण की साधना मे रत है, हमे तो योग-साधना की शिक्षा

प्रदान की जा रही है और पूर्णतया भोग-विलास मे डूबी हुई कुब्जा को योग-साधना का उपदेश नही देते ।

हमें कृष्ण से विमुख करने के अपने उपदेश में इन्हें सफलता नही मिल सकती, क्योकि हम एकमात्र उन्ही के प्रेम का व्रत धारण किये बैठी है जिसे छोडना हमारे लिए असम्भव है। क्या आज तक किसी ने यह बात सुनी है कि सिह ने हाथी का वध करना छोड़ कर घास चरनी आरम्भ कर दी हो ? जिस प्रकार सिह हाथी का शिकार करना छोड़कर घास नही चर सकता, उसी प्रकार हम भी कृष्ण-प्रेम मे अपनी निष्ठा त्याग कर योग-साधना स्वीकार नही कर सकती। विधाता ने जो कर्मों की रेखा भाग्य मे लिख दी है, वह मिटाए नही मिटती। हमारे भाग्य मे कृष्ण-प्रेम की एकनिष्ठता लिखी है, अतः कोई लाख प्रयत्न करे हम इस निष्ठा को नही छोड सकती। उद्धव के मत मे निर्गुण-ब्रह्म को अपनाने से सिद्धियाँ प्राप्त होती है किन्तु जिस पर कृष्ण की कृपा है, उसका वरदहस्त है, उसे तो समस्त सिद्धियाँ अनायास ही मिल जाती है। वह सपूर्ण सिद्धियो के बल पर प्राप्त सुख-वैभव का स्वत अधिकारी बन जाता है।

विशेष—इस पद की अन्तिम पक्ति मे 'पुष्टिमार्गीय सिद्धान्त' की पुष्टि की गई है जिसके अनुसार 'भगवद्-अनुग्रह' के प्राप्त हो जाने पर जीव को समस्त सुख-वैभव स्वतः मिल जाता है।

अलकार—(१) 'जोग···सिखई'—अप्रस्तुतप्रशसा।

(२) 'सिह गज···बात नई'—लोकोक्ति।

ऊधो ! जान्यो ज्ञान तिहारो।
जानै कहा राजगति-लीला अत अहीर बिचारो ॥
हम सबै अयानी, एक सयानी कुबजा सों मन मान्यो।
आवत नाहिं लाज के मारे, मानहु कान्ह खिस्यान्यो ॥
ऊधो ! जाहु बाँह धरि ल्याओ सुंदरस्याम पियारो।
ब्याहौ लाख, धरौ दस कुबरी, अंतहि कान्ह हमारो ॥
सुन, री-सखी ! कछू नहिं कहिए माधव आवन दीजै।
जबहीं मिलै सूर के स्वामी हांसी-करि करि लीजै ॥९४॥

शब्दार्थ—राजगति-लीला=राजनीति की पेचीदगियाँ। अयानी=अज्ञानी। खिस्यान्यो=खिसिया गये, लज्जित हो गये है। धरि=पकड़ कर। धरौ=रखे,

घर में बैठा लो। हाँसि करि-करि=हँसते हुए, प्रसन्न मुद्रा मे। लीजै=लेना, ग्रहण करना, स्वागत करना।

प्रसंग—कतिपय पिछले पदो में गोपियाँ कृष्ण को पर्याप्त खरी-खोटी सुना चुकी हैं किन्तु अब वह आपस मे परामर्श कर निश्चित करती हैं कि यदि उद्धव कृष्ण को मथुरा से ले आने मे सफल होते हैं तो हम उन्हे प्रेमपूर्वक मिलें और उनका स्वागत करे।

व्याख्या—हे उद्धव! तुम्हारे इस ज्ञान का समस्त रहस्य अब हमारी समझ मे आ गया है। वस्तुतः यह सब तुम्हारी बनाई हुई बातें हैं, और कृष्ण बेचारे आखिर एक अहीर कुल के है, वह तुम्हारी राजनीति के दाँव-पेच को नही जानते। यह स्पष्ट है कि तुम और कुब्जा कृष्ण को यहाँ आने नही देना चाहते, इस कारण तुम दोनों ने मिलकर यह षड्यन्त्र और प्रपच रचा है और कृष्ण को छोड़ योग की शिक्षा देना चाहते हो। क्योकि तुम जानते हो कि कृष्ण के यहाँ चले आने पर राजकाज चलाना कठिन हो जाएगा। हम सब तो अज्ञानी एव मूर्ख स्त्रियाँ हैं और कुब्जा ही एक सयानी एवं चतुर है। उससे चतुराई एव लोक-व्यवहार सीखते-सीखते कृष्ण उसके प्रेम-जाल मे फँस गये है। इस कारण अब उन्हे यहाँ आने मे लज्जा अनुभव होती है। अब वह खिसियाने बने हुए हैं कि हमे किस प्रकार मुँह दिखाये।

इसलिए हे उद्धव! हमारी तुमसे प्रार्थना है कि तुम तुरन्त मथुरा जाओ और कृष्ण को बाँह पकड़ कर अपने साथ यहाँ ले आओ, तभी उनकी लज्जा का निराकरण हो सकेगा। वह तो झेंप के कारण यहाँ आने मे सकोच अनुभव कर रहे हैं। वह लाख स्त्रियो से विवाह कर ले, चाहे दस कुब्जाओं को अपने घर मे डाल ले, अन्ततः वह हमारे हैं, और हमारे रहेगे। हे सखी! मेरी बात सुनो, जब माधव यहाँ आ जाएँ तो उनसे कोई कुछ न कहे, उन्हे आराम से यहाँ आने देना। जब वह यहाँ आएँ तो हंसी-खुशी से उन्हे ग्रहण करना और आदर एवं सम्मान के साथ उनका स्वागत करना तभी उनके मन की ग्लानि दूर होगी और हमारे बर्ताव से उनमे हमारे प्रति किए गए अन्याय के लिए पश्चाताप की भावना उदित होगी।

विशेष—(१) प्रस्तुत पद मे गोपियो के इस विश्वास की व्यंजना हुई है कि कृष्ण उन्ही के है चाहे वे अनेक स्त्रियों से विवाह कर ले और चाहे दस

कुब्जाओं को घर में डाल ले। उनके मत मे कृष्ण तो सीधे-सरल हैं वह तो कुब्जा और उद्धव के राजनीति सम्बन्धी दाँव-पेच में फँस गये हैं।

(२) गोपियों ने कृष्ण की लज्जा एव खिसियानेपन का अत्यन्त विदग्धता-पूर्ण वर्णन किया है।

(३) 'अन्त अहीर विचारो' में प्रियतम-विषयक रति को शब्दो मे प्रकट करने के कारण 'विव्वोक' नामक हाव है।

अलंकार— 'करि-करि'—पुनरुक्तिप्रकाश।

उर में माखनचोर गड़े।
अब कैसहु निकसत नहिं, ऊधो! तिरछे ह्वै जो अड़े॥
जदपि अहीर जसोदानंदन तदपि न जात छँड़े।
वहाँ बने जदुवंस महाकुल हमहिं न लगत बड़े॥
को बसुदेव, देवकी है को, ना जानै औ बूझै।
सूर स्यामसुन्दर बिनु देखे और न कोऊ सूझै॥६५॥

शब्दार्थ—कैसेहु=किसी प्रकार भी। छँडे=छोडे। सूझै=सूझता, दिखाई देता।

प्रसंग—गोपियो के हृदय मे माखनचोर अड़ गये है, वे उन पर इतनी मोहित हैं कि उनको अपने हृदय से निकाल नही पातीं, इसी कारण वह निर्गुण-ब्रह्म को स्वीकार करने मे असमर्थ हैं। प्रस्तुत पद मे उनके इसी भाव की व्यंजना हुई है।

व्याख्या—हमारे हृदय मे माखन-चोर कृष्ण की मोहिनी मूर्ति गडी हुई है अर्थात् बस गई है क्योकि उनकी माधुरी-मूर्ति त्रिभगी है और तिरछी होने के कारण हमारे हृदय मे गड़ गई है। अतः अब यह मूर्ति वहाँ से किसी भी प्रकार निकल नही सकती। अर्थात् हम किसी भी प्रकार कृष्ण-प्रेम को छोडकर तुम्हारे निर्गुण-ब्रह्म को नही अपना सकती। यद्यपि यशोदानन्दन कृष्ण जाति के अहीर है, फिर भी हमसे उन्हे छोड़ते नही बनता। वहाँ मथुरा मे जाकर वह महान् कुल यदुवंश के एक अग बन गए है, तो भी हमारे लिए वह बड़े आदमी नही बने। हमें तो वह अभी भी अहीर-कुल के छोटे-से आदमी लगते हैं जो हमारे साथ व्रज में रहते हुए प्रेम-क्रीड़ाएँ किया करते थे। तुम

जिनका बार-बार नाम ले रहे हो, वह वसुदेव कौन है और देवकी कौन हैं ? हम उनके सम्बन्ध मे पूर्णतया अपरिचित है और न ही हमे उनके विषय में कुछ जानने-बूझने की इच्छा है। वे बडे होगे तो अपने घर मे होगे, हमें उनके बडप्पन से कुछ लेना-देना नही। हम तो यह जानती है कि अपने श्यामसुन्दर कृष्ण के बिना देखे हमे और कुछ नही सूझता। हमे उनके बिना कुछ भी नही सुहाता, अतः हम तुम्हारे निर्गुण-ब्रह्म को स्वीकार करने मे असमर्थ हैं।

विशेष—(१) प्रस्तुत पद मे कृष्ण के प्रति गोपियो की अखड प्रेम निष्ठा की भावना का प्रकाशन हुआ है, साथ ही व्यंग्य का भाव भी व्यक्त हुआ है, व्यग्य सम्पूर्ण यादववश पर है।

(२) प्रथम दो पक्तियो मे कृष्ण की त्रिभंगी मुद्रा की ओर सकेत है जिसकी मोहिनी गोपियो के हृदय मे गड़ गई है, अतः अब वहाँ किसी अन्य के लिए स्थान नही रहा।

गोपालहिं कैसे कै हम देति ?
ऊधो की इन मीठी बातन निर्गुन कैसे लेति ?
अर्थ, धर्म, कामना सुनावत सब सुख मुकुति-समेति।
जे व्यापकहिं बिचारत बरनत निगम कहत है नेति॥
ताकी भूलि गई मनसाहू देखहु जो चित चेति।
सूर स्याम तजि कौन सकत है, अलि, काकी गति एति॥६६॥

शब्दार्थ—कैसे कै=किस प्रकार। देति=दे सकती है। समेति=सहित। व्यापकहि=व्यापकता। निगम=वेद। नेति=यह नही है, न इति। मनसाहू=बुद्धि भी। चेति=विचार कर। काकी=किसकी। एति=इतनी।

प्रसंग—गोपियाँ कृष्ण को छोडकर निर्गुण ब्रह्म को स्वीकार करने में अपनी असमर्थता प्रकट कर रही है। कृष्ण तो उन्हे प्राप्त है, वे सदा उनके मन मे निवास करते है जबकि निर्गुण-ब्रह्म को दुरूह साधना द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। वस्तुत वह तो अन्त तक अप्राप्य बना रहता है। गोपियाँ परस्पर इसी बात पर चर्चा कर रही हैं।

व्याख्या—हम अपने गोपाल को किस प्रकार उद्धव को दे सकती हैं ? कृष्ण को भुलाना और उन्हे उद्धव को देना हमारे लिए नितान्त असम्भव है।

हमारे लिए न तो यह ही सम्भव है और न ही हम इनकी चिकनी-चुपडी बातो मे निर्गुण-ब्रह्म को स्वीकार कर सकती है। ये हमे प्रलोभन दे रहे है कि हमें ब्रह्म की उपासना द्वारा मुक्ति के साथ-साथ अर्थ, धर्म और कामना की भी प्राप्ति होगी अर्थात् ब्रह्म की साधना से हमारी सम्पूर्ण कामनाएँ फलीभूत हो जायेगी। ये उद्धव उस ब्रह्म को सर्व व्यापक कहते है तथा वेद आदि ग्रन्थो ने ब्रह्म की व्यापकता पर विचार करते हुए उसे—'नेति-नेति' कहा है। जब इन शास्त्रो के अनुसार ब्रह्म कोई वस्तु ही नही तो वह उक्त सब बातो का फलदाता किस प्रकार हो सकता है? जिसने भी आज तक इस ब्रह्म के विषय मे अपने हृदय मे सोच-विचार किया है, उसकी अगम्यता का अनुभव करके उसकी बुद्धि चकरा गई है—अर्थात् आज तक कोई भी इस व्यापक ब्रह्म को जान नही पाया। अतः हम कोई ऐसी मूढ़ तो है नही जो इस अप्राप्य ब्रह्म के प्रलोभन मे आकर अपने श्यामसुन्दर कृष्ण को त्याग दे। कृष्ण तो हमें सहज रूप से प्राप्य है, उन्हे त्याग कर दुरूह साधना द्वारा भी अन्त मे अप्राप्य रहने वाले ब्रह्म की आराधना करना हमासे वश मे नही।

विशेष—प्रस्तुत पद मे गोपियो ने अत्यन्त सबल तर्कों द्वारा निर्गुण-ब्रह्म का खण्डन प्रस्तुत किया है। उनके मत में कृष्ण उन्हें सहज प्राप्त हैं जबकि ब्रह्म दुरुह उपासना द्वारा भी अन्त में अप्राप्त ही बना रहता है तो फिर हम कृष्ण को किस प्रकार छोड़ सकती हैं? यह न तो उचित ही है और न सम्भव ही।

उपमा एक न नैन गही। 
कबिजन कहत कहत चलि आए, सुधि, करि करि काहू न कही॥
कहे चकोर, मुख-विधु बिनु जीवन; भँवर न, तहँ उड़ि जात।
हरिमुख-कमलकोस बिछुरे तें ठाले क्यों ठहरात?
खंजन मनरंजन जन जौ पै, कबहुँ नाहिं सतरात।
पंख पसारि न उड़त, मंद ह्वै समर समीप बिकात॥
आए बधन व्याध ह्वै ऊधो, जौ मृग, क्यों न पलाय?
देखत भागि बसै घन बन में जहँ कोउ सग न धाय॥
ब्रजलोचन बिनु लोचन कैसे? प्रति छिन अति दुख बाढ़त।
सूरदास मीनता कछू इक, जल भरि संग न छाँड़त॥९७॥

शब्दार्थ—गही=ग्रहण की। बिधु=चन्द्रमा। ठाले=अभाव में। ठहरात=स्थिर, अचल पडे रहते। सतरात=सतर होते, क्रुद्ध होते। मन्द=शिथिल। समर=कामदेव। पलाय=भाग जाते। घन=सघन। छांडत=छोड़ते।

प्रसंग—प्रस्तुत पद मे गोपियों ने प्रकारान्तर से अपनी आंखों की भर्त्सना की है क्योंकि कृष्ण-वियोग मे व्यथित रहने के कारण उनके नेत्रो ने अपना सम्पूर्ण सौन्दर्य तथा विशिष्टता खो दी है।

व्याख्या—गोपियां कहती हैं कि हमारे इन नेत्रों ने कवियो द्वारा विवेचित विभिन्न उपमाओ मे से एक भी उपमा को ग्रहण नही किया। कवियो ने नेत्रो की विशेषताओं के आधार पर इनके लिए अनेक उपमाएँ निश्चित की हैं किन्तु हमारे नेत्रो पर उनमे से एक भी लागू नही होती क्योकि इनमे कोई भी गुण अब उपलब्ध नही होता। प्राचीनकाल से कवि गण नेत्रो की विभिन्न पदार्थों, पशु-पक्षियो आदि के साथ गुण-धर्म के आधार पर अनेक उपमाएँ देते रहे है किन्तु किसी भी कवि ने सोच-विचार कर कोई भी ऐसी उपमा नही दी जो हमारे नेत्रों पर सगत बैठती। कवियों ने नेत्रों को चकोर कहा किन्तु हमारे नेत्रो मे तो चकोर का गुण-धर्म है ही नही क्योकि ये कृष्ण के चन्द्र-मुख को निहारे विना भी अभी तक जीवित हैं। इनके लिए भ्रमर की उपमा भी उचित नही क्योकि भ्रमर तो अनायास वही पहुँच जाता है जहाँ कमल पुष्प होता है और कमल-कोष मे बन्दी बन कर स्वय को धन्य मानता है किन्तु हमारे ये नेत्र कृष्ण के मुख-रूपी कमल-कोष से बिछुड़ गये हैं किन्तु फिर भी उनके पास उड़ कर नही जाते अपितु वे निठल्ले होकर यही स्थिर हो गये हैं और कृष्ण के लौटने की प्रतीक्षा में टकटकी लगाये हुए हैं अतः नेत्रो के लिए कवियो द्वारा प्रयुक्त उक्त दो उपमाएँ सगत नही प्रतीत होती।

यदि नेत्रों को मानव-जाति को मनोरजन प्रदान करने वाले खजन पक्षी के समान स्वीकार किया जाए, तो यह भी उचित प्रतीत नही होता। खजन पक्षी अपने सम्मुख वधिक को आया पाकर क्रुद्ध होकर अकड उठता है और अपने पख फैलाकर उससे दूर भाग जाता है जबकि हमारे नेत्र ऐसी स्थिति मे न वो क्रुद्ध ही होते हैं और न ही कही दूर भागने का प्रयत्न करते हैं अपितु ऐसी स्थिति मे ये स्वय को शिथिल पाते हैं और कामदेव के प्रभाव मे आकर

उसके वश में हो जाते हैं।

इनके लिए मृग की उपमा भी संगत नहीं प्रतीत होती क्योंकि मृग बहेलिये को अपने पास आता हुआ देख कर भाग खड़ा होता है और सघन वन मे ऐसे स्थल पर जाकर छुप जाता है कि जिससे न तो उसका पीछा किया जा सके और न हीं ढूँढा जा सके किन्तु हमारे ये नेत्र उद्धव रूपी बहेलिये को अपना शिकार करने के लिए आया जान कर भी कही जाकर छुपते नही। इन्हे लोचन अर्थात् देखने वाला कहना भी व्यर्थ है क्योकि ब्रजलोचन कृष्ण के अभाव में यह उपमा भी सार्थक नही। इनकी सार्थकता तो केवल कृष्ण के दर्शन करते रहने मे ही है। कृष्ण को बिना देखे इनका दुःख-वेदना क्षण-प्रतिक्षण बढ़ती रहती है।

केवल एक ही उपमान ऐसा है जिसका थोडा-सा अश हमारे इन नेत्रो मे उपलब्ध होता है। इनके लिए मछली की उपमा कुछ-कुछ सार्थक प्रतीत होती है। जिस प्रकार मछली क्षण-भर के लिए भी जल से पृथक नही होती, उसी प्रकार हमारे ये नत्र क्षण भर के लिए भी जल का साथ नही छोडते। अर्थात् इनमे सदैव आँसू विद्यमान रहते हैं—ये कृष्ण-वियोग मे सदा सजल रहते है।

विशेष—(१) प्रस्तुत पद मे विभिन्न अलंकारों के प्रयोग द्वारा नेत्रों के विभिन्न उपमानो का अत्यन्त हृदयग्राही चित्र प्रस्तुत किया गया है।

(२) अन्तिम पंक्ति मे 'मीनता' शब्द का प्रयोग-ध्वनिपूर्ण है।

(३) उद्धव को कृष्ण-प्रेम को भुलाने की प्राण-घातक बात कहने के कारण बधिक कहा गया है।

अलंकार—(१) सम्पूर्ण पद मे 'रूपक' और 'हीनोपमा'।

(२) 'उपमा⋯गही' मे व्यग्य के कारण 'व्यतिरेक'।

(३) 'कबिजन...कही'—मे काव्यलिंग।

(४) 'ब्रजलोचन'—में 'परिकर'।

हरिमुख निरखि निमेख बिसारे।
ता दिन तें मनो भए दिगबर इन नैनन के तारे॥
घूँघट-पट छाँड़े बीथिन महँ अहनिसि अटत उघारे।
सहज समाधि रूपरुचि इकटक टरत न टक ते टारे॥

सूर, सुमति समुझति, जिय जानति, ऊधो ! वचन तिहारे।
करें कहा ये कह्यो न मानत लोचन हठी हमारे ॥६८॥

शब्दार्थ—निमेख विसारे=पलक झपकाना भूल गए। दिगम्बर=नंगे : तारे=पुतलियाँ ; वीथिन=गलियो। अटत=समाते, घूमते। उघारे=नंगे वदन। टक=टकटकी बांध कर देखना। टारे=मना करने पर। सुमति=अच्छा विचार।

प्रसग—गोपियो के नेत्र कृष्ण की रूप-माधुरी के अतिरिक्त और कुछ देखना ही नही चाहते। वे रात-दिन उन्ही के दीवाने बने रहते हैं। गोपियाँ अपने नेत्रो की इस विवशता को उद्धव के सम्मुख व्यक्त कर रही हैं—

व्याख्या—हे उद्धव ! कृष्ण की रूप-माधुरी के दर्शन करके हमारे ये नेत्र अपनी पलकें झपकाना भी विस्मृत कर बैठे है। जिस दिन से इन्होंने कृष्ण के अनुपम-सौन्दर्य के दर्शन किए हैं, उस दिन से ऐसा प्रतीत होता है कि हमारे इन नेत्रों की पुतलियाँ दिगम्बर अर्थात् नगी बन गई है। इन्होने पलकरूपी घूँघट को उतार फेका है—अर्थात् ये अपलक मधुबन की गलियो मे घूमती रहती है और श्रीकृष्ण के रूप के दर्शनों के लिए आतुर रहती है, सदैव उन्हें ही खोजती रहती हैं। कवि के कहने का भाव यह है कि गोपियो के नेत्रो ने पलक न झपकाने के कारण मानो पुतली रूपी वस्त्र को उतार फेका है और अब नग्नावस्था मे बिना लोक-लाज की चिन्ता किये गलियो मे भटका करती है और इस प्रकार कृष्ण को खोज रही है।

ये पुतलियाँ श्रीकृष्ण के अनुपम सौन्दर्य के ध्यान में रहती हैं तथा टकटकी बाँधे ध्यान मे तल्लीन ऐसी प्रतीत होती है मानों गोपियो के समान सहज-समाधि की अवस्था मे स्थित योग-साधना कर रही हों। यह मना करने पर भी नही मानती और सदा अपलक कृष्ण के रूप के ध्यान मे मग्न रहती है।

हे उद्धव ! हम तुम्हारे श्रेष्ठ विचारो को समझ रही है, हम अपने हृदय मे भी यह जानती है कि तुम हमारे कल्याण के लिए हमे निर्गुण-ब्रह्म का उपदेश दे रहे हो। किन्तु हम कुछ कर नही पा रही, बात हमारे वश मे नहीं रही क्योंकि ये हमारे हठधर्मी नेत्र हमारे कहने मे ही नही आते। इन्हें तो कृष्ण रूप की लगन लगी है, उन्हे त्याग कर ये अन्य किसी ब्रह्म आदि को देखना पसन्द भी नही करते, अतः हम बाध्य हैं, तुम्हारी बात मानना हमारी सामर्थ्य मे नही।

विशेष—गोपियों की वाग्विदग्धता दर्शनीय है। वे अपने वाक्-चातुर्य द्वारा ब्रह्म को स्वीकार न करने का सारा दोष अपने नेत्रों पर लगा रही है और इस प्रकार उद्धव को मूर्ख बना रही हैं।

अलंकार—'ता दिन……तारे'—उत्प्रेक्षा।

दूर करहु बीना कर धरिबो।
मोहे मृग नाहीं रथ हाँक्यो, नाहिन होत चंद को ढरिबो॥
बीती जाहि पै सोई जानै कठिन है प्रेम-पास को परिबो।
जब तें बिछुरे कमलनयन, सखि, रहत न नयन नीर को गरिबो॥
सीतल चंद अगिनि-सम लागत, कहिए धीर कौन बिधि धरिबो।
सूरदास प्रभु तुम्हरे दरस बिनु सब झूठो जतननि को करिबो॥६६॥

शब्दार्थ—धरिबो=धारण करना। ढरिबो=ढलना, अस्त होना। परिबो=पडना। गरिबो=गिरना। धीर=धैर्य, धीरज। झूठो=व्यर्थ। जतननि=यत्नो का, प्रयत्नो का।

प्रसग—राधा प्रिय-कृष्ण के विरह में दग्ध है। वियोगिनी राधा की दशा जब विषम हो उठती है तो अन्य सखियाँ उसका मन बहलाने की चेष्टा करती है। कृष्ण की ओर से उसका ध्यान हटाने के लिए एक सखी वीणा बजा कर विरहिणी राधा को प्रसन्न करना चाहती है किन्तु राधा उसे ऐसा करने से रोकती है और प्रस्तुत पद में इसका कारण बताते हुए कहती है—

व्याख्या—हे सखी! यह जो वीणा तू हाथ मे लेकर बजा रही है इसे दूर करके रख दे। वीणा के मधुर स्वर को सुनकर चन्द्रमा के रथ मे जुड़े हुए मृग स्थिर होकर रह गए हैं जिससे चन्द्रमा अस्त ही नही हो रहा। कवि के कहने का भाव यह है कि वियोगिनी राधा को चाँदनी रात अत्यन्त दुखदायी प्रतीत होती है, काटे ही नही कटती क्योंकि उसे प्रिय कृष्ण के साथ क्रीड़ा-विहार की सुधि आ रही है। वह वीणा-वादन के कारण ही रात को लम्बा हुआ समझती है और उसे बन्द करवा देती हैं। प्रेम-पाश मे पडना और उसका निबाहना अत्यन्त कठिन होता है। इसकी वेदना तो वही अनुभव कर सकता है जिसने कभी किसी से प्रेम किया हो और अपने प्रिय के वियोग का दुख सहा हो। हे सखि! जब से कमल-नेत्र श्रीकृष्ण मुझसे बिछुड़ गए है, मुझे त्याग कर

मथुरा मे जा बैठे हैं, तब से मेरे नयनो से आँसुओ का गिरना बन्द नही हुआ। मैं उनके वियोग मे सदा आँसू बहाती रहती हूँ।

ससार को शीतलता प्रदान करने वाला यह चन्द्रमा मुझे तो अग्नि मे दग्ध करता हुआ प्रतीत होता है। अब तुम ही बताओ, 'इस अवस्था मे मैं किस प्रकार धैर्य धारण करूँ ? सूरदास कहते हैं कि राधा अपनी सखी से कह रही है कि प्रिय कृष्ण के दर्शन मे ही मेरी व्याकुलता दूर हो सकती है, बाकी सब यत्न व्यर्थ है, उनसे कोई लाभ होने वाला नही।

विशेष—(१) सयोगावस्था मे आनन्ददायक वस्तुएँ विरहिणी के लिए दुखद बन जाती है। प्रस्तुत पद मे इसी काव्य-परम्परा का निर्वाह हुआ है।

(२) प्रकृति का उद्दीपन रूप मे चित्रण हुआ है क्योंकि प्रकृति की सुखद अनुभूति भी राधा के विरह को उद्दीप्त कर रही है।

(३) जायसी की नायिका पर भी चांदनी रात मे वीणा का यही प्रभाव पड़ता है—

'गहै बीनु मकु रैन बिहाई। ससि वाहन तहँ रहे ओ नाई ॥'

अलकार—(१) 'मोहे……ढरिवो'—उत्प्रेक्षा।
(२) 'सीतल……धरिवो'—अतिशयोक्ति।
(३) 'प्रेम-पाश'—रूपक।
(४) 'कमलनयन'—उपमा।

अति मलीन वृषभानुकुमारी।
हरि-स्रमजल अतर-तनु भीजे ता लालच न धुआवति सारी ॥
अधोमुख रहति उरध नहि चितवति ज्यों गथ हारे थकित जुआरी।
छूटे चिहुर, वदन कुम्हिलाने, ज्यो नलिनी हिमकर की मारी ॥
हरि-संदेस सुनि सहज मृतक भई, इक विरहिनि दूजे अलि जारी।
सूर स्याम बिनु यों जीवति हैं ब्रजवनिता सब स्यामदुलारी ॥१००॥

शब्दार्थ—मलीन=मैली, शिथिल, उदास। हरि-स्रमजल=कृष्ण के साथ की गई प्रेम-क्रीडाओ मे श्रम के कारण शरीर से निकले हुए पसीने की बूँदें। अन्तर-तनु=मन और शरीर। अधोमुख=मुख नीचा किए हुए। उरध=ऊपर की ओर। चितवति=देखती। गथ=पूंजी। चिहुर=चिकुर, बाल। बदन=मुख। नलिनी=कमिलिनी। हिमकर=तुषार, पाला।

प्रसग—कृष्ण-विरह में राधा की स्थिति अत्यन्त शोचनीय बन गई है। एक तो कृष्ण-विरह ने ही उसकी स्थिति दयनीय बना रखी है, उद्धव ने निर्गुण-ब्रह्म के उपदेश से उसे और भी विषम बना दिया है। प्रस्तुत पद में राधा की इस अवस्था का चित्रण किया गया है—

व्याख्या—कृष्ण के विरह मे वृपभानु कुमारी राधा अत्यन्त मलीन और शिथिल रहती है। उसकी साड़ी अत्यन्त मैली हो गई है किन्तु वह उसे मैली ही पहने रहती है, धुलवाती नही। साड़ी को न धुलवाने का कारण यह है कि कृष्ण के साथ विहार-लीला के समय प्रेमावेश के कारण उसके शरीर ने जो श्रम किया था उसके कारण निकले हुए पसीने से उसकी सर्वांग साड़ी भीग गई थी, अब उस साड़ी से राधा को कृष्ण के शरीर की सुगन्ध आती रहती है। इसी आकर्षण एवं आनन्द के कारण वह अपनी साड़ी नही धुलवाती, बल्कि मैली-सी ही पहने रहती है।

राधा सदैव मुख नीचा किए कृष्ण के साथ व्यतीत किए गए सुखद दिनों की मधुर स्मृति मे खोई रहती है। वह कभी भी मुख ऊपर उठा कर नही देखती। उसकी यह दशा उस जुआरी जैसी है जो जुए मे अपनी समस्त पूंजी हार चुका हो और अब उसी सोच मे उदास बैठा हो। वह कृष्ण पर अपना सर्वस्व अर्पित कर चुकी है और अब उसी सोच मे उदास रहती है।

राधा के बाल बिखरे रहते है तथा मुख कुम्हलाया रहता है। उसकी यह कान्तिहीन दशा उस कमलिनी का स्मरण दिलाती है जो तुषारापात के कारण मुरझा गई है और अपनी समस्त सुन्दरता खो बैठी है। कृष्ण के निर्गुण-ब्रह्म के सन्देश को सुन कर तो वह मरणासन्न हो गई है। एक तो पहले ही कृष्ण के विरह मे सतप्त थी, अब उद्धव ने निर्गुण-ब्रह्म का उपदेश देकर उसे और भी अधिक व्यथित किया है, अब तो वह मृतप्राय ही है।

सूरदास जी कहते है, कृष्ण के विरह मे केवल राधा ही अकेली सतप्त नहीं, और न केवल उसकी ही ऐसी विषम स्थिति है, बल्कि कृष्ण की प्रिय सभी ब्रज-युवतियाँ कृष्ण के विरह मे राधा के समान मर्मान्तिक पीड़ा झेलती हुई किसी-न-किसी प्रकार जीवित है।

विशेष—(१) प्रस्तुत पद मे विरहिणी राधा का मार्मिक, प्रभावशाली एव सहानुभूतिपूर्ण वर्णन उपलब्ध होता है।

(२) इसमे विरह की अन्तिम अवस्था 'मरण' का चित्रण किया गया है।

अलंकार—(१) 'ज्यो······जुआरी' तथा 'ज्यो······मारी'—उपमा एवं उत्प्रेक्षा।

(२) 'हरि······अलि जारी'—काव्यलिंग।

ऊधो ! तुम हौ अति बड़भागी।
अपरस रहत सनेहतगा तें, नाहिन मन अनुरागी॥
पुरइनि-पात रहत जल-भीतर ता रस देह न दागी।
ज्यो जल माँह तेल की गागरि बूँद न ताके लागी॥
प्रीत-नदी मे पांव न बोर्‌यो, दृष्टि न रूप-परागी।
सूरदास अबला हम भोरी गुर चींटी ज्यों पागी॥१०१॥

शब्दार्थ—बड़भागी=बडे भाग्य वाले; भाग्यशाली। अपरस=अनासक्त, उदासीन। सनेहतगा=स्नेह का तागा, डोरा, बन्धन। पुरइनि=कमल। रस=जल। दागी=दाग तक नही लगता। बोर्‌यो=डाला। रूप-परागी=सौंदर्य मे उलझी। गुर=गुड। पगी=चिपक गई, आसक्त हो गई।

प्रसग—प्रस्तुत पद मे गोपियो ने अपने सगुण-प्रेम-पथ की भयकरता प्रकट करते हुए, उससे अपनी दृढता प्रदर्शित की है तथा उद्धव की प्रेम-सम्बन्धी उदासीनता पर व्यग्य किया है।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कहती है कि हे उद्धव ! तुम सचमुच अत्यन्त भाग्यशाली हो क्योकि तुम प्रेम-बन्धन से बिल्कुल स्वतन्त्र हो। प्रेम का तुम्हारे लिए कोई आकर्षण नही, और न ही तुम्हारा मन किसी के प्रेम मे अनुरक्त होता है अर्थात् तुम्हारा मन प्रेम की भावना से रिक्त है। जिस प्रकार कमल पुष्प के पत्ते सदा जल के पास रहते हैं किन्तु वे जल से अछूते ही रहते हैं, उन पर जल की एक बूद भी नही ठहरती है और जिस प्रकार तेल की मटकी को जल मे भिगोने पर जल की एक बूद भी उस पर नही ठहरती अर्थात् ये दोनो तेल का मटका और कमल का पत्ता जल के साहचर्य मे भी उससे अनासक्त रहते है उसी प्रकार तुम कृष्ण के समीप रहते हुए भी उनके रूपाकर्षण तथा प्रेम-बन्धन से सर्वथा मुक्त हो—इसलिए तुम वास्तव में भाग्यशाली हो।

वस्तुतः तुम आज तक प्रेम-रूपी नदी मे उतरे ही नही, अर्थात् तुमने कभी किसी से प्रेम ही नही किया और न ही कभी किसी के रूप-लावण्य ने तुम्हें आकर्षित

किया है—इस प्रकार न तो तुम रूप-पारखी हो और न ही तुम्हारा मन प्रेम-भाव से परिचित है। किन्तु हे उद्धव ! हम तो भोली-भाली ग्रामीण अबलाएं हैं और हम अपने प्रिय कृष्ण की रूप-माधुरी पर मोहित होकर इस प्रकार उनके प्रेम मे पग गई हैं कि अब उनसे विमुख नही हो सकती। हमारी यह स्थिति उन चीटियो के समान है जो गुड़ पर आसक्त हो उससे चिपट जाती है और फिर स्वयं को छुड़ा न पाने के कारण वही प्राण दे देती है।

विशेष—(१) प्रस्तुत पद में मुख्य भाव व्यग्य है। गोपियाँ उद्धव की प्रेम-हीनता पर व्यंग्य करती हुई उनकी भर्त्सना कर रही हैं।

(२) वस्तुतः व्यग्य यह है कि उद्धव भाग्यशाली न होकर अति अभागे हैं जो कृष्ण रूपी सौन्दर्य और प्रेम के सागर के किनारे पर बसते हुए भी उस आकर्षण और बन्धन से मुक्त हैं।

इस प्रकार 'अति बडभागी' मे व्यग्य है।

अलंकार—(१) सम्पूर्ण पद मे उपमा और दृष्टान्त अलंकार है।

(२) 'प्रीति···नदी' मे रूपक अलंकार है।

ऊधो ! यह मन और न होय।
पहिले ही चढ़ि रह्यो स्याम-रँग छुटत न देख्यो धोय॥
कैतब बचन छाँड़ि हरि हमको सोइ करैं जो मूल।
जोग हमैं ऐसो लागत हैं ज्यों तोहि चंपक फूल॥
अब क्यों मिटत हाथ की रेखा ? कहौ कौन बिधि कीजै।
सूर, स्यामसुख आनि दिखाओ जाहि निरखि करि जीजै॥१०२॥

शब्दार्थ—कैतब=छल, कपट। सोइ=वैसा ही, पहले-जैसा व्यवहार। मूल=मूलत', आरम्भिक। जाहि=जिसको। निरखि=देखकर। जीजै=जीवित रहे।

प्रसंग—गोपियों को उद्धव के ब्रह्म मे कोई रुचि नही। वे प्रस्तुत पद मे कृष्ण के प्रति अनन्यता और दृढ़ता व्यक्त कर रही है।

व्याख्या—हे उद्धव ! हमारा मन एक है और कृष्ण-प्रेम मे दृढ है, यह अपनी वर्तमान स्थिति से विचलित नही हो सकता। अर्थात् कृष्ण-प्रेम को

हमने इसे अनेक बार धोकर देख लिया है, यह रग किसी प्रकार छूट ही नही रहा। गोपियो का कहने का अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार काले रग को न तो धोकर उतारा ही जा सकता है और न ही उस रग के वस्त्र पर अन्य कोई रग चढाया जा सकता है; उसी प्रकार उन पर भी कृष्ण-प्रेम रूपी पक्का काला रग चढ गया है जो धोया नही जा सकता अर्थात् कृष्ण प्रेम से हम विमुख नही हो सकती और न ही हम उन्हे त्याग कर किसी अन्य को अर्थात् निर्गुण-ब्रह्म को स्वीकार कर सकती है।

अत: हमारी तुमसे प्रार्थना है कि तुम कृष्ण से जाकर कहो वह अपने छल-कपटपूर्ण उपदेश एव सन्देश भेजना छोड दे और हमसे उसी प्रकार का प्रेम-पूर्वक व्यवहार करे जिसका आरम्भ उन्होने यहाँ ब्रज मे रहते हुए किया था। हे उद्धव रूपी भ्रमर! हमारे लिए तुम्हारा यह योग उसी प्रकार अनाकर्षक और रसहीन लगता है जिस प्रकार तुम्हे चम्पा का फूल। यह सम्भव है कि तुम्हारे योग और निर्गुण-ब्रह्म मे चम्पा के पुष्प जैसी तीव्र गन्ध हो किन्तु हमारे लिए यह उसी प्रकार त्याज्य एव अस्वीकार्य है जिस प्रकार भ्रमर के लिए चम्पा का फूल।

हमारे भाग्य की रेखा किसी के मिटाए नही मिट सकती। हमारे भाग्य मे कृष्ण-प्रेम और तज्जन्य विरह-संताप ही बदा था। अब तुम बताओ क्या किसी विधि से इस विरह से हम छुटकारा प्राप्त कर सकती है। हम तो विरह मे ही सन्तुष्ट है। अनेक प्रयत्न करने पर भी हम तुम्हारे निर्गुण-ब्रह्म को अपनाने मे असफल हुई। अब तो हमारी कर जोड कर तुमसे यह प्रार्थना है कि किसी भाँति तुम कृष्ण को यहाँ लाकर उनके चन्द्रमुख के हमे दर्शन करा दो जिसे देख-देख कर हम जीवित रह सके। वस्तुत. वही तो हमारे जीवन के आधार हैं।

विशेष—(१) प्रस्तुत पद मे एक बार फिर गोपियो ने अपने कृष्ण-प्रेम की दृढता और अनन्यता प्रदर्शित की है।

(२) भ्रमर के सम्बन्ध मे यह प्रसिद्ध है कि वह चम्पा के पुष्प की तीव्र गन्ध के कारण उसके पास नही जाता। कवि ने इस उक्ति के माध्यम से गोपियों की निर्गुण ब्रह्म के प्रति अनासक्ति प्रदर्शित की है।

(३) भाग्य की रेखा अमिट है। ऐसा सभी धार्मिक ग्रन्थो मे कहा गया

है। इस सन्दर्भ में संस्कृत की एक उक्ति इस प्रकार है—

'यत्किंचिदि वधिना ललाट लिखित तन्मर्जितु क: क्षय: ।'

अलंकार—(१) 'पहले…धोय'—लोकोक्ति ।

(२) 'जोग चम्पक फूल'—उपमा ।

(३) 'स्याम रंग'—श्लेष ।

ऊधो ! ना हम बिरही, ना तुम दास ।
कहत सुनत घट प्रान रहत हैं, हरि तजि भजहु अकास ॥
बिरही मीन मरत जल बिछुरे छाड़ि जियन की आस ।
दास भाव नहिं तजत पपीहा वरु सहि रहत पियास ॥
प्रगट प्रीत दसरथ प्रतिपाली प्रीतम के बनबास ।
सूर स्याम सों दृढ़व्रत कीन्हों मेटि जगत-उपहास ॥१०३॥

शब्दार्थ—अकास=आकाश, शून्य, निर्गुण ब्रह्म । मीन=मछलियाँ । जियन की=जीवित रहने की । वरु=भले ही । प्रतिपाली=पालन की । जगत-उपहास=संसार द्वारा किया जाने वाला उपहास, निन्दा ।

प्रसंग—गोपियो के मत मे उनका अपना कृष्ण-प्रेम पूर्ण परिपक्व नही और न ही उद्धव कृष्ण के सच्चे सेवक ही हैं । प्रस्तुत पद मे उन्होने इन्ही दो बातो का स्पष्टीकरण किया है ।

व्याख्या—हे उद्धव ! सच्चे अर्थो मे न तो हम कृष्ण-प्रेम मे विरह-संतप्त हैं और न ही तुम कृष्ण के सच्चे सेवक ही प्रतीत होते हो । यदि हम कृष्ण की वास्तविक विरहिणी होती तो तुम्हारे निर्गुण-ब्रह्म के सन्देश को सुन कर अब तक प्राण त्याग कर चुकी होती । तुम हमसे कृष्ण को त्याग कर शून्य अर्थात् निर्गुण ब्रह्म की आराधना करने की बात कर रहे हो और फिर भी हम तुम्हारी ऐसी भयकर एव प्राण घातक उक्तियो को सुन कर अभी तक अपने प्राण धारण किए हुए है । तुम कृष्ण के सच्चे सेवक इसलिए नही हो कि तुम उनसे विश्वासघात कर रहे हो क्योकि तुम कृष्ण के सेवक होते हुए भी उन्हे त्याग कर निर्गुण ब्रह्म को अपना लेने के लिए उकसा रहे हो । तुम स्वयं भी निर्गुण ब्रह्म के उपासक हो । अतः इससे बडा विश्वासघात क्या हो सकता है कि तुम सेवक तो हो कृष्ण के और आराधना करते हो निर्गुण ब्रह्म की ।

हमारी समझ मे सच्ची विरहिणी तो मछली है जो अपने प्रियतम जल से विछुड़ते ही अपने जीवन की आशा त्याग कर, प्राण छोड देती है। और पपीहा ही सच्चा सेवक कहा जा सकता है जो निरन्तर प्यासे रहने की यन्त्रणा को वर्दाश्त करता है परन्तु फिर भी मेघ के प्रति अपने सेवा-भाव का त्याग नही करता अपितु सदा उसी का नाम रटता रहता है। न तो हम मछली के समान है क्योकि हमने कृष्ण से बिछुड़ कर भी प्राण धारण किये हुए है अत· हमे सही विरहिणी नही कहा जा सकता। और न ही तुम पपीहे के समान सेवक ही हो क्योकि तुम कृष्ण के सेवक होकर भी उनसे विमुख हो।

सच्चे प्रेम का पालन और सच्ची सेवकाई का परिचय राजा दशरथ ने दिया था क्योकि उन्होने प्राणाधार पुत्र राम के वनवास की ओर प्रस्थान करते ही उनके वियोग मे अपने प्राणो का त्याग कर दिया था। हमने भी ससार के उपहास और निन्दा की चिन्ता छोड कर उसी प्रकार कृष्ण से दृढ़तापूर्वक प्रेम करते रहने का प्रण किया था। किन्तु हम राजा दशरथ के समान अपने इस प्रेम का पालन करने मे असमर्थ रही है क्योकि तुम्हारे मुख से योग और निर्गुण ब्रह्म का सन्देश सुन कर तथा कृष्ण को त्याग निर्गुण ब्रह्म की उपासना करने की बात सुन कर भी हम अभी तक जीवित है। इसके अतिरिक्त राजा दशरथ की भाँति प्रिय कृष्ण के वियोग मे प्राण भी नही त्याग सकी है—अत· हमे सच्ची विरहिणी नही कहा जा सकता।

विशेष—प्रस्तुत पद की प्रथम पंक्ति उक्ति-वैचित्र्य का सुन्दर उदाहरण है।

अलंकार—(१) 'विरही······पियास' मे काव्यलिग तथा उदाहरण दोनों अलकार स्वीकार किये जा सकते है।

(२) 'प्रगट······वनवास' में उदाहरण अलंकार, इसमे उपमा अलकर भी माना जा सकता है।

ऊधो ! कही सो बहुरि न कहियो।
जो तुम हमहिं जिवायो चाहो अनबोले ह्वै रहियो॥
हमरे प्रान अघात होत हैं, तुम जानत हो हाँसी।
या जीवन तें मरन भलो है करवट लैबो कासी॥
जब हरि गवन कियो पूरब लौं तब लिखि जोग पठायो।

यह तन जरिकै भस्म ह्वै निबर्‌यो बहुरि मसान जगायो ॥
कै रे ! मनोहर आनि मिलायो, कै लै चलु हम साथे ।
सूरदास अब मरन बन्यो है, पाप तिहारे माथे ॥१०४॥

शब्दार्थ—बहुरि=फिर । अनबोले=मौन, चुप, शान्त । अघात=आघात, चोट । हाँसी=मजाक । करवट लैबो कासी=काशी करवट लेना—पहले लोग मुक्ति को इच्छा से काशी मे अपने को आरे से चिरवा डालते थे, उसी को करवट लेना कहते थे । निबर्‌यो=समाप्त हो गया । मसान=श्मशान । कै=या तो । मरन बन्यो है=मरण निश्चित है ।

प्रसंग—गोपियो के बार-बार मना करने पर भी उद्धव अपने योग-सन्देश का राग अलापते रहते है, इससे गोपियाँ क्षुब्ध हो उठती है और उद्धव को फटकार सुनाती है ।

व्याख्या—हे उद्धव ! अब तक तुम जो कुछ हमसे कहते रहे, हम बर्दाश्त करती रही किन्तु अब कुछ और न कहना । यदि तुम हमे जीवित देखना चाहते हो तो अब मौन ही बने रहना । गोपियो का कहने का तात्पर्य यह है कि अब उद्धव ने अपनी योग और निर्गुण ब्रह्म की बातो को दोहराया तो उन्हे सुन कर हमारी मृत्यु निश्चित है । हम तुम्हे बार-बार ऐसी बाते न कहने के लिए प्रार्थना कर रही है । किन्तु उन्हें तुम मजाक समझ कर टाल जाते हो और अपना उपदेश जारी रखते हो । वस्तुत. तुम्हारी इन बातो को सुन कर हमारे हृदय को भयानक चोट पहुँचती है । कृष्ण के वियोग मे यह जीवन व्यर्थ है, इससे तो मृत्यु ही श्रेयस्कर है । इस प्रकार तड़पने से तो हमारे लिए यही उचित है कि काशी करवट लेकर अपने प्राण ही त्याग दे । जब कृष्ण यहाँ से पूर्व की दिशा की ओर अर्थात् मथुरा की ओर गये तो हमे योग का सन्देश लिख कर भेज दिया । एक तो उनके चले जाने पर हम उनके विरह मे पहले ही अत्यधिक सतप्त और दुखी थी, उस पर उन्होने यह योग का सन्देश भेज कर हमे मर्मान्तिक कष्ट पहुँचाया है । हमारा यह शरीर तो कृष्ण की विरहाग्नि मे जल कर पहले ही भस्म हो चुका है । अब तुम इस योग साधन के सन्देश द्वारा हमें पुनः श्मशान-जगाने का सन्देश देने आए हो । गोपियो के कहने का तात्पर्य यह है कि उनका शरीर तो पहले ही कृष्ण की विरहाग्नि में जल कर राख हो चुका है, अतः अब इस शरीर द्वारा

पुनः श्मशान जगाने जैसी भयकर योग साधना करना किस प्रकार सम्भव हो सकता है।

हे उद्धव ! यदि तुम हमारा हित चाहते हो तो फिर तुम्हारे लिए यही उचित है कि या तो मनोहर कृष्ण को मथुरा से लाकर हमसे मिला दो अथवा हमे मथुरा ले जाकर उनके दर्शन करा दो। कृष्ण का वियोग अब हमारे लिए असह्य हो चुका है, हमारी मृत्यु निश्चित है, यदि हमारी रक्षा का तुम कोई उपाय नही करते तो हमारी मृत्यु का पाप तुम्हारे सिर पर ही चढेगा।

विशेष—(१) इस पद मे विरह की अन्तिम दशा 'मरण' का चित्रण किया गया है।

(२) 'करवट लैबो कासी'—प्राचीन काल मे लोग मुक्ति की इच्छा से काशी जाते थे और वहाँ स्वय को आरे से कटवा डालते थे। इसी क्रिया को 'काशी करवट लेना' कहते है।

(३) 'मसान जगायो'—साधक श्मशान मे जलती हुई चिता के पास बैठ कर उसकी अग्नि मे तपते हुए श्मशान जगाने की साधना करते है।

ऊधो ! तुम अपनो जतन करौ।
हित की कहत कुहित की लागै, किन बेकाज ररौ ?
जाय करौ उपचार आपनो, हम जो कहत हैं जी की।
कछू कहत कछुवै कहि डारत, धुन देखियत नहिं नीकी॥
साधु होय तेहि उत्तर दीजै तुमसों मानी हारि।
याही तें तुम्हे नँदनंदनजू यहाँ पठाए टारि॥
मथुरा वेगि गहौ इन पांयन, उपज्यौ है तन रोग,
सूर सुबैद वेगि किन ढूँढ़ौ भए अर्द्धजल जोग॥१०५॥

शब्दार्थ—जतन=यत्न, प्रबन्ध। कुहित=बुरी। बेकाज=व्यर्थ। ररौ=हठ, रार ठानते हो, लडते हो। उपचार=इलाज। नीकी=अच्छी। साधु=सज्जन। टारि=टालकर, पीछा छुड़ा कर। वेगि=शीघ्र। गहो=जाओ। सुबैद=श्रेष्ठ वैद्य। किन=क्यो नही। अर्द्धजल=मरने के निकट। जोग=योग्य।

प्रसंग—गोपियो द्वारा बार-बार मना करने पर भी उद्धव अपने योग और निर्गुण-ब्रह्म सम्बन्धी बाते दोहराये चले जा रहे है। इस पर गोपियाँ उन्हें

सन्निपान-ग्रस्त । सिद्ध करके उनसे कह रही हैं ।

व्याख्या—हे उद्धव ! तुम्हे सन्निपात जैसा कोई भयानक रोग लग गया है, जो तुम बार-बार वही बकझक किये चले जा रहे हो, तुम अपना कोई यत्न उपाय करो । हम तो तुम्हारे हित की बात ही कह रही है किन्तु तुम्हे वह अहितकर और बुरी लग रही है। यही कारण है कि तुम हमारे साथ व्यर्थ ही रार ठान रहे हो, लड़ाई कर रहे हो। हम तो सच्चे हृदय से तुम्हे यह सलाह दे रही हैं कि तुम जाकर कही अपना ठीक से उपचार करवाओ। तुम्हे कोई-न-कोई भयानक रोग लग गया है क्योकि तुम कहना तो कुछ और चाहते हो किन्तु अनजाने मे कह कुछ और जाते हो। अपनी धुन मे निरन्तर बक-झक किये जा रहे हो । अब तो तुम्हे अच्छे-बुरे की पहचान ही नही रह गई । हमे तुम्हारे ये लक्षण ठीक नही लगते । तुम सन्निपात के रोगी के समान अट-संट बके चले जा रहे हो। यदि कोई सज्जन पुरुष हो और बात को समझता हो तो उसे कुछ उत्तर दिया जाय, तुम ठहरे झक्की, तुमसे कौन बहस करे, हम तो तुमसे हार मानती हैं ।

लगता है, कि तुम्हारे इसी झक्की स्वभाव से नन्दनन्दन श्रीकृष्ण भी तग आ चुके थे और तुमसे पीछा छुडाने के लिए उन्होने तुम्हे टाल कर यहाँ भेज दिया है और अब तुम अपनी बक-झक से हमे दुखी कर रहे हो। तुम्हारे शरीर मे भयानक रोग उत्पन्न हो गया है, तुम्हे एक श्रेष्ठ वैद्य की आवश्यकता है जो तुम्हारे इस रोग का उचित इलाज कर सके, ऐसा वैद्य तो मथुरा मे ही उपलब्ध हो सकता है, अत. तुम्हारे लिए यही उचित है कि तुम शीघ्र ही वहाँ चले जाओ, तनिक भी देर न करो ।

विशेष—(१) वस्तुत: गोपियाँ उद्धव के योग के सन्देश को उनकी बक-झक कह कर उनका मज़ाक कर रही है, और भयानक रोगी सिद्ध कर रही है।

(२) 'अर्द्धजल'=रोगी जब मरने को होता है तो उसे अर्द्धजल अर्थात् गगाजल दिया जाता है। इस प्रकार यहाँ इस शब्द द्वारा सन्निपात मे ग्रस्त उद्धव को मरणासन्न-सी दशा की ओर सकेत कर गोपियाँ उनका मजाक उडा रही हैं ।

ऊधो ! जाके माथे भाग ।
कुबजा को पटरानी कीन्हीं, हमहिं देत बैराग ॥

तलफत फिरत सकल व्रजवनिता चेरी चपरि सोहाग।
वन्यो वनायो संग सखी री! वै रे! हंस वै काग।।
लौंडी के घर डौंड़ी वाजी स्याम राग अनुराग।
हाँसी, कमलनयन-सँग खेलति वारहमासी फाग।।
जोग की वेलि लगावन आए काटि प्रेम को वाग।
सूरदास प्रभु ऊख छाँड़ि कै चतुर चिचोरत आग।।१०६।।

शब्दार्थ—जाके=जिसके। माथे भाग=भाग्य मे लिखा हुआ। पटरानी=मुख्य रानी। व्रजबनिता=व्रज की वालाएं, गोपियां। चेरि=दासी। चपरि=चुपडकर, सयुक्त करके। सोहाग=सौभाग्य। वै=वे, वैसे ही। काग=कौआ। डौडी=दुँदुभी। फाग=होली। वेलि=वेल, लता। चिचोरत=चूसते है। आग=गन्ने का ऊपरी पत्तो वाला भाग जिसे गाँव में 'अगोला' कहते है।

प्रसंग—उद्धव को खरी-खोटी सुनाते-सुनाते गोपियाँ वीच-वीच मे प्रसग वदल देती है। यहाँ वे कुब्जा के कृष्ण की पटरानी वन जाने पर उसके भाग्य से ईर्ष्या करती हुई अपने भाग्य को दोष दे रही है।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हे उद्धव! जिसके भाग्य मे जो वदा है, वैसा ही उसके सम्मुख आता है। यह कुब्जा के भाग्य मे ही था कि उसे कृष्ण ने अपनी मुख्य रानी वना लिया और हमारे दुर्भाग्य के कारण ही उन्होंने तुम्हे हमारे पास वैराग्य और योग की शिक्षा देने के लिए भेजा है। यह अपनी-अपनी किस्मत है कि हम व्रज-नारियाँ कृष्ण के विरह मे सतप्त तड़पती फिर रही हैं जवकि दासी कुब्जा को कृष्ण ने अपनी रानी वना कर अत्यन्त सौभाग्यशाली वना दिया है।

अव गोपियाँ परस्पर आपस मे वाते करने लगती है और एक गोपी अपनी दूसरी सखी को सम्वोधित करती हुई कहती है, हे सखी! देख तो! विधाता ने कृष्ण और कुब्जा की कैसी विलक्षण जोड़ी का निर्माण किया है? ऐसा प्रतीत होता है जैसे हँस और कौए की जोड़ी हो अर्थात् कृष्ण तो हँस के समान सुन्दर हैं और शुभ का प्रतीक हैं जवकि कुब्जा कौए के समान अशुभ और असुन्दर है। यह अपने-अपने भाग्य की वात है कि आज दासी के घर आनन्द की दुन्दुभी और शहनाई वज रही है। वह तो श्याम के प्रेम को

प्राप्त करके अत्यन्त अनुरागमयी हो गई है और प्रफुल्लित है। वह दिन-रात प्रसन्न-चित्त और उमंगित होकर कमलनयन कृष्ण के साथ क्रीड़ा-विहार में मस्त है। ऐसा प्रतीत होता है कि उसके लिए बारह मास ही फागुन मास हो और वह इस प्रकार कृष्ण के साथ सदा होली खेलती रहे। उसका प्रत्येक क्षण कृष्ण के साथ आनन्द मे ही व्यतीत हो।

हे उद्धव! यह भी भाग्य की ही बात है कि तुम यहाँ व्रज मे विशाल वाटिका के समान सघन, हरे-भरे, कभी न शुष्क होने वाले प्रेम उपवन को उजाडने आए हो और उसमे प्रेम के स्थान पर योग की लता को सीचना चाहते हो। इस प्रकार तुम हमे उत्कृष्ट कृष्ण-प्रेम से विमुख करके निकृष्ट योग और निर्गुण ब्रह्म को अपना लेने का उपदेश दे रहे हो। हमारी समझ मे तो यह वैसा ही व्यर्थ और मूर्खतापूर्ण कार्य होगा जैसे कि किसी बुद्धिमान पुरुष का रस पूर्ण गन्ने को त्याग कर आग या अगोले का भक्षण करना जो कि वस्तुत. पशुओ का भोज्य है। गोपियो के कहने का अभिप्राय यह है कि कृष्ण-प्रेम गन्ने के समान रसपूर्ण और मधुर है, उसे त्याग पशुओ के लिए उपलब्ध फीके अगोला के समान तुम्हारे निर्गुण ब्रह्म को हम स्वीकार करे, ऐसी मूढ हम नही।

विशेष—(१) प्रस्तुत पद मे गोपियो के कुब्जा के प्रति 'असूया' भाव का अत्यन्त सुन्दर चित्रण हुआ है। उनकी कुब्जा के भाग्य के प्रति ईर्ष्या और खीझ दर्शनीय है।

(२) 'आग'—शुक्ल जी ने इस शब्द का अर्थ 'आक' अथवा मदार किया है जो उचित प्रतीत नही होता, क्योकि, सभी जानते हैं कि आक अभक्ष होती है। अत. इस शब्द से तात्पर्य गन्ने के हरे पत्तो वाले ऊपरी भाग से है, जिसे पशुओ के चारे के लिए प्रयोग किया जाता है। इसे गाँव में 'अगोला' कहा जाता है। गन्ने का त्याग कर इसका खाना मूर्खता का प्रतीक है।

अलंकार—'जोग की ······चिचोरत आग'—रूपक।

ऊधो! अब यह समुझ भई।
नँदनँदन के अंग अग प्रति उपमा न्याय दई॥
कुंतल, कुटिल भँवर, भरि भाँवरि मालति भुरै लई।
तजत न गहरु कियो कपटी जब जानी निरस गई॥

आनन इंदु-बरन-समुख तजि करखे तें न नई।
निरमोही नहिं नेह, कुमुदिनि अंतहि हेम हई॥
तन घनश्याम सेइ निसिबासर, रटि रसना छिजई।
सूर विवेकहीन चातक-मुख बूँदौ तौ न सई॥ ॥१०७॥

शब्दार्थ—प्रति=लिये। उपमा न्याय दई=उचित उपमाएँ दी, अगो ने उपमानो के अनुरूप ही आचरण किया। कुन्तल=केश राशि। कुटिल=घुघराले। भरि-भाँवरि=बार-बार चारो ओर चक्कर काट कर। भुरै लई=भुलावे मे डाल दिया। गहरु=विलम्ब। निरस गई=नीरस, रसहीन हो गई। आनन=मुख। तजि=छोड़ कर। करखे ते=खीचने पर भी। नेह=स्नेह, प्रेम। कुमुदिनी=चन्द्रमुखी। हेम हई=पाले से मार डाला। निसि-वासर=रात-दिन। रसना=जीभ। छिजई=नष्ट हो गई। सई=जमाई, गई।

प्रसग—उद्धव के बार-बार यह कहने पर कि योग का सन्देश कृष्ण ने भेजा है, अतः उन्हे अपना लेना चाहिए, गोपियाँ खीझ उठती है और कृष्ण के सौन्दर्य का वर्णन करने के लिए अनेक कवियो द्वारा उनके अग-प्रत्यगो के लिए प्रयुक्त उपमाओ के माध्यम से उन्हे छली और कपटी सिद्ध करती है। वे उद्धव से कहती है कि—

व्याख्या—हे उद्धव! अब यह बात हमारी समझ मे भलि-भाँति आ गई है कि अनेक कवियो ने नन्दनन्दन कृष्ण के सौन्दर्य एव अग-प्रत्यगो के लिए जो-जो उपमाएँ निर्धारित की है, वे पूर्णत. न्यायोचित एव संगत हैं। अब तक ये उपमाएँ उनके सौन्दर्य का प्रतीक स्वीकार की जाती थी किन्तु वस्तुत· ये उनके छली-कपटी स्वभाव का ही उद्घाटन करती हैं।

कृष्ण के घुघराले बालो की उपमा कुटिल भ्रमर से दी गई है। यह उचित ही है क्योकि जिस प्रकार भ्रमर भोली भाली मालती के चारो ओर गुजार करता हुआ भुलावा देकर उसे अपने जाल में फाँस लेता है और जी भर कर उसका रसपान करता है और जब वह जान लेता है कि वह नीरस हो गई है, उसका सौन्दर्य नष्ट हो गया है तो वह कपटी उसे त्यागने मे, तिलांजलि देने मे तनिक भी विलम्ब नही करता। वह उसे छोड कर अन्य पुष्पो की ओर रस की तलाश मे निकल पडता है। उसी प्रकार कपटी कृष्ण ने हम भोली-भाली ब्रजनारियो को अपने घुघराले सुन्दर बालो के आकर्षण मे

बाँध लिया और हमसे जी भर कर क्रीड़ा विहार किया और हमे उसने रसहीन करके त्याग दिया और अब मथुरा में जाकर कुब्जा के साथ प्रेमालाप मे मग्न हो गए है।

कृष्ण के मुख की उपमा चन्द्रमा से दी जाती है। कुमुदिनी चन्द्रमा की अनुपम अनुरागिनी है। वह निरन्तर टकटकी बाँधे उसी की ओर निहारती रहती है, चाहे कितनी ही विपत्तियाँ आएँ, वज्रपात हो, ओले गिरे अथवा तूफान आए उसकी दृष्टि नीचे की ओर नही झुकती किन्तु चन्द्रमा इतना निष्ठुर और निर्मोही है कि अपनी ऐसी अनन्य प्रेमिका को पाला गिरा कर मार डालता है। कृष्ण ने हमारे साथ भी ठीक ऐसा व्यवहार किया है। हम तो सब मुसीबते झेलती हुई—विरह संतप्त होते हुए उनसे प्यार का नाता निवाहे जा रही थी कि उन्होंने तुम्हारे द्वारा योग का सन्देश भेजकर हमारे ऊपर तुषारापात किया है।

कृष्ण के शरीर की उपमा श्याम मेघ से दी गई है। चातक श्याम-घन का अनन्य प्रेमी है। वह प्रतिपाल पी-पी रटता हुआ अपनी जिह्वा को घिस डालता है किन्तु यह घन इतना निर्मोही, विवेकहीन होता है कि कभी भी चातक के मुख मे स्वाति जल की एक बूद नही टपकाता। चातक के समान हम भी कृष्ण का नाम रटते-रटते नही अघाई, किन्तु स्वाति जल की बूद के रूप मे वह अपने दर्शन देकर हमें जीवन दान देने के वजाय प्राणघातक योग का सन्देश दे रहे है—जो उनकी निष्ठुरता और विवेकहीनता का परिचायक है।

इस प्रकार कृष्ण के लिए प्रयुक्त उक्त तीनो उपमाएँ सार्थक है और उन्हे छली, कपटी और धोखेबाज सिद्ध करती है।

विशेष—(१) गोपियाँ कृष्ण-सौन्दर्य के लिए प्रयुक्त विभिन्न उपमानो को नवीन अभिव्यक्ति देकर कृष्ण को छली कपटी सिद्ध कर रही है।

(२) 'हेम हई'—चन्द्रमा को हिमकर अर्थात् हिम के समान शीतल किरणो वाला है।

(५) सम्पूर्ण पद में अप्रस्तुत-प्रशसा अलकार स्वीकार किया जा सकता है।

ऊधो ! हम अति निपट अनाथ ।
जैसे मधु तोरे की माखी त्यों हम बिनु ब्रजनाथ ॥
अधर - अमृत की पीर मुई, हम बालदसा तें जोरी ।
सो तौ बधिक सुफलकसुत लै गयो अनायास ही तोरी ॥
जब लगि पलक पानि मीड़ति रही तब लगि गए हरि दूरी ।
कै निरोध निबरे तिहि अवसर दै पग रथ की धूरी ॥
सब दिन करी कृपन की संगति, कबहुँ न कीन्हों भोग ।
सूर विधाता रचि राख्यो है, कुबजा के मुख-जोग ॥१०८॥

शब्दार्थ—निपट=बिलकुल। मधु तोरे की माखी=शहद का छत्ता तोडने पर उसकी भटकती हुई मक्खियाँ। मुई=मर गई, नष्ट हो गई। बधिक=बहेलिया, शिकारी। पानि=हाथ। निरोध=विरोध, रोकना। धूरी=धूल। कृपण=कृपन, कंजूस।

प्रसंग—प्रस्तुत पद मे गोपियाँ अपनी सम्पूर्ण अखंडता, व्यग्य और खीझ त्याग चुकी है। अब वह उद्धव के सम्मुख अपनी सम्पूर्ण सचित अभिलाषाओ के अपूर्ण रह जाने के कारण तज्जन्य वेदना का वर्णन कर रही है।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कह रही है कि वे बिल्कुल अनाथ हो गई है। ब्रजनाथ कृष्ण हमारे एकमात्र सहारा और समस्त आकाँक्षाओ के केन्द्र बिन्दु थे। उनके मथुरा गमन के उपरान्त अब हम इस प्रकार अनाथ एव निराश्रय होकर भटकती फिर रही है जिस प्रकार मधु के छत्ते को तोड देने पर मधुमक्खियाँ आश्रय-स्थल से वचित हो व्याकुल बन कर इधर-उधर भटकती फिरती है। हमने अपने शैशव-काल से ही इस अभिलाषा को सजोकर रखा हुआ था कि कृष्ण के युवावस्था को प्राप्त हो जाने पर उनके अधरामृत का पान कर आनन्द लाभ करेगी। किन्तु अब कृष्ण के मथुरा चले जाने पर हमारी इच्छा मन मे रह गई है, इसे उपभोग न कर पाने की वेदना का शमन भी हो गया है। अक्रूर जी यहाँ एक बधिक के रूप मे आए और हमारी संचित अभिलाषा के आधार स्वरूप कृष्ण रूपी मधु के छत्ते को अनायास ही

तोड़ कर ले गये। हमारी मन की मन में रही अर्थात् हम अपनी इच्छाओ को कार्यान्वित न कर सकी। अभी कृष्ण युवावस्था को प्राप्त हो रहे थे। वह यहा रहते, हमे अपने प्रेम की पीगो मे झुलाते किन्तु यह सब अक्रूर जी के कारण सम्भव न हो सका।

इस एकाएक हुई हानि से अचम्भित, विस्मत हम अभी सभल भी न पाई थी कि कृष्ण हमसे बहुत दूर निकल गये, हम तो अपनी आँखो को ही मीड़ती रह गई। जब तक इस आकस्मिक घटना के प्रभाव से मुक्ति प्राप्त करती तब तक कृष्ण बहुत दूर जा चुके थे, हमारी पहुँच से बाहर हो चुके थे। हमने उस समय कृष्ण को रोकने के अनेक प्रयत्न किए किन्तु सब निष्फल हुए, अक्रूर रथ पर बैठा कर पीछे धूल उड़ाता हुआ उन्हे भगा ले गया।

जब तक कृष्ण हमारे पास यहाँ रहे, हमने उनके साथ कृष्ण को सगति जैसा व्यवहार किया, उनसे कभी भी भोग-विलास नही किया। उनके साथ भोग-विलास करने की अपनी उद्दाम लालसा को हम कृष्ण सम्पत्ति के समान छिपाती रही, कभी भी अपनी इच्छा को कृष्ण के सम्मुख प्रकट नही होने दिया। अब हम इस चूक के लिए किसको दोष दे, वस्तुतः हम स्वय ही इसके लिए उत्तरदायी है। सम्भवतः विधाता ने हमारे भाग्य मे ही यह लिखा था कि हमे कृष्ण के साथ क्रीड़ा-विहार का अवसर प्राप्त नही हो सकेगा। विधाता ने तो कुब्जा के लिए यह सयोग बना रखा था तभी तो वह अपने मुख से कृष्ण के अधरामृत का पान कर रही है।

विशेष—(१) प्रस्तुत पद मे गोपियो की दीनता का अत्यन्त सुन्दर और मार्मिक चित्र प्रस्तुत हुआ है।

(२) मधु के छत्ते का उदाहरण देकर कवि यह कहता है कि गोपियाँ मधुमक्खियो के समान उचित समय तक कृष्ण के रस-भोग की अभिलाषा को सचित कर रही थी।

(३) 'कुब्जा के मुख-जोग' से अभिप्राय है कि विधाता ने कुब्जा के मुख के भाग्य मे कृष्ण के अधरामृत के पान करने का सयोग लिख रखा था। अनेक व्याख्याकारो ने इस पक्ति का अर्थ इस प्रकार भी किया है—'कृष्ण के अधरामृत का पान करने के योग्य कुब्जा का ही मुख था।'

अलंकार—उपमा।

ऊधो ! ब्रज की दसा बिचारौ ।
ता पाछै यह सिद्धि आपनी जोगकथा बिस्तारौ ।।
जेहि कारन पठए नँदनँदन सो सोचहु मन माहीं ।
केतिक बीच बिरह परमारथ जानत हौ किधौं नाहीं ।।
तुम निज दास जो सखा स्याम के संतत निकट रहत हौ ।
जल बूड़त अवलब फेन को फिरि फिरि कहा गहत हौ ?
वै अति ललित मनोहर आनन कैसे मनहिं बिसारौं ।
जोग जुक्ति औ मुक्ति विविध विधि वा मुरली पर वारौं ।।
जेहि उर बसे स्यामसुंदर घन क्यों निर्गुन कहि आवै ।
सूरस्याम सोइ भजन बहावै जाहि दूसरो भावै ।।१०६।।

शब्दार्थ—बिस्तारौ=फैलाओ; प्रचार करो। जेहि=जिस। केतिक=कितना। बीच=अन्तर। परमारथ=मुक्ति। सतत=निरन्तर। फेन=झाग। गहत=पकडते हो। बिसारौं=भुला दें। जुक्ति=युक्ति; विधान। वारौं=न्यौछावर कर दूँ। जेहि=जिसके। उर=मन; हृदय मे। घन=सघन रूप से। बहावै=दूर करे। भावै=अच्छा लगे।

प्रसंग—गोपियाँ उद्धव से अनुरोध कर रही है कि वह अपने योग का प्रचार करने से पूर्व ब्रज तथा उसके निवासियों की दशा; परिस्थिति एव मानसिक स्थिति को परख ले। सम्भवतः वे इस योग के उपदेश को ग्रहण करने के योग्य ही न हो। इसी आशय को लेकर वे उद्धव से निवेदन करती है—

व्याख्या—हे उद्धव ! तुम्हारे लिए सर्वप्रथम उचित यही है कि तुम ब्रजवासियो की मानसिक दशा का अध्ययन-परीक्षण कर लो, सम्भवत· वे योग एव निर्गुण-ब्रह्म को ग्रहण करने के योग्य ही न हो। तदुपरान्त यदि तुम उचित समझो तो अपने योग का प्रचार करना। तुम अपने मन मे एक बार पुन· विचार तो कर लो, कि तुम्हे नन्दनन्दन श्रीकृष्ण ने किस उद्देश्य से यहाँ भेजा है ? तुम उनका कौन-सा कार्य सिद्ध करने यहाँ आए हो ?

क्या तुम विरह और मुक्ति मे स्थित अन्तर को भलीभाँति जानते हो, सम्भवत. तुम इससे परिचित नही हो; क्योकि, विरही मोक्ष की कामना कभी नही करता, वह सदा अपने प्रियतम के सानिध्य एवं दर्शनों की अभिलाषा

रखता है और उसी के लिए सन्तप्त रहता है। हमे भी मुक्ति की कामना नही है, इसलिए हमे तुम्हारा निर्गुण-ब्रह्म ग्राह्य नही, हमे सदा श्रीकृष्ण के दर्शनो की ही इच्छा रहती है। तुम श्रीकृष्ण के विशेष सेवक हो तथा उनके अभिन्न मित्र होने के कारण सदा उनके निकट रहते हो, फिर भी तुम उनकी प्रकृति को समझ नही पाए, तभी तो तुम्हे अपने यहाँ भेजने का वास्तविक अभिप्राय समझ नही आया। अपनी इस अज्ञानता की दशा मे तुम हमे निर्गुण-ब्रह्म का उपदेश दे रहे हो जो हमारे लिए बिलकुल वैसा है जैसा एक डूबते हुए का झाग को पकड कर बचने का उपाय करना। तुम तो स्वय ही भ्रम मे हो और तुम्हारी आत्मा एव मानस निर्गुण-ब्रह्म रूपी भ्रमान्धकार मे भटकी हुई है। इस अन्धकार मे स्वय तो डूब ही रहे हो, हमे भी डुबाने आए हो।

कृष्ण का अति मनोहारी मुखडा ही मानव का वास्तविक अवलम्ब है, ऐसे मनोहारी स्वरूप को हम किस प्रकार भुला सकती है। हम तो कृष्ण की उस मधुर, सुरीली मुरली पर तुम्हारे समस्त योग तथा तज्जन्य साधनाएँ एव उससे प्राप्त मुक्ति न्यौछावर करती है। हम तो कृष्ण की मुरली के सम्मुख तुम्हारे निर्गुण को तुच्छ समझती है। हमारे जिन हृदयो मे श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण गहन रूप से विराजमान है, उनमे तुम्हारा ब्रह्म किस प्रकार प्रवेश कर सकता है? यह असम्भव है। अपने प्रियतम का भजन तो वही त्याग सकता है, जिसे अपने प्रिय के अतिरिक्त भी कोई अच्छा लगता है, हमे अन्य कोई अच्छा नही लगता, हम तो केवल एकमात्र कृष्ण की आराधना करती है, अत. हमारे लिए तुम्हारे निर्गुण-ब्रह्म को स्वीकार करना असम्भव है, यह तो एक प्रकार से व्यभिचार ही कहलाएगा।

विशेष—(१) सम्पूर्ण पद मे गोपियो की कृष्ण के प्रति अनन्य प्रेम-निष्ठा और दृढ़ता का प्रकाशन हुआ है।

(२) इस पद में विरह और मोक्ष का अन्तर भी स्पष्ट किया गया है। कवि के मत मे विरही मोक्ष की कामना नही करता। वह तो अपने प्रिय के दर्शनो के लिए सदा लालायित रहता है।

अलकार—सम्पूर्ण पद मे रूपक अलकार है।

ऊधो ! यह हित लागै काहै ?
नयन तपत दरसन को तुम जो कहत हिय-माहै ॥

नींद न परति चहूँदिसि चितवति विरह अनल के दाहै।
उर ते निकसि करत क्यों न सीतल जो पै कान्ह यहाँ है॥
पा लागों ऐसे हि रहन दे अवधि आस-जल-थाहै।
जनि बोरहि निर्गुन-समुद्र में, फिरि न पायहौं चाहै॥
जाको मन जाही तें राच्यो तासों बनै निबाहै।
सूर कहा लै करै पपीहा एते सर सरिता हैं? ॥११०॥

शब्दार्थ--काहै=किसको। हिय-माहै=हृदय मे। चितवति=देखती हैं। अनल=अग्नि। थाहै=थाह मे। बोरहि=डुबाओ। चाहै=चाहने पर भी। राच्यो=अनुरक्त हुआ। तासो=उससे। बने निबाहै=निर्वाह होता है। एते=इतने।

प्रसग--विरह की एकमात्र अभिलाषा प्रिय का सामीप्य एव दर्शन पाना होता है। जबकि उद्धव के मत मे ब्रह्म घट-घट वासी है और वह गोपियों के हृदय मे भी विराजमान है इसलिए वह अपनी विरह वेदना को दूर कर सकती हैं। इसके प्रत्युत्तर मे गोपियाँ अपने तर्क इस प्रकार प्रस्तुत करती हैं—

व्याख्या—हे उद्धव! तुम्हारा यह कहना कि ब्रह्म घट-घट वासी है और उससे अनायास ही विरह दूर हो सकता है, युक्तिसगत नही लगता और न ही यह बात किसी को हितकारक है। यदि ब्रह्म सदा हमारे हृदय में निवास करता है तो फिर ये नेत्र सदा उसके दर्शनो के लिए तडपते क्यो रहते है? वह हमे दिखाई क्यो नही देता? यदि तुम्हारी बात सच होती तो हमारी तथा हमारे नेत्रों की यह गति न होती। हम तो अपने कृष्ण के दर्शन पाने के लिए, चारो तरफ टकटकी बाँध कर देखती रहती हैं, हमारे नेत्रो को पल भर के लिए भी चैन नही पडता। उन्हे न देख पाने के कारण हमे सारी रात नीद नहीं आती, इस प्रकार हम उनकी विरह-अग्नि मे दग्ध होने के कारण जरा भी सुख-चैन नही ले सकती। तुम्हारे कथनानुसार यदि कन्हैया हमारे हृदय मे विद्यमान है तो वह हमे अपने विरह मे सन्तप्त देखकर, वहाँ से निकल कर हमे अपने दर्शन देकर शीलता प्रदान क्यो नही करते? क्योकि ऐसा नही हो रहा, अत. तुम्हारा उपदेश बिलकुल झूठा है, उसमे कोई तत्व नही। यदि ब्रह्म के रूप मे कृष्ण हमारे मन मे निवास करते तो वह हमे तड़पता हुआ नही देख सकते थे। वह तत्काल वहाँ से निकलते और हमे अपने दर्शनो से लाभान्वित करके

शीतलता प्रदान करते।

हे उद्धव ! हम तुम्हारे पैर पड़ती हैं, हमे तुम इसी प्रकार उनके आने की अवधि को आशारूपी जल की आशा मे पड़ी रहने दो, हमारे विश्वास को न तोडो। हमे यह विश्वास है कि वह एक बार पुनः यहाँ अवश्य आएँगे और अपने दर्शनो से हमे विरह-मुक्त करेगे। अतः हमारी तुमसे कर जोड़कर प्रार्थना है कि तुम हमे अपने निर्गुण-ब्रह्म रूपी अथाह सागर मे डुबाने का प्रयत्न न करो; यह निश्चित है कि यदि एक बार भी हमने तुम्हारे निर्गुण-ब्रह्म को स्वीकार कर लिया तो फिर चाहने पर भी अपने प्रिय कृष्ण को पुनः प्राप्त न कर सकेगी।

जिसका जिसके साथ अनुराग होता है, उसे वही से सुख-सन्तोष मिलता है और उसी के साथ निर्वाह करके ही आनन्द की उपलब्धि होती है। हम केवल कृष्ण की अनुरागिनी है तथा उन्ही का साथ ही निबाहना हमारा प्रण है, इसी से ही हमे आनन्द मिलता है। इस संसार मे अनेक सरोवर एवं नदियाँ हैं किन्तु पपीहे के लिए सब व्यर्थ है, वह अपनी प्यास इनके जल से नही बुझा सकता, उसे तो केवल स्वाति जल की एक बूँद ही चाहिए। कृष्ण हमारे लिए स्वाति जल की बूंद के समान शीतल एवं प्यास बुझाने वाले है, हमारे लिए तुम्हारा निर्गुण-ब्रह्म अनेक नदी, सरोवरो के समान व्यर्थ है।

विशेष—(१) "अवधि-आस जल थाहै" से कवि का तात्पर्य है कि विरही को सदा अपने प्रिय के मिलने की आशा बनी रहती है, तभी वह वियोग का कष्ट झेलते हुए भी नही अघाता। यहाँ गोपियाँ इसी आशा के बल पर कष्ट झेलते हुए भी जीवित है और उद्धव से प्रार्थना करती है कि वह उनके इस आशा और विश्वास को न तोडे।

(२) इस प्रकार के भाव कविवर विहारी ने भी निम्न पक्तियो मे स्पष्ट किए है—

इहि आस अटकयो रहे अलि गुलाब के मूल।
ऐहैं बहुरि बसन्त रितु इन डारनि वै फूल।।'

अलंकार—(१) 'विरह-अनल', 'अवधि-आस-जल', निर्गुन-समुद्र', रूपक।

(२) जाको······सरिता,—उदाहरण।

ऊधो ! ब्रज में पैंठ करी ।
यह निर्गुन, निर्मूल गाठरी अब किन करहु खरी ।।
नफा जानिकै ह्यां लै आए सबै वस्तु अकरी ।
यह सौदा तुम ह्वां लै बेचौ जहाँ बड़ी नगरी ।।
हम ग्वालिन, गोरस दधि बेंचौ, लेहिं अबै सबरी ।
सूर यहां कोउ गाहक नाहीं, देखियत गरे परी ।।१११।।

शब्दार्थ—पैंठ=दुकान, हाठ, बाजार । खरी=खरा, पक्का सौदा । नफा =लाभ; फायदा, मुनाफा । अकरी=महगी । सबरी=सारा । गरे परी=गले पड़ना, जिद करना ।

प्रसग—प्रस्तुत पद मे पुनः गोपियाँ उद्धव के निर्गुण-ब्रह्म पर व्यग्य कर रही है ।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कहती है कि हे उद्धव ! तुमने ब्रज मे आकर अपना माल-असबाब बेचने के लिए दुकान लगाई है। किन्तु तुम यहाँ ऐसा सामान बेचने के लिए लाए हो जिसमे कोई गुण अथवा विशेषता नही है जिससे कि कोई ग्राहक आकर्षित हो। ऐसा प्रतीत होता है कि इसमे तुम्हारी कोई पूंजी भी नही लगी, ऐसे ही तुम इसे उठा कर कही से ले आए हो। इस प्रकार तुम्हारी इस गठरी मे बधा माल ब्रह्म के समान गुप्त, अलक्षित और गुणहीन है और इस पर तुमने अपनी ओर से कोई धन भी नहीं लगाया किन्तु इसको यहाँ बेच कर धन एकत्रित करना चाहते हो। तुम सम्भवत. यह समझते थे कि तुम्हारी वस्तुए यहाँ लाभ पर बिकेगी, इसलिए तुम अपनी सभी महंगी वस्तुए बेचने के लिए यहाँ ले आए हो। परन्तु यहाँ ब्रह्म, योग, मुक्ति आदि निर्मूल वस्तुए बिकने वाली नही अपितु इन्हे किसी मथुरा जैसे बड़े नगर मे ले जाकर बेचो, वहाँ तुम्हे कुब्जा जैसे मूर्ख ग्राहक मिल जायेगे और तुम्हारा सौदा हाथो-हाथ बिक जाएगा।

हे उद्धव ! तुम तो जानते हो कि हम सभी जाति की ग्वालिने हैं और दूध-दही का व्यापार करती हैं, यदि तुम दूध और दही बेचो तो हम अभी तुम्हारा सब सामान खरीद ले। यहाँ तुम्हारी ब्रह्म और मुक्ति जैसी महगी वस्तु का कोई ग्राहक नही। हमने तो केवल कृष्ण का मित्र जानकर तुम्हारे सम्मान हेतु तुम्हारा माल मात्र देखा था, आरम्भ से ही हम इसकी खरीदार नही थी, इस

थोड़ी-सी सहानुभूति दिखाने के कारण तुम हमारे गले पड़ रहे हो और जिद कर रहे हो कि हम तुम्हारा यह माल, जो हमारे लिए सर्वथा निरर्थक है, खरीद ले। भला ! यह कहाँ का न्याय है ?

विशेष—(१) प्रस्तुत पद मे गोपियो की वाग्विदग्धता दर्शनीय है। अपनी वाक् चातुरी के कारण वे उद्धव को चुप कर देती है।

(२) श्लेष के सार्थक प्रयोग से गोपियो ने निर्गुण-ब्रह्म को महत्वहीन और निरर्थक सिद्ध किया है।

(३) 'नफा' शब्द पर प्रादेशिकता का प्रभाव है। आज यह शब्द हिन्दी अथवा ब्रज मे प्रयोग नही होता किन्तु गुरुमुखी और लहदा मे इसका ज्यो का त्यो व्यवहार हो रहा है।

अलकार—(१) 'निर्गुन, निर्मूल'—श्लेष।
(२) 'यह······नगरी'—समासोक्ति।

गुप्त मते की बात कहौ जनि कहुँ काहू के आगे।
कै हम जानै कै तुम, ऊधो ! इतनी पावै माँगे॥
एक बेर खेलत बृंदावन कटक चुभि गयो पाँय।
कंटक सों कंटक लै काढ्यो अपने हाथ सुभाय॥
एक दिवस बिहरत बन-भीतर मै जो सुनाई भूख।
पाके फल वे देखि मनोहर चढ़े कृपा करि रूख॥
ऐसी प्रीति हमारी उनकी बसते गोकुल-बास।
सूरदास प्रभु सब बिसराई मधुबन कियो निवास॥११२॥

शब्दार्थ—गुप्तमते=रहस्य की, छिपी हुई बात। जनि=मत। कहुँ=कही। काहू के आगे=किसी के सम्मुख। माँगे=माँगने से। कटक=काँटा। सुभाय=प्रेमपूर्वक। बिहरत=भ्रमण करते हुए। रूख=वृक्ष। मधुबन=मथुरा।

प्रसंग—प्रेम-सम्बन्धी गुप्त-क्रिया-कलापो को किसी से कहते नही बनता। राधा-कृष्ण के मध्य भी प्रेम-सम्बन्धी ऐसे अनेक भेद थे किन्तु उद्धव को कृष्ण का प्रिय सखा जान कर उनके सम्मुख कहने मे कोई सकोच नही करती किन्तु उन्हे चेतावनी अवश्य देती है कि वे इन बातो को किसी अन्य के सम्मुख न दोहराएँ।

व्याख्या—हे उद्धव ! मैं अपने और कृष्ण के मध्य हुए गुप्त प्रेमालाप की बात तुमसे कहती हूँ और प्रार्थना करती हूँ कि इन प्रेम-सम्बन्धी गुप्त क्रिया-कलापों की चर्चा तुम किसी से न करना। मेरी तुमसे विनय है कि ये जो बातें मैं तुमसे कह रही हूँ केवल तुममें और मुझमें ही सीमित रहनी चाहिएँ और कोई तीसरा इन बातों को न जानने पाए। मेरी यह बात तुम्हें स्वीकार करनी ही पड़ेगी।

एक बार ऐसा हुआ कि वृन्दावन में खेलते हुए मेरे पांव में कांटा चुभ गया। प्रिय कृष्ण ने अत्यन्त प्रेमपूर्वक एक दूसरा कांटा लेकर मेरे पैर में चुभे हुए कांटे को निकाल दिया। फिर एक दिन ऐसा हुआ कि हम लोग वन में विहार कर रहे थे कि मुझे भूख लग आई। जब मैंने अपनी क्षुधा के विषय में कृष्ण से कहा तो एक वृक्ष पर पके हुए फलों को लटकते देखकर वह स्वयं उस पर चढ़ गए और मेरे लिए फल तोड़ लाए। इस प्रकार उनकी कृपा के कारण ही मेरी भूख तृप्त हो सकी।

जब कृष्ण यहाँ गोकुल में निवास करते थे तो उनका हमारे साथ ऐसा ही घनिष्ठ प्रेम-सम्बन्ध था। वह हमारी प्रसन्नता के लिए सदा सब कुछ करने को तत्पर रहते थे किन्तु जब से वह मथुरा गए हैं उन्होंने वे पुरानी स्मृतियाँ पूर्ण-रूप से भुला दी हैं। कवि का अभिप्राय यह है कि कृष्ण जब व्रज में थे तो राधा के दुख-दर्द, भूख-प्यास को देख कर व्याकुल हो उठते थे, उन्हें उससे कितना प्रेम था किन्तु जब से वह मथुरा गए हैं अपने प्रेम को भूल गए हैं और विरह में संतप्त राधा का उन्हें अब तनिक भी ध्यान नहीं। यदि उन्हें राधा से अब प्रेम होता तो उसकी इस शोचनीय अवस्था के विषय में जानकर वह भागे चले आते, जबकि अब उन्होंने उद्धव द्वारा निष्ठुर योग-सन्देश भेजा है।

विशेष—(१) प्रस्तुत पद में कृष्ण-प्रेम की पूर्व-स्मृतियों के मधुर चित्रों का अंकन अत्यन्त हृदयग्राही हुआ है। गोपियों ने यह वर्णन सम्भवत: उद्धव को प्रभावित करने के लिए ही किया है।

(२) राधा ने जान-बूझ कर उद्धव के सम्मुख पुराने गुप्त प्रेम-प्रसंगों की चर्चा की है और उन्हें अपने तक ही सीमित रखने की प्रार्थना करके उन्होंने उद्धव की सहानुभूति जगाई है, जिससे कि वे कृष्ण के सम्मुख ये बातें कहें और प्रतिक्रियास्वरूप कृष्ण का सुप्त प्रेम पुनः जागृत हो और वह व्रज लौट आएँ।

(३) 'कै हम जानैं कै तुम ऊधो।' पंक्ति का प्रयोग अत्यन्त सार्थक है। यह राधा की एक चाल है कि मना करने पर निश्चित है कि वह कृष्ण के सम्मुख इन बातों को चर्चा करेंगे और सम्भवतः उनका मनचाहा हो जाय।

मधुकर ! राखु जोग की बात।
कहि कहि कथा स्यामसुंदर की सीतल करु सब गात॥
तेहिं निर्गुन गुनहीन गुनैबो सुनि सुंदरि अनखात।
दीरघ नदी नाव कागद की को देख्यो चढ़ि जात?
हम तन हेरि, चितै अपनो पट देखि पसारहि लात।
सूरदास वा सगुन छांड़ि छन जैसे कल्प बिहात॥११३॥

शब्दार्थ—राखु=रहने दो, यहाँ चर्चा मत करो। गात=शरीर। गुनैबो =गुणगान करना। अनखात=दुखी होती है। दीरघ=लम्बी, बड़ी। तन =ओर। हेरि=देखकर। पट=वस्त्र; चादर। छन=क्षण। बिहात= समाप्त होता है।

प्रसंग—गोपियों को उद्धव की योग की बातें बिल्कुल अच्छी नहीं लगती, इसलिए भ्रमर के माध्यम से उद्धव से कहती है कि वह यह चर्चा बन्द करके कृष्ण का गुणगान करे।

व्याख्या—हे भ्रमररूपी उद्धव ! तू अपनी योग और निर्गुण-ब्रह्म सबन्धी चर्चा को अपने तक ही रहने दे, हमारे सम्मुख इसकी चर्चा मत कर, इसे सुन कर हमारा जी दुखी होता है। तू हमे श्यामसुन्दर कृष्ण की सुखकारी कथा सुना कर हमारे तन-मन को शीतलता प्रदान कर और इस प्रकार हमारे शरीर को सुख से भर दे। तेरे निर्गुण-ब्रह्म के गुणगान से व्रज की हम सुन्दरियाँ दुखी होती है, हमे यह गुणगान तनिक भी नही सुहाता। हमारा जी क्षोभ से भर उठता है। क्या किसी ने आज तक कभी यह देखा है कि कोई कागज की नाव पर चढ कर लम्बी-चौडी नदी को पार कर सकता है? जिस प्रकार यह सम्भव नही, उसी प्रकार तुम्हारे निर्गुण-ब्रह्म को सहारा मानकर हमारे लिए सारा जीवन काटना सम्भव नही, वह कागज की नाव के समान इतना निर्बल है कि इस विशाल भवसागर से पार नही उतार सकता। तुम तनिक हमारी ओर निहारो तो सही। हम सदा अपनी सामर्थ्य के अनुसार आचरण करती है। हमने सदा अपनी चादर देख कर ही पाँव पसारा है अर्थात् हमने अपनी सामर्थ्य से बाहर

कभी कोई काम नही किया अतः तुम्हारा निर्गुण ब्रह्म हमारे लिए कागज की नाव के समान है जिस पर सवार होने से पानी मे गिर कर डूब जाएँगी, अत. इसे स्वीकार करना हमारे लिए उचित नही। सगुण-रूप कृष्ण से वियुक्त होने के उपरान्त हम विरह मे अति व्याकुल है। हमारे लिए विरह का एक-एक क्षण एक-एक कल्प के समान लगता है, जो काटे नही कटता। अतः हमारी तुमसे प्रार्थना है कि तुम निर्गुण-ब्रह्म की चर्चा छोड़ कर सगुण-रूप कृष्ण का गीत गाओ जिससे हमे सुख और शान्ति मिले।

विशेष—(१) गोपियाँ कृष्ण के विरह मे सतप्त हैं और उनके लिए ये क्षण काटना असम्भव हो गया है।

(२) गोपियो की दृष्टि मे निर्गुण-ब्रह्म कागज की नाव के समान एक निर्बल सहारा है जिससे भवसागर को पार नही किया जा सकता। इससे मझ-धार मे डूब जाना निश्चित है। इसी कारण उन्हे यह चर्चा अच्छी नही लगती।

(३) पाँचवी पक्ति मे एक सुन्दर लोकोक्ति के उपयोग से भाषा की व्यजना शक्ति मे वृद्धि हुई है। यह लोकोक्ति इस प्रकार है—'तेते पाँव पसारिये, जेती लावी सौर।'

अलकार—(१) 'कहि-कहि'—पुनरुक्तिप्रकाश।

(२) 'दीरघ···जात'—निदर्शना।

(३) 'हम···लात'—लोकोक्ति।

ऊधो ! तुम अति चतुर सुजान।
जे पहिले रँग रगी स्यामरँग तिन्हैं न चढ़ै रँग आन॥
द्वै लोचन जो विरद किए स्त्रुति गावत एक समान।
भेद चकोर कियो तिनहू में विधु प्रीतम, रिपु भान॥
बिरहिनि बिरह भजै पा लागो तुम हौ पूरन-ज्ञान।
दादुर जल विनु जियै पवन भखि, मीन तजै हठि प्रान।
वारिज बदन नयन मेरे षटपद कब करिहैं मधुपान ?
सूरदास गोपीन प्रतिज्ञा, छुवत न जोग बिरान॥११४।

शब्दार्थ—स्याम रग=काला रग, कृष्ण के प्रेम का रंग। आन=अन्य, दूसरा। द्वै लोचन=विराट् के दो नेत्र। बिरद=प्रसिद्ध। तिनहू मे=उनमे।

विधु=चन्द्रमा। रिपु=शत्रु। भान=सूर्य। दादुर=मेढ़क। भखि=खाकर। वारिज बदन। कमल के समान मुख। षटपद=भ्रमर। बिरान=पराया।

प्रसंग—उद्धव गोपियो के सम्मुख घोषणा करते है कि, कृष्ण और ब्रह्म समान है तथा गोपियो से आग्रह करते है कि वे कृष्ण के निर्गुण ब्रह्म वाले रूप को स्वीकार कर ले। किन्तु गोपियाँ दोनो को समान नही मानती और अपना तर्क प्रस्तुत करती हैं।

व्याख्या—हे उद्धव! तुम अत्यन्त चतुर और बुद्धिमान व्यक्ति हो। अतः तुम यह बात भली-भाँति समझ सकते हो कि जिस पर पहले ही श्याम रग चढा हुआ हो, उस पर कोई दूसरा रग नही चढ सकता। हम पर भी कृष्ण के प्रेम का रंग चढा हुआ है, इसलिए इस पर कोई दूसरा रग नही चढ़ाया जा सकता—अर्थात् हम कृष्ण के प्रेम मे इतने गहरे पैठ चुकी है कि तुम्हारे निर्गुण-ब्रह्म को हमारे लिए स्वीकार करना असम्भव है। तुम्हारा यह कहना कि निर्गुण-ब्रह्म और कृष्ण एक समान है, हमे ठीक प्रतीत नही होता क्योकि जब वेदो मे सूर्य और चन्द्रमा को विराट् ब्रह्म के दो नेत्र मान कर उन्हे एकसमान महत्वपूर्ण स्वीकार किया गया है और इसी प्रकार ही दोनो का यश गाया गया है। परन्तु चकोर की दृष्टि मे इन दोनो में बहुत अन्तर है। इसी कारण ही तो वह चन्द्रमा को अपना प्रिय और सूर्य को शत्रु समझता है। कृष्ण के और ब्रह्म के सन्दर्भ मे हमारी दृष्टि भी ऐसी है। कृष्ण हमारे लिए शीतलता प्रदान करने वाले प्रिय है और ब्रह्म क्योकि कृष्ण को हमसे छीनना चाहता है, अत वह हमारा शत्रु है।

हे उद्धव! तुम पूर्ण ज्ञानवान हो। हम तुम्हारे पाँव छूकर यही विनय करना चाहती है कि विरहिणी सदा अपने विरह का ही भजन करती है, वही नाम उसके विरह संतप्त मन को शीतलता प्रदान करता है। अतः तुम हमे हमारे हाल मे छोड़ दो, हम इसी मे सुखी है। मेंढ़क और मछली दोनो जल के प्राणी है किन्तु उस जल से पृथक होकर भी मेढ़क वायु के आधार पर जीवन बनाए रहता है जबकि मछली जल से बिछुडते ही अपने प्राण त्याग देती है, वह अपने प्रियतम का वियोग सहन नही कर पाती। तुम मेढक के समान निष्ठुर हो और प्रियतम कृष्ण से वियुक्त होकर भी आनन्दपूर्वक जीवन धारण किए हुए हो जबकि हम गोपियाँ मछली के समान उनके वियोग मे तड़प रही हैं, अब हमारे

लिए जीवन धारण किए रहना अत्यन्त कठिन हो गया है। हमे प्राण त्यागना स्वीकार है किन्तु निर्गुण ब्रह्म स्वीकार्य नही।

हे उद्धव ! तुम हमे यह बता दो कि हमारे ये भ्रमर रूपी नेत्र कमल के समान सुन्दर मुख वाले कृष्ण के दर्शन रूपी मधु का पान करके कब अपनी प्यास बुझायेगे। हमे शीघ्र ही उनके दर्शन करा कर हमारे ऊपर कृपा करो। हमारी यह अटल प्रतिज्ञा है कि कृष्ण को त्याग पराये योग को स्पर्श न करेगी अर्थात् कृष्ण हमारे अपने है और निर्गुण-ब्रह्म पराया है, अत हम उसे स्वीकार नही कर सकती।

विशेष—(१) प्रस्तुत पद मे पुन कृष्ण के प्रति गोपियो के प्रेम की अनन्यता प्रकट हुई है।

(२) दूसरी पक्ति के से भाव अन्यत्र भी प्रस्तुत हुए हैं। जो कि इस प्रकार है—"सूरदास काली कामरी, चढ़त न दूजो रंग।"

अलंकार—(१) 'स्याम रग'—श्लेष।

(२) 'द्वैलोचन''रिपु भान'—दृष्टान्त अलंकार।

(३) 'वारिजवदन''मधुपान'—रूपक और श्लेष का सकर रूप है।

ऊधो ! कोकिल कूजत कानन।
तुम हमको उपदेस करत हो भस्म लगावन आनन॥
औरौ सब तजि सिंगी लै लै टेरन, चढ़न पखानन।
पै नित आनि पपीहा के मिस मदन हनत निज बानन॥
हम तो निपट अहीरि बावरी जोग दीजिए ज्ञानिन।
कहा कथत मामी के आगे जानत नानी नानन॥
सुंदरस्याम मनोहर मूरति भावति नीके गानन।
सूर मुकुति कैसे पूजति है वा मुरली की तानन ? ॥११५॥

शब्दार्थ—कूजत=कूक रही है। कानन=वन। भस्म=धूलि। आनन=मुख। पखानन=पत्थर की शिलाओ पर। आनि=आकर। मिस=बहाने से। मदन=कामदेव। हनत=मारता है। पूजति=बराबरी कर सकती है।

प्रसंग—बसन्त ऋतु के आगमन पर उन्हे प्रिय कृष्ण की याद आती है, कामदेव उन्हे सताता है और उनका विरह उद्दीप्त हो उठता है। ऐसे समय जबकि वे विरह-सन्तप्त है उद्धव उन्हे निर्गुण-ब्रह्म का उपदेश देकर और भी

दुखी कर रहे है।

व्याख्या—हे उद्धव ! वनो मे कोयल अपनी मधुर कूकों को मुखरित कर रही है जिससे वसन्त ऋतु प्रेम को और भी उजागर कर रही है। और बसन्त की ऐसी मादक ऋतु मे तुम हमे योग का उपदेश दे रहे हो जिससे हम अपने मुख पर भस्म लगा योग-साधना करे, जबकि यह समय ऐसा है कि हमे शृ गार करके अपने प्रिय का ध्यान करना चाहिए। हम तुम्हारे उपदेश को स्वीकार करके अपना सब शृ गार छोड कर पत्थर की शिलाओ पर आसीन होकर सिंगी बजाकर योग-साधना करने को तत्पर थी परन्तु अपने मन पर हमारा वश नही, यह कामदेव नित्य पपीहे की पी-पी की पुकार के रूप मे हमें अपने बाणो से घायल करता है। अर्थात् पपीहे की पी-पी को सुन कर काम उद्दीप्त हो जाता है। इससे हमे अपने प्रियतम कृष्ण की सुधि आ जाती है और हम कामोद्दीप्त हो जाती हैं।

हम तो बिल्कुल बावली अहीर नारियाँ है—अर्थात् मूर्ख है और तुम्हारे इस योग के उपदेश को ग्रहण करने के योग्य नही। अतः तुम्हारे लिए यह उचित है कि तुम अपना ज्ञान का उपदेश ज्ञानियो को दो। वही तुम्हारे ज्ञानोपदेश को समझने और ग्रहण करने मे सर्वथा समर्थ है। तुम्हारा यह कहना कि यह योग-सन्देश कृष्ण ने भेजा है, हमे स्वीकार्य नही क्योकि हम कृष्ण के सानिध्य मे रही हैं और उनके व्यवहार से पूर्णतया परिचित है, उन जैसा कोमल हृदय व्यक्ति ऐसा निष्ठुर सन्देश नही भेज सकता। तुम्हारी बाते उसी प्रकार हास्यास्पद है जिस प्रकार कि कोई अपनी मामी के सम्मुख यह चर्चा करे कि वह नानी-नाना को भली-भाँति जानता है।

हे उद्धव ! हमें तो श्यामसुन्दर कृष्ण की मनोहर मूर्ति के गुणो का गान ही अच्छा लगता है। कृष्ण की मुरली की उन मधुर तानो की क्या तुम्हारा यह नीरस निर्गुण ब्रह्म और निरर्थक मुक्ति बराबरी कर सकती है ? अर्थात् नही कर सकती।

विशेष—(१) 'कहा कथन···नानन' पक्ति मे सूर ने इस लोकोकित का कि 'मामी के आगे ननिहार की बातें करना' का सुन्दर प्रयोग किया है। इस पक्ति में उद्धव के प्रति गोपियो का यह व्यंग्य भी निहित है कि उद्धव कृष्ण के सखा होते हुए भी उनसे पूर्णतया परिचित नही है।

(२) गोपियाँ कृष्ण की मुरली की तुलना मे मुक्ति को तुच्छ समझती हैं। ऐसे ही भाव अन्यत्र भी व्यक्त किए है जो इस प्रकार हैं—'जोग जुक्ति औ मुक्ति विविध वा मुरली पर वारौ'।

अलकार—(१) 'पै…बानन'—अपह्नुति।

(२) 'कहा…नानन'—लोकोक्ति।

ऊधो, हम अजान मति भोरी।
जानति है ते जोग की बातैं नागरि नवल किसोरी॥
कचन को मृग कौनै देख्यो, कौनै बाँध्यो डोरी?
कहु धौं, मधुप! बारि मथि माखन कौने भरी कमोरी?
विन ही भीत चित्र किन काढ्यो, किन नभ बांध्यो झोरी।
कहौ कौन पै कढ़त कनूकी जिन हठि भुसी पछोरी॥
यह व्यवहार तिहारो, वलि वलि! हम अवला-मति थोरी।
निरखहिं सूर स्याम-मुख चंदहि अँखियाँ लगनि-चकोरी॥११६॥

शब्दार्थ—अजान=अज्ञानी। ते=इन। नागरि=नगर की रहने वाली। नवल=नई नेवेली। बारि=जल। कौने=किसने। कमोरी=मटकी। भीत =दीवार; आधार। काढ़्यो=वनाया। नभ=आकाश। झोरी=झोली मे। कनूकी=कण, अनाज का दाना। पछोरी=फटका। निरखहिं=देखकर। लगनि=लगन।

प्रसंग—प्रस्तुत पद मे गोपियो ने निर्गुण-ब्रह्म की साधना को असाध्य घोषित करते हुए उसकी प्राप्ति को असम्भव कहा है। इस सन्दर्भ मे वे उद्धव से कह रही है—

व्याख्या—हे उद्धव! हम अज्ञान नारियाँ है और हमारी वुद्धि अत्यन्त थोडी है अर्थात् हम भोली-भाली है, अतः हम तुम्हारो योग-मुक्ति की वात समझ पाने मे सर्वथा असमर्थ है। गोपियो के कहने का तात्पर्य यह है कि वुद्धि अपरिष्कृत है और योग आदि गहन विषयो को ग्रहण कर पाने मे सर्वथा असमर्थ है। तुम्हारी योग-मुक्ति सम्बन्धी गूढ वाते नगर की नई-नवेली एव चतुर किशोरी ही समझ सकती हैं अर्थात् तुम्हारी ये योग की वाते मथुरा-वासिनी चतुर किशोरी कुब्जा ही भली-भाँति समझ सकती है, अत. तुम वही जाकर उन्हे ही समझाओ। हमारी समझ मे तो तुम्हारी ये योग की बाते

व्यर्थ हैं।

अच्छा तुम हमे यह बताओ कि किसी ने सोने का मृग देखा है और यदि देखा है तो क्या कोई उसे रस्सी से बाँध सका है। राम-सीता से सम्बद्ध सोने का मृग मायावी था, उसे सत्य स्वीकार नही किया जा सकता। हे मधुप! हमें यह वताओ कि आज तक किसी ने जल को मथ कर उसमे से मक्खन निकाला है और ऐसे मक्खन से क्या किसी की मटकी भर सकी है? अथवा बिना आधार के कोई किसी चित्र का निर्माण कर सका है? या किसी ने आज तक आकाश को अपनी झोली में बाँध पाने की सफलता प्राप्त की है? क्या तुम बता सकते हो कि किसी ने हठपूर्वक भूसे को पटक-पटक कर उसमे से अनाज के दाने प्राप्त किए है? जिस प्रकार यह सारे कार्य व्यापार असम्भव है, उसी प्रकार तुम्हारे निर्गुण-ब्रह्म को प्राप्त करना असम्भव है क्योंकि वह काल्पनिक है। अतः उक्त सभी कार्य-व्यापारो के समान योग एव निर्गुण-भक्ति से कोई तत्व निकलने वाला नही। हम समझ नही पा रही कि क्यो तुम हमे कृष्ण को त्याग निर्गुण-ब्रह्म की उपासना का असम्भव कार्य करने की प्रेरणा दे रहे हो। तुम्हारे निर्गुण-ब्रह्म मृग-मरीचका के समान है, अतः इनसे हमारी प्रेम-पिपासा शान्त नही हो सकती। इसलिए हम अपने वास्तविक सगुण-साकार रूप कृष्ण का त्याग नही कर सकती।

हे उद्धव! तुम्हारा यह व्यवहार, हम बलिहारी जाती है, अत्यन्त विलक्षण है, हम यदि इसे मूर्खतापूर्ण कहे तो उचित होगा। एक तो हम अबला नारियाँ है, दूसरे ग्रामवासिनी होने के कारण अल्प-बुद्धि और भोली-भाली है—ऐसे मे —तुम्हारा यह व्यवहार कि हम दुर्गम निर्गुण-ब्रह्म को स्वीकार कर ले, क्या उचित है? हमारी आँखे तो सदा कृष्ण के चन्द्रमुख को उसी लगन से टकटकी बाँध कर देखा करती हैं जिस प्रकार चकोरी पूरी तन्मयता के साथ चन्द्रमा को निहारती है।

विशेष—गोपियो ने पुनः अनेक उदाहरण देकर निर्गुण-ब्रह्म की दुर्गमता को प्रकट किया है। उनके मत मे निर्गुणोपासना निरर्थक एवं त्याज्य है।

अलकार—(१) 'बारि मथि······झोरी'—निदर्शना।
(२) 'बिन······पछोरी'—निदर्शना।

(३) 'निरखहिं······चकोरी'—रूपक एव उपमा।

ऊधो ! कमलनयन बिनु रहिए।
इक हरि हमैं अनाथ करि छाँड़ी, दुजे विरह किमि सहिए ?
ज्यों ऊजर खेरे की मूरति को पूजै, को मानै ?
ऐसी हम गोपाल बिनु ऊधो ! कठिन बिथा को जानै ?
तन मलीन, मन कमलनयन सो मिलिवे की धरि आस।
सूरदास स्वामी बिन देखे लोचन मरत पियास ॥११७॥

शब्दार्थ—किमि=कैसे; किस प्रकार। ऊजर=उजडा हुआ—निर्जन। खेरे=गाँव।

प्रसग—गोपियाँ कृष्ण के विरह मे व्यथित हैं। उद्धव द्वारा कृष्ण को त्याग निर्गुण-ब्रह्म की उपासना करने का उपदेश देने पर वह और भी व्यथित हो उठती हैं और उद्धव से कहती हैं—

व्याख्या—हे उद्धव ! हम तुम्हारे निर्गुण-ब्रह्म को स्वीकार कर तो ले किन्तु कमल के समान सुन्दर नेत्रो वाले कृष्ण के बिना जीवित रहना असम्भव है। एक तो उन्होने हमे त्याग कर अनाथ एव निराश्रित कर रखा है, दूसरे उनके विरह में इस प्रकार जीवित रहना ही हमारे लिए दुष्कर हो गया है। अर्थात् हमे सब ओर से दुःख भोगना पड रहा है। यदि इतना ही होता कि कृष्ण हमे त्याग देते किन्तु यही बने रहते तो हम इस अपमान और पीड़ा को किसी-न-किसी प्रकार सहन कर लेती क्योकि वह हमारे पास बने रहते और हम उनके दर्शनो का लाभ पाकर ही स्वय को सन्तुष्ट कर लेती। अब तो हमारी अवस्था ऐसी हो गई है जैसे किसी उजाड, निर्जन गाँव मे स्थित मन्दिर मे स्थापित मूर्ति की होती है जिसको न कोई पूजा-उपासना ही करता है और न कोई मानता ही है, वह सदा जन-मानस के अभाव मे उपेक्षित रहती है। हम भी उसी प्रकार कृष्ण द्वारा परित्यक्त होने के उपरान्त उपेक्षित जीवन व्यतीत कर रही हैं। गोपाल के बिना हमारी ऐसी स्थिति हो गई है कि कोई पूछता ही नही; हमारी ऐसी दारुण व्यथा को कौन जान सकता है ?

हे उद्धव ! कृष्ण-विरह की व्याकुलता मे हमे अपने तन का होश नहीं रहा। जिससे यह अति मलीन रहने लगा है। वस्तुतः हम बनाव-सिंगार करें किसके लिए, कृष्ण यहाँ हैं नही, इसलिए हमने यह सब छोड़ दिया है। हमारा मन

कमलनयन कृष्ण से मिलने की आशा धारण किए हुए सदा व्याकुल बना रहता है। अपने स्वामी के दर्शन न होने के कारण हमारे नेत्र सदा प्यासे रहते हैं और मर्मान्तक पीडा अनुभव करते रहते है। इसलिए हम अपने प्रिय कृष्ण को त्याग तुम्हारे निर्गुण-ब्रह्म को स्वीकार करने मे सर्वथा असमर्थ है।

विशेष--(१)'ऊजड़ खेडा' वह गाँव होता है जिसके निवासी किसी सकट मे घिर कर नष्ट हो जाते है, या उसे छोड़ कर अन्यत्र चले जाते है। गोपियों के लिए कृष्ण ही सर्वस्व थे, अतः उनके मथुरा चले जाने पर, वह स्वय को निर्जन गाँव के मन्दिर की मूर्ति के समान उपेक्षित समझती है। इस प्रकार यह उपमा अत्यन्त मार्मिक बन पडी है।

(२) 'तन•••पियास'---इन दो पक्तियों मे अपने प्रिय-दर्शन के लिए गोपियों के हृदय की करुण पुकार अत्यन्त मार्मिक है और हृदय को झकझोर देती है। भक्त की यह करुण पुकार भक्ति की चरमावस्था है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने अपने आर्त्तनाद को इस प्रकार काव्यबद्ध किया है--

'कृपा सिन्धु सुजान रघुबर, प्रनत आरति हरन।'
दरस आस पियास तुलसी दास चाहत मरन।।'

अलंकार—'ज्यों ऊजर•••मानै' में उपमा।

ऊधो! कौन आहि अधिकारी?
लै न जाहु यह जोग आपनो कत तुम होत दुखारी?
यह तो वेद उपनिषद मत है महापुरुष ब्रतधारी।
हम अहीरि अबला ब्रजवासिनि नाहिंन परत सँभारी।।
को है सुनत, कहत हौ कासों, कौन कथा अनुसारी?
सूर स्याम-सग जात भयो मन अहि केचुलि सी डारी।।११८।।

शब्दार्थ—आहि=है। कत=क्यो। दुखारी=दु.खी। को=कौन। कासो=किससे। अनुसारी=अनुसरण करने वाला। अहि=सर्प। डारी= छोड़ देता है।

प्रसग—प्रस्तुत पद मे गोपियो ने स्वयं की योग-साधना के लिए असमर्थता प्रकट की है। वह वेदना एव क्षोभ के मिले-जुले स्वर मे उद्धव की भर्त्सना कर रही है कि क्यो वे उन्हे दिक् कर रहे है।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कहती है कि हे उद्धव! तुम्हारे इस

योग-साधना एव समस्त निर्गुण-ब्रह्म सम्बन्धी उपदेश को सुन कर उसको ग्रहण करने का योग्य पात्र अर्थात् अधिकारी इस व्रज मे कौन है ? हम तो तुम्हारे इस उपदेश को समझ पाने में असमर्थ हैं, दूसरे तुम्हारा निर्गुण-ब्रह्म इतना उच्च है कि उसे स्वीकार करके भक्ति द्वारा प्राप्त करना हमारी सामर्थ्य से बाहर है। हमारी अस्वीकृति पर तुम दु.खी क्यो हो रहे हो ? प्यारे उद्धव ! तुम दु खी न होवो, इसे अपने साथ कही और ले जाओ, सम्भवत. तुम्हे इसे ग्रहण करने के लिए कोई उचित पात्र मिल ही जाय।

निर्गुण-ब्रह्म सम्बन्धी यह महान् साधना वेद एव उपनिषदादि गूढ ग्रथों मे प्रतिपादित की गई है। इस साधना के अधिकारी ज्ञानवान् एव दृढ़-साधना-रत महापुरुष ही हो सकते हैं। यह गहन पथ साधारण बुद्धि वालो की सामर्थ्य से परे है और फिर हम तो अवला व्रजनारियाँ हैं जिनका ज्ञान और वुद्धि से कोई नाता नही, इसलिए यह महान् साधना हमसे सम्भाली नही जा रही। गोपियो के कहने का वास्तविक अभिप्राय यह है कि वे इस पथ की उचित अधिकारिणी नही, इसलिए वे इसे कही अन्यत्र ले जाएँ, जहाँ उन्हे कोई ऐसा बुद्धिमान मिल जाय जो इसे स्वीकार करने मे समर्थ हो।

यहाँ तुम्हारी इन वातो को कौन सुनने वाला है; किससे तुम कह रहे हो और इसका अनुसरण और इस पर आचरण करने वाला कौन है—अर्थात् कोई नही; क्योकि यह उपदेश इतना रहस्यपूर्ण है कि किसी की समझ मे ही नही आता और फिर सबसे बडी वात तो यह है कि हमारा मन यहाँ हमारे पास ही नही है कि जो तुम्हारी बात सुने और समझे, वह तो जब कृष्ण ने यहाँ से प्रस्थान किया किया था तो उनके साथ ही चला गया है। यहाँ तो यह हमारा निर्जीव शरीर ही पडा रह गया है। जिस प्रकार सर्प केचुली को त्याग देता है और वह निर्जीव पडी रह जाती है, उसी प्रकार हमारा मन हमे छोड कर निर्जीव कर गया है। और निर्जीव शरीर द्वारा तुम्हारे निर्गुण-ब्रह्म की साधना करना असम्भव हैं।

विशेष—(१) गोपियाँ अपनी पूर्ण युक्तियो से निर्गुण-ब्रह्म को अस्वीकार्य घोपित करती है।

(२) वस्तुत. इस पद मे गोपियो के दैन्य, क्षोभ एवं असहाय अवस्था को अधिक अभिव्यक्ति मिली है। वह कृष्ण के विरह मे व्याकुल है और उनके

बिना अपने जीवन को व्यर्थ समझती है।

(३) इन कतिपय पदो में उद्धव के सम्मुख गोपियो की उग्रता शान्त हो गई है और उसका स्थान दैन्य ने ले लिया।

अलकार—'अहि''' डारी'—उपमा।

ऊधो ! जो तुम हमहिं सुनायो।
सो हम निपट कठिनई करिकै या मन कौं समुझायो॥
जुगुति जतन करि हमहुँ ताहि गहि सुपथ पथ लौं लायो।
भटकि फिरयो बोहित के खग ज्यों, पुनि फिरि हरि पै आयो॥
हमको सबै अहित लागति है तुम अति हितहि बतायो।
सर-सरिता-जल होम किये तें कहा अगिनि सचु पायो॥
अब वैसो उपाय उपदेसौ जिहि जिय जाय जियायो।
एक बार जौ मिलहिं सूर प्रभु कीजै अपनो भायो॥११९॥

शब्दार्थ—बोहित=जहाज। खग=पक्षी। अगिनि=अग्नि। सचु=सन्तोष। जिहि=जिससे। जाय जियायो=जीवित रखा जा सके। ताहि=उसे। गहि=पकड़ा, वश मे किया।

प्रसग—गोपियो का मन कृष्ण-प्रेम में अनुरक्त होने के कारण बाध्य है, वह किसी और की ओर आकर्षित नही होता। इसी कारण गोपियाँ चाहने पर भी निर्गुण-ब्रह्म को स्वीकार नही कर पाती। वह उद्धव के सम्मुख अपनी इसी मजबूरी का स्पष्टीकरण कर रही है—

व्याख्या—हे उद्धव ! तुमने हमें अपने निर्गुण-ब्रह्म एवं योग-साधना सम्बन्धी जो-जो रहस्य बताए है, वे हमने पूर्ण ध्यान देकर सुने हैं और वे हमने पूरे प्रयत्न के साथ अपने इस मन को समझाए है। हमने अनेक यत्नों एव युक्तियो से उसे वश मे किया और तुम्हारे कथनानुसार इसे श्रेष्ठ अर्थात् योगमार्ग पर लाई अर्थात् हमने तुम्हारी योग-साधना पर आचरण कर अपने मन को वश मे करने का भरसक प्रयत्न किया किन्तु हम इसकी दृढता पर मजबूर है। इसकी गति तो जहाज के पक्षी के समान है, इधर-उधर भटकने के उपरान्त यह कृष्ण की ओर लौट आता है और वही आकर स्थिर हो जाता है। इसे कृष्ण के अतिरिक्त अन्यत्र कही सुख नही मिलता। वस्तुत हम तो तुम्हारी इस साधना को स्वीकार करना चाहती है कि किन्तु यह

हमारा मन ही हमारे वश में नही।

तुमने कहा है कि योग-साधना हमारे हित में है। तुमने यह भी सिद्ध किया है कि निर्गुण-ब्रह्म की उपासना द्वारा हमे मुक्ति प्राप्त हो जायेगी और हमे समाज मे प्रतिष्ठा एव मान मिलेगा किन्तु हमने जहाँ तक सोचा-समझा है, हमे तुम्हारा यह सम्पूर्ण उपदेश अनिष्टकर लगा है। यह हमारे हित मे नही क्योंकि इससे हमारे कृष्ण सदा के लिए हमसे छूट जायेंगे, जबकि अभी तो हमें उनके लौट आने और मिलने की आशा है किन्तु तुम्हारे ब्रह्म को स्वीकार कर लेने पर यह सब समाप्त हो जायेगा। अच्छा उद्धव ! तुम हमे यह बताओ कि क्या नदी एव तालाब के जल को अर्पण करने से अग्नि को सुख मिलता है ? अर्थात् नही मिलता। उसकी तृप्ति तो हवन-सामग्री, घी, लकड़ी आदि से होती है, जल डालने से तो उसका अस्तित्व ही खतरे मे पड़ जाता है। जिस प्रकार अग्नि को घी आदि के होम से सुख मिलता है उसी प्रकार हमे श्रीकृष्ण के दर्शनो से ही आनन्द प्राप्त हो सकता है।

अतः हे उद्धव ! हमारी तुमसे प्रार्थना है कि तुम हमे कोई ऐसा उपदेश दो जिससे कृष्ण हमे मिल जायँ और हमारे प्राणो की रक्षा हो सके। और हम कुछ नही चाहती हमे एक वार कृष्ण से मिला दो फिर तुम्हें जो अच्छा लगे वही करना। उसके उपरान्त यदि तुम कहोगे तो हम तुम्हारा निर्गुण ब्रह्म भी स्वीकार कर लेगी।

विशेष—(१) प्रस्तुत पद मे गोपियो की वाग्विदग्धता दर्शनीय है। वे अत्यन्त पटुता के साथ उद्धव के निर्गुण को अस्वीकार करती हैं और दोष देती हैं अपने मन पर।

(२) उद्धव की हितकर वात उन्हे अहितकर लगती है किन्तु ऐसा वे स्पष्ट न कह कर घुमा-फिरा कर अत्यन्त नम्रता से कहती हैं ताकि उद्धव नाराज होकर चले न जाय। उन्हे यह विश्वास है कि उद्धव ही पुनः उनकी भेंट कृष्ण से करा सकते हैं।

(३) 'भटकि······पै आयो'—इस पक्ति का-सा भाव सूरदास ने अन्यत्र भी प्रस्तुत किया है जो इस प्रकार है—

'मेरो मन अनत कहाँ सुख पावै।
जैसे उड़ि जहाज को पछि फिरि जहाज पै आवै ॥'

इस पंक्ति मे गोपियो का दैन्य अत्यन्त मार्मिक बन पड़ा है।

अलंकार—(१) 'बोहित······ज्यो'—उपमा।

(२) 'सर-सरिता······पायो—दृष्टान्त।

(३) 'जिहि जिय जाय जियायो'—अनुप्रास।

ऊधो ! जोग बिसरि जनि जाहु।
बाँधहु गाँठि कहूँ जनि छूटै फिरि पाछे पछिताहु॥
ऐसी वस्तु अनूपम मधुकर मरम न जानै और।
ब्रजवासिनि के नाहिं काम को, तुम्हरे ही है ठौर॥
जो हरि हित करि हमको पठयो सो हम तुमको दीन्ही।
सूरदास नरियर ज्यों विष को करै बंदना कीन्हीं॥१२०॥

शब्दार्थ—विसरि=भूल। जनि=मत। भरम=तत्व, रहस्य, महत्व। ठौर=स्थान। नरियर=नारियल।

प्रसंग—गोपियाँ फिर अपनी दीन-भावना को त्याग कर उद्धव पर व्यग्य करने लगती हैं। उन्हे भय है कि जाते समय उद्धव अपनी इस योग-साधना को उनके गले का हार न बना जायँ इसलिए वे उनसे कह रही है—

व्याख्या—हे उद्धव ! तुम अपनी इस योग रूपी अमूल्य वस्तु को यहाँ भूल न जाना। अत. तुम इसे कस कर अपनी चादर मे बाँध लो, ताकि कही गिर न पड़े जिससे तुम्हे फिर पछताना पड़े। हम यह तुम्हे इसलिए कह रही हैं कि यह तुम्हारा योग अत्यन्त अमोल अर्थात् अद्वितीय वस्तु है और फिर तुम्हारे बिना इसके रहस्य एव महत्व को भी तो और कोई नही जानता। हम तो इसके रहस्य को नही जानती अतः यदि यह यहाँ रह भी गया तो हमारे लिए व्यर्थ की वस्तु होगी और तुम ऐसी अनुपम ज्ञान-गठरी से वंचित रह जाओगे, अत· इसे सम्भाल कर रख लो। यह अनुपम ज्ञान ब्रजवासियो के लिए व्यर्थ है क्योकि वे इसके मर्म को नही जानते, इसका उचित स्थान तुम्हारे यहाँ अर्थात् मथुरा मे ही है क्योकि वहाँ के निवासी—कुब्जा आदि इसके महत्व को समझते हैं और इसे स्वीकार करने में समर्थ है। राज-नगरी के लोग भोग में रत है, सम्भवत. उन्हे कभी इसकी आवश्यकता अनुभव हो। हम तो वैसे ही वियोगिनी है और प्रेम-साधना कर रही है।

कृष्ण ने अत्यन्त प्रेमपूर्वक योग की जो भेंट हमे भेजी थी, वह हमने सोच-समझ कर तुम्हे दे दी है, हम इसे अपने पास नही रख सकती, क्योकि यह हमारे लिए उस विष के नारियल के समान है जिसकी दूर से ही वन्दना करना उचित है। इसे स्वीकार करने से हमारे प्राणो पर आ बनेगी। यह विष भरे नारियल के समान हमारे लिए पूज्य एव वन्दनीय तो है क्योकि देवाधिदेव कृष्ण ने भेजा है किन्तु स्वीकार्य नही क्योकि इससे हमारे प्राणो के जाने का भय है। यह नगरवासियो के लिए ही सुखकारक हो सकता है।

विशेष—(१) गोपियों का युक्ति-वैचित्र्य देखने योग्य है। उनका कहना है कि यह योग उद्धव के लिए ही महत्वपूर्ण है, अतः वह इसे सम्भाल कर मथुरा ले जाये। गोपियाँ इसे व्यर्थ की वस्तु मानती हैं।

(२) सूर के उद्धव अपनी ज्ञान गठरी को सही सलामत व्रज मे लाने मे सफल हुए थे तभी तो गोपियों को उसे वापिस भेजने की चिन्ता है किन्तु रत्नाकर के उद्धव की ज्ञान गठरी इतनी ढीली बँधी थी कि उनके व्रज पहुँचने से पूर्व ही उनका बहुत-सा ज्ञान धीरे-धीरे खिसक कर व्रज के लता-कुजो आदि मे बिखर गया था। देखिये निम्न पक्तियाँ—

'ज्ञान गठरी की गाँठि छरकि न जान्यो कब,
हरै-हरै पूँजी सब सरकि कछार मे।
डार मे तमालनि की कछु बिरमानी अरू,
कछु अरुझानी है करीरनि की झार मे॥'

अलंकार···'नरियर······कीन्हीं'—उपमा।

ऊधो! प्रीति न मरन विचारै।
प्रीति पतग जरै पावक परि, जरत अग नहिं टारै॥
प्रीति परेवा उड़त गगन चढि गिरत न आप सम्हारै।
प्रीति मधुप केतकी-कुसुम वसि कंटक आपु प्रहारै॥
प्रीति जानु जैसे पय पानी जानि अपनपो जारै।
प्रीति कुरंग नादरस, लुब्धक तानि तानि सर मारै॥
प्रीति जान जननी सुत-कारन को न अपनपो हारै?
सूर स्याम सो प्रीति गोपिन की कहु कैसे निरुवारै॥१२१॥

शब्दार्थ—विचारै=चिन्ता नही करती। पावक=अग्नि। टारै=हटाना।

परेवा=पक्षी। प्रहारे=प्रहार सहता है, चुभाता है। पय=दूध। अपनपो=अपनापन, आत्मभाव। जारै=जला डालता है। कुरंग=हरिण। नादरस=वीणा की मधुर ध्वनि से प्रेम। लुब्धक=बधिक, बहेलिया, शिकारी। तानि=तानि, कस कस कर। सर=बाण। निरुवारै=निवारण करे, दूर करे।

प्रसग—सम्भवतः उद्धव ने गोपियो से कहा हो कि कृष्ण अब उन्हे पुनः नही मिल सकते और उनके विरह मे तड़प-तड़प कर मर जाने के अलावा और कोई विकल्प नही, इसी कारण गोपियो ने विभिन्न उदाहरणो द्वारा प्रेम-मार्ग की एकनिष्ठता प्रतिपादित की है—

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हे उद्धव! प्रेम-मार्ग में जीवन त्याग देने की चिन्ता नही होती और न ही कोई मृत्यु के विषय मे विचार करता है—बल्कि इस पथ का साधक तो हँसते-हँसते बलि-वेदी पर स्वय को न्यौछावर कर देता है।

पतिंगा दीपक की लौ से प्रेम करता है और इस दीवानेपन के अन्तर्गत स्वय को अग्नि में भेट चढा देता है। अपने जलते हुए अगो पर वह दुख प्रकट नही करता और न ही किसी अग को बचाने की चेष्टा करता है। इसी प्रकार कबूतर आकाश से प्रेम करता है और उसे आलिगनबद्ध करने के लिए ऊँचे-से-ऊँचा उड़ा चला जाता है किन्तु प्रिय तो उसे मिलता नही बल्कि वह स्वय थक कर चूर हो जाता है और नीचे गिर कर प्राण त्याग देता है। वह अपने प्रेम की तरग मे इस वास्तविकता को विस्मृत कर बैठता है कि ऊपर जाकर उसमे नीचे उतरने की शक्ति नही रह जाएगी और उसे जीवन से हाथ धोना पड़ेगा। भ्रमर केतकी के पुष्प का उत्कट प्रेमी है। वह उसके काटो की तनिक भी चिन्ता न करके उसमे विहार करता है और कांटो के प्रहार को निरन्तर सहन करता है।

सच्चे प्रेम की वास्तविकता तो दूध और जल के प्रेम की गति देख कर ही जानी जा सकती है। जल दूध से प्रेम करता है क्योकि दूध की उत्पत्ति उससे ही है, वह अन्तिम समय तक उसकी रक्षा करता है, स्वयं जल-जल कर अपने अस्तित्व को समाप्त कर देता है किन्तु दूध पर आँच नही आने देता। इसी प्रकार हरिण वीणा के स्वर का अनन्य प्रेमी है। शिकारी वीणा के स्वर द्वारा उसे मन्त्र-मुग्ध कर देता है और तदोपरान्त अपने बाणो से उसका जीवन हर

लेता है। हरिण बाणों के प्रहार को अन्त तक सहन करता है किन्तु वहां से निकल भागने की चेष्टा नही करता।

यदि तुम प्रेम के वास्तविक महत्व को समझना चाहते हो तो उसे एक माँ के दृष्टिकोण से परखो। माँ अपने पुत्र के प्रेम मे अपने अस्तित्व को विलय कर देती है। वह पुत्र पर अपना सर्वस्व न्योछावर कर उसका पालन-पोषण करती है।

कृष्ण के प्रति हमारा प्रेम उसी प्रकार दृढ है और एकनिष्ठ है। हम उनसे प्रतिकार मे कुछ नही चाहती। अत' तुम्ही बताओ हम उन कैसे नष्ट कर दें। हम कृष्ण के प्रेम को छोड कर तुम्हारे निर्गुण-ब्रह्म को स्वीकार नही कर सकती।

विशेष—(१) प्रस्तुत पद मे विभिन्न-प्रेमी-युगलो के उदाहरण देकर गोपियो ने प्रेम की एकनिष्ठता और अनन्यता की घोषणा की है।

(२) 'प्रीति''प्रहारै'—इस पक्ति के से भाव एक अन्य कवि ने इस प्रकार व्याप्त किए है—

'डरै न काहू दुष्ट सों जाहि प्रेम की बान।
भौर न छोडे केतकी तीखे कंटक जान॥

अलकार—सम्पूर्ण पद मे दीपक अलकार।

ऊधो ! जाहु तुम्हैं हम जाने।
स्याम तुम्हैं ह्यां नाहि पठाए तुम हो बीच भुलाने॥
ब्रजवासिनि सों जोग कहत हो, बातहु कहत न जाने।
बड लागै न विवेक तुम्हारो ऐसे नए अयाने॥
हमसों कही लई सो सहिकै जिय गुनि लेहु अपाने।
कहँ अबला कहँ दसा दिगंबर संमुख करौ, पहिचाने॥
सांच कहौ तुमको अपनी सों बूझति बात निदाने।
सूर स्याम जब तुम्हैं पठाए तब नेकहु मुसुकाने ? ॥१२२॥

शब्दार्थ—ह्यां=यहां। पठाए=भेजा। बड=बडा, अच्छा। विवेक=ज्ञान। अयाने=अज्ञानी। अपाने=अपने। दिगम्बर=नगा। समुख करौ=तुलना करो। सौं=सुगन्ध। निदाने=वास्तविक। नेकहु=तनिक।

प्रसंग—गोपियो को इस बात का सन्देह है कि कृष्ण ने उद्धव को योग का सन्देश देने के लिए यहाँ नही भेजा बल्कि वह स्वय ही रास्ता भूल गए है और यहाँ आन टपके हैं। इसी बात को लेकर वे उन पर व्यंग्य कस रही हैं।

व्याख्या—हे उद्धव ! हम तुम्हें भली-भाँति पहचान गयी है अर्थात् हमने तुम्हारे यहाँ आने का वास्तविक कारण जान लिया है। हमारे सम्मुख अब यह स्पष्ट हो गया है कि कृष्ण ने तुम्हे योग का सन्देश देने के लिए व्रज मे नही भेजा बल्कि तुम बीच में रास्ता भूल कर यहाँ आ भटके हो। वस्तुतः तुम्हे जाना तो कही और था और तुम भूल कर यहाँ व्रज मे आ गए हो। तुम स्वय को अत्यन्त विद्वान् और ज्ञानी समझते हो किन्तु तुम्हे बात करने की अक्ल नही। तुम अपनी बात कहने के लिए पात्र-सुपात्र को भी नही देखते। व्रज-वासियो और वह भी हम अबला नारियो के सम्मुख तुम्हारा योग की चर्चा करना क्या उचित है। कहीं स्त्रियों के सम्मुख भी योग-साधना की चर्चा की जाती है। तुम्हे अन्य लोग विद्वान् और ज्ञानी कहते होगे, किन्तु हमे तो तुम्हारी बुद्धिमत्ता बड़ी नही लगती, क्योकि तुम हम नारियो को योग-साधना का उपदेश दे रहे हो और उसमे वास्तविक कठिनाई को नही समझ रहे हो, इस प्रकार तुम्हारी गणना विद्वान् पुरुषो मे न होकर मूर्खो मे ही होनी चाहिए क्योकि हमने इससे पूर्व किसी ऐसे पुरुष को नही देखा जो स्त्रियो के सम्मुख अनाप-सनाप बकता हो।

हे उद्धव ! एक बात तुम्हे स्पष्ट कर दे। तुमने हमसे अभी तक जो कुछ कहा वह हम सहन करती गईं किन्तु तुम अपने मन मे तनिक विचार करके देखो तो सही कि कहाँ तो हम कोमल, अबला नारियाँ और कहाँ योगियो की बिल्कुल नंगी अवस्था ? ऐसा करने मे क्या हमे लाज नही आएगी। हम किस प्रकार योगी साधको के समान नंगी रह सकती है। हम तुम्हें अपनी सौगन्ध दिला कर पूछती है कि एक बार अपने मन मे सोच कर एवं याद करके हमे बताओ कि तुम्हे यहाँ भेजते समय क्या कृष्ण तनिक मुस्करा रहे थे। क्योकि हमे तो यही लगता है कि कृष्ण ने तुम्हे भोला-भाला समझ कर यहाँ बुद्धू बनाने के लिए भेजा है।

विशेष—(१) गोपियो का वैदग्ध्य दर्शनीय है। अत्यन्त सरल एवं सीधे-सादे शब्दो मे उन्होने उद्धव पर इतना करारा व्यग्य किया है कि एक बार तो

वह भी किंकर्त्तव्यविमूढ हो गए होंगे। सूर के ऐसे पद अत्यन्त मार्मिक एव कलात्मक वन पड़े हैं और हिन्दी साहित्य मे ऐसी पक्तियाँ दुर्लभ हैं।

(२) इस पद में गोपियों के माध्यम से सूर ने नारियो की स्वाभाविक दुर्वलताओं का सरलता से वर्णन किया है। उनका उद्धव को सौगन्ध दिला कर वास्तविक वात पूछना इसी ओर सकेत करता है।

(३) सूर की गोपियाँ किशोरी चपल स्वभाव की और अत्यन्त विनोदप्रिय प्रतीत होती हैं। वे कृष्ण के विरह मे संतप्त है किन्तु दुख मे भी उद्धव पर मार्मिक एव चुटीले व्यंग्य कसती है। अन्य कवियों मे यह विशेषता उपलब्ध नही होती।

अलंकार—स्वाभावोक्ति।

ऊधो ! स्यामसखा तुम सांचे।
कै करि लियो स्वाँग बीचहि तें, वैसेहि लागत कांचे॥
जैसी कही हमहिं आवत ही औरनि कही पछिताते।
अपनो पति तजि और वतावत महिमानी कछु खाते॥
तुरत गौन कीजै मधुवन को यहाँ कहाँ यह ल्याए ?
सूर सुनत गोपिन की वानी उद्धव सीस नवाए॥१२३॥

शब्दार्थ—सांचे=सच्चे। कांचे=कच्चे। कही=कहा, चर्चा की। महिमानी=मेहमानी, आतिथ्य। गौन=गवन, प्रस्थान। ल्याए=लाए हो। वानी=वाणी, वातें। सीस=शीर्ष, सिर। नवाए=झुका दिया।

प्रसग—प्रस्तुत पद मे गोपियाँ कृष्ण और उद्धव की रुचि और स्वभाव की तुलना करती हुई उन पर व्यग्य कर रही हैं।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से पूछ रही हैं कि हे उद्धव। तुम कृष्ण के सच्चे मित्र हो अथवा वीच में से कही उनकी मित्रता का स्वाँग भर कर यहाँ आ गए हो ? यदि तुमने स्वाँग भरा है, तो उसमें भी तुम पटु प्रतीत नही होते वल्कि अनाड़ी ही प्रतीत होते हो। इस दृष्टि से तुममे और कृष्ण मे कोई अन्तर नही। कृष्ण ने भी हमारे साथ प्रेम का झूठा प्रदर्शन किया था किन्तु हमे छोड मथुरा मे कुब्जा दासी पर आसक्त हो गए और उसके साथ भोग-विलास में स्थित हैं जवकि हमने उनके प्रेम को वास्तविक माना था और अव उनके विरह मे व्यथित हैं। उन्हे प्रेम-पात्र के चयन में सफलता नहीं मिली। अव वैसी ही

स्थिति तुम्हारी है। तुम हमे बहला-फुसला कर और झूठे आकर्पणो की ओर उन्मुख कर कृष्ण को त्यागने की प्रेरणा दे रहे हो और हमे निर्गुण-ब्रह्म स्वीकार करने के लिए उकसा रहे हो जबकि तुम नहीं जानते कि ऐसा उपदेश तुम्हे अबला नारियो को नही देना चाहिए क्योकि योग नारियो के लिए उचित नही। इस प्रकार तुम दोनो मित्र ढोंगी एवं कपटी तो हो ही, साथ में अज्ञानी भी हो। तुमने यहाँ आकर हमसे अनकहनी बातो की चर्चा की है, वह हमने तो बर्दाश्त कर ली हैं, यदि तुमने ऐसी चर्चा कही और की होती तो अपनी गति के लिए तुम्हे पछताना पड जाता। यह तो तुमने हमसे कहने का साहस किया है क्योकि कृष्ण-सखा होने के नाते हम तुम्हारा आदर करती है, किसी अन्य स्त्री से अपना पति छोड कर अन्य को अपना लेने की बात कहते तो तुम्हारी भली-भाँति मेहमाननबाजी होती। अत हमसे जो कह लिया कि कृष्ण को त्याग निर्गुण-ब्रह्म की उपासना करो, किसी और से न कहना।

अब तुम्हारे लिए यही उचित है कि तुम तुरन्त मथुरा के लिए प्रस्थान कर दो। यहाँ कहाँ अपने निर्गुण-ब्रह्म को ले आए हो, यह यहाँ हमारे किसी काम का नही, अतः इसे यहाँ से ले जाओ, सम्भवतः वहा के निवासियों—विशेषतया कुब्जा को इसकी आवश्यकता हो। गोपियो की इन रोष-भरी बातो को सुनकर उद्धव से कुछ कहते न बना, वह हतप्रभ हो गए और सिर झुका कर चुपचाप बैठे रह गए।

विशेष—(१) प्रस्तुत पद मे गोपियो ने आवेश मे आकर नारीगत मर्यादा और शालीनता का उल्लघन किया है। यहाँ वे अधिक उग्र, अशिष्ट एव उच्छृ-खल हो उठी है। वस्तुतः उनका यह आक्रोश स्वाभाविक ही कहा जाएगा। क्योंकि वे स्वय को कृष्ण की ब्याहता पतिव्रता मानती है उद्धव का कृष्ण को त्याग निर्गुण-ब्रह्म को अपनाने का उपदेश उनकी एकनिष्ठा को ठेस पहुँचाता है।

(२) 'महमानी', 'कछु खाते' मे काकु वक्रोक्ति का प्रयोग हुआ है। काकु-वक्रोक्ति के प्रयोग द्वारा वक्ता कण्ठ की ध्वनि मे विचित्र परिवर्तन करके विप-रीत अर्थ की ओर संकेत करता है। यहाँ प्रस्तुत पंक्ति का अर्थ है कि तुम्हारी खूब मरम्मत और ठुकाई की जाती।

अलंकार—वक्रोक्ति।

ऊधोजू ! देखे हो ब्रज जात।
जाय कहियो स्याम सों या बिरह को उत्पात ॥
नयनन कछू नहिं सूझई कछु श्रवन सुनत न बात।
स्याम बिन आंसुवन बूड़त दुसह धुनि भइ बात ॥
आइए तो आइए, जिय बहुरि सरीर समात।
सूर के प्रभु बहुरि मिलिहौ पाछे हू पछितात ॥१२४॥

शब्दार्थ—सूझई=सुझाई देता है, दिखाई देता है। श्रवन=कान। बूडत=डूब रही है। दुसह=असह्य। धुनि=ध्वनि।

प्रसंग—गोपियाँ उद्धव के सम्मुख अपनी दारुण विरह-व्यथा का वर्णन करती हुई उनसे अनुरोध कर रही हैं कि ब्रज मे उन्होने उनकी जो दशा देखी है वह कृष्ण से कह दे तथा उनका एक सन्देश भी पहुँचा दे कि यदि कृष्ण ने यहाँ ब्रज मे आना है तो शीघ्र आएँ, अन्यथा उन्हे पछताना पडेगा।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कह रही है कि हे उद्धव ! तुम ब्रज मे कृष्ण के विरह मे तडपती-विलखती हम गोपियो की दशा स्वय अपनी आँखो से देख कर जा रहे हो। अत हमारी तुमसे प्रार्थना है कि तुम मथुरा पहुँच कर हमारी दारुण-दशा का कृष्ण को पूरा परिचय देना। उनके विरह ने यहाँ अत्यन्त उत्पात मचा रखा है, हम सब परेशान है और हमारे लिए जीवन-धारण किये रखना दूभर हो गया है।

कृष्ण के विरह मे हमारे नेत्र रोते-रोते कुछ भी देख पाने के अयोग्य हो गए है और कानो को कुछ भी सुनाई नही देता। यह इस कारण कि हमारी आँखे प्रतिदिन कृष्ण को देखकर आनन्दित होती थी और अब उन्हे न देख पाने के कारण रात-दिन आँसुओ से तर रहती है और उन्हे कुछ भी दिखाई नही देता। इसी प्रकार हमारे कान कृष्ण की मुरली की मधुर तान सुनने के अभ्यस्त हो गये थे। अब एक साधारण-सी बात भी उन्हे भयकर-कर्कश ध्वनि प्रतीत होती है, अतः वे कोई भी बात सुनना पसन्द नही करते।

हे उद्धव ! तुम मथुरा जाकर कृष्ण को यह सन्देश दे देना कि यदि उन्होने ब्रज आना है तो शीघ्र ही आएँ। उनके दर्शन पाकर हमारे इन निर्जीव शरीरो मे पुनः प्राणो का सचार होगा और हम जी उठेंगी। यदि कृष्ण आने मे कुछ सोच-विचार करे या कहे कि फिर कभी चले जायेगे तो उन्हे कह देना

कि यदि वह तुरन्त न गए तो फिर उन्हे पछताना पड़ जायेगा क्योकि हमारे शरीर अब और विरह के दुख को सहन करने में असमर्थ है अर्थात् हमारा प्राणान्त होने वाला है, प्रिय कृष्ण के दर्शनो से ही हमारे जीवन की रक्षा हो सकती है।

विशेष—(१) प्रस्तुत पद मे गोपियो की विरह-व्यथा का अतिश्योक्तिपूर्ण वर्णन हुआ है। कृष्ण विरह मे सन्तप्त गोपियो का क्षीण शरीर मर्मान्तक दशा तक पहुँच गया है।

(२) अतिश्योक्ति अलंकार के प्रयोग से वर्णन-शैली मे प्रभावोत्पादकता उत्पन्न हुई है।

ऊधो ! बेगि मधुबन जाहु।
जोग लेहु सँभारि अपनो बेंचिए जहँ लाहु॥
हम बिरहिनी नारि हरि बिनु कौन करै निबाहु ?
तहाँ दीजै मूर पूजै, नफा कछु तुम खाहु॥
जौ नहीं ब्रज में बिकानो नगरनारि बिसाहु।
सूर वै सब सुनत लैहैं जिय कहा पछिताहु॥१२५॥

शब्दार्थ—बेगि=तुरन्त, तेजी से। लाहु=लाभ। मूर=मूलधन। पूजै =वसूल हो जाय। नफा=लाभ। बिसाहु=वेचना।

प्रसंग—गोपियाँ उद्धव के निर्गुण-ब्रह्म और योग-साधना को तुच्छ घोषित करती हुई उन्हे परामर्श दे रही है कि वे इसे नगर की ओर ले जाएँ जहाँ इसके विक्रय मे कुछ लाभ होने की सम्भावना है—

व्याख्या—हे उद्धव ! अब तुम्हारे लिये उचित यही है कि तुम तेजी के साथ मथुरा चले जाओ। और देखो ! अपने योग रूपी माल-असवाब को भी सम्भाल कर ले जाना जिससे यह रास्ते मे गिरने न पाये। तुम इसे यहाँ से ले जाकर वही वेचने का प्रयत्न करो जहाँ कुछ लाभ होने की सम्भावना हो। हम तो कृष्ण के विरह में सतप्त वियोगिनी अबला नारियाँ है। हरि के अतिरिक्त न तो कोई हमें आश्रय देने वाला है और न ही हमारा निर्वाह करने वाला है। तुम्हारा यह निर्गुण ब्रह्म ऐसी दशा मे हमारी कोई भी सहायता नही कर सकता। अत: हमारे लिए यह व्यर्थ है। इसे तुम वहाँ ले जाओ जहाँ तुम्हारी पूजी भी बच जाय और ऊपर से कुछ लाभ भी हो-अर्थात्

तुम्हारे योग को लोग समझ सके और तुम्हारा शिष्यत्व स्वीकार कर सके।

यदि तुम्हारा यह योग यहाँ व्रज मे नही बिक सका अर्थात् अपनाया नही जा सका, इससे तुम्हे घबराना नही चाहिये। यह अभी भी बिक सकता है, आवश्यकता पात्र के उचित चयन की है। तुम इसे मथुरा नगरी में ले जाओ, वहाँ की स्त्रियो, विशेषतया कुब्जा, को इसकी अधिक आवश्यकता है, वहाँ यह हाथोहाथ बिक जायेगा। अतः इसके व्रज मे न बिकने पर न तो तुम्हे हताश होने की और न पछताने की आवश्यकता है। मथुरा की नारियाँ तुम्हारी आवाज सुनते ही तुम्हे अपने पास बुला लेंगी और तुम्हारा सब माल हाथो-हाथ खरीद लेगी। भाव यह है कि मथुरा की नागरी नारियाँ पूर्णतया भोग-विलास मे रत हैं, उन्हे ही अपना परलोक सुधारने के लिए योग-साधना की आवश्यकता पड सकती है। हम तो कृष्ण-वियोग में पहले ही व्यथित हैं और सन्यासिनियो का जीवन व्यतीत कर रही हैं, हमें अपने परलोक की कोई चिन्ता नही, अत यह योग हमारे काम की वस्तु नही।

विशेष—(१) प्रस्तुत पद मे गोपियाँ का कुब्जा के प्रति असूया-भाव प्रकट हुआ है।

(२) 'नफा'—इस शब्द का अर्थ है फायदा, लाभ। आज यह शब्द हिन्दी भापा मे प्रयुक्त नही हो रहा, सम्भवत. व्रज भापा मे इसका प्रयोग कभी रहा हो। वस्तुत. यह प्रादेशिक शब्द है और आज भी लहदा भापा मे इस शब्द का प्रयोग इसी रूप और इसी भाव मे हो रहा है।

ऊधो ! कछु कछु समुझि परी।
तुम जो हमको जोग लाए भली करनि करी॥
एक बिरह जरि रहीं हरि के, सुनत अतिहि जरी।
जाहु जनि अब लोन लावहु देखि तुमहिं डरी॥
जोग-पाती दई तुम कर बड़े जान हरी।
आनि आस निरास कीन्ही, सूर सुनि हहरी॥१२६॥

शब्दार्थ—कछु-कछु=थोड़ी-थोडी। करनि=करनी, कार्य। करी=की, किया। जनि=मत। लोन लावहु=नमक लगाओ। जान=सुजान, चतुर। हहरी=दहल गई।

प्रसग—उद्धव के योग-साधना के सन्देश को सुन कर गोपियाँ अत्यन्त

क्षुब्ध हैं । यहाँ वे संयत एवं नम्र भाषा मे उनकी भर्त्सना कर रही हैं ।

व्याख्या—हे उद्धव ! अब तुम्हारे यहाँ आने का वास्तविक उद्देश्य कुछ-कुछ समझ मे आ रहा है । तुमने यह बहुत सुन्दर कार्य किया है जो कृष्ण का हमारे लिए योग का सन्देश लेकर यहाँ पधारे हो । एक तो पहले ही हम कृष्ण के वियोग मे दग्ध हो रही थी, तुम्हारा योग का सन्देश सुन कर हमारी व्यथा और भी बढ गई है । अर्थात् गोपियाँ उद्धव पर व्यग्य करती हुई कहती है कि प्रेम-विरह मे सतप्त गोपियो को योग-सन्देश देकर उन्होने और भी पीड़ा पहुँचाई है । अब तुम्हारे लिए यही उचित है कि तुम यहाँ से तुरन्त लौट जाओ । हमारे जले पर नमक छिड़क कर हमारी पीड़ा मे और वृद्धि न करो । अर्थात् हम तो अपने दुख मे पहले ही व्यथित है, तुम हमे योग एवं निर्गुण ब्रह्म को अपना लेने की प्रेरणा देकर और भी दुखी कर रहे हो । हमे तो तुम्हारी शक्ल देखकर ही भय लगता है । अत अपनी मनहूस शक्ल को लेकर यहाँ से तुरन्त प्रस्थान कर जाओ ।

हे उद्धव ! हमारे प्रियतम कृष्ण ने तुम्हे व्यवहार कुशल एवं विवेकशील व्यक्ति जान कर ही तुम्हें यह योग-सन्देश रूपी पत्री हमे देने के लिए दी थी । उन्हे आशा थी कि तुम यहाँ के हालात का भली-भाँति निरीक्षण करके ही इसका उपयोग करोगे । परन्तु तुमने यहाँ आकर ओछे व्यक्तियो का-सा व्यवहार किया है । तुमने आव देखा न ताव और आते ही यह योग की पाती हमारे हाथो मे थमा दी । हम कृष्ण-वियोग मे पहले ही व्यथित थी । और तुम्हारी अविवेकशीलता के कारण अब और भी कष्ट अनुभव कर रही है । तुम्हारे आगमन से पूर्व हम यह आशा लगाये हुए थी कि कृष्ण कभी-न-कभी यहाँ आकर हमे दर्शन देंगे और हमारे कष्टो को हर लेगे परन्तु तुमने उन्हे भुला निर्गुण-ब्रह्म को अपना लेने का उपदेश देकर हमारी समस्त आशाओ पर पानी फेर दिया है । हमारी समस्त आशा अब निराशा मे परिवर्तित हो गई है । यह जानकर कि अब कृष्ण हमे कभी नही मिलेगे, हम दहल गई है अब हमारे लिए प्राण धारण किये रहना भार हो गया है ।

विशेष—(१) अनेक विद्वानो ने योग का अर्थ मिलन स्वीकार करते हुए अन्तिम दो पक्तियो की व्याख्या इस प्रकार की है—हे उद्धव ! तुम्हे कृष्ण ने सज्जन और विवेकशील जान कर हमारे लिए शीघ्र ही मिलन का सन्देश

भेजा था, किन्तु तुमने अपनी अविवेकशीलता के कारण इसका अन्य अर्थ करके हम सब की आशा को निराशा मे परिवर्तित कर दिया है। तुम्हारी मूर्खता के कारण ही हम अधिक व्यथित है और घोर मानसिक यत्रणा भी अनुभव कर रही हैं।

(२) उद्धव के प्रति गोपियो का व्यंग्य अत्यन्त तीखा है।

ऊधो ! सुनत तिहारे बोल ।
ल्याए हरि कुसलात धन्य तुम घर घर पार्‌यो गोल ॥
कहन देहु कह करै हमारो बरि उडि जैहै झोल ।
आवत ही याको पहिचान्यो निपटहि ओछो तोल ॥
जिनके सोचन रही कहिब तें, ते बहु गुननि अमोल ।
जानी जाति सूर हम इनकी बतचल चंचल लोल ॥१२७॥

शब्दार्थ—कुसलात=कुशलता का समाचार। पार्‌यो गोल=गडबड मचाया, गोलमाल किया, शोरगुल मचाया। कह=क्या। बरि=जल कर। झोल=राख, भस्म। निपटहि=बिल्कुल। ओछो तोल=कम तोलने वाला, बेईमान। कहिब ते=करने से। बतचल=बातूनी। लोल=लम्पट, अस्थिर।

प्रसग—गोपियो के मना करने पर भी उद्धव अपने योग एव निर्गुण ब्रह्म के उपदेश को जारी रखते हैं। इस पर गोपियाँ अत्यन्त क्षुब्ध है। पहले वे उद्धव पर छीटाकशी करती हैं फिर वे परस्पर बाते करते हुए उद्धव पर व्यग्य कर रही हैं—

व्याख्या—हे उद्धव ! हमने तुम्हारी सब बाते सुन और जान ली है। तुम धन्य हो और हमारे पूज्य हो, क्योकि तुम हमारे प्रिय कृष्ण की कुशल क्षेम का समाचार लाए हो परन्तु तुमने यहाँ आकर एक गडबड़-घुटाला भी किया है। ब्रज मे तुमने अपने योग और निर्गुण ब्रह्म का उपदेश देकर घर-घर मे व्याकुलता फैला दी है कि कृष्ण अब यहाँ लौट कर आने वाले नही।

उक्त गोपी की बात सुनकर एक अन्य गोपी उससे कहती है कि इन्हे जो कहना है कहने दो, किसी बात के कहने से न रोको। यह हमारा कुछ भी नही बिगाड सकते और न ही इनके किसी उपदेश का हम पर कुछ प्रभाव पडने वाला है। जिस प्रकार कोई वस्तु जल कर राख हो जाती है और पवन उसे उडा ले जा कर उसका अस्तित्व ही मिटा देती है, उसी प्रकार कुछ ही

समय मे इनकी बातो का समस्त प्रभाव अपने-आप नष्ट हो जायेगा। अर्थात् जब यह अपने उपदेश का प्रभाव एव प्रतिक्रिया किसी पर नही देखेगे तो स्वय ही लौट जायेगे।

हमने तो इनके आगमन के समय ही इनकी वास्तविकता को जान लिया था कि ये अत्यन्त निम्न कोटि के व्यक्ति है और बेईमान है। अब तक हम इन्हे कृष्ण का सखा जान कर इन्हें आदर और सम्मान देकर इनकी बातें ध्यान से सुन रही थी और संकोचवश इनकी वास्तविकता के प्रति अपनी जुबान खोलते हुए हिचकिचा रही थी किन्तु अब कुछ कहने मे बाध्य हो गई है क्योकि यह अपनी बकवास से बाज नही आ रहे। कहने को तो यह अनेक अमूल्य गुणो से सम्पन्न है किन्तु हमारी समझ मे तो ये गुण इनके दुर्गुण है और यह महान् कपटी हैं। हमने इनकी सम्पूर्ण जाति अर्थात् पूर्ण वास्तविकता को जान लिया है। यह अत्यधिक वाचाल, चंचल एवं लम्पट स्वभाव के है। अर्थात् कृष्ण और अक्रूर जी की भाँति छल-कपट भरी बाते करके ये भी दूसरो को अपने माया-जाल मे फँसाने वाले हैं।

विशेष—(१) गोपियो की वाकपटुता उनके क्षोभ और व्यग्य में दर्शनीय है।

(२) 'जिनके······अमोल'—मे व्यग्य का प्रयोग करके गोपियो ने उद्धव को दुर्गुणो का भण्डार सिद्ध किया है।

अलंकार—'बतचल चचल लोल'—अनुप्रास।

ऐसी बात कहौ जनि ऊधो !
ज्यो त्रिदोष उपजे जक लागहि, निकसत बचन न सूधो ॥
आपन तौ उपचार करौ कछु तब औरन सिख देहु।
मेरे कहे बनाय न राखौ थिर कै कतहूं गेहु ॥
जौ तुम पद्मपराग छाँड़िकै करहु ग्राम-बसवास।
तौ हम सूर यहौ करि देखें निमिष छाँड़ही पास ॥१२८॥

शब्दार्थ—जनि=मत। त्रिदोष=तीन प्रकार का रोग अर्थात् सन्निपात। जक=बकने की सनक। बचन=बोल। उपचार=इलाज। सिख=शिक्षा। थिर कै=स्थिर होकर। गेहु=घर। बसवास=निवास। निमिष=पल,

प्रसंग—गोपियो के बार-बार मना करने पर भी उद्धव ज्ञान का उपदेश देना वन्द नही करते। इस पर गोपियाँ क्षोभ से भर उठती है और उद्धव को सन्निपात का रोगी घोषित करती है, बकझक करना जिसकी प्रकृति बन चुकी है।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव को ज्ञान-योग का उपदेश देने से रोकते हुए कह रही हैं कि हे उद्धव! तुम हमसे वार-बार एक ही बात मत कहो। तुम्हारे ऐसा करने से हमे लगता है कि तुम सन्निपात के रोगी हो। क्योकि जिस प्रकार सन्निपात ग्रस्त हो जाने पर कोई व्यक्ति निरन्तर वक-झक करता चला जाता है। उसके मुंह से सीधी, स्पष्ट सरल और समझ मे आने योग्य कोई भी बात नही निकलती। तुम्हारी स्थिति भी कुछ-कुछ वैसी ही प्रतीत हो हो रही है। क्योकि तुम्हारी ये योग-ब्रह्म सम्बन्धी बाते बिल्कुल अनर्गल और पागल के प्रलाप की तरह निरर्थक है, इनका जीवन मे कोई महत्व नही। अतः पहले तुम्हें अपना उचित इलाज कराना चाहिए। फिर ही तुम किसी और को कोई सीख-उपदेश देने के योग्य हो सकते हो। तुम पहले हमारा कहना मानो और अपना कही घर वसा कर स्थिर चित्त होकर रहो। तुम्हारा अपना चित्त ही पहले अस्थिर है, जिसके कारण तुम पागलो की भाँति घर-घर, गाँव-गाँव भटकते फिर रहे हो तथा सबको अपने निर्गुण ब्रह्म एवं योग के निरर्थक उपदेश द्वारा दुखी कर रहे हो। जब तुम स्वय ही अस्थिर चित्त लिये हुए और अशान्त हो तो हमे किस प्रकार अपना मन एकाग्र करके निर्गुण-ब्रह्म की उपासना करने का उपदेश दे रहे हो?

हे भ्रमर! यदि तुम स्वय कमल के पराग का मोह त्याग कर किसी गांव मे जाकर बसकर दिखादो तो हम भी क्षणभर के लिए कृष्ण के सामीप्य अर्थात् निरन्तर ध्यान करना स्थगित कर देगी और तुम्हारे निर्गुण-ब्रह्म को अपना कर देखेगी कि इससे हमे क्या लाभ होता है। परन्तु हमे निश्चय है कि तुम ऐसा नही कर सकते अर्थात् जिस प्रकार भ्रमर कमल के पराग का मोह त्याग कर किसी एक स्थान पर शान्त, स्थिर नही रह सकता उसी प्रकार गोपियाँ भी कृष्ण को त्याग कर निर्गुण को अपनाने मे असमर्थ है।

विशेष—(१) 'त्रिदोष' सन्निपात के रोग को कहते है। जब किसी व्यक्ति मे वात, पित्त और कफ—तीनो दोषो से विकार उत्पन्न होता है तो वह

सज्ञाहीन-सा हो उठता है और व्याकुल होकर पागलो की तरह अनर्गल प्रलाप करने लगता है। उद्धव भी जब से आए है, एक ही रट लगाए हुए है कि गोपियाँ निर्गुण-ब्रह्म और उनके योग को अपना ले और रोकने पर भी चुप नही हो रहे, इसलिए उन्हे सन्निपात-ग्रस्त घोषित किया गया है।

(२) तृतीय पक्ति से मिलता-जुलता भाव कबीर ने निम्न पक्तियों मे प्रस्तुत किया है—

'रासि परासी राखता, अपना खाया खेत।
औरन को परबोधता, मुख मे पर्या रेत।'

(३) 'निमिष छाड़ही' इन शब्दो का अर्थ अनेक व्याख्याकारो ने 'क्षण भर मे ही छोड़ देगी' किया है। किन्तु हमे 'क्षण भर' के लिए छोड़ देगी ही उचित प्रतीत होता है।

ऊधो ! जानि परे सयाने।
नारियन को जोग लाए, भले जान सुजान॥
निगम हू नहिं पार पायो कहत जासों ज्ञान।
नयन-त्रिकुटी जोरि संगम जेहि करत अनुमान॥
पवन धरि रबि-तन निहारत, मनहिं राख्यो मारि।
सूर सो मन हाथ नाहीं गयो संग बिसारि॥१२६॥

शब्दार्थ—सयान=सयाने; समझदार, चतुर। नारियन को=नारियो के लिए; स्त्रियो के लिए। निगम=वेद-शास्त्र। त्रिकुटी=दोनो आँखो के ऊपर भौंहो के बीच का स्थान। पवन धरि=प्राणायाम साध कर। रबि-तन=सूर्य की ओर।

प्रसग—प्रस्तुत पद मे गोपियों ने निर्गुण-मार्ग को दुर्गम एवं असाध्य बताया है।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कह रही है कि हे उद्धव ! तुम हमे अत्यन्त चतुर मालूम होते हो अर्थात् निपट मूर्ख हो जो तुम हम अबला नारियो के लिए योग का सन्देश लाये हो। इससे बड़ी तुम्हारी मूर्खता का और क्या प्रमाण हो सकता है। तुम स्वय को विद्वान् समझते हो किन्तु तुम यह नही जानते कि निर्गुण-ब्रह्म का पार तो अभी तक वेद-शास्त्र आदि भी न पा सके है और न ही इसे स्पष्ट कर सके है, फिर हम अबला नारियाँ किस प्रकार इसे समझ

सकती हैं। योगीराज अपनी त्रिकुटी के मध्य ध्यानस्थ होकर निर्गुण-ब्रह्म के सम्बन्ध मे केवल कल्पना करते हैं और इसका अनुमान लगाते हैं। वे लोग प्राणायाम साध कर सूर्य की ओर एकटक देखते रहते है। इस प्रकार वे अपने को सयमित कर वश मे कर लेते है अर्थात् अपने मन को मार कर अपनी सम्पूर्ण सांसारिक वासनाओ को दूर रखते है। ऐसी कठिन है निर्गुण-ब्रह्म की साधना। साधारण व्यक्ति के लिए यह अत्यन्त दुर्गम है।

इस प्रकार निर्गुण-ब्रह्म को प्राप्त करने के लिए कठिन योग-साधना करनी पडती है। यह समस्त साधना मन द्वारा ही सम्भव है किन्तु हम ऐसा करने में असमर्थ हैं क्योकि हमारा मन हमारे पास नही है। वह हमे भुलावा देकर उसी दिन चला गया था जिस दिन कृष्ण हमे छोड कर मथुरा गये थे। अतः ब्रह्म-प्राप्ति के लिए हम निरोध नही कर सकती क्योकि मन के बिना यह असम्भव है।

विशेष—(१) 'गयो संग विसारि'—इस अश का अर्थ यह भी हो सकता है कि हमारा मन कृष्ण मे पूर्णतया अनुरक्त है और सम्पूर्ण सासारिक आकर्षणो का त्याग कर चुका है। अतः अब हम इसका निरोध किस वात के लिए करे ?

(२) गोपियो के मन के पास न रहने का भाव सूर ने अन्यत्र भी अभिव्यक्त किया है—

'ऊधो मन नाही दस बीस।
एक हुतो सो गयो श्याम सग, अब को आराधै ईस।'

अलकार—सम्पूर्ण पद मे काकु-वक्रोक्ति।

ऊधो ! मन नहि हाथ हमारे।
रथ चढ़ाय हरि संग गए लै मथुरा जबै सिधारे।
नातरु कहा जोग हम छाँड़हि अति रुचि कै तुम ल्याए॥
हम तौ झकति स्याम की करनी, मन लै जोग पठाए।
अजहूँ मन अपनो हम पावै तुमतै होय तो होय॥
सूर, सपथ हमै कोटि तिहारी कहो करैगी सोय॥१३०॥

शब्दार्थ—नातरु=नही तो। अतिरुचि=अत्यन्त प्रेम के साथ। झकति=झींकती है। पठाए=भेज दिया। कहो करैगी सोय=जो तुम कहोगे वही

हम करेगी । अजहुँ=आज ही ।

प्रसंग—गोपियाँ अपनी वाक्‌चातुरी द्वारा उद्धव को फुसलाने का प्रयत्न कर रही है कि वे एक बार उनकी कृष्ण से भेट करा दे । हम तो कृष्ण के व्यवहार से खिन्न हैं और अपना मन उनसे वापिस लेना चाहती है । फिर जैसा उद्धव कहेगे हम वैसा ही करेगी ।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कह रही है कि हे उद्धव ! हमारा मन ही हमारे हाथ मे नही है । उसे तो जब कृष्ण मथुरा गए थे, अपने साथ रथ में बिठा कर वही ले गए । नही तो क्या हम इतनी निष्ठुर थी कि तुम्हारे इस योग को, जो तुम हमारे लिए इतने प्रेम से लाए हो, इस प्रकार ठुकरा देती । यदि हमारा मन हमारे पास होता तो हम कभी भी इसे अपनाने से इन्कार न करती । हम तो कृष्ण के इस व्यवहार से कि उन्होने हमारा मन अपने वश में कर रखा है और उसे बलात् हमसे छीन कर मथुरा ले गए है, अत्यन्त दु:खी और खिन्न हैं । अब उन्होने हमारा मन तो वही रख लिया है और उसके बदले में हमारे लिए तुम्हारे हाथों योग का सन्देश भिजवाया है । हम तो आज भी अपना मन वापिस पाना चाहती है और हमारा यह काम केवल तुम ही करवा सकते हो क्योकि तुम कृष्ण के अभिन्न सखा हो । हमें एक बार उनसे मिलवा दो जिससे हम अपना मन उनसे फेर ले । हम तुम्हारी अनगिनत सौगन्ध उठा कर प्रतिज्ञा करती है कि फिर तुम जो कहोगे हम करेगी—अर्थात् तुम्हारा निर्गुण-ब्रह्म एव योग स्वीकार कर लेगी ।

विशेष—(१) गोपियाँ अत्यन्त चातुरी से काम निकालना चाहती है । वस्तुत: वह चाहती तो है कृष्ण के दर्शन और उद्धव को लालच दे रही है कि यदि कृष्ण से उनका मन लौट आया तो वे उद्धव के निर्गुण-ब्रह्म को स्वीकार कर लेगी, इसलिए वे उनकी खुशामद कर रही है कि किसी प्रकार वे अपने सखा कृष्ण को व्रज मे ले आवे ।

(२) 'मन लै जोग पठाये'—इस जैसा भाव कवि घनानन्द ने निम्न पक्तियों मे व्यक्त किया है—

'तुम कौन सी पाटी पढे हो लला,
मन लेहु पै देहु छटांक नही ?'

(३) श्रोता को शपथ खाकर विश्वास दिलाने की ग्रामीण-अबला स्वभाव

की स्पष्टता दर्शनीय है।

(४) गोपियो की वाग्विदग्धता देखते ही बनती है।

ऊधो ! जोग सुन्यो हम दुर्लभ।
आपु कहत हम सुनत अचंभित जानत हो जिय सुल्लभ ॥
रेख न रूप बरन जाके नहि ताकों हमें बतावत।
अपनी कहो दरस वैसे को तुम कबहूँ हो पावत ?
मुरली अधर धरत है सो, पुनि गोधन बन बन चारत ?
नैन बिसाल भौंह बंकट करि देख्यो कबहुँ निहारत ?
तन त्रिभंग करि नटवर वपु धरि पीतांबर तेहि सोहत।
सूर स्याम ज्यो देत हमै सुख, त्यो तुमको सोउ मोहत ॥१३१॥

शब्दार्थ—सुलभ=सरल, आसान। अपनी कहो=अपने विषय मे बताओ। बकट=बाकी, वक्र, टेढी। निहारता=घूरता हुआ। त्रिभग=त्रिभगी मुद्रा। वपु=शरीर। सोहत=शोभा देता है।

प्रसंग—प्रस्तुत पद मे गोपियो ने निर्गुण योग-साधना को अत्यन्त नीरस बताते हुए प्रेम-साधना के सम्मुख उसे निकृष्ट और आकर्षणहीन सिद्ध किया है।

व्याख्या—गोपियां उद्धव से कह रही है कि हे उद्धव ! हमे बताया गया है कि तुम्हारी यह योग-साधना अत्यन्त दुर्लभ है, जन-साधारण के लिय साधना एक तो कठिन है, दूसरे निर्गुण-ब्रह्म का पाना भी आसान नही। जबकि तुम अपने हृदय मे इसे अत्यन्त सुलभ समझते और यही बात हमे बता रहे हो किन्तु हमे सुन कर यह विचित्र लग रहा है। क्योकि तुम्हारा यह अनुभव लोगो की उक्त धारणा के सर्वथा विपरीत है। तुमने अपने निर्गुण-ब्रह्म की हमारे सम्मुख व्याख्या करते हुए हमे बताया है कि ब्रह्म रूप-रेखा रहित, वर्ण-विहीन, निराकार है। अत हमे सच सच बताओ, ऐसे ब्रह्म का क्या कभी तुमने वास्तविक अनुभव प्राप्त किया है अथवा कभी उसे निकट से देखकर उसका दर्शन प्राप्त कर सके हो ? तुम्हारा यह कहना है कि कृष्ण और निर्गुण-ब्रह्म वस्तुत एक ही है तो क्या यह ब्रह्म अपने अधरो पर मुरली रख कर उससे मधुर तान निकालता है तथा क्या वह वन-वन घूम-कर गायो को चराता है ? क्या तुमने उसे प्रिय कृष्ण की भांति अपने विशाल नयनो द्वारा तिरछी भौंहे करके अपनी

ओर निहारते एवं घूरते हुए पाया है ? क्या कभी वह कृष्ण के समान त्रिभंगी मुद्रा बना कर अपने शरीर पर पीताम्बर ओढ कर नटवर का वेश धारण करके शोभित होता है ? जिस प्रकार हमारे प्रिय कृष्ण हमें अपनी विभिन्न मुद्राओ एवं क्रीडाओ द्वारा सुख प्रदान करते हैं, क्या तुम्हारा ब्रह्म भी उसी प्रकार के कार्यो एवं अपनी रूप माधुरी द्वारा तुम्हारे मन को मोह कर तुम्हे सुख प्रदान करता है ? हमे विश्वास है कि वह ऐसा नही कर सकता। हमे अपने कृष्ण का यही मन-मोहक रूप प्रिय है और यदि तुम्हारा ब्रह्म ऐसा रूप धारण करके दिखा दे तो उसे स्वीकार कर लेगी।

विशेष— (१) इस पद मे गोपियाँ कृष्ण के सगुण रूप की सरसता मे खो गई है तथा निर्गुणोपासना को नीरस बताते हुए उन्होंने उसकी उपेक्षा पर जोर दिया है।

(२) वेदो एवं उपनिषदो में भी ब्रह्म को निराकार स्वीकार किया गया है। सूर ने उसी से प्रेरित होकर उद्धव की भर्त्सना का एक मार्ग निकाला है तथा इस प्रकार सगुणोपासना को श्रेष्ठ सिद्ध करने का एक सूत्र प्रस्तुत किया है।

(३) अपने निराकार रूप के कारण ही रत्नाकार की गोपियो के लिए भी ब्रह्म व्यर्थ की वस्तु है—

कहै रत्नाकार बदन बिनु कैसे चाखि,
माखन बजाइ बेनु गौधन गवाइ है।
रावरो अनूप कोउ अलख अरूप ब्रह्म,
उधो कहो कौन धौ हमारे काम आइ है॥

(४) 'अपनी कहो'—इन दो शब्दो मे गोपियो ने अपनी सम्पूर्ण उपेक्षा को केन्द्रभूत करके उद्धव पर व्यंग्य किया है।

ऊधो ! हम-लायक सिख दीजै।
यह उपदेस अगिनि तें तातो, कहो कौन बिधि कीजै ?
तुमहीं कहो यहाँ इतनिन में सीखनहारो को है ?
जोगी जती रहित माया तें तिनको यह मत सोहै॥
जो कपूर चदन तन लेपत तेहि बिभूति क्यों छाजै ?
सूर कहौं सोभा क्यों पावै आँख आँधरी आँजै॥१३२॥

शब्दार्थ—लायक=योग्य। तातो=गर्म, कठिन। सीखनहारा=सीखने के योग्य। सोहै=शोभा देता है। छाजै=शोभा देगी। आन्धरी=अन्धी स्त्री। आँजे=अजन लगाये।

प्रसंग—वस्तुतः विवेकशील मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह उपदेश देने से पूर्व पात्र-सुपात्र की जाँच कर ले। गोपियो अवला नारियाँ है तथा अपने तन पर चन्दन का लेप करती हैं? क्या वे दुर्गम योग-साधना के योग्य है? अपना उपदेश आरम्भ करने से पूर्व उद्धव को यह देखना तो चाहिए था।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कह रही है कि हे उद्धव! तुम हमे हमारी योग्यता को परख कर वही उपदेश दो जिस पर हम आचरण कर पाने मे समर्थ हैं। हम अनपढ़, गँवार, अवला नारियाँ है इसीलिए तुम हमे वही शिक्षा दो जिसके कि हम योग्य हो।

कृष्ण को त्याग कर निर्गुण-ब्रह्म प्राप्ति हेतु योग साधना का आचरण करने का यह उपदेश हमे अग्नि से भी अधिक दाहक प्रतीत हो रहा है। तुम्ही बताओ हमारे लिए यह किस प्रकार सभव हो सकेगा। हम तो पहले ही कृष्ण के वियोग की विरहाग्नि मे दग्ध हो रही है और हमे तो ऐसे उपदेश की आवश्यकता है जो हमे शीतलता और धैर्य प्रदान करे। तुम्हारे लिए यह उचित था कि हमारी स्थिति देखकर हमारे लिए कृष्ण-भेट की व्यवस्था करवाते। यहाँ इतनी गोपियाँ उपस्थित है, तुम्ही बताओ क्या इनमे से कोई भी निर्गुण-ब्रह्म के उपदेश पर आचरण करने के योग्य प्रतीत होती है? सभी गोपियाँ श्रीकृष्ण की परम अनुरागिनी हैं और उनके प्रेम के वियोग मे सतप्त हैं। तुम्हारे लिए यही उचित है कि किसी प्रकार भी श्रीकृष्ण के दर्शन हमे कराओ। तुम्हारा यह उपदेश हमारे लिए उचित नही है। यह तो उन योगी-यतियो को शोभा देता है जिन्होंने सासारिक माया-मोह का त्याग करके विरक्ति प्राप्त कर ली है।

हम ब्रजनारियाँ अत्यन्त कोमल हैं और आरामदेह जीवन की अभ्यस्त हैं, हम किस प्रकार योग साधन के दुर्गम पथ की गामिनी हो सकती हैं। जो शरीर इतने कोमल हैं और चन्दन के लेप से सुख प्राप्त करते है, क्या उन पर भभूत का लेप शोभा पा सकता है? अच्छा यह बताओ कि यदि कोई अंधी स्त्री अपने नेत्रो मे काजल लगाये, तो क्या उसका सौंदर्य बढ सकता है। अतः पात्र

को उसकी सामर्थ्य के अनुसार काम बतलाना ही विवेकशीलता है। हम कृष्ण की अनन्य प्रेमिकायें हैं, हमारे सम्मुख कृष्ण चर्चा करो। तुम्हारे निर्गुण-ब्रह्म की उपासना में हमारा कल्याण निहित नही है।

विशेष—प्रस्तुत पद में गोपियों ने यह सिद्ध किया है कि वे सुकोमल नारियाँ हैं, निर्गुणोपासना उनके लिए एक गर्हित कार्य है और त्याज्य है।

अलंकार—'सूर...आँजे'—लोकोक्ति।

ऊधो ! कहा कथत बिपरीत ?
जुवतिन जोग सिखावन आए यह तौ उलटी रीति ॥
जोतत धेनु, दुहत पय वृष को, करन लगे जो अनीति।
चक्रवाक ससि को क्यों जानै ? रबि चकोर कह प्रीति ?
पाहन तरै, काठ जौ बूड़ै, तौ हम मानै नीति।
सूर स्याम-प्रति-अंग माधुरी रही गोपिका जीति ॥१३३॥

शब्दार्थ—कथत=कह रहे है। विपरीत=उल्टा, विरुद्ध। जोतत= हल मे जोत रहे हैं। पय=दूध। वृष=बैल। चक्रवाक=चकवा-चकवी। रवि= सूर्य। पाहन=पत्थर। जीति=विजित, जीत लिया जाय।

प्रसग—इस पद में गोपियों ने नारियो के लिए योगसाधना को सर्वथा असंभव एव अकरणीय बताया है—

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कह रही है कि हे उद्धव ! तुम यहाँ ब्रज मे आकर किस प्रकार की उल्टी बातें कर रहे हो ? यह तुम्हारा आचरण लोक-मान्यताओं के बिल्कुल विरुद्ध है कि यहाँ हम युवतियो को योग की शिक्षा प्रदान करने आए हो। तुम्हारा यह कार्य बिल्कुल धर्म के विरुद्ध है और अनाचार है। यह ऐसा अनीतिपूर्ण कार्य है जैसा कि कोई मूढ खेत-बहाने के लिए गाय को हल मे जोत दे और बैल से दूध दुहने लगे। जिस प्रकार ये दोनो काम असम्भव हैं, उसी प्रकार हमारा कृष्ण को त्याग तुम्हारे निर्गुण-ब्रह्म को अपनाना असम्भव है।

इसके अतिरिक्त दूसरी बात यह है कि प्रेम एक से ही किया जाता है उसे त्याग अन्य से प्रेम करना भी अनीति है। चकवा-चकवी सूर्य के अनन्य प्रेमी हैं, चन्द्रमा को जानते तक नही, उसकी तरफ आँख उठा कर देखना भी पाप समझते हैं। इसी प्रकार चकोर चन्द्रमा का प्रेमी है और सूर्य से कभी प्रेम

नही कर सकता । दोनों अपने-अपने प्रेम मे अटल हैं। इसी प्रकार हम भी केवल सगुण-रूप कृष्ण को जानती है और उन्हीं से प्रेम करती हैं। तुम्हारे निर्गुण-ब्रह्म को अपना कर हम धर्म-विरुद्ध और अनीतिपूर्ण अचारण नही कर सकतीं।

हम अवला गँवार नारियो को तुम्हारा योग की शिक्षा देना तभी नीतिपूर्ण एव न्यायपूर्ण कहा जाएगा जब पत्थर जल पर तैरने लगेगे और काष्ठ डूबने लगेगा। जिस प्रकार पत्थर का जल पर तैरना और काठ का जल मे डूबना—ये दोनो कार्य असम्भव हैं उसी प्रकार हमारा कृष्ण को त्याग निर्गुण-ब्रह्म को अपना लेना असम्भव है। हम गोपिकाएँ तो कृष्ण के अंग-प्रत्यगो की रूप-माधुरी से प्रभावित होकर अपनी सुध-बुध भूल चुकी हैं—अर्थात् कृष्ण की रूप-माधुरी ने हमे पराजित करके अपने वश में कर लिया है, ऐसे मे हमारे लिए निर्गुण-ब्रह्म को अपनाना नितान्त असम्भव है।

विशेष—(१) गोपियो ने अनेक असम्भव कार्य-व्यापारो का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए यह सिद्ध किया है कि इन्ही की भांति कृष्ण को त्याग निर्गुण-ब्रह्म को अपनाना उनके लिए असम्भव है। अन्त में उन्होने स्पष्ट कहा है कि कृष्ण की रूप-माधुरी के सम्मुख वे विवश है और अपना सव कुछ हार चुकी है।

(२) 'सूर'''जीति'—इस पक्ति का अर्थ इस प्रकार भी किया जा सकता है कि हम गोपिकाएँ अब तक कृष्ण के अंग-प्रत्यग की रूप-माधुरी का स्मरण करके ही जीवन-धारण किए हुए है, उन्हे त्याग कर हम अपने प्राण छोड़ना नही चाहती।

अलंकार—'जोतत-धेनु'''मानै नीति'—निदर्शना।

ऊधो ! जुवतिन ओर निहारो।
तब यह जोग-मोट हम आगे हिये समुझि विस्तारो॥
जे कच स्याम आपने कर करि नितहिं सुगंध रचाए।
तिनको तुम जो बिभूति घोरिकै जटा लगावन आए॥
जेहि मुख मृगमद मलयज उबटति, छन छन धोवति माँजति।
तेहि मुख कहत खेह लपटावन सो कैसे हम छाजति ?

लोचन आँजि स्याम-ससि दरसति तबहीं ये तृप्ताति ।
सूर तिन्हैं तुम रबि दरसावत यह सुनि सुनि करुआति ।।१३४।।

शब्दार्थ—मोट=गठरी । बिस्तारो=खोलो, फैलाओ । कच=केश । कर=हाथ । नितहि=प्रतिदिन । तिनको=उनको । बिभूति=भस्म । घोरिकै =घोल कर । मृगमद=कस्तूरी । मलयज=चन्दन । खेह=राख । छाजति= शोभित होती । लोचन=नेत्र । करुआति=दुखी हो रही है ।

प्रसंग—गोपियों ने अनेकशः उद्धव को यह समझाने का प्रयत्न किया है कि उनका योग नारियो के लिए उचित नही है । प्रस्तुत पद मे उन्होने अपने इस मत को एक अन्य तथ्य के माध्यम से प्रस्तुत किया है ।

व्याख्या—हे उद्धव ! पहले तुम हम युवतियो की ओर भली-भाँति देख तो लो और अपने हृदय मे समझ लो कि हम तुम्हारे इस योग को ग्रहण करने के योग्य हैं । तब ही तुम अपनी योग की गठरी को हमारे सम्मुख खोलना अर्थात् अपने योग का उपदेश देना आरम्भ करना । अपने हृदय में तनिक विचार तो करो कि जिन हमारे केशो को कृष्ण अपने ही हाथो से प्रतिदिन सवार कर उनमे सुगन्धित प्रसाधन लगाया करते थे, हमारे उन्ही केशो मे अब तुम भस्म घोल कर लगाओगे और इस प्रकार उन्हें उलझा कर रूखे-सूखे और कुरूप बना दोगे । क्या तुम इसीलिए यहाँ पधारे हो ? अपने चेहरो पर हम कस्तूरी और चन्दन का उघटन लगाती थी, प्रतिक्षण धो-धोकर साफ करती और सुन्दर रखती थी, उन्ही पर आज तुम हमे राख मलने का उपदेश दे रहे हो । क्या यह तुम्हे शोभा देता है । तुम ही बताओ, हम अपने केशो में भस्म का घोल लगा कर और चेहरे पर राख मल कर किस प्रकार आकर्षक बनी रह सकती है । क्या तुम यह चाहते हो कि हम यौवनावस्था मे ही वृद्धाओ का जामा पहन ले और इस प्रकार कृष्ण के प्रेम से वंचित हो जायें ।

हमारे नेत्रो को तभी तृप्ति एव सुख प्राप्त होता था जब हम इनमे अंजन लगा कर कृष्ण के चन्द्रमुख का दर्शन करती थी । अब तुम हमारे इन्ही नेत्रो को सूर्य के समान गर्म और तीक्ष्ण प्रकाश वाले निर्गुण-ब्रह्म को दिखाने का प्रयत्न कर रहे हो । तुम्हारी इस अनीति की बात सुन-सुन कर हमारे नेत्र दुःखी हो रहे हैं । कवि के कहने का अभिप्राय यह है कि गोपियो के लिए कृष्ण का रूप एवं दर्शन चन्द्रमा के समान शीतल एवं आनन्द देने वाला है जबकि निर्गुण-

ब्रह्म सूर्य के समान दाहक है। गोपियो के नेत्र कृष्ण दर्शन के अभ्यस्त हैं वे निर्गुण-ब्रह्म को देख कर जल जायेगे। अतः उद्धव को चाहिए कि वह अपना योग का उपदेश देकर उन्हे दुःखी न करें।

विशेष—(१) प्रस्तुत पद मे गोपियों ने मार्मिक शब्दो के माध्यम से उद्धव को यह समझाने का प्रयत्न किया है कि वह बार-बार निर्गुण-ब्रह्म को अपना लेने का अनुरोध न करे। यहाँ गोपियो की वाग्विदग्धता एव व्यग्य का का भाव पीछे रह गया है और उनके हृदय की कोमल भावनाएँ उभर कर सामने आई है। इस प्रकार मार्मिकता, कोमल भाव-व्यजना की दृष्टि से यह पद कलात्मक बन पडा है।

(२) 'जे कच'''माँजति'—इन पक्तियो का भाव रत्नाकर के 'उद्धव-शतक' की निम्न पक्तियो से मिलता-जुलता है—

'चोप करि चन्दन चढ़ायौ जिन अगनि पै,
तिन पै बजाय तूरि, धूरि धरिवै कहाँ।'

अलंकार—(१) 'जोग-मोट'—रूपक।
(२) 'छन-छन'—पुनरुक्ति प्रकाश।
(३) 'स्याम-ससि'—रूपक।
(४) 'सुनि-सुनि'—पुनरुक्ति प्रकाश।

ऊधो ! इन नयनन अजन देहु।
आनहु क्यों न स्याम रँग काजर जासों जुर्यो सनेहु॥
तपति रहति निसि-वासर, मधुकर, नहिं सुहात तन गेहु।
जैसे मीन मरत जल बिछुरत, कहा कहौं दुख एहु॥
सब बिधि बाँधि ठानि कै राख्यो खरि कपूर कोरेहु।
बारक मिलवहु स्याम सूर प्रभू, क्यों न सुजस जग लेहु ? ॥१३५॥

शब्दार्थ—अंजन=काजल। आनहु=लाओ। निसि-वासर=रात-दिन। तन-गेहु=शरीर रूपी घर। एहु=इनके। ठानिकै=दृढतापूर्वक। खरि=खडिया मिट्टी। कोरेहु=कोर या कोने मे भी। बारक=एक बार।

प्रसंग—गोपियो की आँखे दुखती रहती है, कृष्ण-दर्शन रूपी अंजन ही इन्हे शीतलता प्रदान कर सकता है। अतः गोपियाँ उद्धव से आग्रह कर रही हैं कि वे एक बार कृष्ण से उन्हे मिला कर ससार मे यश प्राप्त करें।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं कि कृष्ण के दर्शन न पाने पर हमारी आँखे दुःख रही हैं, तुम इनके लिए उपयुक्त अजन लाकर दो जिससे ठीक हो जाये। तुम्हारे ज्ञान-रूपी अजन के देने से इनकी पीड़ा और भी अधिक बढ गई है, अतः इन्हे तुम काले रंग का अजन अर्थात् कृष्ण को ला दो, तभी इन्हे शान्ति मिलेगी, क्योकि इनका प्रेम एव स्नेह का नाता है और वही इनकी पीडा को दूर कर सकता है।

हे उद्धव रूपी भँवरे! कृष्ण के दर्शन के बिना हमारी ये आँखे रात-दिन तपती एव दग्ध होती रहती हैं। इन्हें अपना यह शरीर रूपी घर भी नही सुहाता। इन्हे इस बात का संताप है कि कृष्ण के बिना हमने अभी तक यह शरीर क्यो धारण किया हुआ है। हम तुम्हे इनके दुःख के विषय मे और अधिक क्या बताये—ये तो कृष्ण के वियोग मे उसी प्रकार तडप-तडप कर अपनी जान देना चाहती है जिस प्रकार मछली जल से विलग होते ही छटपटा कर अपना जीवन त्याग देती है।

हमारे इन नेत्रो ने कृष्ण के मोहनी रूप को दृढ़तापूर्वक इस प्रकार अपने भीतर बाँध कर रख लिया है जिस प्रकार कपूर को नष्ट होने से बचाने के लिए खरिया मिट्टी के साथ पुडिया मे कस कर बाँध दिया जाता है और इस प्रकार वह एक कोने मे सुरक्षित रहता है। ऐसे ही हमारी संतप्त आँखों को एक बार प्रिय कृष्ण के दर्शन करा कर हे उद्धव! तुम अपने लिए संसार मे यश का अर्जन क्यों नही करते क्योकि संसार के लिए यह भी एक पुण्य का कार्य होगा।

विशेष—(१) 'स्याम रंग' मे श्लेष होने के कारण उसके दो अर्थ निकलते है—काले रंग का जल तथा काले रंग वाले कृष्ण।

(२) कपूर धीरे-धीरे उड़ कर नष्ट हो जाता है। उसे सुरक्षित रखने के लिए खरिया मिट्टी के साथ एक पुड़िया मे बाँध कर एक कोने में रख दिया जाता है।

(३) "सब बिधि बाँधि ठानि कै राख्यौ"—इस पक्ति का यह भी अर्थ हो सकता है कि कृष्ण-दर्शन की आतरिक अभिलाषा के कारण इन आँखो ने इतना कष्ट सहते रहने पर भी अपने प्राणो को दृढतापूर्वक बाँध रखा है।

अलंकार—(१) 'स्याम रंग काजल'—मे श्लेष पुष्ट रूपक।

(२) "जैसे...ऐहु'—उपमा।

(३) 'राख्यौ कोरेहु' तथा 'तन...गेहु'—रूपकातिशयोक्ति।

ऊधो ! भली करी तुम आए।
ये बातें कहि कहि या दुख में ब्रज के लोग हँसाए॥
कौन काज वृंदावन को सुख, दही-भात की छाक ?
अब वै कान्ह कूबरी रांचे बने एक ही ताक॥
मोर मुकुट मुरली पीतांबर, पठवौ सौज हमारी।
अपनी जटाजूट अरु मुद्रा लीजै भस्म अधारी॥
वै तौ बड़े, सखा तुम उनके, तुमको सुगम अनीति।
सूर सबै मति भली स्याम की जमुना-जल सों प्रीति॥१३६॥

शब्दार्थ—छाक=कलेवा, नाश्ता। राचे=अनुरक्त हो गए हैं। ताक=वार, मेल। सौज=वस्तुएँ।

प्रसग—पिछले कतिपय पदो मे गोपियो की दीन-भावना मुखरित हुई थी। अब वे पुन: उद्धव पर व्यंग्य करती हुई दिखाई दे रही हैं। उन्हे उद्धव की योग-ब्रह्म से सम्बद्ध सभी बाते मनोरजक एव हास्यास्पद लग रही हैं।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हे उद्धव ! यह तुमने बहुत अच्छा किया जो ब्रज चले आए। ब्रज के समस्त लोग कृष्ण के वियोग मे दुखी एव व्याकुल थे, तुमने इन्हें योग एव निर्गुण-ब्रह्म सम्बन्धी उल्टी-सीधी बाते सुना कर उनका मनोरजन किया है और इस प्रकार हम काफी समय के उपरान्त खूब दिल खोल कर हँसे हैं। कृष्ण का मथुरा मे दिल लग गया है। वहाँ उन्हे खूब स्वादिष्ट-स्वादिष्ट व्यजन मिलते हैं, यहाँ का दही-भात का कलेवा अब उन्हे क्या रुचेगा ? वहाँ वे कुब्जा पर अनुरक्त हो गए है। दोनों का खूब मेल हुआ है। अब उनके लिए वृन्दावन मे क्या सुख एवं आकर्पण रह गया है ? कुब्जा के प्रेम मे निमग्न कृष्ण को न तो हमारी स्मृति ही आती है और न मथुरा के स्वादिष्ट व्यजनो के सम्मुख माता यशोदा का दही-भात का कलेवा, जिसे वे अत्यन्त चाव से खाते थे, ही याद आता है। इस प्रकार जब उन्हे वृन्दावन से कोई मोह एवं लगाव ही नही रहा तो अब हमारी वस्तुएँ ही भला उनके पास क्यो बनी रहे। अतः तुम ऐसा करना कि हमारी वे सारी वस्तुएँ अर्थात् मोर-मुकुट, मुरली और पीताम्बर हमे यहाँ लौटा भेजना क्योंकि

ये वस्तुएँ हमने ही उन्हे भेट की थी और जब उनका हमसे ही नाता टूट गया तो ये चीजे भी उनके पास क्यो बनी रहे ? और उनसे हमारे लिए जो-जो वस्तुएँ तुम यहाँ लाए हो वे भी तुम यहाँ से लौटा ले जाओ और उन्हे सौप दो। अर्थात् योग-साधना से सम्बद्ध जो-जो वस्तुएँ—जटाजुट, मुद्रा भस्म, अधारी भेजी है, वे हम नही रख सकती। हमारे लिए ये किसी काम की नही है।

मथुरा मे जाकर कृष्ण वडे आदमी बन गए है, वे राजा है, तुम राजा के मित्र हो अर्थात् तुम भी हमारे लिए बड़े और आदरणीय हो। वडे आदमी हो अनीतिपूर्ण व्यवहार करे पाने मे समर्थ होते हैं क्योकि वे किसी के सम्मुख उत्तरदायी नही होते। तुम दोनो भी हमारे साथ अनीतिपूर्ण व्यवहार कर रहे हो। तुम दोनो लुटेरे हो। कृष्ण हमारा मन और हमारी वस्तुएँ लूट कर मथुरा जा बैठे है और अब तुम उसकी स्मृति ही हमसे लूटने आए हो। हमे कृष्ण की यह बात विवेकपूर्ण लगी है कि वे हम जैसी से तो नाता तोड चुके है किन्तु यमुना-जल से अब भी स्नेह करते है क्योकि वृदावन के समान मथुरा मे भी यमुना नदी प्रवाहित है।

विशेष—(१) 'भली करी' इन शब्दो मे नीहित व्यंग्य का भाव दर्शनीय है। गोपियां उद्धव को यहाँ मनोरंजन का साधन सिद्ध कर रही है।

(२) 'वै···अनीति'—इस पक्ति मे कृष्ण एव उद्धव को बड़ा आदमी सिद्ध करने मे गोपियो का वाक्‌चातुर्य दर्शनीय है। व्यग्य द्वारा वे दोनो को अनाचारो एवं अन्यायी घोषित कर रही है।

अलंकार—सम्पूर्ण पद मे 'परिवृत्ति'।

ऊधो ! बूझति गुपुत तिहारी।
सब काहू के मन की जानत बाँधे मूरि फिरत ठगवारी॥
पीत ध्वजा उनके पीतांबर, लाल ध्वजा कुबिजा व्यभिचारी।
सत की ध्वजा स्वेत ब्रज ऊपर अजस हेत ऊधो ! सो प्यारी॥
उनके प्रेम-प्रीत मनरंजन, पै ह्याँ सकल सीलव्रतधारी।
सूर वचन मिथ्या, लंगराई ये दोऊ ऊधो को न्यारी॥१३७॥

शब्दार्थ—गुपुत=गुप्त वात, रहस्य की बात। मूरि=जडी-बूटी। ठगवारी=ठगो वाली। अजस=अपयश। लगराई=लम्पटता। न्यारी=

निराली, अनोखी।

प्रसंग—गोपियों के मत मे उनका कृष्ण के प्रति सात्विक प्रेम है अर्थात् सासारिक नही जबकि कुब्जा का प्रेम विषय-भोग वाला अर्थात् रजोगुणी है किन्तु उद्धव ने कुब्जा को उपदेश देना उचित नही समझा जबकि वह भोग-विलास मे निमग्न है और उसे इस उपदेश की अधिक आवश्यकता है। किन्तु वे तो गोपियो से कृष्ण के प्रेम की स्मृति ही छीनने को पधारे हैं, अत. इसमे कही न कही कोई षड्यत्र है।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं कि उद्धव! हम तुमसे तुम्हारे मन मे छिपे हुए रहस्य के विषय मे जानना चाहती है। हमे तुम सच-सच बता दो कि तुम्हारा यहाँ आने का और हमे योग का उपदेश देने का वास्तविक उद्देश्य क्या है और इससे किसे लाभ होने वाला है। तुम स्वय को बहुत बड़ा ज्ञानी कहते हो। क्या तुम सचमुच सबके मन की बाते जानते भी हो या यूँ ही ठगो की जडी, जिसे वे लोगो को खिला या सुँघा कर उन्हे बेहोश कर देते हैं और इस प्रकार उनका सब कुछ लूट लेते हैं, के समान अपने इस योग को यहाँ लाकर हमे ठगने एव लूटने आए हो और अपने वाक्जाल मे हमे उलझा कर हमारे कृष्ण रूपी सर्वस्व को लूटना चाहते हो। हमे तो तुम ढोगी प्रतीत होते हो क्योकि तुम कृष्ण के प्रति हमारे सात्विक प्रेम को नही पहचान पाए। तनिक अपने मन मे विचार करके समझो कि कृष्ण के शरीर पर सुशोभित पीताम्बर ही पीली ध्वजा है जो कि हमारे प्रति उनके प्रेम का हल्का-सा प्रतीक है। इसके विपरीत कुब्जा लाल परिधान धारण करती है। यह लाल रग वासना का प्रतीक है—अर्थात् कृष्ण के प्रति उसका प्रेम सात्विक न होकर वासना-प्रधान है जिसे वस्तुतः व्यभिचार कहा जाता है। यहाँ व्रज मे सर्वत्र श्वेत ध्वजा फहराती रहती है अर्थात् कृष्ण-वियोग मे हमने रगीन परिधानो का परित्याग कर दिया है। यह श्वेत-वस्त्र कृष्ण के प्रति हमारी सात्विक-भावना का प्रतीक है। किन्तु कृष्ण को कुब्जा से ही प्यार है और हमसे कोई सरोकार नही। फिर भी, तुम हमारे सात्विक प्रेम को हमारे अपयश का कारण स्वीकार करके हमे उपदेश देने के लिए यहाँ पधारे हो। इसमे हमे किसी षड्यंत्र की बू आ रही है। एसी दुर्भावना पूर्ण चाल तो कुब्जा ही चल सकती है।

कृष्ण एवं कुब्जा मे स्थापित प्रेम-सम्बन्ध मांसल है, उनका लगाव वासना-जन्य है और प्रेम मनोरंजन एव सासारिक वासनाओ की तृप्ति का साधन है किन्तु यहाँ ब्रज में हम सबने शील का व्रत धारण कर रखा है और हमारा आचरण सर्वथा सात्विक एव भोग-विलास से परे है। इस प्रकार हमारा प्रेम एव शील अखड है। फिर भी तुम हमें ही कृष्ण को त्याग निर्गुण-ब्रह्म को अपनाने का उपदेश दे रहे हो। इसका यही कारण है कि तुम झूठ बोलने और लम्पटता मे अद्वितीय हो—इन दोनों मे तुम्हारी बराबरी नही की जा सकती।

विशेष—(१) इस पद मे गोपियो ने कुब्जा के मांसल प्रेम की तुलना मे अपने सात्विक प्रेम को श्रेष्ठ घोषित किया है। उनके मत मे कृष्ण का पीताम्बर राजसी-योगियो के पीत वस्त्र का प्रतीत होने के कारण उनके वैभव की ओर सकेत करता है तथा कुब्जा का लाल परिधान वासना का प्रतीक होने के कारण उसको व्यभिचारिणी सिद्ध करता है।

(२) कुब्जा व्यभिचार में सलग्न है। अतः योग की उसे अधिक आवश्यकता है किन्तु उद्धव उपदेश देने ब्रज मे पधारे हैं, इससे अधिक धूर्तता और छल और क्या हो सकता है?

(३) उद्धव का ब्रज में उपदेश देने आना गोपियो को किसी षड्यंत्र का भाग प्रतीत होता है जिसका कारण कुब्जा है।

अलंकार—सम्पूर्ण पद में उपमा।

ऊधो ! मन माने की बात।
जरत पतंग दीप में जैसे, औ फिरि फिरि लपटात॥
रहत चकोर पुहुमि पर, मधुकर ! ससि अकास भरमात।
ऐसो ध्यान धरो हरिजू पै छन इत उत नहिं जात॥
दादुर रहत सदा जल भीतर कमलहिं नहिं नियरात।
काठ फोरि घर कियो मधुप तै बंधे अंबुज के पात॥
बरषा बरसत निसिदिन, ऊधो ! पुहुमी पूरि अघात।
स्वाति-बूंद के काज पपीहा छन छन रटत रहात॥
सेहि न खात अमृतफल भोजन तोमरि को ललचात।
सूरज कृस्न कुबरी रीझे गोपिन देखि लजात॥१२८॥

शब्दार्थ—पुहुमि=पृथ्वी। भरमात=भ्रमता है, घूमता है। नियरात=

पास फटकता। अम्बुज=कमल। अघात=तृप्त हो जाती है। सेहि=एक जीव, जिसके शरीर पर लम्बे-लम्बे काँटे होते है। तोमरि=तोमड़ी कड़वा घिया या लौकी।

प्रसग—अपने प्रिय मे कोई अवगुण नही ढूँढता, उसी के लिए दीवाना बना रहता है। यदि कुब्जा पर कृष्ण रीझ गए हैं तो इसमे उनका कोई दोष नही। प्रस्तुत पद मे गोपियो ने कुब्जा-कृष्ण-प्रेम की अद्भुत घटना की अनेक उदाहरणो द्वारा व्याख्या की है।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं कि हे उद्धव ! इसमे कोई विलक्षणता नही है, अपितु अपने मन की रुचि की बात है। कृष्ण-कुब्जा के प्रेम मे हमें तो कोई आश्चर्य की बात नही लगती, क्योकि यह जग की रीति है कि जिसे जो अच्छा लगता है वह उसी का दीवाना बना रहता है, उसके गुणो-अवगुणो की ओर ध्यान नही देता। पतंगा दीपक की जला देने की प्रवृति से परिचित होता है। फिर भी वह उसमें जलकर मर जाता है, अपने प्राणो की विपदा के बारे मे जानते हुए भी वह बार-बार उससे जाकर लिपट जाता है। हे उद्धवरूपी भ्रमर ! चकोर पृथ्वी का वासी है और उड पाने मे भी असमर्थ है किन्तु आकाश मे विचरने वाला चन्द्रमा अपने आकर्षण मे हमेशा उसे भरमाए रहता है। चकोर जानता है कि वह चन्द्रमा तक न कभी पहुँच सकता है और न ही कभी उसे पा सकता है, फिर भी उससे प्रेम करना नही छोड़ता। हमने भी प्रभु से ऐसा ही स्नेह एव प्रेम का नाता जोडा था, हमारा मन उनके ध्यान को त्याग कर किसी और का कभी ध्यान नही करता। इस निष्फल एव निस्वार्थ प्रेम-सम्बन्ध मे जो आनन्द है वह अन्यत्र नही।

जल मे विचरण करने वाला मेढक सदा पानी मे रहता है किन्तु जल के एक अन्य वासी कमल के प्रति उसका कोई आकर्षण नही, वह उसके पास तक भी नही फटकता और इस प्रकार एक अद्वितीय सौन्दर्य से वचित रह जाता है। इसके विपरीत जो भ्रमर सख्त लकडी को काट कर उसमें अपना घर बना लेने मे समर्थ है, वह कमल की पखुड़ियो मे स्वयं को कैद करा कर ही जीवन की सार्थकता समझता है और उन्हे काटने का प्रयत्न न करके वही घुट-घुट कर प्राण दे देता है। वस्तुत. वह कमल का अनन्य प्रेमी है कि अपने शरीर से उनकी कोमल पखुड़ियो को आघात नही पहुँचा सकता है। उद्धव ! वर्षा ऋतु

में रात-दिन बादल बरसता है तथा पृथ्वी जल से पूरी तृप्त हो जाती है, उसकी प्यास जाती रहती है परन्तु ऐसे मे भी पपीहा प्यासा रहता है। वर्षा के जल की एक बूँद को भी ग्रहण नही करता बल्कि स्वाति नक्षत्र के जल की एक बूँद की खातिर पिय-पिय रटता रहता है। एकनिष्ठ प्रेम तो इसी को कहते है।

ऐसे ही साही नाम का वन-जीव अमृत के समान मीठे और शक्तिदायक फलो का तो त्यागकर देता है किन्तु अपने भोजन के लिए कडवी लौकी को ललचता है क्योकि उसे वही प्रिय है। कृष्ण का भी यही हाल है। वह हमारे अमृत फल के समान मीठे और पवित्र प्रेम को त्यागना चाहते है जबकि नीच कुलोत्पन्न कुब्जा के लौकी के समान कडवे एव वासनामय प्रेम पर रीझ गये हैं। उसके साथ सस्थापित अपने सम्बन्धो पर तो गर्व करते है और प्रेम-सम्बन्धो पर लज्जा अनुभव कर रहे है।

विशेष—(१) सम्पूर्ण पद मे असूया सचारी भाव व्याप्त है तथा गोपियो का कृष्ण-कुब्जा के प्रेम-सम्बन्धो पर व्यग्य स्पष्ट हुआ है।

(२) विलक्षण प्रेमियो के विभिन्न उदाहरण प्रस्तुत करके यह सिद्ध किया गया है कि 'प्रेम अन्धा होता है' तथा प्रेमी प्रिय के गुण-दोषो का विचार न कर उससे प्रेम का नाता स्थापित करता है।

अलंकार—सम्पूर्ण पद मे अर्थान्तरन्यास।

ऊधो ! खरिए जरी हरि के सूलन की।
कुंज कलोल करे बन ही बन सुधि बिसरी वा मूलन की॥
ब्रज हम दौरि आँक भरि लीन्ही देखि छाँह नव मूलन की।
अब वह प्रीति कहाँ लौ बरनौ वा जमुना के कूलन की॥
वह छबि छाकि रहे दोउ लोचन बहियाँ गाहि बन भूलन की।
खटकति है वह सूर हिये मों माल दई मोंहि फूलन की॥१३९॥

शब्दार्थ—खरिए=अत्यन्त। सूलन=दुखो। कलोल=क्रीड़ा। आँक=गोद। मूलन=वृक्ष। कूलन=तट, किनारा। छाकि=पूर्ण तृप्त। गहि=पकड कर, डाल कर। मो=मुझे।

प्रसंग—राधा अथवा कोई अन्य गोपी कृष्ण के ब्रज मे रहते हुए उनके साथ की गई केलि-क्रीड़ाओ की स्मृति कर दुख अनुभव कर रही है।

व्याख्या—राधा उद्धव से कहती है कि हे उद्धव ! हम हरि द्वारा दिए गए दुखो से अत्यन्त सन्तप्त हैं। एक तो उनके साथ सहवास-काल में की गई क्रीड़ाओ की स्मृति हमे दग्ध कर रही थी, ऊपर से उन्होने तुम्हारे हाथो योग का सन्देश भेज दिया। और इस प्रकार हमारे दुख मे और भी वृद्धि कर दी। सम्भवतः कृष्ण वृन्दावन मे स्थित कुंजो में हमारे साथ की गई क्रीड़ाओ के समय की प्रेम-विमुग्धता एव तन्मयता की स्मृति को भूल गए हैं। यदि वे बातें उन्हे याद रहती तो आज वह हमारे लिए योग का सन्देश न भेजते। उनके व्रज मे निवास करते समय जव हम नए-नए कोमल वृक्षो की छाया में विश्राम कर रही होती थी और हमे इस प्रकार विश्राम करते पा वह दौड़ पड़ते थे और अपनी गोद मे उठा कर आलिंगनवद्ध कर लेते थे। उन्होने हमारे साथ यमुना तट पर अगणित प्रेम-क्रीड़ाएँ की हैं, इनकी स्मृति आते ही हम अपनी सुध-वुध भूल जाती हैं। हम कहाँ तक उन क्रीडाओ का वर्णन तुम्हारे सम्मुख करें।

वह हमारे साथ वन-विहार करते थे। हमारी बाँहो को पकड़ कर हमारे साथ झूला झूलते थे और हमे झूला झुलाते थे। उस समय की उनकी मुख-मुद्राएँ तथा रूप-छवि हमारी दोनो आँखो मे अभी तक समाई हुई है और यह अभी तक भी तृप्ति अनुभव करती है। और उन्होने जो वन के फूलो की माला मुझे पहनाई थी, उस समय की स्मृति तो आज भी एक सूल वन कर मेरे हृदय मे चुभन पैदा कर रही है।

हे उद्धव ! तुम्हारे योग-सन्देश लाने पर उनकी आनन्दमयी क्रीडाओ की स्मृति ताजा हो उठी है। कहाँ तो उनका जीवनदायक प्रेम और कहाँ दग्ध करने वाला यह योग। हम इसे करने मे सर्वथा असमर्थ है।

विशेष—सम्पूर्ण पद मे स्मृति सचारी भाव व्याप्त है।

अलंकार—स्मरण।

मधुकर ! हम न होहिं वे वेली।
जिनको तुम तजि भजत प्रीति विनु करत कुसुमरस-केली ॥
वारे तें वलवीर वढाई पोसी प्याई पानी।
विन पिय-परस प्रात उठि फूलत होत सदा हित-हानी ॥
ये वल्ली विहरत वृंदावन अरुझी स्याम-तमालहिं।
प्रेमपुष्प-रस-बास हमारे बिलसत मधुप गोपालहिं ॥

जोग-समीर धीर नहिं डोलत, रूपडार-ढिग लागी।
सूर पराग न तजत हिये तें कमल-नयन-अनुरागी ॥१४०॥

शब्दार्थ—वेली=लताएँ। कुसुम रस=पद्मपराग। केलि=क्रीड़ा। बारे =बचपन। बलवीर=बलराम के भाई कृष्ण। परस=स्पर्श। स्याम-तमालहिं =श्यामरूपी तमाल का वृक्ष। बिलसत=पान करते है। समीर=पवन। ढिग=पास।

प्रसग—गोपियाँ कृष्ण की अनन्य प्रेमिकाएँ है। अपनी अनन्यता को लताओ के रूपक द्वारा उद्धव को समझा रही है। भ्रमर लताओ से अधिक पुष्प-पराग का प्रेमी है। अतः वे लता और भ्रमर का रूपक बाँध कर भ्रमर के माध्यम से उद्धव को समझा रही है कि गोपिकाएँ रूपी लताए श्याम-तमाल के साथ उलझी हुई है, अत. योग-रूपी आँधी उनकी स्थिरता को डगमगा नही सकती।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं कि हे उद्धव रूपी भ्रमर! हम उन साधारण लताओ के समान नही हैं जिनको तुम प्यार नही करते किन्तु उनके पुष्पो का पराग पीने के लिएँ उनके पास मडराते रहते हो और फिर उनके साथ क्रीड़ा कर उनका त्याग कर कही अन्यत्र मधु-पराग की खोज मे चल पडते हो। वस्तुतः यह तुम्हारा प्रेम न होकर प्रेम का अभिनय होता है और तुम्हारी चातुरी मे ये लतायें लुभायमान होकर अपना सब कुछ खो बैठती है। परन्तु हम इनसे भिन्न है और फिर प्रिय कृष्ण ने हमारा बचपन से स्नेह के साथ भरण-पोषण किया है तथा अपने प्रेमरूपी जल से सीच-सीच कर हमे बडा किया है। हम सदा अपने प्रिय का स्पर्श पाकर उस प्रकार खिल उठती थी जिस प्रकार प्रात.कालीन सूर्य का स्पर्श पाकर अन्य लताएं खिल उठती है। जिस दिन हमे अपने प्रिय का स्पर्श प्राप्त नही होता था, उस दिन हम अपनी अत्यधिक हानि हुई समझती थी। इस प्रकार हमारा कृष्ण के साथ युवावस्था मे पहली नजर का प्रेम नही बल्कि यह तो बालापन से ही पुष्ट होता आया है।

हम गोपियाँ रूपी लताएँ कृष्ण रूपी तमाल वृक्ष के प्रेमालिगन मे आबद्ध वृन्दावन की कुज-गलियो मे विहार करती रहती थी और हमारे प्रेम रूपी पराग एवं सुगन्धि का गोपाल रूपी भ्रमर भोग करते थे, रसपान करते थे। अर्थात् वृन्दावन की कुज गलियो मे कृष्ण हमे अपने बाहुपाश मे बद्ध करके

हमारे साथ विहार करते थे और हमारे सुधारस का पान किया करते थे। हमें जब कृष्णरूपी तमाल वृक्ष का सहारा है और हम उनकी अनपम सौन्दर्य रूपी शाखा में लिपटी हुई हैं अर्थात् कृष्ण के सौन्दर्य का शक्तिशाली आश्रय हमे प्राप्त है, इसलिए हम तुम्हारे योग के तूफान मे विचलित न होकर स्थिर बनी हुई हैं। अर्थात् हम कृष्ण की अनन्य प्रेमिकाएँ हैं, अतः तुम्हारे योग-उपदेश का हम पर कोई प्रभाव नही पड़ सकता। हे उद्धव! हम अपने हृदय रूपी पुष्प-पराग को तुम्हारे निर्गुण-ब्रह्म पर समर्पित नही कर सकती क्योंकि हमारा हृदय कमल जैसे नेत्रों वाले कृष्ण का पहले से ही अनुरागी है। इसलिए हम अपने प्रिय को त्याग तुम्हारे निर्गुण ब्रह्म को ग्रहण करने मे पूर्णतया असमर्थ हैं।

विशेष—(१) सम्पूर्ण 'भ्रमर-गीत सार' में यह एक महत्वपूर्ण पद है।

(२) इससे गोपियो ने लता और भ्रमर के रूपक द्वारा कृष्ण के प्रति अपनी अनन्य प्रेमनिष्ठा व्याप्त की है। यह रूपक सफल है और ऐसे रूपक हिन्दी साहित्य मे विरल हैं।

(३) पद की भाषा रोचक, भावपूर्ण और अभिव्यजनापूर्ण है।

अलंकार—(१) सम्पूर्ण पद मे साँगरूपक।

(२) 'वे वेली······केली'—रूपकातिशयोक्ति।

(३) 'श्याम तमालहि' एव 'मधुपगोपालहि—रूपक।

(४) ये वल्ली······अनुरागी'—साँगरूपक कतिपय विद्वानो ने इसमे अन्योक्ति भी माना है।

मधुकर! स्याम हमारे ईस।
जिनको ध्यान धरे उर-अंतर आनहि नए न उन बिन सीस॥
जोगिन जाय जोग उपदेसो जिनके मन दस बीस।
एकै मन, एकै वह मूरति, नित बितवत दिन तीस॥
काहे निर्गुन-ज्ञान आपुनो जित तित डारत खीस।
सूरज प्रभु नंदनदन हैं उनतें को जगदीस? ॥१४१॥

शब्दार्थ—आनहि=अन्य, दूसरा। नए=नत होना, झुक रहना। डारत खीस=नष्ट करते हो।

प्रसंग—गोपियो के ब्रह्म कृष्ण हैं, उनके अतिरिक्त वे किसी अन्य के सम्मुख शीष नही झुका सकती।

व्याख्या—गोपियाँ मधुकर के माध्यम से उद्धव से कह रही है कि हे उद्धव ! हमारे ब्रह्म अथवा ईश्वर एकमात्र कृष्ण हैं। हम सदा अपने हृदय मे उनका ध्यान किया करती हैं तथा उनके अतिरिक्त किसी अन्य के सम्मुख तुम्हारे निर्गुण ब्रह्म की तो बात ही क्या, अपना मस्तिष्क नत नही कर सकती अथवा किसी अन्य को अपने शीष पर धारण नही कर सकती। यदि तुमने अपना योग-सन्देश देना ही है, तो तुम्हारे लिए यही उचित है कि तुम उन योगिनियो के पास चले जाओ और अपना उपदेश दो। उनके अनेक मत होते हैं, अतः वही इसके ग्रहण किये जाने की सम्भावना है। वस्तुत. इन योगिनियो का मन अस्थिर होता है और उसे एकाग्र करने के लिए इन्हे तुम्हारा योग-सहायता दे सकता है, हम तो पहले ही कृष्ण के प्रेम मे एकाग्र-चित्त है। हमारे पास फिर एक ही मन है और कृष्ण के प्रति एकनिष्ठ है, उसमे अन्य के लिए कोई स्थान नही। हम तो महीने मे तीस दिन अर्थात् प्रतिपल कृष्ण के ध्यान मे निमग्न रहती है।

यहाँ तुम्हारा यह निर्गुण-ज्ञान किसी के काम का नही, ब्रज मे इसका कोई लाभ नही। अतः तुम इसे इधर-उधर वितरण करने का प्रयत्न करके नष्ट न करो, सम्भाल कर रखो, कभी न कभी तुम्हारे काम आयेगा। हमारे स्वामी तो एक मात्र कृष्ण ही है, उनसे बढ़ कर ससार का स्वामी कोई नही हो सकता। जब हमे वह प्राप्त है तो व्यर्थ मे हम तुम्हारे निर्गुण-ब्रह्म के पीछे मगज-पच्ची क्यो करे।

विशेष—कृष्ण सर्वशक्तिमान और जगदीश है। गोपियाँ उसकी आराधिका होने के कारण उन्हे प्राप्त कर चुकी है। अतः योग-साधना उनके लिए व्यर्थ है, कोरा बकवास है।

मधुकर ! तुम हौ स्याम-सखाई।
पा लागों यह दोष बकसियो संमुख करत ढिठाई॥
कौने रंक संपदा बिलसी सोवत सपनें पाई ?
किन सोने की उड़त चिरैया डोरी बाँधि खिलाई ?

धाम धुआँ के कहो कौन के, बैठी कहाँ अथाई ?
किन अकास ते तोरि तरैयाँ, आनि धरी घर माई ।
बौरन की माला गुहि कौनै अपने करन बनाई ?
बिन जल नाव चलत किन देखी, उतरि पार को जाई ?
कौनै कमलनयन ब्रत बीड़ो, जोरि समाधि लगाई ?
सूरदास तू फिरि-फिरि आवत यामें कौन बड़ाई ? ॥१४२॥

शब्दार्थ—दोप=अपराध । वकसियो=क्षमा करना । कौने=किसने । रक=निर्धन, भिखारी भोगी । धाम=महल । अथाई=बैठक, चौबारा । तरैया=तारे । बौरन=बौर । करन=हाथों से । बीडो जोरी=बीड़ा उठा कर, प्रतिज्ञा करके ।

प्रसंग—गोपियो के मत मे निर्गुण-ब्रह्म को प्राप्त करना असम्भव है । प्रस्तुत पद मे उन्होने विभिन्न उदाहरण प्रस्तुत करके अपने उक्त मत की सत्यता प्रतिपादित की है ।

व्याख्या—गोपियाँ भ्रमर के माध्यम से उद्धव से कह रही है कि हे मधुकर ! तुम हमारे प्रिय के मित्र हो और उनका सन्देश लेकर पधारे हो । अत. इस नाते से हमारे लिए आदरणीय हो । हम तुम्हारे ज्ञानोपदेश के उत्तर में कुछ बाते कहना चाहती है । तुम ज्ञानी हो, तुम्हारे सम्मुख बराबरी के आधार पर बाते करना वस्तुत हमारी उच्छृखलता होगी । इसलिए हम तुम्हारे पाँव पडती हैं कि तुम हमारे इस अपराध को क्षमा कर देना ।

तुमने हमे योग-साधना द्वारा निर्गुण ब्रह्म को प्राप्त करने का सन्देश दिया है । परन्तु हमारी समझ मे ब्रह्म को प्राप्त करना असम्भव है । क्या कभी किसी निर्धन ने स्वप्न मे प्राप्त धन-वैभव का उपभोग किया है ? वह वैभव तो स्वप्न टूटते ही नष्ट हो जाता है, इसलिए उसका योग असम्भव है ? कवियो द्वारा कल्पित सोने की चिडिया को क्या कभी किसी ने डोरी के साथ बाँध कर खिलाया है ? क्या कभी किसी ने धुये के महलो मे बैठक-चौबारे आदि का निर्माण किया है और उनमे बैठ कर जीवन का आनन्द उठाया है ? धुएँ का महल तो पवन चलते ही नष्ट हो जाता है । अच्छा तुम यह बताओ कि आज तक कोई व्यक्ति आकाश से तारे तोड़ कर अपने घर मे रख सका है ? इसी प्रकार क्या कोई आज तक बौर के फूलो की माला अपने हाथों से गूँथ

सका है ? क्या किसी ने कागज की नाव को पानी मे तैरते हुए देखा है और क्या कोई उसमे बैठ कर नदी के पार उतरा है ? ये सब असम्भव कार्य है।

अच्छा, अब यह बताओ कि जिसने आज तक कमलनयन कृष्ण से प्रेम के व्रत की प्रतिज्ञा की हो, क्या वह समाधि लगा कर योग-साधना को स्वीकार करेगा अर्थात् नही, क्योकि जिसने कृष्ण से प्रेम किया है, उन्हे सहजाभक्ति से प्राप्त किया है, वह योग साधना द्वारा मृग तृष्णा के समान दुर्लभ ब्रह्म के पीछे क्यों भागेगा ? हे मधुकर ! हम अनेक बार तुझे समझा चुकी है कि हम तुम्हारे निर्गुण ब्रह्म को स्वीकार नही कर सकती, फिर भी तू बार-बार अपने हठीले स्वभाव द्वारा हमे ऐसा करने का क्यो आग्रह कर रहा है। इसमे तेरा कौन-सा बड़प्पन है।

विशेष—(१) विभिन्न असम्भव कार्य-व्यापारो का उदाहरण प्रस्तुत करके गोपियो ने यह सिद्ध किया है कि जिसने प्रिय कृष्ण के प्रेम का व्रत लिया हो और उसे प्राप्त भी कर लिया हो, वह निर्गुण-ब्रह्म को स्वीकार नही कर सकता।

(२) गोपियो के बार-बार मना करने पर भी उद्धव अपना उपदेश जारी रखते हैं, इस पर गोपियाँ खीझ उठती है, और उनके मुह से बरबस फूट पड़ता है कि इस हठ और मूर्खता में उद्धव का कोई बडप्पन नही। अन्तिम पक्ति मे मुखरित गोपियो की खीझ अत्यन्त हृदयग्राही है।

अलंकार—सम्पूर्ण पद मे निदर्शना।

मधुकर ! मन तो एकै आहि।
सो तो लै हरि सग सिधारे जोग सिखावत काहि ?
रे सठ, कुटिल-बचन, रसलंपट ! अबलन तन धौं चाहि।
अब काहे को देत लोन हौ बिरह अनल तन दाहि॥
परमारथ उपचार करत हौ बिरह व्यथा नहिं जाहि।
जाको राजदोष कफ ब्यापै, दही खवावत ताहि॥
सुन्दर-स्याम-सलोनी मूरति पूरि रही हिय माँहि !
सूर ताहि तजि निर्गुन-सिंधुहि कौन सकै अवगाहि ?॥१४३॥

शब्दार्थ—एकै आहि=एक ही है। काहि=किसको। तन=ओर। धौं =तो। चाहि=देखना। लोन=लवण, नमक। दाहि=दग्ध। राजदोष=

राजयक्ष्मा, तपेदिक, क्षय रोग। सिन्धु=सागर, समुद्र। अवगाहि=थाह लेना।

प्रसंग—गोपियां निर्गुण ब्रह्म को ग्रहण करने में असमर्थ हैं। क्योंकि उनका एक ही मन था और वह कृष्ण मथुरा के लिए प्रस्थान करते समय साथ ही ले गये। वह प्रस्तुत पद मे भ्रमर के माध्यम से उद्धव को यही वात समझा रही हैं।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कहती है कि हे मधुकर ! सभी के पास मन तो एक ही होता हैं। हमारा भी एक ही मन था जिसे कृष्ण मथुरा गमन करते समय अपने साथ ही ले गये, अत-अव तुम यह योग-साधना आदि का उपदेश किसे दे रहे हो। यह तो तुम जानते ही हो कि मन को एकाग्र करने से ही योग-साधना सम्भव हो सकती है और जव हमारा मन ही हमारे पास नही है तो हम किसे एकाग्र करे। और किस प्रकार योग साधना करे अर्थात् यह हमारे लिए सम्भव नही। हे दुष्ट, छल एव कपट भरे वचन कहने वाले रस के लोभी भँवरे। तू तनिक हम अवला नारियो की ओर तो निहार। क्या हम तुझे योग-साधना करने के योग्य लगती हैं। हमारा शरीर तो पहले ही कृष्ण के वियोग की अग्नि मे दग्ध हो रहा है, उस पर तू योग का उपदेश देकर हमारे जले पर नमक छिड़कने जैसा काम क्यो कर रहा है। तू हमे निर्गुण-ब्रह्म का उपदेश देकर हमारे विरह के सताप को और अधिक वढ़ा रहा है।

तुम हमे इस विरह-व्यथा के उपचार के लिए ब्रह्म आराधना द्वारा मुक्ति प्राप्त करने की वात कह रहे हो, किन्तु हम जानती हैं कि इससे हमारी व्याकुलता दूर नही होगी क्योंकि जव यह तुम्हारे उपदेश पर ही वढ गई है तो योग-अभ्यास पर तो इसकी सीमा ही नही रहेगी। हमारी विरह-व्यथा केवल कृष्ण के दर्शनों द्वारा ही दूर हो सकती है। किन्तु तू जाने कैसा वैद्य है जो हमे केवल राजयक्ष्मा रूपी कृष्ण-वियोग के रोग मे विकृत एव न ग्रहण करने योग्य दही रूपी निर्गुण-ब्रह्म की वूटी दे रहा है। जिस प्रकार दमा के रोगी को दही देने से उसके कफ का शमन नही होता, अपितु उत्तेजित होता है, उसी प्रकार निर्गुण ब्रह्म को अपना लेने से हमारी पीड़ा में वृद्धि होगी।

हमारे हृदय मे कृष्ण की सुन्दर, सलोनी और साँवली मूर्ति पूर्णतया विराजमान है, उसे वहाँ से विस्थापित करके कौन तुम्हारे अथाह निर्गुण-ब्रह्म

रूपी समुद्र की थाह लेता फिरे ? क्या हम अनाड़ी हैं जो तुम्हारे कहने मे आकर ऐसा करेगी ? तुम्हारा ब्रह्म वेद-शास्त्रो के लिए भी अगम्य है, हम अबला नारियाँ प्रेम की भूखी है, हमारे लिए तो वह सर्वथा व्यर्थ है ।

विशेष—पूर्व पद के समान गोपियों की खीझ अभी तक जारी है। परन्तु इस पद में यह खीझ एव झुझलाहट अधिक मुखरित एवं मनोरम है ।

अलकार—(१) सम्पूर्ण पद मे निदर्शना।
(२) 'विरह-अनल' मे रूपक ।
(३) 'निर्गुण सिंधुहि' मे रूपक ।

मधुकर ! छाँड़ु अटपटी बातें ।
फिरि-फिरि बार-बार सोई सिखवत हम दुख पावति जातें ॥
अनुदिन देति असीस प्रात उठि, अरु सुख सोवत न्हातें ।
तम निसिदिन उर-अन्तर सोचत ब्रज जुवतिन को घातें ॥
पुनि-पुनि तम्है कहत क्यों आवै, कछु जाने यहि नाते ।
सूरदास जो रँगी स्याम रँग फिरि न चढ़त अब राते ॥१४४।

शब्दार्थ—अटपटी=उल्टी-सीधी बकवास । जाते=जिससे । अनुदिन=प्रतिदिन । अरु=और । न्हाते=स्नान करते समय । घाते=कष्ट, दु.ख, नुकसान, हानि । राते=लाल रंग ।

प्रसग—उद्धव के मुख से बार-बार निर्गुण-ब्रह्म की बातें सुनकर गोपियाँ उदण्ड हो उठी हैं और उन्हे डाट रही है ।

व्याख्या—गोपियाँ भ्रमर के माध्यम से उद्धव से कह रही है कि मधुकर ! तू निर्गुण-ब्रह्म सम्बन्धी अपनी बकवास को अब समाप्त कर दे । इसे जारी रखना अब तेरे लिए उचित नही है । तू बार-बार घुमा-फिरा कर हमे वही निर्गुण-ब्रह्म को अपना लेने का उपदेश देता है जिससे हम दुखी होती है। एक तो हम कृष्ण के वियोग मे पहले ही व्यथित है और फिर निर्गुण-ब्रह्म का उपदेश देकर तू हमारी पीड़ा मे वृद्धि कर रहा है । तुम कृष्ण के प्रिय सखा हो और हमारे लिए उनका सन्देश लाये हो, इसलिए प्रतिदिन प्रात काल उठ कर, स्नान करते समय तथा अपनी दिनचर्या समाप्त करके रात्रि को जब हम सुख-पूर्वक सोती हैं और कृष्ण के स्वप्न मे निमग्न हो जाती है, हम तुम्हे आशीर्वाद देती हैं आयु हो ताकि कभी-न-कभी तुम

उनसे हमारी भेट करा दो। किन्तु तुम तो ऐसे दुष्ट हो कि हमारी कोमल-भावना का तुम पर कोई प्रभाव ही नही पडता और तुम सदा अपने हृदय मे यही सोचते रहते हो कि कब तुम्हें कोई अवसर मिले और तुम हम व्रज-युवतियों पर आघात करो और हमे दु ख पहुँचाओ।

हमारी समझ मे यह बात अभी तक नही आ रही, कि बार-बार तुम ऐसी कष्टदायक बाते कह किस प्रकार पाते हो, तुम्हे जरा भी लज्जा नही आती और न ही तुम्हे उस सम्बन्ध का कुछ ख्याल है जो हमारे और तुम्हारे बीच स्थापित है अर्थात् तुम कृष्ण के सखा होने के कारण हमारे लिए पूज्य हो। जो एक बार काले रग मे रग गया, उस पर लाल रंग नही चढ सकता अर्थात् हम कृष्ण के प्रेम-रंग मे सराबोर है, अब हम पर निर्गुण-ब्रह्म का कोई प्रभाव नही पड सकता तथा हम तुम्हारे योगियो के गेरुए वस्त्र धारण नही कर सकती।

विशेष—(१) गोपियो को खीझ पूर्ववत् है। बीच-बीच मे उन्होने उद्धव को प्रसन्न करने के लिए नर्म-वचनावली का प्रयोग भी किया है।

(२) 'सूरदास जो रगी स्याम रग फिरि न चढ़ अब राते'—इस पंक्ति जैसा भाव सूर ने अन्यत्र भी व्यक्त किया है, जो इस प्रकार है—

'सूरदास कारि कामरि पै चढ़ै न दूजो रंग।'

अलकार—(१) 'फिरि-फिरि', 'बार-बार', 'पुनि-पुनि' मे पुनरुक्ति प्रकाश।

(२) 'स्याम रग'—श्लेष।

(३) सूरदास'''अब राते'—रूपकातिशयोक्ति।

मधुप! रावरी पहिचानि।
बास रस लै अनत बैठे पुहुप को तजि कानि॥
वाटिका बहु विपिन जाके एक जौ कुम्हलानि।
फूल फूले सघन कानन कौन तिनको हानि?
कामपावक जरति छाती लोन लाए आनि।
जोग-पाती हाथ दीन्हीं विष चढ़ायो सानि॥
सीस तें मनि हरी जिनके कौन तिनमें बानि।
सूर के प्रभु निरखि हिरदय व्रज तज्यो यह जानि॥१४५॥

शब्दार्थ—पुहुप=पुष्प। कानि=मर्यादा। बिपिन=जगल, वन, उपवन। सघन=घना। कानन=जगल। कामपावक=कामाग्नि, काम-पीड़ा। लोन

=लवण, नमक । आनि=लाकर । लाए=लगाया । सानि=तीखा । मनि=मणी । हरी=छीन ली । बानि=शोभा, वर्ण, आभा, कान्ति ।

प्रसग—गोपियो का प्रेम अनन्य तथा एकनिष्ठ है किन्तु कृष्ण का प्रेम-रस लोभी भ्रमर के समान अस्थिर है । प्रस्तुत पद में गोपियों ने भ्रमर के माध्यम से कृष्ण की इसी रस-लोलुपता की ओर संकेत किया है ।

व्याख्या—हे मधुप ! हम तुम्हारे प्रेम की वास्तविकता को पहचान गई है । तुम तो एक ढोंगी हो और सदा प्रेम का नाटक रचा करते हो । कभी एक पुष्प पर बैठ कर उसकी सुगन्धि और पराग का उपभोग करते हो और फिर वहाँ से उड़ कर दूसरे पुष्प पर मडराते हो और उसका रसपान करते हो । वस्तुतः प्रेम मे ऐसा व्यवहार वर्जित है, किन्तु फिर भी तुम ऐसा आचरण करते हो और पहले वाले पुष्प की मर्यादा का बिल्कुल ध्यान नही करते । इस प्रकार तुम तो वाटिकाओं और वनो मे विचरण करने वाले हो । इन स्थलो पर अगणित पुष्प विकसित होते है । तुम सभी को अपनी सम्पदा समझते हो और उनका उपभोग करते हो । ऐसें सघन वनो मे खिलने वाले पुष्पो मे यदि एक फूल मुरझा जाय तो उसमे तुम्हारी क्या हानि है क्योंकि एक फूल की कमी से तुम्हारे आनन्द-भोग मे कोई अन्तर नही पडेगा । कृष्ण ने भी हमारे साथ ठीक इसी भ्रमर जैसा व्यवहार किया है । वह व्रज मे विकसित एवं पल्लवित हम ललनाओ के साथ केलि-क्रीड़ाये कर हमारा रसपान करके अब मथुरा जा बैठे है और वहाँ कुब्जा के साथ प्रेम-क्रीड़ाओ में रत है । जब उसमें रस का अभाव हो जायेगा तो उसे त्याग किसी अन्य को अपना लेगे और इस प्रकार यह क्रम चलता रहेगा । हमारे न रहने से उनके रसभोग मे कोई व्यवधान नही पडेगा ।

कृष्ण का व्यवहार हमारे प्रति कैसा भी उपेक्षा भरा क्यों न हो, हम उनसे एकनिष्ठ प्रेम करती है, हमे तो केवल उन्ही का सहारा है, अन्य आश्रय नही । उनके वियोग में सदा कामाग्नि में संतप्त रहती है, ऐसें मे तुम योग और निर्गुण-ब्रह्म का उपदेश देकर हमारे जले पर नमक छिड़क रहे हो । यह तुम्हारा किनना घृणित कार्य है । हमारी शोचनीय दशा देख कर तुम्हें हमारे साथ सहानुभूति प्रकट करनी चाहिए थी किन्तु तुमने कृष्ण के योग के सन्देश की चिट्ठी हमारे हाथों में थमाकर हमें मर्मान्तक पीड़ा पहुँचाई है । यह तो ऐसा हुआ है जैसे कोई शाह किसी भूखे और दीन याचक को खाना देने के लालच मे

अपने पास बुला ले और उसके हाथ मे भीषण एवं प्राणघातक विष का प्याला धर दे। जब मणिधारी सर्प की मणि छीन ली जाती है, तो वह कान्तिविहीन और अमर्यादित हो जाता है, उसी प्रकार हमारी भी मणि अर्थात् कृष्ण हमसे छीन लिये गये है अर्थात् वे हमे छोड मथुरा चले गये है, और अब उनके विरह मे दग्ध होकर हम नीरस ज्योतिहीन हो गई है, हमारा सौन्दर्य नष्ट हो चुका है। कृष्ण अपने हृदय मे इस बात को समझते और जानते हैं कि अब हम रसहीन होने के कारण उनके उपभोग के योग्य नही रही, इसलिए उन्होंने ब्रज को त्याग दिया है।

विशेष—यहाँ भ्रमर के माध्यम से कृष्ण के कुब्जा के प्रति प्रेम पर गहरा व्यंग्य किया गया है।

अलकार—(१) भ्रमर के माध्यम से कृष्ण पर व्यग्य होने के कारण अन्योक्ति।

(२) 'कामपावक'—रूपक।

मधुकर स्याम हमारे चोर।
मन हरि लियो माधुरी-मूरति चितै नयन की कोर॥
पकर्‌यो तेहि हिरदय उर अन्तर प्रेम-प्रीति के जोर।
गए छँड़ाय छोरि सब बंधन, दै गए हँसनि अँजोर॥
सोवत ते हम उचकि परी हैं दूत मिल्यो मोहि मोर।
सूर स्याम मुसकनि मेरी सर्वस लै गए नदकिसोर॥१४६॥

शब्दार्थ—कोर=कटाक्ष। अकोर=भेंट। मुसकनि=मुस्कान द्वारा।

प्रसग—इस पद में कृष्ण के मादक आकर्षण का वर्णन है जिसके कारण गोपियाँ अपना सर्वस्व लुटाने पर तत्पर हुई थी।

व्याख्या—गोपियाँ भ्रमर के माध्यम से उद्धव मे कह रही हैं कि हे मधुकर! कृष्ण हमारे एक अनुभवी चोर हैं। उन्होने अपनी रसभरी आकृति द्वारा हमारा मन हर लिया है और अपने नयनो के कटाक्ष से हमारा चित्त चुरा लिया है। जब वह हमारा मन चुरा रहे थे तो हमने भी उन्हे प्रेम एवं स्नेह के स्निग्ध बन्धन मे बांध कर अपने हृदय मे रख लिया। इस प्रकार वह 'माधुरी मूरति' हमारे हृदय मे स्थिरता से स्थापित हो गई किन्तु वह तो हमसे अधिक चतुर थे। हमे भुलावे में डालकर प्रेम के सभी नातो को क्षण में ही

छिन्न-भिन्न कर दिया और बन्धन तोड़ कर यहाँ से चले गये। जाते समय भेंट के रूप में अपनी मन्द मुस्कान हमें दे गये हैं। अर्थात् अपनी मन्द-मुस्कान द्वारा हमे भुलावे मे डाले रखा और बन्धन तोड़ कर चलते बने। उनकी मन्द मुस्कान सम्मोहन से हमे तब होश आया जब कृष्ण हमारा सर्व लूट कर यहाँ से प्रस्थान कर चुके थे। इस मोह-निद्रा के भंग होते ही हमें वास्तविकता का अनुभव हुआ कि हम पूरी की पूरी लूटी जा चुकी है। जब हमारी मोह-निद्रा टूटी और वास्तविकता के सवेरे ने अपना उजाला फैलाया तो हमने कृष्ण के दूत अर्थात् उद्धव को यहाँ पाया जो हमारी बची-खुची निधि अर्थात् कृष्ण की स्मृति भी हमसे लूटने का उपक्रम कर रहा था—अर्थात् योग और निर्गुण-ब्रह्म का उपदेश देकर कृष्ण की स्मृति भी हमसे छीन लेना चाहता था। अब तो हमें कृष्ण की उस मधुर-मुस्कान का ही ध्यान रहता है जो एक बार हमे इतनी घातक सिद्ध हुई थी कि हमारा सर्वस्व ही लूट लिया गया था।

विशेष—गोपियाँ कृष्ण की मोहक रूप-माधुरी के सम्मुख अपना सब कुछ हार गई थी और कृष्ण की मन्द मुस्कान ने तो उन्हे सम्मोहन मे डाल दिया और कृष्ण सब प्रेम के बन्धन तोड़ कर मथुरा जा बैठे। गोपियाँ तो अब इसी मुस्कान को याद करके ही जीवन धारण किए हुए है।

मधुकुर ! समुझि कहौ मुख बात।
हो मद पिए मत्त, नही सूझत, काहे को इतरात ?
बोच जो परै सत्य सो भाखै, बोलै सत्य स्वरूप।
मुख देखत को न्याव न कीजै, कहा रंक कह भूप॥
कछू कहत कछु ऐ मुख निकसत, परनिंदक व्यभिचारी।
हम जुवतिन को जोग सिखावत कीरति आनि पसारी॥
हम जान्यो सो भँवर रसभोगी जोग-जुगति कहँ पाई ?
परम गुरू सिर मूँड़ि बापुरे करमुख छार लगाई॥
यहै अनीति विधाता कीन्हीं तोऊ समुझत नाही।
जो कोउ परहित कूप खनावै परै सो कूपहि माही।
सूर सो वे प्रभु अतर्यामी कासो कहौ पुकारी ?।
तब अक्रूर अबै इन ऊधो दुहुँ मिलि छाती जारी॥१४७॥

शब्दार्थ—मद=मदिरा। मत्त=बदहवास। इतरात=गर्व कर रहे हो।

भाखै=कहे। कछु ऐ=कुछ और ही। बापुरे=बेचारा। करमुख=काले मुँह वाला, भ्रमर। छार=भस्म। कूप=कुआँ। खनावै=खुदवाता है। बीच जो परै=जो बीच मे पडता है, अर्थात् जो मध्यस्थ या दूत होता है।

प्रसग—गोपियो के लाख मना करने पर भी उद्धव की अपनी रहस्यात्मक उपदेश भरी बाते जारी रहती हैं। इस पर वे भुँझला उठती हैं और उन्हें खरी-खोटी सुनाती हैं।

व्याख्या—गोपियाँ भ्रमर के माध्यम से उद्धव से कह रही हैं कि हे मधुकर! अपने मुँह से सोच-समझ कर बातें निकालो। योग और त्रिगुण-ब्रह्म सम्बन्धी निरर्थक प्रसग त्याग कर कुछ समझ से काम लो। तुम अपने ज्ञान की मदिरा पिये मदमस्त हो अर्थात् अपने को विद्वान् समझ कर इतरा रहे हो। अपने ज्ञान के नशे मे तुम्हे उचित-अनुचित का भी अन्तर प्रतीत नही होता। तुम्हे इतना गर्व शोभा नही देता क्योंकि यह सर्वविदित है कि गर्व का सिर सदा नीचा होता है। दो दलो के वाद-विवाद में जो मध्यस्थ का कार्यभार सभालता है, वह विवाद को सुलझाने मे ही अपनी रुचि प्रदर्शित करता है। वह सदा सच्चाई का पक्ष लेता है और उचित न्याय करता है। किसी भी पक्ष का साथ वह इसलिए नही देता कि वह समाज मे सम्मानित है। उसके दृष्टि में राजा और रक दोनो समान होते हैं। तुम भी हमारे और कृष्ण के बीच पंच नियुक्त हुए हो। तुम्हारा कर्त्तव्य है कि तुम पक्षपात रहित निर्णय करो। किन्तु हम स्पष्ट देख रही है कि तुम ऐसा नही कर रहे। कृष्ण मथुरा के राजा हैं, सम्मानित हैं और तुम्हारे सखा हैं वह वहाँ कुब्जा के साथ भोगलिप्त हैं। तुम उनका यह व्यवहार तो न्यायोचित ठहरा रहे हो और उनके लाभ के लिए कि उनके कुब्जा के साथ स्वच्छन्द एवं उन्मुक्त प्रेम में कोई व्याघात न पहुँचे, हमे योगिनी बना कर रास्ते से हटाना चाहते हो। क्योंकि कृष्ण कभी हमसे प्रेम करते थे, तुम समझते हो कि कभी हम उन्हें इस प्रेम की दुहाई देकर कुब्जा से छीन न ले जाएँ। यह स्पष्ट है कि तुम कुब्जा से मिले हुए हो और हमसे अन्याय करना चाहते हो।

तुम इस प्रकार उचित बात कहने में हिचकिचाहट अनुभव कर रहे हो क्योंकि तुम्हारा हृदय पक्षपात की भावना के अधीन है। इसी कारण तुम कहना तो कुछ चाहते हो किन्तु तुम्हारे मुख से कुछ अन्य बात निकलती है। वस्तुतः तुम

परनिन्दा मे आनन्द लेने वाले ऐसे व्यक्ति बन चुके हो जिन्हे अन्यायपूर्ण कार्य करने मे कोई हिचक नही होती। तुम यह समझ रहे हो कि व्रज मे तुमने अपनी विद्वता द्वारा अपने यश का विस्तार किया है। जबकि तुम्हारा व्रज की युवतियो को योग की शिक्षा देने का काम ऐसा भयकर अपराध है जिसे कभी क्षमा नही किया जा सकता। जिसे तुम अपनी कीर्ति समझ रहे हो, वह तो वास्तव मे अपयश ही है। हम इस बात से तो पूर्व परिचित थी कि भ्रमर घोर विलासी और रसलोलुप होता है किन्तु हम इस बात पर हैरान है कि तुमने योग-साधना की विधि कहाँ से प्राप्त की। हमे विश्वास ही नही होता कि एक रसलोभी भँवरा योग-साधना के ज्ञान से परिचित हो सकता है। परम गुरु विधाता ने इसकी विलासिता की प्रकृति को जानते हुए इसका सिर घुटा कर काले मुख पर राख पोत दी। अर्थात् इसकी आकृति को देख कर इसकी मक्कारी, धूर्तता और विलासिता का ज्ञान हो जाता है। विधाता ने इसके साथ इतना बडा अन्याय किया कि इसकी शक्ल को ही बिगाड़ कर रख दिया। किन्तु फिर भी इसके पल्ले कुछ नही पड़ा। यह सदा अनर्गल प्रलाप किया करता है और अपनी धूर्तता से बाज नही आता। जो व्यक्ति दूसरो के गिरने के लिए कुँआ खुदवाता है, कभी-न-कभी स्वयं भी उस कुएँ में गिर जाता है अर्थात् दूसरो के लिए बुरा चाहने वाला व्यक्ति पहले स्वय विपदा मे फँसता है। क्योकि जो भँवरा कली-कली का रस लेता फिरता है, कमल की पखुड़ियो मे वन्दी बना लिया जाता है जहाँ वह अपने प्राण त्याग देता है।

उद्धव का आचरण भी बिलकुल भ्रमर जैसा है। वह विलासी व्यक्तियों का हिमायती है। वह स्वय को गुरु और विद्वान् समझता था किन्तु कृष्ण उसके भी गुरु निकले। वह उसकी योग जैसी अनर्गल बातो से ऊब चुके थे। इसलिए उन्होने उद्धव को दण्ड स्वरूप अपने पास से हटा कर यहाँ भेज दिया है। अपने साथ हुए इस अन्याय को यह अभी तक समझ नही पा रहे और अपना ही राग अलापते जा रहे है। यह समझते हैं कि यह हमे योग की शिक्षा देने के लिए यहाँ भेजे गए है जबकि इन्हें मुसीबत समझ कर जान छुडाने लिए यहाँ भेजा गया है।

हमारे स्वामी कृष्ण स्वय अन्तर्यामी हैं और हमारे हृदय की बात को जानते है। कृष्ण ने तो इन्हे हमारा कुशल समाचार जानने के लिए यहाँ भेजा

था क्योंकि वह हमारे विरह जन्य सन्ताप से ही परिचित हो गए थे। किन्तु यह यहाँ आकर हमारे दुख को और अधिक बढ़ा रहे है। अब इनके विरुद्ध हम किसके सम्मुख आर्त्त-पुकार करे ? वस्तुतः कृष्ण ने उद्धव को यहाँ भेज कर हमारे साथ घोर अन्याय किया है तथा अपने गले की बला उतार कर हमारे गले मे डाल दी। हमे लगता है कि मथुरा से आने वाले सभी लोग अन्यायी एव क्रूर होते है। पहले अक्रूर आए थे जो हमारे प्रिय कृष्ण को यहाँ से ले कर चलते बने और अब यह उद्धव आए है जो हमारे हृदय की एकमात्र बची हुई निधि—प्रिय कृष्ण की स्मृति को हमे योग की शिक्षा देकर हमसे छीन लेना चाहते है। इन दोनो ने हमारे साथ वैरियो जैसा वर्ताव किया है और इस दुख से हमारी छाती फटी जा रही है।

विशेष—(१) 'परमगरू' का अभिप्राय है कि उद्धव स्वय को विद्वान समझ कर व्रज मे गोपियों को योग की शिक्षा देने आए किन्तु वह कृष्ण की परम गुरुता से तो परिचित ही नही थे, जिन्होने इन्हे अपना पीछा छुड़ाने के लिए ही वस्तुतः व्रज भेजा था। इस प्रकार 'गुरू' शब्द मे व्यंग्य है जिसका अर्थ है चालाक एव घुटा हुआ व्यक्ति, दूसरो को नीचा दिखाना ही जिसका उद्देश्य हो।

(२) गोपियों के क्षोभ, आक्रोश एव वाक्चातुर्य ने मिल कर इस पद मे अद्भुत चमत्कार उत्पन्न किया है, जो हिन्दी-साहित्य में विरल है।

(३) 'हम जान्यो सो भंवर रस भोगी जोग जुगति कहँ पाई', पक्ति के माध्यम से उद्धव की विद्वता पर सीधा व्यग्य एवं प्रहार किया गया है।

मधुकर ! हम जो कहौ करैं।
पठयो है गोपाल कृपा कै आयसु तें न टरैं ॥
रसना वारि फेरि नव खँड कै, दै निर्गुन के साथ।
इतनी तनक विलग जनि मानहुँ, अँखियाँ नाहीं हाथ ॥
सेवा कठिन, अपूरब दरसन कहत अबहुँ मैं फेरि।
कहियो जाय सूर के प्रभु सों केरा पास ज्यों बेरि ॥१४८॥

शब्दार्थ—पठ्यो=भेजा। आयसु=आज्ञा। टरैं=हटे। रसना=जिह्वा। वारि फेरि=उलट कर। नवखड=नौ टुकडे, योग-साधना का नवम द्वार। कै=करके। विलग=बुरा। जनि=मत। फेरि=फिर। केरा=केले का

वृक्ष। वेरि=वेर या झाड़ का वृक्ष।

प्रसग—उद्धव को कृष्ण ने गोपियो के पास भेजा है। इसी नाते उसकी कोई आज्ञा टालना नही चाहती किन्तु वे बाध्य है क्योकि उनके नेत्र उनका साथ नही देने, वे तो हरि दर्शन के प्यासे हैं।

व्याख्या—वे गोपियाँ अपनी उक्त विवशता को प्रकट करती हुई भ्रमर के माध्यम से उद्धव से कह रही हैं कि हे मधुकर! तुम हमसे जो भी करने के लिए कहोगे हम वही करने के लिए तत्पर है। हमारे प्रिय गोपाल ने अत्यन्त कृपा करके तुम्हे हमारे पास भेजा है, अत. हम तुम्हारी हर प्रकार की आज्ञा के सम्मुख अपना मस्तक झुका देगी। हम तुम्हारी योग-साधना को स्वीकार कर अपनी जिह्वा को उलट कर नवम् द्वार तक पहुँचा देगी और इस प्रकार योगिनी बन कर निर्गुण-ब्रह्म की साधना में स्वयं को एकाग्र करेगी। परन्तु हमारी एक छोटी-सी बात का जरा बुरा मत मानना। वस्तुत हम बाध्य है क्योकि हमारे ये नेत्र हमारे अधिकार मे नही हैं। इन्हें कृष्ण-दर्शन की लौ लगी हुई है, इन्हे उनके अतिरिक्त किसी अन्य को देखने मे कोई रुचि नही है। अतः हमें भय है कि हमारे ये नेत्र हमारे योग-साधना को अपनाते ही, विद्रोह कर देगे। इसलिए हम तुम्हारे निर्गुण-ब्रह्म को अपनाने मे हिचकिचाहट अनुभव कर रही है।

तुम्हारे ब्रह्म को अगम्य कहा गया है। वेद-शास्त्र आदि भी उसका पार नही पा सके, उसकी सेवा अति कठिन है और हम ब्रजनारियो के लिए योग-साधना द्वारा उसे प्राप्त करना तो असम्भव है। योग-साधना का मार्ग अत्यन्त दुरूह एव जटिल है। हम यह भी स्वीकार करती है कि ब्रह्म के दर्शन भी अपूर्व, अद्भुत एव अनुपम होगे। फिर भी हम तुमसे यह बात कहने की धृष्टता करती है कि एक बार मथुरा जाकर हमारे स्वामी कृष्ण से यह विनय तो करना कि उन्हे त्याग निर्गुण-ब्रह्म की उपासना करने पर हमारी स्थिति वैसी ही शोचनीय हो जायेगी जैसी वेर के पास उगे हुए केले के वृक्ष की होती है। जिस प्रकार केले के पत्ते पवन चलने पर वेरी के काँटो मे फँस जाते हैं और कष्ट झेलते हैं, उसी प्रकार हम भी ब्रह्म-साधना स्वीकार करने पर सदा दुखी दीन-हीन बनी रहेगी।

विशेष—(१) निर्गुण-ब्रह्म की उपासना अत्यन्त कष्टकर एव दुरूह

स्वीकार की गई है। गीता में इसकी व्याख्या करते हुए कहा गया है कि अव्यक्त ब्रह्म में आसक्त चित्त वालों को अधिक क्लेश होता है—'क्लेशोऽधिकतरस्तेपायव्यक्तासक्तचेतयाम् ।'

(२) 'केरा के पास ज्यो बेरि'—इस पक्ति के भाव को कबीर ने भी व्यक्त किया है—

'कहै कबीर कैसे निभे बेर केर को सग।
वे डोलत रस आपने उनके फाटत अग ॥'

अलंकार—उपमा।

मधुकर! तो औरनि सिख देहु।
जानोगे जब लागैगो, हो, खरो कठिन है नेहु ॥
मन जो तिहारो हरिचरनन-तर, तन धरि गोकुल आयो।
कमलनयन के संग तें बिछुरे कहु कौने सचु पायो ॥
ह्वाँई रहो जाहु जनि मथुरा, झूठो माया-मोहु।
गोपी सूर कहत ऊधो सों हमहीं से तुम होहु ॥१४१॥

शब्दार्थ—तो=तुम। नेहु=प्रेम एव स्नेह का नाता। तर=नीचे। सचु=सुख। ह्वाँई=यहाँ पर ही।

प्रसंग—उद्धव स्वय तो कृष्ण के परम अनुरागी हैं और सदा उनके साथ बने रहते है परन्तु गोपियो से उन्हें त्याग निर्गुण-ब्रह्म को अपना लेने की बात कर रहे हैं। उनकी कथनी और करनी में इस अन्तर को प्रस्तुत पद में स्पष्ट किया गया है।

व्याख्या—भ्रमर के माध्यम से गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं कि हे मधुकर! पहले तुम प्रेम-मार्ग के विषय मे भली भाँति जान तो लो, फिर औरों को शिक्षा देना। प्रेम-मार्ग कितना कठिन एवं दृढ़ होता है, यह तुम तभी जान सकोगे, जब तुम्हारा किसी से प्रेम का नाता जुड़ेगा। और उस प्रिय के वियोग मे तुम्हें दुख झेलना पड़ेगा। तव तुम जान सकोगे कि हम प्रिय के वियोग में कितनी व्यथित हैं। तुम्हारा मन तो सदा कृष्ण के चरणों मे अनुरक्त रहता है। तुम्हारा वही मन साकार रूप धारण करके यहाँ गोकुल आया है। गोपियों के कहने का तात्पर्य है कि उद्धव अपना मन तो वहीं कृष्ण के चरणों में छोड़ आए हैं और यहाँ केवल उनका शरीर ही आया है। इसी

कारण वह इतनी निष्ठुर बाते कर रहे हैं। यदि इनका मन यहाँ साथ होता तो यह हमारी व्यथा को अनुभव करते और उसका कोई उपचार करते। चलो छोड़ो, सब पचड़े। इतना ही बता दो। कमल के समान सुन्दर नेत्र वाले कृष्ण से बिछुड़ कर क्या किसी ने आज तक सुख पाया है? कभी तुम उनसे अलग रहते, तो तुम्हे भी इस विरह-व्यथा का अनुभव होता।

तुम, हमे जब से यहाँ आये हो यही उपदेश दे रहे हो कि यह सासारिक मोह-माया असत्य है। ससार मिथ्या है। क्षणभगुर है, केवल ब्रह्म सत्य है, इसलिए हम ब्रह्माराधना मे लीन हो जायँ। क्या तुम स्वय भी यह सिद्धान्त मानते हो और इस पर आचरण कर सकते हो? यदि करते हो तो फिर तुम यहाँ हमारे पास ब्रज मे ही रह जाओ, मथुरा मत लौटो। देखो तो सही तुम कितने दिन हरी से विमुख हो कर रह सकते हो। हमे पूर्ण विश्वास है कि जब तुम यहाँ रहने लगोगे तो कृष्ण के वास्तविक महत्व को समझोगे। और हमारी तरह रात दिन तुम्हे भी विरह-व्यथा सतायेगी। तब तुम्हारी दशा भी बिल्कुल हमारी तरह होगी क्योंकि तुम भी कृष्ण से एकनिष्ठ प्रेम करते हो, इस बात का हमे पूर्ण विश्वास है।

विशेष—(१) प्रस्तुत पद मे गोपियो ने यह सिद्ध किया है कि औरो को उपदेश देना सरल होता है, जब बात अपने ऊपर पड़ती है, तभी मनुष्य की वास्तविक पहचान होती है। गोस्वामी तुलसीदास ने इस भाव को निम्न पक्तियो मे व्यक्त किया है—

'पर उपदेश कुशल बहुतेरे।
जे आचरहिं ते नर न घनेरे।'

संस्कृत वाङ्मय मे भी इसी भाव को स्पष्ट करने वाली एक उक्ति मिलती है जो इस प्रकार है—

'परोपदेश पाण्डित्य सर्वेषा सुकर नृणाम्।
धर्म स्वीयमनुष्ठनं कास्य चितु महात्मनः॥'

(२) इन पक्तियो मे गोपियो ने अपनी तरह उद्धव को भी कृष्ण का परम भक्त सिद्ध किया है।

मधुकर! जानत नाहिन बात।
फूँकि फूँकि हियरा सुलगावत उठि न यहाँ तें जात॥

जो उर बसत जसोदानंदन निर्गुन कहाँ समात ?
कत भटकत डोलत कुसुमन को तुम हौ पातन पात ?
जदपि सकल बल्ली बन विहरत जाय बसत जलजात।
सूरदास ब्रज मिले बनि आवै ? दासी की कुसलात ॥१५०॥

शब्दार्थ—हियरा=हृदय। सुलगावत=जला रहा है। पातन पात=पत्ते-पत्ते पर। बल्ली=बेल लताएँ। विहरत=विकसित होती है, खिलती हैं, शोभा पाती है। जलजात=कमल। दासी=कुब्जा।

प्रसंग—यदि गोपियाँ कृष्ण को त्याग निर्गुण ब्रह्म को स्वीकार कर लेती हैं तो इसमे सबसे अधिक लाभ कुब्जा को ही होना है। इसलिए गोपियाँ उद्धव के निर्गुण ब्रह्म के उपदेश में कुब्जा के षड्यन्त्र का अनुमान कर उन्हे खरी-खोटी सुना रही हैं।

व्याख्या— गोपियाँ भ्रमर के माध्यम से उद्धव से कह रही हैं कि हे मधुकर ! तुम स्वय भी अनाडी और भोले हो क्योंकि तुम वास्तविकता से अपरिचित हो। तुम नही जानते कि किसने और किस कारण यहाँ भेजा है। हम अब कुछ-कुछ अनुमान लगा पा रही है कि तुम्हें यहाँ भेजने मे एक बहुत बडा षड्यन्त्र काम कर रहा है। तुम बार-बार अपना उपदेश दोहरा रहे हो। इससे हमारा हृदय इस प्रकार जलता है जैसे कोई बार-बार फूक मार कर अग्नि सुलगा रहा हो। तुम्हे ऐसा करने मे तनिक भी लज्जा का अनुभव नहीं होता ? तुम यहाँ से उठ कर चले क्यो नही जाते ? क्यो हमे दुखी करने पर तुले हुए हो ? जाओ कही और जाकर अपना मुह काला करो।

जब स तुम यहाँ आए हो और तुमने अपना उपदेश आरम्भ किया है, तभी से हम तुम्हे निरन्तर बता रही है कि हमारे हृदय मे तो जसोदानन्दन पूर्णतया विराजमान है। उसमे तनिक स्थान भी रीता नही है। इसलिए तुम्हारा निर्गुण-ब्रह्म वहाँ नही समा सकता। यदि हृदय मे एक के पहले से विराजित होने पर किसी दूसरे को स्थापित करना सम्भव हो तो तुम हे भ्रमर ! स्वयं किसलिये वन-वन मे विकसित पुष्पो की खोज में पत्ते पत्ते पर भटकते रहते हो ? यद्यपि वनो उपवनो मे सब प्रकार की लताएँ एवं पुष्प शोभा पाते है फिर भी तुम कमल की खोज मे लगे रहते हो और उसे पाते ही उसकी पखुड़ियो मे स्वय को बन्दी बनवा लेते हो। स्पष्ट है कि तुम कमल के अनन्य

प्रेमी हो और उसे अपने हृदय मे बसाये रहते हो, इसी कारण अन्य किसी पुष्प में तुम्हें रस प्राप्त नही होता। हम भी एकमात्र कृष्ण को प्रेम करती है, इसलिए निर्गुण ब्रह्म को स्वीकार नही कर सकती।

कुब्जा हमारे प्रेम की सत्यता को जानती है। उसे भय है कि कृष्ण हमारे प्रेम से प्रभावित होकर ब्रज चले जायेगे जिससे उसका आनन्द और प्रेम-क्रीड़ाएँ छिन्न-भिन्न हो जायेगी। इसलिए उसने तुम्हे बहला-फुसला कर भेज दिया है कि तुम हमे अपने ज्ञान के बल पर ब्रह्म उपासना मे लीन कर दो और उधर उसकी रगरेलियो निर्बाध गति से चलती रहे। इसी मे ही वह अपनी कुशलता समझती है। तभी उसका प्रेम सुरक्षित रह सकता है।

विशेष—इस पद मे गोपियाँ विशेष चातुरी का प्रदर्शन कर रही है। एक ओर तो वे उद्धव को जली-कटी सुनाती है और दूसरी ओर कुब्जा के षड्यत्र का भडा फोड करके उद्धव को उसके अनाडीपन का एहसास दिला रही हैं ताकि वे कुब्जा की चाल को समझे और उसके विरुद्ध भड़क उठे।

तिहारी प्रीति किधौं तरवारि ?
दृष्टि-धार करि मारि साँवरे घायल सब ब्रजनारि॥
रही सुखेत ठौर बृंदावन, रनहु न मानति हारि।
बिलपति रही सँभारत छन छन बदन-सुधाकर-बारि॥
सुंदरस्याम-मनोहर-मूरति रहिहै छबिहि निहारि।
रचक सेष रही सूरज प्रभु अब जनि डारौ मारि॥१५१॥

शब्दार्थ—किधौं=अथवा। तरवारि=तलवार। सुखेत=धर्मक्षेत्र, युद्धक्षेत्र। ठौर=धराशायी। रनहु=युद्ध मे। बदन-सुधाकर बारि=मुखरूपी चन्द्रमा का अमृत। रचक=रचमात्र, थोड़ी-सी।

प्रसंग—गोपियाँ विरह व्यथा मे दग्ध हो रही है किन्तु प्रेमक्षेत्र मे अपनी पराजय स्वीकार करने को प्रस्तुत नही। कृष्ण प्रेम उनके लिए भयकर सग्राम है जिसे जीतना ही है। प्रस्तुत पद स्वय कृष्ण को सम्बोधित है।

व्याख्या—गोपियाँ कृष्ण से कह रही हैं कि हे प्रियतम कृष्ण ! तुम्हारा यह प्रेम—प्रेम की भाँति सुखकारक है अथवा तलवार की धार की भाँति प्राणघातक ? हे साँवरिया ! तुमने अपनी तलवार रूपी नेत्रों की कटाक्षरूपी धार से सम्पूर्ण ब्रज-युवतियो को घायल कर दिया है। यद्यपि हम वृन्दावन के

प्रेमरूपी रणक्षेत्र मे तुम्हारे नयनो के कटाक्षो के आघातों से धराशायी हो चुकी है किन्तु फिर भी अपनी पराजय स्वीकारने को तत्पर नही। तुम्हारे प्रेम मे हमने अनेक कष्ट सहे है। तुम्हारे विरह मे सतप्त होते हुए भी हम उद्धव के निर्गुण-ब्रह्म को स्वीकार नही कर रही क्योकि हमे अपनी सफलता का पूरा विश्वास है। तुम्हारे प्रेम की विरह-वेदना मे हम सब निरन्तर विलाप करती रही। फिर भी हम तुम्हारे मुखरूपी चन्द्रमा की शोभारूपी अमृत का प्रतिक्षण पान करते हुए अपने होश-हवास बनाए रही अर्थात् तुम्हारे चन्द्रमुख की स्मृति ने बार-बार हमे बेसुध होने से बचाया। हम सब अपने प्रिय कृष्ण की मनोहर मूर्ति के सौन्दर्य एव शोभा का दर्शन करते हुए और अपने हृदय मे निरन्तर उन्ही का ध्यान करते हुए अपना जीवन धारण किये रहेगी, उद्धव के कहने मे आकर उसके निर्गुण-ब्रह्म को स्वीकार नही करेंगी। हे स्वामी! तुम्हारी पुण्य स्मृति के सहारे हमारा काफी जीवन व्यतीत हो गया है, अब तो थोडा-सा बचा है। अपनी स्मृति को हमसे छीन कर हमे समय से पूर्व मत मार डालो जो थोडे-बहुत जिन्दगी के दिन बचे हैं उन्हे पूरा कर लेने दो।

विशेष—(१) प्रस्तुत पद मे उद्वेग नामक सचारी भाव का चित्रण हुआ है।

(२) इस पद मे अलकरो का अधिक सार्थक प्रयोग हुआ है जिससे अनुभूति की सघनता मे वृद्धि हुई है।

अलंकार—(१) 'तिहारी······तरवारि'—सन्देह।

(२) 'दृष्टि-धार'—रूपक।

(३) 'छन-छन—पुनरुक्ति प्रकाश।

(४) 'वदन-सुधाकरवारि'—रूपक।

(५) सम्पूर्ण पद मे सागरूपक अलकार है।

मधुकर! कौन मनायो माने?
अविनासी अति अगम अगोचर कहा प्रीति-रस जाने?
सिखवहु ताहि समाधि की बातें जैहैं लोग सयाने।
हम अपने ब्रज ऐसेहि बसिहैं विरह-बाय-बौराने॥

सोवत जागत सपने सौंतुख रहिहै सो पति माने।
बालकुमार किसोर को लीलासिंधु सो तामे साने॥
पर्‌यो जो पयनिधि बूँद अलप सो को जो अब पहिचाने?
जाके तन धन प्रान सूर हरिमुख-मुसुकानि बिकाने॥१५२॥

शब्दार्थ—मनायो=मनाने से, समझाने से। सयाने=चतुर, समझदार। ब्रिरह-बाय=बौराने, विरह के सन्निपात मे पागल। सौतुख=सम्मुख, सामने। सो=उन्हे ही। तामे=उसमे। साने=सनी, लिपटी हुई। पयनिधि=समुद्र। अलप=अल्प, छोटी-सी। सो=उसे। बिकाने=बिक गये।

प्रसंग—गोपियों के मना करने पर भी उद्धव अपना उपदेश जारी रखते हैं और उनसे अनुरोध करते है कि वे कृष्ण को त्याग कर निर्गुण-ब्रह्म को स्वीकार कर ले। किन्तु गोपियाँ विवश है—

व्याख्या—गोपियाँ भ्रमर के माध्यम से उद्धव से कह रही है कि हे मधुकर! तुमने हमे अनेक वार समझाया कि निर्गुण-ब्रह्म के अपना लेने मे ही हमारा हित निहित है। इसे स्वीकार करने के लिए हमारी खुशामद भी की किन्तु यहाँ ऐसा कोई नही जो तुम्हारे कहने मे आकर अपने प्रिय कृष्ण को त्याग कर निर्गुण-ब्रह्म को स्वीकार कर ले। निर्गुण-ब्रह्म अविनाशी, अगम्य, अगोचर है अर्थात् तुम्हारा ब्रह्म शाश्वत, चिरन्तन, इन्द्रियो के अनुभव से परे तथा अदृश्य अर्थात् निराकार है। ऐसा ब्रह्म प्रेम के आनन्द को क्या अनुभव कर सकता है? अर्थात् ब्रज-वासी तो प्रेम के दीवाने हैं, अत, यहाँ तुम्हारे नीरस निर्गुण-ब्रह्म का कोई अनुयायी नही हो सकता। अत. तुम वहाँ चले जाओ, जहाँ विवेकशील प्राणियों का निवास है तथा उन्हे ही योग-साधना से सम्बद्ध समाधि आदि की शिक्षा दो। वही तुम्हारे इस ज्ञान की गूढ बातो को समझ पाने मे समर्थ है। हम तो यहाँ सन्तुष्ट है और कृष्ण की लीलाभूमि ब्रज, उनके विरह-जन्य संताप एव सन्निपात मे बावली बनी हुई किसी-न-किसी प्रकार अपना जीवन व्यतीत कर ही लेगी। तुम हमारी ओर से निश्चित रहो। हम इस विरह की आदी हो चुकी है।

हे मधुकर! हम जानते हुए, सोते हुए एव स्वप्नावस्था मे तथा प्रत्यक्ष उन्हे अपने सम्मुख पाते है अर्थात् सभी अवस्थाओ मे ही कृष्ण को अपना स्वामी मान कर अपना जीवन व्यतीत कर रही है। बालक कृष्ण द्वार सम्पन्न

अपार समुद्र के समान अनेक बाललीलाएँ एव क्रीडाएँ हमे सदा आकर्षित करती रहती हैं तथा हम उन्ही लीलाओ के आनन्द मे डूबती-उतराती रहती हैं। हम उन लीलाओ मे उन्ही की सहचरी होने के कारण, पूर्णतया उनमे निमग्न रहती है। कृष्ण के उस लीलारूप व्यक्तित्व मे हमारा व्यक्तित्व इस प्रकार घुल-मिल कर तद्रूप हो गया है और अपना पृथकत्व खो वैठा है जिस प्रकार विशाल समुद्र मे एक नन्ही-सी जल की बूँद विलय होकर अपना पृथक् अस्तित्व खो वैठती है। अब उनसे पृथक न तो हमारा कोई अस्तित्व ही है और न ही कोई आश्रय स्थल। हम तो वे गोपियाँ हैं जो अपना तन और प्राण सभी कुछ कृष्ण के मुख की एक मधुर मुस्कान पर न्यौछावर कर चुकी हैं। अब हम किस प्रकार तुम्हारे निर्गुण-ब्रह्म को स्वीकार कर ले।

विशेष—(१) ऊपरी तौर पर तो समुद्र और बूँद की अभिन्नता के माध्यम से कवि साध्य और साधक की अभिन्नता का प्रतिपादन करता हुआ प्रतीत होता है। परन्तु पुष्टि मार्ग मे ऐसी अद्वैतवादी अभिन्नता अस्वीकृत है। यहाँ इसलिए कवि का आशय यह है कि गोपियाँ अपना सर्वस्व कृष्ण को समर्पित कर अपने पृथक् अस्तित्व को भुला चुकी हैं। उनके पृथक् अस्तित्व का लोप नही हुआ अपितु उस पर कृष्ण का रूप इस प्रकार छाया हुआ है कि पृथक् कुछ दिखाई नही देता।

(२) इस पद में निराकार ब्रह्म का पूर्णतया खण्डन प्रस्तुत किया गया है।

(३) बूद और समुद्र को आत्मा और ब्रह्म की अभिन्नता के रूप मे कबीर ने भी ग्रहण किया है। किन्तु उनकी यह अभिन्नता अद्वैतवाद के निकट है। देखिए निम्न पक्तियाँ—

'हेरत हेरत हे सखी हेरत गया हिराय।
बूँद समानी समन्द मे सो कित हेरी जाय॥'

अलंकार—(१) 'विरह-बाय'—रूपक।

(२) 'परयो...पहचाने'—उदाहरण।

मधुकर ! ये मन बिगरि परे।
समुझत नाहिं ज्ञानगीता को हरि-मुसुकानि अरे॥

बालमुकुंद - रूप - रस रांचे तातें, बक्र खरे।
होय न सूधो स्वान पूँछि ज्यों कोटिक जतन करे॥
हरि-पद-नलिन बिसारत नाहीं सीतल उर सँचरे।
जोग गँभीर है अंधकूप तेहि देखत दूरि डरे॥
हरि-अनुराग सुहाग भाग भरे अमिय तें गरल गरे।
सूरदास बरु ऐसेहि रहिहैं कान्ह वियोग-भरे॥१५३॥

शब्दार्थ—बिगरि परे=बिगड़ गए है, विद्रोही हो उठे है। राचे=अनुरक्त हैं। ताते=इसलिए। वक्र खरे=अकडे हुए हे। नलिन=कमल। सचरे= व्याप्त हुए हैं। अमिय=अमृत। गरल=विप।

प्रसग—गोपियो का मन कृष्ण के सौंदर्य मे पूर्णतया अनुरक्त है। इसी कारण वह निर्गुण-ब्रह्म से भयभीत है और उसे ग्रहण नही करती। प्रस्तुत पद में गोपियाँ भ्रमर के माध्यम से उद्धव से अपने मन की इसी विद्रोही प्रकृति की चर्चा कर रही है—

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कह रही है कि हे उद्धव! तुम्हारी योग-निर्गुण ब्रह्म सम्बन्धी वाते सुन कर हमारे ये मन बिगड़ उठे है और विद्रोही बन गए हैं। ये अत्यन्त हठीले हो चुके है और हमारे किसी भी अनुरोध को स्वीकार नही करते। तुम्हारी योग-ब्रह्म सम्बन्धी अनन्त ज्ञान-चर्चा को यह तनिक भी नही समझते, न ही उस ओर कोई ध्यान देना चाहते है। यह तो कृष्ण की मोहक-मुस्कान पर पूर्णतया आसक्त है और उनके अतिरिक्त किसी अन्य की ओर निहारना भी इनको रुचिकर नही लगता। इनके लिए वस्तुतः यह सम्भव भी नही है क्योकि तुम्हारा ज्ञानोपदेश निरासक्ति की ओर ले जाने वाला है जबकि हमारे मन कृष्ण-प्रेम मे पूर्णतया आसक्त है।

हमारे ये मन इस समय बालमुकुन्द कृष्ण की रूपमाधुरी मे पूर्णतया अनुरक्त हैं, इस कारण ये आज बहुत अधिक अकड़े हुए है तथा तुम्हारी ज्ञानोपदेश की वातें सुन कर विद्रोह करने पर उतारू हैं। इन्हे अपने सकल्प से डिगाना उसी प्रकार असम्भव है जिस प्रकार करोड़ो यत्न करने पर भी कुत्ते की पूँछ को सीधा करना असम्भव है। हमारे ये मन कृष्ण के चरण-कमलो का ध्यान क्षण भर के लिए भी विस्मृत नहीं करते। उन्ही का ध्यान करके इनके हृदय में शीतलता का संचार होता है। अर्थात् कृष्ण के चरण-कमलों

की स्मृति से इन्हें सुख-शांति मिलती है। तुम्हारा योग एव ज्ञानोपदेश इनके लिए गहन अन्धकार युक्त कुएँ के समान अगम्य, एव भयावह है, इसी कारण यह उससे डर कर दूर ही खडे रहते है, उसके पास नही आना चाहते।

हमारे ये मन कृष्ण के प्रेम के सौभाग्य रूपी अमृत को पीकर पूर्णतया तृप्त हो चुके है और अब तुम्हारे विष के समान कड़वे निर्गुण-ब्रह्म को स्वीकार नही कर सकते। यह उपदेश उसी प्रकार पीडादायक है जिस प्रकार किसी व्यक्ति को अमृत के पात्र से निकाल कर विष के पात्र मे गलने के लिए डाल दिया जाय। अत. उचित यही है कि तुम इन्हे अपना ज्ञानोपदेश देना वन्द कर दो। ये कन्हैया के वियोग मे किसी प्रकार अपना जीवन धारण किए रहेंगे। इन्हे तो कृष्ण-विरहजन्य पीडा अधिक प्रिय है, ये निर्गुण-ब्रह्म को स्वीकार नही कर सकते।

विशेष—इस पद की अतिम पक्तियो का सा भाव रत्नाकार की निम्न पक्तियो मे उपलब्ध होता है—

'जाके या वियोग-दुख हू मैं कुछ ऐसो सुख,
जाग्र पाय ब्रह्म-सुख हू मैं दुख माने हम।'

अलंकार—(१) 'होय'''करे'—लोकोक्ति।
(२) 'हरि-पद-नलिन'''सचरे'—रूपक।
(३) 'हरि-अनुराग'''गरल गरे'—उत्प्रेक्षा।

मधुकर ! जौ तुम हितू हमारे।
तौ या भजनसुधानिधि मे जनि डारौ जोग-जल खारे॥
सुनु सठ रीति, सुरभि पयदायक, क्यों न लेत हल फारे ?
जो भयभीत होत रजु देखत क्यो वढ़वत अहि कारे॥
निज कृत बूझि, बिना दसनन हति तजत धाम नहिं हारे।
सो वल अछत निसा पंकज में दल-कपाट नहिं टारे॥
रे अलि, चपल मोदरस-लपट ! कतहि बकत विन काज ?
सूर स्याम-छवि क्यो विसरत है नखसिख अंग बिराज ?॥१५४॥

शब्दार्थ—हितू=शुभचिन्तक। भजनसुधानिधि=कृष्ण-भक्ति रूपी भजन का अमृत सागर। खारे=खारा, कड़वा। पयदायक=दूध देने वाली। फारे=हल की फार। रजु=रस्सी। अहि कारे=काला सर्प। कृत=कार्य। दसनन

हति=दाँतो से काट कर घायल करना । धाम=स्थान । अछत=रहते हुए । पंकज=कमल । दल-कपाट=पखुड़ियो रूपी किवाड़ । मोदरस-लपट=आनन्द रस के लोभी । चपल=चचल । कतहि=क्यो ।

प्रसंग—गोपियो के बार-बार मना करने पर भी उद्धव अपना योग-सदेश जारी रखते हैं । इस पर गोपियाँ झुझला उठती है और उनकी भर्त्सना करती हुइ भ्रमर के माध्यम से कहती है—

व्याख्या—हे मधुकर ! यदि तुम सचमुच हमारे हितैपी हो और हमारा भला चाहते हो तो कृपा करके हमारे इस कृष्ण-भक्ति के भजन रूपी अमृत के समान जीवन प्रदान करने वाले समुद्र के जल मे अपने निर्गुण-ब्रह्म रूपी जीवन घातक कड़वे और खारे जल को मत मिलाओ । तुम्हारा योग द्वारा प्राप्य निर्गुण ब्रह्म समुद्र के खारे जल के समान अरुचिकर और प्राणघातक है जबकि हमारा कृष्ण-भक्ति-भजन अमृत के समान शीतल, जीवनदायक है ।

हे दुष्ट भ्रमर ! तू क्या ससार की दूसरी गति से परिचित नही है कि जिसका जो कार्य होता है, उसे वही कार्य दिया जाता है और वह उसी को करते हुए सतुष्ट रहता है । गाय दूध देने वाला पशु है, उससे यही काम लिया जाता है । उसे पशु होने के नाते हल मे क्यो नही जोता जाता ? जिस प्रकार गाय को हल मे जोतना अनुचित है उसी प्रकार तुम्हे हमारे सम्मुख योग का उपदेश देना भी अनुचित है । फिर युवतियो के लिये योग-साधना का विधान कही भी तो उपलब्ध नही होता । जो व्यक्ति रस्सी को देखकर साँप समझे और भयभीत होकर काँपने लगे, उसके सम्मुख काले साँप को लाने का क्या लाभ ? हम तो कृष्ण-वियोग के कारण पहले ही सतप्त हैं अब तुम अप्राप्य निर्गुण-ब्रह्म का उपदेश देकर हमे और अधिक दुखी और भयभीत क्यो करना चाहते हो ?

हे भ्रमर ! तुम तनिक अपने कार्यो की ओर निहारो और विचार करो । तुम जिस स्थान अर्थात् पुष्प पर बैठते हो, उसे अपने दाँतो से काट कर जब तक क्षत-विक्षत नही कर लेते तब तक हार नही मानते और न ही वहाँ से हटते हो, चाहे तुम्हें इसके लिए कितना ही श्रम क्यो न करना पड़े । किन्तु रात्रि के समय जब तुम कमल की पंखुडियो में बन्दी बना लिये जाते हो तो कमल की पखुड़ियो रूपी किवाड़ो की अपनी उक्त शक्ति के बावजूद काटकर

बाहर नही निकल सकते। वस्तुतः तुम कमल के अनन्य प्रेमी हो, उसे तुम हानि पहुँचाना नही चाहते और घुट-घुटकर वही प्राण त्याग देते हो। हम भी इसी स्थिति में हैं। हम कृष्ण की अनुरागिनी हैं, वे चाहे हमे त्याग दे किन्तु हम उन्हे छोड कर तुम्हारे निर्गुण-ब्रह्म को स्वीकार नही कर सकती।

हे चचल आनन्द रस-भोगी भ्रमर रूपी उद्धव! तू यहाँ व्यर्थ क्यो बकझक कर रहा है? यहाँ तुम्हारी अनर्गल बकवाद सुनने के लिए, कोई खाली नही बैठा है। कृष्ण की रूप-माधुरी हमारे अग-अग मे समाई हुई है। उनका सम्पूर्ण नख-शिख सौन्दर्य हमारे हृदय मे समाया हुआ है। उनकी ऐसी मोहिनी-छवि क्या हमसे भुलाई जा सकती है?

विशेष—(१) प्रस्तुत पद मे भ्रमर के माध्यम से उद्धव पर व्यंग्य किया गया है।

(२) सम्पूर्ण पद मे 'खीझ' संचारी भाव का चित्रण हुआ है।

(३) भ्रमर के सम्बन्ध मे यह विख्यात है कि वह काठ मे सुराख करके बाहर निकल आता है किन्तु कमल की कोमल पखुड़ियो को नही काट पाता और उन्ही में घुट-घुट कर अपने प्राण त्याग देता है। इस सन्दर्भ मे सस्कृति की निम्न पंक्ति प्रसिद्ध है—

"दारुभेद निपुणोऽपिषडाघ्रिर्भवति निवद्ध।"

अलंकार—"तो'''खारे"—रूपक।

मधुकर! कौन गांव की रीति?
ब्रजजुवतिन को जोग-कथा तुम कहत सबै विपरीति॥
जा सिर फूल फुलेल मेलिकै हरि-कर ग्रंथै छोरी।
ता सिर भसम, मसान पै सेवन, जटा करत आघोरी॥
रतनजटित ताटंक विराजत अरु कमलन की जोति।
तिन स्रवनन पहिरावत मुद्रा तोहि दया नहि होति॥
बेसरि नाक, कंठ मनिमाला, मुखनि सार असवास।
तिन मुख सिगी कहो बजावन, भोजन आक-पलास॥
जा तन को मृगमद घसि चंदन सूछम पट पहिराए।
ता तन को रचि चीर पुरातन दै ब्रजनाथ पठाए॥

वै अबिनासी ज्ञान घटैगो यहि बिधि जोग सिखाए।
करै भोग भरिपूर सूर तहँ, जोग करै ब्रज आए ॥१५५॥

शब्दार्थ—विपरीति=उल्टी; अनुचित। फुलेल=इत्र। मेलिकै=लगा कर। ग्र थे=गाँठे। छोरी=सुलझाई। मसान=श्मशान। ताटक=कर्णफूल। बेसरि=नथ। सार=कपूर। असबास=सुगन्धित। पलास=ढाक। मृगमद=कस्तूरी। सूछम=महीन। पुरातन=पुराना। चीर=फटा-पुराना वस्त्र।

प्रसग—यह जान कर कि योग का सन्देश और योगियों के वस्त्र कृष्ण ने भेजे है, गोपियाँ क्षुब्ध हो उठती है। योगियो का वेष धारण करना उनके लिए सर्वथा असम्भव है। प्रस्तुत पंक्तियों में इसी बात को स्पष्ट किया गया है।

व्याख्या—हे मधुकर! यह कौन से देश का रिवाज है कि तुम ब्रज की युवतियो को योग-कथा सुना रहे हो। हम अभी तरुणियाँ है, क्या ऐसी छोटी आयु की हम अबला नारियो को तुम्हारा योग का सन्देश देना उचित है। तुम्हारी तो सभी बाते जग-विपरीत है। तुम तनिक सोचो तो सही कि किस प्रकार प्रेम से कृष्ण ने अपने हाथो से हमारे सिर पर सुगन्धित तेल का लेप किया था और फूल गू थे थे और उलझे हुए केशो को सँवार कर वेणी बनाई थी। अब तुम उसी सिर मे भस्म लगाने, जटाजूट बाँधने के लिए कह रहे हो, यह कैसे सभव हो सकता है। इस प्रकार तुम चाहते हो कि हम अघोरी का रूप धारण कर ले और श्मशान साधना करे। हमारे जिन कानो में कर्णफूल शोभायमान होते थे और जो कमल के समान सुन्दर और कान्तिमान थे, उनको तुम फाड़ कर मुद्रा पहनाना चाहते हो। ऐसा करने मे तुम्हे हम पर दया भी नही आती, कैसे निर्दयी हो तुम।

हम नाक मे नथ तथा उर में मणियो की माला धारण किए रहती थी। हमारा मुख सदा कपूर की सुगन्धि से महकता रहता था। अब तुम हमे ऐसे सुकोमल मुख से सिगी बजाने जैसा कठिन कार्य करने को कह रहे हो तथा हमें ढाक और आक के पत्ते खाने का भी उपदेश दे रहे हो। हम अपने जिस तन पर कस्तूरी मलकर स्नान करती थी और चन्दन का लेप करती थी तथा अत्यन्त

तुम कहते हो कि कृष्ण अविनाशी है, अतः यदि उनकी बात मान कर हम ये चिथडे धारण भी कर लें, तो उनका कुछ बिगडने-वाला नही किन्तु हमे योग का शिक्षण प्रदान करने से तुम्हारा ज्ञान अवश्य घट जायेगा। इसका कारण यह है कि तुम अपना उपदेश देने मे पात्र-अपात्र का ध्यान नही करते, जहाँ जाते हो बस शुरू हो जाते हो। अतः तुम्हारा यह उचित अनुचित का भेद न कर पाना तुम्हारे अज्ञान-का ही सूचक है। कृष्ण स्वय मथुरा मे तो कुब्जा के साथ भोग-विलास मे लिप्त हैं और हमारे लिए यह योग का सन्देश लिख कर भेज दिया है। हम तो तब जानेंगी कि वह यहाँ व्रज मे आकर स्वय भी योग-साधना का अभ्यास करे। तभी उन्हे इसकी दुर्गम्यता का ज्ञान होगा। वस्तुतः कृष्ण स्वय तो मथुरा मे राजसी ठाठ से रह रहे है और नई पटरानी कुब्जा के साथ आकण्ठ भोग-विलास मे डूबे हुए हैं। इस प्रकार यह योग-सन्देश कितना अनुचित है ? जो व्यक्ति स्वय तो भोग-विलास मे लिप्त हो, उसे क्या अधिकार है कि वह किसी अन्य को योग का उपदेश भेजे। हम तो तब जानेंगी कि जब वह यहाँ आकर अपने सन्देश को स्वय पर भी चरितार्थ करे। वस्तुतः हमे विश्वास है कि वह ऐसा नही कर सकते, क्योकि यहाँ आकर उनका पुराना विलासी-भाव जागरूक हो जायेगा और वह हमारे साथ अनेक काम-क्रीडाओं मे निमग्न हो जायेगे।

विशेष—(१) प्रस्तुत पद मे गोपियो का कृष्ण के प्रति विषाद पूर्णतया मुखरित हुआ है। कृष्ण स्वय तो विलास मे लिप्त हैं और उनके लिए योग का सन्देश भेजा है जो नितान्त अनुचित है।

(२) गोपियो के अनुसार ज्ञानी पुरुष वही है जो पात्र-अपात्र देख कर ही अपना उपदेश आरम्भ करे, अन्यथा उद्धव के सदृश उसका उपहास ही होता रहेगा।

(३) प्रस्तुत पद मे योग सम्बन्धी उपदानो की चर्चा और उनके प्रयोग को स्पष्ट किया गया है।

अलंकार—'कौन गाँव की रीति'—वक्रोक्ति।

मधुकर ! ये नयना पै हारे।
निरखि निरखि मग कमलनयन को प्रेममगन भए भारे ॥

ता दिन तें नींदौ पुनि नासी, चौंकि परत अधिकारे।
सपन तुरी जागत पुनि सोई, जो है हृदय हमारे॥
यह निर्गुन लै ताहि बतावो जो जानै याके सारे।
सूरदास गोपाल छाँडि कै चूसैं टेंटी खारे॥१५६॥

शब्दार्थ—पै=यद्यपि। भारे=अत्यधिक। नीदौ=नींद। नासी=नष्ट हो गई। अधिकारे=अधिकतर, प्रायः, बार-बार। तुरी=तुरीयावस्था। याके=इसके। सारे=सार, तत्व। टेंटी=करील का फल। खारे=कड़वा।

प्रसंग—गोपियाँ कृष्ण की प्रतीक्षा मे रत है। उनके नेत्र सदा कृष्ण के ध्यान मे लगे रहते है। प्रस्तुत पद मे गोपियो के नेत्रो की इसी दशा का वर्णन हुआ है।

व्याख्या—गोपियाँ भ्रमर के माध्यम से उद्धव से कह रही है कि हे मधुकर! यद्यपि हमारे ये नेत्र कमल के समान सुन्दर नेत्रो वाले कृष्ण के लौटने की प्रतीक्षा मे मार्ग निहारते-निहारते थक गये हैं तथापि यह सदैव उनके आगमन की कल्पना मे सदा अत्यधिक प्रेम-मग्न रहते है। कृष्ण के वियोग मे इन्हे उनके आगमन की कल्पना तथा तज्जन्य संयोग से सदा सुख और आनन्द अनुभव होता है। जिस दिन कृष्ण ने यहाँ से मथुरा के लिए प्रस्थान किया था, उस दिन से इनकी नींद नष्ट हो गई है। उनके वापिस लौटने की सभावना के कारण ये बार-बार चौंक पड़ते है और मथुरा से आने वाले मार्ग की ओर टकटकी बाँधे देखने लगते हैं। हमारे हृदय मे सदा कृष्ण विराजमान रहते हैं और हमारे शरीर की तीनो अवस्थाओ—स्वप्नावस्था, तुरीयावस्था, जाग्रतावस्था मे सदैव हमारा ध्यान उन्ही की ओर रहता है। अर्थात् हमारी स्मृति से कृष्ण कभी भी विलग नही होते। इसी प्रकार तुम्हारे लिए यही उचित है कि अपने योग एव निर्गुण-ब्रह्म को उन लोगो के पास ले जाओ जो कृष्ण-विमुख हो, वही इसके सार एव रहस्य को जानेगे और समझ सकेगे। हम इतनी मूढ नही हैं जो अपने सगुण रूप आनन्ददायक गोपालकृष्ण को त्याग तुम्हारे टेंटी के फल के समान नीरस, कड़वे निर्गुण-ब्रह्म को स्वीकार कर ले। यह हमारे लिये असम्भव है।

विशेष—(१) योगी की चार अवस्थाएँ स्वीकार की गई है—(क) जाग्रत—जिसमे वह पूर्ण चैतन्य होकर ब्रह्म-साधना मे लीन रहता है। (ख) स्वप्न

—इसमे वह अर्द्ध चैतन्यावस्था मे ब्रह्म का चिन्तन करता है। (ग) सुषुप्ति—इस अवस्था मे वह आत्म-विस्मरण कर देता है और (घ) तुरीय—इस अवस्था मे उसे मोक्ष प्राप्त हो जाता है।

(२) सूर ने सुषुप्ति नामक अवस्था का उल्लेख नही किया। इसका कारण यह है कि जब से कृष्ण गये हैं उनके नेत्रो की नीद नष्ट हो गई है।

(३) गोपियाँ अपना सम्पूर्ण अस्तित्व विस्मृत करके कृष्ण मे लीन हो चुकी है—यही उनका मोक्ष अर्थात् तुरीयावस्था है।

अलंकार—(१) 'निरखि-निरखि'—पुनरुक्ति प्रकाश।
(२) 'कमलनयन'—उपमा।
(३) 'टेटी-खारे'—रूपक।

मधुकर ! कह कारे की जाति ?
ज्यो जल मीन, कमल पै अलि की, त्यों नहिं इनकी प्रीति ॥
कोकिल कुटिल कपट वायस छलि फिरि नहिं वहि वन जाति।
तैसेहि कान्ह केसि-रस अँचयो बैठि एक ही पाँति ॥
सुत-हित जोग जज्ञ व्रत कीजत बहु विधि नीकी भाँति।
देखहु अहि मन मोहमया तजि ज्यों जननी जनि खाति ॥
तिनको क्यों मन विसमौ कीजै औगुन लौं सुख-सांति।
तैसेइ सूर सुनौ जदुनंदन, बजी एकस्वर ताँति ॥१५७॥

शब्दार्थ—कारे=काले रग वाले। वायस=कौआ। बहि=उसी। अचयो=अचन किया, पान किया। अहि=सर्पिणी। जनि=जनकर, जन्म देकर।

प्रसग—गोपियाँ श्याम-वर्णीय कृष्ण से ठगी गई है। अब वे सभी काले रंग वाले को निर्दयी, निर्मम और कपटी घोपित कर रही हैं।

व्याख्या—हे मधुकर ! इन काले रग वालो की भी कोई जाति है। ये काले रग वाले विश्वास-योग्य नही, ये सभी, छली और निष्ठुर होते है। जिस प्रकार मछली का जल के साथ, तथा भ्रमर का कमल के साथ एकनिष्ठ प्रेम होता है, उस प्रकार के प्रेम मे विश्वास नही करते। मछली जल से पृथक् होते ही प्राण त्याग देती है और कमल की पखुड़ियो में वन्दी बनकर भ्रमर घुट-घुट कर प्राण त्याग देता है किन्तु प्रेम की बात नही जाने देता। किन्तु ये काले

रंग वाले तो रस-लम्पट है। एकनिष्ठ प्रेम में विश्वास नही करते। कोयल श्यामवर्णीय होने के कारण स्वभाव से कुटिल है। वह कौए को धोखे में रख कर अपने वच्चे पालन-पोषण के लिए छोड आती है और फिर कभी मुड़ कर उस वन में नही जाती। उसके बच्चे बडे होकर स्वय अपने कुल मे आ मिलते हैं। इसी प्रकार कन्हैया ने व्रज के अपने प्रवास काल मे एक पक्ति मे वैठ कर हमारे साथ खूब केलि-क्रियाएँ की थी और जी भर कर हमारा रस लूटा था। जब इन विलासो से उनका जी ऊव गया और हम से मतलब निकल गया तो हमें यहाँ बिलखता हुआ छोड़ कर स्वय मथुरा जा बैठे।

ससार में सन्तान-हीन माता-पिता पुत्र-प्राप्ति के लिए भली-भाँति और पुराणों में बताई गई विधि के अनुसार अनेक प्रकार के योग, यज्ञ और व्रत करते हैं। संतान-प्राप्त माता-पिता अपने बच्चो की परवरिश जी-जान से करते है। किन्तु उस काले रंग की सर्पिणी के मन को देखो जो सन्तान के प्रति समस्त मोह-माया, स्नेह का नाता त्याग कर अपने बच्चो का स्वयं ही भक्षण करती है। सर्पिणी अपने अंडो को अपनी कुण्डली मे रख कर वैठती है और जो अंडा कुण्डली से वाहर निकल आता है उसे खा जाती है।

इस प्रकार ये सभी श्याम-वर्णीय विश्वसनीय नही। इनके किसी भी कृत्य पर आश्चर्य अथवा विस्मय भी नही करना चाहिए। ये सभी निर्मम एव छली-कपटी है। बुरे कार्यो मे इनका मन रमता है और उसमें इन्हे सुख एव शान्ति, संतोप मिलता है। ये यशोदा के लाडले कृष्ण भी तो ऐसे ही है। ये भी अन्य सभी काले रग वालो के साथ स्वर मिला कर अपना इकतारा वजा रहे हैं तथा श्यामवर्णीय लोगो के प्रति सारे अनुमानो को सत्य सिद्ध कर रहे हैं। पहले तो इन्होने हमे भोगविलास की ओर प्रवृत्त किया और जव आनन्द रस चूस-चूस कर उनकी तृप्ति हो गई तो हमे बिलखता हुआ छोड कर स्वयं मथुरा चले गए। स्वय तो अभी भी भोगरत है और हमे ससार से अनासक्त करने के लिए योग-सन्देश भेज रहे है। अतः इन काले रग वालो की कोई भी वात विश्वास के योग्य नही।

विशेष—(१) गोपियाँ कृष्ण के व्यवहार से अत्यन्त दुःखी है और रुष्ट है।

(२) वस्तुत उनका उलाहना और व्यग्य कृष्ण के प्रति है, अन्य श्याम-

वर्णीय जन्तुओं को तो केवल माध्यम बनाया गया है।

अलकार—(१) 'कोकिल कुटिल, कपट'—अनुप्रास।

(२) प्रथम तीन पक्तियो मे उपमा अलकार है।

मधुकर ! ल्याए जोग-सँदेसो।
भली स्याम - कुसलात सुनाई, सुनतहि भयो अँदेसो ॥
आस रही जिय कबहुँ मिलन की, तुम आवत ही नासी।
जुवतिन कहत जटा सिर बाँधहु तौ मिलिहैं अविनासी ॥
तुमको जिन गोकुलहिं पठायो ते बसुदेव-कुमार।
सूर स्याम मनमोहन बिहरत ब्रज में नंददुलार ॥१५८॥

शब्दार्थ—अदेसो=अदेसा, सन्देह, आशका। नासी=नष्ट कर दी।

प्रसग—गोपियो को सन्देह है कि उद्धव जो सन्देश लाये हैं, वह श्याम-सुन्दर कृष्ण ने नही भेजा। इसलिये वे उद्धव से कह रही है।

व्याख्या—हे मधुकर! यह तुम कृष्ण की ओर से कैसा योग-सन्देश लेकर यहाँ ब्रज पधारे हो। तुमने यह अच्छा कृष्ण का कुशल समाचार दिया कि जिसे सुनकर हमारा मन और भी आशंकित हो उठा है। हमे विश्वास नही कि श्यामसुन्दर ने ऐसा सन्देश हमारे लिए भेजा होगा। हे उद्धव! तुम्हारे आने से पूर्व हमे यह आशा थी कि कभी न-कभी कृष्ण यहाँ ब्रज मे लौट आयेंगे और अपने दर्शनो द्वारा हमारे हृदय को शीतल करेंगे। किन्तु अब वह आशा निराशा बन गई है क्योकि तुमने हमे योग का सन्देश देकर यह बताया है कि अब हम कृष्ण को भूलकर ब्रह्म की आराधना करे, यही उनकी इच्छा है। तुम्हारा कहना है कि हम योगिनियो का वेप धारण कर ले अर्थात् सिर पर जटाजूट बाँध ले, तभी हम अविनाशी ब्रह्म को रिझाने तथा उसे प्राप्त करने मे सफल हो सकेगी।

जैसा कि तुमने कहा है कि उक्त सन्देश कृष्ण ने हमारे लिए भेजा है किंतु हमे इस बात का विश्वास नही हो रहा, क्योकि जिन कृष्ण ने तुम्हे यह सदेश देकर यहाँ गोकुल मे भेजा है वे वसुदेव के राजकुमार कृष्ण है और जो मन-मोहन कृष्ण यहाँ ब्रज मे रहते हुए हमारे साथ अनेक प्रकार की क्रीड़ाये और प्रेम-विहार किया करते थे, वे बाबा नन्द के दुलारे कृष्ण थे। इस प्रकार ये दोनो व्यक्ति एक ही नाम कृष्ण धारण किए हुए भी वस्तुतः एक व्यक्ति न

होकर भिन्न-भिन्न है। अतः जो योग सन्देश तुम लाए हो वह हमारे कृष्ण ने नहीं भेजा बल्कि तुम्हारे मथुरा के राजकुमार कृष्ण ने भेजा है जिसे स्वीकार करने मे हम असमर्थ है।

विशेष—(१) गोपियो को विश्वास है कि कृष्ण अभी भी उनसे प्रेम करते हैं, इसलिये वे इतने निष्ठुर नही हो सकते कि उनके लिए योग और निर्गुण-ब्रह्म को अपना लेने का सन्देश भेजें।

(२) उद्धव के योग-सन्देश लाने के कारण कृष्ण के लौटने की आशा प्रायः समाप्त हो गई है। इससे गोपियाँ व्यथित है।

(३) कृष्ण गोपियो से प्रेम करते थे उन्होने गोपियो के साथ अनेक क्रीडाएँ की थी, अत वे योग-सन्देश नही भेज सकते। अत. जिन कृष्ण ने यह सन्देश भेजा है, वे कोई और ही व्यक्ति होगे।

(४) श्री प्रतापनारायण मिश्र की गोपियों ने भी उद्धव के सन्देश पर सन्देह प्रकट किया था। देखिए निम्न पक्तियाँ—

ऊधौ मथुरा के हरि और।
एक नही तुम लाख बुझाओ समुझाओ सिर फोर॥
उनके नन्द जसुमत पितु माता वे बसुदेव देवकी किसोर।
ये अहीर वे यादव क्षत्री भूपति भवन निनोर॥"

स्याम विनोदी रे मधुवनियाँ।
अब हरि गोकुल काहे को आवहि चाहत नवयौवनियाँ॥
वे दिन माधव भूलि बिसरि गए गोद खिलाए कनियाँ।
गुहि गुहि देते नंद जसोदा तनक काँच के मनियाँ॥
दिना चारि ते पहिरन सीखे पट पीतांवर तनियाँ।
सूरदास प्रभु तजी कामरी अब हरि भए चिकनियाँ॥१५६॥

शब्दार्थ—मधुवनियाँ=मथुरा-निवासी। कनियाँ=कधे पर। गुहि-गुहि=गूथ कर। मनियाँ=गुरिया। तनियाँ=कुरती। कामरी=काला कम्वल। चिकनियाँ=छैला।

प्रसंग—मथुरा मे प्रवास करने के कारण कृष्ण का स्वभाव, प्रकृति और रुचियो मे परिवर्तन आ गया है। इसी को लक्ष्य करके गोपियाँ व्यग्य करते हुए उद्धव से कह रही है—

व्याख्या—हे उद्धव ! श्याम मथुरा मे निवास करते हुए अत्यन्त विनोदी अर्थात् रसिक बन गए है। अब उनके स्वभाव मे परिवर्तन आ गया है अतः उनका मथुरा से गोकुल लौट आना कठिन प्रतीत होता है क्योकि उनकी नवीन यौवनाओ के प्रति भोग की चाह बढ़ गई है जो उन्हे मथुरा मे ही प्राप्त हो सकती है। यहाँ तो हम है जो उनके लिए किसी प्रकार की नवीनता उपलब्ध नही कर सकती क्योकि वे हमें भलीभाँति भोग चुके है और रीति जान कर ही छोड कर गये है। कृष्ण सम्भवतः वे दिन विस्मृत कर बैठे है जब वे निपट बालक थे और हम उन्हे गोद मे लेकर खिलाया करती थी, कभी-कभी वे हमारे कन्धे पर भी चढ जाया करते थे। जब वे यहाँ थे तो बाबा-नन्द और माता यशोदा भी नितप्रति उनके विनोद के लिये नये-नये साधन जुटाया करते थे। वे काँच की छोटी-छोठी गुरियाँ डोर मे गूँथ-गूँथ कर उन्हे पहनाया करते थे।

अभी तो केवल चार ही दिन हुए है कि उन्होने पीताम्बर वस्त्र और कुरती पहनना सीखा है। अर्थात् अभी उन्हें थोड़ा समय ही हुआ है कि वे स्वय वस्त्र धारण करने लगे है और तभी से अपनी मनमानी करने लगे है। जिस काले कम्बल को ओढ कर वे मधुवन मे गाय चराने जाया करते थे उसे उन्होने उतार फेका है। मथुरा मे जाकर वे ऐसे वस्त्र धारण करते है जिससे राजासी शान टपकती हो, अब तो वे पूरे छैला बन गये हैं।

विशेष—(१) प्रस्तुत पद मे सूर की सख्यभाव की भक्ति का सकेत मिलता है। सख्यभाव से भक्ति करने वाला भक्त ही अपने आराध्य के प्रति ऐसी मधुर चुटकी लेने की धृष्टता कर सकता है।

(२) गोपियो की कृष्ण के शैशवकाल की स्मृतियाँ अत्यन्त मार्मिक है। कृष्ण के प्रति उनका स्नेह भरा व्यग्य भाव ही व्यक्त हुआ है।

अलकार—'गुहि-गुहि'......पुनरुक्ति प्रकाश।

ऊधो ! हम ही है अति बौरी।
सुभग कलेवर कुंकुम खौरी। गुंजमाल अरु पीत पिछौरी॥
रूप निरखि दृग लागे ढोरी। चित चुराय लयो मूरति सो, री !
गहियत सोजा समय अँकोरी। याही तें बुधि कहियत बौरी॥
सूर स्याम सों कहिय कठोरी ! यह उपदेस सुने ते बौरी॥१६०॥

शब्दार्थ—बौरी=बावली, पगली। सुभग=सुन्दर, मनोरम। कलेवर=

शरीर। खौरी=तिलक। पिछौरी=चादर। लागे ढोरी=सग लग लिये, पीछे हो लिये। सो=उस। अकोरी=गोद। वुधि=बुद्धिमान लोग।

प्रसंग—गोपियां कृष्ण विरह मे पहले से ही विह्वल थी, उद्धव का योग का सदेश सुनकर उनकी व्यथा और भी बढ़ गई। वे उद्धव के प्रति अपनी इसी वेदना को व्यक्त कर रही है।

व्याख्या—हे उद्धव! वस्तुत. तुम्हारा कोई दोष नही हम तो स्वय कृष्ण-वियोग मे पहले से ही अत्यन्त पागल और मतवाली बनी हुई है। उनके मनोरम स्वरूप, मस्तक पर सुशोभित कुंकुम के तिलक, कण्ठ मे पडी गुँजाओ की माला तथा शरीर पर धारण किये हुए पीताम्बर ने हमारे नेत्रो को लुभा लिया और वे उनके पीछे लग गये। हमारे नेत्र सदा उनके इसी रूप को ही देखना चाहते है। उनकी ऐसी मोहिनी मूर्ति ने हमारे हृदयो को चुराकर अपने वश में कर लिया था। इसी कारण उनके रूप के जादू के वशीकरण मत्र के कारण हम उनके वश मे थी और वशीकरण के कारण हमने उनके सौन्दर्य पर मोहित होकर उसी समय उन्हे अपने वाहुपाश मे बाँधकर अपने अक में वैठा लिया। हमारे इस मतवालेपन के कारण तब से ही बुद्धिमान लोग हमे बावली कहते है। वस्तुत तथ्य यह है कि तव से हम उनकी दृष्टि में प्रेम दीवानी बनी घूमती रहती है, हमें अपने शरीर और वस्त्रो की भी सुध वुध नही रहती।

हे उद्धव! तुम श्याम से जाकर कहो कि वे अत्यन्त कठोर है। हम उनके द्वारा भेजे गये इस योग-सन्देश को सुनकर ही वावली हो गई है। उनसे यह कदापी न कहना कि उनके रूप के आकर्षण में ही हम बावली वनी हुई है, वल्कि यह कहना कि उनके कठोर व्यवहार ने ही हमे पागल कर दिया है। हम अब प्रमाद-ग्रस्त है, अत. अपना होश-हवास अर्थात् खरे-खोटे की पहचान खो वैठी है, अव जव हम तुम्हारा सन्देश समझ ही नही सकती तो उसे स्वीकार कैसे कर सकती है।

विशेष—प्रस्तुत पद गोपियो की वाग्विदग्धता का एक उत्कृष्ट उदाहरण है।

कहाँ लगि मानिए अपनी चूक ?
बिन गोपाल, ऊधो, मेरी छाती ह्वै न गई द्वै टूक॥

तन, मन, जौवन वृथा जात है ज्यो भुवंग की फूँक।
हृदय अग्नि को दवा बरत है, कठिन विरह की हूक॥
जाकी मनि हरि लई सीस तें कहा करै अहि मूक।
सूरदास व्रजवास वसी हम मनहुँ दाहिने सूक॥१६१॥

शब्दार्थ—लगि=तक। चूक=भूल, गल्ती। जोवन=जवानी। वृथा=व्यर्थ। भुवग=सर्प। फूँक=फुकार। दवा=दावाग्नि। हूक=ज्वाला, शूल। अहि=सर्प। मूक=शात। दाहिने सूक=दक्षिण शुक्र ग्रह होने पर जो ज्योतिष मे बुरा योग माना जाता है।

प्रसंग—राधा अथवा कोई गोपी कृष्ण-विरह मे अत्यन्त व्याकुल है और अपनी त्रुटियो पर पश्चाताप करती हुई उद्धव से कह रही है।

व्याख्या—हे उद्धव ! मैं कहाँ तक अपनी भूलो को स्वीकार करूँ। मुझ से तो असख्य त्रुटियाँ हुई हैं, अब कहाँ तक पश्चाताप करूँ। अब तो कोई निदान होने वाला नही। मेरा सबसे बडा अपराध तो यही है कि कृष्ण के बिना मैं अब तक भी जीवन धारण किये हुए हूँ। जब गोपाल यहाँ से गये तो उनके विरह मे मेरी छाती फटकर दो टुकडे हो जानी चाहिए थी किन्तु ऐसा नही हुआ। अत स्पष्ट है कि मेरा कृष्ण से सच्चा प्रेम का नाता नही था। यदि होता तो क्या मैं अब तक जीवित रहती। इस प्रकार मेरे प्रेम मे कही न कही कोई त्रुटि अवश्य रह गई है।

मेरा यह शरीर, मन एव यौवन उसी प्रकार निष्फल व्यर्थ जा रहे है जिस प्रकार एक सर्प की फुकार नष्ट हो जाती है। जब सर्प किसी को डस नही पाता तो क्रोध मे फुकारता है किन्तु उसकी फुकार भी वृथा चली जाती है। उसी प्रकार मेरा सुन्दर शरीर, प्रेम भरा मन और यौवन किसी को न रिझा पाने के कारण व्यर्थ एव निष्फल है। इसकी सार्थकता तो तभी थी जब कृष्ण इसका उपभोग करते। यह विरह की हुंकार अत्यन्त पीडा दायिनी है। मेरा हृदय विरह की ज्वाला की दावाग्नि मे धू-धू कर जल रहा है। प्रिय कृष्ण के पास न होने के कारण मेरी दशा बिल्कुल उस सर्प जैसी दीन और करुण है जिसकी अमूल्य मणि उससे छीन ली गई हो और वह दीन, असहाय ज्योति हीन, शान्त पड़ा रहता हो। कृष्ण मेरे लिये अमूल्य मणि के समान थे, उनके बिना जीवन के प्रति मेरा समस्त आकर्षण समाप्त हो गया है और अब

मैं सदा विवश शान्त बनी रहती हूँ। मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि जब हम गोपियाँ यहाँ व्रज मे निवास के लिए आई थी तो शुक्र नक्षत्र हमारी दक्षिण दिशा मे था जो हमे आज अशुभ देखने को मिला कि हमारे कृष्ण हमे छोड़कर चले गये अर्थात् हम अच्छे शकुन में व्रज मे नही आई, इसी कारण हमारी यह दशा हुई है।

विशेष—(१) ज्योतिप-शास्त्र मे शुक्र नक्षत्र की दक्षिण दिशा में स्थिति अशुभ मानी गई है। गोपियाँ भी यही सकेत कर रही है कि आज जो उनकी हानि हुई है उसका कारण संभवत. यह है कि जब वे यहा व्रज मे वसने के लिये आई थी तो शुक्र नक्षत्र उनकी दक्षिण दिशा मे था।

(२) प्रथम दो पक्तियो मे व्यक्त गोपियो के भाव अत्यन्त मार्मिक वन पड़े हैं। उन्हे दुख है कि वे अब तक कृष्ण के विना जीवन को धारण किये हुए हैं। कभी-कभी उन्हे अपने प्रेम पर ही सन्देह होने लगता है।

अलंकार—इस पद मे अलकारो की छटा दर्शनीय है। मुख्य रूप से प्रयुक्त अलकार इस प्रकार है—

(१) 'तन······फूक'—उपमा।
(२) 'हृदय······हूक'—रूपक।
(३) 'जाकी······मूक'—अन्योक्ति।
(४) 'व्रजवास······सूक'—उत्प्रेक्षा।

ऊधो! जोग जानै कौन?
हम अबला कह जोग जानै जियत जाको रौन॥
जोग हम पै होय न आवै, धरि न आवै मौन।
बाँधिहैं क्यो मन-पखेरू साधिहै क्यो पौन?
कहाँ अंबर पहिरि कै मृगछाल ओढ़ै कौन?
गुरु हमारे कूबरी-कर-मंत्र-माला जौन॥
मदनमोहन विन हमारे परै बात न कौन?
सूर प्रभु कब आय है वे स्याम दुख के दौन?॥१६२॥

शब्दार्थ—रौन=रमण करने वाला, पति। मन-पखेरु=मन रूपी पक्षी। अम्बर=सुन्दर वस्त्र। परै=वैठती। दौन=दमन करने वाले।

प्रसग—गोपियाँ उद्धव का योग-सन्देश सुन चुकी है। वे उसे अपनाने मे असमर्थ हैं। वे उद्धव के सम्मुख अपनी इस असमर्थता को प्रकट करते हुए कहती है।

व्याख्या—हे उद्धव ! यहाँ व्रज मे तुम्हारे योग को न तो कोई जानता है और न ही समझता है। हम अबला नारियाँ हैं और हमारे साथ रमण करने वाला हमारा पति अभी जीवित है, अत. हम योग के विषय मे कुछ भी नही जानती और न ही इससे कोई सम्बन्ध रखना चाहती है क्योकि हमारा पति जीवित है, इसलिए हमे इसकी कोई आवश्यकता नही। फिर योग से सम्बद्ध सभी विधि-नियम विधवा नारियो के लिये ही हैं, हमारे लिये नही। हम सधवा हैं क्योकि हमारे स्वामी कृष्ण जीवित हैं। इसलिये हम तुम्हारे योग एवं निर्गुण-ब्रह्म को स्वीकार नही कर सकती। ऐसा करके हम पाप की भागी बन जायेंगी, इसके अतिरिक्त तुम्हारा योग अत्यन्त कठिन है, हमसे यह योग-साधना हो भी न सकेगी। क्योकि हमे मौन धारण करना नही आता जबकि योग-साधना मे मौन धारण करना अति आवश्यक है, यह साधना की पहली सीढ़ी है। हमारी जिह्वा तो प्रत्येक क्षण कृष्ण के गुणगान करने मे लीन रहती है, अत. हम किस प्रकार मौन धारण कर सकेगी, यह तो हमारे लिए असम्भव है। हम अपने मन रूपी पक्षी को किस प्रकार सयमित कर सकेंगी, क्योकि यह तो हमारे वश मे नही और बारम्बार उड़कर कृष्ण के पास जाने के लिये फड़फड़ाया करता है। कृष्ण विरह मे हमारे हृदय से निरन्तर ठण्डी साँसो के रूप में हूक नि सृत होती रहती है, जिसे रोकना हमारे लिये असम्भव है, अत. पवन को अवरुद्ध कर प्राणायाम करना भी हमारे लिये असभव है।

हे उद्धव ! हमने अपने शरीर पर सदा रेशमी वस्त्र धारण किए हैं। अब तुम्ही बताओ ऐसे सुकुमार शरीर पर हम मृगछाला किस प्रकार ओढ सकेंगी। प्रेम के मार्ग मे कृष्ण हमारे गुरु हैं, उन्होने ही हमें इस पथ का पथिक बनाया है, किन्तु आज वह पूर्णतया कुब्जा के वश मे हैं और उसके हाथ की माला बने हुए है और उसी की मन्त्रणा के अनुसार कार्य करते है। अर्थात् जिस प्रकार माला फेरने वाला, मत्र पढ़ते समय अपनी इच्छानुसार मनको को अपनी अगुलियो पर घुमाता-नचाता है, उसी प्रकार कुब्जा भी कृष्ण को मनमाना नाच नचा रही है और उन्हे अनेक प्रकार से हमारे विरुद्ध भडका कर ऐसे उलटे-सीधे

सन्देश भेज रही है। किन्तु हमारे मन मे मदनमोहन कृष्ण के बिना अन्य कोई बात वैठती ही नही। हमारा मन कृष्ण की चर्चा के अतिरिक्त निर्गुण-ब्रह्म तो क्या किसी और की भी चर्चा सुनना नही चाहता। हमे तो केवल कृष्ण की लालसा और प्रतीक्षा है। वे ही हमारे दु.ख का दमन करने वाले हैं। जाने कब वे यहाँ पधारेंगे और हमारे हृदय को शीतल करेंगे।

विशेष—(१) सम्पूर्ण पद में गोपियों की विवशता और दैन्य भाव है।

(२) 'गुरु……जौन' पक्ति मे कृष्ण और कुब्जा के सम्बन्ध को लेकर कतिपय व्यग्य किया गया है किन्तु वहाँ भी असूयाभाव की प्रधानता है, व्यंग्य गौण है।

अलंकार—(१) 'मनपखेरू'—रूपक।

(२) 'जोग जानै जियत जाको'—अनुप्रास।

फिर ब्रज बसहु गोकुलनाथ।
बहुरि न तुमहिं जगाय पठवौं गोधनन के साथ॥
वरजौ न माखन खात कबहूँ, दैहौं देन लुटाय।
कबहूँ न दैहौं उराहनो जसुमति के आगे जाय॥
दौरि दाम न देहुँगी, लकुटी न जसुमति-पानि।
चोरी न देहुँ उघारि, किए औगुन न कहिहौ आनि॥
करिहौं न तुमसो मान हठ, हठिहौं न माँगत दान।
कहिहौं न मृदु मुरली बजावन, करन तुमसों गान॥
कहिहौ न चरनन देन जावक, गुहन वेनी फूल।
कहिहौं न करन सिंगार बट-तर, बसन जमुना-कूल॥
भुज भूषननयुत कंध धरिकै रास नृत्य न कराउँ।
हौं संकेत-निकुंज बसिकै दूति-मुख न बुलाउँ॥
एक बार जु दरस दिखवहु प्रीति-पंथ बसाय।
चँवर करौं, चढ़ाय आसन, नयन अँग अँग लाय॥
देहु दरसन नंदनंदन मिलन ही की आस।
सूर प्रभु की कुँवर-छबि को मरत लोचन प्यास॥१६३॥

शब्दार्थ—गोधनन=गाये। बरजौ=मना करूँगी, रोकूँगी। उराहनो=शिकायत। दौरि=दौड़कर। दाम=रस्सी। लकुटी=लाठी, डण्डा। पानि=

हाथ। उघारि=बताऊँगी। आनि=अन्य, किसी और को। हठिहौ=हठ करके। मान=कहना। दान=रतिदान। जावक=महावर। बटतर=वट-वृक्ष के नीचे। कूल=तट। भुज भूषननयुत=आभूषणो से सुसज्जित भुजाएं। बसिकै=बैठ कर। लोचन=नेत्र।

प्रसंग—राधा अथवा कोई अन्य गोपी ध्यान मग्न है। वह सोच रही है कि यशोदा माता से कृष्ण की शिकायत करने के कारण अथवा हठपूर्वक कृष्ण के साथ रति क्रियाएँ करने के कारण वे रूठ गये है और व्रज लौटना नहीं चाहते। अतः वह प्रतीक्षा करती है कि वह लौट आएँ, अब उन्हे परेशान नही करेगी।

व्याख्या—हे गोकुल के स्वामी कृष्ण ! तुम एक बार फिर आकर व्रज मे बस जाओ, रहने लगो। मैं तुम्हे इस बात का आश्वासन देती हूँ कि अब प्रातः काल होते ही तुम्हे जगाकर गायो के साथ उन्हे चराने के लिए वन मे नही भेजूँगी। मै तुम्हे माखन खाने के लिए मना नही करूँगी और चाहे तुम माखन को ग्वाल-बालो मे बाँटते रहना, लुटाते रहना। मै तुम्हे ऐसा करने से कभी नही रोकूँगी और न ही तुम्हारा हाथ पकडूँगी। तुम चाहे कितनी ही शैतानी करना, मुझे खूब परेशान करना किन्तु मै पहले की तरह माता यशोदा के पास जाकर न तो उलाहना ही दूँगी और न ही उनके सम्मुख तुम्हारी शिकायत करूँगी। यदि माता यशोदा तुम्हारी किसी शैतानी से स्वय क्रोध मे होगी और तुम्हे दण्ड देना चाहेगी तो मै दौड़ कर कभी तुम्हे बाँधने के लिए उनके हाथ मे न तो रस्सी ही दूँगी और न ही तुम्हे मारने के लिए उनके हाथ मे डण्डा ही दूँगी। तुम्हारी किसी चोरी के विषय मे जानते हुए भी मैं उसका पर्दा रखूंगी, किसी और के सम्मुख इस सम्बन्ध मे कोई बात नही करूँगी और साथ ही मै तुम्हारे अन्य अपराधो की भी चर्चा किसी से नही करूगी, बल्कि उन्हे छुपाऊँगी। इस प्रकार अब तुम अपनी मनमानी करने के लिए पूर्णतया स्वतन्त्र रहोगे।

मैं अब तुमसे कभी भी नही रूठूँगी और न मान-हठ ही करूँगी। यदि तुम अब मुझसे रतिदान माँगोगे तो मैं पीछे नही हटूगी, अपितु इस कार्य मे प्रसन्नतापूर्वक तुम्हे सहयोग दूँगी। इसके अतिरिक्त न तो मे कभी तुम्हें मुरली की मधुर तान बजाने के लिए कहूँगी और न ही तुम्हें गीत गाने के लिए

ही कहूँगी क्योंकि मैं जानती हूँ कि मुरली बजाने के लिए तुम्हे अपने शरीर को तीन स्थानों से मोड़ना पड़ता है जिससे तुम्हे कष्ट का अनुभव होता होगा। मैं अब न तो तुमसे अपने चरणो मे महावर लगाने को कहूँगी और न ही वेणी मे फूल ही गुँथवाऊँगी। अव तुम यहाँ पूर्णतया स्वतंत्र रहोगे। वृक्ष के नीचे वैठ कर न तो तुम्हे मेरा बनाव शृंगार ही करना पडेगा और न ही मैं तुम्हे यमुना तट पर अपने साथ लीला-विहार करने के लिए बाध्य ही किया करूँगी। मैं अपनी भूषण युक्त भारी भुजाओ को तुम्हारे सुकोमल कन्धों पर रख कर तुम्हें रास-नृत्य करने के लिए भी नही कहूँगी तथा मै स्वय पूर्वनिर्धारित मिलन-स्थान-कुंज पर विश्राम करते हुए तुम्हे दूतिका के द्वारा कभी-भी बुला नही भेजूँगी, वल्कि स्वयं सदा तुम्हारी सेवा मे उपस्थित रहूँगी।

यदि तुम एक बार यहाँ आकर मुझे अपने दर्शन करा दोगे और इस प्रकार मेरे प्रेम को सार्थक वना दोगे तो मैं तुम्हे ऊँचे आसन पर वैठा कर तुम्हारे ऊपर चवर ढालूँगी अर्थात् तुम्हारी पूजा करूँगी और तुम्हारी अग-प्रत्यग की रूप-माधुरी को अपने नेत्रो द्वारा पीकर तृप्त हो जाऊँगी अर्थात् तुम्हारी अग-प्रत्यग से प्रस्फुटित रूप-गरिमा को देखती रहूँगी और इसी से ही तृप्त हो जाऊँगी। हे नन्दनदन कृष्ण, मुझे एक बार पुन अपने दर्शन करादो, मैं केवल आप से मिलन की आशा मे ही अपना जीवन धारण किए हुए हूँ, वरन् मेरे जीवन की अन्य समस्त अभिलाषाएँ पूर्णतया नष्ट हो चुकी हैं। मेरे ये नेत्र तो अपने स्वामी कृष्ण की कौमार्यावस्था को देखने के लिए प्यासे मरे जा रहे है।

विशेष—(१) सूर ने अपने कविचातुर्य द्वारा प्रस्तुत पद मे विलक्षण कलात्मक मनोरमता उत्पादन की है। गोपियो का विचार है कि उनके द्वारा की गई ज्यादतियो के कारण कृष्ण उनसे भयभीत है और इसलिए वह व्रज लौटना नही चाहते। इसी कारण वे अपने किये पर पश्चाताप कर रही है कि क्यो उन्होने यशोदा माता से शिकायत कर उन्हें पिटवाया। अव वे उनसे प्रार्थना कर रही हैं कि वे लौट आये, उन्हे पहले की तरह परेशान नही होना पड़ेगा। वस्तुतः इस पद मे गोपियो अथवा राधा के साथ-साथ माता यशोदा भी बोलती प्रतीत होती है।

(२) सम्पूर्ण बाल-लीलाओ का वर्णन गोपियो के मुख से होने के कारण

यह पद पाठक पर एक अमिट छाप छोड़ जाता है।

(३) 'कुंवर-छवि' शब्द का प्रयोग साभिप्राय हुआ है। कवि के कहने का आशय है कि गोपियो को कृष्ण के कुमार-रूप को देखने की लालसा है क्योकि वे इसी रूप के ही दर्शनो की अभ्यस्थ थी। वे कुब्जा के साथ भोग-विलास मे लिप्त कान्ह के मलिन मुख को नही देखना चाहती। इस प्रकार यहाँ गोपियो की कुब्जा से सोतिया-डाह की व्यजना भी होती है।

(४) सूर ने ऐसे निर्मल भावो और पूर्व-स्मृतियो को अन्यत्र भी अभिव्यक्त किया है। देखिए निम्न पद—

"मेरे कान्ह कमल दल लोचन।
अवधि वेरि वहुरि फिरि आवहु कहा लगे जिय सोचन॥
यह लालसा होति मेरे जिय वैठी देखत रहिहौ।
गाइ चरावन कान्ह कुवर सौ वहुरि न कवहुँ कहिहौ॥
करत अन्याय न वरजौ कवहुँ, अस माखन की चोरी।
अपने जियत नैन भरि देखौ, हरि हलधर की जोरी॥

अलंकार—(१) 'सूर प्रभु'''लोचन प्यास''''परिकर।
(२) सम्पूर्ण पद मे मुद्रा अलकार है।

कबहुँ सुधि करत गोपाल हमारी ?
पूछत नंद पिता ऊधो सों अरु जसुमति महतारी॥
कबहुँ तौ चूक परी अनजानत, कह अबके पछिताने ?
वासुदेव घर-भीतर आए हम अहीर नहिं जाने॥
पहिले गरग कह्यो हो हमसों, 'या देखे जनि भूलै'।
सूरदास स्वामी के विछुरे राति-दिवस उर सूलै॥१६४॥

शब्दार्थ—चूक=भूल, त्रुटि, गलती। अनजानत=अनजाने मे। गरग=गर्ग मुनि। सूलै=काँटा चुभने से होने वाली पीड़ा।

प्रसग—प्रस्तुत पद मे नन्द एव यशोदा का वात्सल्य-भाव एव पीडा का प्रकाशन हुआ है। दोनो उद्धव से पूछते है कि—

व्याख्या—हे उद्धव ! क्या गोपाल कृष्ण कभी हमे भी स्मरण करते हैं। पिता नन्द और माता यशोदा अत्यन्त उदास है और उद्धव से पूछते है कि क्या कभी कृष्ण को उनकी याद आती है। तदुपरान्त अपने द्वारा कृष्ण को दी गई

ताड़नाओ को स्मरण करके पश्चाताप करते हुए कहते है कि सम्भवत: हमसे अनजाने में कोई भूल-चूक ही गई होगी जिससे कृष्ण हमे छोड़कर मथुरा चले गए और न ही हमे स्मरण करते हैं और न ही व्रज लौट कर ही आते हैं किन्तु अब पछताने से क्या लाभ । जो होना था सो हो गया । जब वासुदेव के पुत्र के रूप मे साक्षात् भगवान विष्णु ही हमारे घर आये और अपनी लीलाएँ हमे दिखाईं किन्तु उस समय हम अहीरो पर तो अज्ञान का पर्दा पड़ा हुआ था जिससे हम उन्हे पहचान नही सके और फिर गर्ग मुनि ने भी तो पहले ही हमे सावधान कर दिया था कि इस बालक के रूप को देखकर भूल न जाना । यह तो साक्षात् भगवान का अवतार है । फिर भी हम भूल मे रहे और उनकी बात का मर्म न जान सके । तभी तो हमे आज यह दिन देखने को मिला । हम उन्हें एक साधारण बालक समझ कर ही उनकी शरारतो पर दण्ड और ताडना करते रहे । हमे क्या खबर थी कि वे अपनी लीलाओ से हमे रिझाकर एक दिन इस प्रकार निराश्रय छोड़कर चले जायेंगे । स्वामी कृष्ण के हमसे बिछुड़ जाने पर हमारे हृदय में भयंकर पीड़ा हो रही है मानो हमारे मर्म स्थल मे कोई शूल गड़ गया हो ।

विशेष—(१) प्रस्तुत पद वात्सल्य भाव तथा पुत्र-वियोग एव तज्जन्य वेदना की मार्मिक अभिव्यक्ति का उत्कृष्ट उदाहरण है । इसकी सवेदना की तीव्रता तथा मार्मिकता सीधी हृदय को छूती है ।

(२) इससे पूर्व पद में कवि ने गोपियो के पश्चाताप का अकन किया था । गोपियों के समान नन्द और यशोदा को भी इस बात का पश्चाताप है कि सम्भवत. कृष्ण उनके किसी व्यवहार से रुठ कर चले गए है और अब यहाँ लौटना नही चाहते ।

भली बात सुनियत्त है आज ।

सुरभि=गाय। गोप-समाज=ग्वाल-बाल-सभा।

प्रसंग—ब्रज मे उद्धव कृष्ण जैसा वेश बना कर और उनके ही रथ मे बैठ कर आए है। उनके आगमन का समाचार सर्वत्र फैल गया है। इसी संदर्भ मे गोपियाँ अपनी अन्य सखी से कह रही हैं।

व्याख्या—आज व्रज मे बडी अच्छी चर्चा सुनाई पड रही है कि कमलनयन कृष्ण ने किसी को अपने वेश मे सजाकार हमारा समाचार जानने के लिए यहाँ ब्रज मे भेजा है। आओ सखी वहाँ उसके पास चलें और उसके सखा कृष्ण का कुशल समाचार ज्ञात करे। उससे पूछें कि उसके सखा कृष्ण मथुरा मे कैसे हैं, कभी-कभी हमे याद भी करते है अथवा नही ? हमारे लिए इससे प्रसन्नता की कोई और बात नही हो सकती, छोड़ो सब घर के काम-काज, आज हमने कुछ नही करना है। अच्छा यही है कि पहले कृष्ण का हाल तो जान लें। ऐसी अच्छी खबर सुनकर भला किसका मन काम मे लगेगा, मेरा मन तो आज घर के काम मे कदापि नही लग रहा।

हे सखी ! इसके साथ यह भी समाचार मिला है कि कृष्ण ने कस का वध कर दिया है और अपने माता-पिता वसुदेव-देवकी को कारावास से मुक्त करा कर घर ले आए हैं। उन्होने मथुरा के राज्य पर अपने नाना उग्रसेन को आसीन किया है। अब वे राजा हो गए है, उन्हें वहा राजमहल मे सभी प्रकार की सुख-सामग्री एवं ऐश्वर्य प्राप्त हो गए है। अब वे यहाँ क्यो आयेंगे। यहाँ उन्हे गायो के साथ वन-वन भटकना पडेगा और ग्वालो के समाज मे मिलकर क्रीडा करनी पडेगी। यहाँ भला उन्हे अब क्या सुख प्राप्त होगा। राजसुख के सम्मुख यह तो नगण्य है। अत हमे यही लगता हे कि अब चाहे कोई करोडो यत्न करे, कन्हैया मथुरा से लौटकर व्रज आने वाले नही।

विशेष—(१) उद्धव के आने पर गोपियाँ आशावान् हो उठती हे कि सभवत कृष्ण भी आवे। किन्तु उनके राजा वन जाने का समाचार पाकर उनकी आशा निराशा मे परिवर्तित हो जाती है। आशा और निराशा का यह द्वन्द्व अत्यन्त मार्मिक है।

(२) इस पद मे प्रकारान्तर से कस-वध का उल्लेख हुआ है।

(३) विषय के आधार पर कहा जा सकता है कि यह पद 'भ्रमर-गीत सार' के आरम्भिक पदो मे से है क्योकि इसमे उद्धव के व्रज आगमन और

उनके द्वारा कंस वध के समाचार की कथा का वर्णन हुआ है।

अलंकार—'कमलनयन' मे उपमा।

ऊधो ! हम आजु भई बड़ भागी।
जैसे सुमन-गंध लै आवतु पवन मधुप अनुरागी॥
अति आनंद बढ्यो अँग-अँग मै, परै न यह सुख त्यागी।
बिसरे सब दुख देखत तुमको स्यामसुंदर हम लागीं॥
ज्यो दर्पन मधि दृग निरखत जहँ हाथ तहाँ नहिं जाई।
त्यों ही सूर हम मिलीं साँवरे बिरह-बिथा बिसराई॥१६६॥

शब्दार्थ—बड़भागी=भाग्यशालिनी। सुमनगध=पुष्प की सुगन्ध। पवन=वायु। मधुप=भ्रमर। अनुरागी=अनुरक्त। लागी=मिली। मधि=मध्य, बीच। बिथा=व्यथा। बिसराई=भूल गई।

प्रसंग—ऊधो व्रज मे पहुँच गये हैं। सभी गोपियाँ अति प्रसन्न हैं तथा अपने भाग्य को सराह रही है क्योकि उन्हे विश्वास है कि उद्धव कृष्ण का सन्देश लाये है जिसमे सम्भवतः कृष्ण के व्रज लौटने का समाचार हो।

व्याख्या—हे उद्धव ! आज तुम्हारा व्रज मे शुभ आगमन हुआ है। हम तुम्हारे यहाँ आने से अति प्रसन्न है तथा स्वय को अत्यन्त सौभाग्यशालिनी समझ रही है। हमे विश्वास है कि तुम हमारे प्रियतम का हमारे लिये कोई अच्छा सदेश लाये होगे जिस प्रकार पवन पुष्पो का स्पर्श करके उनकी सुगन्ध सजो कर स्वय भ्रमर के पास चला आता है और भ्रमर उस पवन मे अपने प्रिय की सुगन्ध को अनुभव कर पुष्पो के प्रति अपने अनुराग को स्मरण कर आनन्द-मस्त हो जाता है और प्रफुल्लित होकर गुंजार करने लगता है, उसी प्रकार तुम भी हमारे प्रिय को स्पर्श करके आए हो। हम अनुभव कर रही है कि तुम्हारे पास कृष्ण का हमारे लिए शुभ सन्देश है। सम्भवत उसमे उनके आने का समाचार हो। इसी खुशी मे हम सब फूल गई हैं और आनन्द विभोर हो रही है। हमारा अग-प्रत्यग आनन्द से खिल उठा है, अब हमसे यह सुख त्यागते नही बनता। कृष्ण स्वय चाहे नही पधारे, किन्तु उनका सन्देश ही हमारे लिए उनके आगमन के समान है। हमें विश्वास है कि अब वे स्वय कभी-न कभी आयेगे, अब उन्हे हमारी सुधि आने लगी है।

इसी खुशी के मारे हमारा अंग-अंग पुलकित हो गया है और हम आनन्दित हो झूम रही हैं। कृष्ण के विरह में दग्ध हम अत्यन्त दीन-हीन बनी हुई थी किन्तु तुम्हारे दर्शन कर हमारा सब दुःख-दर्द जाता रहा है। हमें ऐसा लग रहा है कि तुम्हारे रूप में हमारा श्यामसुन्दर से ही मिलन हो गया है। वस्तुतः तुम्हें यहाँ पाकर हमें ऐसा लग रहा है कि स्वयं कृष्ण हमें अपने दर्शन देने आए हों।

तुम्हारे दर्शन वस्तुतः हमारे लिये प्रियतम कृष्ण के दर्शनों के ही समान हैं। तुम उनके प्रतिबिम्ब के समान हमें उसी प्रकार सुख दे रहे हो जिस प्रकार दर्पण के बिम्ब को देख कर आनन्द तो प्राप्त होता है किन्तु उस बिम्ब का स्पर्श नहीं किया जा सकता। उससे नेत्र तृप्त होते है। तुम्हारे दर्शनों से भी हमारे नेत्र तृप्त हुए हैं क्योंकि तुम्हारे रूप में हमने प्रियतम कृष्ण के दर्शन कर लिये हैं किन्तु यह तृप्ति अधूरी है क्योंकि हमारा शरीर उसके स्पर्श का आनन्द प्राप्त नहीं कर सका। फिर भी तुमसे मिलकर हमें ऐसा अनुभव हुआ है कि हम अपने साँवले-सलोने कृष्ण से भेंट रही है इससे हमारी सम्पूर्ण विरह-व्यथा जाती रही है। यह हमारी अत्यधिक सुख की घड़ी है।

विशेष—(१) उद्धव के रूप में कृष्ण-मिलन की गोपियों की आनन्दानुभूति अत्यन्त मार्मिक और हृदयग्राही है।

अलंकार—(१) 'जैसे''अनुरागी'—उपमा।
(२) 'अंग-अंग'—पुनरुक्ति प्रकाश।
(३) 'बिसरे''लागी'—उत्प्रेक्षा।
(४) 'ज्यों''जाई'—दृष्टांत।

पाती सखि ! मधुबन तें आई।
ऊधो-हाथ स्याम लिखि पठई, आय सुनो, री माई॥
अपने-अपने गृह तें दौरीं लै पाती उर लाई।
नयनन नीर निरखि नहिं खंडित, प्रेम न बिथा बुझाई॥
कहा करौं सूनो यह गोकुल हरि बिनु कछु न सुहाई।
सूरदास प्रभु कौन चूक तें स्याम सुरति बिसराई ?॥१६७॥

शब्दार्थ—पाति=पत्री, चिट्ठी। मधुबन=मथुरा। ऊधो-हाथ=उद्धव द्वारा। लिखि=लिख कर। पठई=भेजी है। गृह=घर। खंडित=नष्ट। चूक=भूल। सुरति=सुधि, स्मृति, याद।

प्रसंग—उद्धव ब्रज मे पहुँच गए है। उन्होने गोपियो को कृष्ण का पत्र दिया है। सभी पत्री को चूम रही हैं और हृदय से लगा रही है।

व्याख्या—यह समाचार पाते ही कि उद्धव मथुरा से कृष्ण की पत्री लाए है, गोपियो की प्रसन्नता का पारावार नही रहता। एक गोपी अपनी सखी से कहती है कि—"हे सखी! मथुरा से चिट्ठी आई है। कृष्ण ने उसे स्वयं लिख कर उद्धव के द्वारा यहाँ हमारे पास भेजा है। हे सखी! सब आकर सुनो कि उसमे क्या-क्या लिखा है और किस-किस के लिए क्या-क्या सदेश है?" यह समाचार सुनते ही समस्त गोपियाँ अपने-अपने घर से दौड़ कर आई और उद्धव के गिर्द आकर जमा हो गई। कृष्ण के पत्र को देखकर सब प्रेम विह्वल हो गई। उन्होने वह चिट्ठी उद्धव से ले ली तथा बारी-बारी से उसे अपने हृदय से लगा कर चूमने चाटने लगी। तदुपरान्त जब उन्होने पत्री को पढ़ने का प्रयत्न किया तो हृदय की विह्वलता के कारण उनके नेत्रो मे आँसू भर गये जिससे वे चिट्ठी पर लिखे अक्षरो को पढ न सकी। उनके नेत्रो का जल उस पर पडा जिससे चिट्ठी गल कर नष्ट हो गई। इस प्रकार चिट्ठी न पढ पाने के कारण वे यह न जान सकी कि उनके लिए कृष्ण ने क्या सन्देश भेजा था, अतः उनकी प्रेम से जन्य विरह की व्यथा ज्यो की त्यो बनी रही, वह शांत न हुई। इस पर वे सब अत्यधिक व्याकुल हो उठी और कहने लगी कि हम क्या करे! कृष्ण के बिना हमे यह गोकुल बिलकुल सूना प्रतीत होता है, कुछ भी नही सुहाता। कृष्ण के बिना यहाँ कुछ भी तो अच्छा नही है। न जाने हम से क्या भूल हो गई है कि हमारे प्रियतम कृष्ण ने हमारी सुध-बुध भुला दी है और हमसे मिलने के लिए यहाँ ब्रज मे नही आते।

विशेष—(१) गोपियो के आँसुओ से कृष्ण की चिट्ठी के गल जाने का वर्णन सूर ने एक अन्य स्थान पर भी किया है, इस प्रकार है—

"निरखत अक स्याम सुन्दर के बार बार लावति लै छाती।
लोचन-जल कागद-मसि मिलि कै, ह्वै गई स्याम स्याम की पाती॥
गोकुल बसत सग गिरधर के कबहुँ बयारि लगी नही ताती।
तब की कथा कहा कहौं, ऊधौ, जब हम बेनु-नाद सुनि जाती॥
हरि के लाड गनति नहिं काहू निसिदिनि सुदिन रास रस भाती।
प्राननाथ तुम कबधौ मिलौगे सूरदास प्रभु बाल सघाती॥"

(२) 'उद्धवशतक' मे रत्नाकर ने कृष्ण की पाती के आने का समाचार सुन गोपियो की प्रतिक्रिया का अत्यन्त मार्मिक एव हृदयग्राही वर्णन प्रस्तुत किया है। उनके द्वारा रचित छन्द इस प्रकार है—

"भेजे मन भावन की, ऊधव के आवन की,
सुधि ब्रज गाँवनि मे पावन जबै लगी।
कहै रतनाकर गुवालिनि की झौरि झौरि,
दौरि दौरि नन्द पौरी आवन तबै लगी।
उझकि उझकि पद कजन के पजनि पै,
पेखि पेखि पाती छाती छोहनि छवै लगी।
हमको लिख्यौ है कहा, हमको लिख्यौ है कहा,
हमको लिख्यौ है कहा, कहन सबै लगीं।।"

रत्नाकर जी के उक्त पद मे अद्‌भुत कलात्मक सौन्दर्य है किन्तु सूर का सा भाव सौन्दर्य इसमे उपलब्ध नही होता।

अलकार—(१) 'अपने-अपने'—पुनरुक्ति प्रकाश।
(२) 'नयनन नीर निरखि नहिं'—अनुप्रास।
(३) 'नयनन...सुहाई'—विभावना।

सुनु गोपी हरि को संदेस।
करि समाधि अतर-गति चितवौ प्रभु को यह उपदेस॥
वै अविगत, अविनासी, पूरन, घट-घट रहे समाय।
तिहि निश्चय कै ध्यावहु ऐसे सुचित कमलमन लाइ॥
यह उपाय करि बिरह तजौगी मिलै ब्रह्म तब आय।
तत्वज्ञान बिनु मुक्ति न होई निगम सुनावत गाय॥
सुनत सँदेस दुसह माधव के गोपीजन बिलखानी।
सूर बिरह की कौन चलावै, नयन ढरत अति पानी॥१६८॥

शब्दार्थ—अन्तरगति=हृदय मे। समाय=समाए हुए हैं, बुद्धिमान हैं। कै=करके। ध्यावहु=ध्यान करो। सुचित=स्वस्थ-चित्त होकर। निगम=वेद। दुसह=असह्य। बिलखानी=विलख-विलख कर रोने लगी। ढरत=बहाने लगे।

प्रसंग—उद्धव ब्रज मे पहुँच गए है और उनकी कुशल-क्षेम पूछने के बाद

कृष्ण द्वारा भेजा गया निर्गुण-ब्रह्म का सन्देश गोपियों को सुनाते हुए कह रहे हैं—

व्याख्या—हे गोपियो ! कृष्ण का सन्देश सुनो। तुम्हारे स्वामी कृष्ण का तुम्हारे लिये यह उपदेश है कि तुम ध्यानस्थ होकर अपने हृदय मे ब्रह्म को पाने का प्रयत्न करो। उनका कहना है कि ब्रह्म कभी न नष्ट होने वाला, अगम्य, परिपूर्ण एवं अखण्ड है। वह ससार के कण-कण मे विद्यमान है। इसलिये यदि तुम समाधिस्थ होकर उसे अपने हृदय मे ढूँढोगी तो तुम्हे अवश्य उसके दर्शन हो जायेंगे। तुम अपने चित्त को स्थिर कर ब्रह्म के उक्त स्वरूप मे दृढ़ आस्था रखो तथा अपने हृदय-कमल को उसके चिन्तन में लीन करो तभी तुम्हारा कल्याण सम्भव है। इसलिये तुम स्थितप्रज्ञ होकर अपने चित्त को ब्रह्म मे लीन करो, तभी तुम्हे उसकी अनुभूति हो सकती है। कवि के कहने का अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार योगी कमल के रूप मे स्वीकार्य षट्चक्रो को भेदन करता हुआ सहस्र कमल में पहुँच जाता है और इसी स्थिति मे उसे ब्रह्म की प्राप्ति होती है, उसी प्रकार तुम भी मन एव इन्द्रियों को दमन करके उन पर अपना अधिपत्य स्थापित करो। ऐसी स्थिति पर पहुँचते ही तुम्हे ब्रह्म प्राप्त हो जायेगा। उक्त साधना रूपी उपाय को जब तुम करोगी तो तुम्हे कृष्ण-विरह की लौकिक पीडा की भावना से छुटकारा मिल जायेगा और तब तुम ब्रह्म से एकाकार हो जाओगी अर्थात् ब्रह्म को प्राप्त कर लोगी। इस सृष्टि के आरम्भ से ही वेद पुकार-पुकार कर कह रहे हैं कि ब्रह्म प्राप्ति सम्बन्धी इस सच्चे ज्ञान को जाने विना भवसागर से मुक्ति पाना सम्भव नही।

उद्धव के मुख से कृष्ण द्वारा भेजा गया यह असह्य सन्देश सुनकर गोपियाँ अत्यन्त व्याकुल हो गईं और बिलख-बिलख कर रोने लगी। अब वे उद्धव से अपनी विरह-व्यथा की बातें करना बिलकुल भूल गई थी क्योकि कृष्ण की स्मृति हो जाने के कारण वे प्रेम विह्वल हो गई थी और उनकी आँखो मे धारा-प्रवाह पानी वह रहा था।

विशेष—(१) प्रस्तुत पद योग एवं निर्गुण ब्रह्म आदि के सिद्धान्त विवेचन के कारण शुष्क हो गया है किन्तु अन्तिम दो पक्तियों मे गोपियो की कोमल-भावना ने इसे कोरे सिद्धान्त-विवेचन से कुछ-कुछ बचा लिया है।

(२) उक्त तीन-चार पदों से यह सिद्ध हो जाता है कि 'सूरसागर' मुक्तक काव्य रचनाओं का संग्रह है न कि एक सुगठित प्रबन्ध रचना। 'भ्रमर गीत' के आरम्भ में ऐसे काव्य पद आए हैं जब उद्धव के व्रज पहुँचने से लेकर हरि के योग-ब्रह्म सन्देश तक की कथा का वर्णन मिलता है। तदुपरान्त गोपियों के निर्गुण-ब्रह्म-सम्बन्धी खण्डन पर पदों का संग्रह है। फिर १६५वें पद से कवि पूर्व कथा को दोहरा रहा है। सम्भवतः यह पुनरावृत्ति सम्पादन दोष हो किन्तु मूल पुस्तक 'सूरसागर' में ये पद 'भ्रमर गीत' के मध्य में ही उपलब्ध होते हैं। इसी आधार पर 'सूरसागर' को मुक्तक रचना स्वीकार किया गया है।

अलंकार—पूर्णपद में अनुप्रास और अतिशयोक्ति अलंकार हैं।

मधुकर ! भली सुमति मति खोई।
हाँसी होन लगी या ब्रज में जोगै राखौ गोई॥
आतमराम लखावत डोलत, घट-घट व्यापक जोई।
चापे काँख फिरत निर्गुन को, ह्याँ गाहक नहिं कोई॥
प्रेम-बिथा सोई पै जानै जापै बीति होई।
तू नीरस एती कह जानै ? बूझि देखिबे ओई॥
बड़ो दूत तू, बड़े ठौर को, कहिए बुद्धि बड़ोई।
सूरदास पुरीषहि षटपद ! कहत फिरत है सोई॥१६६॥

शब्दार्थ—सुमति=श्रेष्ठ बुद्धि। जोगै=योग सम्बन्धी अपने ज्ञान को। गोई=छिपाकर। आतमराम=अन्तर्यामी आत्मा; ब्रह्म। लखावत डोलत=दिखाते फिरते हो। चापे=दबाये हुए। काँख=बगल में। गाहक=ग्राहक, खरीदार। एती=इतनी, ऐसी। ओई=वही। बड़ोई=बढ़ा-चढ़ाकर। पुरीषहि =पुरीष, विष्टा या मल।

प्रसंग—उद्धव से योग-सन्देश सुनकर गोपियों को यह आशंका होती है कि कृष्ण ने यह सन्देश नहीं भेजा। यह तो उद्धव की ही बुद्धि भ्रष्ट हो गई है जिससे स्वयं ही बक-झक कर रहा है। भ्रमर के माध्यम से वे उद्धव से कह रही हैं।

व्याख्या—हे उद्धव रूपी भ्रमर ! तुम्हें यह अच्छा ज्ञान का प्रकाश हुआ है कि तुम अपनी साधारण बुद्धि जन्य व्यवहार को भी भुला बैठे हो अर्थात

ब्रह्म ज्ञान के रूप मे श्रेष्ठ बुद्धि को पाते ही तुम सठिया गये हो और अनर्गल बाते कर रहे हो। तुम्हे उचित-अनुचित का भी ज्ञान नही रहा। तुम्हारी इस स्थिति पर सारे व्रज मे तुम्हारा मजाक उड़ाया जा रहा है, अतः तुम अपने योग और निर्गुण-ब्रह्म-सम्बन्धी अपने उपदेश को कही छुपाकर रखो जिस से लोग तुम्हारी हँसी न उड़ायें। तुम अपने योग द्वारा लोगो को ब्रह्म के दर्शन कराते फिरते हो और साथ मे यह भी कह रहे हो कि यह ब्रह्म घर-घर मे व्याप्त हे। यदि ऐसा है तो फिर तुम्हारे योग की क्या आवश्यकता है, हम स्वय ही ब्रह्म के दर्शन कर लेगी। तुम अपने निर्गुण ब्रह्म के उपदेश को पोटली के रूप मे बांधकर बगल मे दबाये फिरते हो और इसे बेचने के लिये ग्राहक की तलाश कर रहे हो। वस्तुत. हमारे लिये यह एक गुणहीन वस्तु है, इसलिए यहाँ इसका कोई खरीदार नही। अत तुम्हारे लिए यही उचित है कि इसे लेकर वापिस लौट जाओ, यहाँ तुम्हारे चँगुल मे फँसने वाला कोई नही।

रे भ्रमर! तू प्रेम की पीडा को क्या जानेगा और क्या समझेगा? प्रेम की पीडा को वही जान सकता है, जिसने स्वय प्रेम किया हो और अपने प्रिय के वियोग मे पीडा को भोगा हो। परन्तु तू निष्ठुर है और अपने शुष्क स्वभाव के कारण प्रेम की पीडा का मर्म क्या जाने? यदि इसे जानना चाहता है तो अपने स्वामी कृष्ण से जाकर पूछ जिसने तुझे यहाँ निर्गुण-ब्रह्म का उपदेश देने के लिये भेजा है। उसने हमसे प्रेम किया है और उसे इसकी पीडा का अनुभव है। अब हम तुझे क्या कहे? तू राजदूत है और फिर अत्यन्त विद्वान् है और फिर राजधानी से आया है, हमारे लिए वैसे भी पूज्य है, अतः तू जो भी बात करेगा, वह समझदारी की ही बात होगी। वस्तुत ठीक बात यह है कि तू गुबरीला जाति के कीडे के समान मल मे रहने वाला है, अत तू तो उसी मल की चर्चा करता फिरता है, तुझसे श्रेष्ठ बात की आशा करना व्यर्थ है। जाति का प्रभाव छूटना असभव है। गोपियो के कहने का तात्पर्य यह कि ब्रह्म चर्चा गोबर के समान नीरस और त्याज्य है, जबकि कृष्ण का प्रेम अमृत के समान सुमधुर एवं ग्रहणीय है। उद्धव को क्योंकि ब्रह्म की आराधना का ही अनुभव था, इसलिए वे सबके सम्मुख इसका ही गुण गाते फिरते है।

विशेष—(१) गोपियाँ निर्गुण ब्रह्म को गोबर के समान नीरस एवं त्याज्य घोषित करते हुए उस पर तीक्ष्ण व्यग्य कर रही है।

(२) इस पद मे शकर के अद्वैतवाद का खण्डन किया गया है।

(३) 'प्रेम-बिथा······होई'—इस पक्ति मे प्रसिद्ध लोकोक्ति 'जा तन लागे वही तन जाने, और न जाने कोय' को काव्य बद्ध किया गया है।

(४) अन्तिम दो पक्तियो मे 'षटपद' शब्द के प्रयोग द्वारा भ्रमर के माध्यम से उद्धव पर भयानक व्यग्य किया गया है। उन्हे महान्, दूत और राजधानी का निवासी बताकर उस पर गहरी चोट की गई है। वस्तुत: गोपियो को इस बात का दु:ख है कि उद्धव कृष्ण के सान्निध्य मे रहते हुए भी प्रेम की पीडा से परिचित नही है और निर्गुण-ब्रह्म का राग अलापते फिरते है।

अलकार—(१) 'निर्गुण'······श्लेष।

(२) 'बडो दूत···बडोई'—विपरीतलक्षणा।

(३) सम्पूर्ण पद मे अन्योक्ति अलकार है।

सुनियत ज्ञान-कथा अलि गात।
जिहि मुख सुधा बेनुरवपूरति हरि प्रति छनहिं सुनात ॥
जहँ लीलारस सखी-समाजहिं कहत कहत दिन जात।
बिधिना फेरि दियो सब देखत, तहँ षटपद समुझात ॥
बिद्यमान रसरास लड़ैते कत मन इत अरुझात ?
रूपरहित कछु बकत वदन तें मति कोउ ठग भुरबात ॥
साधुबाद स्रुतिसार जानिकै उचित न मन बिसरात।
नँदनदन कर-कमलन की छबि मुख उर पर परसात ॥
एक एक तें सबै सयानी ब्रजसुंदरि न सकात।
सूर स्याम रससिंधुगामिनी नहिं वह दसा हिरात ॥१७०॥

शब्दार्थ—वेनुरवपूरित=वंशी की ध्वनि से परिपूर्ण। प्रति छनहिं=प्रतिक्षण मे। जात=समाप्त हो जाता है। बिधिना=विधाता। षटपद=छः पैरो वाला, भ्रमर। समुझात=समझाता है। बिद्यमान=रहते हुए। अरुझात=उलझता, आकर्षित होता। बदन=मुख। भुरबात=भुलाता है, भुलावे मे डालता है। स्रुतिसार=वेदो का तत्व। कर=हाथ। छबि=शोभा। परसात—स्पर्श करती है। सकात=डरती है। हिरात=खोती, भूलती।

प्रसग—उद्धव के योग एव निर्गुण-ब्रह्म के उपदेश से गोपियो को मर्मान्तक पीड़ा हुई है। इस समय वे कृष्ण के सानिध्य मे प्राप्त सुख की वर्तमान दु.ख से तुलना कर कृष्ण प्रेम मे अपनी दृढ निष्ठा का प्रकाशन कर रही हैं।

व्याख्या—गोपियाँ परस्पर बातचीत करते हुए एक-दूसरे से कह रही है—हम भ्रमर अर्थात् उद्धव द्वारा कही ज्ञान कथा को सुन रही है। यह कितनी अजीब और अनहोनी बात है कि उद्धव अपनी नीरस ज्ञान कथा इसी स्थल पर बैठ कर सुना रहे हैं, जहाँ कृष्ण पहले-पहल अपने सुन्दर मुख से प्रतिक्षण अमृत के समान मधुर एव सुखदायक वशी की तान सुनाया करते थे। वशी की इस मधुर तान को सुनकर व्रज का समस्त वायुमण्डल गुँजित हो उठता था और समस्त वातावरण मधुरता से भर जाता था। इसी स्थान पर ही बैठकर हम सखियाँ कृष्ण द्वारा की गई रास-लीलाओ की चर्चा करते-करते सारा दिन व्यतीत कर देती थी और तनिक भी थकान का अनुभव नही करती थी। कृष्ण लीलाओ की चर्चा करते हमे आनन्द प्राप्त होता था। हमारे देखते-देखते ही विधाता ने हमारे वे दिन बदल दिए है। अब कृष्ण यहाँ से चले गये हैं जिससे हमारे जीवन मे कोई रस-आकर्षण नही रहा। देखो! अब भाग्य ने कैसा पलटा खाया है कि जो स्थान हमारे सुख-आनन्द का प्रतीक था अब दु:ख एवं पीड़ा का कारण बन गया है क्योकि उद्धव ने अपना योग-सन्देश देने के लिए उसी स्थल का चयन किया है। यह भाग्य की विडम्बना ही है कि उसी स्थल पर ही यह षटपद् भ्रमर हमे नीरस योग की शिक्षा दे रहा है किन्तु इसे यह ज्ञान नही कि हमारा रास-क्रीड़ा का लाडला कृष्ण अभी विद्यमान है और उसके रहते हुए हमारा मन इसकी बातो मे कैसे उलझ सकता है। हमारा मन रास-क्रीड़ा निपुण कृष्ण की रूप माधुरी मे उलझा हुआ है, उनके रहते हमारा इस निर्गुण-ब्रह्म के प्रति आकर्षित होना असम्भव है। यह उद्धव रूपी **भ्रमर** किसी रूप विहीन ब्रह्म के सम्बन्ध मे अपने मुख से कुछ बकबक किये चला जा रहा है जैसे कोई ठग लूटने के उद्देश्य से लोगों को अपनी चिकनी चुपडी बातो मे लगाकर भुलावे मे डाल देता है और गाँठ का टका-पैसा ठग कर ले जाता है किन्तु यह उद्धव स्वय नादान है और नही जानता कि यहाँ इसकी कोई चाल सफल होने वाली नही।

वस्तुत: हम उद्धव की कृतज्ञ है और इन्हे साधुवाद देती है क्योंकि इनका

योग एव ब्रह्म सम्बन्धी उपदेश महान है। हम यह स्वीकार करती हैं कि यह उपदेश वेदो का सार होने के कारण श्रेष्ठ है, मुक्ति दिलाने वाला है, अतः यह हमारे हित मे है कि हम इसे स्वीकार कर ले किन्तु हम बाध्य है हमारा मन कृष्ण मे उलझा हुआ है और उन्हे भुला पाने मे सर्वथा असमर्थ है। नन्दनन्दन कृष्ण की कमल के समान सुकोमल हाथों की छवि सदैव हमारे हृदय और मुख को स्पर्श करती रहती है। अर्थात् वे अपने सुकोमल हाथो से सदा हमारे शरीर को छूकर आनन्दित किया करते थे। अब उनकी अनुपस्थिति मे हमारा हृदय तो उस आनन्द की स्मृति मे खोया रहता है और मुख उसी आनन्द का गुणगान किया करता है। अत: हे उद्धव! तुम जितना भी श्रम करो, अपने ब्रह्म को बढा-चढाकर बताओ, उसकी शक्ति एव सामर्थ्य का गुणगान करो किन्तु हम ब्रजनारियाँ सभी एक-से-एक बुद्धिमती है, न तो तुम्हारी बातो मे ही आयेगी और न ही तुम्हारे ब्रह्म की प्रभुता को ही स्वीकार करेगी। ब्रज की गोपियाँ उस नदी के समान है जो अपने प्रियतम सागर से मिलने के लिये सदा एक ही दिशा मे धारा-प्रवाह बढती रहती है और कभी भी अपने मार्ग से नही भटकती। अर्थात् ब्रज ललनाये अपने प्रियतम प्रेम के सागर कृष्ण के प्रति हर दशा मे अनुरक्त हैं और इस प्रेम मार्ग को त्याग कर निर्गुण-ब्रह्म को स्वीकार नही कर सकती।

विशेष—(१) गोपियो को इस बात का दुःख है कि जहाँ कभी कृष्ण-प्रेम की चर्चा होती थी, वहाँ उद्धव अपने योग का उपदेश दे रहे हैं। ब्रजवासी सदा प्रेम-मार्गी रहे हैं, अतः यहाँ निर्गुण-ब्रह्म की चर्चा अनुचित है।

(२) उद्धव का योग एव निर्गुण-ब्रह्म वेदो का सार होने के कारण श्रेष्ठ है, गोपियाँ उनके प्रति आभारी हैं कि ऐसे ब्रह्म का परिचय उद्धव ने उन्हे दिया किन्तु वे उसे स्वीकार करने मे असमर्थ हैं क्योकि उन्हे मुक्ति नही प्रिय का साहचर्य चाहिये।

(३) इस प्रकार प्रस्तुत पद मे एक बार फिर कृष्ण के प्रति गोपियो की दृढ़ प्रेम निष्ठा व्यक्त हुई है।

अलंकार—'सूर......दसा हिरात' मे रूपक अलंकार है।

ऊधो ! इतनी कहियो जाय।
अति कृसगात भई हैं तुम बिनु बहुत दुखारी गाय ॥

जल समूह बरसत अँखियन ते, हूँकत लीने नाँव।
जहाँ जहाँ गोदोहन करते ढूँढ़त सोइ सोइ ठाँव ।।
परति पछार खाय तेहि तेहि थल अति व्याकुल ह्वै दीन।
मानहुँ सूर काढ़ि डारे है बारि-मध्य ते मीन ।।१७१।।

शब्दार्थ—कृसागात=शरीर से दुर्बल। दुखारी=दुःखी। हूँकत=हुँकारती हैं। नाँव=नाम। गोदोहन=दूध दोहना। सोइ-सोइ=वही। ठाँव=स्थान। परति पछार=पछाड़ खाकर गिर पड़ती हैं। तेहि=उसी। काढि डारे=निकाल कर बाहर डाल दी है। बारि-मध्य=पानी मे से। मीन=मछलियाँ।

प्रसंग—गोपियो को इस बात का ज्ञान था कि कृष्ण अपनी गायो से बहुत स्नेह रखते थे। इसलिए वे उद्धव द्वारा गायो की व्याकुलता का सन्देश भेज रही है कि सम्भवत. कृष्ण पुन ब्रज लौट आएँ।

व्याख्या—गायो की दुर्वलता एव व्याकुलता का वर्णन करते हुए गोपियाँ उद्धव से कह रही है कि हे उद्धव ! तुम मथुरा जाकर कृष्ण से केवल इतना कह देना कि जव से वे यहाँ से गए है उनकी गाये अत्यन्त व्याकुल है। उनके विना गाये बहुत दु.खी है और अत्यन्त दुर्बल हो गई है। उनकी आँखो से सदा आँसुओं की झड़ी लगी रहती है अर्थात् कृष्ण की याद मे वे तडपती रहती हैं और जब कोई गायो के सम्मुख कृष्ण का नाम लेता है तो वे हुँकारे मारने लग जाती है। तब वे कृष्ण की स्मृति मे पृथ्वी पर लोटने लगती हैं और अपनी व्यथा को आँसू बहा कर प्रकट करती है। जिस-जिस स्थल पर कृष्ण ने इन गायो का दूध निकाला था, वे बार-बार वहाँ जाकर उनको ढूँढती है और जब कृष्ण उन्हे वहाँ नही मिलते तो उनकी दशा अत्यन्त दीन हो जाती है। वे वहाँ पर व्याकुल होकर पछाड खाकर जमीन पर गिर पड़ती है। तब उनकी दशा ऐसी हो जाती है जैसे मछलियो को पानी से निकालकर जमीन पर डाल दिया हो और वे छटपटा रही हो। उनकी यह व्याकुलता और छटपटाहट हमसे नही देखी जाती।

विशेष—(१) कृष्ण ने ब्रज मे अपने प्रवास काल मे वहा के कण-कण से प्यार किया था। व्यथित-उत्पीड़ित गायो का यह मार्मिक चित्रण इस बात का प्रमाण है।

(२) अनेक विद्वान् सूरसागर के ऐसे स्थलो को अतिशयोक्ति पूर्ण मानते

है किन्तु हमे गायो की यह व्याकुल स्थिति अस्वाभाविक नही लगती क्योकि वास्तविक जीवन मे भी कही-कही ऐसे उदाहरण मिलते है जहां पशु-पक्षी अपने स्नेहीजन के वियोग मे व्यथित देखे है। फिर महाकवि तुलसीदास ने भी तो ऐसा अनुभव किया था। राम के वनगमन पर उनके वियोग मे उनके घोड़ों की भी तो यही दशा थी। देखिए 'श्रीराम गीतावली' से उद्धृत निम्न पद—

"आली ! हौ इन्हहि बुझावो कैसे ?
लेत हिए मस्मिरि पति को हित, मातु देत सुत जैसे ॥
वार-बार हिहिनात हेरि उत, जो बोले कोउ द्वारे।
अंग लगाइ लिए वारे ते, करुनामय सुन प्यारे ॥
लोचन सजल, सदा सोवत से खात-पान विसराए।
चितवत चौकि नाम मुनि, सोचत राम सुरति उर आए ॥
तुलसी प्रभु के विरह वधिक हठि राजहँस से जोरे।
ऐसेहु दुखित देखि हो जीवति राम-लखन के घोरे ॥"

अलंकार—(१) 'सोइ सोइ'...पुनरुक्तवदाभास।
(२) 'मानहुँ'...मीन'...उत्प्रेक्षा।
(३) संपूर्णपद मे स्वाभावोक्ति अलकार है।

ऊधो जोग सिखावन आए।
सिंघी, भस्म, अधारी, मुद्रा लै ब्रजनाथ पठाए ॥
जौपै जोग लिख्यो गोपिन को, कस रसरास खिलाए ?
तवहि ज्ञान काहे न उपदेस्यो, अधर-सुधारस प्याए ॥
मुरली सब्द सुनत वन ग़वनति सुत-पति-गृह विसराए।
सूरदास सँग छांड़ि स्याम को मनहि रहे पछिताए ॥१७२॥

शब्दार्थ—पठाए=भेजा है। जौपै=यद्यपि। कस=क्यो। गवनति=जाती थी।

प्रसंग—गोपियो के मत मे योग-सदेश अनुचित है, सम्भवतः यह उनके लिए नही भेजा गया। यदि ऐसा होता तो कृष्ण उन्हें प्रेम-मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित न करते। अतः गोपियां योग की अनुपयुक्तता घोषित करते हुए कह रही हैं।

व्याख्या—हे उद्धव ! तुम हमे योग का शिक्षण-प्रदान करने के लिए

आए हो। व्रज के स्वामी कृष्ण ने योग-सम्बन्धी उपकरण-सिंधी, भस्म, अधारी, मुद्रा आदि देकर तुम्हे यहाँ भेजा है कि तुम हमे योग की शिक्षा देते हुए इन वस्तुओ की उपयोगिता और महत्व पर प्रकाश डालो किन्तु हमे तुम्हारी इन सारी बातो पर विश्वास नही आता और न ही हमे लगता है कि कृष्ण ने हमारे लिए इन वस्तुओ को भेजा है। जिन्हे अपना कर हम योगाभ्यास करे। इसका कारण यह है कि कृष्ण हमे प्रेम-मार्ग पर चलाना चाहते थे, तभी तो उन्होने हमे रास-लीलाओं मे प्रवृत्त किया और हमारे साथ यहाँ रहते हुए नित नई काम-क्रीड़ाए की। यदि उन्होने हमे योग और निर्गुण-ब्रह्म की उपासना में प्रवृत्त करना होता तो क्या पहले हमे प्रेम-मार्ग मे ले जाते। वे तो स्वय सुजान है, हमे आरम्भ से ही योग-साधना करने की शिक्षा दे सकते थे। उस समय तो वे हमारे अधरो का अमृत पान करते रहे और हमे प्रेम-पथ में बहुत दूर ले गए, तभी क्यो नही हमे निर्गुण-ब्रह्म का उपदेश दिया? यदि उन्होने निर्गुण-ब्रह्म की अनुगामिनियाँ बनाना था तो हमारे साथ रास-लीलाएँ क्यो की और क्यो प्रेमाधिक्य मे हमारे अधरो का रस पान किया और अपने अधरो का अमृत पिलाकर हमे अपने प्रेम का विश्वास दिलाया। इससे स्पष्ट है कि हमारे भाग्य मे प्रेम-पथ-गामिनी होना ही बदा है, यह योग हमारे लिए व्यर्थ है। यह हमारे लिए नही भेजा गया, अत व्यर्थ मे तुम अपना और हमारा समय नष्ट न करो।

जब कृष्ण यहाँ थे तो यमुनातट पर वन के कुंजो मे बंसी की मधुर तान को छेड़ते थे। यह मधुर तान व्रज के सम्पूर्ण वातावरण मे ध्वनित होकर हमे मतवाला बना देती थी। तब हम बावली सी बनकर अपने पति, पुत्र और घर को भुलाकर वन मे उन्हे ढूंढने निकल पड़ती थी। कैसे आनन्दमय दिन थे वे? हमे तो मन मे अब इसी बात का पश्चाताप हो रहा है कि हमने आखिर कृष्ण का साथ ही क्यो छोड़ा? यदि वे मथुरा जा रहे थे, तो हम भी उनके साथ जा सकती थी। धिक्कार है हमे! जो हमने उन्हे अकेले जाने दिया जो अब हाथ मल रही है। वस्तुतः चूक तो हमसे हो ही गई है, जिसका सुधारना अब कठिन प्रतीत हो रहा है।

विशेष—(१) गोपियो का यह तर्क कि यदि हमें योग पर आचरण करना होता तो कृष्ण हमें प्रेम-मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित न करते, सगत और

उचित है।

(२) 'जोग' शब्द का साभिप्राय प्रयोग हुआ है। इसके प्रयोग से गोपियाँ वक्रोक्ति द्वारा उद्धव पर गहरा व्यंग्य कर रही हैं कि योग उनके लिए नही है।

ऊधो ! लहनौ अपनो पैए।
जो कछु विधना रची सो भइए आन दोष न लगैए॥
कहिए कहा जु कहत बनाई सोच हृदय पछितैए।
कुब्जा बर पावै मोहन सो, हमहीं जोग बतैए॥
आज्ञा होय सोई तुम कहिबो, बिनती यहै सुनैए।
सूरदास प्रभु-कृपा जानि जो दरसन-सुधा पिवैए॥१७३॥

शब्दार्थ—लहनो=जो भाग्य मे लिखा है। पैए=प्राप्त होगा। विधना=भाग्य ने। रची=लिख रखा है। भइए=होगा। आन=अन्य, दूसरो को।

प्रसग—कृष्ण-विरह के तीव्र एव असह्य दाह से गोपियाँ भाग्यवादी बन गई है तथा अपनी पीडा के लिए भाग्य को ही उत्तरदायी मानती हुई अत्यन्त कातर और दीन बनी हुई हैं। इसी अवस्था मे ही वे अत्यन्त निराशाजनक स्वर मे उद्धव से कहती हैं—

व्याख्या—हे उद्धव ! जो कुछ किसी के भाग्य मे लिखा होता है, उसे वह भोगना ही पडता है। हमारे भाग्य मे भी विधाता ने जो कुछ लिख दिया है, वह हमे भी भी भोगना ही पडेगा। इसके लिए किसी अन्य को दोष देना उचित नही। हमारे भाग्य मे विधाता ने पहले कृष्ण-प्रेम तदुपरान्त विरह मे इस प्रकार दग्ध होना लिखा था, तो हम ऐसी अवस्था मे पहुँच गई है और सन्तुष्ट है तथा अपनी इस अवस्था के लिए किसी अन्य को दोषी नही ठहराना चाहती। हमारे भाग्य के कारण जो आज हमारी यह दशा हुई है, उसके सम्बन्ध मे हमे बार-बार सोचकर पश्चाताप करने से भी कोई लाभ नही। भाग्य के किए पर पश्चाताप करने से भी कोई लाभ नही। भाग्य की विडम्बना ही है कि कुब्जा जैसी तुच्छ दासी मोहन के समान सुन्दर पति पाने मे सफल हुई है और हमारे लिए योग का सन्देश भेजा गया है। होना तो यह चाहिए था कि कृष्ण यहाँ आते और हमे अपनाते, यह तो हमारा भाग्य ही है, अब किसी को क्या दोष दे ?

हे उद्धव ! तुम्हे कृष्ण ने हमसे जो कुछ कहने के लिए यहाँ भेजा है तुम

वह निस्सकोच हमसे कह डालो, हम सन्तोष करके उसे सुन लेगी और कदापि तुम्हे दोष नही देगी। परन्तु जब तुम लौट कर मथुरा जाओ तो प्रभु से हमारा इतना निवेदन अवश्य करना कि वे एक बार यहाँ ब्रज मे पधार कर हमे अपने दर्शन-रूपी अमृत का पान करायें, यह उनकी हम पर अत्यधिक कृपा होगी। अर्थात् हमे दर्शन देकर कृतार्थ करे। यही हमारे लिए जीवनदान है।

विशेष—(१) प्रस्तुत पद मे गोपियाँ अपना समस्त गौरव एव आत्म-सम्मान त्याग कर पूर्णरूप से दीन-हीन, कातर एव निराश बन गई है तथा अपने दुःख एव पीड़ा के लिए भाग्य को उत्तरदायी ठहरा रही है।

(२) एक पल के लिए कुब्जा के प्रति उनके मन मे असूया भाव उभरता है किन्तु दूसरे पल वे शान्त हो जाती है और भाग्यवादी बन जाती है।

अलकार—'दरसन-सुधा' मे रूपक।

ऊधो ! कहा करं लै पाती ?
जौ लगि नाहिं गोपालहि देखति बिरह दहति मेरी छाती ॥
निमिष एक मोहिं बिसरत नाहिन सरद-समय की राती।
मन तौ तबही तें हरि लीन्हों जब भयो मदन बराती ॥
पीर पराई कह तुम जानौ तुम तौ स्याम-सँघाती।
सूरदास स्वामी सों तुम पुनि कहियो ठकुरसुहाती ॥१७४॥

शब्दार्थ—जौ लगि=जब तक। दहति=दग्ध होती हुई, जलती हुई। निमिष=पल, क्षरण। सरद-समय=शरद् पूर्णिमा की। राती=रात्रि। तबही ते=उसी समय से। मदन=कामदेव। बराती=साथी। पराई=दूसरे की। कह=क्या। सघाती=साथी, मित्र। ठकुरसुहाती=चापलूसी, खुशामद।

प्रसग—उद्धव के चिट्ठी के रूप मे बार-बार योग का सन्देश देने से गोपियाँ झुँझला उठती है और परेशान हो जाती है और उनके हृदय की असह्य वेदना मुख से फूट पडती है—

व्याख्या—हे उद्धव ! कृष्ण द्वारा भेजी हुई इस चिट्ठी को तुम्हारे हाथो से लेकर हम क्या करे ? इससे तो हमारा कोई भला होने वाला नही। इसने तो हमारे दाह को कम करने के बजाय और बढा दिया है। हमे योग-सन्देश नही सुनना। हमारी विरह की अग्नि तो तभी शान्त होगी जब हम कृष्ण के दर्शनो का लाभ उठायेगी। जब तक हमे कृष्ण के दर्शन नही होते तब तक

हमारी छाती इसी प्रकार विरहाग्नि में दग्ध होती रहेगी। हमे शरद-ऋतु की पूर्णिमा वाली वे रात्रियाँ एक पल के लिए भी नही भूलती जब हम शरद्-कालीन चाँदनी में कृष्ण के साहचर्य मे होती थी, पल-पल हमारा आनन्ददायक था, सदा रास-क्रीड़ाओ मे निमग्न रहती थी। जब कृष्ण यहाँ थे, हमारे वयः सन्धि के दिन थे अर्थात् हम यौवन मे प्रवेश कर रही थी और ऐसे समय कृष्ण की मोहिनी मूर्ति ने हम में पहले-पहल काम-भावना का संचार किया था, उसी समय से हमारे मन पर कृष्ण का अधिकार हो गया था। यौवन काल में पदार्पण करते ही हम काम-पीड़ित थी कि कृष्ण ने हमारी पिपासा को शान्त कर हमारे मन को वश मे कर लिया था।

हे उद्धव! हमारी पीड़ा तुम क्या जान सकोगे क्योंकि तुम कृष्ण के साथी हो और उन्ही के समान निष्ठुर हो। कृष्ण हमे प्रेम-मार्ग मे प्रवृत्त करके वहाँ मथुरा जा बैठे है और वहाँ हमे पूर्णरूप से विस्मृत कर कुब्जा के साथ रग-रेलियाँ मना रहे है और उसके साथ भोग-विलास मे लिप्त हैं। उनके साथी होने से तुम भी वैसे ही निर्मोही हो और हमारी पीड़ा नही जान सकते। और फिर तुम खुशामद प्रिय हो, अतः हमे विश्वास है कि तुम अपने स्वामी कृष्ण के पास पहुँच कर हमारी वास्तविक स्थिति का परिचय नही दोगे अपितु उनकी चापलूसी करके ही उन्हे प्रसन्न कर दोगे, अतः तुम्हारे सम्मुख हमारा रोना-धोना व्यर्थ है, इससे कोई लाभ होने वाला नही।

विशेष—(१) 'मदन बराती' से अभिप्राय है कि जिस प्रकार बराती दूल्हे के साथ रहते हैं उसी प्रकार यौवनकाल मे काम-भावना सदा मन में उदय होती रहती है और उसके शमन के लिए मन उत्सुक एव लालायित रहता है।

(२) 'कहियो-ठुकुरसुहाती' के प्रयोग द्वारा गोपियाँ उद्धव की खुशामद-प्रियता पर व्यंग्य करती प्रतीत होती हैं किन्तु वस्तुत वे चाहती हैं कि उद्धव मथुरा जाकर कृष्ण को प्रभावित करे और उनसे खुशामद करें कि वे ब्रज आकर उन्हे दर्शन दे जिससे गोपियो को विरहजन्य पीडा से मुक्ति मिले।

(३) स्मृति सचारी भाव का उद्दीपन रूप में वर्णन हुआ है।

अलकार—अनुप्रास।

ऊधौ! विरहौ प्रेमु करै।
ज्यों बिनु पुट पट गहै न रगहि, पुट गहे रसहि परै॥

जौ आँवौं घट दहत अनल तनु तौ पुनि अमिय भरै।
जौ धरि बीज देह अंकुर चिरि तौ सत करनि फरै॥
जौ सर सहत सुभट संमुख रन तौ रबिरथहि सरै।
सूर गोपाल प्रेमपथ जल ते कोउ न दुखहि डरै॥१७५॥

शब्दार्थ—बिरहौ=विरह से भी। पुट=पुट देना अर्थात् कपडे को रगते समय रग मे सोड़ा अथवा फिटकरी मिला कर उसे पक्का करना। पट=वस्त्र। रसहि परै=रग जाता है। आँवौ=कुम्हार का आवा जिसमे बर्तन पकाए जाते हैं। घट=घड़ा। अमिय=अमृत। जौ=जब। चिरि=फटकर। फरनि फरै=फलो के रूप मे फलता है, फल लगते है। सुभट=योद्धा। रबिरथहि सरै=सूर्य लोक को जाता है।

प्रसंग—गोपियो को कृष्ण प्रेम जन्य विरह प्रिय है। यह उनके लिए कष्टदायक न होकर प्रेम में वृद्धि करता है। वस्तुत उनकी दृष्टि मे प्रेम-जन्य विरह-प्रेम की पवित्रता की अभिवृद्धि करता है। प्रस्तुत पद मे गोपियो ने अपने इसी विश्वास का प्रकाशन किया है। वे उद्धव से कह रही है—

व्याख्या—हे उद्धव ! विरह स्वय भी प्रेम करता है अर्थात् विरह प्रेम की एक प्रकार की कसौटी है। इससे प्रेम प्रगाढ़ और दृढ़ होता है। इसका कारण यह है कि वियोग मे सदा प्रियतम की स्मृति मन मे समाई रहती है और निरन्तर उसके ध्यान से निश्छल प्रेम का जन्म होता है, उसमे निर्मलता आती है और दृढता बढती है। विरह के माध्यम से ही वस्तुत. प्रेम परिपक्व होता है। जिस प्रकार वस्त्रो को रंगते समय जब तक उनमे सोडे अथवा फिटकरी का पुट नही दिया जाता, रग पक्का एव स्थायी नही बन पाता। रग के घोल मे पुट देकर जब वस्त्रो को चूल्हे पर चढा कर उबाला जाता है तभी वस्त्रो की पक्की रगाई होती है। वैसे ही कच्ची मिट्टी के घड़े बना कर आवे मे रखे जाते है और वहाँ से तपाकर जब वे बाहर निकाले जाते है तो पक्के होते है और तभी उनमे जल भरा जाता है तो वह अमृत के समान शीतल, मधुर एव जीवन दायक रूप मे परिणत हो जाता है। बीज धरती के अन्दर रखा जाता है, जल द्वारा सीचे जाने पर उसका शरीर फाड कर उसमे से अंकुर उपजता है और यही अकुर कालोपरान्त वृक्ष का रूप धारण करता है और सैकड़ो फलो के रूप मे फलता-फूलता है। जब योद्धा युद्ध क्षेत्र मे युद्ध करता हुआ अपने सीने

पर बाणो का आघात झेलता हुआ मृत्यु को प्राप्त होता है, तभी मृत्योपरात उसे सूर्य लोक प्राप्त होता है। अर्थात् कष्ट सहकर ही अभीष्ट फल की प्राप्ति की जा सकती है। इसी आधार पर विरह से प्रेम प्रगाढ होता है, उसमे स्थायित्व आता है। हे उद्धव ! विरहजन्य कष्ट सहने पर ही अभीष्ट प्रियतम की प्राप्ति सम्भव है। इसलिए व्रज मे कोई भी गोपी ऐसी नही है जो कृष्ण-विरह मे व्याकुल होकर प्रेम-मार्ग मे वहते हुए अश्रुओ से डर रही हो। अर्थात् प्रेम के कारण उत्पन्न विरह-दु ख के रूप मे वहते हुए आंसुओं से हम मे से कोई भी भयभीत नही है।

वस्तुत कृष्ण-विरह मे समस्त गोपियों के नेत्र अश्रु पूरित रहते हैं किन्तु इस व्यथा से वे दु खी नही हैं और न ही भयभीत हैं क्योकि विरह के इस काल मे उनके मन मे सदा कृष्ण की रूप माधुरी समायी रहती है। यह विरह तो उनकी परीक्षा है और उनको विश्वास है कि इससे कृष्ण के प्रति उनका प्रेम अधिक प्रगाढ होगा तथा कृष्ण उनकी अनन्यता को जानकर प्रसन्न होगे और उन्हे दर्शन देंगे जिससे उन्हे अभीष्ट-फल-कृष्ण-मिलन की प्राप्ति होगी।

विशेष—(१) प्रस्तुत पद मे पुन. प्रेम की अनन्यता की स्थापना की गई है। गोपियो के विरह मे भी कृष्ण के प्रति अनन्य प्रेम-निष्ठा सराहनीय है ?

(२) कबीर ने भी प्रियतम की प्राप्ति के लिए विरह को महत्व दिया है—

"विरहा-बुरहा जिनि कहौ, विरहा है सुलितान।
जिहि घर विरह न सचरै, सो घर सदा मसान॥"

उनके मत मे रो-रोकर ही अभीष्ट प्रियतम की प्राप्ति की जा सकती है—

"हस-हस कन न पाइये जिन पाया तिन रोय।
जो हंस-हस कता मिलै तो न दुहागिनि कोय॥"

गोस्वामी तुलसीदास ने भी स्वीकार किया है कि विपदा में भी हरिशरण प्राप्त की जा सकती है—

"सुखी मीन जह नीर अगाधा। जिमि हरि शरण न एको बाधा॥"

कविवर पन्त ने भी जीवन मे वेदना के महत्व को स्वीकार करते हुए कहा हे—

"वेदना मे ही तपकर प्राण
दमक दिखलाते स्वर्ण हुलास।"

अंग्रेजी और उर्दू काव्य मे भी विरह की महत्ता का प्रतिपादन हुआ है। देखिए निम्न उदाहरण—

"आप जितने दूर रहिए मुझसे ऐ वदा नवाज,
औ' मौहब्बत मे तरक्की ऐ सनम हो जायेगी।"

अलकार—सम्पूर्ण पद मे निम्न अलकार है—

(१) अनुप्रास।

(२) उदाहरण माला।

(३) रूपक।

ऊधो ! इतनी जाय कहो।
सब बल्लभी कहति हरि सो ये दिन मधुपुरी रहो॥
आज काल तुमहूँ देखत हौ तपत तरनि सम चंद।
सुंदर-स्याम परम कोमल तनु क्यो सहिहै नँदनद।
मधुर मोर पिक परुष प्रबल अति बन उपवन चढ़ि बोलत।
सिंह, बृकन सम गाय बच्छ ब्रज बीथिन बीथिन डोलत॥
आसन असन, बसन बिष अहि सम भूषन भवन भँडार।
जित तित फिरत दुसह द्रुम द्रुम प्रति धनुष लए सत मार॥
तुम तौ परम साधु कोमल-मन जानत हौ सब रीति।
सूर स्याम को क्यो बोलै ब्रज बिन टारे यह ईति॥१७६॥

शब्दार्थ—बल्लभी=प्रियतमाएँ, गोपियाँ। तरनि=सूर्य। सम=समान। तन=शरीर। पिक=कोयल। परुष=कठोर। वृकन=भेड़ियो। बीथिन=गलियो में। डोलत=घूमते है। आसन=घर। असन=भोजन। वसन=वस्त्र। अहि=सर्प। जित=जहाँ। तित=तहाँ। द्रुम=वृक्ष। लए=लिये हुए। सत=सैकड़ो। मार=कामदेव। बोलै=बुलाए। टारे=दूर किए। ईति=बाधा, उपद्रव।

प्रसंग—प्रकृति का सौदर्य जो सयोग की अवस्था मे सुखद होता है और काम का उद्दीपन करता है, वही वियोगावस्था मे प्रिय की स्मृति को ताजा कर देता है और इस प्रकार विरहिणी का जीवन दुखदायी बन जाता है। ब्रज मे चारो ओर वसन्त छाया है। शोभामयी ब्रज की प्रकृति गोपियो की काम-भावना को उद्दीप्त कर उनके मन में कृष्ण की याद को ताजा कर रही है

और इसलिये दु.ख एव कष्ट का कारण बनी हुई है। अपनी ऐसी विषम मानसिक स्थिति के अन्तर्गत गोपियाँ चाहती है कि कृष्ण ऐसे समय मे व्रज मे न आएँ क्योकि यहाँ उन्हे भी कष्ट होगा। वे उद्धव के सम्मुख अपनी इसी आशंका का प्रकाशन कर रही हैं।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं कि हे उद्धव! जब तुम मथुरा लौट कर जाओ तो हमारी ओर से इतनी विनती करना कि कृष्ण की समस्त प्रेमिकाएँ चाहती हैं कि कृष्ण इन दिनो मथुरा मे बने रहें, यहाँ व्रज मे न आएँ, क्योंकि यहाँ की प्रकृति अति भयंकर और कष्टकर बनी हुई है। आजकल तुम स्वय अनुभव कर रहे होगे कि यहाँ चन्द्रमा भी सूर्य के समान तप कर किस तरह गर्मी पहुंचा रहा है। उसकी अमृत के समान शीतल चाँदनी सूर्य की किरणों के समान तपकर सारे व्रज को जला रही है। जबकि हमारे सुन्दर सलोने कृष्ण अत्यन्त कोमल शरीर के मालिक हैं, अतः वे चन्द्रमा की तपती हुई चान्दनी को सहन कर पाने मे असमर्थ होगे।

जो मोर पहले नाचते-गाते थे और कोयल मधुर स्वर में कूका करती थी, अब उन्होने अपना स्वभाव बदल दिया है और अत्यन्त उद्धत्त बनकर वन-उपवनो के वृक्ष पर चढ जाती है तथा अत्यन्त कठोर स्वर मे चीखती-चिल्लाती रहती है। पहले यहाँ की गाय एवं बछडे अत्यन्त सीधे स्वभाव के थे किन्तु अब उन्होने सिंह एवं भेडियो जैसा जगली रूप धारण कर लिया है और व्रज की गलियो मे चिघाडते हुए घूमते रहते है। ऐसी स्थिति मे घर, भोजन और वस्त्र विष के समान दग्धकारी हो गये है तथा आभूषणों की पिटारी हमे साँप के समान काटने को दौडती है अर्थात् जब कृष्ण यहाँ नही है तो हमे घर भोजन, वस्त्र तथा आभूषण अच्छे नही लगते। यहाँ व्रज मे ऊँचे-ऊँचे पेडो पर सैकड़ो कामदेव धनुष-बाण लेकर घात लगाये इधर-उधर फिरते है अर्थात् वृक्षो पर वसत के कारण सुन्दर पुष्प खिले हुए हैं जिनको देखकर गोपियो के मन मे काम-भावना का उद्दीपन होता है।

हे उद्धव! तुम तो मन के कोमल परम साधु प्रकृति के श्रेष्ठ मनुष्य हो तथा सांसारिक अच्छाई-बुराई से पूर्णतया परिचित हो। अत तुम ही बताओ क्या यह हमारे लिये उचित होगा कि इस भयकर परिस्थिति मे अपने प्रिय कृष्ण को यहाँ बुला ले? पहले प्रकृति की इन बाधाओ को दूर करना होगा

तभी तो कृष्ण को यहाँ बुलाएँगी, अन्यथा ये उन्हे भी कष्ट देंगे।

विशेष (१) 'आज······बोलत'—विरह में चन्द्रिका और मोर-कोयल का नाच-गाना कामोद्दीपन का कारण होता है। इसलिये कामोद्दीप्त विरहिणी इन्हे भयकर वता रही है।

(२) 'सिह······डोलत—गायो एव बछड़ो को देखकर गोपियों में कृष्ण की याद ताजा हो आती है जिससे वे व्यथित हो जाती है। इसलिये उन्हे गाय, बछड़े भले नही प्रतीत हो रहे।

(३) प्रकृति के उपकरणो का वर्णन उद्दीपन रूप मे हुआ है जो अत्यन्त अभिव्यंजनात्मक है।

(४) कतिपय आलोचक इस पद मे अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि का चमत्कार मानते है किन्तु उनका यह अभिमत उचित नही जान पडता क्योंकि गोपियाँ कृष्ण के विरह मे दग्ध हैं और मादक वसन्त उनमे काम वासना जगाकर कृष्ण की स्मृति दिला रहा है जिससे वे भी व्यथित हो गई हैं। सयोगावस्था मे सहायक प्रकृति का यह मादक रूप वियोगावस्था मे यदि दुखदायी प्रतीत हो तो कोई अन्योक्ति नही। वस्तुतः सूर का गोपियो की इसी विषम मानसिक स्थिति का चित्रण अत्यन्त कलापूर्ण एव सवेदनशील है।

(५) रत्नाकर की गोपियो को भी मादक वसन्त दुःखदायी प्रतीत हुआ था। देखिये निम्न पक्तियाँ—

"ऊधो यह सूधौ सो संदेसो कहि दीजो भलो,
हरि सौं हमारे ह्याँ न फूल वन कुज है।
किंसुक, गुलाव, कचनार औ, अनारन की,
डारन पै डोलत अगारन के पुज है॥"

अलंकार—'आसन······भडार' मे शब्द-मैत्री।

जौ पै ऊधो ! हिरदय माँझ हरी।
तौ पै इति अवज्ञा उनपै कैसे सही परी ?
तवहि दवा द्रुम दहन न पाये, अब क्यों देह जरी ?
सुंदरस्याम निकसि उर तें हम सीतल क्यों न करी ?
इंद्र रिसाय वरस नयनन मग, घटत न एक घरी।
भीजत सीस भीत तन काँपत रहे, गिरि क्यों न धरी ?

कर कंकन दर्पन लै दोऊ ,अब यही अनख मरी।
एतो मान सूर सुनि योग जु बिरहिनि बिरह धरी ॥१७७॥

शब्दार्थ—मांझ=मे, मध्य मे। अवज्ञा=अवहेलना, उपेक्षा। दवा=दावाग्नि। द्रुम=वृक्ष। दहन=जला। रिसाय=क्रुद्ध होकर। मग=मार्ग, रास्ते से। सीत=सर्दी, ठण्ड। भीत=भय से। गिरि=पर्वत। अनख=कुढन। मान=सम्मान। धरी=धारण करना। ककरण=कगन।

प्रसग—उद्धव के यह कहने पर कि कृष्ण ही ब्रह्म हैं और इसी रूप मे सब के हृदय मे निवास करते हैं तो गोपियां इन्द्र के क्रोध से कृष्ण द्वारा ब्रज की रक्षा और गोवर्धन पर्वत का उगली पर उठा लेने की चर्चा करते हुए कहती है कि यदि यह सही होता तो कृष्ण प्रस्तुत विपत्ति मे शात न बैठे रहते अपितु हृदय मे से निकल विरह-दाह से हमे छुटकारा दिला देते।

व्याख्या— हे उद्धव ? तुम्हारे कथनानुसार कृष्ण रूप मे ब्रह्म हमारे हृदय मे निवास करता है। किन्तु हमे इस पर विश्वास नही होता क्योकि यदि यह सच होता तो वह हमारी इतनी अवहेलना सहन न कर पाते, तुरन्त हमारे हृदय मे से बाहर निकलते और हमारी रक्षा के लिये तत्पर हो जाते। पहले जब वे यहां थे तो हमे सकट मे देखकर तुरन्त दौडे चले आते थे। उनके यहां रहते जब दावाग्नि ने सारे जगल को निगल लिया था तो उन्होने इस भयानक सकट से ब्रज को बचा लिया था, किसी का बाल बांका नहीं हुआ था। यहां तक कि कोई वृक्ष भी जल नही पाया। उन्होने क्षण भर मे अपनी शक्ति से दावाग्नि को शान्त कर दिया था। परन्तु अब जबकि उनकी विरहाग्नि मे जल कर हमारा शरीर दग्ध हो रहा है तो सुन्दर श्याम हमारे हृदय से निकल कर हमे दर्शन देकर हमारे हृदय और शरीर को शीतल क्यो नही करते और जब इन्द्र ने क्रुद्ध होकर मूसलाधार वर्षा की तो कृष्ण ने गोवर्धन पर्वत को अपनी उँगली पर झेलकर इस विपत्ति से सारे ब्रज की रक्षा की थी। अब जबकि इन्द्र क्रुद्ध होकर निरन्तर हमारे नेत्रो के मार्ग से बरसता रहता है अर्थात् हम कृष्ण-वियोग मे निरन्तर अश्रुधारा बहाती रहती है और एक क्षण के लिये भी हमारे नेत्र बन्द नही होते। इस अश्रुरूपी वर्षा से हमारा तन बदन जब भीग जाता है और ठण्ड एव शीत के कारण हम ठिठुरती एव कापती रहती है, ऐसे समय मे वह हमारे हृदय से निकल कर हमारी-रक्षा क्यो नही करते ? उन्हे यह क्यो

भूल जाता है वह गोवर्धन पर्वतधारी है, और जब ब्रज बालाये पुन: वैसी ही विपत्ति मे घिरी हैं तो वहाँ जाकर दर्शनो द्वारा उनके विरह-दाह को हरले। उनके दर्शन पाकर ही तो हमारे नेत्र शांत होगे।

हे उद्धव ! उनके विरह में सूख कर हम इतनी क्षीण हो गई हैं कि हमारी कलाई मे पड़ा कगन ढीला हो गया है तथा दर्पण हमे अपना मुख पीला और निष्प्रभ दिखाई देता है। इन दोनो स्थितियो के कारण हमारे मन में कुढ़न उत्पन्न हो गई है कि हमे कुछ भी अच्छा नही लगता। कैसा सुन्दर और सलौना शरीर था हमारा और अब उसकी ऐसी गति हमसे देखी नही जाती। हे उद्धव ! इतना दु ख झेलने पर भी हम सन्तुष्ट हैं। हमारी दृष्टि मे कृष्ण-विरह का तुम्हारे योग से अधिक महत्व है तभी तो हम विरहिणियाँ इसे सदैव धारण किये रहती है अर्थात् कृष्ण-विरह मे सदैव दग्ध होते हुए भी उन्हे त्याग तुम्हारे निर्गुण की ओर उन्मुख नही होती।

विशेष—(१) प्रस्तुत पद मे अप्रत्यक्ष रूप से निर्गुण-ब्रह्म का खण्डन और सगुणोपासना के महत्व की स्थापना की गई है।

(२) इस पद मे कवि ने परोक्ष रूप से पुष्टि मार्ग मे चर्चित विरह का वर्णन करते हुए गोपियो द्वारा अन्तिम पक्ति मे उसकी महत्ता की प्रतिष्ठा की हैं।

(३) सम्पूर्ण पद मे सात्विक भावो की सयोजना हृदय-ग्राही है।

अलकार : अनुप्रास।

ऊधो ! इतै हितूकर रहियो।
या ब्रज के ब्योहार जिते है सब हरि सों कहियो॥
देखि जात अपनी इन आँखिन दावानल दहियो।
कहँ लौ कहौं बिथा अति लाजति यह मन को सहियो॥
कितो प्रहार करत मकरध्वज हृदय फारि चहियौ।
यह तन नहि जरि जात सूर प्रभु नयनन को वहियो॥१७८॥

शब्दार्थ—इतै=इधर अर्थात् हम पर। हितूकर=कृपालु। जिते=जितने। दहियो=जला रही है। कह लौ=कहाँ तक। बिथा=व्यथा। कितो=कितना। प्रहार=आक्रमण। मकरध्वज=कामदेव। वहियो=वहना।

प्रसग—गोपियो को आशका है कि सभवत. उद्धव

मथुरा लौटकर उनकी वास्तविकता से कृष्ण का परिचय न कराये। इसलिये वे उनकी खुशामद करती हुई उनसे प्रार्थना कर रही हैं कि उद्धव उनके हितकारी ही बने रहे और मथुरा जाकर वास्तविकता का ही वर्णन करें जिससे कृष्ण व्रज आकर गोपियो को दर्शन दे।

व्याख्या—हे उद्धव ! तुम हमारे हितैषी और हम पर कृपालु ही बने रहना। जब तुम यहाँ से मथुरा लौटकर जाओ तो कृष्ण को उन समस्त व्यवहारो का वास्तविक परिचय देना जो तुमने यहाँ देखे हैं अर्थात् हमारी विरह-व्यथा की विषमता तथा हम पर छाये प्राकृतिक सकटो की चर्चा उनके सम्मुख अवश्य करना। तुम स्वय देखकर जा रहे हो कि किस प्रकार उनकी विरहाग्नि दावानल के समान हमारे शरीर को जलाकर क्षीण कर रही हैं। हम कहा तक तुम्हारे सामने अपनी व्यथा एव पीडा का वर्णन करे ? किसी अन्य को इसके विषय मे कहते हुए भी हमे लज्जा अनुभव होती है फिर इसे कहने से लाभ भी तो कोई नही। यह तो हमारा मन ही है जो चुपचाप इस विरह व्यथा को सहन करता जा रहा है। कामदेव अपने पूर्ण दल-बल के साथ हम पर प्रहार कर रहा है और हमारा हृदय फट कर शरीर से बाहर आना चाहता है अर्थात् इस मादक प्रकृति को देखकर हम काम-पीडित हो जाती हैं। प्रिय कृष्ण की अनुपस्थिति मे हमारी काम-पिपासा शान्त नही होती। इसी पीड़ा के कारण हमारा हृदय छटपटाता रहता है, पल-पल प्यारे की याद आती है। प्राण छुटकारे के लिये शरीर को छोड़ना चाहते हैं। हमारा यह शरीर विरह-दाह मे जलकर इसलिये भस्म नही हुआ क्योकि नेत्रो से अश्रुओ के रूप मे प्रवाहित जल इसकी रक्षा कर रहा है। कहने का अभिप्राय यह है कि निरन्तर रोते रहने से व्यथा का निष्कासन होता रहता है और चित्त थोड़ा-बहुत शान्त हो जाता है।

विशेष (१) 'मकरध्वज'—कामदेव को मकरध्वज भी कहा जाता है क्योकि उसकी ध्वजा पर मकर अर्थात् मछली का चिह्न अकित होता है।

(२) प्रस्तुत पद मे गोपियो की विरह व्यथा का अत्यन्त सयमपूर्ण एवं मर्यादित अकन हुआ है।

(३) अलंकार—सम्पूर्ण पद मे काव्यलिंग।

ऊधो ! यही ब्रज बिरह बढ्यो ।
घर बाहर, सरिता, बन, उपबन, बल्ली द्रुमन चढ्यो ।।
बासर-रैन सधूम भयानक दिसि दिसि तिमिर मढ्यो ।
द्वंद करत अति प्रबल होत पुर, पय सों अनल डढ्यो ।।
जरि किन होत भस्म छन महियाँ हा हरि, मंत्र पढ्यो ।
सूरदास प्रभु नँदनंदन बिनु नाहिन जात कढ्यो ।।१७६।।

शब्दार्थ—यहि=इस । वल्ली=वेल, लता । द्रुमन=वृक्षो पर । बासर रैन=दिन और रात । सधूम=धुएँ सहित । दिसि-दिसि=प्रत्येक दिशा मे । तिमिर=अन्धकार । मढ्यो=छा गया है । द्वंद=द्वन्द, उत्पात । पुर=गाँव । पय=जल । अनल=आग । डढ्यो=बढ़ रहा है । छन=क्षण । महियाँ=में । कढ्यो=निकालना ।

प्रसंग—गोपियो द्वारा ब्रज मे व्याप्त कृष्ण-विरह के भयकर प्रभाव का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन किया जा रहा है ।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कह रही है कि हे उद्धव ! इस ब्रज मे कृष्ण-विरह रूपी दावानल चारो ओर फैलता जा रहा है और इसने समस्त वातावरण को अपने मे समेट लिया है । सम्पूर्ण ब्रज इसके प्रभाव से आक्रांत है । घर, बाहर, नदी, वन, उपवन, लताओ, वृक्षो आदि सब पर इसका साम्राज्य है, सभी इसके प्रकोप से जल रहे है जिससे दिनरात ब्रज मे एक भयानक धुआँ उठा रहता है, जिसके कारण सभी दिशाएँ अधकार से आच्छादित रहती है । कृष्ण विरह रूपी यह अनल सब स्थानो पर उत्पात मचाता रहता है और अत्यन्त प्रबल होकर सारे गाँव मे छा गया है और उसे भस्म कर रहा है । इसमे एक विलक्षण बात यह है कि जल पड़ने पर इसका शमन नही होता वलिक और अधिक प्रज्ज्वलित होता है अर्थात् कृष्ण-विरह मे दग्ध ब्रज की गोपियो की निरन्तर अश्रुधारा से भी उनके मन की व्यथा शान्त नही होती अपितु उसमे वृद्धि होती है ।

इतने भयानक विरहानल के प्रकोप मे तो सारा ब्रज अब तक जल कर भस्म हो जाता किन्तु ऐसा नही हुआ क्योकि हम लगातार 'हे हरि हे हरि' मन्त्र का जाप कर रही है अर्थात् हमारे कृष्ण के नाम को आर्त्तस्वर मे निरन्तर पुकारते रहने के कारण ही अभी तक हमारे प्राणो की रक्षा हो सकी है अन्यथा

हमारा अब तक जीवन धारण किए रहना असंभव था। किन्तु अब हमारे लिए स्थिति बडी कठिन हो गई है क्योंकि प्रिय कृष्ण के बिना इस भयकर विरहानल मे छुटकारा पाना सम्भव नही, यह विरहाग्नि कृष्ण के दर्शनो से ही शांत हो सकेगी।

विशेष—(१) कृष्ण-विरह की तीव्र व्यथा को दावानल के समान भयानक बता कर अत्यन्त अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन किया गया है जो विरह की फारसी-शैली—ऊहात्मकता जैसा है।

(२) विरह का मानवीकरण किया गया है।

अलङ्कार—(१) 'घर'''चढ्यो—मानवीकरण।

(२) 'दिसि-दिसि'—पुनरुक्ति प्रकाश।

(३) 'ब्रज बिरह बढ्यो'—अनुप्रास।

(४) 'द्रु द'''डढ्यो—विशेषोक्ति।

ऊधो! तुम कहियो ऐसे गोकुल आवै।
दिन दस रहे सो भली कीनी अब जनि गहरु लगावै॥
तुम बिनु कछु न सुहाय प्रानपति कानन भवन न भावै।
बाल बिलख, मुख गो न चरत तृन, बछरनि छीर न प्यावै॥
देखत अपनी आँखिन, ऊधो, हम कहि कहा जनावै।
सूर स्याम बिनु तपति रैन-दिनु हरिहि मिले सचु पावैं॥१८०॥

शब्दार्थ—ऐसे=इस प्रकार से। जनि=मत। गहरु=विलम्ब, देर। सुहाय=सुहाना, अच्छा लगना। कानन=वन। भवन=घर। छीर=क्षीर, दूध। प्यावै=पिलाती। जनावै=बताएँ। रैन=रात्रि। सचु=सुख।

प्रसंग—गोपियाँ अपनी विरह-व्यथा का मार्मिक एवं हृदय-द्रावक वर्णन करती हुई उद्धव की खुशामद कर रही है ताकि उद्धव किसी प्रकार कृष्ण को समझा-बुझा कर ब्रज आने के लिए तैयार कर दें।

व्याख्या—हे उद्धव! हम तुमसे प्रार्थना करती हैं कि तुम मथुरा लौट कर कृष्ण से इस प्रकार हमारा और ब्रज का वर्णन करना कि हमारे प्रति उनकी सहानुभूति उत्पन्न हो जाय और वे द्रवित होकर तुरन्त यहाँ चले आएँ और अपने दर्शनों द्वारा हमे जीवन-दान दें। तुम कृष्ण से हमारी ओर से यह कहना कि जो उन्होने कुछ काल के लिए मथुरा प्रवास किया, वह उचित था किन्तु

अब और विलम्ब न करे और तुरन्त ब्रज लौट आए। हे प्राणपति, तुम्हारे बिना यहाँ कुछ भी अच्छा नही लगता। न तो घर मे रहना सुहाता है और न ही वन-उपवन सुहाते है क्योंकि हर घड़ी तुम्हारी याद सताती रहती है। हम अपनी क्या कहे, तुम्हारे वियोग मे ब्रज के सब बच्चे रोते-बिलखते रहते है। गाये अपने मुख में घास का तिनका तक नही डालती और न ही अपने बछड़ो को दूध पिलाती है।

हे उद्धव ! यह सब कुछ तुमने स्वय अपनी आँखो से देखा है, अत· हम अपने मु ह से कह कर और अधिक क्या बताए। हम रात-दिन कृष्ण के बिना उनके विरह मे दग्ध होती रहती है और अत्यन्त व्यथित है। अब तो उनके मिलने पर ही हमे सुख-शान्ति प्राप्त हो सकेगी। अत. हमारी तुमसे यही प्रार्थना है कि किसी प्रकार समझा-बुझा कर कृष्ण को यहाँ ले आओ और उनके दर्शनो से जीवन दान दो।

विशेष—कृष्ण के विरह मे व्याकुल गोपियो की कातरता एव दीनावस्था का अत्यन्त सुन्दर चित्र प्रस्तुत किया गया है।

अलंकार—सम्पूर्ण पद मे अतिशयोक्ति अलकार है।

ऊधो ! अब जो कान्ह न ऐहै।
जिय जानौ अरु हृदय बिचारौ हम न इतो दुख सैहै॥
बूझौ जाय कौन के ढोटा, का उत्तर तब दैहै ?
खायो खेल्यो संग हमारे, ताको कहा बनैहै॥
गोकुलमनि मथुरा के वासी कौ लौ झूठो कैहै।
अब हम लिखि पठवन चाहति है वहाँ पाँति नहिं पैहै॥
इन गैयन चरिबो छांड्यो है जो नहि लाल चरैहैं।
एते पै नहिं मिलत सूर प्रभु फिरि पाछे पछितैहैं॥१८१॥

शब्दार्थ—ऐहैं=आयेगे। अरु=और। इतौ=इतना। ढोटा=पुत्र। ताको=उसका। बनैहै=बात बनायेगे। गोकुलमनि=गोकुल के स्वामी। कौलौ=कब तक। पाति नहिं पैहै=पांत मे से निकाल दिया जायेगा, कोई भोजन करने के लिए नही बुलाएगा। एते पै=इतने पर भी।

प्रसंग—पूर्व पदो मे गोपियाँ खुशामद कर रही थी कि किसी प्रकार उद्धव कान्ह को समझा-बुझा कर ब्रज ले आए। किन्तु जब उन्होने देखा कि ऐसे काम

बनने वाला नही, तो वे अब धमकी पर उतर आई हैं और कह रही हैं कि अब भी कृष्ण नही लौटेगे तो फिर उन्हे पीछे पछताना पडेगा।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं कि हे उद्धव ! अब यदि कृष्ण लौट कर व्रज नही आयेंगे तो उद्धव तुम भली-भाति अपने हृदय मे सोच-विचार कर लो कि अब तक जो विरह-व्यथा हम सहन करती रही है, उसे और अधिक बर्दाश्त नही कर सकेंगी। जब वे ही हमे इतना उपेक्षित कर रहे है तो हम कहा तक चुप बैठी रहे। बहुत हो चुका, अब तो हम मथुरा वासियो के सम्मुख उनकी असलियत उघाड कर रख देगी। यदि उनसे यह पूछा जाय कि वे किसके पुत्र है तो वह क्या उत्तर देगे। वस्तुत. उनके पास कोई उत्तर है ही नही। वहाँ तो वह राजपुत्र बने हुए है, जबकि हम जानती है कि वह एक अहीर नन्द बाबा के पुत्र है। इसके अतिरिक्त वह इतने दिन हमारे साथ रहे हैं, साथ-साथ खाया-पिया है और क्रीडा-विहार किया है। इस सन्दर्भ मे वह अपनी ओर से क्या सफाई दे सकते है। क्या ये बाते छिपने वाली है ? वह तो वस्तुतः गोकुल के नाथ है, और अनेक सकटो मे उन्होने यहाँ के निवासियो की रक्षा की है, क्या वह इस बात को झुठला कर स्वय को मथुरा का निवासी सिद्ध कर सकेंगे ? झूठ की भी आखिर कोई तो सीमा होगी ही। अब तो हमारे लिए यही उचित है कि मथुरा वासियो के नाम एक चिट्ठी लिखकर उनकी पोल खोल दे। इस प्रकार हम उन्हें बता देगी कि कृष्ण वास्तव मे यदुवशीय क्षत्रिय राजपुत्र न होकर जाति के अहीर है और गोकुल वासी नन्द बाबा के पुत्र हैं। उनका मथुरा के राजवंश और वासुदेव के साथ कोई सम्बन्ध नही। इन्होने हम अहीरनी गोपिकाओ के साथ खाया-पिया है और अनेक क्रीड़ाये की हैं। मथुरावासी यह जान कर इन्हे अपनी जाति से निष्कासित कर देगे और तब इन्हे अपने साथ पगत मे बैठा कर खाने के लिए कोई नही बुलायेगा।

गोकुल मे उनके बिना सबकी दशा चिन्तनीय है। इनके विरह मे दुखी गायो ने अपने आप चरना छोड दिया है और प्रेम विह्वल होकर आँखों मे आँसू बहाती बैठी रहती है। यदि हमारे लाडले कृष्ण इन्हे चराने के लिए यहाँ नही आयेगे तो ये भूखी-प्यासी अपनी जान दे देगी। जिस पर कृष्ण को गौ-हत्या का पाप लगेगा। हमारी इस चेतावनी के उपरान्त भी यदि वे यहाँ आकर हमसे नही मिलते तो बाद मे उन्हे पछताना पडेगा और हमारे हाथो जो उनकी हानि

होने वाली है उसका दोष और उत्तरदायित्व हम पर नही होगा । इसीलिए उचित यही है कि वे समय रहते चेत जाय और चुपचाप आकर हमसे मिले ।

विशेष—(१) प्रस्तुत पद मे गोपियाँ अपनी सारी दीनता एव कायरता को त्याग कर बुद्धि से काम ले रही है। उन्होने रोना और गिड़गिडाना छोड़ दिया है ।

(२) गोपियो का कृष्ण को धमकी देना अति मनोरजक एव अर्थगर्भित है । खुशामद को त्याग कर वे कृष्ण को धमकी से व्रज लौटा लाना चाहती है । वस्तुत यह पद उनकी विवशता एव विरह-व्यथा की अतिशयता का प्रमाण है ।

अलकार—अतिशयोक्ति ।

ऊधो ! हमै दोउ कठिन परी ।
जो जीवै तो, सुन सठ ! ज्ञानी, तन तजै रूपहरी ॥
गुन गावै तो सर्क-सनकादिक, सग धावै तो लीला करी ।
आसा अवधि संतोष धरै तौ धार्मिक व्रज-सुंदरी ।
स्यामा हैं सब सखी सुजाती पै सब बिरह-भरी ।
सोक-सिधु तरिबे को नौका जिहि मुख मुरलि धरी ।
निसिदिन फिरत निरंकुस अति बड़ मातो मदन-करी ।
डाहैगो सब धाम सूर जो चितौ न वह केहरी ॥१८२॥

शब्दार्थ—दोउ=दोनो ओर से । रूप हरी=अर्थात् कृष्ण का रूप, कृष्ण के रूप से वचित हो जाना । धावै=दौडती फिरे । स्यामा=एक नायिका का नाम, गोपियाँ, कृष्ण की अनुरागिनी । सुजाती=श्रेप्ठ । बडमातो=अत्यन्त मदमस्त । मदन-करी=कामदेव रूपी हाथी । डाहैगी=ध्वस कर देगा, चितौ=ललकारेगा, चेतावनी देगा । केहरी=सिह, कृष्ण रूपी रोग ।

प्रसंग—गोपियाँ कृष्ण के विरह मे दग्ध है । कृष्ण द्वारा योग सन्देश भेजे जाने पर वे स्वयं को विषम स्थिति मे अनुभव करती है । इनमे से किसी एक का चयन उनके लिए कठिन है । प्रस्तुत पद मे उन्होने अपनी इसी विषम अवस्था का वर्णन किया है ।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं कि हे उद्धव ! हमे तो दोनो स्थितियाँ ही कठिन प्रतीत होती हैं । न तो हम जीवित ही रह सकती है और न ही प्राण त्याग सकती हैं । रे दुप्ट ! यदि हम जीवित रहती है तो ससार

हमे ज्ञानी और बुद्धिमती कहेगा क्योकि सामान्य जन सच्चे अनुराग मे प्रिय के वियोग मे प्राण त्याग देता है और हमे भी कृष्ण-विछोह मे प्राण त्याग देना चाहिए था क्योकि हम उनकी सच्ची अनुरागिनी है। यदि हम प्राण धारण किये रहती हैं तो हमारा प्यार आतंकित होता है क्योंकि हमारी जग-हँसाई होगी और सब यही कहेगे कि स्वयं को बड़ी कृष्ण-प्रेम की अनुरागिनी कहती थी, जरा से विछोह मे अपने प्रिय कृष्ण को त्याग कर निर्गुण ब्रह्म की अनुगामिनी बन गई हैं। और यदि कृष्ण के विरह मे दुखी होकर हम अपने प्राण त्याग देती है तो हमारे नेत्र कृष्ण के रूप से विमुख हो जायेगे। अर्थात् मरणोपरान्त हम उनके दर्शन नही कर सकेगी—इस प्रकार दोनो स्थितियो मे कठिनाई अनुभव हो रही है।

यदि हम सदैव भगवान् कृष्ण के गुणो का ही गान करती रहती हैं तो यह ससार हमे शुकदेव तथा सनकादिक आदि वीतरागियो की श्रेणी मे रख कर विरक्त और विमुख समझने लगेगा। जबकि हम तो कृष्ण में पूर्णरूप से अनुरक्त हैं और विरक्तो की कोटि मे नही आती। और यदि हम कृष्ण के पीछे-पीछे भागती फिरे अर्थात् जहाँ वो जाये तो हम भी उनका अनुसरण करें तो लोग यह कहेगे कि देखो ये गोपियाँ लीला कर रही हैं अर्थात् त्रिया-चरित्र द्वारा अपने प्रेम का ढिंढोरा पीट रही हैं। अत हम ससार के उपहास का केन्द्र होगी। यदि हम यह आशा लगा ले कि कभी-न-कभी कृष्ण के विछोह की अवधि समाप्त होगी और वे व्रज लौट कर हमे दर्शन देगे तथा हमारा कष्ट हर लेगे और इस प्रकार सन्तोष कर ले तो हम समस्त व्रज की सुन्दरियाँ धार्मिक प्रवृत्ति की हो जायेगी क्योकि सन्तोष धार्मिकता का लक्षण है। वस्तुत. न तो हम ज्ञानमार्गी हैं, न विरह मे प्राण त्यागने वाली प्रेमिकाएँ है, न ही शुकदेव एव सनकादिक ऋषियो के समान संसार से विरक्त है, हम सामान्य सांसारिक नारियो के समान त्रिया-चरित्र मे भी विश्वास नही करती और न ही हम प्रत्येक स्थिति मे सन्तोष कर लेने वाली धार्मिक प्रकृति की ही नारियाँ है। हम इनमे से किसी कोटि की नही, अपितु इन सबसे सर्वथा अलग हैं।

हे उद्धव ! हम तो श्यामा जाति से सम्बद्ध सब श्रेष्ठ सखियाँ और कृष्ण-प्रेम जन्य विरह मे आकण्ठ डूबी हुई है। हम तो कृष्ण-विरह रूपी शोक-सागर मे डुबकियाँ लगा रही हैं जिससे पार पाने के लिए हमारे पास कृष्ण रूपी नौका

ही एकमात्र आलम्बन है जिस पर मुरली रखी रहती है अर्थात् मुरली बजाते हुए कृष्ण के मुख के दर्शन से हमारा बिछोह दूर हो सकता है। यहाँ व्रज मे कामदेव रूपी हाथी स्वच्छन्द होकर मतवाला बना रात-दिन घूमता रहता है। यदि कृष्ण रूपी सिंह ने आकर उसे न ललकारा तो वह व्रज मे ऊधम मचा कर सारे घरों को ध्वस कर देगा। अर्थात् कृष्ण-प्रेम से उत्पन्न विरह के कारण समस्त गोपियाँ कामाग्नि से पीड़ित है और कृष्ण यहाँ व्रज मे आकर अपने दर्शनों द्वारा उनकी काम-पिपासा को शान्त कर सकते है।

विशेष—(१) 'सठ' : उद्धव के लिए प्रयुक्त सम्बोधन उचित प्रतीत नही होता।

(२) 'स्यामा' शब्द के अनेक अर्थ है जैसे—श्याम की प्रियतमा, गोपी, श्यामा नायिका आदि परन्तु यहाँ इस शब्द के प्रयोग से कवि का श्यामा जाति की नायिका से अभिप्राय है जिसे नायिकाओ मे श्रेष्ठ कहा गया है। गोपियाँ भी कृष्ण की अनन्य अनुरागिनी होने के कारण नारियो मे श्रेष्ठ है। अतः उनके लिए श्यामा विशेषण का प्रयोग हुआ है।

(३) 'रूपहरी' : प्रस्तुत पद मे इस शब्द का सीधा-सादा अर्थ है कि गोपियाँ प्राण-त्याग देने पर कृष्ण के रूप से वंचित हो जायेंगी। कतिपय विद्वानो ने इसका अर्थ किया है कि—'भक्त स्वय हरि का रूप हो जायगा, अतः हरि-दर्शन सुख से वचित रहेगा। सगुण-भक्ति मे 'सारूप्य मुक्ति' की यह स्थिति है किन्तु सूर पुष्टि मार्ग के अनुयायी थे और पुष्टि मार्ग मे भक्त को मुक्ति की कामना नही रहती क्योकि इससे उसकी आत्म-हानि होने का भय है।

(४) सारा पद भाव-सौदर्य की दृष्टि से अद्वितीय है।

अलकार—(१) 'मदन करी'—रूपक।

(२) 'केहरी'—परिकरांकुर।

ऊधो ! बहुतै दिन गए चरनकमल-विमुख ही।
दरम-हीन, दुखित दीन, छन-छन विपदा सही॥
रजनी अति प्रेमपीर, गृह वन मन धरै न धीर।
वासर मग जोवत, उर सरिता बही नयन नीर॥

आवन की अवधि-आस सोई गनि घटत स्वास।
इतो बिरह बिरहिनि क्यों सहि सकै कह सूरदास ॥१८३॥

शब्दार्थ—रजनी=रात। गृह=घर। धीर=धीरज, हौसला। वासर=दिन। मग=रास्ता। जोवत=देखता है। सरिता=नदी। गनि=गिन कर। घटत स्वास=साँसे घट रही हैं, जीवन बीता जा रहा है। इतो=इतना।

प्रसंग—कृष्ण से बिछुडे बहुत समय व्यतीत हो गया है। उनके विरह मे गोपियां सन्तप्त हैं और उद्धव से अपनी व्यथा का वर्णन कर रही हैं।

व्याख्या—हे उद्धव ! कृष्ण के चरण-कमलो से अलग हुए बहुत समय व्यतीत हो गया है। इस काल मे उनके दर्शनो से वंचित होने के कारण हम अत्यन्त दुखी और सन्तप्त हैं तथा प्रत्येक क्षण किसी न किसी मुसीबत का शिकार हैं अर्थात् सदा किसी-न-किसी विपदा से घिरी रहती हैं। पहले जब कृष्ण यहां थे तो मुसीबतो से हमारी रक्षा किया करते थे किन्तु जब से वे यहां से गये हैं, हमारी स्थिति अत्यन्त शोचनीय हो गई है। रात्रि के समय हमें कृष्ण की याद आती है जिससे प्रेम की पीडा बढ जाती है और मन व्यकुल हो उठता है। इससे न घर मे और न वन-उपवन मे कही भी चैन नही आता। लाख यत्न करने पर भी हमारा हृदय धैर्य धारण नही कर पाता। सारा दिन मथुरा से आने वाले मार्ग पर हम उनकी आने की आशा मे राह देखती रहती हैं। हृदय मे उनकी याद समाई रहती है जिसने मन की टीस आंसुओं के रूप मे वह निकलती है।

हमे कृष्ण के व्रज लौट आने की पूर्ण आशा है। उनके आने की अवधि हम एक-एक दिन गिन कर विता रही हे और इस प्रकार हमारे जीवन की साँसे समाप्त हो रही हैं अर्थात् कृष्ण के लौटने की आशा में गोपियां दिन गिन-गिन कर अपना जीवन समाप्त कर रही हैं। हम विरहिणी गोपिया किस प्रकार इस विरह की लम्बी अवधि को सहन कर सकेंगी ? अर्थात् हमारे लिये यह विरह-वेदना अब असह्य हो उठी है। अत. दर्शन देकर हमारे कष्टों को दूर कीजिये।

विशेष—(१) विश्वास किया जाता है कि परमात्मा प्रत्येक व्यक्ति को निश्चित सासो के रूप मे आयु की अवधि प्रदान करता है। प्रत्येक साँस के साथ व्यक्ति की आयु कम होती जाती है। 'सोई गनि घटत स्वास'—मे इस

विश्वास की अभिव्यक्ति हुई है।

(२) कवि को गोपियो की विरह-व्यथा का सयम एव भावात्मक चित्र प्रस्तुत करने मे पूर्ण सफलता मिली है।

अलकार—रूपक।

> ऊधो ! कहत न कछू बनै।
> अधरामृत-आस्वादिनि रसना कैसे जोग भनै ?
> जेहि लोचन अवलोके नखसिख-सुन्दर नन्दतनै।
> ते लोचन क्यों जायँ और पथ लै पठए अपनै ?
> रागिनि राग तरंग तान धन जे स्रुति मुरलि सुनै।
> ते स्रुति जोग-सँदेस कठिन कह काँकर मेलि हनै॥
> सूरदास स्यामा मोहन के यह गुन बिबिध गुनै।
> कनक लता तें उपज न मुक्ता, षटपद ! रंग चुनै॥१८४॥

शब्दार्थ—आस्वादिनी=स्वाद चखने वाली। रसना=जिह्वा। भनै=कहे, जपे। जेहि=जिन। लोचन=नेत्र। अवलोके=देखे, दर्शन किये। नन्दतनै=नन्द तनय; नन्द बाबा के पुत्र कृष्ण। स्रुति=कान। काँकर=ककड़। मेलि हनै=डाल कर मारते है। कनक=सोना। मुक्ता=मोती। रग चुनै=चुने हुए रग।

प्रसंग—गोपियो के नेत्र कृष्ण की रूप-माधुरी पर मोहित है और उनका हृदय मुरली की मधुर तान पर दिवाना है। इस आनन्द के सम्मुख योग-साधना द्वारा प्राप्य निर्गुण-ब्रह्म त्याज्य है।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं कि हे उद्धव ! तुम्हारी योग-निर्गुण ब्रह्म सम्बन्धी असम्भव एव विलक्षण बाते सुन-सुन कर हमारे कान पक गये है और हम इसका विरोध करते-करते थक-हार गई है। अब तो हमसे कुछ कहते नही बनता किन्तु यह सत्य है कि हम तुम्हारा योग स्वीकार करने मे असमर्थ है। अब तुम्ही सोचो, विचारो कि हमारी जो जिह्वा कृष्ण के अधरो के रसरूपी अमृत का पान कर चुकी हो, वह किस प्रकार तुम्हारे नीरस और विप जैसे कडवे निर्गुण ब्रह्म का जाप कर सकती है। अर्थात् हमने कृष्ण के अधरामृत का स्वाद चखा है, उस आनन्द के सम्मुख तुम्हारा निर्गुण ब्रह्म हेय एव त्याज्य है, हम इसे स्वीकार नही कर सकती। हमारे

जिन नेत्रो ने नन्द बाबा के पुत्र कृष्ण के नख-शिख के अनुपम सौन्दर्य के दर्शन किये है, वे अब किसी अन्य मार्ग अर्थात् तुम्हारे योग-मार्ग पर चलने की कामना किस प्रकार कर सकते हैं ? अर्थात् नही कर सकते चाहे वहाँ उन्हें ब्रह्म के दर्शन ही क्यो न हो।

हमारे कानो ने सदा कृष्ण की मुरली से उत्पन्न राग-रागनियो से प्रस्फुटित अनेक मधुर तानो का वरण किया है। अब तुम हमारे इन कानों को अपना वज्र-सा कठोर योग-सन्देश सुनाकर ककर की मार के समान आघात क्यो पहुँचा रहे हो ? अर्थात् तुम्हारा योग-सन्देश कर्कश और कठोर है जो हमारे कानो को चोट पहुंचा रहा है। सूरदास जी कहते है कि इस प्रकार प्रेम-विह्वल होकर श्यामा नायिकाओ के समान श्रेष्ठ गोपियाँ कृष्ण के गुणो का गान करने लगी और फिर भ्रमर के माध्यम से उद्धव को सम्बोधित करती हुई बोली कि रे छः पैरो वाले दुष्ट एवं पंगु भँवरे ! क्या स्वर्ण की बेल से कही चुने हुए रगो वाले मोती प्रयत्न करने पर भी उगाये जा सकते है ? यह असम्भव है क्योकि न तो स्वर्णलता का ही कोई अस्तित्व है और न ही उससे मोती उत्पन्न होने की कोई सम्भावना हो सकती है—उसी प्रकार हमारा योग द्वारा प्राप्त निर्गुण-ब्रह्म को स्वीकार करना है; क्योकि हम कृष्ण की अनन्य अनुरागिनी हैं और उनके प्रेम मे अपना सर्वस्व स्वाहा कर सकती हैं।

विशेष—प्रस्तुत पद मे पुन. अनेक उदाहरणो द्वारा भक्ति की श्रेष्ठता प्रतिपादित की गई है और योग को त्याज्य घोषित किया गया है।

अलकार—रूपक और अनुप्रास।

ऊधो ! इन नयनन नेम लियो।
नंदनंदन सो पतिव्रत बांध्यो, दरसत नाहि बियो॥
इदु चकोर, मेघ प्रति चातक जैसे धरन दियो।
तैसे ये लोचन गोपालै इकटक प्रेम पियो॥
ज्ञानकुसुम लै आए ऊधो ! चपल न उचित कियो।
हरिमुख-कमल अमिय रस सूरज चाहत वहै लियो॥१८५॥

शब्दार्थ—नेम लियो=व्रत धारण किया है। दरसत=दिखाई देता है। बियो=अन्य, दूसरा। इन्दु=चन्द्रमा। मेघ=बादल। धरन=धारन करना।

लोचन=नेत्र। इकटक=टकटकी बाँध कर। ज्ञानकुसुम=ज्ञान रूपी पुष्प अर्थात् निर्गुण-ब्रह्म एवं योग-सन्देश। चपल=चंचल। अमियरस=अमृत रूपी रस। वहै=उसी को। लियो=लेना, प्राप्त करना।

प्रसंग—गोपियो ने कृष्ण के प्रति दृढ पतिव्रत धर्म को धारण किया है। इसलिए वे योग एव ज्ञान को स्वीकार नही कर सकती। ज्ञान का खंडन करती हुई वे उद्धव से कह रही है—

व्याख्या—हे उद्धव ! हमारे नेत्रो ने केवल कृष्ण की रूपमाधुरी को देखने का नियम ले रखा है। इन्होने नन्दनन्दन कृष्ण को मन ही मन अपना पति माना है और उनके प्रति दृढ़ पतिव्रत धर्म की स्थापना की है। उन्हे हर दिशा मे कृष्ण ही कृष्ण दिखाई देते हैं, ये और किसी को देखना ही नही चाहती। इनका कृष्ण के प्रति इस प्रकार का दृढ प्रेम-सम्बन्ध है जैसा दृढ़ प्रेम चकोर चन्द्रमा के प्रति, चातक मेघ के प्रति धारण करता है अर्थात् कृष्ण के प्रति इनके प्रेम मे चातक एव चकोर की-सी अनन्यता और एकनिष्ठता है। अपने प्रेम में ये नेत्र इतने दृढ़ और एकनिष्ठ है कि सदा टकटकी बाँधे गोपाल कृष्ण की ओर निहारते रहते है और इस प्रकार उनके प्रेम रस का पान करके आनन्दित होते हैं, निमिष भी पलक नही झपकते।

हे उद्धव ! योग-सन्देश के रूप मे, जो कुछ हमारे लिए ज्ञानकुसुम मथुरा से लाए हो, यह तुमने अच्छा नही किया। ऐसा करके तुमने हमारे प्रेम की अनन्यता में बाधा पहुँचाने का कार्य किया है। तुम स्वभाव से ही चचल प्रकृति के हो और इस कार्य के द्वारा तुम्हारे स्वभाव की चंचलता स्वय सिद्ध है। तुम कैसे मूढ़ हो कि अभी तक यह नही समझ पाये कि हमारे ये भ्रमर-नेत्र एकमात्र कृष्ण के मुखरूपी कमल मे अनुरक्त है और उन्ही के दर्शन रूपी अमृत रस का सदा पान करना चाहते है। वस्तुतः हमारे नेत्र एकमात्र कृष्ण के दर्शनो के प्यासे हैं। भ्रमर को केवल कमल के फूल से ही प्रेम है और वह उसके लिए जीवन तक को त्याग सकता है। वह किसी और पुष्प के पास फटकता तक नही। उसी प्रकार हम कृष्ण के साथ एकनिष्ठ प्रेम करती है, उन्हे त्याग हम तुम्हारे ज्ञान-योग द्वारा प्राप्य निर्गुण-ब्रह्म को स्वीकार नही कर सकतीं।

विशेष—(१) प्रस्तुत पद गोपियों की कृष्ण के प्रति एकनिष्ठ भक्ति का सुन्दर उदाहरण हैं।

(२) 'वियो'—इस शब्द का शाब्दिक अर्थ है अन्य, दूसरा। यह शब्द आज भी लहंदा भाषा में प्रयुक्त है और वहाँ इसका उच्चारण है—'वया'।

अलंकार—(१) 'इन्दु···पियो'—उपमा।
(२) 'प्रेम-पियो'—अनुप्रास।
(३) 'ज्ञानकुसुम'—रूपक।
(४) 'हरिमुख कमल'—रूपक।

ऊधो ! व्रजरिपु बहुरि जिए।
जे हमरे कारन नंदनंदन, हति-हति दूरि किए ॥
निसि के वेष बकी है आवति अति डर करति सकंप हिये।
तिन पय तें तन प्रान हमारे रवि ही छिनक छिनाय लिए ॥
वन वृकरूप, अघासुर सम गृह, कितहू तौ न बितै सकिए।
कोटिक कालीसम कालिंदी, दोषन सलिल न जात पिए ॥
अरु ऊँचे उच्छ्वास तृनाव्रत तिहि सुख सकल उड़ाय दिए।
केसी सकल कर्म केसव बिन, सूर सरन काकी तकिए ? ॥१८६॥

शब्दार्थ—रिपु=शत्रु। बहुरि जिये=पुनः जीवित हो गए। हति-हति=मार-मार कर। बकी=पूतना। सकंप=कम्पित। पय=दूध। छिनक=क्षण भर में। वृक=वृकासुर। बितै=व्यतीत करना। काली=कालिय नाग। कालिन्दी=यमुना। दोषन=दोष अर्थात् कालिय नाग के विष से युक्त। सलिल=जल। तृनाव्रत=तृणाव्रत नाम का राक्षस। केसी=एक राक्षस। काकी=किसकी। तकिए=देखिए।

प्रसंग—जब कृष्ण व्रज में निवास करते थे, उनको मारने के लिए कंस ने राक्षसों को भेजा था जिनका वध करके कृष्ण ने उनको निर्भय कर दिया था। अब वही राक्षस पुनः जीवित हो गए हैं और अपने उपद्रवों द्वारा व्रजवासियों को भयभीत करने लगे हैं।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं कि हे उद्धव ! मथुरा नरेश कंस द्वारा भेजे गए व्रज के शत्रु, जिनका कृष्ण ने हमारी रक्षा के उद्देश्य से वध कर दिया था, अब पुनः जीवित हो गए हैं। उन्हें अब कृष्ण के यहाँ न रहने का ज्ञान हो गया है जिससे वे निर्भय बने यहाँ घूम रहे हैं और उपद्रव कर रहे हैं। राक्षसी पूतना रात्रि का वेष धारण करके यहाँ आती है जिससे हमारा हृदय

भयभीत होकर काँपने लगता है। कृष्ण ने उसके विष से सने हुए स्तनो का पान करते-करते ही उसके प्राणो को क्षण-भर मे हर लिया था और व्रज को उसके त्राण से मुक्त कर दिया था, उसी प्रकार सूर्य उदय होकर इस रात्रि रूपी पूतना राक्षसी से हमारी रक्षा करता है। गोपियो का कहने का अभिप्राय यह है कि वे रात्रि के समय कृष्ण के विरह मे व्यथित होती है और सूर्योदय होने पर उन्हे इस व्यथा एव व्याकुलता से छुटकारा मिलता है। वन और उपवन हमारे लिए बकासुर राक्षस के समान भयावना बन गया है, वहाँ कदापि जाते नही बनता। घर अघासुर राक्षस के समान कष्टदायक बन गया है, जहाँ एक पल भी रहते नही बनता। अर्थात् कृष्ण-वियोग के कारण वन मे जा नही पाती क्योकि वहाँ जाते ही कृष्ण के साथ बिताई हुई घड़ियाँ याद आ जाती है और घर मे रह नही पाती क्योकि वहाँ कृष्ण की माखन चोरी आदि विभिन्न बाल-क्रीड़ाओ की स्मृति आ जाती है। अब हम दुविधा मे है क्योकि कही भी सुख-चैन से हमारा समय व्यतीत नही हो पाता। वन और घर जो हमारे लिए सुख-सामग्री प्रस्तुत करते थे, अब काटने को दौड़ते है। यमुना हमे कृष्ण की अनुपस्थिति मे करोड़ो कालिय नागो के समान दाहक और भयावनी प्रतीत होती है। इसका जल हमे लगता है कि विषयुक्त है। इसी भय से हम इसका पान नही कर पाती। कृष्ण के सान्निध्य मे यमुना का जो जल अमृत के समान शीतल और मधुर था अब विष के समान कड़वा है क्योकि इसको देख कर हमे कृष्ण के साथ की गई चीर-हरण जैसी लीलाएँ और जल-क्रीड़ाओ की स्मृति जाग उठती है।

तृणाव्रत राक्षस भयकर आँधी का रूप लेकर यहाँ आया था और व्रज का सर्वस्व उडा कर नष्ट-भ्रष्ट कर गया था। उसी प्रकार हमारे हृदय के तीव्र उच्छ्वासो ने तृणाव्रत के समान हमारा सभी सुख-चैन नष्ट कर कर दिया है। हम कृष्ण-विरह मे सतप्त हैं। हमारा हृदय इस व्यथा के कारण निरन्तर दीर्घ उच्छ्वास लेता रहता है जिससे हमारा समस्त सुख-चैन समाप्त हो गया है। कृष्ण के विना हमे अपने समस्त नित्यकर्म केसी राक्षस के समान कष्टकर प्रतीत होते हैं अर्थात् कृष्ण के विना अपने दैनिक कार्यक्रमो मे हमारा मन नही रमता और इनके करने मे हमे कष्ट अनुभव होता है। अत. हे उद्धव! अब तुम ही हमे उ[illegible] परामर्श दो कि हम इन व्रज शत्रुओ से [illegible] पाने के [illegible] किसकी

शरण मे जाएँ, किससे सहारा पाने की अपेक्षा करे। वस्तुतः कृष्ण ही हमारी रक्षा करने मे समर्थ हैं। जब वे यहाँ थे तो उन्होने इन राक्षसो से हमारी रक्षा की थी। अतः उनके यहाँ लौट आने पर ही इन कष्टो से हमें छुटकारा मिल सकेगा।

विशेष—(१) प्राकृतिक उपक्रमों का उद्दीपन रूप मे चित्रण हुआ है जो अत्यन्त कलात्मक है।

(२) पूतना, बकासुर, अघासुर, तृणाव्रत, केसी राक्षस कृष्ण का वध करने के लिए कंस द्वारा भेजे गए थे किन्तु कृष्ण ने उनको मार कर सारे व्रज को भयमुक्त कर दिया था। परोक्ष रूप से गोपियाँ उन्ही घटनाओ की पुनरावृत्ति करके उद्धव से अनुरोध कर रही है कि वे कृष्ण को लौटा लाएं जिससे एक बार फिर उनके कष्टो का निवारण हो सके।

(३) पूतना सुन्दर नारी का रूप धारण कर व्रज आई थी। उसके स्तन विष से सने थे। बकासुर बगुले का, अघासुर अजगर का, तृणाव्रत भयकर आँधी का और केसी घोडे का रूप धारण करके कृष्ण का वध करने आया था किन्तु ये सभी कृष्ण के हाथो मारे गए।

(४) 'तकिए'—इस शब्द का अर्थ है 'देखे'। यह एक पजाबी शब्द है और आज भी इस रूप मे पजाबी भाषा मे प्रयुक्त होता है।

अलंकार—(१) 'कोटिक···पिए'—उत्प्रेक्षा।
(२) 'इति-इति'—पुनरुक्ति प्रकाश।
(३) 'कोटिक काली सम कालिन्दी'—उपमा।
(४) सम्पूर्ण पद में रूपक अलकार है और मुद्रा अलंकार भी स्वीकार किया जा सकता है।

ऊधो! कहिए काहि सुनाए?
हरि बिछुरत जेती सहियत हैं इते विरह के घाए॥
बरु माधव मधुवन ही रहते, कत जसुदा के आए?
कत प्रभु गोप बेष व्रज धार्‌यो, कत ये सुख उपजाए?
कत गिरि धारि इद्र-मद मेट्‌यो, कत बन रास बनाए?
अब कह निठुर भए हम ऊपर लिखि-लिखि जोग पठाए?

परम प्रबीन सबै जानत हौ, तातें यह कहि आए।
अपनी कौन कहै सुनु सूरज मात-पिता बिसराए ॥१८७॥

शब्दार्थ—काहि=किसे। जेती=जितनी। सहियत=बर्दाश्त कर रही है। इते=इतने। घाए=घाव। बरु=आरम्भ से ही। मधुबन=मथुरा। कत=क्यो। गोप=ग्वाले का। मद=घमण्ड, गर्व। प्रबीन=चतुर। तातें=इसलिए।

प्रसग—गोपियाँ कृष्ण की निष्ठुरता के कारण बहुत दुःखी हैं और उनकी भर्त्सना कर रही हैं।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कह रही है कि हे उद्धव ! कृष्ण ने हमे जो-जो दुख दिए है, उनकी व्यथा हम किसे सुनाएँ ? ये दुःख अनन्त हैं। जब से हम कृष्ण से बिछुडी हैं, उनकी विरह के घावों से उत्पन्न पीड़ा को जिस प्रकार सहन कर रही है, वह हम ही जानती है। हमारी समझ मे यदि कृष्ण आरम्भ से ही मथुरा मे रहते तो श्रेष्ठ था। हम समझ नही पा रही कि वह जन्म लेते ही यहाँ क्यों चले आए। न वे यहाँ आते, न हम उनसे प्रेम का नाता जोड़ती और अब न उनकी विरह-व्यथा मे हमें दग्ध होना पड़ता। व्रज में आकर कृष्ण ने क्यो ग्वालों का वेश धारण किया था और क्यो अपनी विभिन्न बाल-क्रीडाओ द्वारा सबका मन मोह लिया था और सबको इतना सुख पहुँचाया था। क्यो उन्होने खेल-खेल मे ही गोवर्धन-पर्वत को अपनी उँगली पर धारण कर लिया था और इस प्रकार इन्द्र के मद को चूर किया था और फिर क्यो वन-उपवन मे हमारे साथ अनेक रास-क्रीड़ाएँ करके हमे अपने प्रेम-जाल मे फाँस लिया था। हमे समझ नही आती कि जब उन्होने हमे योग-मार्ग की ओर ही प्रवृत्त करना था तो पहले क्यो हमारे साथ प्रेम-सम्बन्ध स्थापित किया, हमारे साथ अनेक प्रकार की रास-क्रीडाएँ की और हमें अनन्त सुख का भोग करवाया। जाने अब वे इतने निष्ठुर क्यो हो गए है कि पुरानी सभी बातो को भुला बैठे है और मथुरा मे बैठे-बैठे हमे योग का सन्देश लिख कर भेज रहे है।

हे उद्धव ! तुम तो अति विवेकशील हो, सूझ-बूझ वाले हो और सब बातों का तुम्हे सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त है, इसलिए तो तुम कृष्ण द्वारा भेजे गए योग-सन्देश को हम से कह सके हो। वस्तुतः हम कृष्ण के चरित्र के विषय मे क्या कहें, हमारे साथ जो अनुचित व्यवहार किया सो किया किन्तु वे तो अपने

माता-पिता तक को भुलाए बैठे है। इससे अधिक निष्ठुरता की बात और क्या हो सकती है। नन्द बाबा और माता यशोदा ने उनको कितने लाड़-प्यार से पाला था, कम-से-कम उनकी सुधि तो लेते रहते। वह क्या राजा बनते ही सब-कुछ भूल गए। ऐसे निष्ठुर से सहृदयता की आशा रखना व्यर्थ है।

विशेष—(१) कृष्ण के ब्रज-के-लोगो के प्रति किए गए निष्ठुर व्यवहार का अत्यन्त मार्मिक चित्रण प्रस्तुत किया गया है। स्मरण रूप मे उनके जन्म लेते ही मथुरा से ब्रज की ओर आगमन, बाल-क्रीडाओ आदि का भी उल्लेख हुआ है।

(२) गोपियाँ कृष्ण के कठोर व्यवहार के कारण व्यग्य वचन बरसाते-बरसाते अन्त मे करुणा से भर जाती है। कृष्ण की स्मृति और उनके द्वारा प्राप्त रतिसुख की याद उन्हे कोमल बना देती है।

(३) रहीम ने इसी भाव को लेकर निम्न दोहे की रचना की थी—

'जो रहीम करिबो हुतो ब्रज को यही हवाल।
तो कत मातहि दुख दियो गिरिवर गोपाल॥

अलंकार—स्मृति और 'लिखि-लिखि' मे पुनरुक्ति प्रकाश।

ऊधो! भली करी गोपाल।
आपुन तो आवत नाहीं ह्याँ, वहाँ रहे यहि काल॥
चंदन चंद हुतो तब सीतल, कोकिल सब्द रसाल।
अब समीर पावक सम लागत, सब ब्रज उलटी चाल॥
हार, चीर कंचुकि, कटक भए, तरनि तिलक भए भाल।
सेज सिंह, गृह तिमिर-कदरा, सर्प सुमन-मनि-माल॥
हम तो न्याय सहैं एतो दुख बनवासी जो ग्वाल।
सूरदास स्वामी सुखसागर भोगी भ्रमर भुवाल॥१८८॥

शब्दार्थ—भली करी=अच्छा किया। आपुन=स्वय। ह्याँ=यहाँ। हुतो=था। सब्द=बैन। रसाल=मधुर। समीर=वायु, पवन। पावक=अग्नि। चीर=दुपट्टा, ओढना। कचुकि=चोली। तरनि=सूर्य। गृह=घर। तिमिर-कन्दरा=अन्धकारपूर्ण गुफा। सर्पसुमन-मनिमाल=फूलो और

मोतियों की मालाये सर्प के समान भयकर और दुखदायी है। भुवाल=भूप, राजा।

प्रसग—यह काव्य-परम्परा है कि संयोगावस्था मे प्राकृतिक उपकरण जो सुखद होते है, वही वियोगावस्था में कष्टदायक होते हैं। इसी परम्परा का पालन करते हुए सूर ने गोपियों की विरह-व्यथा को घनीभूत किया हैं। वे कृष्ण के निष्ठुर व्यवहार पर व्यग्य करती हुई उद्धव से कह रही है—

व्याख्या—हे उद्धव ! गोपाल कृष्ण ने यह बहुत अच्छा किया है कि वे स्वय यहाँ नही आए और मथुरा मे रह रहे है। वस्तुत. आजकल यहाँ सब कुछ उलट गया है, यदि वे यहाँ आते तो उन्हे अत्यन्त कष्ट उठाने पड़ते।

जब कृष्ण यहाँ थे और हमे रति-क्रीडा का सुख देते थे तब चन्दन और चन्द्रमा प्रकृति के अनुसार शीतलता प्रदान करते थे और हमारी सयोगावस्था को और भी सुखद बनाते थे। तब कोयल की सुरीली कूक मधुर एव रसीली प्रतीत होती थी। परन्तु अब चन्दन और चन्द्रमा की तो क्या कहे, हमे तो यहाँ की पवन भी अग्नि के समान झुलसा रही है। इस प्रकार ब्रज मे सभी तत्व स्वाभाविक गुणो का त्याग करके विपरीत आचरण करने लगे है। हमारे शारीरिक शृगार के उपकरण—हार, वस्त्र, चोली -सभी काँटो के समान शरीर मे चुभते है तथा माथे पर लगा हुआ तिलक सूर्य के समान गर्म और दाहक बन गया है। कवि के कहने का अभिप्राय यह है कि कृष्ण के विरह मे गोपियो को शृगार करना नही भाता क्योकि अब उन पर रीझने वाला कोई नही है। सोने की शैया हमारे लिए शेर के समान भयावनी बन गई है। हमे अपना घर सुख नही देता बल्कि एक अधकार से भरी हुई गुफा के समान डरावना प्रतीत होता है। फूलो और मणियो की मालाएँ सर्प के समान काटने को दौड़ती है। हम ब्रज-वासिनी गोपियाँ ऐसे दुःख सहन करने की अभ्यस्त हैं क्योकि हम आरम्भ से ही वनो मे रहती आई है, हमे ये सब इतना दुःख नही पहुँचाते, अतः हमारा यहाँ रहना उचित और न्यायोचित है किन्तु हमारे स्वामी कृष्ण सदा सुखो को भोगते रहे है और फिर वे भ्रमर के समान विलासी, भोग-वैभव के भूखे हैं, इसीलिए उनका यहाँ आना उचित नही है, क्योकि वे यहाँ के कष्टो को बर्दाश्त न कर पाते इसलिए उन्होने अच्छा ही किया जो तुम्हारे साथ यहां नही चले आए।

विशेष—(१) प्रस्तुत पद मे गोपियाँ अपनी विरह-व्यथा का वर्णन करते हुए प्रकारान्तर से कृष्ण को विश्वासघाती, निष्ठुर घोषित कर रही हैं। कृष्ण रस-लोभी और एक विलासी राजा हैं जो स्वय मथुरा के राष्ट्र महल मे भोग लिप्त है और व्रज मे गोपियाँ उनकी याद में आँसू वहा रही हैं। वस्तुतः यह व्यग्य ही इस पद का प्राण है और इस दृष्टि से यह पद श्रेष्ठ-काव्य का उत्कृष्ट उदाहरण है।

(२) इस पद मे सूर ने काव्य-परम्परा का निर्वाह करते हुए भी अपनी मौलिकता को अक्षुण्ण रखा है।

(३) इस पद मे प्रकृति का उद्दीपन रूप मे चित्रण हुआ है।

अलकार—सम्पूर्ण पद में अतिशयोक्ति।

अपने मन सुरति करत रहिवी।
ऊधो! इतनी वात स्याम सौं समय पाय कहिवी॥
घोप वसत की चूक हमारी कछू न जिय गहिवी।
परम दीन जदुनाथ जानिकै गुन विचारि सहिवी॥
एकहि वार दयाल दरस दै विरह-रासि दहिवी।
सूरदास प्रभु वहुत कहा कहौं वचन-लाज वहिवी॥१८६॥

शब्दार्थ—सुरति=स्मृति, याद। करत रहिवी=करते रहें। कहिवी=कह देना। घोप=अहीरो, ग्वालो का गाँव। चूक=गल्ती, त्रुटि। न जिय गहिवी=मन मे न लाएँ। सहिवी=सहन कर लें। विरह-रासि=विरह-जन्य समस्त कष्ट। दहिवी=भस्म कर दें। वहिवी=निर्वाह कर ले।

प्रसग—इस पद मे गोपियो ने कृष्ण के प्रति सम्पूर्ण व्यग्य को त्याग दिया है। वे एक वार फिर दीन हो उठी हैं और उद्धव से विनती कर रही हैं कि कृष्ण से विनय करे कि वे उन्हे भुलायें नही।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं कि हे उद्धव! मथुरा लौट कर जव तुम्हें उचित अवसर मिले तो श्याम से हमारी ओर से इतनी प्रार्थना अवश्य करना कि वे अपने मन मे हमारी स्मृति वनाए रखे अर्थात् यदि वे व्रज आकर हमे दर्शन नही देते तो कोई वात नही किन्तु अपने मन मे हमें याद कर लिया करें, इसी से ही हमे सन्तोप हो जाएगा। उनसे यह भी अर्ज करना कि उनके व्रज मे प्रवास करते समय हमने उनके प्रति यदि कोई धृष्टता, भूल,

अपराध किया है तो उसके लिए हम शर्मिन्दा है और क्षमाप्रार्थी हैं। वे अपने मन से इन बातो को निकाल दे। यदुनाथ कृष्ण हमें अत्यन्त दीन, हीन समझ कर हमारे कतिपय गुणो की सुधि कर ले और हमारे अपराधो को सहन कर ले और हमे क्षमा कर दे। यदि हममे कोई गुण है, तो उसके बल पर ही वे हमारी भूलो को सहन कर ले। वे परम दयालु है। हम पर दया करके केवल एक बार यहाँ आकर हमे अपने दर्शनो से शीतलता प्रदान करें और विरह-जन्य हमारे समस्त कष्टों को भस्म कर दें। हे उद्धव ! हमने अपने नाथ कृष्ण के प्रति बहुत बाते कही हैं, अब और अधिक क्या कहे, हमारी समझ में नही आता ? अब तो हमारी इतनी विनती है कि उन्होने हमे जितने वचन दिए थे उनकी लाज रख ले और हमे दर्शन देकर जीवन-दान दे।

विशेष—(१) प्रस्तुत पद की प्रत्येक पक्ति के अन्त मे 'कहिबी' रहिबी आदि क्रियापदों का प्रयोग अवधी भाषा के आधार पर किया है।

(२) अन्तिम पक्ति से मिलता-जुलता भाव कवि हरिविलास ने अपने निम्न दोहे मे व्यक्त किया है—

"नन्द के फरजन्द से अब जा कहो यो 'हरिविलास'।
अब तो वे बाते निबाहो ! कोल औ इकरार की ॥"

(३) 'वचन-लाज'—अक्रूर के साथ मथुरा जाते समय कृष्ण ने गोपियो को वचन दिया था कि वे अपना कार्य सम्पन्न करके शीघ्र ही लौट आएँगे। गोपियाँ उन्हे इसी वचन की लाज निबाहने की प्रार्थना कर रही है।

ऊधो ! नँदनंदन सों इतनी कहियो।
जद्यपि ब्रज अनाथ करि छाँड्यो तदपि वार इक चित करि रहियो ॥
तिनका तोर करौ जनि हमसों एक बास की लज्जा गहियो।
गुन-औगुनन रोष नहिं कीजत दासनिदासि की इतनी सहियो ॥
तुम बिन स्याम कहा हर करिहैं यह अवलंब न सपने लहियो।
सूरदास प्रभु यह पठई कहाँ जोग कहँ पीवन दहियो ॥१६०॥

शब्दार्थ—तिनका तोर=सदा के लिए सम्बन्ध तोडना। रोष=क्रोध। कीजत=करते। दासनि दासि=दासो की भी दासी। अवलम्ब=सहारा। लहियो=प्राप्त करना। पीवन=प्रियतम के बिना। दहियो=जलना, दग्ध होना।

प्रसंग—गोपियाँ कृष्ण के विरह मे अत्यन्त कातर हैं। वे अपनी विरह-व्यथा सुनाती हुई उद्धव से कृष्ण को मार्मिक सन्देश भिजवा रही है कि वे सब दुःख सहन कर लेंगी, कृष्ण उनसे नाता न तोड़े।

व्याख्या—हे उद्धव ! तुम मथुरा लौट कर नन्दनन्दन कृष्ण से केवल इतनी विनती करना कि यह ठीक है कि वे ब्रज को अनाथ बना, उसे त्याग कर मथुरा चले गए हैं किन्तु वे कम-से-कम एक बार अपने मन मे ब्रज की स्थिति के विषय मे सोच-विचार कर ले और फिर अपने और हमारे सम्बन्ध के परिप्रेक्ष्य मे अन्तिम निर्णय ले। गोपियो के कहने का तात्पर्य यह है कि कृष्ण ब्रज की याद ताजा करके एक बार यहाँ आएँ और उन्हे अपने दर्शनो से लाभान्वित करे। उन्होने यहाँ निवास किया है और विभिन्न लोगो के साथ अनेक प्रकार के सम्बन्ध बनाए है। अपने इसी सम्बन्ध की लाज रखते हुए उन्हे चाहिए कि वे हमारे साथ सदा के लिए नाता न तोडे। वस्तुत. मनुष्य थोडे समय के लिए जहाँ रहता है, उसे उस स्थान के प्रति मोह हो जाता है, और वह उसे भुला नही पाता। कृष्ण ने तो अपना सम्पूर्ण बालपन यहाँ व्यतीत किया है, उन्हे सदैव के लिए ब्रज को भुला कर नाता तोड़ नही लेना चाहिए। अपने दास-दासियो के गुण-अवगुणो पर क्रोध नही करना चाहिए। और फिर हम तो उनके दासो की भी दासियाँ है अर्थात् अत्यन्त दीन हैं, अत हमारे अवगुणो-अपराधो को सहन करने मे ही उनकी शोभा है। उनके कारण हमे भुला देना और हमसे नाता तोड़ लेना उनके लिए उचित नही है।

गोपियाँ अब इतनी दीन हो चुकी है कि कृष्ण से कह रही है, हे कृष्ण ! तुम्हारे बिना क्या करें ? हमसे कुछ भी करते नही बनता ? तुम्हारे बिना हमारा जीवन एक भार है जो उठाए नही उठता। तुम हमारे एकमात्र अवलम्ब हो, जीवन-आसरा हो। तुम्हे त्याग कर हम स्वप्न मे भी किसी अन्य सहारे को स्वीकार नही कर सकती। हे नाथ ! यह जो तुमने हमारे लिए योग का सन्देश भेजा है वह निरर्थक है। हमारे लिये तो प्रिय के विरह मे दग्ध होना ही श्रेयकर है। कहाँ योग का सन्देश और कहाँ प्रिय की विरहाग्नि मे दग्ध होना। दोनो परस्पर विरोधी हैं और हमारे जीवन मे इनका सम्मिलन नही हो सकता। हम तो प्रिय-विरह मे दग्ध होते हुए भी सन्तुष्ट है क्योकि इससे प्रिय की स्मृति सदा मन मे समाई रहती है जबकि योग-साधना नीरस और

कष्टसाध्य है और इसको अपनाने से पूर्व प्रिय-स्मृति को छोड़ना पड़ता है, अतः यह हेय और त्याज्य है।

विशेष—(१) प्रस्तुत पद मे गोपियो की विरह-व्यथा की अभिव्यजना अत्यन्त मार्मिक बन पडी है। गोपियाँ अपना व्यथा की दशा मे भी सन्तुष्ट है क्योकि प्रिय की स्मृति उनके पास है। योग और निर्गुण-ब्रह्म की साधना इसलिए त्याज्य है कि उसके लिए प्रिय की स्मृति त्यागनी पडती है।

(२) 'तिनका तोर'—यह एक बहुप्रचलित ब्रजभाषा का मुहावरा है। जिस प्रकार तिनका तोड कर उन्हे सदा के लिए अलग कर दिया जाता है उसी प्रकार इस मुहावरे का प्रयोग सम्बन्ध को सदा के लिए तोडने के भाव के लिए प्रयोग होता है।

ऊधो ! हरि करि पठवत जेती।
जौ मन हाथ हमारे होतो तौ कत सहती एती?
हृदय कठोर कुलिस हू तें अति तासें चेत अचेती।
तब उर बिच अंचल नहिं सहती, अब जमुना की रेती।।
सूरदास प्रभु तुम्हारे मिलन को, सरन देहु अब सेती।।
बिन देखे मोहि कल न परति है जाको स्रुति गावत है नेती।।१६१।।

शब्दार्थ—पठवत=भेजते है। जेती=जितनी। कत=क्यो। एती=इतनी। कुलिस=कठोर। चेत=चेतना। अब सेती=अब से। कल=चैन। स्रुति=वेद-शास्त्र। नेती=नेति-नेति।

प्रसग—कृष्ण-विरह मे गोपियाँ व्यथित एव व्याकुल है। उनका मन अपने वश मे नही है, अपनी इसी विवशता के कारण वे उद्धव का योग-सन्देश स्वीकार करने मे स्वय को असमर्थ पाती हैं। वे इसी भाव को व्यक्त करती हुई उद्धव से कह रही है—

व्याख्या—हे उद्धव ! कृष्ण हमारे दु.ख को समझते है और हमारे मन को शान्त करने के लिए अनेक प्रकार के सन्देश लिख कर भेजते है। यह योग का सदेश भी उन्होने हमे सान्त्वना देने के लिए भेजा है। हम इस योग को स्वीकार कर लेती, यदि हमारा मन हमारे वश मे होता और फिर यदि हमारा मन ही वश मे होता तो हम स्वयं ही सन्तोष धारण कर लेती, कृष्ण-विरह मे इतनी

वेदना क्यो सहन करती रहती। हम तो स्वयं को मन से नितान्त असमर्थ पाती हैं। हमारा हृदय वज्र से अधिक कठोर वन गया है और फिर ऊपर से हमारा मन अचेत अर्थात् कृष्ण की स्मृति में डूवा हुआ अपनी सुध-वुध खो वैठा है। इसमे योग-ज्ञान की रहस्यपूर्ण वाते सोचने-समझने की शक्ति नही है। इसी कारण यह तुम्हारी वाते समझ पाने में समर्थ नही है। जब कृष्ण यहाँ हमारे पास थे तो उनके साथ लीला-विहार करते समय हम अचल तक का व्यवधान वर्दाश्त नहीं करती थी अर्थात् कृष्ण के साथ प्रेमालिगन करते समय हम पूर्ण-तया निर्वस्त्र होती थी, उनके और हमारे शारीरिक मिलन मे किसी प्रकार की कोई वाधा नही होती थी, किन्तु अव उनके और हमारे वीच में यमुना की रेत के रूप मे मीलो तक का रास्ता है और हमारे एव उनके मिलन में वाधा उपस्थित कर रहा है। वे तो मथुरा मे है और हम गोकुल मे उनके विरह मे तडप रही है। हमारा हृदय जो किसी समय वस्त्र तक का व्यवधान सहन नही कर सकता था, अव वज्र-सा कठोर हो गया है जो इतनी दूरी को सहन कर रहा है और अभी तक फट नही गया।

हे नाथ! तुम्हारे मिलन के लिए हमारा हृदय तड़प रहा है और व्याकुल हो रहा है। अव तो नाथ हमे अपनी शरण मे लेकर हमारे कष्टो को दूर करो। भगवान् कृष्ण ब्रह्म के रूप मे वेद-शास्त्र तक के लिए अगम्य हैं किन्तु हम उनके दर्शनो के विना नही रह सकती। ज्ञानमार्गियो एव योगियो का ब्रह्म निराकार होने के कारण अगम्य है किन्तु हमारे लिए वह कृष्ण के रूप मे सगुण-साकार और सुलभ है। आज वह हमसे दूर मथुरा मे है और हमारा मन उसके दर्शनो के लिए वैचेन है।

विशेष—(१) प्रस्तुत पद मे गोपियो की उत्कृष्ट विरह-व्यथा एवं विव-शता का अत्यन्त हृदयग्राही दिग्दर्शन कराया गया है।

(२) वस्तुत. भ्रमरगीत की मूलभावना व्यग्य और गोपियो के उपालम्भ पर आधारित है किन्तु कवि ने जहाँ-जहाँ उनकी विरह-वेदना को मुखरित किया है वे स्थल श्रेष्ठ काव्य के उदाहरण है। प्रस्तुत पद भी ऐसे स्थलो मे से एक है।

(३) अन्तिम पक्ति मे निर्गुण-वाद का खण्डन करके सगुण की महत्ता का प्रतिपादन हुआ है।

ऊधो ! यह हरि कहा कर्यो ?
राजकाज चित दियो साँवरे, गोकुल क्यों बिसर्यो ?
जौ लों घोष रहे तौ लों हम संतत सेवा कीनी।
बारक कबहूँ उलूखल परसे, सोई मानि जिय लीनी॥
जौ तुम कोटि करौ ब्रजनायक बहुतै राजकुमारि।
तौ ये नंद पिता कहँ मिलिहैं अरु जसुमति महतारि ?
कहँ गोधन, कहँ गोप बृंद सब, कहँ गोरस को खैबो ?
सूरदास अब सोई करौ जिहि होय कान्ह को ऐबो॥१६२॥

शब्दार्थ—घोष=अहीरो की बस्ती, गोकुल। सतत=निरन्तर। परसे=स्पर्श। खैबो=खाना। ऐबो=आना।

प्रसग—गोपियो को इस बात का अत्यन्त दुःख है कि कान्ह व्रज को पूर्णतया भुला कर राज-काज मे मग्न हो गये है। वे उद्धव से प्रार्थना कर रही है कि वे कोई ऐसी तरकीब करे जिससे वे यहाँ गोकुल मे लौट आएँ।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कह रही है कि हे उद्धव ! यह कृष्ण ने क्या कर दिया। वह मथुरा में पहुँच कर राज-काज में अत्यन्त लीन हो गये और गोकुल को बिलकुल भुला दिया। राजकाज मे व्यस्त होना तो उचित था किन्तु गोकुल भुला देने की बात समझ में नही आई। जब तक उन्होने इस अहीरो के गाँव गोकुल मे निवास किया, हमने बराबर उनकी सेवा की किन्तु एक बार ऊखल से स्पर्श करा दिया था अर्थात् हमारी शिकायत के कारण माता यशोदा ने उन्हे दण्ड देने के लिए ऊखल से बाँध दिया था तो उन्होने हमारी इस भूल को गाँठ-बांध लिया है और बुरा मान कर वहाँ मथुरा जा बैठे हैं और हमें भूल गये हैं।

हे उद्धव ! तुम मथुरा जाकर व्रज के स्वामी कृष्ण से कह देना कि यह ठीक है कि वे मथुरा के राजकुमार बन गये है और इसलिए उन्हे अनेक सुन्दर राजकुमारियाँ उपलब्ध हो सकती है किन्तु करोड़ो यत्न करने पर भी उन्हे बाबा नन्द और यशोदा माता नही मिल सकती अर्थात नन्द-यशोदा के समान निश्छल ममत्व और स्नेह न्यौछावर करने वाले माता-पिता नही मिल सकते। यह सर्वज्ञात है कि मथुरा के राजकुमार होने के कारण उन्हे राज-सखा और समस्त सुख-वैभव प्राप्त हैं परन्तु वहाँ गोकुल की गाये, ग्वाल-बालो के ये

झुंड और दूध-दही मक्खन का खाना—ये सुख कहाँ मिल सकते हैं। यह सुख और आनन्द मथुरा के राज-वैभव-विलास से श्रेष्ठ है। इस सुख की जो विलक्षणता है, वह राजवैभव मे कहाँ। इसलिए हे उद्धव ! तुम ऐसा उपाय करो कि कृष्ण एक बार पुनः यहाँ गोकुल लौट आएँ।

विशेष—(१) प्रस्तुत पद में गोपियो की विनयशीलता, शालीनता एव वाक्चातुर्य के दर्शन होते हैं।

(२) उनकी विनयशीलता और शालीनता इसी मे निहित है कि वे कृष्ण का ध्यान नन्द-यशोदा की निश्छल प्रेमभावना की ओर दिलाती हैं और गोकुल मे प्राप्त सुखो की स्मृति दिला कर पुनः लौट आने के लिए आमन्त्रित करती हैं। यहाँ उनकी वाक्-चातुरी का परिचय मिलता है।

(३) जो……महतारि ?' इन पक्तियो मे गोपियों की सकोचशीलता का भी परिचय मिलता है क्योकि वे कहना तो चाहती है कि हम विरह-विदग्ध हैं अतः यहाँ आकर हमे दर्शन दीजिये किन्तु सकोच के कारण यह नही कहती बल्कि नन्द बाबा और यशोदा माता के निश्छल प्रेम की स्मृति दिला देती हैं। 'राज-कुमारी' शब्द के प्रयोग से परोक्ष रूप से अपनी ओर सकेत किया है कि मथुरा के राजकुमार होने के नाते उन्हें अनेक सुन्दर राजकुमारियाँ भोग के लिए मिल जायँगी किन्तु उन जैसी अनन्य प्रेमिकाएँ उपलब्ध न हो सकेगी।

ऊधो ! ऐसो काम न कीजै।
एकरंग कारे तुम दोऊ धोय सेत क्यों कीजै ?
फेरि फेरिकै दुख अवगाहैं हम सब करी अचेत।
कत पटपर गोता मारत हौ निरे भूँड़ के खेत॥
तरपट कोट कीटकुल जनमे, कहा भलाई जाने ?
फोरत बाँस-गाँठि दाँतन सो बार-बार ललचाने॥
छाड़ि कमल सो हेतु आपनो तू कत अनतहि जाय ?
लपट, ढीठ, बहुत अपराधी कैसे मन पतिआय ?
यही जु बात कहति हौं तुमसो फिरि मति कबहूँ आवहु।
एक बार समझावहु सूरज अपनो ज्ञान सिखावहु॥१९३॥

शब्दार्थ—सेत=श्वेत, सफेद। अवगाहे=डुबाकर। पटपर=समतल सपाट मैदान। निरे=सारे। भूँड=ऊसर मिट्टी। तरपट=अन्तर, भीतर।

कोट=बाँस का झुरमुट। कीटकुल=कीडे-मकोड़ो का कुल। अनतहि=अन्य स्थान पर। पतिआय=विश्वास करे।

प्रसंग—गोपियो के बार-बार मना करने पर भी उद्धव अपने ज्ञानोपदेश से बाज नहीं आते जिससे गोपियाँ झुँझला उठती है और उन्हे फटकार कर खरी-खोटी सुनाती है।

व्याख्या—हे उद्धव ! तुम्हे ऐसा कार्य नही करना चाहिए जो अनुचित हो। हम तुम्हे पहले भी कह चुकी है किन्तु तुम बाज नही आते। वस्तुतः इसमे तुम्हारा कोई दोष नही। तुम अपने स्वभाव के कारण बाध्य हो। तुम दोनो—तुम और तुम्हारे सखा कृष्ण काले रंग वाले है। जैसा काला तुम्हारा रग है वैसा ही तुम्हारा कपटी स्वभाव है। तुम्हे दूसरो को कष्ट पहुँचाने मे ही आनन्द मिलता है। जिस प्रकार काले रग की वस्तु को धोने पर श्वेत नही किया जा सकता, उसी प्रकार तुम्हारे कुटिल स्वभाव को भी नही बदला जा सकता। ये दोनो बाते ही असम्भव है। हमारे मना करने पर भी तुमने बार-बार हमे निर्गुण-ब्रह्म की ओर प्रवृत्त करने का अपना प्रयत्न जारी रखा है और इस प्रकार हमे दु.ख रूपी अनन्त सागर मे डूबने को बाध्य किया है। इस दु ख के कारण हम सदा अचेत बनी रहती है। तुम्हारा बार-बार हमे निर्गुण-ब्रह्म का उपदेश देना बिलकुल वैसा है जैसे कोई समतल-सपाट मैदान को गहरे जल से परिपूर्ण समझ कर उसमे गोता लगाने का प्रयास करे अथवा कोई घास तक उगाने के सर्वथा अयोग्य ऊसर भूमि मे खेत बना कर बीज डाले और उसमें से उपज प्राप्त करने का यत्न करे। जिस प्रकार ये दोनो बातें असम्भव हैं, उसी प्रकार तुम्हारे उपदेश की हमारे मन मे कोई प्रतिक्रिया भी नही हो सकती। हमारे लिए तुम्हारा यह उपदेश स्वीकार करना असम्भव है।

वस्तुत. हे भ्रमर ! तू नीच कुल से उत्पन्न है क्योकि तेरा जन्म नीरस बाँसो के झुरमुट के भीतर कीडे-मकोड़ो के वंश मे हुआ है, अत तुझसे किसी की भलाई की क्या आशा की जा सकती है। तूने तो जहाँ बैठना है, वहाँ हानि पहुँचानी है, क्योकि तू अपने जन्म की बाँस-कोठरी को भी दाँतो से काटने और फोडने के लिए ललचाता रहता है। दूसरो को दुखी करना तो तेरी प्रकृति है इस प्रकार जहाँ तेरा जन्म होता है और जहाँ तुझे शरण मिलती है तू

उसके भी विनाश मे रत रहता है, इसी मे तुझे सुख मिलता है।

अच्छा तू हमे यह बता कि जिस कमल से तू प्रेम करता है, उसे छोड़ कर अन्यत्र क्यो नही जाता ? तू स्वय तो अपने प्रिय पर मुग्ध है और उसे त्याग नही सकता तो फिर हमे क्यो अपने प्रिय कृष्ण का त्याग करने की प्रेरणा देता है। तुझे इसमे लज्जा का अनुभव नही होता। तू स्वभाव से ही लम्पट, रस-लोलुप, ढीठ और भयंकर अपराधी है, अतः हम तेरी किसी बात का विश्वास नही कर सकती। वस्तुतः तू हमे कष्ट देने के लिए ही निर्गुण-ब्रह्म का उपदेश बार-बार दोहरा रहा है। इसलिए आज हम तुझे आखिरी बार चेतावनी दे रही हैं कि तू फिर यहाँ आकर अपना मुह हमे न दिखाना। तुझे जो कुछ भी हमे समझाना है, जो कुछ उपदेश आदि देना है, एक बार देकर यहाँ से अपना मुँह काला करके जा। बार-बार हमे परेशान मत कर।

विशेष—गोपियाँ झुँझलाहट के कारण फिर उद्धत हो उठी हैं। वे भ्रमर के माध्यम से उद्धव को खूब खरी-खोटी सुनाती है और उसे वहाँ से भाग जाने के लिए आग्रह करती है। उनकी यह खीझ अत्यन्त स्वाभाविकता लिये हुए है।

अलंकार—अन्योक्ति।

ऊधो ! औरै कथा कहौ।
तजि जस, ज्ञान सुने तावत तनु, वरु गहि मौन रहौ ॥
जाके बिच राजत मन-परवत स्यामसूल-अनुरागो।
तापै रतिद्रुम रीति नयनजल सींचत निसदिन जागो ॥
ग्रीषम अलि आए प्रगट्यो व्रज, कठिन जोग-रवि हेरे।
सो मुरझात सूर को राखै मेह-नेह बिन तेरे ? ॥१९४॥

शब्दार्थ—और=अन्य। तावत=तपने लगता है, दग्ध होने लगता है, जलता है। तापै=उस पर। रतिद्रुम=प्रेम रूपी वृक्ष। रीति=खाली करके। जोग रवि=योग रूपी सूर्य। हेरे=देखने से। मेह-नेह=प्रेम रूपी वर्षा।

प्रसंग—गोपियो को उद्धव का ज्ञानोपदेश बिल्कुल नहीं सुहाता। वे कृष्ण से एकनिष्ठ प्रेम करती हैं। उन्हीं के व्रज आगमन से ही गोपियो को जीवन-दान मिल सकता है।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कह रही है कि हे उद्धव ! हम तुम्हारी ज्ञान-कथा सुन कर थक गई हैं। इसे समाप्त करके तुम कोई और बात शुरू करो। हमे कोई अन्य कथा सुनाओ। कृष्ण की सुकीर्ति की कथा को छोड़ कर जब हम तुम्हारे ज्ञान एव योग की बाते सुनने लगती है तो हमारा शरीर जलने-तपने लगता है अर्थात् कृष्ण को भुला कर निर्गुण-ब्रह्म को अपना लेने के तुम्हारे आग्रह से हमारा शरीर कृष्ण के विरह मे और भी दग्ध होने लगता है। अतः या तो तुम हमे कृष्ण के यश की कथा गाकर सुनाओ अथवा खामोश होकर बैठे रहो।

हमारे शरीर मे मन रूपी पर्वत विराजमान है जो कृष्ण-प्रेम मे अनुरक्त है और तज्जन्य कष्टो को धैर्यपूर्वक सहन करता है अर्थात् जिस प्रकार एक पर्वत अपने ऊपर उगे हुए झाड-झखाड़ का प्रेम पूर्वक पोषण करता है और उनके काँटो की चुभन से उत्पन्न पीड़ा को भी सहन करता है। यह उसके अस्तित्व का प्रतीक है, उसी प्रकार कृष्ण मे अनुरक्त हमारा मन विरह-जन्य कष्टो को सहन करने का अभ्यस्त हो चुका है, वह इसे स्नेह पूर्वक बर्दाश्त करता है और आनन्दित होता है क्योकि यह पीड़ा भी तो कृष्ण-प्रेम का परिणाम है। हमने अपने मनरूपी पर्वत पर कृष्ण-प्रेम रूपी वृक्ष का बीजारोपण किया था और उसका दिवा-रात्रि जाग कर अपने नेत्र रूपी बर्तनो मे भरे जल अर्थात् आँसुओ से सीच कर पालन-पोषण किया है। अब वह वृक्ष बडा हो गया है और उसकी रक्षा करना हमारा कर्त्तव्य है। कवि के कहने का तात्पर्य है कि विरह के कारण उत्पन्न गोपियों के आँसू कृष्ण के प्रति उनके प्रेम को कम नही होते देते बल्कि और प्रगाढ करते है, क्योकि इससे कृष्ण की स्मृति उनके मन मे तरोताजा हो जाती है।

हे स्वामी ! भ्रमर के रूप में उद्धव हमारे इस नेत्रजल द्वारा पोषित प्रेम-वृक्ष को झुलसा देने के लिए ग्रीष्म ऋतु सूर्य के समान भयंकर रूप धारण करके यहाँ आया हुआ है। उसका ज्ञानोपदेश ग्रीष्मकालीन सूर्य के समान दाहक है जिसकी ओर निहारने मात्र से ही हमारा शरीर झुलसने लगता है और हम कष्टो का अनुभव करते लगती हैं। इस योग रूपी ग्रीष्मकालीन तपते हुए सूर्य की भयकर गर्मी से हमारा प्रेम-वृक्ष ताप अनुभव कर रहा है और उसके मुरझा जाने का खतरा है। अतः हे नाथ ! आपके प्रेम की वर्षा

के बिना अन्य कौन इसकी रक्षा कर सकता है ? अर्थात् कोई नही। इस प्रेम की कृष्ण प्रेम की वृष्टि द्वारा ही रक्षा हो सकती है और यह तभी सम्भव है जब कृष्ण यहाँ लौट आएँ। उनके आते ही हमे जीवन दान मिलेगा और हमारा प्रेम पुनः हरा-भरा हो जायेगा।

विशेष—इस पद मे गोपियो की अनन्य दैन्य-भावना की अभिव्यक्ति हुई है। वे अपनी उदण्डता और व्यग्य-भावना का पूर्ण त्याग कर कृष्ण से दर्शन देने की प्रार्थना कर रही हैं ताकि उनका प्रेम नष्ट होने से बच जाय।

अलंकार—सम्पूर्ण पद मे साँगरूपक अलकार की सुन्दर सयोजना हुई है।

ऊधो ! साँच कहौ हम आगे।
घर में कहा बचै कछु ताके प्रकट आगि के लागे॥
जा दिन तें गोपाल सिधारे स्वास-अनल तन जार्यो।
ऋषि हिरदय मुखचंद मुग्ध भया काढ़ि वाहि दै डार्यो॥
एते पै तोहि सूझत नाहिन, जोग सिखावन आयो।
फिरि लै जाहु सूर के प्रभु पै जिहिहैं यहाँ पठायो।१६५॥

शब्दार्थ—हम आगे=हमारे सम्मुख। स्वास अनल=साँस रूपी अग्नि। ऋपिहिरदय=ऋषियो के समान निर्मल एव शुद्ध हृदय। वाहि=उसे। ऐतै पै=इतने पर भी। फिरि=वापिस। जिहि=जिन्होने।

प्रसंग—अनेक बार मना करने पर भी उद्धव अपना ज्ञानोपदेश बन्द नहीं करते और न ही गोपियो की विरह-व्यथा की ओर ध्यान देते हैं। इस पर गोपियाँ उन्हें समझाते हुए कहती है—

व्याख्या—हे उद्धव ! हम तुमसे एक बात पूछती है जिसका उत्तर तुम हमें सच-सच देना। तुम हमे यह बताओ कि जिस घर मे पूर्णरूप से आग लग जाय क्या उसकी कोई वस्तु विना जले बच सकती है ? यह असम्भव है। उस घर का तो सब कुछ जल कर राख हो जायगा। बिल्कुल वैसी ही दशा हमारे इस शरीररूपी घर की है। जिस दिन से कृष्ण इस शरीररूपी हमारे घर को त्याग कर मथुरा गये है, उस दिन से उनके विरह के कारण हमारी साँसें उतप्त हो गई है और उनकी अग्नि इस शरीर रूपी घर को निरन्तर जला रही है। अतः इस घर का जलने से कुछ नही बचा, अब तुम अपना ज्ञानोपदेश क्यो दे रहे हो। गोपियो का कहने का अभिप्राय यह है कि हम कृष्ण-

विरह मे पहले ही सतप्त है, अतः योग और निर्गुण-ब्रह्म को लेकर क्या करे ? जिस दिन हमने कृष्ण के चन्द्रमुख की छवि को देखा था, हम उन पर मुग्ध हो गई थी और हमने अपने ऋषियो के समान निर्मल, शुद्ध और सरल हृदय को उन पर न्यौछावर कर दिया था। अर्थात् कृष्ण के मुखचन्द्र की सुन्दरता को देखकर हमारा हृदय उन पर मुग्ध हो गया था जिसे हमने निकाल कर उन्हे अर्पित कर दिया था। अब हमारा हृदय हमारे पास ही नही है, अत हम निर्गुण-ब्रह्म को स्वीकार कर पाने मे असमर्थ है।

यह सब बाते हम कितनी बार तुम्हारे सम्मुख स्पष्ट कर चुकी है किन्तु हमे तुम्हारी बुद्धि पर तरस आता है कि तुम इतनी छोटी-सी बात अभी तक नही समझ पा रहे। हम किस विषम स्थिति मे अपना समय व्यतीत कर रही हैं, हमारे स्वामी कृष्ण हमसे दूर हैं और तुम योग की शिक्षा देना चाहते हो। ऐसी स्थिति मे तुम्हारे योग को किस प्रकार समझ कर उस पर हम आचरण कर सकती है, जबकि हमारा मन ही हमारे पास नही। अत. तुम इसे उन्ही कृष्ण के पास वापिस ले जाओ जिन्होने तुम्हारे हाथो इसे यहाँ भेजा है, वही इसके लाभ से पूर्णतया परिचित हैं।

विशेष—(१) वस्तुत. गोपियाँ अनेक बाते बना कर उद्धव को यही जतलाना चाहती है कि वे प्रेम-मार्गी है, निर्गुण-ब्रह्म को स्वीकार नही कर सकती। ऐसे स्थलो पर उनकी प्रेम की गहन अनन्यता लक्षित होती है।

(२) ऋषि हृदय—इस शब्द का यहाँ साभिप्राय प्रयोग हुआ है। ऋषियो का हृदय, सरस, निश्छल, निष्पाप और उदासीन होता है। वह साँसारिक मोह-माया से अलिप्त रहता है। गोपियो का ऐसा ही हृदय जो कृष्ण के सौन्दर्य को देखने से पूर्व सर्वथा अलिप्त और उदासीन था, कृष्ण पर मोहित हो गया और उन्होने उन पर समर्पित कर दिया। इस हृदय मे ऋषियो के समान दृढ़ता और स्थिरता भी थी, इसलिए वे कृष्ण-प्रेम मे एकनिष्ठ है।

अलकार—रूपक।

ऊधो ! सब स्वारथ के लोग।
आपुन केलि करत कुब्जा-संग, हमहिं सिखावत जोग॥
भ्रमि वन जात साँवरी मूरति नित देखहिं वह रूप।
अब रस-रास पुलिन जमुना के करत लाज, भए भूप॥

अनुदिन नयन निमेष न लागत, भयो विरह अति रोग।
मिलवहु कान्ह कुमार अस्विनी मिटै सूर सब रोग ॥१६६॥

शब्दार्थ—आपुन=स्वयं। केलिकरत=रतिक्रीडा करते है। भ्रमि=विभ्रमित होकर। भए भूप=राजा हो गये है। अनुदिन=प्रतिदिन। निमेप=पल भर के लिए। कुमार अश्विनी=अश्विनी कुमार, देवताओ के वैद्य।

प्रसंग—गोपियाँ कृष्ण की स्वार्थपरता पर अत्यन्त क्षुब्ध है क्योंकि वे स्वय तो कुब्जा के साथ भोग-विलास मे रत हैं और गोपियो के लिए योग लिख भेजा है।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कह रही है कि हे उद्धव! ससार मे सभी जन मतलबी हैं और सभी लोग अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए सब कुछ करने को तत्पर है। अब कृष्ण को ही देख लो। उनसे बढ कर स्वार्थपरता का उदाहरण क्या हो सकता है कि वे स्वयं तो मथुरा के राजमहल मे कुब्जा के साथ रति-क्रीडा और भोग-विलास मे निमग्न हैं और हमे योग का प्रशिक्षण दिलवाना चाहते हैं जिसके लिए तुम्हे उन्होने यहाँ भेज दिया है। जब कभी कृष्ण की स्मृति हमे मतवाला बना देती है तो हम वन को चली जाती है और उन स्थलो पर जहा हमने उनके साथ क्रीडाएँ की थी, वहा अब भी उनकी साँवली मूर्ति के दर्शन हो जाते हैं। अर्थात् जब उनके साथ की गई रास क्रीड़ा की स्मृति हमे व्याकुल करती है तो हम उनकी सावली मूर्ति को सदा अपने सम्मुख अनुभव करती हैं।

कृष्ण मथुरा जाकर राजा हो गए है, इसलिए अब उन्हे यमुना के तट पर स्थित छोटी-छोटी पुलो पर हमारे साथ की गई रास-क्रीड़ा की स्मृति नही आती बल्कि ऐसा करने मे लज्जा का अनुभव होती है, तभी तो वे लौट कर यहाँ नही आते। हमे प्रतिदिन उनके ब्रज-आगमन की प्रतीक्षा रहती है। हमारे नेत्र मथुरा से आने वाले मार्ग को निहारते रहते है और पल भर के लिए भी नही मुंदते अर्थात् हमे कृष्ण की प्रतीक्षा के कारण थोड़ी देर के लिए भी नींद नही आती। इस प्रकार हम विरह के भयानक रोग का शिकार हो गई है। हम इस भयानक रोग से तभी छुटकारा पा सकती है जब तुम (उद्धव) अश्विनी कुमार के समान सुयोग्य वैद्य अर्थात् कृष्ण से हमारी भेंट करा दो।

विशेष—(१) 'भयो विरह अति रोग'—इस पक्ति से अनिद्रा रोग की

ओर भी सकेत स्वीकार किया जा सकता है।

(२) अश्विनीकुमार—देवताओ के वैद्य का नाम अश्विनीकुमार है। जिनके विषय मे प्रसिद्ध है कि उनकी प्रत्येक औषध अचूक और रामबाण होती है। यहाँ गोपियो का विरह रोग दूर करने के लिए कृष्ण ही अश्विनीकुमार के समान कुशल वैद्य हैं।

(३) 'आपुन……जोग'—इस पंक्ति मे असूया सचारी भाव है क्योकि गोपियो की कुब्जा के प्रति सोतिया-डाह की सयोजना की गई है।

(४) अन्तिम पक्ति के से भाव को मीरा ने इस प्रकार प्रकट किया है—

'मीरा के प्रभु पीर मिटै जब वैद सँवरिया होय।'

अलंकार—'अनुदिन…सब रोग'—रूपक।

ऊधो ! दीनी प्रीति-दिनाई।
बातनि सुहृद, करम कपटी के, चले चोर की हाई॥
विरह-बीज बघवार सलिल मानो अधर-माधुरी प्याई।
सो है जाय खगी अतर्गत, औषधि बल न बसाई॥
गरल-दान दीनो है नीको, याको नहीं उपाय।
कै मारै, कै काज सरै, यह दुख देख्यो नहिं जाय॥
कहि मारै सो सूर कहावै, मित्रद्रोह न भलाई।
सूरदास ऐसे, अलि, जग मे तिनकी गति नहिं काई॥१९७॥

शब्दार्थ—दिनाई=विष प्रयोग की वस्तु। सुहृद=हितैषी, शुभचिन्तक। हाई=घात लगाता हुआ। बघवार=शेर की मूँछ के बाल जो जहरीले होते है। सलिल=जल। अधर-माधुरी=होठो का मीठा रस। खगी=चुभ गई। अन्तर्गत=हृदय मे। बल न बसाई=काम नही करती। गरल=विष। याको=इसका। काज सरै=काम पूरा हो। सूर=शूरवीर, बहादुर। काई=कभी।

प्रसंग—अपने साथ कृष्ण द्वारा किये गए विश्वासघात के कारण गोपियाँ कृष्ण की भर्त्सना कर रही है।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हे उद्धव ! कृष्ण ने हमे अपने प्रेम के रूप मे विष दिया है अर्थात् उन्होने हमारे मन मे अपना प्रेम उत्पन्न करके इस प्रकार तड़पने के लिए छोड़ दिया है जैसे कोई किसी को विष देकर

फिर तड़पने के लिए छोड दे। कृष्ण का व्यवहार परम हितैषी का-सा है और उनकी चिकनी-चुपडी बातो से भी मन मुग्ध हो जाता है किन्तु उनके सभी कार्य व्यापार विश्वासघात करने के समान हैं। वह सदैव चोर-सदृश घात लगाते रहते है। हमारा मन भी उन्होने अत्यन्त कौशल से घात लगा कर चुरा लिया है।

जिस प्रकार कोई ठग अपने आसामी को लूटने के लिए उसे बाघ की मूँछ को पीस कर शर्बत बना कर पिलाता है और उसके मूर्छित होते ही उसे लूट लेता है, उसी प्रकार कृष्ण ने अपने प्रेम रूपी विष को अपने अधरो के मधुररस रूपी जल मे घोल कर हमे पिलाया है और इस प्रकार हमे मतवाला बना कर हमारा सर्वस्व लूट लिया है। अर्थात् पहले तो उन्होने हमे अपना अधरामृत पिला कर हमे मतवाला बनाया और जब हम उनके प्रेम के नशे मे अपनी सुध-बुध खो बैठी तो हमारा सर्वस्व—हृदय हम से छीन कर मथुरा जा बैठे हैं। उनका यह अधरामृत रूपी विष हमारे हृदय मे इस प्रकार समा गया है कि उसका प्रभाव समाप्त करने के लिए कोई भी औषध काम नही करती। गोपियो के कहने का तात्पर्य यह है कि वे किसी भी परिस्थिति मे कृष्ण के प्रति अपने प्रेम को त्याग नही सकती।

उन्होने हमारे मन मे प्रेम उत्पन्न करके हमे कही का नही रखा। यह एक ऐसा विष का दान है जिसका कही भी निदान नही। हम कही भी रहे, हम उनकी स्मृति और प्रेम से मुक्ति नही पा सकती। अब हमसे विरहजन्य इस पीड़ा को नही देखा जाता है और न ही सहा जाता है। इस विरह से छुटकारा पाने के दो रास्ते नजर आ रहे है—या तो यह विष हमारे प्राण ले-ले अर्थात् उनके विरहरूपी विष से हमारी मृत्यु हो जाय अथवा हमारा काम पूरा हो जाय अर्थात् कृष्ण आकर हमे दर्शन दे-दे और सयोग के दिन फेर दे। कृष्ण ने तो हमारा मित्र बन कर हमे ठगा दी है और हमारे साथ विश्वासघात किया है। वह पहले हमसे प्रेम करके हमारे विश्वासपात्र बन गये और हमने उन पर अपना सर्वस्व न्यौछावर कर दिया। किन्तु बाद मे हमें धोखा देकर मथुरा जा बैठे और इस प्रकार हमारा सुख-चैन लूट लिया। वस्तुतः उनका यह कार्य कायरतापूर्ण ही है क्योकि वीर तो वही जो शत्रु पर भी ललकार कर वार करे। मित्र के साथ विश्वासघात करने वाले की ससार मे कभी भलाई नही

होती। ऐसे मनुष्य की संसार में कभी सदगति नही होती बल्कि वह तो भयकर पाप का भागी माना जाता है।

विशेष—(१) 'बघवार'—यह प्रसिद्ध है कि बाघ की मूँछ जहरीली होती है और राहजनी करने वाले ठग राहगीर को धोखे से इसका घोल पिलाते है और उसके मूर्छित होते ही सब माल-असबाब लूट कर ले जाते हैं।

(२) सस्कृत साहित्य मे मित्र-द्रोह को ससार का भयकर पाप कहा गया है जिससे छुटकारा मिलना असम्भव है। देखिये निम्न उदाहरण—

१— 'मित्रद्रोही न मुच्यते यावच्चन्द्र दिवाकरो।'

२— 'मित्रद्रोही कृतघ्नश्च यश्च विश्वासघातकः।
ते नरा नरक दान्ति यावच्चन्द्रदिवाकरो॥'

गोपियो ने इस पद मे कृष्ण को भी मित्रद्रोही कहा है क्योकि उन्होने गोपियो के साथ प्रेम की पीग बढ़ाकर पहले तो मित्र जैसा व्यवहार किया और फिर उनका सर्वस्व लूट कर उन्हे छोड़ कर मथुरा जा बैठे।

अलकार—रूपक।

ऊधो ! जो हरि आवैं तो प्रान रहैं।
आवत. जात, उलटि फिरि बैठत जीवन-अवधि गहे॥
जब हे दाम उखल सों बाँधे बदन नवाय रहे।
चुभि जु रही नवनीत चोर-छवि, क्यों भूलति सो ज्ञान गहे ?
तिनसों ऐसी क्यों कहि आवैं जे कुल-पति की त्रास महे ?
सूर स्याम गुन-रसनिधि तजिकै को घटनीर बहे ?॥१९८॥

शब्दार्थ—गहे=पकडे हुए। हे=थे। दाम=रस्सी। बदन=मुख। नवनीत=माखन। कुल-पति=अपने कुल एवं पति की। त्रास=डर, भय, यहाँ मर्यादा। महे=मथ डाला, नष्ट कर डाला। घटनीर=घडे का जल। बहे=स्वीकार करे, ग्रहण करे।

प्रसंग—गोपियाँ कृष्ण के प्रेम से उत्पन्न प्राणान्तक विरह-व्यथा से अत्यधिक व्याकुल है। यह विरह की पीड़ा अब उनके लिए असह्य हो उठी है।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं कि हे उद्धव ! वैसे तो हमारे प्राणो का बचना कठिन है किन्तु यदि कृष्ण पुन व्रज लौट आये तो उनके जीवन की रक्षा हो सकती है। हम उनके वियोग मे मरणासन्न है, अब हमारा

जीवन धारण किये रहना कठिन है, यदि वे शीघ्र न आये तो हमारी मृत्यु निश्चित है। इस समय हमारे प्राणो की दशा अत्यन्त चिन्तनीय है। कभी तो कृष्ण के आगमन की आशा के कारण इनमे जीवन का सचार हो जाता है और हम चैतन्यावस्था प्राप्त कर लेती हैं। कभी विरह-व्यथा की असह्य पीड़ा को न सह पाने के कारण प्राण शरीर से निकल जाते हैं किन्तु अभी हमारे भाग्य मे और जीवित रहना लिखा हुआ है, ये पुन: शरीर मे लौट आते हैं। इस प्रकार हमारे जीवन की अवधि बीत रही है।

अब गोपियाँ कृष्ण की बाल-लीलाओ का स्मरण करके उद्धव से कहती हैं कि जब हमारे शिकायत करने पर माता यशोदा ने दण्ड देने के लिए कृष्ण को रस्सी द्वारा ऊखल से बाँध दिया था तो उस समय वह किस प्रकार बँधे हुए अपना मुख झुकाये चुपचाप पडे थे। माखनचोर कृष्ण की उस समय की रूप छवि हमारे हृदय मे गढ-सी गई है और भुलाए नही भूलती। उस अनुपम शोभा को भुला कर हमारा हृदय तुम्हारे नीरस ज्ञान को किस प्रकार ग्रहण कर सकता है? अर्थात कभी नही कर सकता।

हमे तो इस बात का आश्चर्य है और साथ ही खेद भी है कि जिन कृष्ण के प्रेम के कारण हमने अपने पति के डर को त्याग दिया था और कुल की मर्यादा को नष्ट कर दिया था अर्थात् कुल एवं पति की चिन्ता किये बिना कृष्ण की मतवाली बनी घूमती-फिरती थी, उन्ही कृष्ण ने हमारे साथ ऐसा कठोर व्यवहार किया है। इस नीरस ज्ञान के सन्देश को भेजते समय उन्हे तनिक भी लज्जा नही आई। उनके इस निर्मोहीपन एव उदासीनता पर हमें आश्चर्य होता है। हे उद्धव! हमारे कृष्ण गुणो एव रसो के अथाह सागर है और तुम्हारा निर्गुण-ब्रह्म घडे के जल के समान तुच्छ और हेय है। अतः हम गुण एव रस के सागर कृष्ण को त्याग कर तुम्हारे नीरस ब्रह्म को नही अपना सकती।

विशेष—(१) इस पद मे विरह की मरणावस्था का वर्णन किया गया है।

(२) कृष्ण के बाल रूप का ध्यान होने से स्मृति नामक सचारी भाव की सयोजना हुई है।

(३) छान्दोग्य उपनिषद्' मे कृष्ण-भक्ति को भूमा स्वीकार किया गया

है—'यो वै तत्सुख नाप्ये सुखमस्ति भूमैव सुख भूमात्वेव विजिजासितव्य इति।" पुष्टि मार्ग भी इसी मत का समर्थन करता है। सूरदास भी पुष्टिमार्ग के अनुयायी थे, इसीलिए इस पद की अन्तिम पक्ति में कृष्ण-भक्ति को इसी रूप मे प्रस्तुत किया गया है।

अलकार—रूपक।

ऊधो ? यह निस्चय हम जानीं।
खोयो गयो नेहनग उनपैं, प्रीति-कोठरी भई पुरानी॥
पहिले अधरसुधा करि सींची, दियो पोष बहु लाड़ लडानी।
बहुरै खेल कियो केसव सिसु-गृहरचना ज्यों चलत बुझानी॥
ऐसे ही परतीति दिखाई पन्नग केंचुरि ज्यों लपटानी।
बहुरौ सुरति लई नहिं जैसे भँवर लता त्यागत कुम्हिलानी॥
बहुरंगी जहँ जाय तहाँ सुख, एकरंग दुख देह दहानी।
सूरदास पसु धनी चोर के खायो चाहत दाना पानी॥१६६॥

शब्दार्थ—नेहनग=प्रेमरूपी नग, रत्न। प्रीतिकोठरी=प्रेम की कोठरी, निवास-स्थान। लाडलडानी=लाड-प्यार किया। बहुरै=फिर। सिसुगृह रचना =खेल-खेल मे बच्चो के मिटटी के घर बनाना। बुझानी=नष्ट कर दी। पन्नग=सर्प। बहुतै=लौट कर। सुरति=सुधि। दहानी=जली, दग्घ हुई। धनी=मालिक।

प्रसग—गोपियाँ कृष्ण के प्रति अपने प्रेम मे सदा स्थिर एवं एकनिष्ठ रही है जबकि कृष्ण ने उनके साथ विश्वासघात किया है।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं कि हे उद्धव ! अब हम इस बात को भली-भाति जान गई है कि कृष्ण ने हमारा प्रेम-रूपी बहुमूल्य रत्न कही न कही खो दिया है और उनकी दृष्टि मे यह प्रेम का घोसला पुराना हो गया है अर्थात् मथुरा जाकर वे हमारे साथ अपने प्रेम-सम्बन्धो को विस्मृत कर बैठे हैं तथा वे इस पुराने प्रेम को आकर्षणहीन समझते है तथा जीर्ण-शीर्ण वस्तु के समान इसे भी त्याग देना चाहते हैं। पहले उन्होने हमारी प्रेम-रूपी लता को अपने अधरामृत द्वारा सीचा था और उसके पालन-पोषण मे अत्यधिक स्नेह से काम लिया था। अर्थात् उन्होने पहले हमे अपने अधरामृत का पान करा कर हमारे प्रेम को पल्लवित किया और हमे बहुत लाड़-प्यार एवं स्नेह दिया किन्तु

फिर स्वयं मथुरा चले गए और हमारे प्रेम के घरोंदे को उसी प्रकार नष्ट कर दिया जिस प्रकार बच्चे खेल-खेल मे मिट्टी का घरोंदा बनाते भी है और खेल-खेल में उसे नष्ट भी कर देते है।

कृष्ण के प्रेम का खेल वैसा था जैसा एक सर्प केंचुली के साथ खेलता है। वह पहले तो उसे अपने पूरे शरीर के साथ लिपटाए फिरता है किन्तु बाद मे उसे त्याग कर आगे बढ जाता है और फिर पीछे मुड कर नही देखता और न ही कभी केंचुली को याद करता है। कृष्ण भी पहले-पहले हमे अपने साथ लिए रहे और अनत सुख दिए किन्तु बाद मे इस प्रेम के नाते को पूर्णतया भुला कर मथुरा चले गए है। अब उन्हे कभी भी हमारी याद नही आती। हमारे प्रति कृष्ण का व्यवहार बिल्कुल लोभी भ्रमर की तरह है। भ्रमर पहले तो लता का रसपान करता रहता है किन्तु उसके मुरझा जाने पर उसे त्याग अन्यत्र चला जाता है और फिर उस लता की कोई खोज-खबर नही लेता। वस्तुत उसका प्रेम बहुरगी है अर्थात् एक से उसे तुष्टि नही मिलती, वह सदा अनेक लताओ का रसपान करना चाहता है। कृष्ण भी ऐसे ही हैं। वे व्रज मे रहते हुए हमारे मस्त यौवन का पूर्णतया रसपान करते रहे किन्तु बाद मे हमें रस-हीन समझ कर त्याग दिया और वहाँ नित नई यौवनाओ का रसभोग कर रहे है। वे तो रसिक है। ऐसे लोग जहाँ जाते है वही उन्हे सुख-सामग्री उपलब्ध हो जाती है किन्तु हम तो प्रेम मे एकनिष्ठ है, इसलिए कृष्ण के प्रेम से उत्पन्न विरह मे हमारी देह जल रही है। पशु का यह स्वभाव है कि कोई चोर जब उसे चुरा कर ले जाता है तो कुछ दिनो मे अपने पुराने मालिक को भूल उस चोर मालिक के घर दाना-पानी खाने की इच्छा करने लगता है। कृष्ण को भी अक्रूर चुरा कर ले गए थे। मथुरा जाकर कृष्ण अपने पुराने प्रेम को पूर्ण-तया भूल गए और कुब्जा के साथ भोग-विलास मे आनन्द-विभोर होने लगे। इस प्रकार कृष्ण मे पशुवृत्ति का आधिक्य है क्योकि वे मानव-मूल्यो का अनादर कर काम-तृप्ति मे ही वास्तविक जीवन का मूल्य समझ रहे है।

विशेष—(१) विभिन्न उदाहरणो द्वारा गोपियो ने कृष्ण के प्रेम की अस्थिरता पर व्यग्य किया है।

(२) इस पद मे गोपियो ने कृष्ण को सर्प एव भ्रमर के समान रसलोलुप एव विलासी कहा है तथा उसे काम-वृत्ति की प्रधानता के कारण पशु का दर्जा

दिया है। साथ ही अपने एकनिष्ठ प्रेम की घोषणा भी की है।

(३) अन्तिम पक्ति मे असूया सचारी भाव है।

अलंकार—(१) 'प्रीति-कोठरी', 'नेहनग', 'अधर-सुधा'—रूपक।

(२) 'बहुरै…लपटानी'—उपमा।

(३) 'बहुरगी…दहानी'—अर्थान्तरन्यास।

(४) 'पशु…पानी'—उपमा।

ऊधो ? हम है तुम्हरी दासी।
काहे को कटु बचन कहत हौ, करत आपनी हांसी॥
हमरे गुनहि गाँठि किन बाँध्यो, हमपै कहा बिचार ?
जैसी तुम कीनी सो सब ही जानतु है संसार॥
जो कछु भली बुरी तुम कहिहौ सो सब हम सहि लैहै।
अपनो किया आप भुगतेगी दोष न काहू दैहै॥
तुम तो वड़े, बडे के पठए, अरु सबके सरदार।
यह दुख भयो सूर के प्रभु सुनि कहत लगावन छार॥२००॥

शब्दार्थ—हाँसी=हँसी, मजाक। काहू=किसी को। बड़े के पठए=बड़े आदमी अर्थात् कृष्ण के भेजे गए। सरदार=अत्यन्त बुद्धिमान, ज्ञानी। छार=भस्म।

प्रसग—उद्धव का ज्ञान एव योग-सन्देश सुन कर गोपियाँ अत्यन्त दुःखी हैं और उनसे प्रार्थना कर रही है कि वे ऐसे कडवे वचन और अधिक न कहे।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कह रही है कि हे उद्धव ! हम तुम्हारी दासी हैं क्योकि कृष्ण हमारे स्वामी है और तुम उनके मित्र हो। इस नाते से हम तुम्हारा सम्मान करती है और स्वय को तुम्हारी दासी मानती है। तुम बार-बार हमसे ज्ञान-योग एव निर्गुण-ब्रह्म से सम्बद्ध कड़वे वचन क्यो कह रहे हो ? इससे तुम स्वयं ही हसी का पात्र बन रहे हो। हम अनपढ गवार है और तुम्हारी दासी है, इसलिए हमारे सम्मुख तुम्हे ऐसे वचन कहना शोभा नही देता। हमारे कृष्ण के प्रति एकनिष्ठ प्रेम को देख कर तुम अपने मन मे सोच-विचार क्यो नही करते। वस्तुत. हमारा यह गुण तो तुम्हे गाँठ बाध लेना चाहिए और तुम्हे भी हमारी तरह अपने आचरण को शुद्ध करना चाहिए और निर्गुण-ब्रह्म को त्याग कृष्ण के सगुण रूप की उपासना आरम्भ कर देनी

चाहिए। तुमने हम दीन व्रजललनाओं को योग एव निर्गुण-ब्रह्म का जो उपदेश दिया है वह सरासर तुम्हारा अन्याय है और इससे सारा ससार परिचित है किन्तु हमने प्रतिकार मे अभी तक तुम्हे कुछ नही कहा है। तुम्हे कृष्ण के अभिन्न सखा जान कर हमने तुम्हारा सम्मान किया है और जो कुछ भला-बुरा अर्थात् कहने और न कहने योग्य तुमने हमसे कहा है, हमने सब बर्दाश्त किया है। हमने जो कुछ किया है उसका परिणाम स्वय भुगत लेगी। किसी को भी दोष नही देगी। हमने कृष्ण से प्रेम किया है और उसके कारण असह्य विरह-व्यथा को भुगत रही है,किसी से शिकायत नही कर रही, हम अपने जीवन की इस स्थिति से पूर्णतया सन्तुष्ट है।

हे उद्धव ! तुम तो महाविद्वान् हो और बडे आदमी कृष्ण द्वारा यहाँ भेजे गये हो और फिर ज्ञानमार्गियो मे सबसे बुद्धिमान हो जबकि हम अविवेकशील अबला नारियाँ है। तुम्हारे सम्मुख तो हमारे वचन ही नही फूटते किन्तु हम एक बात कहने के लिए बाध्य हो गई है। यह जो तुमने हमे सन्यासिनियों के समान शरीर पर भस्म रमा कर योग-साधना का उपदेश दिया है, वह तुम्हे शोभा नही देता था, इससे हमे बहुत दुःख हुआ है। हम अपने पति कृष्ण के जीवन काल मे ही विधवाओ के समान सन्यास धारण कर योगिनी कैसे बन सकती है ? यह असम्भव है।

विशेष—(१) प्रस्तुत पद मे गोपियो ने विनय के बहाने उद्धव पर गहरी छीटाकसी की है। इस दृष्टि से उनका अद्भुत वाक्-कौशल हृदयग्राही है।

(२) 'हमरे······बिचार' मे गोपियो का अभिप्राय है कि उद्धव को उनके कृष्ण के प्रति दृढ प्रेम मे शिक्षा लेनी चाहिए और स्वयं प्रेममार्ग को स्वीकार कर लेना चाहिए। इस प्रकार यहाँ सगुण-भक्ति का प्रतिपादन किया गया है।

अलकार—'तुम ·····सरदार'—इस पक्ति मे काकुवक्रोक्ति का चमत्कार है।

ऊधो ! तुम जो कहत हरि हृदय रहत है।
कैसे होय प्रतीति कूर सुनि ये बातें जु सहत है॥
बासर-रैनि कठिन बिरहानल अंतर प्रान दहत है।
प्रजरि प्रजरि पचि निकसि धूम अब नयनन नीर बहत है॥

अधिक अवज्ञा होत, देह दुख मर्यादा न गहत है।
कहि ! क्यों मन मानै सूरज प्रभु इन बातनि जु कहत है॥२०१॥

शब्दार्थ—प्रतीति=विश्वास। बासर-रैनि=दिन-रात। दहत=जलाती है। प्रजरि-प्रजरि=सुलग-सुलग कर। पचि=छुटकर। धूम=धुआँ। अवज्ञा=अनादर।

प्रसंग—उद्धव ने एक स्थल पर कृष्ण को ब्रह्म स्वरूप और घट-घट वासी कहा था। प्रस्तुत पद मे गोपियाँ इस सिद्धान्त का विरोध करती हुई उद्धव से कह रही है कि—

व्याख्या—हे उद्धव ! तुम्हारा कहना है कि कृष्ण साक्षात्कार ब्रह्म है और इस प्रकार घट-घटवासी होने के कारण प्रत्येक के हृदय मे निवास करते है किन्तु हमे तुम्हारी इस बात पर विश्वास नही होता क्योकि वे यदि हमारे हृदय मे निवास करते तो क्या वे इतने क्रूर है कि तुम्हारी असहनीय बातो को सहन करते रहते। तुमने कृष्ण को त्याग निर्गुण-ब्रह्म को स्वीकार करने के लिए कहा है जिससे हम अत्यन्त कठिनाइयो मे पड़ गई है। क्या वे हमारे हृदय मे रहते हुए हमारी इस दशा पर तरस न खाते, चुपचाप वहाँ पड़े रहते ? हम दिन-रात भयानक विरह की अग्नि मे जल रही है और हमारे हृदय के भीतर हमारे प्राण जलते हुए तडप रहे है। कृष्ण की स्मृति मे हमारा हृदय अन्दर-ही-अन्दर सुलगता रहता है और उसका धुआँ घुट-घुट कर हमारे आँसुओ के रूप मे बाहर निकलता रहता है अर्थात् हम कृष्ण की याद मे घुट-घुट कर रोती रहती हैं।

कृष्ण के विरह मे हम व्यथित हैं, दुःख के मारे हमारा कलेजा फटा जा रहा है। शरीर नष्ट हुआ जा रहा है, हमारी मुसीबतों का कोई अन्त नही फिर भी कृष्ण हमारे हृदय मे चुपचाप बैठे है और उदासीनता दरशा रहे है। हमे तो तुम्हारी बातो मे कोई तत्व नजर नहीं आता। यदि कृष्ण हमारे हृदय मे रहते होते तो हमे इतना दुःख सहते देख तुरन्त बाहर निकल आते और हमारे समस्त दुःखो क[illegible] लेते। अतः उनके घट-घट वासी होने की बात ठीक

'जौ पै ज्यो ! हिरदय माँझ हरी ।
तौ पै इतनी अवज्ञा उन पै कैसे सही परी ?"

अलंकार—(१) 'वासर रैन—दहत है'—रूपक ।
(२) 'अजरि-अजरि'—पुनरुक्ति प्रकाश एव अनुप्रास ।

ऊधो ! तुमहीं हौ सब जान ।
हमको सोई सिखावन दीजै नंदसुवन की आन ॥
आमिष भोजन हित है जाके सो क्यों साग प्रमान ।
ता मुख सेमि-पात क्यों भावत जा मुख खाए पान ?
किंगिरी-सुर कैसे सचु मानत सुनि मुरली को गान ?
ता भीतर क्यों निर्गुन आवत जा उर स्याम सुजान ?
हम बिन स्याम वियोगिनि रहिहैं जब लग यहि घट प्रान ।
सुख ता दिन तें होय सूर प्रभु ब्रज आवैं ब्रजभान ॥२०२॥

शब्दार्थ—जान=सुजान, ज्ञानी, चतुर । सिखावन=सीख, शिक्षा । नन्दसुवन=नन्द के पुत्र, कृष्ण । आन=शपथ । आमिष=मासाहारी । हित =लाभदायक । प्रमान=उपयुक्त । सेमिपात=सेम के पत्ते । किंगरी= सारगी । सचु=सुख । जब लग=जब तक । घट=शरीर । ता दिन ते=उस दिन से । ब्रजभान=ब्रज के सूर्य अर्थात् स्वामी कृष्ण ।

प्रसंग—गोपियां हर दृष्टि से अपना हित साधन करना चाहती हैं । जब धमकी से काम नही चला तो अब वे अपनी विवशता का वर्णन कर रही है ।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं कि हे उद्धव ! तुम प्रत्येक दृष्टि से सम्पूर्ण हो । एक सज्जन और चतुर पुरुष हो । तुम्हे नन्दनन्दन कृष्ण की सौगन्ध है हमे वही शिक्षा दो जो हमारे लिए उचित हो । क्योंकि तुम बुद्धिमान व्यक्ति हो अत हमे वैसा ही उपदेश दोगे जो हमारे हित मे होगा । जिस व्यक्ति के लिए मासाहारी भोजन लाभकारी है तो उसे शाकाहारी भोजन देना कहाँ तक उचित है ? अर्थात् उस व्यक्ति को शाकाहारी भोजन देना अनुचित है । इसी प्रकार जो मुँह प्रतिदिन पान खाने का अभ्यस्त हो चुका है, उसे सेम के पत्ते खाने मे क्या आनन्द मिलेगा ? अर्थात् कोई आनन्द नही मिलेगा । जो कान मुरली के मधुर एव मादक गायन का रसास्वादन ले चुके हैं उन्हे सारगी के स्वरो से किस प्रकार सुख की उपलब्धि हो सकती है अर्थात् नही हो

सकती। जिस प्रकार ये बाते असभव है उसी प्रकार जिसके हृदय मे सदा सुजान कृष्ण का निवास हो उसके हृदय मे निर्गुण-ब्रह्म का बैठना असंभव है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी रुचि का दास है। किसी के आग्रह पर यह त्याज्य वस्तुओ को ग्रहण कर अपनी रुचि को बिगाड़ना नहीं चाहता। हमारे लिए कृष्ण ग्रहणीय है, अतः हम उन्हे छोड कर निर्गुण-ब्रह्म को स्वीकार नही कर सकती।

हे उद्धव! हमने तो कृष्ण की एकनिष्ठता का नियम ले रखा है। इसलिए हमारा यह दृढ निश्चय है कि जब तक हमारा शरीर प्राण धारण किए रहेगा तब तक हम बिना कृष्ण के उनकी विरहिणी ही बनी रहेंगी। उन्हे छोड तुम्हारे निर्गुण-ब्रह्म को स्वीकार नही करेगी। हमे तो उस दिन से सुख प्राप्त होगा जिस दिन से ब्रज के स्वामी कृष्ण पुन. ब्रज मे लौट आएँगे। और हमे अपने दर्शनो से लाभान्वित करेगे।

विशेष—(१) विभिन्न उदाहरणों द्वारा गोपियो ने अपने प्रेम की एक-निष्ठता का दिग्दर्शन कराया है। परोक्ष रूप मे गोपियो की विवशता भी अभिव्यक्त हुई है, जो अत्यन्त मार्मिक है।

अलंकार—(१) 'मुख...गान'—निदर्शना।
(२) सम्पूर्ण पद मे उपमा।

ऊधो ! यहै विचार गहौ।
कै तन गए भलो मानै, कै हरि ब्रज आय रहौ॥
कानन-देह बिरह-दव लागी इन्द्रिय-जीव जरौ।
बुझै स्याम-घन कमल-प्रेम मुख मुरली-बूंद परौ॥
चरन-सरोवर-मनस मीन-मन रहै एक रसरीति।
तुम निर्गुन बारू महँ डारौ, सूर कौन यह नीति? ॥२०३॥

शब्दार्थ—गहौ=दृढ़ कर लिया है। कै तन गए=या शरीर के नष्ट हो जाने पर। कानन-देह=शरीर रूपी वन। बिरह-दव=विरह रूपी दावाग्नि। इन्द्रिय-जीव=इन्द्रिय रूपी जीव-जन्तु। श्याम-घन=कृष्ण रूपी बादल। मनस=मानसरोवर। बारु=बालू, रेत।

प्रसंग—प्रस्तुत पद मे गोपियो ने एक बार फिर कृष्ण-प्रेम मे अपनी अनन्यता की घोषणा की है।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं कि हे उद्धव ! हमे पूरी तरह से यह बात समझ मे आ गई है कि दो प्रकार से हमारा कल्याण हो सकता है—या तो हमारा शरीर कृष्ण-विरह मे तड़प-तड़प कर नष्ट हो जाए अथवा कृष्ण ब्रज मे पुन: आकर बस जाएँ जिससे हमारा वियोग दूर हो। वस्तुत: हमारे दुख का अत इन्ही दो उपायो द्वारा ही सभव है, अन्य कोई तरीका नही। हमारे इस शरीर रूपी वन मे विरह रूपी भयकर दावाग्नि धू-धू करके जल रही है जिससे हमारे इन्द्रिय रूपी जीव-जन्तुओ के जल कर मर जाने का भय उत्पन्न हो गया है—अर्थात् कृष्ण विरह के कारण हमारा समस्त शरीर व्यथित है और सयोग काल मे आनन्द प्राप्त करने वाली सभी इन्द्रियाँ अब सतप्त है। इस विरहानल का शमन तभी संभव है जब कृष्ण रूपी श्यामघन कमल के समान सुन्दर मुख से प्रेम-भरी बांसुरी की अमृत के समान जीवनदायिनी मधुर तान रूपी चर्चा बरसाएँ।

कृष्ण के चरणरूपी मानसरोवर मे हमारी मनरूपी मछलियाँ प्रेमपूर्वक रहती है अर्थात् हमारा मन कृष्ण के चरणो मे उसी प्रकार दृढ प्रेमरत है जिस प्रकार मछलियाँ जल के साथ प्रेम करती है। तुम्हारा यह कहाँ का न्याय है कि तुम इन मछलियो को कृष्णचरणरूपी मानसरोवर मे से निकाल कर अपने निर्गुण-ब्रह्म रूपी बालू पर पटक इन्हे तड़पा कर मारना चाहते हो ? गोपियो का कहने का तात्पर्य यह है कि उद्धव उन्हे कृष्ण से विमुख करके निर्गुण-ब्रह्म की ओर प्रवृत्त न करे क्योकि इससे हमारा मन तड़प-तड़प कर प्राण त्याग देगा।

विशेष—(१) प्रस्तुत पद मे सूर ने अपने भाषा-कौशल का प्रदर्शन किया है और अनेक रूपको द्वारा गोपियो की अनेकनिष्ठता का सुन्दर चित्र प्रस्तुत किया है और 'सगुणवाद' के प्रयोग द्वारा निर्गुण-ब्रह्म को अबला मनहन्ता और त्याज्य घोषित किया है।

अलकार—सम्पूर्ण पद मे सांगरूपक एव परम्परित रूपक।

ऊधो ! कत ये बातें चाली ?
अति मीठी मधुरी हरि-मुख की है उर-अंतर साली॥
स्याम सघन तन सीची बेली, हस्तकमल धरि पाली।
अब ये बेली सूखन लागी, छांड़ि दई हरि-माली॥

तब तो कृपा करत ब्रज ऊपर संग लता ब्रजबाली।
सूर स्याम बिन मरि न गई क्यों बिरहबिथा की घाली ॥२०४॥

शब्दार्थ—कत=किस प्रकार। साली=धँसी हुई। घाली=घायल।

प्रसंग—उद्धव के यह बताने पर कि यह निर्गुण-ब्रह्म का सन्देश वस्तुत कृष्ण ने ही उनके लिए भेजा है, वे स्वयं नही लाए, गोपियाँ उनसे पूछ रही है कि मथुरा मे कृष्ण के सम्मुख निर्गुण-ब्रह्म की बात किस प्रकार चली ?

व्याख्या—गोपियां उद्धव से पूछती है कि हे उद्धव ! हमे यह बात समझा कर कहो कि यह ज्ञानकथा की शुरुआत कैसे हुई ? कृष्ण की और तुम्हारी बातचीत मे ऐसा कौन-सा प्रसग आ गया था जिससे कृष्ण ने निर्गुण-ब्रह्म सम्बन्धी सन्देश देकर तुम्हे यहाँ भेज दिया। ये सन्देश हमारे कृष्ण के सुन्दर मुख से निःसृत है, इसलिए ये ज्ञान की बातें सुनने मे अत्यन्त मीठी लगती है किन्तु यह हमारे हृदय मे चुभ रही है और आघात कर रही है। ये बाते मीठी इसलिए है कि कृष्ण ने किसी बहाने से हमें याद तो किया और हमे अपने सन्देश के योग्य समझा और क्योकि ये हमारी प्रकृति के विपरीत हैं, इससे हमारे मन मे आघात लगा है। हमारी ये शरीररूपी लताएँ कृष्णरूपी सघन मेघ द्वारा अपने प्रगाढ़ प्रेमरूपी वर्षा के जल से सींची गई है और उनके कमल रूपी हाथो ने इनकी अनेक विपदाओ से रक्षा की है और अत्यन्त सुघरता से इनका पालन-पोषण किया है। इसी कारण ये अभी तक हरी-भरी और स्वस्थ है। अर्थात् कृष्ण ने हमारे शरीर से प्रगाढ़ प्रेम किया है और अपने हाथों से इस प्रेम के अनेक प्रमाण हमारे शरीर पर अंकित किये है। अब ये हमारी शरीररूपी लताएँ सूखनी आरम्भ होने लगी हैं क्योकि कृष्ण रूपी सुघर माली ने इनका ध्यान छोड़ दिया है और अन्यत्र चले गए है। अर्थात् हमारा शरीर जो कृष्ण का प्रेम पाकर सुन्दर और आकर्षक बना रहता था, अब उनकी विरहाग्नि मे जल कर नष्ट हुआ जा रहा है।

जब कृष्ण यहाँ पर बसे हुए थे तो सम्पूर्ण ब्रज के साथ हम ब्रजबालाओ पर भी कृपा करते थे और हमे अपने प्रेम का पात्र समझ कर गौरवान्वित करते थे। हमे अब दुःख हैं तो इस बात का है कि जो प्रिय हमे ऐसा स्नेह और सरक्षण प्रदान करते थे उनके विरह मे घायल बनी हम अभी तक जीवित क्यो हैं ? हमारे प्राण अब तक निकल जाने चाहिए थे।

विशेष—(१) गोपियो की अनन्य प्रेम-भावना का सुन्दर दिग्दर्शन हुआ है।

(२) गोपियो को वस्तुतः अपनी प्रेम की दृढता पर सन्देह हो रहा है क्योकि उनके विचार मे सच्ची प्रेमिकाएँ प्रिय-वियोग मे प्राण त्याग देती हैं जबकि वे कृष्ण विछोह की लम्बी अवधि के बाद भी अभी तक प्राण धारण किए हुए है।

अलकार—रूपक।

ऊधो ! जो हरि हितू तिहारे।
तौ तुम कहियो जाय कृपाकै जे दुख सबै हमारे।।
तन तरवर ज्यों जरति विरहिनी, तुम दव ज्यों हम जारे।
नहि सिरात, नहि जरत छार ह्वै सुलगि सुलगि भए कारे।।
जद्यपि उमगि प्रेमजल सिंचवत बरषि बरषि घन-तारे।
जो सींचे यहि भाँति जतन करि तौ इतने प्रतिपारे।।
कीर, कपोत, कोकिला, खजर बधिक-वियोग बिडारे।
इन दुःखन क्यो जियहि सूर प्रभु ब्रज के लोग विचारे ? ।।२०५।।

शब्दार्थ—हितू=शुभचिन्तक। जे=ये। दव=दावाग्नि। सिरात=शीतल। छार=राख। जारे=जलाये। घन-तारे=आँख की पुतली रूपी बादल। प्रतिपारे=प्रतिपालन किया। बिडारे=भगा दिया।

प्रसग—गोपियाँ कृष्ण-विरह मे असह्य वेदना का अनुभव कर रही हैं। वे उद्धव से प्रार्थना कर रही है कि जब वे मथुरा लौटें तो कृष्ण के सम्मुख हमारे समस्त दु खो का वर्णन अवश्य करें।

व्याख्या—गोपियाँ कृष्ण से कह रही हैं कि हे उद्धव ! हम इस बात को जानती हैं कि सच्चा मित्र अपने मित्र की बात पर विश्वास करता है और यदि कृष्ण भी तुम्हारे सच्चे मित्र और शुभचिन्तक हैं तो वे तुम्हरी बात पर अवश्य विश्वास करेंगे। इसलिए हमारी तुमसे प्रार्थना है कि तुम वहाँ जाकर कृपा करके हमारे इन समस्त दु खो की चर्चा उनके सम्मुख जरूर करना। तुम उनसे जाकर कहना कि जिस प्रकार दावानल वन के सारे वृक्षो को जला डालती है, उसी प्रकार उनकी विरहाग्नि ने हमारे शरीर रूपी वृक्षों को जला दिया है। हम ऐसी विषम परिस्थिति का सामना कर रही हैं कि हमारे दग्ध होते हुए शरीरों

को न तो कही से ठण्डक ही उपलब्ध होती है और न ही ये पूर्णतया जल कर राख हो पा रहे हैं। निरन्तर उनकी विरहाग्नि सुलगते रहने के कारण काले हो रहे है। अर्थात् न तो कृष्ण के दर्शनो का ही लाभ मिल रहा है जिससे हमारे प्राणो को ठण्डक मिले और जीवन आशा बढ़े और न ही हमारा प्राणान्त हो रहा है जिससे असह्य विरह-वेदना का अन्त हो। हमारा शरीर तो कृष्ण की स्मृति मे घुट रहा है और इसका समस्त आकर्षण जाता रहा है, सौन्दर्य नष्ट हो गया है।

यद्यपि हमारे नेत्र की पुतली रूपी बादल नित्य हृदय से उमड़ कर आए हुए स्नेह रूपी जल के रूप मे बरस कर इस शरीर को भिगोते है और इसकी अग्नि को शान्त करने का प्रयत्न करते है किन्तु फिर भी इससे इतना ही लाभ हुआ है कि हमारे शरीर नष्ट होने से बच गए हैं क्योकि अश्रुजल द्वारा सीचे जाने के कारण इनकी रक्षा और प्रतिपालन हुआ है अन्यथा विरहाग्नि मे जल कर ये पूर्णतया राख हो जाते। इस वियोग रूपी शिकारी ने अपने शरीर रूपी वृक्षो पर निवास करने वाले पक्षियो—नासिका रूपी तोता, कबूतर रूपी ग्रीवा, मधुर वाणी रूपी कोयल तथा खजन रूपी नेत्रो को मार कर भगा दिया है अर्थात् कृष्ण-विरह की व्यथा के कारण हमारे उक्त शारीरिक अग अपनी स्वाभाविक शोभा खो बैठे है तथा वाणी से कटु-वचन निकलते है। अतः हे उद्धव ! तुम कृष्ण से जाकर केवल इतना कहना कि इन दुःखो के मारे हुए ब्रज के दीन हीन जन उनके बिना किस प्रकार जीवित रह सकते है? अर्थात् नही रह सकते, अत कृष्ण शीघ्र आकर दर्शन दे जिससे हमारे जीवन की रक्षा हो सके।

विशेष—(१) इस पद मे गोपियो की विरह-व्यथा का सुन्दर दिग्दर्शन कराया गया है।

(२) वर्षा होने पर अग्नि का शमन न होना एक चमत्कार है। एक उर्दू के कवि ने भी ऐसे भाव व्यक्त किए है। देखिए निम्न पंक्तियाँ—

"चश्मे पुरआब है तिस पर भी जिगर जलता है।
क्या कयामत है कि बरसात मे घर जलता है॥"

अलंकार—(१) 'तनतरुवर', 'तुम दव', 'प्रेम-जल', 'घन-तारे' और वधिक वियोग मे— ।

'प्रात'''घन तारे'—विशेषोक्ति।

(३) 'सुलगि-सुलगि' और 'बरसि-बरसि' मे पुनरुक्ति प्रकाश।

(४) 'कीर'''खंजन'—में रूपकातिशयोक्ति अलकार है। इसमे 'की' आवृत्ति के कारण अनुप्रास अलंकार भी हैं। इस प्रकार यहाँ दो अलकार साथ-साथ आए है। इन दो अलकारो के एक साथ आने के कारण अनेक विद्वानो ने यहाँ 'ससृष्टि' नामक उभयालकार स्वीकार किया है।

ऊधो ! तुम आए किहि काज ?
हित की कहत अहित की लागत, बकत न आवै लाज ॥
आपुन को उपचार करौ कछु तब औरनि सिख देहु।
मेरे कहे जाहु सत्वर हो, गहौ सीयरे गेहु ॥
ह्वाँ भेषज नानाविधि के अरु मधुरिपु से है बैदु।
हम कातर डराति अपने सिर कहूँ कलंक ह्वै कैदु ॥
साँची बात छाँड़ि अब झूठी कहौ कौन बिधि सुनिहै ?
सूरदास मुक्ताफलभोगी हंस वह्नि क्यों चुनिहै ? ॥२०६॥

शब्दार्थ—किहि काज=किस कार्य के लिए। आपुन को=अपना। उपचार=इलाज। सत्वर=तुरन्त। गहौ=पहुँच जाओ। सीयरे=ठण्डे-ठण्डे मे। गेहु=घर। ह्वाँ=वहाँ। भेषज=औषध। मधुरिपु=मधु नामक राक्षस के शत्रु, अर्थात् कृष्ण। बेदु=वैद्य। कैदु=कही, कदाचित्। मुक्ता फल भोगी=मोतियो को चुगने वाला। वह्नि=आग। चुनिहै=खायेगे, चुगेगे।

प्रसग—गोपियों के बार-बार मना करने पर भी उद्धव ज्ञान-कथा बन्द नही करते। इस पर गोपियाँ झुँझला उठती है और उन्हे रोग-ग्रस्त घोषित कर देती है।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं कि हे उद्धव ! हम अभी तक नहीं समझ पाईं कि तुम किस काम के लिए यहाँ ब्रज मे आए हो। हम तुम्हें समझा रही हैं। जो बाते तुम्हारे हित की हैं वही तुम्हे बुरी लगती है और तुम बराबर बकझक करते चले जा रहे हो। तुम्हे तनिक भी लज्जा नही आती। हमे लगता है कि तुम स्वय किसी रोग का शिकार हो गए हो तभी तो बके चले जा रहे हो। अत पहले अपना कोई उपचार करवाओ तब दूसरो को अर्थात् हमे ज्ञान एव योग की शिक्षा देना। तुम हमारा कहना मानो और तुरन्त यहाँ से मथुरा के लिए प्रस्थान कर जाओ। 'तुम्हारी तबियत ठीक नही

है, इसलिए ठडे-ठडे मे ही घर पहुँच जाओगे। वहाँ मथुरा मे अनेक प्रकार की रामवाण औषधियाँ उपलब्ध है तथा मधुराक्षस का वध करने वाले कृष्ण जैसे कुशल वैद्य भी वहाँ मौजूद है। वही तुम्हारा उचित इलाज और देखभाल हो सकती है। हम तुम्हारे कारण ही कातर और भयभीत हो रही है क्योकि तुम्हे यदि कुछ हो गया तो हमारे सिर कलंक लगेगा कि देखो गोपियों ने उद्धव की भली-भाँति देखभाल नही की जिससे वे प्रलाप करते हुए स्वर्ग सिधार गये। तुम्हारा रोग इतना भयकर और असाध्य है कि इसका उपचार यहाँ बिलकुल नही हो सकता। वस्तुतः कृष्ण ने तुम्हे यह रोग दिया है वही इसका इलाज कर सकते हैं।

हे उद्धव! हम तुम्हारी इन बकवाद से भरी हुई बातो को किस प्रकार सुने और सहन कर ले क्योंकि तुम सच को छोड़ कर झूठ बोलने पर तुले हुए हो। जो बातें सच्ची है और कृष्ण ने यहाँ कहने के लिए तुम्हें बताई है उन्हें छुपा कर तुम झूठी बाते कह रहे हो, अतः हम तुम्हारी बातों का किस प्रकार विश्वास कर ले। तुम तनिक अपने मन मे विचार करके देखो कि मोती चुगने वाला हंस अग्नि का भक्षण किस प्रकार कर सकता है? हम तो कृष्ण-प्रेम की अनुरागिनी है, अतः हमारा मन अग्नि के समान दाहक तुम्हारे योग एव निर्गुण-ब्रह्म मे नही रम सकता।

विशेष—(१) कृष्ण को 'मधुरिपु' कह कर उन पर व्यग्य किया गया है।

(२) 'हँस बह्न क्यो चुनिहै'—हँस अग्नि का भक्षण नही कर सकता। उसके सम्बन्ध में तो यह कहा गया है—

'कै हँसा मोती चुगै, कै लघन मरि जाय।'

(३) अन्तिम पक्ति में एक बार फिर प्रेममार्ग की स्थापना की गई है।

अलकार—(१) 'मधु' मे श्लेष है—मधु नामक राक्षस और माधुर्य अर्थात् सरस प्रेम।

(२) 'मुकताफलभोगी······चुनिहै'—निदर्शना।

ऊधो! तुम कहियो हरि सो जाय हमारे जिय को दरद।
दिन नहि चैन, रैन नहि सोवत, पावक भई जुन्हैया सरद॥
जब तें अक्रूर लै गए मधुपुरी, भई बिरह तन बाय छरद।
कीन्ही प्रबल जगी अति, ऊधो! सोचन भइ जस पीरी हरद॥

सखा प्रवीन निरंतर हौ तुम तातें कहियत खोलि परद !
क्वाथ रूप दरसन बिन हरि के सूर मूरि नहि हियो सुरद ।।२०७।।

शब्दार्थ—पावक=अग्नि। जुन्हैया सरद=शरद् ऋतु की चाँदनी। बाय=एक रोग, सन्निपात का रोग जिसमे रोगी बकता रहता है। छरद=वमन, उल्टी, कै होना। हरद=हल्दी। प्रवीन=चतुर। खोलि परद=पर्दा खोल कर, स्पष्ट। क्वाथ=काढा। मूरि=जडी। सुरद=स्वस्थ।

प्रसंग—गोपियाँ कृष्ण विरह मे अत्यन्त व्याकुल और विह्वल है। स्वय को सन्निपात के रोग मे ग्रस्त समझ रही हैं। वे उद्धव के माध्यम से कृष्ण को सन्देश भेज रही है।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कह रही है कि हे उद्धव ! हम तुमसे प्रार्थना करती है कि मथुरा जाकर तुम कृष्ण से हमारे अन्तर की समस्त पीडा का वर्णन करना। हम किस प्रकार उनके विरह मे घोर यातना भुगत रही है, यह सब उन्हे जरूर बताना। हमारी ऐसी दुर्दशा हो गई है कि न तो हमें दिन को आराम मिलता है और न रात को नीद ही आती है। शरद् ऋतु की चाँदनी जो अत्यन्त शीतल होती है, हमे तो अग्नि के समान दाहक प्रतीत होती है। जब से अक्रूर कृष्ण को अपने साथ मथुरा ले गये है, हम उनके विरह मे अत्यन्त दुःख झेल रही हैं। हमे बाय अर्थात् सन्निपात का रोग लग गया है और वमन भी हो रहा है। कृष्ण के विरह मे हमारा जीना दूभर हो गया है। हमे अपच हो गया है। खाया पीया सब वमन हो जाता है जिससे हम दिन-प्रतिदिन दुर्बल होती जा रही है। हे उद्धव ! उस पर तुम्हारे ज्ञानोपदेश ने इसे और भी बढ़ा दिया है अर्थात् हमारे रोग को प्रबल कर दिया है। अब हमे दिन-रात यही सोच है कि हम इस कृष्ण-विरह से उत्पन्न पीड़ा से कैसे छुटकारा पा सकेंगी ? इस चिन्ता ने हमे क्षीण बना दिया है और हमारा शरीर हल्दी के समान पीला पड़ गया है।

हे उद्धव ! तुम कृष्ण के प्रिय सखा कहलाते हो, तुम अत्यन्त चतुर हो और तुम्हारा वास निरन्तर उनके पास है अर्थात् तुम्हारी उनके साथ घनिष्ठता है। इसी कारण हम नारी-सुलभ समस्त सकोच और लाज त्याग तुम्हे अपने दिल का रहस्य खोल कर साफ-साफ बताने का साहस एकत्रित कर सकी है। हमारा रोग असाध्य नही है। इसका इलाज है, यह कृष्ण के दर्शन रूपी काढ़ा

के प्रयोग से ही ठीक हो सकता है। इसके अतिरिक्त हमारा शरीर किसी अन्य बहुमूल्य जडी बूटी के सेवन से स्वस्थ नही हो सकेगा। हमारी विरह वेदना कृष्ण-दर्शन से ही दूर हो सकेगी। हमारे लिए निर्गुण-ब्रह्म निरर्थक है: इसलिए हम इसे स्वीकार नही कर सकती।

विशेष—(१) गोपियो के विरह को सन्निपात के रोग का रूप दिया गया है—यह एक अतिशयोक्ति पूर्ण वर्णन है।

(२) 'जिय दरद' मे सूफी प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है।

(३) 'क्वाथ··· ···सुरद'—इस पक्ति के माध्यम से एक बार फिर सगुण-भक्ति की प्रतिष्ठा की गई है। गोपियो के मत में कृष्ण-दर्शन रूपी काढ़ा रामबाण औषध है जिसके सेवन से उनका विरहजन्य सन्निपात रोग तुरन्त ठीक हो जायेगा। जबकि निर्गुण-ब्रह्म रूपी बहुमूल्य जडी-बूटियाँ यहाँ कुछ कार्य न कर सकेगी।

अलंकार—'अतिशयोक्ति एव उपमा अलकारो द्वारा पुष्टरूपक।

ऊधो ! क्यों आए ब्रज धावते !
सहायक, सखा राजपदवी मिलि दिन दस कछुक कमावते ॥
कह्यो जु धर्म कृपा करि कानन सो उत बसिकै गावते।
गुरू निर्वति देखि आँखिन जे स्रोता सकल अघावते ॥
इत कोउ कछू न जानत हरि बिन, तुम कत जुगुति बनावते ?
जो कछु कहत सबन सों तुम सो अनुभव कै सुख पावते ॥
मनमोहन बिन देखे कैसे उर सों औरहिं चाहते ?
सूरदास प्रभु दरसन बिनु वह बार बार पछितावते ॥२०८॥

शब्दार्थ—धावते=दौडते हुए। कानन=कानो मे। बसिकै=बस कर। निर्वत्ति=पूजा कर। स्रोत=सुनने वाले। अघावते=सन्तुष्ट हो जाते। इत=इधर, यहाँ। जुगति=युक्ति। कै=करके।

प्रसग—गोपियो के मत में निर्गुण-ब्रह्म एक निस्सार वस्तु है किन्तु उद्धव यह बात नही समझते और अपना ज्ञानोपदेश आरम्भ कर देते है। उन्हे पात्र-अपात्र का भी ध्यान नही रहता। गोपियाँ उद्धव की इस प्रवृत्ति पर छींटा-कशी कर रही है।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कह रही है कि हे उद्धव ! तुम मथुरा से

भागते हुए यहाँ क्यो आ गए ? कृष्ण मथुरा के राजा बन गये हैं और तुम्हे उनके प्रभाव का उपयोग करके कुछ धन सचय करना था। यहाँ किस कारण चले आए हो ? तुमने हम पर अत्यन्त कृपा करके जो अपना धर्मोपदेश सुना कर हमारे कानो को कृतार्थ किया है, उसका गुणगान वहाँ मथुरा रहकर करते तो वहाँ के नगरवासियो का भी कुछ कल्याण होता और तुम्हे भी कुछ धन प्राप्ति होती। हम तो निर्धन ब्रज बालाएँ है, हमारे पास तो तुम्हे देने के लिए कुछ भी नही है। यहाँ आकर तो तुमने अपना समय ही नष्ट किया है। वहाँ के सभी श्रोतागण तुम्हारे धर्मोपदेश से प्रभावित होते और तुम्हे अपना गुरु स्वीकार कर आँखो पर बैठाते। तुम्हारी पूजा कर तुम्हारे दर्शनो के लाभ से तृप्त होते। गोपियो के कहने का तात्पर्य है कि मथुरा के नगरवासी ही तुम्हारे इस ज्ञानोपदेश का मर्म समझते और वहा तुम्हारा आदर-सत्कार होता। हम तो प्रेम-मार्गी हैं और हमारे लिए निर्गुण-प्रेम-चर्चा तो बकवास है।

यहाँ ब्रज की स्थिति मथुरा नगर से भिन्न है। यहाँ के लोग केवल कृष्ण को जानते है और उन्ही के प्रेम-मार्ग के अनुयायी हैं। इसके अतिरिक्त यहाँ के लोग और किसी को कुछ नही जानते, अत तुम व्यर्थ मे नई-नई युक्तियां बता कर अपने ब्रह्म का बखान कर रहे हो। इन बातो पर यहाँ कोई कान देने वाला नही। जो निर्गुण-ब्रह्म-सम्बन्धी धर्म-चर्चा हमारे सबके सम्मुख कर रहे हो और जिस आनन्द का बखान कर रहे हो यदि तुम स्वयं उसका अनुभव कर लेते तो तुम्हें वास्तविक सुख प्राप्त हो जाता। तुम स्वयं तो कृष्ण के सान्निध्य मे रह कर आनन्द प्राप्त कर रहे हो और हमे कहते हो कि निर्गुण-ब्रह्म को अपना लेने से ही जीवन-सुख मिलता है। यदि ऐसा है तो तुम स्वय इस पर आचरण क्यो नही करते और कृष्ण का साथ क्यो नही छोडते ? हम जानती हैं कि तुम अपने हृदय मे अन्य को स्थान नही दे सकते। तुम तो सदा कृष्ण के साथ बने रहना चाहते हो और उनके दर्शनो का लाभ उठाना चाहते हो। यदि तुम उन्हे छोड कर एक बार भी निर्गुण-ब्रह्म को अपना लो तो बार-बार अपने मन मे पश्चाताप करते रहो कि हाय ! यह मूर्खता क्यों कर ली ? हरि दर्शनो मे विमुख होकर तुम सुख प्राप्त नहीं कर सकते, यह बात हम भलीभाँति जानती और समझती हैं। जब तुम स्वय तो

कृष्ण से विमुख हो नही सकते तो फिर हमें उन्हे त्याग निर्गुण-ब्रह्म को अपना लेने का उपदेश क्यों दे रहे हो; यह बात हमारी समझ मे नही आती।

विशेष—(१) इस पद मे निर्गुण-ब्रह्म और उद्धव के उपदेश की निस्सारता पर व्यग्य किया गया है।

(२) अन्तिम पक्ति से कवि का तात्पर्य यह है कि यदि कभी उद्धव ने कृष्ण का प्रेम त्याग निर्गुण-ब्रह्म को स्वीकार कर लिया तो वे भी अपनी इस मूर्खता पर पश्चाताप करेगे क्योकि कृष्ण का आकर्षण स्थायी और विलक्षण है जो उनसे एक बार प्रेम करता है फिर कभी उनसे विमुख होने की बात नही सोच सकता।

ऊधो ! यहै प्रकृति परि आई तेरे।
जो कोउ कोटि करै कैसे हू फिरत नहीं मन फेरे॥
जा दिन तें जसुदागृह आए मोहन जादवराई।
ता दिन तें हरिदरस परस बिनु और न कछु सुहाई॥
क्रीड़त, हंसत, कृपा अवलोकत, जुग छन भरि तब जात।
परम तृप्त सबहिन तन होती, लोचन हृदय अघात॥
जागत, सोवत, स्वप्न स्यामघन सुंदर तन अति भावै।
सूरदास अब कमलनयन बिनु बातन ही बहरावै॥२०६॥

शब्दार्थ—प्रकृति=स्वभाव, आदत। जसुदागृह=यशोदा माता के घर। जादवराई=यादवपति, यादव कुल के राजा। परस=स्पर्श। सुहाई=सुहाता। लोचन=नेत्र। भावै=भाता है, अच्छा लगता है। बहरावै=बहलाता है।

प्रसंग—गोपियाँ निर्गुण-ब्रह्म को स्पष्ट शब्दो मे अस्वीकार कर चुकी हैं किन्तु उद्धव फिर भी अपना उपदेश जारी रखते है। इस पर गोपियाँ खीझ उठती है और उद्धव की भर्त्सना करती हैं।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कह रही है कि हे उद्धव ! तुम्हारी तो बार-बार निर्गुण-ब्रह्म सम्बन्धी अपनी बात दोहराते रहने की आदत पड़ गई है और तुमने किसी अन्य की बात न सुनने की कसम खा ली है किन्तु हम तुम्हे बता देना चाहती है कि तुम्हारा यह ज्ञानोपदेश, सारा प्रयास बिलकुल व्यर्थ है क्योकि हमारा मन कृष्ण-प्रेम मे पूर्णतया दृढ़ है। अब तुम करोड़ो यत्न

करो, हमारा मन हरि-विमुख होने का नहीं। इसलिए हम निर्गुण-ब्रह्म को नही अपना सकती। जिस दिन से यादव कुल के स्वामी मोहन माता यशोदा के घर आए थे, उस दिन से हमे हरि-दर्शन और उनके स्पर्श की आदत पड़ गई है और उनके विना हमे कुछ भी अच्छा नही लगता। हमारा मन सदा उनका दर्शनाभिलाषी रहता है, और शरीर उनके स्पर्श का प्यासा। इसके अतिरिक्त हमारी किसी अन्य वात मे रुचि नही रहती।

जव कृष्ण का यहाँ निवास था, तव हम लोग उनके साथ क्रीड़ाएँ करती थी, हँसती-वोलती थी, उनकी हम पर असीम कृपा थी। ये सव देखते हुए समय कव व्यतीत होता था हमे खवर न होती थी। एक युग इतना छोटा होता था कि क्षण भर मे ही वीत जाता था, मालूम नहीं पड़ता था। हम अनुभव-हीन इस सीमा तक प्रेम-क्रीड़ा मे निमग्न होती थी कि समय का वीत जाना अनुभव ही नही होता था। हमारा शरीर उनके गूढ आलिगन तथा प्रेम-स्पर्श से पूर्णतया तृप्त था, उनके दर्शन पाकर नेत्र तृप्त थे तथा हृदय उनका प्रेम पाकर फूला नही समाता था। अर्थात् उनके सान्निध्य मे हम पूर्णतया तृप्त थी। हम जागते हुए, सोते हुए और स्वप्न में अर्थात् सभी अवस्थाओ मे मेघ के समान काले कृष्ण के सौन्दर्य का रसपान करती थी और प्रसन्न होती थी। परन्तु हे उद्धव! हमारी अनेक वार प्रार्थना करने पर भी तुम कमलनयन कृष्ण से हमारी भेंट का कोई रास्ता नही निकालते वल्कि निरर्थक वातो से हमे वहलाना चाहते हो अर्थात् निर्गुण ब्रह्म की वाते करके हमारा समय नष्ट कर रहे हो।

विशेष—(१) पूर्ण पद मे भावो का प्रावल्य है और गोपियो की अनन्य प्रेमनिष्ठा का हृदयग्राही वर्णन हुआ है।

(२) अन्तिम पक्ति का यह भी अर्थ हो सकता है कि कृष्ण के विना हम अपने हृदय को उनकी वातों से फुसला कर वहलाने का प्रयत्न करती रहती है।

ऊधो! मन नाही दस वीस।
एक हुतो सो गयो हरि के सँग, को अराधै तुव ईस?
भई अति सिथिल सवै माधव विनु जथा देह विन सीस।
स्वासा अटकि रहे आसा लगि, जीवहि कोटि वरीस॥

तुम तो सखा स्यामसुंदर के सकल जोग के ईस।
सूरजदास रसिक की बतियाँ पुरवौ मन जगदीस ॥२१०॥

शब्दार्थ—हुतो=था। अराधै=आराधना करे। तुव=तुम्हारा। ईस=निर्गुण-ब्रह्म। जथा=यथा, जैसे। देह=शरीर। सीस=सिर। स्वासाँ=साँस। वरीस=वर्ष। ईस=स्वामी, अधिकारी। पुरवौ=पूरी करो।

प्रसंग—गोपियाँ निर्गुण-ब्रह्म को ग्रहण करने की असमर्थता प्रकट करने के लिए कह रही है कि ब्रह्म को मन द्वारा ही ग्रहण किया जा सकता है। किन्तु हमारा मन तो कृष्ण अपने साथ मथुरा ले गए है। इसलिए हम विवश है।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कह रही है कि हे उद्धव! प्रत्येक व्यक्ति के पास केवल एक ही मन होता है, दस-बीस या अनेक मन नही होते। हमारे पास भी एक ही मन था किन्तु वह कृष्ण के साथ मथुरा चला गया। अब तुम ही कहो, जब हमारा मन ही हमारे पास नही है तो हम किस प्रकार तुम्हारे निर्गुण-ब्रह्म की आराधना करे? अपने मन के हमारे पास न होने के कारण निर्गुण-ब्रह्म की आराधना करने मे सर्वथा असमर्थ है। जिस प्रकार सिर के कट जाने पर शरीर निर्जीव और निष्प्राण हो जाता है, हम भी उसी प्रकार कृष्ण के विना अत्यन्त शिथिल और निष्प्राण हो चुकी है। हमारे शरीर मे सांस के रूप मे हमारे प्राण केवल इस आशा मे अटके हुए है कि कृष्ण कभी-न-कभी व्रज लौटेगे और हम उनके दर्शनो से अपनी प्यास बुझाएँगी। हम इसी आशा के सहारे करोडो वर्षो तक जीवन धारण किये रहेगी। उन्हे मिले विना हमारे प्राण हमारा शरीर नही छोड सकते।

हे उद्धव! तुम तो श्यामसुन्दर कृष्ण के मित्र हो और उस पर योग के सम्पूर्ण ज्ञाता अर्थात् स्वामी हो। इस प्रकार तुम योग के द्वारा सब कुछ कर पाने मे समर्थ हो। अत हमारी तुमसे केवल यही प्रार्थना है कि तुम अपने योग के बल पर जगत् के स्वामी कृष्ण मे रसिकतापूर्ण वही सब बाते उत्पन्न कर दो जिससे वे यहा लौट आएँ और हमसे प्रेम करना आरम्भ कर दे। लगता है कान्ह व्रज वाली रसिकता को भूल कर राज-काज मे अधिक व्यस्त है। यदि उनके मन मे पुरानी बातों की स्मृति लौट आएगी तो उन्हे हमारी सुध आ जायेगी और फिर वे यहाँ अवश्य आएँगे।

विशेष—(१) प्रस्तुत पद मे काव्य और सगीत का सुन्दर एव कलात्मक समन्वय है जिससे वह एक उत्तम गेय पद है।

(२) इस पद मे 'विवशता' सचारी-भाव की सयोजना की गई है।

(३) अन्तिम पक्ति का यह अर्थ भी हो सकता है तुम हमारे सम्मुख ईश्वर के रसिक रूप कृष्ण का गुण-गान करो न कि योग-साधना की नीरस चर्चा।

ऊधो ! तुम सब साथी भोरे।
मेरे कहे बिलग मानौगे, कोटि कुटिल लै जोरे॥
वै अक्रूर क्रूर कृत तिनके, रीते भरे, भरे गहि ढोरे।
वै घनस्याम, स्याम अंतरमन, स्याम काम महँ बोरे॥
ये मधुकर दुति निर्गुन गुनते, देखे फटकि पछोरे।
सूरदास कारन संगति के कहा पूजियत गोरे ? ॥२११॥

शब्दार्थ—भोरे=भोले-भाले। बिलग=बुरा। कृत=कर्म। तिनके=उनके। रीते=रिक्त, खाली। गहि ढोरे=पकडकर लुढका दिया। स्याम काम मँह बोरे=काले कारनामो मे डूबे हुए है। दुति=कान्ति। गुनते=चिंतन करते रहते हो। फटकि पछोरे=भली भाँति छान-फटक कर अर्थात् साफ करके। कारन=कालो की। पूजियत=बराबरी कर सकते है।

प्रसग—गोपियो की दृष्टि मे श्यामवर्णीय सभी जन—चाहे वे कृष्ण हो अथवा उद्धव—कपटी और छली होते हैं। उनका मन काला होता है और कोई-न-कोई षड्यन्त्र की फिराक मे रहते है।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कह रही है कि हे उद्धव ! तुम सब साथी अर्थात् तुम, कृष्ण और अक्रूर कहने को तो भोले-भाले हो किन्तु वस्तुत. धूर्त और छली एव कपटी हो। हमारे कहने का तुम बुरा तो अवश्य मानोगे किन्तु है यह सत्य कि करोडो प्रकार की कुटिलताओ को सचय करके तुम सबका निर्माण हुआ है। गोपियो का कहने का तात्पर्य यह है कि ये तीनो छल एव कपट की खान हैं। एक तुम्हारे साथी अक्रूर जी है जिनकी करनी नाम के सर्वथा विपरीत है अर्थात् उनका नाम है अक्रूर अर्थात् क्रूरतारहित किन्तु उनके सभी कार्य क्रूरतापूर्ण है। वस्तुत: उनके कारण ही हमे कृष्ण से विलग होना पड़ा है। उनके ऐसे कार्य हैं कि जो घडे खाली होते है उनको तो भर

देते है और भरे हुए घडो को लुढका कर खाली कर देते है। हमारा जीवन कृष्ण-प्रेम से परिपूर्ण था, वे कृष्ण को यहाँ से ले गए और इस प्रकार हमारे जीवन मे व्यथा और पीड़ा भर दी। उधर कुब्जा का कृष्ण से तनिक भी परिचय नही था किन्तु कृष्ण को कुब्जा को सौप दिया जिससे उसके जीवन मे प्रेम और आनन्द भर गया। इस प्रकार उनकी गति सदा विपरीत है। तुम्हारे दूसरे साथी कृष्ण है। वह तुम्हारे प्रिय सखा है। उनका नाम घनश्याम है। जैसा काला उनका रग है, वैसा ही काला छल एव कपट से भरा हुआ उनका मन है जो सदा षड्यंत्र भरी बाते ही सोचा करता है। वे मन से मक्कार है। हमारे साथ प्रेम-विहार करके अब हमे छोड कर मथुरा से जा बसे है और कुब्जा के साथ नित नई भोग-लीलाओ मे आकण्ठ डूबे है जबकि हमे योग का सन्देश भेजा है। होना तो यह चाहिए था कि वह अपने नाम 'घनश्याम' को सार्थक करते और काले मेघ के समान सबको शीतलता प्रदान करते और प्यासे चातक की स्वाति नक्षत्र के रूप मे बरस कर मनोकामना पूरी करते।

हे उद्धव! भ्रमर जैसी कान्ति वाले एक तुम हो। जब से आए हो निर्गुण-ब्रह्म का गुणगान कर रहे हो, जरा भी नही अघाते। जो स्वय ही गुणहीन है उसके गीत गाने से क्या लाभ। यह तो वस्तुतः एक मूर्खतापूर्ण कार्य ही कहा जाएगा। इस प्रकार हमने तुम श्यामवर्ण वालो को भली-भाँति देख-परख लिया है और अन्त मे इस नतीजे पर पहुँची है कि तुम काले रग वाले गोरे रग वालो की समानता नही कर सकते। तुम्हारा हृदय भी छल-कपट से भरा हुआ है और तुम्हारे कार्य भी छोटे है जबकि हम गौरवर्णीय गोपियो के तन एव मन तो उजले है ही साथ ही कर्म भी उज्ज्वल हैं। हम कृष्ण के साथ दृढ प्रेम करती है और उनके लौटने की प्रतीक्षा कर रही है जबकि वे कुब्जा के साथ प्रेम की पींगे बढा रहे हैं।

विशेष—प्रस्तुत पद से श्यामवर्णीय अक्रूर, कृष्ण और उद्धव पर उनकी करनी के कारण तीखा व्यग्य किया गया है। इस दृष्टि से यह पद सूर की काव्य-कला-कौशल का सुन्दर उदाहरण है।

अलंकार—(१) सम्पूर्ण पद मे व्याजनिन्दा अलकार है।

(२) प्रथम पक्ति मे काकुवक्रोक्ति अलकार के प्रयोग से चमत्कार उत्पन्न किया गया है।

(३) 'वे अक्रूर''' ढारें'—में विरोधाभास अलंकार है।

ऊधो ! समुझावैं सो बैरनि।
रे मधुकर ! निसिदिन मरियतु है कान्ह-कुँवर-औसेरनि ॥
चित चुभि रही मोहनी मूरति, चपल दृगन की हेरनि।
तन मन लियो चुराय हमारो वा मुरली के टेरनि ॥
बिसरति नाहिं सुभग तन-सोभा पीतांबर की फेरनि।
कहत न बनै काँध लकुटी धरि छबि बन गायन घेरनि ॥
तुम प्रबीन, हम बिरहि, बतावत आँखि मूँदि भटभेरनि।
जिहि उर बसत स्यामघन सो क्यों परै मुक्ति के झेरनि ॥
तुम हमको कहँ लाए, ऊधो ! जोग-दुखन के ढेरनि।
सूर रसिक बिन क्यों जीवत हैं निर्गुन कठिन करेरनि ? ॥२१२॥

शब्दार्थ—सो=वह। बैरनि=शत्रु। औसेरनि=दुख मे। चपल=चचल। दृगन=नेत्रो का। हेरनि=देखना। टेरनि=बुलाहट, ध्वनि। बिसरित=भूलती। फेरिनि=पहरावा, वेप। काँध=कन्धे पर। लकुटि=लाठी। घेरनि=इकट्ठा करना। भटभेरनि=टक्कर, मुठभेड होना। जिहि=जिसके। झेरनि=झझट मे, गड्ढे मे। ढेरनि=ढेर, समूह। करेरनि=चोट, आघात।

प्रसंग—गोपियो ने अनेक बार उद्धव को अपनी ज्ञानकथा बन्द करने के लिए कहा क्योकि वे प्रेममार्गी है और निर्गुण-ब्रह्म को स्वीकार नही कर सकती किन्तु उद्धव अपनी जिद पर अडे रहे और अपना उपदेश जारी रखा। इस पर गोपियाँ खीझ उठती हैं और उनकी भर्त्सना करती हैं।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हे उद्धव ! तुम अत्यन्त हठी प्रकृति के व्यक्ति हो। इतनी बार मना करने पर भी तुम अपनी ज्ञानकथा का राग बन्द नही करते। हममे से जो तुम्हे समझाने का प्रयत्न करता है, तुम उसे अपना शत्रु समझने लग जाते हो। हे उद्धव रूपी भँवरे ! क्या तू यह देख नही पाता है कि हम कान्ह अर्थात् कृष्ण के वियोग मे दिन-रात दुखी है। और इस अनन्त व्यथा मे हमारा दम घुटता जा रहा है और हम मरी जा रही है किन्तु फिर भी तू हमारी दशा पर तरस नही खाता और निर्गुण-ब्रह्म की हाँके जा रहा है। अर्थात् कृष्ण के बिना हमारे तो प्राणों पर बनी हुई है किन्तु तुझे निर्गुण-ब्रह्म ही सूझ रहा है। हमारे हृदय मे कृष्ण को मुग्ध कर देने वाली

सुन्दर मूर्ति समाई हुई है। उनकी चचल नेत्रो की बांकी चितवन अभी भी हमें अपनी ओर ही खीच रही है। उनकी मुरली की मधुर मादक तान ने हमारा तन-मन चुरा लिया है। कृष्ण की पीले वस्त्रो से सुसज्जित उनके सुन्दर शरीर की शोभा क्षण भर के लिए भी नही भूलती। हम सदा कृष्ण की मोहनी मूर्ति के ही ध्यान में लीन रहती हैं। उनका कन्धे पर लाठी धर कर वनो मे गायो को घेरना और घर लौटाने के लिए एकत्रित करना तो बस देखते ही बनता था। उनकी उस समय की शोभा के वर्णन मे हम पूर्णतया असमर्थ है। उनकी ऐसी छवि मे कुछ विलक्षणता थी।

हे उद्धव! तुम एक विद्वान् और विवेकशील प्राणी हो जबकि हम एक तो अबला नारियाँ हैं और दूसरे अपने प्रिय के विरह मे दग्ध है। कही इसलिए ही तो नही तुम हमे आँखे बन्द कर इधर-उधर भटकने का उपदेश दे रहे हो किन्तु सम्भवतः तुम इस बात से परिचित नही हो कि जिसके हृदय में सदा घनश्याम विराजमान रहते हो, वह भला क्यो मुक्ति प्राप्त करने के चक्करो मे फँसेगा। हम अपने हृदय मे कृष्ण को पाकर जिस प्रकार का आनन्द अनुभव करती है; उसके सम्मुख तुम्हारी मुक्ति कुछ भी मूल्य नही रखती और न ही हमे उसकी अभिलाषा रहती है।

हे उद्धव! तुम कहाँ से हमारे लिए योग-कथा के रूप मे दुखो की गठरी उठा कर आए हो। प्रेम-मार्ग एक सरल-सपाट मार्ग है, उसे त्याग योग-साधना के कठिन मार्ग को अपनाकर मुक्ति प्राप्त करना एक दीर्घ, एक असम्भव प्रक्रिया है जिसमे प्राणी को केवल कष्ट सहने के अलावा कुछ भी प्राप्त नही होता। तुम क्यो हमे ऐसे दुखो और और कष्टो मे धकेलना चाहते हो। अब तुम्ही हमे बता दो कि रसिक शिरोमणि कृष्ण के बिना हम तुम्हारी इस निर्गुण-ब्रह्म की आराधना के कठिन आघातो को किस प्रकार सहन करके जीवन धारण कर सकेंगी। कृष्ण को त्याग योग-साधना को अपनाने से हमारा जीवनान्त निश्चित है। इसलिए तो हम निर्गुण-ब्रह्म को नही अपना रही।

विशेष—(१) गोपियाँ कृष्ण की मोहिनी मूर्ति के ध्यान मे लीन है, अतः 'स्मृति' संचारी भाव है।

(२) इस पद मे एक बार फिर गोपियो द्वारा निर्गुण-ब्रह्म का खण्डन करके सगुणोपासना की प्रतिष्ठा की गई है।

(३) अन्तिम पंक्ति से मिलता-जुलता भाव कवि ठाकुर ने इस प्रकार व्यक्त किया है—

'ऊधो जी अखियाँ जरि जांय, जो सांवरो छोड़ तकै तन गोरो ।'

ऊधो ! स्यामहिं तुम लै आओ ।
ब्रजजन-चातक प्यास मरत हैं, स्वातिबूँद बरसाओ ॥
घोष-सरोज भए हैं संपुट, दिनमनि ह्वै बिगसाओ ।
ह्यां तें जाव विलंब करौ जनि, हमरी दसा सुनाओ ॥
जौ ऊधो हरि यहाँ न आवैं, हमको तहाँ बुलाओ ।
सूरदास प्रभु वेगि मिलाए संतन में जस पाओ ॥२१३॥

शब्दार्थ—घोष-सरोज=गोप-ग्वाले रूपी कमल । सम्पुट=बन्द । दिनमनि=सूर्य । ह्वै=होकर । बिगसाओ=विकसित कर दो । विलम्ब=देर । जनि=मत । वेगि=शीघ्र ।

प्रसंग—गोपियाँ कृष्ण-दर्शन के लिए आतुर हैं और उद्धव से प्रार्थना करती हैं कि वे कृष्ण के साथ उनकी भेंट कराकर संसार में यश प्राप्त करें।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं कि हे उद्धव ! हम तुमसे प्रार्थना करती हैं कि तुम मथुरा जाकर कोई ऐसा उपाय करो और कृष्ण को यहाँ ब्रज में ले आओ । उनसे कहो कि समस्त ब्रजवासी चातक के समान उनके दर्शनों की प्यास के कारण मरणासन्न हैं अर्थात् उनके बिना अत्यन्त व्याकुल और प्रेम-विह्वल हैं । अतः वे अपने दर्शन रूपी स्वातिनक्षत्र की बूँदों की वर्षा करके इन सबके जीवन की रक्षा करें अर्थात् अपने दर्शन देकर इन ब्रजवासियों को जीवनदान दें । समस्त ब्रज के गोप-ग्वालरूपी कमल कृष्ण रूपी सूर्य के न चमकने के कारण मुरझा गए हैं अर्थात् कृष्ण के बिना सभी ग्वाल-बाल शिथिल हो सब काम-काज छोड़ कर बैठे हैं । कृष्ण रूपी सूर्य के दर्शन होते ही ये प्रफुल्लित हो जायेंगे और पुनः चैतन्य होकर काम-काज में लगेंगे । अतः बिना देर किए तुम तुरन्त मथुरा के लिए प्रस्थान कर दो और वहाँ पहुँच कर उन्हें हमारी दुर्दशा का परिचय दो कि किस प्रकार हम ब्रजवासी उनके बिना नाना कष्ट झेल रहे हैं ।

हे उद्धव ! यदि वे हमारी दुख-कथा का समाचार सुन कर भी यहाँ आने में कुछ संकोच अनुभव करें तो फिर तुम किसी के हाथों सन्देश भेज कर हमें ही

वहाँ बुला लेना। यदि अपने प्रयत्नो द्वारा तुम शीघ्र कृष्ण से हमारी भेंट करा दोगे तो सन्तगण मे तुम्हारा यश और कीर्ति फैलेगी अर्थात् भक्त एवं सन्तजन तुम्हारे गुणो का गान करेंगे। इधर कृष्ण से भेंट हो जाने पर हमारी विरह-व्यथा मिट जाएगी और हम पर किए गए उपकार के बदले तुम्हारी गिनती संसार के भक्त लोगो, सन्त लोगो मे की जाएगी।

विशेष—(१) गोपियो की दीनता एवं व्याकुलता का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन किया गया है।

(२) यह पद गेयता का सुन्दर उदाहरण है।

अलंकार—रूपक और अतिशयोक्ति।

ऊधोजू ! जोग तबहिं हम जान्यो।
जा दिन तें सुफलकसुत के सँग रथ ब्रजनाथ पलान्यो॥
जा दिन ते सब छोह-मोह मिटि सुत-पति-हेत भुलान्यो।
तजि माया संसारसार की ब्रजबनितन ब्रत ठान्यो॥
नयन मुँदे, मुख रहे मौन धरि, तन तपि तेज सुखान्यो।
नंदनँदन-मुख मुरलीधारी, यहै रूप उर आन्यो॥
सोउ संजोग जिहि भूलं हम कहि तुमहूँ जोग बखान्यो।
ब्रह्मा पचि पचि मुए प्रान तजि तऊ न तिहि पहिचान्यो॥
कहौ सु जोग कहा लै कीजै ? निर्गुन परत न जान्यो।
सूर वहै निज रूप स्याम को है उर माँहि समान्यो॥२१४॥

शब्दार्थ—जा दिन ते=जिस दिन से। सुफलकसुत=अक्रूर। पलान्यो=पलायन कर गये, चले गये। छोह-मोह=क्षोभ और मोह। सुत=पुत्र। हेत=कल्याण। भुलान्यो=भुला दिया। संसार-सार=सांसारिक मोह-माया। तजि=छोड़ दी। ब्रजबनितन=ब्रज बालाएँ अर्थात् गोपियो। सजोग=संयोग, मिलन। जिहि=जिससे। पचि-पचि=प्रयत्न कर-करके। मुए=मर गए। तिहि=उसे। उर माँहि=हृदय में। समान्यो=समाया हुआ।

प्रसग—गोपियों की दृष्टि में उनकी विरह-साधना निर्गुण-ब्रह्म प्राप्ति के लिए की जाने वाली योग-साधना से श्रेष्ठ है और वस्तुतः यही योग-साधना है।

व्याख्या—गोपियां उद्धव से कह रही है कि हे उद्धव ! तुमने जो हमारे सम्मुख योग-साधना की चर्चा की है वस्तुतः हमारे लिए यह नई नही है।

जिस दिन अक्रूर जी कृष्ण को रथ पर बैठा कर मथुरा ले गए थे, उस दिन ही हमने जान लिया था कि योग-साधना कैसी होती है और कैसे की जाती है ? जिस दिन से कृष्ण ने यहाँ से पलायन किया है, उस दिन से उनके विरह के कारण उनके प्रति क्षोभ और ससार के प्रति मोह की भावना नष्ट हो गई है। हम पुत्र-पति एवं परिवार की कल्याण-भावना को भुला बैठी है। व्रज की समस्त गोपियो ने सांसारिक मोह-माया का त्याग कर दिया है। अर्थात् संसार से उदासीन हो गई हैं। अब उन्होंने कृष्ण-विरह का कठोर-व्रत धारण कर लिया है। अब बताओ हममे और एक योगी मे क्या अन्तर है। जिस प्रकार वह संसार से विमुख होता है, उसी प्रकार हम भी समस्त मोह-माया को त्याग कर संसार से विरक्त हो गई हैं।

जिस प्रकार योग-साधना मे नेत्र बन्द कर लिये जाते है और मौन-साधना द्वारा ब्रह्म के ध्यान मे लीन होकर कठिन तपस्या की जाती है, उसी प्रकार हमने भी अपने नेत्र बन्द करके ससार को देखना छोड दिया है और मुख से मौन धारण कर लिया है। इस प्रकार हम प्रेम-विरह की कठिन तपस्या मे रत हैं और हमने अपने शरीर को कान्ति-हीन और निस्तेज कर दिया है। अर्थात् इस विरहानल मे तप कर हमारा शरीर सौन्दर्यरहित हो गया है। अब हम अपने हृदय मे केवल मुरली धारण किए हुए कृष्ण के सुन्दर मुख का ही ध्यान किये रहती है और इस रूप को क्षण भर के लिए भी अपने से विलग नही करती। हम अपने उर मे कृष्ण की ऐसी सुन्दर मूर्ति की स्थापना करके उनसे सयोग का सुख प्राप्त करती रहती हैं किन्तु अब तुम यहाँ आए हो और हममे योग एवं निर्गुण-ब्रह्म की चर्चा कर रहे हो क्योकि तुम चाहते हो कि हम कृष्ण को भूल कर योग को अपना ले। यदि हम तुम्हारी बात मान लेती हैं तो हम कृष्ण की स्मृति द्वारा प्राप्त सयोग-सुख से भी वचित हो जायेंगी क्योकि ब्रह्म की उपासना तो किसी की स्मृति रहते हुए नही की जा सकती, अतः यह हमारे लिए असम्भव है। और फिर यह इतना कठिन है कि विश्वज्ञाता ब्रह्मा जी भी प्रयत्न करने पर इसका पार न पा सके और आखिर हार कर चुप बैठ गए। अब तुम्ही कहो कि हम योग को लेकर क्या करें। निर्गुण-ब्रह्म को जानना-पहचानना अत्यन्त कठिन है, आज तक कोई न तो इसे जान सका है और न ही इसका पार पा सका है। वेद भी 'नेति-नेति' कह कर इसके विषय

मे मौन हो गए है'। हम तो ज्ञानहीन अबला नारियाँ है, हम इसकी साधना किस प्रकार कर सकती हैं? हमने तो अपने हृदय मे कृष्ण का मुरली-धारी रूप प्रतिष्ठित कर लिया है क्योकि उससे हम बचपन से ही पूर्णतया परिचित है, अब हम किसी अन्य को अपने हृदय में नही बसा सकती। हमारी दृष्टि मे तो तुम्हारी योग-साधना से हमारा विरह अधिक श्रेयकर है, हम इसे त्याग नही सकती। इससे जो सुख मिलता है वह मुक्ति प्राप्त करने में नही।

विशेष—(१) इस पद के द्वारा सूर ने अपनी उपासना-पद्धति को स्पष्ट किया है। सूर की दृष्टि मे सगुण और निर्गुण भक्ति दोनो का एक ही लक्ष्य ब्रह्म की प्राप्ति है। सगुण भक्ति सरल और स्पष्ट है, इसलिए भक्तगण इसी को ग्राह्य मानते है। जबकि योग और निर्गुणोपासना जटिल एव दुरूह है। इसी दृष्टि से सूर ने 'सूरसागर' के आरम्भ मे स्पष्ट घोषणा की है—

'सब विधि अगम विचारहि ताते सूर लीला पद गावै।'

सूर ने गोपियो के माध्यम से यही बात स्पष्ट की है क्योकि सूर की गोपियाँ सगुणोपासक है और प्रत्येक स्थल पर दुरूह एवं जटिल योग-साधना को स्वीकार न करके प्रेम-साधना को श्रेष्ठ एव सुलभ घोषित करती हैं।

(२) तुलना के लिए देखिए निम्न पक्तियाँ—

'बिरहिन के सहजै सधै, योग-भक्ति और ज्ञान।'

ऊधो! वै सुख अबै कहाँ?
छन छन नयनन निरखति जो सुख, फिरि मर जात तहाँ॥
मुख मुरली, सिर मोरपखौआ उर घुँघुचिन को हारु।
आगे धेनु रेनु तन-मंडित तिरछी चितवनि चारु॥
राति-धौस तब संग आपने, खेलत, बोलत, खात।
सूरदास यह प्रभुता चितवत केहि न सकति वह बात॥२१५॥

शब्दार्थ—अबै=अब। तहाँ=वहाँ। मोरपखौआ=मोर पखो का मुकुट। हारु=हार, माला। धेनु=गाय। रेनु=धूल। चारु=सुन्दर। धौस=दिवस। प्रभुता=प्रभुत्व, बडप्पन।

प्रसंग—गोपियाँ कृष्ण-विरह मे दुखी हैं। कृष्ण के साथ सयोगावस्था के सुखो का स्मरण करते हुए उद्धव से कह रही है—

व्याख्या—हे उद्धव ! कृष्ण के साथ संयोगावस्था मे जो सुख हमने प्राप्त किये है, वे सुख अब हमे कहाँ मिल सकते हैं ? जब कृष्ण यहाँ निवास करते थे तो क्षण-क्षण में हम उनके जिस मुख को निहारा करती थी, आज हमारा मन बार-बार उसी सुखद स्मृति मे खोया हुआ है। कृष्ण का वह रूप कितना सलोना था। वे मुख पर मुरली धारण किए रहते थे और उस पर मधुर तान बजाते थे। उनके सिर पर सदा मोर के पखो का मुकुट विराजता था और गले में घुंघुचियो की माला पहने रहते थे। उनके आगे-आगे गायें चलती थीं और पीछे-पीछे वे उन्हे हाँकते हुए गोधूलि के समय घर की ओर लौटते थे। उनका समस्त शरीर धूल-धूसरित होता था। वे अपनी सुन्दर-बाँकी चितवन से चारो ओर देखते हुए चलते थे। उस समय रात-दिन हमे उनका सान्निध्य प्राप्त था। वे सदा हमे अपने साथ रखते, साथ-साथ खेलते, बाते करते और खाते-पीते थे। हमे उस वक्त पल भर के लिए कृष्ण का विछोह सहन नही करना पड़ता था। वह सुखमय जीवन अब कहा, वह तो बीत चुका है। अब वे कृष्ण प्रभुता-सम्पन्न हो गए हैं, वे मथुरा के राजा हैं। उनकी इस प्रभुता को देख हम पुरानी बातो को कहने का अभी तक साहस नही बटोर पा रही।

विशेष—(१) प्रस्तुत पद मे गोपियो की विवशता का अत्यन्त सुन्दर चित्रण किया गया है।

(२) गोपिया कृष्ण के लबित रूप का ध्यान कर रही हैं, अतः स्मृति-सचारी भाव है।

(३) 'बेनु रेनु' में शब्द-मैत्री का सुन्दर रूप प्रस्तुत हुआ है।

(४) अन्तिम पक्ति से कवि का तात्पर्य यह है कि आज कृष्ण मथुरा के राजा होने के कारण एक प्रभुता-सम्पन्न व्यक्ति बन गए हैं। अत ग्राम-बालको के साथ पुरानी घनिष्ठता उनके आडे आ सकती है और उनके मार्ग को अवरुद्ध कर सकती है। इसलिए गोपियां सकोचवश कुछ कह नही पा रही। फिर यह भी संभव है कि गोपियो की बातो का कोई विश्वास ही न करे और फिर उनकी हेठी हो।

(५) इस प्रकार लौकिक भावनाओं और मानव की विवशता का एक सुन्दर चित्र इस पद मे प्रस्तुत हुआ है जिससे सूर-काव्य जन-जीवन के निकट आने मे सफल हुआ है।

कहि ऊधो ! हरि गए तजि मथुरा कौन बड़ाई पाई ।
भुवन चतुर्दस की बिभूति, वह, नृप की जूठि पराई ॥
जो यह काज करै ताको सेवक स्रुति पढ़ै बताई ।
सेवत सेवत जन्म घटावत करत फिरत निठुराई ॥
तुम तो परम साधु अंतरहित जनि कछु कहौ बनाई ।
सूर स्याम मन कहा बिचारचो, कौन ठगौरी लाई ॥२१६॥

शब्दार्थ—भुवन-चतुर्दस=चौदह भुवन । विभूति=सम्पत्ति । जूठि=जूठन । पराई=दूसरे की । स्रुति=वेद । बनाई=बताता है, उपदेश देता है । जनि=मत । अन्तरहित=मन, हृदय । बनाई=बना कर, गढ कर, झूठी बात । ठगौरी=ठग विद्या ।

प्रसंग—गोपियो की दृष्टि मे कृष्ण का मथुरा जाना अनुचित था । वहा उनको कुछ भी तो श्रेय नही मिला ।

व्याख्या—गोपिया उद्धव से कह रही है कि हे उद्धव ! यह बताओ कि ब्रज को और हमे रोता-बिलखता छोड कर कृष्ण मथुरा चले गए, वहा उन्हे क्या प्रभुता और बडाई मिली ? हमारी समझ मे तो उन्हे कुछ भी प्राप्त नही हुआ । सम्भवतः वे वहा इस कारण गए हो कि कस को मार कर मथुरा का सिहासन प्राप्त कर लेगे । और इस प्रकार अपार सम्पत्ति के स्वामी बन कर सुख-भोग करेगे किन्तु यह बात भी उचित प्रतीत नही होती क्योकि वे साक्षात् ब्रह्म है और स्वय चौदह भुवनो और सम्पूर्ण सुख-वैभव के स्वामी ह । इसकी तुलना मे मथुरा का राज्य तुच्छ है और महत्वहीन है फिर यह राज्य तो दूसरो की जूठन है क्योकि इससे पूर्व अनेक राजा इसका उपभोग कर चुके है । यदि इस जूठन का उपभोग करने के लिए कृष्ण ब्रज को छोड़ कर मथुरा गये है तो यह कोई गौरव की बात नही । जो व्यक्ति अर्थात् कृष्ण तो दूसरो की जूठन का भोग करने का अत्यन्त गौरवपूर्ण कार्य कर रहा है, तुम उसके सेवक हो और दूसरो को ज्ञान-साधना का उपदेश देते फिर रहे हो और वेदो की बडी-बडी बाते पढने की प्रेरणा दे रहे हो । तुम्हारा यह कार्य कहा तक उचित है ? अरे पहले अपने स्वामी की ओर तो देखो, पहले उसे उपदेश दो । हम जानती हैं कि तुम यह नही कर सकते । तुम तो ऐसे स्वामी की सेवकाई करते-करते अपने जीवन को नष्ट कर रहे हो क्योंकि तुम अपने स्वामी के आग्रह पर ही

हमे ब्रह्म की आराधना का उपदेश देने आए हो जो एक क्रूरतापूर्ण कार्य है और इससे हमारा दिल दुखता है। तुम्हें यह शोभा नही देता। तुम्हारे लिए तो यह उचित था कि ऐसी सेविकाई त्याग कर पहले अपना जन्म सुधारते और फिर दूसरो को उपदेश देते।

हे उद्धव! तुम तो एक सन्त-साधु और सज्जन पुरुष हो। अतः तुम्हें सच्ची बात को तुरन्त स्वीकार कर लेना चाहिए। अपने मन मे कोई अन्य सच्ची-झूठी बात गढ कर हमे अपनी सफाई मत दो क्योंकि हमने तुम्हारी असलियत को जान लिया है। तुम हमे सच-सच बता दो कि श्याम ने अपने मन मे सोच-विचार कर हमारे विषय मे कौन-सा निर्णय ले लिया है जिसे पूरा करने के लिए वह ठगी से भरी चाल चल रहे है और तुम्हारे हाथो हमे निर्गुण-ब्रह्म का सन्देश भेजा है और हमे सन्यासिनी बनाना चाहते हैं।

विशेष—(१) गोपियो की दृष्टि मे कृष्ण का मथुरा जाना उचित नही था। और न ही इससे कोई महत्वपूर्ण कार्य ही सिद्ध हुआ है। कृष्ण का राजा रूप कोई विशेष महत्व नही रखता।

(२) कृष्ण के ज्ञानोपदेश के सन्देश के पीछे कोई षड्यन्त्र कार्य कर रहा है, गोपियों को इस बात की आशका है।

(३) "तुम तो···कहो बनाई"—इस पक्ति से गोपियो का अभिप्राय उद्धव को झूठा, मक्कार घोषित करना है।

अलंकार—'तुम तो···कहो बनाई'—काकुवक्रोक्ति।

ऊधो! जाय बहुरि सुनि आवहु कहा कह्यो है नदकुमार।
यह न होय उपदेस स्याम को कहत लगावन छार॥
निर्गुन ज्योति कहा उन पाई सिखवत बारंबार।
काल्हिहि करत हुते हमरे अग अपने हाथ सिगार॥
व्याकुल भए गोपालहि बिछुरे गयो गुनज्ञान सँभार।
तातें ज्यों भावै त्यो बकत हो, नाहीं दोष तुम्हार॥
विरह सहन को हम सिरजी है, पाहन हृदय हमार।
सूरदास अंतरगति मोहन जीवन-प्रान-अधार॥२१७॥

शब्दार्थ—बहुरि=फिर एक बार। छार=राख। काल्हिहि=कल ही। हुते=थे। सभार=होश-हवास। ताते=इसलिए। सिरजी है=बनाई गई

है। पाहन=पत्थर। अंतरगति=हृदय, प्राण।

प्रसंग—गोपियो को इस बात पर विश्वास नही हो रहा कि उनके लिए योग का सन्देश कृष्ण ने भेजा है। इसलिए वे उद्धव को कह रही है कि वह नन्दकुमार से पूछ कर आएं कि उन्होने क्या कहा था। वे तो उद्धव को कोरा बकवासी ही समझ रही है।

व्याख्या—गोपिया उद्धव से कह रही है कि हे उद्धव ! हमें इस बात का अभी तक विश्वास नही हो रहा कि योग का सन्देश कृष्ण ने हमारे लिए भेजा है। अतः तुम एक बार फिर मथुरा जाओ और नन्दकुमार से मालूम करके आओ कि वस्तुतः उन्होने क्या कहा था, हमारे लिए क्या सन्देश भेजा था। हम तुम्हे यह इसलिए कह रही है क्योंकि तुम उनसे आए हो बक-झक किए चले जा रहे हो, अत हमे तो कोई पागल ही प्रतीत होते हो। यह जो तुम हमें शरीर पर राख मल कर योगिनी बनने की बात कह रहे हो, यह कृष्ण का सन्देश नही हो सकता, इस बात का हमें पूरा विश्वास है कि यह निर्गुण-ज्योति अनायास कृष्ण को कहा से उपलब्ध हो गई है जो तुम हमें बार-बार इसे अपनाने की शिक्षा दे रहे हो। कल तक तो वे सगुण-साकार रूप में यहां ब्रज मे उपस्थित थे और अपने ही हाथों से हमारे अंग प्रत्यंग का शृंगार किया करते थे और तदपुरान्त हमारे साथ केलि विहार किया करते थे।

हे उद्धव ! हमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि तुम भी गोपाल-कृष्ण के सगुण रूप के उपासक हो और यहां आ जाने के कारण तुम उनके विछोह में प्रेम-विह्वल और व्याकुल हो रहे हो जिससे तुम्हें अपना होश-हवास नहीं रहा और अच्छे-बुरे की पहचान भी जाती रही है। इसलिए जो तुम्हारे मुँह में आता है, बकते चले जा रहे हो अर्थात् कृष्ण के विरह में पागल हो गये हो। वस्तुतः इसमे तुम्हारा कोई दोष नहीं, यह विरह है ही ऐसा, यह सभी को पागल बना देता है, और वह बक-झक करने लगता है किन्तु तुम इस विरह-वेदना को सहन नही कर सकते क्योंकि इसे सहन करने के लिए मन भर का

वस्तुत. इसके न फटने का यह कारण है कि इसके भीतर हमारे जीवन एव प्राणाधार कृष्ण सदा वास करते है। इसीलिए तो अभी तक हम असह्य विरह-वेदना को सहन करती हुई जीवन धारण किए हुए है।

विशेष—(१) प्रथम पक्ति मे उद्धव पर व्यग्य किया गया है कि उनमे विवेक की कमी है क्योंकि उन्हे कृष्ण ने ज्ञान का सन्देश नही दिया, बल्कि उद्धव के सुनने मे गलती हो गई है।

(२) उद्धव को भी कृष्ण के सगुण रूप का उपासक घोषित करते हुए वस्तुतः गोपियाँ परोक्ष रूप में अपनी प्रेम-निष्ठता को व्यक्त कर रही है।

(३) भगवान् के विरह मे ही भक्त बौरा जाता है और उद्धव के समान अपना ज्ञान आदि भूल कर प्रलाप करने लग जाता है। कबीर इसी भाव को प्रकट करते हुए कहते हैं—

'राम वियोगी ना जिये, जिये तो बौरा होहि।'

अलकार—अनुप्रास और काव्यलिंग।

ऊधो ! कह मत दीन्हो हमहिं गोपाल ?
आवहु री सखि ! सब मिलि सोचै ज्यो पावै नँदलाल ॥
घर बाहर तें बोलि लेहु सब जावदेक ब्रजबाल।
कमलासन बैठहु री माई ! मूँदहु नयन बिसाल ॥
षट्पद कही सोऊ करि देखो, हाथ कछू नहिं आई।
सुन्दरस्याम कमलदललोचन नेकु न देत दिखाई ॥
फिरि भईं मगन विरहसागर में काहुहि सुधि न रही।
पूरन प्रेम देखि गोपिन को मधुकर मौन गही ॥
कहुँ धुनि सुनि स्रवननि चातक की प्रान पलटि तब आए।
सूर सु अबकैं टेरि पपीहैं विरहिन मृतक जिवाए ॥२१८॥

शब्दार्थ—जावदेक=जितनी भी। माई=सखी को सम्बोधन। मूँदहु=बन्द कर लो। विसाल=बड़े-बडे। षट्पद=भ्रमर, यहाँ उद्धव। नेकु=तनिक भी। काहुहि=किसी को भी। सुधि=होश-हवास। गही=धारण कर लिया। धुनि=ध्वनि, स्वर, आवाज। स्रवननि=कानो ने। टेरि=पुकारा। जिवाए =जीवित कर दिये।

प्रसंग—गोपियाँ इस समय गम्भीरता को त्याग उद्धव के ज्ञानोपदेश की

खिल्ली उडाने को तत्पर है और उनसे पूछ रही है कि एक बार फिर से तो कहना कि कृष्ण ने उनके लिए क्या सन्देश भेजा है।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं कि हे उद्धव! हमें एक बार फिर से बताओ कि कृष्ण ने हमें क्या करने का परामर्श दिया है अर्थात् हमारे लिए कौन-सा सन्देश भेजा है? यह कह कर सब हँसने लग जाती है और फिर एक गोपी अन्य सब गोपियो को बुलाती हुई कहती है हे सखियो! आओ सब मिल कर विचार-विमर्श करे कि हम किस प्रकार नन्दलाल कृष्ण को पुन पा सकती हैं? इस विचार-विमर्श के लिए सभी व्रज बालाओ की उपस्थिति अनिवार्य है, अतः ऐसा करो कि घर-वाहर जितनी भी गोपियाँ हैं सबको बुला कर यहां ले जाओ। वही गोपी फिर अन्य गोपियों को सम्बोधित करती हुई कहती है कि हे सखियो! सब मिल कर पद्मासन लगा कर बैठ जाओ और अपने बडे-बड़े नेत्रो को बन्द कर लो अर्थात् उद्धव के उपदेशानुसार योग की मुद्रा बना लो और उद्धव ने जैसा कहा था अर्थात् निर्गुण-ब्रह्म को प्राप्त करने का जो-जो तरीका बताया था उस पर आचरण करो। सारी गोपियो पद्मासन लगा कर बैठ जाती है और आँखे बन्द कर लेती है। कुछ समय पश्चात् आँखे खोल देती है और कहती हैं कि उद्धव के आदेशानुसार हमने यह भी करके देख लिया परन्तु हमे कुछ भी प्राप्त नही हुआ अर्थात् कुछ परिणाम नही निकला। जब हमारे नेत्र खुले रहते है तो उनके सम्मुख कमल-पत्र के समान सुन्दर नेत्रो वाले कृष्ण की मोहिनी मूर्ति घूमती रहती है किन्तु नेत्र मूंद लेने पर चारो ओर घना अन्धकार छा जाता है, कृष्ण की रूप माधुरी के तनिक भी दर्शन नही होते।

इसके पश्चात् समस्त गोपियाँ विरह-सागर में डूब गई। किसी को भी अपनी सुधि नहीं रही अर्थात् कृष्ण की कमल-पत्र के समान सुन्दर नेत्रो की छवि का स्मरण आते ही सभी गोपियाँ विरह-विदग्ध हो गई और प्रेम के उद्रेक के कारण सभी चेतनाशून्य हो गई। गोपियों के इस प्रेमाधिक्य को देख कर उद्धव ठगे-से रह गये। उनके मुह से कोई भी वचन न निकले। वे मूक बने उनके चेहरो को ही देखते रह गये, उनसे कुछ भी कहते न बना। इसी समय कही दूर से चातक की 'पी-पी' की टेर आती हुई कानों मे पड़ी जिससे निर्जीव गोपियो में प्राणो का संचार हुआ अर्थात् उनकी चेतना लौट आई।

सूरदास ने पपीहे से प्रार्थना की कि हे पपीहे ! तू अब पुनः 'पीउ-पीउ' की पुकार कर क्योंकि तेरी इस पुकार ने मृतप्रायः विरहिणी गोपियों मे जीवन का संचार किया है और उनकी चेतना लौट आई है।

विशेष—(१) 'फिर······न रही।' विरह की अन्तिम अवस्था 'मरण' का चित्रण किया गया है। इसमें गोपियो का विरह चरम-सीमा मे पहुँच गया है। इस प्रकार विरह चित्रण की दृष्टि से यह पद अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

(२) 'मधुकर मौन गही' मे उद्धव के निर्गुण-ब्रह्म पर व्यंग्य किया गया है और सगुणोपासना की प्रतिष्ठा की गई है।

(३) 'कहुँ··· ···तब आए।' विरहिणियाँ चातक की 'पीउ-पीउ' द्वारा अपने प्रिय की स्मृति मे उसे अपना सहभागी मान सांत्वना प्राप्त करती है। इसी भाव को सूर ने अन्यत्र इस प्रकार प्रकट किया है—

"सखी री चातक मोहि जियावत।
जैसे ही रैनि रटति हौ 'पिउ-पिउ' तैसेहि वह गावत॥"

(४) प्रस्तुत पद सूर के कलाकौशल का अत्यन्त सुन्दर उदाहरण है। इसमे हास्य, व्यंग्य और विरह-व्यथा का अद्भुत काव्यात्मक मिश्रण उपलब्ध होता है। प्रथम तीन पंक्तियो मे शालीन हास्य का सृजन हुआ है, तो मध्य की तीन पंक्तियो मे निर्गुण-ब्रह्म की निरर्थकता पर व्यंग्य किया गया है। अन्तिम चार पंक्तियो मे विरह की अन्तिम अवस्था 'मरण' का चित्रण किया गया है। ये पंक्तियाँ प्रेमातिरेक से उत्पन्न गहन विरह-व्यथा की द्योतक है।

हिन्दी काव्य मे काव्य कला और भावातिरेक का ऐसा सुन्दर संगम विरल है।

अलंकार—(१) 'कमल-दल-लोचन'—उपमा।

(२) 'विरह-सागर'—रूपक।

ऊधो ! ते कि चतुर पद पावत ?
जे नहिं जानैं पीर पराई हैं सर्वज्ञ कहावत॥
जो पै मीन नीर ते बिछुरैं को करि जतन जियावत ?
प्यासे प्रान जात हैं जल बिनु सुधा-समुद्र बतावत॥
हम बिरहिनी स्यामसुंदर की तुम निर्गुनहिं जनावत।
ये दृग मधुप सुमन सब परिहरि कमलबदन-रस भावत॥

कहि पठवत सदेसनि मधुकर ! कत बकवाद बढ़ावत ?
करौ न कुटिल निठुर चित अंतर सूरदास छबि गावत ॥२१६॥

शब्दार्थ—ते=वे । चतुरपद=ज्ञानी होने की पदवी । सर्वज्ञ=सब कुछ जानने वाले । जतन=प्रयत्न । जियावत=जीवित रखता है । जनावत=बताते हो । वदन=मुख । भावत=अच्छा लगता है ।

प्रसंग—गोपियो की दृष्टि मे उन जैसी अबला व्रजनारियो को जो कृष्ण-प्रेम में दीवानी है, योग का उपदेश देना अनुचित है । इसलिए वे उद्धव को मूर्ख, कुटिल, बकवादी आदि पदवियो से विभूषित कर रही है—

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कह रही है कि हे उद्धव ! क्या ऐसे व्यक्तियो को ज्ञानियों के पदो पर आसीन करना चाहिए जो दूसरो की पीडा अनुभव करने मे सर्वथा असमर्थ होते है और सर्वज्ञ कहलाते है । वस्तुतः गोपियो का अभिप्राय सीधा है कि उद्धव न तो ज्ञानी हैं और न ही सर्वज्ञाता, क्योकि वे हमारी पीडा को अभी तक नही समझ पाए । वे तो वस्तुत. मूढ और ढोगी है जबकि ज्ञानोपदेश द्वारा विद्वान् होने का दावा कर रहे हैं । हे उद्धव ! हम तुम्हे कितनी बार बता चुकी है कि हम श्यामसुन्दर कृष्ण के प्रेम मे दृढ हैं और उनका विरह भी हमारे लिए वरदान है क्योकि इससे हमारे मन मे उनकी स्मृति निरन्तर बनी रहती है परन्तु तुम हो कि इस पर ध्यान ही नही देते और अपना राग अलापते जा रहे हो । तुम हमे यह बताओ कि जब मीन अपने प्रियतम जल से बिछुड जाती है तो फिर चाहे कोई कितने ही यत्न करे, क्या उसे जीवित रख सकता है ? उसे जीवित नही रखा जा सकता । उसी प्रकार हमारा भी अपने प्राणाधार कृष्ण से विलग होकर जीवित रहना सर्वथा असम्भव है । तुम हमसे कृष्ण को छीन ब्रह्म साधना का उपदेश दे रहे हो । यह तो ऐसा है जैसे प्राण-त्यागती हुई मछली को जल न देकर समुद्र की राह बताना । तुम भी हमे अपने जीवनाधार कृष्ण से मिलाने की तो करते नहीं बल्कि हमे अमृत सागर ब्रह्म की साधना करने की प्रेरणा दे रहे हो और मुक्ति की बात कर रहे हो जिसकी हमे तनिक भी अभिलाषा नही ।

हे उद्धव ! हम तुम्हे अनेक बार बता चुकी है कि हम श्यामसुन्दर कृष्ण के प्रेम मे असह्य विरह-वेदना सहन कर रही है । अर्थात् हम उनकी विरहिणियाँ है, तुम हमे उनसे मिलने का कोई उपाय तो बतला नही रहे हो

बल्कि हमे निर्गुण-ब्रह्म का उपदेश दे रहे हो। सम्भवतः तुम नही जानते कि हमारे इन नेत्र रूपी भ्रमरो को कमल के समान सुन्दर मुख वाले कृष्ण के सौन्दर्य का रसपान करना ही सुहाता है, निर्गुण-ब्रह्म आदि अन्य किसी मे हमारी रुचि नही है। हमे समझ नही आती कि कृष्ण क्यो हमारे लिए ऐसे कठोर सन्देश भिजवाते है और तुम उस निरर्थक बकवास को बढा-चढा कर सुनाते चले जा रहे हो जबकि हमने तुम्हे ऐसा करने के लिए मना किया है। अतः हमारी प्रार्थना है कि तुम अपने हृदय को कुटिल और कठोर बना कर हमे दुखी मत करो।

विशेष—(१) प्रथम दो पक्तियो मे उद्धव पर किया गया कटाक्ष दृष्टव्य है।

(२) गोपियाँ कृष्ण के प्रेम मे अनुरक्त हैं। उनके लिए अमृत-सागर के समान निर्गुण-ब्रह्म हेय है।

अलकार—'सुधासमुद्र', 'दृगमधुप', 'कमलवदन' मे रूपक।

ऊधो ! भली करी अब आए।
बिधि-कुलाल कीने काँचे घट ते तुम आनि पकाए॥
रंग दियो हो कान्ह साँवरे, अँग अँग चित्र बनाए।
गलन न पाए नयन-नीर तें अवधि-अटा जो छाए॥
ब्रज करि अँवाँ, जोग करि इंधन सुरति-अगिनि सलगाए।
फूँक उसास, बिरह परजारनि, दरसन-आस फिराए॥
भए सँपूरन भरे प्रेम-जल, छुवन न काहू पाए।
राजकाज तें गए सूर सुनि, नंदनंदन कर लाए॥२२०॥

शब्दार्थ—बिधिकुलाल=ब्रह्मा रूपी कुम्हार। घट=घड़े। अटा=अटारी, आच्छादन। सुरति=स्मृति। परजारनि=प्रज्ज्वलित करना। फिराए=घुमाना। छुवन=छूना, स्पर्श करना।

प्रसग—गोपियो के लिए उद्धव का ब्रज आगमन हितकारी सिद्ध हुआ है क्योकि इससे कृष्ण-प्रेम में उनका हृदय और भी परिपक्व हो गया है। इसलिए वे उनका स्वागत कर रही हैं।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं कि हे उद्धव ! तुमने यह अच्छा किया जो ब्रज मे आए क्योकि ब्रज मे तुम्हारा इस समय आगमन हमारे लिए

अत्यन्त लाभकारी सिद्ध हुआ है। ब्रह्मारूपी कुम्हार ने हमारे हृदय रूपी घड़ों का जो निर्माण किया था, वे कृष्ण-प्रेम मे अभी तक कच्चे थे अर्थात् दृढ नही थे क्योकि उनकी अभी तक परीक्षा नही ली गई थी। तुमने हमारे हृदयो को निर्गुण-ब्रह्म की कसौटी पर कसा जिससे उनकी कृष्ण-प्रेम मे निष्ठता पूर्णतया दृढ हो गई। इस प्रकार अब ये घड़े अर्थात् हमारे हृदय प्रेम-मार्ग मे पूर्णतया पक्के हो गये हैं, अब इन्हे डिगाया नही जा सकता। हमारे इन हृदय रूपी घडो को कृष्ण-साँवरे ने स्वय अपने प्रेम-अनुराग के रगो में रगा था और इनके अग-प्रत्यग पर अपनी विभिन्न क्रीड़ाओ के स्मृति चित्रो की रचना की थी। गोपियो के कहने का अभिप्राय यह है कि उनके हृदय कृष्ण-प्रेम मे रगे थे तथा उनके साथ की गई अनेक क्रीड़ाओ की स्मृति मे खोए हुए थे। ये हृदय रूपी घडे इतने परिपक्व नही थे, इसलिए नैन-जल से इनके नष्ट होने का भय था अर्थात् हम डरती थी कि कृष्ण की स्मृति मे नित बहने वाले आँसुओ से हम त्रस्त न हो जाएँ और अपने हृदय मे बसे हुए कृष्ण को निकाल न दे किन्तु ऐसा इसलिए नही हो सका कि इन घड़ो पर कृष्ण के आने की अवधि के छप्पर ने छाया कर रखी थी अर्थात् हमें कृष्ण के विछोह की अवधि की समाप्ति की पूरी आशा थी और इसके बाद हमारे सयोग के दिन पुनः आने वाले थे, इसलिए हमारे हृदय विदीर्ण होने से बच गये और हम कृष्ण की स्मृति बनाये रही।

अब गोपियाँ अपने हृदय-रूपी घड़ो का उद्धव द्वारा पकाये जाने का योग-साधना की प्रक्रिया से रूपक बाँधते हुए कहती हैं कि हे उद्धव! तुमने ब्रजभूमि को अवा बनाया तथा उसमे योगरूपी ईंधन के सहयोग से कृष्ण-स्मृति रूपी अग्नि सुलगाई। जब यह अग्नि पूरी तरह से सुलग गई तो तुमने इसे तेज करने के लिए गहन उच्छ्वासो के रूप मे फूँक मारी और इस प्रकार विरह के रूप मे यह अवा पूर्णतया प्रज्जवलित कर दिया। फिर तुमने हृदय रूपी घडो मे कृष्ण-दर्शन की आशा जगाकर इस अवे मे चारो ओर घुमा कर भली-भाँति पका लिया। जब ये हृदयरूपी घडे पूरी तरह से पक गए तो तुमने इन्हे प्रेम-रूपी जल से पूर्णतया भर दिया। ये घड़े स्वच्छ एव निर्मल हैं क्योंकि आज तक कोई इन्हे स्पर्श नही कर पाया है अर्थात् गोपियो ने अपने हृदय मे कृष्ण के अतिरिक्त किसी अन्य को स्थान नही दिया। ये हृदय रूपी घडे प्रेम-जल से

भरे हुए हैं और नन्दनन्दन कृष्ण के लिए पूर्णतया सुरक्षित रखे गए हैं। कृष्ण राज-कार्य से मथुरा गए है, शीघ्र ही लौटेंगे तब इन घडो को उन पर समर्पित किया जाएगा। वे इस प्रेमजल का पान कर अपनी यात्रा की कलान्ति को दूर कर सकेंगे अर्थात् हमारे इन हृदयों पर कृष्ण का एकच्छत्र अधिकार है, मथुरा से लौट कर वही इनका पूर्णतया उपभोग कर सकेंगे।

विशेष—(१) प्रस्तुत पद मे प्रेम मे निष्ठा, हृदय की स्वच्छता और प्रियतम के प्रति अनन्य भावना का चित्रण हुआ है।

(२) अन्तिम चार पक्तियो मे कुम्हार के घड़े पकाने की प्रक्रिया का योग-साधना की प्रक्रिया द्वारा रूपक बाँधा गया है। वस्तुतः इन पक्तियो का भाव यह है कि उद्धव के ज्ञानोपदेश ने गोपियो की विरहानल को उत्तेजित कर दिया है किन्तु वे अपने प्रेम-मार्ग से नही डिगी अपितु कृष्ण के प्रति उनकी प्रेमनिष्ठा और भी दृढ गई हैं। इस प्रकार उद्धव के निर्गुण-ब्रह्म की उपासना की कसौटी पर कसने से गोपियो की प्रेमभावना की परीक्षा हुई है और वे पूर्णतया खरी उतरी हैं।

(३) गोपियों की दृढ प्रेम-निष्ठा के अकन के कारण यह एक महत्वपूर्ण पद है। भ्रमरगीत का यही मूल विषय है और इस भावना को इस पद मे पूर्ण अभिव्यक्ति मिली है।

अलंकार—साँगरूपक—घडे पकाने की क्रिया का रूपक बाँधा गया है।

ऊधो! कुलिस भई यह छाती।
मेरो मन रसिक लग्यो नँदलालहि, झखत रहत दिनराती॥
तजि ब्रजलोक, पिता अरु जननी, कठ लाय गए काती।
ऐसे निठुर भए हरि हमको कबहुँ न पठई पाती॥
पिय पिय कहत रहत जिय मेरो ह्वै चातक की जाती।
सूरदास प्रभु प्रानहिं राखहु ह्वै कै बूँद-सवाती॥२२१॥

शब्दार्थ—कुलिस=वज्र के समान कठोर। झखत रहत=झीकता रहता है। ब्रज लोक=ब्रजवासियों को। काती=कतरनी, छुरी। कबहुँ न=कभी नही। पठई=भेजी। पाती=चिट्ठी, पत्री।

प्रसग—राधा अथवा कोई अन्य गोपी कृष्ण-विरह की व्यथा को अभिव्यक्ति करती हुई कह रही है कि उसका हृदय वज्र के समान कठोर होगा जो

अभी तक विदीर्ण नही हुआ।

व्याख्या—हे उद्धव ! मेरा हृदय वज्र के समान निर्मम और कठोर हो गया है जो कृष्ण के विरह में भी अभी तक जीवन धारण किए हुए है, दो टूक नही हो गया है। मेरा रसिक मन सदा नन्दलाल कृष्ण मे ही उलझा रहता है और मेरे समझाने पर भी वश मे नही होता। सदा उनके ध्यान मे मग्न रहता है। इसकी इन हरकतो के कारण में दिन-रात झीकती रहती हूँ और परेशान रहती हूँ कि इस मन ने मेरे लिए किस प्रकार मुसीबत उत्पन्न कर दी है। कृष्ण समस्त व्रजवासियो और अपने माता-पिता को छोड़ कर मथुरा चले गए। उनका यह कार्य हम सब की गर्दन पर छुरी चलाने के समान है। अब हम उनके विरह मे तड़प रही है और वे मथुरा मे सुख-वैभव मे निमग्न है। कृष्ण मथुरा जाकर ऐसे निर्मम और कठोर हो गए हैं, कि जाने के उपरान्त न तो हमे कोई चिट्ठी ही भेजी है और न ही कोई खोज-खबर ही ली है। अब उन्होने तुम्हारे हाथो जो योग एव निर्गुण-ब्रह्म का सन्देश भेजा है, उससे हमारे हृदय को सात्वना तो मिली नही बल्कि पीड़ा और बढ़ गई है।

मेरा मन दिन-रात 'पिय-पिय' की रट लगाए रहता है। ऐसा प्रतीत होता है कि वह भी चातक की जाति का हो, अर्थात् मेरा मन चातक की भाँति सदा उन्ही को पुकारता रहता है। इसलिए मैं अपने स्वामी कृष्ण से प्रार्थना करती हूँ कि वे मेरे इस चातकरूपी हृदय को अपने दर्शनरूपी स्वाति नक्षत्र के जल की बूँद द्वारा प्राणदान दे अर्थात् अपने दर्शन देकर उसके विरह को दूर करे और उसमे प्राणो का सचार करे।

विशेष—(१) गोपियों की विरह-व्यथा का अत्यन्त स्वाभाविक चित्रण हुआ है।

(२) अन्तिम दो पक्तियो का भाव यह है कि जिस प्रकार एक चातक स्वाति-नक्षत्र के मेघ की एक बूँद के लिए व्याकुल बना रहता है और सदैव 'पिउ-पिउ' करता रहता है उसी प्रकार गोपियाँ भी कृष्ण-दर्शन् के लिए कातर बनी रहती है। कृष्ण-दर्शन से ही उन्हे विरह-जन्य असह्य पीड़ा से छुटकारा मिलेगा और उनके जीवन की रक्षा हो सकेगी।

(३) अन्तिम दो पक्तियो से तुलना करने के लिए ये पक्तियाँ देखिये—

'रसना हमारी चारु-चातकी बनी है ऊधो,
'पी-पी' को बिहाई और रट रटिहै नहीं।'

(४) 'काती' इस शब्द का अर्थ है कतरनी, छुरी। व्रजभाषा में अब इस शब्द का प्रयोग नहीं होता किन्तु 'लहदा' भाषा में यह शब्द इस रूप और इसी अर्थ में अभी भी प्रयुक्त हो रहा है।

अलंकार—(१) 'कुलिस' मे उपमा।

(२) 'मन-रसिक'—रूपक।

(३) 'पिय-पिय'''की जाती'—उत्प्रेक्षा।

ऊधो! कहु मधुबन की रीति।
राजा ह्वै ब्रजनाथ तिहारे कहा चलावत नीति?
निसि लौं करत दाह दिनकर ज्यों हुतो सदा ससि सीति।
पुरवा पवन कह्यो नहिं मानत गए सहज बपु जीति॥
कुब्जा-काज कंस को मार्‌यो, भई निरतर प्रीति।
सूर बिरह ब्रज भलो न लागत जहाँ ब्याह तहँ गीति॥२२२॥

शब्दार्थ—रीति=व्यवहार, लोक व्यवहार। नीति=न्याय, व्यवहार। दाह=दग्ध। दिनकर=सूर्य। हुतो=था। ससि=शशि, चन्द्रमा। सीति=शीतल। पुरवा=पूर्व दिशा। बपु=शरीर। काज=कारण। तहँ=वहाँ।

प्रसंग—गोपियाँ कृष्ण की निष्ठुरता पर व्यंग्य करती हुई उन्हे अन्यायी सिद्ध कर रही हैं।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कह रही है कि हे उद्धव! तुम हमें अपने मथुरा राज्य के लोक-व्यवहार के विषय मे बताओ, वह कैसा है? ब्रज के स्वामी कृष्ण राजा बनने के उपरान्त किस प्रकार की राज्य-व्यवस्था का अनुसरण कर रहे है? उनका राज्य-प्रबन्ध करने का क्या तरीका है? उनके विषय मे हमारा अनुभव यह है कि उन्हे राज-काज चलाना नही आता क्योंकि सब कुछ विपरीत दिशा को चल रहा है। ऐसा दुर्बल शासन न तो पहले कभी देखा, न सुना। हमारे कथन का सर्वप्रथम प्रमाण यह है कि सदैव शीतलता प्रदान करने वाला चन्द्रमा आजकल पूरी रात सूर्य के समान दाहक बन कर जलाता है और पुरवैया पवन अपनी शीतलता की प्रकृति को भुला कर गर्म

वायु के समान थपेड़े मारती है और हमारे कहने में बिलकुल नहीं आती। उसने हमारे शरीर पर अधिकार कर उसे अपना दास बना लिया है।

जन-विख्यात यह बात बिलकुल गलत है कि कंस का वध जनमानस को उसके अत्याचारों से छुटकारा दिलाने के लिए किया गया था बल्कि कुब्जा, जो उसकी दासी थी और उसके अधिकार में थी, को मुक्ति दिलाने के लिए कंस का वध किया गया था। अब दोनों में निरन्तर प्रेम व्यापार चल रहा है जो हमारी बात का सबसे बड़ा प्रमाण है। हमें ब्रज में कृष्ण का विरह बिलकुल अच्छा नहीं लग रहा। विरह को भी तो वहीं होना चाहिए, जहाँ प्रेम है क्योंकि यह सब जानते हैं कि जहाँ विवाह हो रहा होता है, मंगलगीत भी वहीं गाए-बजाये जाते हैं और वहीं हलचल होती है। जब कुब्जा प्रेम-क्रीडाओं में आनन्द कर रही है, तो विरह में व्याकुल होकर भी वही जले।

विशेष—(१) 'निसि···बहु सीति।'—चन्द्रमा और पुरवा पवन शीतलता के प्रतीक हैं और संयोगावस्था के सुख को बढ़ाती हैं परन्तु वियोगावस्था में इनसे कामोद्दीपन होता है और विरहिणियाँ कष्ट का अनुभव करती हैं। वस्तुतः ब्रज में चाँदनी रातें हैं और पुरवा पवन चल रही है जिससे गोपियाँ कामोद्दीप्त होने के कारण कष्ट झेल रही हैं क्योंकि उनके प्रिय कृष्ण उनसे दूर हैं। गोपियाँ कहना तो यह चाहती हैं कि वे चन्द्रमा और पुरवैया के कारण कष्ट अनुभव कर रही हैं किन्तु दोष मढ़ रही हैं कृष्ण के राज्य-प्रबन्ध का जिससे इन दोनों की विपरीत गति हो गई है।

(२) 'जहाँ ब्याह तहँ गीत'—इस लोकोक्ति का अत्यन्त सुन्दर और सार्थक प्रयोग किया गया है।

(३) 'कुब्जा-काज···प्रीति'—इस पंक्ति में गोपियों का कुब्जा के प्रति असूया भाव द्रष्टव्य है।

(४) सूर ने इस पद के भाव को अन्यत्र इस प्रकार व्यक्त किया है—

'बिनु गोपाल बैरिन भई कुंजैं।
तब ये लता लगति अति सीतल, अब भई विषम ज्वाल की पुंजैं।'

अलंकार—अतिशयोक्ति।

ऊधो ! [illegible] ।
[illegible] हरि [illegible] हमारे लोचन लोल उदासी ।।

एते पै हम जोग करहिं क्यों लै अविगत अविनासी।
गुप्त गोपाल करी बनलीला हम लूटी सुखरासी॥
लोचन उमगि चलत हरि के हित बिन देखे बरिसा सी।
रसना सूर स्याम के रस बिनु चातकहू ते प्यासी॥२२३॥

शब्दार्थ—कालचाल=काल अर्थात् समय की गतिया। चौरासी=अनेक। हरि=हर के। बोल=वचन। उदासी=उदासीनता भरे। एते पैं=इतने पर। सुखरासी=सुखो की खान अर्थात् अनेक प्रकार के सुख। हित=प्रेम। बरिसा=वर्षा। रस=प्रेम रूपी जल। रसना=जिह्वा।

प्रसग—गोपियाँ कृष्ण की उदासीनता के कारण अत्यन्त दुखी है। वे विगत प्रेम-क्रीड़ाओ की स्मृति मे डूबी हुई अपनी विरह-व्यथा का वर्णन कर रही है।

व्याख्या—गोपिया उद्धव से कह रही है कि हे उद्धव! समय की गति के सम्बन्ध मे दृढता से कुछ भी नही कहा जा सकता। समय कब क्या उलट-फेर कर दे, कुछ नही कहा जा सकता। उसकी गतिया अनेक हैं जिनके विषय में कोई भविष्यवाणी करना सम्भव नही। अब हमारी ओर ही देख लो। एक समय था कि हम मदनगोपाल को पाकर आनन्दविभोर हो रही थी। उन्होंने हमारा मन अपनी रूप-माधुरी के कारण-वश मे कर लिया था और सदा हमारी प्रेम-क्रीड़ाओ मे निमग्न रहते थे। अब समय ने ऐसा पलटा खाया है कि वे हमारा मन हर कर अपने साथ ले मथुरा जा बैठे है और अब हमारे प्रति पूर्ण उदासीनता प्रदर्शित कर रहे है और हमे ऐसा सन्देश भेज रहे हैं कि हम उन्हें भुला कर निर्गुण-ब्रह्म को अपना लें। यह सत्य है कि कृष्ण हम से विमुख हो गए हैं, उन्हे हमारे साथ वह स्नेह नही रहा, किन्तु फिर भी यह हमारी समझ में नही आता कि हम विगत और अविनासी ब्रह्म को स्वीकार कर योग पर आचरण क्यो करें? इसकी हमारे जीवन मे तनिक भी उपयोगिता नही बल्कि जी की हानि है क्योकि इसके अपनाने से पूर्व हमे अपने प्रिय गोपाल को छोड़ना पड़ता है। हमारे प्रिय कृष्ण ने व्रज मे रहते समय हमारे साथ गुप्त रूप से वनो में अनेक प्रकार की प्रेम-लीलाएँ की थी, और इस प्रकार हमे अनेक सुख दिए थे जिनकी स्मृति हमारे मन मे अभी तक ताजा है। किन्तु अब कृष्ण हम से दूर हैं, हमारे नेत्र उनके दर्शन पाने मे असमर्थ है। फिर भी उस विगत प्रेम-लीला

के स्मरण मात्र से हमारे नेत्र उमड़ पड़ते हैं और उनमे प्रेमाश्रु प्रवाहित होने लगते है, आँसुओ की वर्षा होने लगती है। हमारी जिह्वा स्वाति नक्षत्र की बूंद के समान कृष्ण के प्रेम रूपी जल के अभाव मे चातक से भी अधिक तृषित रहती है अर्थात् हमारी जिह्वा कृष्ण के साथ प्रेमालाप करने के लिए तड़पती रहती है।

विशेष—(१) गोपियो की असह्य विरह-व्यथा का अत्यन्त स्वाभाविक अंकन किया गया है।

(२) इस पद मे पुन निर्गुणोपासना पर सगुणोपासना की प्रतिष्ठा की गई है।

(३) गोपियो की दृष्टि मे आज जो उनकी दुर्दशा है उसके लिए अन्य कोई दोषी नही अपितु समय की गति ही यही है कि कभी सुख और कभी दु.ख।

अलकार—(१) 'लोचन···बरिस-सी'—उपमा।

(२) 'रसना···प्यासी'—प्रतीप।

ऊधो ! सरद समय हू आयो।
बहुतै दिवस रटत चातक तकि तेउ स्वाति-जल पायो॥
कबहुँक ध्यान धरत उर-अंतर मुख मुरली लै गावत।
सो रसरास पुलिन जमुना की ससि देखे सुधि आवत॥
जासो लगन प्रीति अंतरगत औगुन गुन करि भावत।
हमसों कपट, लोक-डर तातें सूर सनेह जनावत॥२२४॥

शब्दार्थ—सरद=शरद ऋतु। समय हू=समय भी, ऋतु भी। तकि=ताकता हुआ। तेउ=उसने भी। पुलिन=तट, किनारा। ससि=चन्द्रमा।

प्रसंग—व्रज मे पुन. शरद् ऋतु आई है। गोपियो ने इस ऋतु मे कृष्ण के साथ यमुना-किनारे अनेक प्रेम-लीलाएँ की थी। अव उनकी स्मृति से व्यथित हो रही है।

व्याख्या—गोपियां उद्धव से कह रही है कि हे उद्धव ! व्रज मे पुन शरद्-ऋतु भी आ गई है। चातक जो काफी समय से अपने प्रिय मेघ की ओर ताकता हुआ स्वाति-नक्षत्र की एक बूंद के लिए 'पिउ-पिउ' पुकार रहा था, उसकी अव मनोकामना फलीभूत हो गई है। उसको स्वाति-नक्षत्र की बूंद प्राप्त हो गई है और वह अपनी तृषा बुझा कर तृप्ति अनुभव कर रहा है किन्तु हम कब से

कृष्ण का नाम रट रही हैं। किन्तु हमारी कृष्ण-दर्शन की अभिलाषा अभी अधूरी है। कभी जब हम कृष्ण का ध्यान अपने मन मे लाती है तो मुख पर मुरली रखे हुये और गाती हुई उनकी मनोहर छवि हमारे स्मृति पटल पर सजग हो जाती है। अर्थात् हमारे हृदय मे उनकी मुरली बजाती हुई और गाती हुई मूर्ति साकार हो उठती है। जब हम चन्द्रमा को देखती हैं तो हमे कृष्ण के साथ बिताई गई अनेक पूनम की रातो की स्मृति हो आती है और उन रातो मे कृष्ण के साथ की गई रास-लीलाओं की स्मृति हमे व्यथित कर देती है।

हे उद्धव ! यह जग की रीति है कि जिससे हृदय बँधा होता है, प्रेम की लगन होती है, प्रेम का नाता स्थापित हो जाता है उसके दोष, उसकी अच्छाइया ही प्रतीत होती है। इसलिये कृष्ण से हमे कोई गिला नही। आज वह हमसे नाता तोड कुब्जा के साथ प्रेम की पींगे बढा रहे हैं तो क्या हुआ, हैं तो वह हमारे आत्मीय, किन्तु यह सत्य है कि कृष्ण हमसे सच्चा प्रेम नही करते, अन्यथा लोक-भय के कारण हमे नीच कुलजन्मी जान इस प्रकार त्याग न देते। उन्होने आरम्भ से ही हमारे साथ कपटपूर्ण व्यवहार किया है, यह तो हम ही अनाडी थी कि उनके दिखावटी-प्रेम से धोखा खा गईं। अब जो उन्होने तुम्हें हमारी खोज-खबर लेने के लिए यहा भेजा है, और प्रेम जता रहे है, वह वस्तुत: प्रेम का नाटक है क्योकि उन्हे लोक-लाज का भय है और बदनामी का डर हैं। वह जानते है कि यदि ससार उनके कपटपूर्ण व्यवहार को जान गया तो उनकी बदनामी होगी। इसलिए ऊपरी प्रेम जतलाने के लिए तुम्हे यहाँ भेजा है। देखो न ! इस बात का यह प्रमाण क्या कम है कि हमे निर्गुण ब्रह्म की आराधना करने का सन्देश भेजा है।

विशेष—(१) स्मृति सचारी भाव की सयोजना द्रष्टव्य है।

(२) प्रकृति का उद्दीपनकारी चित्रण हुआ है।

अलंकार—'सो रस रास···आवत'—स्मरण।

ऊधो ! कौन कुदिन छांड्यो हो गोकुल।
बहुरि न आए फिरि या ब्रज में, बिछुर्‌यो तर्दाह मिल्यो अब सो कुल ॥
गर्ग-बचन समुझे अब मधुवन-कथा-प्रसग सुन्यो हो जो कुल।
सूर भये अब त्रिभुवन के पति नातो ज्ञाति लहे अब निज कुल ॥२७५॥

शब्दार्थ—कुदिन=बुरे दिन, बुरी घड़ी। जो कुल=वही कुल अर्थात् यादव

वश। गर्गवचन=गर्ग मुनि ने कहा था कि श्रीकृष्ण व्रज को छोड़ मथुरा और फिर द्वारका मे जा बसेंगे। जो कुल=वह सब। ज्ञाति=जाति।

प्रसग—गोपियाँ कृष्ण के विरह मे दग्ध है। वे उस दिन को बुरा बता रही है जिस दिन कृष्ण व्रज को छोड़ कर मथुरा गए थे।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कह रही है कि हे उद्धव! न जाने वह कौन सा बुरा दिन था, अशुभ घडी थी जब कृष्ण व्रज को छोड कर मथुरा गये थे? इसी कारण ही तो वह पुन: व्रज मे न लौट पाए। व्रज के लिए वह दिन अशुभ था किन्तु स्वय कृष्ण के लिए वह शुभ घडी थी क्योंकि जन्म लेते ही वह अपने जिस यादव कुल से बिछुड गये थे, उस दिन वह उससे जा मिले और इस प्रकार अपने जन्म के माता-पिता वसुदेव-देवकी के परिवार मे सम्मिलित हो गये। गर्ग ऋषि के मथुरा के सम्बन्ध मे कहे गये वचन अब हमारी समझ मे पूर्णतया आ गये है। उन्ही के मुख से पहली बार मथुरा और यादव-वश से सम्बद्ध सब कथा सुनी थी। अब कृष्ण मथुरा जाकर तीनो लोको के स्वामी बन गये है अर्थात् भगवान् बन गये है और वहाँ जाकर उन्होने अपनी जाति, अपने परिवार और सभी को ग्रहण कर लिया है, अपना लिया है।

विशेष—(१) इस छोटे-से पद का भाव यह है कि कृष्ण मथुरा अपने परिवार मे पहुँच कर पूरी तरह से उनके होकर रह गए है और व्रजवासियो को पूर्णतया भुला बैठे है। अत: वे स्वार्थी है, जब तक उनका स्वार्थ था, यहाँ रहे और हमे भोगते रहे। अब वे राजा हो गये है, अब उन्हे हम नीच कुल-जन्मी गोपियो से क्या लगाव।

(२) इस पद में काव्य और सगीत का अत्यन्त सुन्दर एवं कलात्मक समन्वय उपलब्ध होता है।

(३) 'गरग-वचन'—गर्ग-ऋषि ने बताया था कि कृष्ण भगवान् के अवतार हैं। वे कुछ समय व्रज मे रह कर मथुरा चले जायेगे और और अपने माता-पिता एव परिवार के लोगो को मुक्त करा कर अपना राज्य स्थापित करेंगे और फिर द्वारिका जायेगे। इस पक्ति से इस कथा की ओर सकेत किया गया है।

ऊधो! राखिए वह बात।
कहत हौ अनहद सुबानी सुनत हम चपि जात॥

जोग फल-कुष्माड ऐसो अजामुख न समात।
बार बार न भाखिए कोउ अमृत तजि विष खात ?
नयन प्यासे रूप के, जल दए नाहि अघात।
सूर प्रभु मन हरि गए लै छाँडि तन-कुसलात ॥२७६॥

शब्दार्थ—राखिये=रखो, रहने दो। अनहद=अनहद नाद। सुबानी=सुन्दर वाणी, बात। चपि=दब, सहम। कुष्माण्ड=काशीफल। अजामुँह=बकरे का मुख। भाखिये=कहिये। अघात=तृप्त होते। कुसलात=कुशलता।

प्रसंग—गोपियाँ कृष्ण-विरह मे पहले ही दुखी है। उद्धव ज्ञानचर्चा से उन्हें और भी दुखी कर रहे है। वे निर्गुण-ब्रह्म का उपदेश नही सुनना चाहती।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कह रही है कि हे उद्धव ! तुम अब अपनी ज्ञान-चर्चा को रहने दो। हम उसे बिलकुल नही सुनना चाहती, अत. तुम हमसे मत कहो। तुम हमारे सम्मुख अनाहतनाद की श्रेष्ठता का बार-बार बखान कर रहे हो कि यह नाद अत्यन्त मधुर होता है किन्तु हम तुम्हारी ये बाते सुन कर सहम और घबरा जाती हैं। इस कठिन योग-साधना को करने के उपरान्त उस अनाहतनाद को सुनने की कल्पना से ही हमारा कलेजा धडकने लगता है। योग द्वारा प्राप्त फल के रूप मे मुक्ति हमारे लिए उसी प्रकार व्यर्थ है जिस प्रकार एक बकरे के लिए काशीफल क्योंकि अपनी विशालता के कारण वह उसके मुँह मे नही समा सकता। हम तो प्रेम-मार्गी है, हमे मुक्ति की कामना नही। अत हमारी तुमसे प्रार्थना है कि बार-बार अपनी ज्ञान-कथा हमे न सुनाओ क्योकि कोई व्यक्ति अमृत को छोड कर विष को नहीं खा सकता। हमारा कृष्ण-प्रेम अमृत के समान मीठा और जीवन देने वाला है जबकि तुम्हारा निर्गुण-ब्रह्म विष के समान कडवा और घातक है। हम कोई मूढ तो है ही नही जो तुम्हारे कहने मे आकर इसे स्वीकार कर लेगी।

हे उद्धव ! हमारे ये नेत्र कृष्ण के सुन्दर रूप-दर्शन के लिए भूखे-प्यासे हैं। हम इन्हे सदा कृष्ण-विरह मे निरन्तर बहते हुए आँसुओ का पान कराती रहती हैं किन्तु फिर भी इनकी तृष्णा पूर्ववत् बनी हुई है। ये सदा कृष्ण-दर्शन के लिए मतवाले बने रहते है। हमारे स्वामी कृष्ण मथुरा जाते समय हमारे मन को हरण करके अपने साथ ले गए और निर्जीव शरीर को यहाँ छोड

गए जिसकी कुशलता का उन्हे तनिक भी ध्यान नही रहा। सम्भवत. वे भूल गए कि हमारे तन उनके वियोग मे मन के बिना जीवित न रह पायेगे।

विशेष—(१) गोपियो की विरह-व्यथा का अत्यन्त स्वाभाविक वर्णन किया गया है।

(२) 'कोउ अमृत तजि विष खात' द्वारा सगुण-ब्रह्मोपासना की महत्ता प्रतिपादित की गई है।

अलंकार—'जोग''समात' मे लोकोक्ति।

ऊधो ! बात तिहारी जानी।
आए हौ ब्रज को बिन काजहि, दहन हृदय कटु बानी।।
जो पै स्याम रहत घट तौ कत बिरह-बिथा न परानी ?
झूठी बातनि क्यों मन मानत चलमति अलप गियानी।।
जोग-जुगुति की नीति अगम हम ब्रजबासिनि कह जाने ?
सिखवहु जाय जहाँ नटनागर रहत प्रेम लपटाने।।
दासी घेरि रहे हरि तुम ह्याँ गढ़ि गढ़ि कहत बनाई।
निपट निलज्ज अजहुँ न चलत उठि, कहत सूर समुझाई।।२२७।।

शब्दार्थ—बिन काजहि=बिना किसी कार्य के। घट=हृदय मे। कत=क्यो। परानी=पलायन कर गई, समाप्त हो गई। चलमति=चचलमति वाला। अलप=अल्प, थोडा। गियानी=ज्ञानी, बुद्धिमान। नटनागर=नटो के शिरोमणि अर्थात् कृष्ण। गढ़ि गढि=बना-बना कर। अजहूँ=अभी भी।

प्रसग—गोपियो के बार-बार मना करने पर भी उद्धव अपनी ज्ञान-चर्चा बन्द नही करते। इस पर गोपियाँ झुँझला उठती है और उन्हे खूब खरी-खोटी सुनाती है।

व्याख्या—गोपिया उद्धव से कह रही है कि हे उद्धव ! अब हमे तुम्हारी पूरी बात का पता चल गया है। यहाँ आकर ये जो निरर्थक बक-झक कर रहे हो, इसका रहस्य हमारे सम्मुख खुल गया है। वस्तुत मथुरा मे तुम निठल्ले घूमते-फिरते थे, तुम्हारे पास कुछ काम करने को नही था। कृष्ण के तुम कान खाते रहते थे, जिससे उन्होने अपनी जान छुडाने के लिए यहाँ भेज दिया। अत: तुम यहाँ व्रज मे बिना किसी कार्य के ही आए हो, और अपने योग सम्बन्धी कडवे वचनो से हमारे हृदय जला रहे हो, छलनी किए दे रहे हो।

यदि हम तुम्हारी बात मान ले कि ब्रह्म के घट-घट वासी होने से आत्मा कृष्ण हमारे हृदय मे विराजमान हैं तो फिर हमारी विरह-व्यथा समाप्त हो जानी चाहिए थी किन्तु तुम स्वयं देख और अनुभव कर रहे हो कि हमारे हृदय कृष्ण के बिना कितने दुखी है। इस प्रकार तुम्हारे सम्पूर्ण ज्ञान मे कोई तत्व नही। तुम्हारी बाते निराधार और असत्य है। हम उन्हे स्वीकार नहीं कर सकती। वस्तुत. इनमे तुम्हारा कोई दोष नही क्योंकि तुम अस्थिर मति वाले मूर्ख व्यक्ति हो और झूठी बाते बना कर अपना उल्लू सीधा कर रहे हो किन्तु हम तुम्हारे धोखे मे आने वाली नही।

हम ब्रजवासिनियाँ अबला एव अनपढ युवतियाँ है, हम योग-साधना की अगम्य-दुरूह एव कठोर प्रक्रिया किस प्रकार समझ और कर सकती है। हमे तो तुम्हारी बुद्धि पर तरस आता है जो तुम अभी तक इस छोटी बात को नही समझ पाए और पागलो की तरह प्रलाप किए जा रहे हो। इसका प्रशिक्षण तुम मथुरा मे जाकर दो क्योंकि वहाँ नटनागर कृष्ण दिन-रात कुब्जा के प्रेम मे डूबे रहते है, सम्भवत. उन्हे इसकी आवश्यकता अनुभव हो।

वहाँ मथुरा मे कृष्ण दिन-रात दासी कुब्जा को घेरे रहते हैं अर्थात् प्रति क्षण उसे अपने साथ रखते है. पल भर के लिए भी उससे अलग नही होते और निरन्तर उसके साथ भोग-विलास मे लिप्त हैं जबकि तुम यहाँ हमे गढ-गढ कर और बना-बना कर योग का उपदेश दे रहे हो जिससे हम कृष्ण को छोड दे और कुब्जा को प्रेम-लीला के लिए छूट मिल जाय। वस्तुतः उपदेश की तो हमसे अधिक उन दोनो को जरूरत है क्योंकि हम तो जब से श्याम यहाँ से गए हैं, सरल और सादा जीवन व्यतीत कर रही हैं और विरह मे संतप्त हैं। हे उद्धव! हमने तुम्हारे जैसा पूरा निर्लज्ज नही देखा जो इतना समझाने और मना करने पर भी ढीठ बना हुआ यही डटा हुआ है, उठ कर चला नहीं जाता। गोपियाँ स्पष्ट कहना चाहती है कि वे उद्धव की बातों से अघा गई हैं, अब उन्हे वहाँ से चले जाना चाहिए।

विशेष—(१) सम्पूर्ण पद मे उद्धव और उनके निर्गुण-ब्रह्म पर व्यग्य किया गया है।

(२) 'जो पै—न परानी' इस पक्ति के माध्यम से ब्रह्म की सर्वव्यापकता का खण्डन किया गया है।

(३) 'दासी घेरि रहे……बनाई' मे कुब्जा के प्रति गोपियो का असूया भाव द्रष्टव्य है।

(४) 'सिखवहु……बनाई।' इन दो पक्तियो मे कृष्ण के विलासी रूप को उभार कर उन पर चोट की गई है।

अलकार—अनुप्रास और स्वाभावोक्ति।

ऊधो! राखति हौ पति तेरी।
ह्याँ ते जाहु, दुरहु आगे ते देखत आँखि बरति है मेरी॥
तुम जो कहत गोपाल सत्य है, देखहु जाय न कुब्जा घेरी।
ते तौ तैसेइ दोउ बने है, वै अहीर वह कंस की चेरी॥
तुम सारिखे बसीठ पठाए, कहा कहौ उनकी मति फेरी।
सूरदास प्रभु तुम्हरे मिलन को ग्वालिनि कै सग जोबति हेरी॥२२८॥

शब्दार्थ—पति=इज्जत, मान, मर्यादा। दुरहु=दूर हो जाओ, छिप जाओ। बरति=जलती है। चेरी=दासी। सारीखे=जैसे, समान। बसीठ=दूत, सन्देशवाहक। कै सग=मिल कर। जोबत हेरी=टकटकी लगाए प्रतीक्षा करती रहती है।

प्रसग—गोपियो के बार-बार मना करने पर भी उद्धव निर्गुण-ब्रह्म की आराधना का उपदेश बन्द नही करते जिससे गोपियाँ क्रोध से भर उठती है और उद्धव को फटकारने लगती है।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव को कह रही है कि हे उद्धव! तुम श्याम-सखा हो, इसलिए तुम हमारे पूज्य हो, और हम तुम्हारा मान कर रही है, अन्यथा तुम जो कार्य कर रहे हो उसके लिए तो तुम्हे धक्के देकर यहाँ से निकलवा देना चाहिए। इतना पर्याप्त हो चुका है। अत. तुम्हारे लिए उचित यही है कि यहाँ से चले जाओ, हमारी दृष्टि से ओझल हो जाओ क्योकि तुम्हे देखकर क्रोध के मारे मेरी आँखे जलने लगती है, उनमे खून उतर आता है। अत' इससे पहले कि हम कुछ और कर बैठे, तुम यहाँ से चले जाओ। तुम्हारा यह कहना है कि कृष्ण ब्रह्म है और सत्य एव सच्चिदानन्द स्वरूप है ठीक नही। यदि तुमने उनके इस सत्य-स्वरूप अर्थात् वास्तविक स्वरूप को देखना चाहते हो तो मथुरा चले जाओ जहाँ उन्होने कुब्जा को घेर रखा है और उसके साथ रगरेलियो मे निमग्न है। उनका वास्तविक रूप एक भोगी का है न कि

जिसका वर्णन तुमने किया है। वे दोनो—कुब्जा और कृष्ण एक ही जैसे हैं और एक ही रंग विलास-रग मे रगे हुए हैं। दोनो की जोडी भी खूब मिल गई है—कृष्ण तो अहीर वश के हैं और कुब्जा कंस की दासी है। इस प्रकार दोनो ही छोटी जाति के है, उनको किसी मान-सम्मान की आकांक्षा नही, रात-दिन भोग-विलास मे निमग्न रहते हैं।

वस्तुत. कृष्ण की तो बुद्धि भ्रष्ट हो गई है जो उन्होने तुम जैसे धूर्त व्यक्ति को अपना सन्देशवाहक बना कर भेज दिया। क्या मथुरा मे भलेमानुसो का काल पड गया था जो उन्हे तुम जैसे कपटी-छली व्यक्तियो द्वारा अपना सन्देश प्रेपित करना पड़ा। इतना कहते-कहते गोपियो के मन मे कृष्ण की स्मृति ताजा हो आई जिससे प्रेम विह्वल होकर कृष्ण को सम्बोधित कर कहने लगी कि हे प्रभु! हम सब तुमसे मिलने के लिए आतुर है और एक स्थल पर एकत्रित होकर बैठ जाती हैं, और रात-दिन मथुरा से आने वाले मार्ग पर टकटकी बाँधे तुम्हारी प्रतीक्षा करती है कि कब तुम आओ और कब हमारा दुख दूर हो।

(१) विशेष—इस पद मे गोपियाँ अपनी समस्त शालीनता को त्याग उदण्ड हो उठी है और उद्धव को खूब फटकार रही हैं। उनकी फटकार से स्वयं कृष्ण और कुब्जा भी नही बच पाए। अन्तिम पक्ति मे वे अपने क्रोध को भूल कर कातर हो उठी है। भावो के इस उतार-चढाव से प्रस्तुत पद मे एक विशेप प्रभावोत्पादक और नाटकीयता उत्पन्न हुई है।

(२) कुब्जा के प्रति सौतिया-डाह का अकन होने के कारण यहाँ असूया सचारी भाव की सुन्दर परियोजना हुई है।

(३) उद्धव का धैर्य भी प्रशसनीय है।

ऊधो ! वेद वचन परमान।
कमल-मुख पर नयन-खंजन देखिहै क्यों आन ?
श्री-निकेत-समेत सब गुन, सकल-रूप-निधान।
अधर-सुधा पिबाय बिछुरे पठै दीनो ज्ञान॥
दूरि नहीं दयाल सब घट कहत एक समान।
निकसि क्यों न गोपाल बोधत दुखिन के दुख जान ?

रूप-रेख न देखिए, बिन स्वाद सब्द भुलान।
ईखदंडहि डारि हरिगुन, गहत पानि विषान॥
बीतराग सुजान जोगिन, भक्तजनन निवास।
निगम-बानी मेटिकै क्यों कहै सूरजदास ? ॥२२६॥

शब्दार्थ—परमान=प्रमाण, सत्य। आन=अन्य को। श्रीनिकेत=शोभा के पुंज। पठै दीनो=भेज दिया। निकसि=निकल कर। बोधत=समझाते। सब्द-भुलान-शब्दो की भूलभुलैया। ईखदडहि=गन्ने को। डारि=डालकर। पानि=हाथ। विपान=सीग। वीत राग=ससार से पूर्णतया निर्लिप्त। निगम-बानी=वेदो की वाणी, वेदो का उपदेश।

प्रसंग—उद्धव के ब्रह्म को यहाँ गोपियो द्वारा अनुचित घोषित किया गया है।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कह रही है कि हे उद्धव! वेदो के वचन प्रमाणित है। वहाँ निर्गुण-ब्रह्म के विषय मे जो-जो कहा गया है, वह सत्य हैं, किन्तु जिन्होने कृष्ण के कमल के समान सुन्दर मुख पर खंजन-रूपी नैनो को कटाक्ष करते हुए रूप को देखा है, वे भला किसी को क्या देखना चाहेंगे ? हम निर्गुण-ब्रह्म विषयक वेद-वचन को सत्य मानती है किन्तु हमें कृष्ण के अद्वितीय रूप के सम्मुख किसी अन्य को देखना अच्छा नही लगता। हम विवश है। हमारे कृष्ण सब गुणो के साथ-साथ शोभा के आगार हैं, पुज है तथा सम्पूर्ण सौन्दर्य के भण्डार है। अर्थात् वे गुण-सम्पन्न, सुन्दर और शोभायमान है। ऐसे सलोने कृष्ण ने हमे पहले अपने अधरो का अमृत पिला कर हमारे प्रेम को पल्लवित किया था, वे कितने आनन्दमय दिन थे ? फिर वे हमसे बिछुड गये और तुम्हारे हाथो उन्होने यह योग एव ज्ञान का सन्देश भेज दिया है।

हे उद्धव ! तुम्हारा कहना है कि वह कृष्ण परम दयालु है, और एक समान घट-घट मे निवास करते है। इस प्रकार वे हमारे हृदय मे भी विराजमान है। यदि ऐसा है तो हमारी असह्य वेदना को देख कर, जान कर बाहर क्यो नही निकलते और हमे समझा-बुझा कर सांत्वना क्यो नही देते ? हमारे हृदय से निकल कर अपने दर्शनो द्वारा हमारे प्राणों को हरा-भरा क्यो नही करते ? तुम्हारे कथनानुसार ब्रह्म रूप, रेखा विहीन अर्थात् निराकार है,

और स्वादहीन अर्थात् रसहीन है। वस्तुतः यह शब्दो की भूल-भुलैया है जो तुमने हमारे चारो ओर बुन दी है, हम इसमे उलझ गई है। जब तुम्हारा ब्रह्म ही ऐसा रूपहीन और नीरस है तो हम क्या पागल है कि उसके लिए अपने साकार-सुन्दर, सरस-रसिक कृष्ण को त्याग दे। यह तो वैसा ही मूर्खतापूर्ण कार्य होगा जैसे कोई रसपूर्ण गन्ने को फेंक दे और सूखा हुआ सीग उठा कर खाने का उपक्रम करे। हमारा कृष्ण गन्ने के समान मीठा और सरस है जबकि तुम्हारा निर्गुण-ब्रह्म सूखे हुए सीग के समान त्याज्य और हेय है।

हे उद्धव! योगी-जन ज्ञानवान् होते है। ऐसे लोग ससार मे निर्लिप्त भाव से निवास करते है। वे ससार की मोह-माया से परे निर्गुण-ब्रह्म का ध्यान-चिन्तन करते है जबकि भक्त जन संसार मे लिप्त रहते हुए भी कृष्ण के सरस-रसिक रूप के अनुराग मे सुखपूर्वक अपना जीवन व्यतीत करते है। यही वेद-वाक्य है, यही सत्य है—योगी रागो से परे हो और भक्त सगुण-अनुरागी हो। फिर हमारी समझ मे यह नही आता तुम निश्चित मार्ग के विपरीत क्यो कार्य कर रहे हो। तुम वेद-वाक्य का उल्लघन कर मिटाना चाहते हो। यह अनुचित है। हम कृष्ण-भक्तनियाँ है हमे योग की ओर प्रेरित करके मार्गच्युत करने का प्रयत्न न करो।

विशेष—गोपियो ने उद्धव को युक्ति से ही पछाड दिया है। वेदो के अनुसार ब्रह्म प्राप्ति के दो साधन है—योग और भक्ति। गोपियाँ भक्ति मार्ग से ही ब्रह्म को प्राप्त करना चाहती है क्योकि यह मार्ग सरल और ग्राह्य है जबकि योग मार्ग अनुचित और त्याज्य है।

अलकार—(१) 'कमल-मुख' उपमा।
(२) 'नयन-खजन'—रूपक।
(३) 'बिन-बिपान'—रूपकातिशयोक्ति।

ऊधो! अब चित भए कठोर।
पूरब प्रीति बिसारी गिरिधर नवतन राचे और॥
जा दिन ते मधुपुरी सिधारे धीरज रह्यो न मोर।
जन्म जन्म की दासी तुम्हरी नागर नंदकिसोर॥
चितवनि-बान लगाए मोहन निकसे उर वहि ओर।
सूरदास प्रभु कबहि मिलोगे, कहाँ रहे रनछोर? ॥२३०॥

शब्दार्थ—पूरब=पहले की, पुरानी। नवतन=नये शरीरो के प्रति। राचे=अनुरक्त हो रहे है। सिधारे=गये। मधुपुरी=मथुरा। मार=मेरा। वहि ओर=उस पार। रन-छोर=रण छोड कर भाग जाने वाले।

प्रसंग—गोपियाँ प्रेम में कृष्ण के विश्वासघात करने पर व्यग्य कर रही हैं।

व्याख्या—गोपियाँ कृष्ण से कह रही है कि हे उद्धव! अब कृष्ण का हृदय हमारे प्रति कठोर हो गया प्रतीत होता है। उन्होने हमारे साथ अपने पुराने प्रेम को भुला दिया है और अब उनमे नये-नये शरीरो के प्रति लगाव पैदा हो गया है अर्थात् नई-नवेली कुब्जा के प्रेम मे अनुरक्त है और दिन-रात उसी को घेरे रहते है। जिस दिन से कृष्ण मथुरा गये ह, हम उनके विरह मे सतप्त है और हमसे धीरज धारण नही होता, प्रेम की आतुरता मे हम पल-पल व्याकुल हो उठती है। अब वे कृष्ण को सम्बोधन करती हुई कहती है कि चतुर और नटखट नन्दकिशोर! हम तो तुम्हारी जन्म-जन्मान्तर की सेविकाएँ हैं, अत· क्यो तुम हमे भुला कर मथुरा जा बैठे और इतना कठोर व्यवहार प्रदर्शित कर रहे हो?

हे मन को मुग्ध करने वाले कृष्ण! तुमने हमे जो चितवन रूपी बाण मारे थे, वे हमारे शरीर के आरपार हो गये है। तुम्हारे कटाक्ष हमारे हृदय मे समा कर उसे बेध गये है, और अब हमे निरन्तर व्यथित करते रहते है अर्थात् तुम्हारी सलोनी चितवन की माधुरी हमारे हृदय मे गडी हुई है और किसी प्रकार हम उसे भुला नहीं सकती। हे नाथ! तुम कब मिलोगे? हम तुम्हारे विरह मे असह्य वेदना मे पीड़ित है, कब हमे दर्शन देकर, इस अथाह व्यथा-सागर से उबारोगे। हे रणछोड कृष्ण! प्रेम के क्षेत्र मे पलायन करके कहाँ जा छिपे हो? शीघ्र दर्शन देकर हमे जीवन दान दो।

विशेष—'रनछोर' शब्द का साभिप्राय प्रयोग हुआ है। इसमे श्लेष के प्रयोग से उत्पन्न व्यग्य अत्यन्त कलात्मक है।

कृष्ण का एक नाम 'रनछोड' भी है क्योंकि कृष्ण-जरासन्ध के साथ हुए युद्धो मे अनेक बार रणछोड कर भाग खडे हुए थे और अन्त मे उसी के भय से मथुरा छोड द्वारिका मे जा बसे थे।

इसी कारण गोपिया रणछोड शब्द के माध्यम से कृष्ण पर व्यग्य करती हुई कह रही है कि हे प्रेमरूपी युद्धक्षेत्र को छोड़ कर भाग जाने वाले कृष्ण, तुम कहा जा छुपे हो ?

'रणछोड' का एक अन्यर्थ है अद्भुत पराक्रमी, सर्वजयी। इस प्रकार इस पक्ति का दूसरा अर्थ यह हो सकता है कि तुम तो दूसरो को रण छुडवाकर उन्हे रण-क्षेत्र मे से भगा देने के लिए विख्यात हो। फिर स्वय क्यों भाग खड़े हुये हो ? यह तुम्हे शोभा नही देता।

गुरमुखी और लहदा भाषा मे 'रन' का अथ है स्त्री। इस अर्थ के अनुमार प्रस्तुत पक्ति का अर्थ होता—तुम तो पहले ही स्त्री को छोड़ कर भाग जाने के लिए प्रसिद्ध हो फिर आज भी यह शक्ति अपने लिए क्यो सत्य प्रमाणित करवा रहे हो ?

अलकार—(१) 'चितवनि-बान'—रूपक।

(२) 'चितवनि बान...वहि ओर'—अतिशयोक्ति।

(३) 'रण-छोड' मे श्लेष और परिकर।

ऊधो ! अब नहि स्याम हमारे।
मधुवन बसत बदलि से गे वे, माधव मधुप तिहारे॥
इतनिहि दूरि भए कछु औरै, जोय जोय मगु हारे।
कपटी कुटिल काक कोकिल ज्यो अंत भए उड़ि न्यारे॥
रस लै भँवर जाय स्वारथ-हित प्रीतम चितहि बिसारे।
सूरदास तिनसों कह कहिए जे तन हूँ मन कारे॥२३१॥

शब्दार्थ—बसत=रहते हुए। बदलि से गे वे=वे बदल गए हैं। जोय-जोय मगुहारे=रास्ता देख देख कर थक गये है। न्यारे=अलग। बिसारे=भुला देता है। कह=क्या। हूँ=और।

प्रसंग—गोपिया इस बात की उद्धव से शिकायत कर रही हैं कि मथुरा जाकर श्याम बदल गए हैं, अब वे हमारे नही रहे।

व्याख्या—गोपिया उद्धव से कह रही है कि हे उद्धव ! मथुरा मे रह कर श्याम हमारे प्रेम को सर्वथा भूल गए है, वे अब हमारे नही रहे। वहा के वातावरण का उन पर पर्याप्त प्रभाव हुआ है, वह कुछ बदल से गए है और अब हे मधुप ! तुम्हारे हो गए है अर्थात् उन पर मथुरा नगरवासियो का पूरा

असर हुआ है और अब वह तुम्हारी तरह छली-कपटी हो गए है। अभी तो वह इतनी सी अर्थात् थोड़ी दूर, गोकुल से मथुरा ही गए है और कुछ और ही हो गये है अर्थात् उनके व्यवहार मे महान् परिवर्तन आ गया है। हम उनका रास्ता देखते-देखते हार गई है, एक युग बीत गया है। वे शीघ्र ही लौट आने को कह गये थे किन्तु अभी तक उनके आने की कोई आशा ही नही। अब तो हम उनकी तरफ से पूर्णतया निराश हो गई है। उन्होने हमारे साथ जैसा छल-कपट भरा व्यवहार किया है, उसका उदाहरण केवल कोयल के बच्चे का कौए के प्रति किए गये व्यवहार में उपलब्ध होता है। कौआ कोयल के अण्डे को अपना समझ कर स्नेह से सेता है और बच्चो के निकल आने पर बड़े प्रेम से अपनी सन्तान की तरह उनका पालन-पोषण करता है परन्तु जब कोयल के बच्चो के पर निकल आते है तो वे कौए का खेड़ा त्याग अपने परिवार मे जा मिलते है और फिर कभी पालनकर्त्ता कौए की खोज-खबर नही लेते। हम ब्रजवासियो ने शिशु कृष्ण का पालन-पोषण किया और उसे समस्त लाड-प्यार का भागी बनाया। जब वह युवक हो गया तो उसे अपने पूर्ण प्रेम का अधिकारी समझा किन्तु आज वह मथुरा जाकर अपने कुटुम्ब मे मिल गया है और हमे स्मरण तक नही करता।

भ्रमर और कृष्ण के व्यवहार मे भी साम्य है। भ्रमर अपने स्वार्थ के कारण पुष्प से प्रेम का दिखावा करता है और उसका पराग पान करके उसे त्याग अन्य पुष्प के पास चला जाता है और फिर उसके प्रति प्रेम प्रदर्शित करता है। जिस-जिस कली को उसने रसहीन किया है, उसका फिर कभी स्मरण नही करता। कृष्ण ने भी हमारे प्रति गहन प्रेम का प्रदर्शन किया और हमारे साथ विभिन्न प्रकार की प्रेम-क्रीड़ाएँ की। हमारे अधरो का पान किया और शरीर का सुख-भोग किया और फिर हमे रस-रीति जान कर छोड कर मथुरा चले गए और वहा नई-नवेली कुब्जा के साथ प्रेम-विभोर हो गए। इससे अधिक स्वार्थ क्या होगा कि यहा तो आना दूर रहा, वे हमे स्मरण तक नही करते। वस्तुत श्याम-वर्णीय सभी छली और कपटी है। तन के समान उनका मन भी काला है और नित नये षड्यन्त्रो की बाते सोचा करता है। अब ऐसे लोगो से हम क्या कहे? कुछ भी तो कहते नही बनता। सभी निष्ठुर और प्रेम मे धोखा देने वाले है।

विशेष—(१) प्रस्तुत पद मे गोपियों की दयनीय दशा का अत्यन्त सुन्दर चित्र प्रस्तुत हुआ है। उनका उपालम्भ और विरह-व्यथा की [illegible] अनिर्वच-नीय है।

(२) 'रस लै भ्वर जाय स्वारथहित'— इस पंक्ति की तुलना के लिए देखिए निम्न पंक्ति ?

'रस रहते [illegible] रहते है कलियों पर अलियों के फेरे।'

अलंकार—(१) [illegible] चोय'—पुनरुक्ति प्रकाश।

(२) 'कपटी-कुटिल काक का [illegible]'—उपमा तथा अनुप्रास।

ऊधो! पा लागौ [illegible] आए।
तुम देखे जनु [illegible] देखे तुम्ह त्रयताप [illegible]॥
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]।
हम अहीरि, [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]॥
[illegible] यहि घोष [illegible] [illegible] से। [illegible] [illegible] [illegible]।
सूरदास [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]॥२[illegible]॥

शब्दार्थ—पा लागौ=पैर पकड़ते हैं, चरण स्पर्श करते हैं। [illegible]=[illegible]। त्रयता[illegible]=नाना प्रकार के ताप, दैहिक, दैविक, भौतिक दुख। न[illegible]=नष्ट हो गए। [illegible]=[illegible]। घोष=अहीरों की बस्ती गोकुल। [illegible]=घाटा, दुःख। [illegible]=[illegible]।

प्रसंग—उद्धव ने कृष्ण को निर्गुण-ब्रह्म का रूप कहा था और योग-मार्ग के अनुसार उनका [illegible] किया था। उनकी युक्तियों को [illegible] हुए गोपिया उन पर व्यंग्य कर रही हैं।

व्याख्या—गोपियां उद्धव से कह रही हैं कि हे उद्धव! हम तुम्हारे चरण छूती हैं यह तुमने [illegible] किया [illegible] आए। तुम्हारे दर्शनों को पाकर हम [illegible] हो गईं। तुम्हारे [illegible] पाकर ही [illegible] हुआ है मानो हमें [illegible] [illegible] [illegible] गये [illegible]। तुम [illegible] तो [illegible] [illegible] और फिर तुम हमारे लिए [illegible] [illegible] [illegible], [illegible] तुम्हें [illegible] पाकर [illegible] [illegible] अनुभव हुआ [illegible] मानो हमें [illegible] [illegible] ही [illegible] दर्शन हो गये हों। इस प्रकार तुम्हें यहा [illegible] पाकर हम [illegible] [illegible] हो रही हैं। तुमने यहां आकर विरहानल में दग्ध हमारे शरीरों को शीतलता प्रदान की है और अब हमारे

तीनो प्रकार के ताप—दैविक, दैहिक और भौतिक नष्ट हो गए हैं। तुमने अपनी अकाट्य युक्तियो द्वारा यह सिद्ध कर दिया है कि कृष्ण हमारे प्रिय न होकर ब्रह्म है और हमे उसी रूप में उन्हें ग्रहण करके उनकी उपासना करनी चाहिए। इस प्रकार कृष्ण के साथ जब हमारा प्रेमी-प्रेमिका वाला सम्बन्ध नही रहा तो विरहजन्य हमारी समस्त व्यथा अपने आप नष्ट हो गई है। इस प्रकार हमारे मन के सभी सन्ताप स्वत दूर हो गए है।

तुम्हारे कथनानुसार कृष्ण का इस सासारिक सम्बन्धो के साथ कोई वास्ता नही अर्थात् उनका नन्द बाबा और यशोदा माता के साथ पुत्रवत् सम्बन्ध भी नही रहा क्योकि कृष्ण परमब्रह्म है और वेद पुरानो ने उनके विषय मे भी यही धारणा प्रस्तुत की है। जब यह बात है तो हमारा कृष्ण के लिए रोना-धोना सब व्यर्थ है, अब उनके साथ हमारा कोई नाता नही। वस्तुत हम पहले अन्धकार मे थी। तुमने हमारा अज्ञान दूर करके हमे सही मार्ग दिखाया है। इस जग मे तुम से बडा हमारा और कोई हितैषी नही है। हे उद्धव! हम अहीर जाति से सम्बद्ध अबला नारिया है और जीवन-भर अहीर ही बनी रहेगी किन्तु तुमने कृष्ण के साथ से अहीर नाम को हटा कर उन्हे निर्गुण-ब्रह्म का नाम दिया है। इस प्रकार तुमने हमे नवीन दृष्टि दी है जिससे हम कृष्ण के वास्तविक रूप को जान सके।

जब कृष्ण अहीरो के इस गाव मे परवरिश पा रहे थे, तो वे हमारे एक सम्मिलित परिवार के अभिन्न अग थे। उस समय वे ब्रह्म न होकर कृष्ण थे और उन्होने शैशवकाल से लेकर युवावस्था प्राप्त करने तक अनेक क्रीड़ाएँ की थी तथा सारे ब्रज को आनन्दित किया था। ब्रज मे आज भी लोग इन क्रीड़ाओ का स्मरण कर सुख पाते है। इन क्रीड़ाओ के लिए उन्हे अनेक बार दण्डित भी किया गया था। माखन चुराने पर उन्होने ऊखल से भुजाएँ बधवाई थी—यह तो सर्वज्ञात है। क्या अब भी तुम उन्हे निर्गुण-ब्रह्म कहोगे। हम तो उनके इसी सगुण रूप को जानती है। हमे तो इसी बात का दु ख है, सदा हमारे मन मे यही काटा चुभता रहता है कि यहा से जाने के बाद उन्होने फिर हमे अपने चरण नही दिखाए। हम तो उनके सगुण रूप की उपासक है। कृष्ण मथुरा-वासियो के लिए भले ही निर्गुण ब्रह्म हो किन्तु हम यह बात स्वीकार नही करती। हमारी रुचि तो उनके सगुण-साकार रूप मे ही है।

विशेष—(१) गोपियो ने कृष्ण के सगुण रूप का बखान कर यह घोषणा की है कि वे उन्हे निर्गुण ब्रह्म नही मानती।

(२) प्रथम चार पक्तियों मे उद्धव के कृष्ण पर निर्गुणवाद के आरोप पर व्यग्य किया गया है।

अलंकार—(१) 'पा लागौं...'—वक्रोक्ति।

(२) 'तुम देखे जन माधव देखे'—उत्प्रेक्षा।

ऊधो ! निरगुन कहत हौ तुमहीं अब धौं लेहु।
सगुन मूरति नंदनंदन हमहि आनि सु देहु॥
अगम पंथ परम कठिन गवन तहाँ नाहि।
सनकादिक भूलि परे अवला कहँ जाहि ?
पंचतत्त्व प्रकृति कहो अपर कैसे जानि ?
मन बच क्रम कहत सूर बैरनि की बानि॥२२३॥

शब्दार्थ—आनि=ले आकर। अपर=परे। बैरनि की बानि=शत्रुओ का सा व्यवहार।

प्रसंग—गोपियों की दृष्टि में निर्गुण-ब्रह्म की प्राप्ति एक दुष्कर व्यापार है जबकि सगुण सहज-सुलभ है।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कह रही है कि हे उद्धव ! तुम जिस निर्गुण-ब्रह्म की चर्चा कर रहे हो, हमे उसकी आवश्यकता नही, अतः तुम स्वयं ही उसे रख लो। हमारे नन्दनन्दन कृष्ण सगुण है, हमे तो तुम उन्हे ही लाकर दे दो अर्थात् मथुरा से लौटा ले आओ और हमे उनके दर्शन करा के हमारी विरह-व्यथा को दूर करो। निर्गुण-ब्रह्म योग-साधना की कठिन प्रक्रिया द्वारा प्राप्त होता है। यह मार्ग अत्यन्त दुर्गम है, हम अबला नारियाँ तो उसका अनुसरण नही कर सकती। इस मार्ग पर चलते हुए सनकादि महान् ऋषि भी भूल गए अर्थात् साधना-भ्रष्ट हो गए जिससे उन्हे भी परमानन्द-मुक्ति अप्राप्य हो रही। फिर हम तो गृहणियाँ हैं और सासारिक मोह-माया मे लिप्त हैं, हम कैसे इस साधना पर आचरण कर सकती हैं।

तुम्हारे कथनानुसार निर्गुण-ब्रह्म—पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, और आकाश—इन पाँच तत्त्वो से परे है अर्थात् वह इनसे निर्मित न होकर कोई अन्य विलक्षण वस्तु है जिसका केवल अनुभव ही किया जा सकता है जबकि

हम अबला व्रज युवतियो का शरीर इन पांचो तत्त्वों से निर्मित हुआ है, फिर हम किस प्रकार इनसे परे की चीज का अनुभव एव ज्ञान प्राप्त कर सकती हैं। ये सव वातें हम तुम्हें कितनी बार बता चुकी हैं किन्तु तुम अपने मन-वचन-कर्म द्वारा बार-बार इसी ज्ञान-चर्चा को दोहरा कर हमें अत्यन्त दुःखी कर रहे हो अर्थात् हमारे साथ अत्यन्त द्वेषपूर्ण व्यवहार कर रहे हो। जो वस्तुतः शत्रुता का परिचायक है। तुम हमारे हितैषी कहाँ से हुए ?

विशेष—इस पद में यह सिद्ध किया गया है कि निर्गुण-ब्रह्म अत्यन्त कठिन और ऋषियो तक को भी अप्राप्य है, जबकि सगुण सबके लिए सहज-सुलभ है।

ऊधो ! और कछू कहिबे को ?
सोऊ कहि डारौ पा लागैं, हम सब सुनि सहिबे को।।
यह उपदेस आज लौं मैं, सखि, स्रवन सुन्यो नहिं देख्यो।
नीरस कटुक तपत जीवनगत, चाहत मन उर लेख्यो !
बसत स्याम निकसत न एक पल हिये मनोहर ऐन।
या कहँ यहाँ ठौर नाही, लै राखौ जहाँ सुचैन।
हम सब सखि गोपाल-उपासिनि हम सों बातैं छाँड़ि।
सूर मधुप ! लै राखु मधुपुरी कुवजा के घर गाड़ि ।।२३४।।

शब्दार्थ—कहिबे को=कहने के लिए। स्रवन=कानो से। कटुक=कड़वा। तपत=जलाने वाला। जीवनगत—जीवन के लिए। उर=हृदय। लेख्यो=लिखना, अंकित करना। ऐन=घर। ठौर=जगह, स्थान। या कहँ=इसके लिए। सुचैन=सुख-शान्ति। गाडि=गाड़ कर, भली-भांति सम्भल कर।

प्रसंग—उद्धव के निरन्तर ज्ञानोपदेश पर गोपियाँ झुँझला गईं और उनकी भर्त्सना कर रही है।

व्याख्या—गोपियां उद्धव से कह रही हैं कि हे उद्धव ! हम तुम्हारा निर्गुण-ब्रह्म का उपदेश पूर्णतया सुन चुकी है। यदि अभी कुछ और बाकी हो तो चटाचट कह डालो, देर न करो। तुम्हारे मन मे जो कुछ है, तुम्हारे पाँ पड़ती हैं, निश्चित होकर निस्संकोच कह डालो। हम तुम्हे विश्वास दिलाती हैं कि हम तुम्हारी सब अनर्गल बातें सुन लेगी और सहन कर लेंगी। जब पहले

इतना कुछ सह चुकी हैं तो और भी सह लेगी, अतः तुम देभिझक कह डालो।

इसके पश्चात् एक गोपी किसी अन्य गोपी को सम्बोधित करती हुई कहती है कि हे सखी ! उद्धव ने जो कुछ उपदेश हम अबलाओ को सम्मुख कहा है, वह सर्वथा अशोभनीय प्रसंग है। मैंने अपने पूरे जीवन में आज तक न तो अपने कानो से ऐसा उपदेश कही अन्यत्र सुना है, और न ही किसी ज्ञानी को ऐसा उपदेश किसी को देते हुए देखा ही है। उद्धव का निर्गुण-ब्रह्म सम्बन्धी पूरा उपदेश नीरस और कडवा है। इससे जीवन मे दुख ही दुख मिल सकता है, सुख नही, अत. यह त्याज्य है किन्तु यह महानुभाव ऐसे हैं कि जब से आए हैं यही राग अलाप रहे है, कुछ समझते ही नही। ये तो वस्तुतः अपने उपदेश को हमारे हृदय पर ही अकित कर देना चाहते है। इसी कारण अथक प्रयत्न कर रहे हैं कि हम किसी प्रकार इनके योग को स्वीकार कर ले। वस्तुतः यह इस बात से अभी तक अपरिचित हैं कि हमारे हृदयो मे मनोहरता के पुंज अपनी पूर्ण छवि के साथ विराजमान रहते हैं और एक पल के लिए भी वहाँ से नही निकलते। अर्थात् मन मे तो कृष्ण की मनोहर छवि समाई हुई है, हम निर्गुण को किस प्रकार स्वीकार कर ले ? हमारे मन मे निर्गुण-ब्रह्म को आसीन करने के लिए कोई स्थान रिक्त नही, अत ये उसे ले जाकर वही आसीन करें, जहाँ खाली जगह हो और वह सुख-शान्ति के साथ वहाँ रह सके। उसे परेशान करने वाला कोई न हो। हम कितनी बार बता चुकी हैं कि हम सब सखियाँ गोपाल-कृष्ण की अनन्य उपासिकायें हैं। इसलिए हे उद्धव ! हम तुम से प्रार्थना करती है तुम हमारे सम्मुख अपने निर्गुण-ब्रह्म की चर्चा छोड़ कर कोई और बात करो। इसे तो तुम मथुरा नगरी ले जाओ और कुब्जा के घर गाड़ दो अर्थात् सभाल के रख दो क्योंकि आजकल वह कान्ह के साथ भोग मे लिप्त है, हमसे अधिक उसे योग की आवश्यकता है। कृष्ण वियोग मे हमारी स्थिति तो पहले ही योग-साधना जैसी ही है।

विशेष—(१) प्रथम चार पक्तियो मे गोपियो का उद्धव और निर्गुण-ब्रह्म के प्रति चुटीला व्यंग्य द्रष्टव्य है।

(२) कुब्जा पर व्यंग्य होने के कारण असूया संचारी भाव है।

अलंकार—सम्पूर्ण पद मे काकुवक्रोक्ति।

ऊधो कहियो सबै सोहती।
जाहि ज्ञान सिखवन तुम आए सो कहो ब्रज मे कोय ती ?
अतहु सीख सुनहुगे हमरी कहियत बात विचारि।
फुरत न बचन कछू कहिवे को, रहे प्रीति सो हारि॥
देखियत हौ करुना की मूरति, सुनियत हौ परपीरक।
सोय करौ ज्यो मिटै हृदय को दाह परै उर सीरक॥
राजपंथ तें टारि बतावत उरझ कुबील कुपैडो।
सूरजदास समाय कहाँ लौं अज के बदन कुम्हैडो ?॥२३५॥

शब्दार्थ—सबै=सबको। सोहती=अच्छी लगने वाली बाते। कोय ती=कौन-सी स्त्री है। अन्तहु=अन्त मे। सीख=शिक्षा। सुनहुगे=सुनोगे। फुरत=मुँह से फूटते हैं। परपीरक=दूसरो की पीड़ा समझने वाले। सीरक=ठडक, शीतलता। टारि=हटा कर। उरझ=उलझन से पूर्ण। कुबील=काँटो से भरा। कुपैडो=ऊबड़ खाबड़ रास्ता। अज=बकरी। कुम्हैडो—काशीफल।

प्रसंग—प्रस्तुत पद मे गोपियो ने निर्गुणोपासना को अनुचित कह कर उसकी खिल्ली उडाई है।

व्याख्या—गोपिया उद्धव से कह रही है हे उद्धव ! तुम्हे सदा ऐसी चर्चा करनी चाहिए जिसमे सबकी रुचि हो अर्थात् ऐसी बात कभी न करनी चाहिए जैसी अब कर रहे हो। ये बात अर्थात् ज्ञानकथा मे तुम्हारी रुचि हो सकती किन्तु अन्य जो भी यहाँ उपस्थित है इसमे अरुचि प्रदर्शित कर रहे है। अत· तुम वह चर्चा यहाँ करो जो हमारे लिए लाभकारी हो। तुम हमे एक बार यह बताओ कि व्रज मे कौन-सी ऐसी स्त्री है जिसे तुम अपने ज्ञान की शिक्षा देने आए हो। गोपियो के कहने का तात्पर्य यह है कि यहा ऐसी कोई स्त्री नही जिसकी रुचि योग सीखने मे हो। तुम बेशक अपने मन की कर लो, जितनी बाते कहनी हैं वह लो क्योकि अन्त मे तुम्हे हमारी बात माननी पडेगी और

बोल नही फूट रहे। अभी से ही तुम्हारा यह हाल है, प्रेममार्ग के सम्मुख अभी से ही पराजित प्रतीत होते हो।

हे उद्धव ! तुम देखने पर साक्षात् करुणा की मूर्ति प्रतीत होते हो अर्थात् तुम्हारा व्यक्तित्व करुणा की मूर्ति के समान प्रतीत होता है। तुम्हारे विषय मे हमने यह भी सुना है कि तुम दूसरो की पीडा समझने वाले और उसके हरण करने मे सहायता करने वाले हो अर्थात् तुम दूसरो की पीडा का अनुभव करते हो तथा उसे दूर करने का प्रयत्न करते हो और सहयोग देते हो। अत. हमारे लिए भी तो कुछ ऐसा करो जिससे हृदय की तपन मिटे और सब ओर शीतलता का विस्तार हो। कृष्ण के विरह मे हमारा हृदय सतप्त है। तुम दूसरो की व्यथा को हरने वाले हो, अतः कुछ ऐसा प्रयत्न करो कि कृष्ण यहाँ व्रज लौट आएँ और हमारा कलेजा ठडा हो। अर्थात् उनके दर्शन करके हमारी विरह-व्यथा शान्त हो। न जाने तुम्हारा पर पीड़ा हरण और करुणा वाला रूप कहाँ गायब हो गया है क्योंकि तुम अपनी प्रकृति के सर्वथा विपरीत कार्य कर रहे हो और हमे राजमार्ग के समान प्रशस्त और स्पष्ट प्रेममार्ग से हटा कर उलझनो, मुसीबतो से भरे, टेढे मेढे योग मार्ग को अपनाने की कोशिश कर रहे हो। यह प्रयत्न तुम्हारा वैसा है जैसे कोई काशीफल को बकरी के छोटे-से मुह मे ढकेलने की कोशिश करे। जिस प्रकार बकरी के मुंह मे काशीफल नही जा सकता, उसी प्रकार प्रेममार्गी हम गोपियां निर्गुण-ब्रह्म एव योग-मार्ग का स्वीकार नही कर सकती।

विशेष—(१) सम्पूर्ण पद मे गोपियो ने निर्गुण-ब्रह्म को अनुचित बताते हुए उद्धव के व्यक्तित्व के करुणा और परपीरक रूप को अनुप्रेरित करने का प्रयत्न किया है जिससे वे उनको कृष्ण से मिला दें और इस प्रकार गोपियो की विरह-व्यथा दूर हो जाय।

(२) 'अन्तहु···विचार'—इस पक्ति से भ्रमरगीत के सुखद अन्त का सकेत मिलता है और कवि की निश्चित योजना का ज्ञान होता है कि उसका रुझान किस तरफ है। यह पक्ति इस बात की द्योतक है कि अन्त मे उद्धव प्रेम-मार्ग के प्रभुत्व को स्वीकार करेगे।

(३) 'परपीरक' शब्द का अर्थ होता है दूसरो को पीड़ा पहुँचाने वाला। इस शब्द मे श्लेष है और इसका प्रयोग विपरीत अर्थ मे हुआ है। यहाँ इसका

अर्थ है दूसरो की पीड़ा समझने और अनुभव करने वाला तथा उसे दूर करने का प्रयत्न करने वाला। इस शब्द के वास्तविक अर्थ को ग्रहण करने से इस पूरी पक्ति का अर्थ होगा कि तुम्हारा व्यक्तित्व तो करुणा की साक्षात् प्रतिमूर्ति लगता है किन्तु तुम हो दूसरो को पीडा पहुँचाने वाले।

अलंकार—(१) 'परपीरक' मे श्लेष!

(२) 'राजपथ'''कुम्हैडो'—लोकोक्ति।

ऊधो तुमहुँ सुनो इक बात।
जो तुम करत सिखावन सों हमै नाहिन नेकु सुहात॥
ससि-दरसन बिनु मलिन कुमोदिनि ज्यों रवि बिनु जलजात।
त्यों हम कमलनयन बिन देखे तलफि तलफि मुरझात॥
घसि चँदन घनसार सजे तन ते क्यों भस्म भरात?
रहे स्रवन मुरलीधर सों रत, सिगी सुनत डरात॥
अबलनि आनि जोग उपदेसत नाहिन नेकु लजात।
जिन पायो हरि परस सुधारस ते कैसे कटु खात?
अवधि-आस गनि गनि जीवति है, अब नहीं प्रान खटात?
सूर स्याम हम निपट बिसारी ज्यों तरु जीरन पात॥२३६॥

शब्दार्थ—तुमहुँ=तुम भी। नेकु=तनिक भी। मलिन=मुरझाई हुई। जलजात=कमल। तलफि तलफि=तड़फ-तड़फ कर। घसि=घिस कर। घनसार=कपूर। भरात=भरते हो। रत=अनुरक्त। आनि=आकर। गनि-गनि=गिन कर। जीरन=जीर्ण, सूखे। निपट=बिल्कुल।

प्रसग—उद्धव के ज्ञानोपदेश को बार-बार सुन कर गोपियो की विरह-व्यथा उभर आती है। अपनी विरह-व्यथा का वर्णन करती हुई गोपियां निर्गुण-ब्रह्म को अनुपयुक्त सिद्ध कर रही है।

व्याख्या—गोपियां उद्धव से कह रही है कि हे उद्धव! जब से तुम मथुरा से यहा आए हो हमने तुम्हारी सब बाते सुनी है और तुम्हारे प्रलाप पर भी धीरज धारण किया है, अब तुम चुप होकर हमारी भी एक बात सुन लो। तुमने शुरू से ही हमे जो उपदेश दिया है वह हमे बिलकुल नही सुहाता। हमारी उसमे तनिक भी रुचि नही है। जिस प्रकार कुमुदनी चन्द्रमा के बिना देखे मुरझाई रहती है और कमल सूर्य को बिना देखे मुरझा जाता है, उसी

प्रकार हम कृष्ण के चन्द्रमा जैसे मुख और कमल नेत्रों को न देख पाने के कारण मुरझाई हुई है। और उनके स्मरण मे रात-रात भर तड़पती रहती है, बस किसी कारण हमारे प्राण अटके हुए है, हमारा शारीरिक सौंदर्य तो पूर्णतया नष्ट हो गया है। हमने चन्दन और कपूर को घिस कर उसके लेप से अपने शरीरो का शृगार किया था जिससे उनकी सुन्दरता पर निखार आ गया था, अब ऐसे सुन्दर शरीरो पर भस्म कैसे मली जा सकती है? हमारे कान सदा श्रीकृष्ण की मुरली की तान सुनने के अभ्यस्त हैं, वे सिगी-बाजे के कर्कश-स्वरो को सुनकर डर अनुभव करने लगते है।

हे उद्धव! तुम यहा ब्रज मे आकर हम अबला युवतियो को योग और निर्गुण-ब्रह्म का उपदेश दे रहे हो और अपने इस अनुचित कार्य के लिए तुम्हें जरा भी लज्जा नही आती। यह तुम्हारे ही धर्म-ग्रन्थो मे लिखा हुआ होगा कि अबला नारियो को योग का प्रशिक्षण दिया जाय। वस्तुत. हमारी दृष्टि मे यह एक अनुचित बात है। जिन्होने अर्थात् हम गोपियो ने तो कृष्ण के स्पर्श का आनन्द उठाया है और उनके अधरो के अमृत रस का पान किया है अर्थात् हम कृष्ण की पूर्ण भोग्या रह चुकी है, अब हम क्यो कडवे और नीरस फल के समान तुम्हारे निर्गुण ब्रह्म को ग्रहण करेगी, यह हमारे किस काम का है। हम तो कृष्ण के ब्रज लौटने की अवधि के समाप्त होने की आशा मे जीवित हैं अर्थात् उनकी अवधि के एक-एक दिन को गिन-गिन कर अपना समय व्यतीत कर रही है और किसी प्रकार जीवन धारण किये हुए है। अब हमारे प्राण ठहरना नहीं चाहते, ये और अधिक कष्ट सहन करने के योग्य नही रहे, ये अब और अधिक धैर्य धारण नही कर सकते। कृष्ण ने हमे बिलकुल ही भुला दिया है। उनका यह कार्य ऐसा है जैसे पेड़ अपने सूखे-पीले पत्तो को गिरा देता है और फिर कभी उनके विषय मे नही सोचता।

विशेष—(१) प्रस्तुत पद गोपियों की विरह-व्यथा के वर्णन की दृष्टि से श्रेष्ठ है।

(२) यह पद शब्द-चयन की दृष्टि से भी सूर की सूक्ष्म परिवेक्षण शक्ति का परिचायक है। चन्दन-कपूर के लेप से शरीर को सजाने के लिए 'सजे' और 'भस्म' मे भर लेने के लिये 'भरात' क्रिया पदो का प्रयोग हुआ है।

'खटात' शब्द का वास्तविक अर्थ है लाभ किन्तु यहा इस शब्द का अर्थ

है अधिक परिश्रम करने मे अयोग्यता। इस प्रकार पूरी पंक्ति का अर्थ है कि हमारे शरीर विरह-वेदना को सहन करते-करते इतने थक गये है कि और अधिक व्यथा को सहने के सर्वथा अयोग्य हैं।

अलंकार—'ससि''जलजात', तथा 'ज्यो तरु जीरन पात' मे उपमा अलकार है।

ऊधो! अखियाँ अति अनुरागी।
इकटक मग जोवति अरु रोवति, भूलेहु पलक न लागी।।
बिन पावस पावस ऋतु आई देखत हौ बिदमान।
अब धौं कहा कियो चाहत हौ? छाँडहु नीरस ज्ञान।।
सुनु प्रिय सखा स्याम सुंदर के जानत सकल सुभाव।
जैसे मिलै सूर प्रभु हमको सो कछु करहु उपाव।।२३७।।

शब्दार्थ—मग जोवति = राह देखती है। भूलेहु = भूल से भी। विदमान = विद्यमान।

प्रसग—गोपियां विरह-व्यथा मे अत्यन्त आकुल है और उद्धव से कृष्ण के मिलने का कोई उपाय पूछ रही हैं।

व्याख्या—गोपिया उद्धव से कह रही हैं कि हे उद्धव! हमारे नेत्र कृष्ण-प्रेम मे अत्यधिक अनुरक्त है। वे मथुरा से आने वाले मार्ग पर टकटकी बाधे कृष्ण की राह देखते रहते है और विरह व्यथा के कारण उनमे अविरल अश्रुधारा प्रवाहित रहती है। हम उनकी प्रतीक्षा मे निरन्तर जागती रहती हैं, भूल से भी हमारी पलकें नही झपकती, अर्थात् पल भर के लिए भी हमें नीद नही आती। तुम स्वय यहा पर देख रहे हो कि बिना वर्षा ऋतु के यहा वर्षा ऋतु विद्यमान है। अर्थात् कृष्ण-वियोग मे हमारे नेत्र सदा वर्षा ऋतु के समान आसुओ की झडी लगाए रहते है। हमारी ऐसी दयनीय स्थिति देख कर भी तुम्हें चैन नही आता जो अभी भी बकझक किए जा रहे हो। अब तो अपनी नीरस ज्ञान चर्चा से हमारा पीछा छोड़ो। हमे कैसी विषम स्थिति पर ला दिया है। अब और क्या करना चाहते हो, क्या हमारी जान लेकर ही छोडोगे?

हे उद्धव! सुनो तुम तो श्यामसुन्दर के प्रिय मित्र होने के कारण, उनके सम्पूर्ण स्वभाव से भली-भांति परिचित हो। हमारी तुमसे यही प्रार्थना है कि कुछ ऐसा उपाय करो कि हमे अपने स्वामी कृष्ण के दर्शन हो जाएं, उनसे

मिलने पर हमारी समस्त विरह-वेदना समाप्त हो जाएगी।

विशेष—गोपिया यहा चाटुकारिता से काम लेते हुए उद्धव से प्रार्थना कर रही है कि वे उन्हे कृष्ण से मिला दें।

अलकार—'बिन पावस के पावस ऋतु आई' मे विभावना।

ऊधो कहत कही नहिं जाय।
मदनगोपाल लाल के बिछुरत प्रान रहे मुरझाय॥
जब स्यंदन चढ़ि गवन कियो इत फिरि चितयो गोपाल।
तबहिं परम कृतज्ञ सबै उठि संग लगीं ब्रजबाल॥
अब यह और सृष्टि विरह की बकति बाय-बौरानी।
तिनसों कहा देत फिरि उत्तर ? तुम हो पूरन ज्ञानी॥
अब सो मान घटै, का कीजै ? ज्यों उपजै परतीति।
सूरदास कछु बरनि न आवै कठिन विरह की रीति॥२३८॥

शब्दार्थ—स्यंदन=रथ। गवन=प्रस्थान। इत=इधर। फिरि=पुनः। चितयो=देखा। बाय-बौरानी=सन्निपात-ग्रस्त, पागल। परतीति=विश्वास।

प्रसग—कृष्ण का वियोग असह्य हो उठा है और गोपियो को व्याकुल बनाए दे रहा है।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कह रही है कि हे उद्धव ! हम असह्य विरह-वेदना की शिकार हैं। अपनी व्यथा को दूसरे के सम्मुख कह कर अपना चित हलका करना चाहती है, किन्तु कह नही पाती। वस्तुतः यह विरह-वेदना अवर्णनीय है, इसे अनुभव तो किया जा सकता है किन्तु कह पाना असम्भव है। मदनगोपाल कृष्ण के हमसे बिछुडते ही हमारे प्राण मुरझाने आरम्भ हो गये थे। अब तो ये इतने निर्बल हो गए हैं कि इनके लिए जीवन धारण किए रहना असम्भव हो गया है। जब कृष्ण मथुरा की ओर प्रस्थान करने के लिए रथ पर आसीन हुए थे, तो जाने से पूर्व उन्होने मुड कर हमारी ओर निहारा था, उनकी इस प्रेम भरी दृष्टि से सभी ब्रजबालाएँ अत्यधिक कृतज्ञता का अनुभव कर रही थी और सभी उठ कर उनके रथ के पीछे-पीछे उनके साथ चलने लगी।

उनके चले जाने के बाद यहाँ विरह की एक विलक्षण सृष्टि हुई है जिसने हमे अत्यधिक दग्ध किया है। अब हम इतनी सतप्त है कि सन्निपात के रोगी

के समान सदा बक-झक करती रहती है अर्थात् पागलों के समान अनर्गल प्रलाप करती रहती है। हे उद्धव ! हम गोपियाँ तो कृष्ण-विरह में पागल बनी हुई हैं, हम अपने वश मे नही, किन्तु तुम तो पूर्ण ज्ञानी एव विद्वान् हो, फिर हमारी अनाप-शनाप बातो का क्यो उत्तर देते हो ? अरे कही पागलो की बातो का भी जवाब दिया जाता है। अब तो तुम हमे कोई ऐसा उपाय बताओ, ऐसा सुभाव दो जिससे हम कृष्ण के मान को घटा सके अर्थात् उनके क्रोध को दूर कर सकें जिससे हमारे प्रति उनका प्रेम और विश्वास पुन उत्पन्न हो जाय और वह ब्रज लौट कर हमारी विरह-व्यथा को दूर कर दे। हे उद्धव ! यह विरह की रीति बड़ी कठिन है। इसका कुछ भी वर्णन करते नही बनता। यह केवल अनुभव ही की जा सकती है, किसी से बतलाई नही जा सकती।

विशेष—(१) इस पद मे गोपियो की आर्त्त पुकार पूर्णतया साकार हो उठी है।

(२) 'इति फिरि चितयो गोपाल'—गोपाल का चलने से पूर्व मुड कर गोपियो की ओर देखना, उनके प्रति प्रेम का प्रतीक है जिस पर गोपियाँ गर्व अनुभव कर रही है।

(३) 'मान'—गोपियों को इस बात का सन्देह है कि कृष्ण उनके पिछले अपराधो के कारण मान किए बैठे है। इसलिए वे उद्धव से ऐसे उपाय सुझाने की प्रार्थना कर रही हैं जिससे वे पुनः ब्रज लौट आएँ।

ऊधो ! यह मन अधिक कठोर।
निकसि न गयो कुंभ काँचे ज्यों बिछुरत नंदकिसोर ॥
हम कछु प्रीति-रीति नहिं जानी तब ब्रजनाथ तजी।
हमरे प्रेम न उनको, ऊधो ! सब रस-रीति लजी ॥
हमतें भली जलचरी बपुरी अपनो नेम निबाहै।
जल ते बिछुरत ही तन त्यागै जल ही जल को चाहै ॥
अचरज एक भयो सुनो, ऊधो ! जल बिनु मीन जियो।
सूरदास प्रभु आवन कहि गए मन बिस्वास कियो ॥२३६॥

शब्दार्थ—कुंभ-काँचे=कच्चा घड़ा। तब=तभी, इसी कारण। रसरीति =प्रेमपद्धति। लजी=लज्जित हुई। जलचरी=मछली। बपुरी=बेचारी। नेम=नियम, प्रेम की दृढ़ता। निबाहै=निर्बाह करती है।

प्रसंग—गोपियो को यह सन्देह हो रहा है कि वे प्रेम की रीति से अपरिचित थी, इसलिए कृष्ण उन्हे त्याग मथुरा चले गए। इस आशका के कारण वे और भी व्यथित हो रही है।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कह रही है कि हे उद्धव ! हमारा मन अधिक निर्मम एव कठोर है जो यह नन्दकिशोर कृष्ण से बिछुडने पर भी शरीर को विदीर्ण कर उसी प्रकार बाहर नही निकल गया जिस प्रकार जल कच्चे घड़े को गला कर उससे निकल जाता है। गोपियो का कहने का तात्पर्य यह है कि कृष्ण से बिछुडते ही उनका प्राणान्त हो जाना चाहिए था। यह उनके मन की निर्ममता है कि जो वे अभी जीवन-धारण किए हुए हैं। व्रज के स्वामी कृष्ण ने सोच-समझ कर हमारा त्याग किया था, इसमे उनका कोई दोष नही था, वस्तुतः हम ही प्रेम की रीति से परिचित नही थी और न ही प्रेम का उचित निर्वाह ही कर सकी। असल मे हमारा प्रेम उस समय शुद्ध नही था, इसलिए कृष्ण हमे छोड कर मथुरा चले गए। हे उद्धव ! अब हमे इस बात का अहसास हो गया है, हम उनसे सच्चा प्रेम नही करती थी, हमने तो आचरण द्वारा सम्पूर्ण प्रेम की रीति को लज्जित कर दिया है। हमने अपने प्रेम के नाम को ही कलंकित कर दिया है।

हमसे तो मछलियाँ ही प्रेम मे अधिक शुद्ध है। वे बेचारी अपने प्रिय जल के प्रति अपने प्रेम के नियम का पूर्णतया निर्वाह करती है। वे जल से विलग होते ही अपने शरीर का त्याग कर देती हैं। वे केवल जल से ही अनन्य स्नेह करती है। यदि हम प्रेम की इस सार्थकता से परिचित होती तो हम मछलियो के समान प्रिय कृष्ण से विलग होते ही अपने प्राणो का त्याग कर देती। अत. स्पष्ट है कि हमारा कृष्ण से एकनिष्ठ प्रेम नही है, यह तो एक दिखावा मात्र है।

हे उद्धव ! सुनो यह तो एक विचित्र बात हुई है कि मछलियाँ जल से अलग होकर भी अभी तक जीवित है अर्थात् यह एक अजीब बात है कि हम गोपियाँ रूपी मछलियाँ अपने प्राणाधार कृष्णरूपी जल से अलग हो कर अभी तक जीवित है। वस्तुत. हम क्या करती, हम बाध्य हो गई थी क्योकि हमारे प्रिय कृष्ण शीघ्र ही लौट आने के लिए हम से कह गए थे और हमने उनके कथन का विश्वास कर लिया था। इसी कारण उनसे बिछुड जाने पर भी हम

अभी तक जीवित है, यदि हम अब भी अपने प्राण त्याग देती, तो यह भी प्रेम की रीति के विपरीत होता।

विशेष—(१) मछली के जल के प्रति प्रेम को प्रेम के क्षेत्र का आदर्श माना गया है। सूर इससे बहुत प्रभावित प्रतीत होते है। इसलिए बार-बार अपने पदो मे इस प्रेम की चर्चा करते है।

(२) अंतिम पक्ति के भाव को सूर ने अन्यत्र भी व्यक्त किया है जो इस प्रकार है—

'श्वासा अटकि रही, आसा लगि, जीवहिं कोटि वरीस।'

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

ऊधो! होत कहा समुझाए ?
चित चुभि रही साँवरी सूरति, जोग कहा तुम लाए ?
पा लागौ कहियो हरिजू सो दरस देहु इक बेर।
सूरदास प्रभु सों बिनती करि यहै सुनैयो टेर ॥२४०॥

शब्दार्थ—कहा=क्या। चुभि रही=समाई हुई है। चित=हृदय। बेर =बार। टेर=पुकार।

प्रसंग— उद्धव के बार-बार निर्गुण-ब्रह्म के उपदेश देने पर भी गोपियो पर कोई असर नही पडता। वे उन्हे ऐसा न करने की सलाह दे रही है क्योकि इसका कोई फल निकलने वाला नही।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कह रही है कि हे उद्धव! बार-बार ज्ञान का उपदेश देने और समझाने से कोई लाभ नही निकलने वाला। हम तुम्हे बता रही है कि तुम व्यर्थ प्रयास कर रहे हो, इसका कोई फल निकलने वाला नही। हमारे हृदय मे कृष्ण की साँवली-सलोनी मूर्ति गडी हुई है अर्थात् साँवरे की सलोनी मूर्ति हमारे हृदय मे सदा विद्यमान रहती है। ऐसी स्थिति में तुम अपना योग हमारे पास क्यो ले आए हो। यह हमारे किसी काम का नही और इसके ग्रहण करने मे न ही, हमारा कोई कल्याण निहित है। हे उद्धव! हम तुम्हारे पाँव पडती हैं और तुमसे प्रार्थना करती है कि मथुरा वापस जाकर कृष्ण से यह कहना कि वे कृपा करके हमे एक बार दर्शन दे-दे। इससे हमारी सम्पूर्ण विरह-व्यथा दूर हो जायेगी। तुम हमारे नाथ कृष्ण से हमारी ओर से केवल प्रार्थना करके हमारी यही पुकार कह देना कि वे हम

दामियो को एक वार अपवे दर्शन देकर कृतार्थ करे, इससे अधिक हम और कुछ भी नही चाहती ।

विशेष—इस छोटे से पद मे गोपियो का सम्पूर्ण जीवन दर्शन अभिव्यक्त हुआ है । इसमे गोपियो की कृष्ण के प्रति अनन्य प्रेम-निष्ठा अपनी पराकाष्ठा पर पहुँची हुई प्रतीत होती है । भावाभिव्यक्ति की दृष्टि से ऐसे कुछेक पद विशेष प्रभावोत्पादकता उत्पन्न करते है ।

ऊधो । हमें जोग नहि भावै ।
चित में बसत स्यामघन सुंदर, सो कैसे बिसरावै ?
तुम जो कहि सत्य सब बाते, हमरे लेखे धूरि ।
पा घट-भीतर सगुन निरंतर रहे स्याम भरि पूरि ।।
पा लागौं कहियो मोहन सो जोग कूबरी दीजै ।
सूरदास-प्रभु रूप निहारैं हमरे समुख कीजै ।।२४१।।

शब्दार्थ—हमरे लेखे=हमारी दृष्टि मे । घट-भीतर=हृदय के अन्दर । भरि-पूरि=पूर्ण रूप से । निहारे=देखे ।

प्रसग—गोपियो को योग अच्छा नही लगता, इसलिए वे कह रही है कि योग कुब्जा को दीजिये ।

व्याख्या—गोपियां उद्धव से कह रही हैं कि हे उद्धव ! हमे योग और उसके द्वारा प्राप्त निर्गुण-ब्रह्म विलकुल अच्छा नही लगता । निर्गुण-ब्रह्म मे हमारी कोई रुचि नही । हमारे हृदय मे काले मेघ के समान सुन्दर कृष्ण सदैव विराजमान रहते हैं । हम उनको भुला कर तुम्हारे निर्गुण-ब्रह्म को कैसे स्वीकार कर ले । अब तक तुमने ब्रह्म और योग के विषय मे जो-जो बातें कही है, वे सब सत्य हो सकती हैं किन्तु हमारी दृष्टि मे वे मूल्यहीन हैं । उनका राख के समान कोई मूल्य नही अर्थात् तुम्हारा निर्गुण-ब्रह्म हमारी दृष्टि मे राख और धूल के समान त्याज्य है । हमारे इस हृदय मे निरन्तर सगुण रूप कृष्ण अपनी सपूर्ण छवि के साथ विद्यमान रहते है, अत हम पूर्णतया सन्तुष्ट हैं, तुम्हारे निर्गुण की ओर हमारी आँख भी नही उठती ।

हे उद्धव ! हम तुम्हार पांव पडती हैं । हमारी ओर से मोहन-कृष्ण से यही प्रार्थना करना कि वे योग का उपदेश कुब्जा को दे क्योकि आजकल वह भोग-विलास मे लिप्त रहती है, इसलिए उसे इसकी अधिक आवश्यकता है ।

उनसे इतना और कह देना कि वह यहाँ आकर अपनी रूप-छवि को हमारे सम्मुख प्रेषित करें जिससे हम जी भर कर उनका दर्शन करे और अपनी विरह-व्यथा को दूर करे।

विशेष—(१) भावातिरेक की दृष्टि से ऐसे छोटे पद अत्यन्त श्रेष्ठ हैं। इस पद मे भाव-शवलता अत्यन्त प्रभावोत्पादक है।

(२) चित्त की व्याकुलता के द्वारा योग का खण्डन एव विरोध किया गया है।

ऊधो। हम न जोगपद साधे।
सुंदरस्याम सलोनो गिरिधर नँदनंदन आराधे॥
जा तन रचि रचि भूषन पहिरे भाँति भाँति के साज।
ता तन को कहै भस्म चढ़ावन, आवत नाहिन लाज॥
घट-भीतर नित बसत साँवरो मोरमुकुट सिर धारे।
सूरदास चित तिन सों लाग्यो, जोगहि कौन सँभारे?॥२४२॥

शब्दार्थ—साधे=साधना करना। आराधे=आराधना करना। भूषण=आभूषण। रचि-रचि=सजा-सजा कर। घटभीतर=हृदय मे। धारे=धारण किये हुए। तिनसो=उनके साथ।

प्रसंग—गोपियाँ कृष्ण-प्रेम मे आकण्ठ डूबी हुई है। उनके मन मे सांवला सलोना कृष्ण समाया हुआ है। निर्गुण-ब्रह्म के लिए वहाँ कोई स्थान नही।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं कि हे उद्धव! तुम्हारे योग और निर्गुण-ब्रह्म में हमारी कोई रुचि नही, हम इसकी साधना नही करना चाहती। हम तो एकमात्र सुन्दर, सांवले-सलोने गिरिधारी कृष्ण की ही आराधना करती हैं अर्थात् हम अपने आराध्य कृष्ण को त्याग तुम्हारे निर्गुण-ब्रह्म को स्वीकार नही कर सकती। हमने अपने जिस तन पर सजा-सजा कर आभूषणो को धारण किया था तथा अनेको प्रकार के वस्त्राभूषण एव श्रृंगार-प्रसाधनो से अपने प्रिय कृष्ण के लिये सजाया था, तुम हमारे उस सुकोमल शरीर पर भस्म रमाने की बात कह रहे हो। ऐसा कहते हुए तुम्हे तनिक भी लज्जा नही आई? कितनी अनुचित बात है यह तुम्हारी।

हमारे हृदय मे सिर पर मोर पंख का मुकुट धारण किए हुए सांवरा-सलोना कृष्ण अपनी छवि के साथ सदा विद्यमान रहता है। हमारा मन कृ

उसकी ऐसी सलोनी छवि मे उलझा रहता है, अनुरक्त रहता है। अतः तुम ही कहो, हे उद्धव ? कि योग की सम्भाल कौन करे ? हमारा मन तो सदा कृष्ण की स्मृति मे खोया रहता है, अत. हम तुम्हारे निर्गुण-ब्रह्म को स्वीकार करने मे पूर्णतया असमर्थ है।

विशेष—(१) भावाभिव्यक्ति की दृष्टि से यह एक श्रेष्ठ पद है।

अलंकार—'रचि-रचि' मे पुनरुक्ति प्रकाश।

ऊधो। कहियो यह संदेस।
लोग कहत कुबजा-रस-माते तातें तुम सकुचौ जनि लेस।
कबहुँक इत पग धारि सिधारौ धरि हरिखंड सुबेस।
हमरो मनरंजन कीन्हें तें ह्वै हौ भुवन नरेस॥
जब तुम इत ठहराय रहौगे देखौगे सब देस।
नहिं बैकुंठ अखिल ब्रह्मांडहि ब्रज बिनु, हे हृषिकेस!
यह किन मंत्र दियो नंदनंदन तजि ब्रज भ्रमन-बिदेस ?
जसुमति जननी प्रिया राधिका देखे औरहि देस ?
इतनी कहन कहत स्यामा पै कछु न रह्यो अवसेस।
मोहनलाल प्रवाल मृदुलमन ततछन करी-सुहेस॥
को ऊधो, को दुसह बिरह-जुर को नृपनगर-सुरेस।
कैसो ज्ञान, कह्यो किन कासों, किन पठयो उपदेस ?
मुख मृदुछबि मुरली-रव-पूरित गोरज-कुर्बुर केस।
नट-नाटक गति बिकट लटक जब बन तें कियो प्रवेस॥
अति आतुर अकुलाय धाय पिय पोछत नैन कुलेस।
चुम्हिलानो मुखपद्म परम करि देखत छबिहि बिसेस॥
सूर सोम, सनकादि, इन्द्र, अज, सारद, निगम, महेस।
नित्यविहार सकल रस भ्रमगति कहि गावहिं मुख सेस॥२४३॥

शब्दार्थ—जनि=मत। लेस=लेशमात्र, थोडा-सा। हरिखंड=मोर-मुकुट। सुवेस=सुन्दर वेश। ठहराय रहौगे=स्थिर होकर बैठोगे। हृषिकेस=विष्णु भगवान। भ्रमन=भ्रमण करना। प्रवाल=नव-पल्लव। मृदुल=कोमल। ततछन=उसी क्षण। सुहेस=मगल तारा। बिरह-जुर=विरह का ज्वर। रव=आवाज, ध्वनि। पूरित=पूर्ण। गोरज कुर्बुर-केस=गायो के

खुरो से उठी धूल से मटमैले बने केश। नट-नाटक गति=नाटक के अभिनेता के समान। विकट=बाँकी। कुसेस=कुशेशय, कमल। मुख-पद्म=कमल के समान सुन्दर मुख। परस करि=स्पर्श करके। अज=ब्रह्मा। सारद=शारदा, सरस्वती। भ्रमगति=भ्रान्तिदशा। सेस=शेषनाग।

प्रसग—गोपियाँ उद्धव के माध्यम से कृष्ण को सन्देश भेज रही हैं, जिसमे उपालम्भ और व्यग्य का सम्मिश्रण है।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कह रही है कि हे उद्धव ! तुम मथुरा लौटने पर कृष्ण से हमारा यह सन्देश कह देना। हमने लोगो से उनके और कुब्जा के सम्वन्ध मे सुना है कि वह कुब्जा के प्रेम मे मतवाले बने हुए हैं, इस बात के लिए उनसे कहना कि तनिक भी सकोच न करें। सम्भवत वे कुब्जा और अपने सम्वन्ध के कारण हमारे सम्मुख आने के लिए शर्म कर रहे हो, तो ऐसी बात नही, वह निस्सकोच यहाँ चले आवे, हम इस सन्दर्भ मे उनसे कोई चर्चा तक नही करेंगी। उनसे केवल हमारी ओर से इतनी प्रार्थना करना कि कभी मोर पख का मुकुट अपने शीर्ष पर धारण कर और सुन्दर वेश-भूषा पहन कर इधर आने की कृपा करे और हम लोगो को सेवा का अवसर देकर कृतार्थ करे। इस प्रकार यदि वे हमारा मनोरजन करते है तो वे सारे संसार के स्वामी अर्थात् साक्षात् ईश्वर हो जायेगे। हे विष्णु के अवतार कृष्ण ! जव तुम यहाँ व्रज में हमारे पास कुछ समय के लिए स्थिर होकर निवास करोगे और अन्य भूखण्डो की ओर निहारोगे, तो तुम्हे स्वय अनुभव होगा कि इस अखिल ब्रह्माण्ड मे व्रज के सिवाय और कोई वैकुण्ठ नही है, अर्थात् व्रज ही तुम्हारा एकमात्र ब्रह्माण्ड है। हे नन्दनन्दन कृष्ण ? हमे समझ नही आ रहा कि तुम्हे यह मत्र रूपी परामर्श किसने दिया है कि अपने वैकुण्ठ रूपी व्रज को त्याग कर देश विदेशो का भ्रमण करते रहो, व्यर्थ घूमते रहो। क्या तुमने इस ब्रह्माण्ड के किसी अन्य कोने मे यशोदा के समान स्नेहमयी माता और राधा के समान अनन्य प्रेमिका देखी है। हमे पूर्ण विश्वास है कि इन दोनो को व्रज मे ही पाया जा सकता है, अन्यत्र नही।

इतना कहते-कहते उस श्यामा नाम की गोपी के पास और कुछ कहने को शेष न वचा अर्थात् बातो-बातो मे उसे कृष्ण की स्मृति हो आई जिससे उसके प्रेम की विह्वलता बढ़ गई और कण्ठ अवरुद्ध हो गया जिससे वह आगे कुछ और

न बोल सकी। मोहन कृष्ण के नव-पल्लव के सामान प्रेम की लालिमा ने उसके कोमल मन को सींच कर तुरन्त मंगल-तारे की सी लालिमा के समान लाल कर दिया अर्थात् उसका कोमल मन कृष्ण-प्रेम की लालिमा से ओत-प्रोत होकर मगल तारे के समान लाल हो उठा, उसके हृदय मे स्थित इस अनुराग की लालिमा उसके मुख पर स्पष्ट अंकित हो गई। जिससे उसका मुख नव-पल्लव की लालिमा की तरह आभा मण्डित हो गया। प्रेम की इस आनन्दावस्था में वह आत्मविभोर हो गई और अपने चारों ओर की उसे कोई स्मृति न रही। वह यह भी भूल गई कि कौन उद्धव है, असह्य विरह-ज्वर क्या होता है, और राजधानी मे इन्द्र के समान कौन सिंहासन पर आसीन है, उद्धव ने किस ज्ञान की चर्चा उनके सम्मुख की है, किसने किसको यह उपदेश दिया है और किसने यह सन्देश के रूप मे गोपियो के सम्मुख प्रपित करने के लिए यह आदेश उद्धव द्वारा यहाँ भेजा है? अर्थात् वह श्यामा नामक गोपी कृष्ण की स्मृति आते ही कृष्ण-प्रेम मे पूर्णतया आत्म-विभोर हो गई। अपने चारो ओर व्याप्त सम्पूर्ण वातावरण से निर्लिप्त बन अद्वैतावस्था को प्राप्त हो गई। अब उसे कृष्ण के अतिरिक्त कुछ भी याद न रहा।

उसके सम्मुख कृष्ण के मुख की मृदुल मनोहर छवि साकार हो गई। उसने देखा कि कृष्ण चलती हुई गायों के खुरो से उठी हुई धूल से सने मटमैले बने केशों के साथ, मुख से मुरली की मधुर तान निकालते हुए, नाटक मे अभिनय करने वाले नट की सी बाँकी अदा के साथ वन से लौटते हुए गोकुल मे प्रवेश कर रहे हैं। अपने मानस-नेत्रो के सम्मुख प्रस्तुत कृष्ण की इस मनोहर मूर्ति को अनुभव करते ही यह गोपी अत्यन्त आतुर व्याकुल हो गई। वह अपने आपे मे न रही और दौड़ कर कृष्ण के साथ लिपट गई और धूल के साथ सने उनके केश पोछने लगी और उन को सहलाने लगी, उनके श्रम से कुम्हलाये हुए सुन्दर मुख-कमल को स्पर्श करती हुई उनकी विशिष्ट रूपमाधुरी की शोभा को निहार कर आनन्दित होने लगी। उस गोपी की यह भ्रान्ति-दशा जिसे पुष्टिमार्गीय भक्ति मे तादात्म्य की दशा कहा गया है, धन्य है। सूर्य, चन्द्रमा, सनकादिक, ऋषिगण, ब्रह्मा, इन्द्र, सरस्वती, वेद, महेश आदि सभी कृष्ण प्रेम की प्रस्तुत भ्रान्ति-दशा मे सदा विहार करते हुए सुख का अनुभव करते हैं तथा शेषनाग निरन्तर अपने सहस्रो मुखो से इस दशा का गुणगान करता

रहता है।

विशेष—(१) भक्ति की चरमावस्था वह है जब वह ,अर्थात् भक्त ऐसी दशा को प्राप्त कर लेता है जिसमे भगवान् के साथ उसका तादात्म्य स्थापित हो जाता है, उसमे और भगवान् मे कोई अन्तर नही रह जाता। वह अपने चतुर्दिक वातावरण से अनभिज्ञ केवल भगवान् के दर्शनो मे लीन होता है। प्रस्तुत पद मे इसी अवस्था का चित्रण किया गया है।

(२) कृष्ण के सभी धामो मे व्रज को सर्वोपरि बता कर उनके महत्व की प्रतिष्ठा की गई है।

अलंकार—सम्पूर्ण पद मे रूपक और रूपकातिशयोक्ति।

ऊधो! हरिजू हित जनाय चित चोराय लयो।
ऊधो! चपल नयन चलाय अगराग दयो॥
परम साधु सखा सुजन जदुकुल के मानि।
कहौ बात प्रात एक साँची जिय जानि॥
सरद-बारिज सरिस दृग भौंह काम-कमान।
क्यों जीवहि बेधे उर लगे विषम बान?
मोहन मथुरा पै बसें, व्रज पठयो जोग सँदेस।
क्यों न काँपि मेदिनी कहत जुव्रतिन उपदेस?
तुम सयाने स्याम के देखहु जिय विचारि।
प्रीतम पति नृपति भए औ गहे वर नारि॥
कोमल कर मधुर मुरलि अधर धरे तान।
पसरि सुधा पूरि रही कहा सुनै कान?
मृगी मृगज-लोचनी भए उभय एक प्रकार।
नाद नयनबिष-तते न जान्यो मारनहार॥
गोधन तजि गवन कियो लिया बिरद गोपाल।
नीके कै कहिबी, यह भली निगम-चाल॥२४४॥

शब्दार्थ—चोराय लयो=चुरा लिया। अंग राग=अग-अग में प्रेम। सरद-बारिज=शरद ऋतु का कमल। सरिस=समान। दृग=नेत्र। काम-कमान=कामदेव का धनुष। मेदिनी=पृथ्वी। गहे=ग्रहण कर लिया। वर=श्रेष्ठ। पसरि=फैल कर। मृगी=हिरनी। मृगज-लोचनी=मृग शावक के

समान सुन्दर नेत्रो वाली गोपियाँ। तते = ताप से। मारनहार = मारने वाला, वधिक। विरद = यश। नीके = अच्छी तरह से। कहिबी = कहना। निगम-चाल = वेदमार्ग।

प्रसग—गोपियाँ कृष्ण के छलभरे प्रेम के कारण अत्यन्त दुःखी हैं और उन्हे उपालम्भ दे रही है।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं कि हे उद्धव ! यहाँ रहते हुए कृष्ण ने हमारे हितैषी होने का अभिनय किया और प्रेम का प्रदर्शन कर हमारे हृदय को चुरा लिया। हे उद्धव ! उन्होने अपने चचल नेत्रो की बाँकी चितवन से हमारी ओर कटाक्ष किया और इस प्रकार हमारे अग-प्रत्यंग मे अपने प्रति प्रेम का सचार किया। हे उद्धव ! हम तुम्हे परम साधु, कृष्ण के प्रिय सखा और यदुकुल का सज्जन व्यक्ति समझती है और तुम्हें एक बात बताती है। यह प्रात कालीन शुद्ध समय है, अत. तुम हमारी बात को सुन कर अच्छी तरह से हृदय मे विचार करना और हमे इसका सही-सही उत्तर देना। सबसे पहले तुम हमे यह बताओ जब किसी के हृदय पर शरद ऋतु के निर्मल कमल सदृश नेत्रो की कामदेव के धनुष के समान सुन्दर भौंहो पर कटाक्ष रूपी भीषण बाणो को चढा कर प्रहार किया जाय, वेध दिया जाय तो वह किस प्रकार जीवित रह सकता है ? अर्थात् नही रह सकता। उसी प्रकार हमारे हृदय को भी कृष्ण के कमलनयनो की तीखी भौहो की बांकी चितवन ने बीध डाला है और अब हम घायल हिरनियाँ उनकी प्रतीक्षारत हैं।

कृष्ण स्वय मथुरा मे विराजमान हैं, तथा कुब्जा के साथ भोग-विलास मे लिप्त है और व्रजवासियो के लिए योग का सन्देश भेज रहे हैं। हे उद्धव ! तुम हमे यह बताओ कि हम युवतियो को उपदेश भेजने जैसे अनीतिपूर्ण कार्य के कारण पृथ्वी क्यो न काँप उठे ? अर्थात् यदि इस अन्यापूर्ण वर्ताव पर पृथ्वी काँप उठती है तो यह कोई अनीति नही है। तुम तो उद्धव एक विवेकशील प्राणी हो, स्वय अपने हृदय मे विचार कर देखो कि क्या कृष्ण का हमारे प्रति यह व्यवहार अनुचित नही है ? कृष्ण हमारे प्रियतम और पति दोनो हैं। वह अब राजा हो गये है और एक सुन्दर नारी को घेर कर भोग-विलास मे लिप्त है, क्या यह उनके लिए उचित है ?

कृष्ण जब यहाँ थे तो हमें वन-उपवन मे ले जाया करते थे और अपने कोमल हाथो द्वारा मधुर-स्वर वाली मुरली को अपने मुख पर रख कर अनेक प्रकार की राग-रागिनियाँ छेड़ा करते थे। मुरली की वे अमृत के समान जीवनदायिनी मधुर ताने आज भी हमारे कानो मे गुंजित हो रही है। अत: तुम ही कहो उद्धव ! हमारे कान और कुछ कैसे सुन सकते है ? अर्थात् मुरली की मधुर तान सुनने के अभ्यस्त हमारे कान ब्रह्म के नीरस उपदेश को नही सुन सकते। जिस प्रकार बधिक की वीणा के स्वरो को सुन कर हिरनी मुग्ध हो जाती है और हिलना-डुलना भूल जाती है और इस प्रकार उसके चगुल मे फँस जाती है, उसी प्रकार हम मृग-शावक के समान सुन्दर नेत्रो वाली गोपियाँ कृष्ण की मुरली की मोहिनी तान को सुन कर विमुग्ध हो गईं और उनके चंगुलमे फँस गईं और फिर हमारी भी वही स्थिति हुई जो हिरनी की होती है। अर्थात् हिरनी जिस प्रकार वीणा के विषभरे प्राणघातक नाद को सुन कर विमुग्ध हो मारने वाले बधिक को न पहचानती हुई खडी रह जाती है, उसी प्रकार हम कृष्ण की मुरली की तान से विमुग्ध उनकी चाल को न पहचान सकी और अपने आप उनके चगुल मे फँस गईं और उनके चंचल-प्राणघातक कटाक्षो से घायल होकर उनके प्रेम मे अनुरक्त हो उठी थी और अब विरह की ज्वाला में दग्ध हो रही हैं। वस्तुत: हम कृष्ण के इस बहेलिये वाले विश्वासघातक रूप को पहले नही पहचान पाई थी।

कृष्ण यहाँ अपनी समस्त गायो को छोड कर मथुरा जा बैठे है किन्तु उन्हें 'गोपालक' का यश प्राप्त हुआ है अर्थात् वह कहलाते तो 'गोपाल' हैं किन्तु गायो को छोड कर मथुरा में भोग-विलास मे लिप्त है। तुम उनसे भली-भाँति समझा कर यह कह देना कि ऐसा करके उन्होने वेद-सम्मत मार्ग का उचित पालन नही किया है अर्थात् 'गोपाल' विरद को धारण कर गायो को त्याग देना वेदो द्वारा निर्धारित मार्ग का सर्वथा उल्लघन करना है। अत: उचित यही है कि कृष्ण व्रज लौट आएँ और फिर से अपनी गायों की देखभाल करे। उनके दर्शन प्राप्त करके हम भी तृप्त हो जायेंगी।

विशेष—(१) गोपियो को इस बात का पश्चाताप हो रहा है कि वे कृष्ण की बाँकी चितवन और मुरली की मधुर तान से घायल होकर उनके चगुल मे फँस गईं और उनकी चाल को न पहचान सकी।

(२) 'तते' का अर्थ है गर्म । आज भी इस शब्द का कहीं-न-कहीं व्यवहार मिल जाता है । इस प्रकार 'नयनविष-तते' का अर्थ है कि उनके नेत्रों के घातक कटाक्षों के प्रहार से हमारी प्रेम की ज्वाला भड़क उठी ।

अलंकार—(१) 'सरद······वान'—उपमा तथा रूपक ।

(२) 'मृगी······मारनहार' में तुल्योगिता ।

(३) 'गोधन······चाल' में काकुवक्रोक्ति ।

मधुकर ! जानत हैं सब कोऊ ।
जैसे तुम औ मीत तुम्हारे, गुननि निपुन हौ दोऊ ।
पाके चोर, हृदय के कपटी, तुम कारे औ वोऊ ।।
सरबसु हरत, करत अपनो सुख, कैसेहू किन होऊ ।।
परम कृपन थोरे धन जीवत उबरत नाहिन सोऊ ।
सूर सनेह करै जो तुमसों सो करै आप-बिगोऊ ।।२४५।।

शब्दार्थ—मीत=मित्र । वोऊ=वह भी । सरबसु=सर्वस्व । कृपन=कृपण, कंजूस । उबरत=छूटता, मुक्त होता । सोऊ=वह भी । बिगोऊ=विनाश ।

प्रसंग—कृष्ण ने प्रेम में गोपियों को धोखा दिया है जिससे वे अत्यन्त दुखी हैं और कृष्ण एवं उद्धव दोनों को खरी-खोटी सुना रही हैं ।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं कि हे उद्धव ! संसार के सभी लोग तुम्हें और तुम्हारे मित्र कृष्ण को भली-भाँति जानते हैं कि तुम किस प्रकार के लोग हो । तुम दोनों गुणों में पूर्णतया प्रवीण हो अर्थात् किसी के साथ छल-कपट करने में और धोखा देने में पूर्णतया कुशल हो । तुम दोनों पक्के चोर और हृदय के कपटी हो । अपने काले कारनामों के अनुरूप ही तुम्हें भगवान् ने काले रंग वाला बनाया है । कृष्ण भी श्यामवर्णीय हैं जो उनकी प्रकृति और गुणों के अनुरूप है । तुम दोनों जिस प्रकार भी सम्भव हो सके दूसरों का सर्वस्व हरण कर केवल अपने सुख का ध्यान रखते हो । जो तुम्हारे शिकार होते हैं, उनके विषय में तम्हें कोई चिन्ता नहीं रहती । तुम्हारा ध्येय है अपने स्वार्थ की साधना करना, इससे आगे कुछ नहीं ।

कोई निर्धन हो अथवा परम कृपण हो और छोटे धन से ही अपना जीवन-निर्वाह कर रहा हो, वह भी तुम्हारे छल-कपट का शिकार अवश्य होगा,

तुमसे बच नही सकता। उसका लुटना भी अवश्यम्भावी है। अर्थात् हम गोपियाँ किसी कृपण के समान कृष्ण की स्मृति रूपी अपनी छोटी पूँजी को सजोए हुए किसी तरह अपना जीवन व्यतीत कर रहीं थी किन्तु तुम्हे वह भी नही भाया और अब हमे निर्गुण-ब्रह्म का उपदेश देकर हमे अपनी इस पूजी से अलग करने का प्रयत्न कर रहे हो। एक तो तुम्हारे मित्र कृष्ण हमारा सर्वस्व ही लूट कर ले गये और अब तुम उनकी स्मृति के रूप मे बची-खुची हमारी पूजी हमसे छीन लेना चाहते हो। तुमसे अर्थात् कृष्ण से जो स्नेह का नाता जोड़ता है, वह अपने आप अपना विनाश करता है अर्थात् कृष्ण से प्रेम करना स्वय को कुल्हाड़ी मारने के समान आत्मघातक है क्योकि कृष्ण प्रेम मे लेना ही जानते है, प्रतिकार मे कुछ देना नही जानते।

विशेष—अपनी सरलता के लिए यह पद अत्यन्त उत्तम है।

अलंकार—'गुननि निपुन हौ दोऊ' मे काकु वक्रोक्ति अलकार है क्योकि कठ-भेद से इसका बिलकुल विपरीत अर्थ हो जाता है कि तुम दोनो छली-कपटी और पक्के विश्वाशघाती हो।

मधुकर! कहियत बहुत सयाने।
तुम्हरी मति कापै बनि आवै हमरे काज-अजाने॥
तैसोई तू, तैसो तेरो ठाकुर, एकहि बरनहि बाने।
पहिले प्रीति पिवाय सुधारस पाछे जोग बखाने॥
एक समय पकजरस बासे दिनकर अस्त न माने।
सोइ सूर गति भइ ह्याँ हरि बिनु हाथ मीड़ि पछिताने॥२४६॥

शब्दार्थ—कहियत=कहलाते हो। सयाने=चतुर। कापै=किस पर। हमरे काज अजाने=हमारे लिए भोले-भाले बन गये हो। ठाकुर=स्वामी। बरनहि=रगवाले। बाने=वेश-भूषा। पकज-रस=कमल का रस। बासे=निवास करना। दिनकर=सूर्य। हाथ मीड़ि=हाथ मल-मल कर।

प्रसंग—कृष्ण का भ्रमर के साथ साम्य स्थापित करते हुए गोपियाँ दोनो की छल-कपटपूर्ण प्रकृति पर व्यंग्य कर रही है।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कह रही है कि हे उद्धव! तुम तो अत्यन्त चतुर, ज्ञानी कहलाते हो और इसी रूप मे तुम्हारी प्रसिद्धि है। तुम्हारी जैसी बुद्धि का स्वामी और कौन हो सकता है? अर्थात् हमारे समान कौन

अपनी स्वार्थ-बुद्धि के बल पर अपना हित-साधन करने मे कामयाब हो सकता है। तुम जब से यहाँ आए हो अपने निर्गुण ब्रह्म का बखान ही कर रहे हो और हमे कृष्ण को भुला उसे ग्रहण कर लेने की प्रेरणा दे रहे हो और हमने तुमसे कृष्ण-मिलन की व्यवस्था करवा देने की प्रार्थना की तो तुम तुरन्त भोले-भाले बन कर चुप कर गए जैसे इस बात से तुम्हे कोई सरोकार नही। ऐसे व्यक्ति से तो हमारा आज तक पाला ही नही पडा। जैसा तेरा स्वामी कृष्ण है वैसा ही तू है। तुम दोनो छली-कपटी हो। कृष्ण हमारे हृदय के रूप मे हमारा सर्वस्व लूट कर ले गए और तुम उनकी स्मृति के रूप मे हमारी बची-खुची सम्पत्ति भी हमसे लूट लेना चाहते हो। तुम दोनो का एक ही-सा रग अर्थात् काला रग है और एक ही सी वेश-भूषा है। इस प्रकार बाह्य-साम्य के साथ तुममे अतरग-साम्य भी है क्योंकि तुम दोनो के स्वभाव मे छल और कपट कूट-कूट कर भरा हुआ है। तू पहले अपने आनन्द के लिए पुष्पपराग का पान करता है और फिर उसे रीता जान कर अन्य पुष्प की ओर भाग जाता है। उसी प्रकार का बर्ताव कृष्ण ने हमारे साथ किया है। पहले वे हमारे प्रति प्रगाढ प्रेम की अभिव्यक्ति करते रहे और हमें अधरामृत का पान करा कर सुख पहुँचाते रहे। जब हम नीरस हो गईं तो हमे त्याग मथुरा चले गए और कुब्जा के प्रेम मे निमग्न हो गए। इस पर भी उन्हे सन्तोष न हुआ जो हमे योग-साधना का सन्देश लिख कर भेज दिया। इससे अधिक अन्याय और क्या हो सकता है।

कृष्ण-प्रेम मे हमारी दशा उस भ्रमर की तरह विषम है जो कमल-रस के लालचवश कमल-कोश मे अपना निवास बना लेता है और सूर्यास्त की चिन्ता नही करता, जब सूर्यास्त के समय कमल बन्द हो जाता है तो वह कमल के भीतर तड़प-तड़प कर अपने प्राण त्याग देता है। हम भी कृष्ण-प्रेम मे पूरी तरह डूबी हुई थी। कृष्ण के अक्रूर जी के साथ मथुरा जाते समय हमे इस बात का अहसास नही था कि हमे विरह मे तडपना पडेगा और असह्य वेदना सहन करनी पडेगी। अब तो हम हाथ मल-मल कर पछता रही है और इस बात पर रो रही है कि हमने कृष्ण को यहाँ से चला ही क्यो जाने दिया।

विशेष—सस्कृत साहित्य मे कमल के सन्दर्भ मे एक ऐसा श्लोक मिलता है जिसके अनुसार सूर्य के अस्त होने पर एक भ्रमर-कमल-सम्पुट मे बन्दी हो

जाता है और सोचता है कि कल प्रातः सूर्य के उदय होने पर कमल खिलेगा और वह स्वतन्त्र हो जाएगा किन्तु इतने में एक हाथी वहाँ से गुजरता है और कमल को रोदता हुआ चला जाता है जिससे भ्रमर का प्राणान्त हो जाता है—

"रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभात
भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पकज श्रीः ।
इत्थं विचिन्तयति पद्मगते द्विरेफे
हा हन्त ! हन्त ! नलिनी गज उज्जहार ॥"

कृष्ण के प्रस्थान के समय सूर की गोपियाँ भी कमल के समान यही सोच रही थी कि यह वियोग क्षणिक होगा किन्तु उद्धव रूपी हाथी ने आकर उनकी समस्त आशाओ पर कुठाराघात कर दिया ।

अलकार—'तुम्हारी मति···अजाने' मे काकुवक्रोक्ति अलकार है ।

मधुकर ! कहत सँदेसो सूलहु ।
हरिपद छाँड़ि चले ताते तुम प्रीतप्रेम भ्रमि भूलहु ॥
नहि या उक्ति मृदुल श्रीमुख की जे तुम उर में हूलहु ।
बिलज न बदन होत या उचरत जो सघान न मूलहु ॥
उत बड़ ठौर नगर मथुरा, इत तरनि तनूजा कूलहु ।
उत महराज चतुर्भुज सुमिरौ, इन किसोरनंद दूलहु ॥
जे तुम कही बड़ेन की बतियाँ ब्रज जन नहि समतूलहु ।
सूर स्याम गोपी-सँग बिलसे कंठ धरे भुजमूलहु ॥२४७॥

शब्दार्थ—सूलहु=शूल उत्पन्न करते हो । हरिपद=कृष्ण के चरण । या=यह । मृदुल=कोमल । श्रीमुख=कृष्ण के मुँह से । हूलहु=चुभाते हो । बिलज=लज्जित । बदन=मुख । उचरत=उच्चारण करते, कहते । सघान=मिलावट । मूलहु=मूलवचन । उत=उधर । तरनि तनूजा=सूर्य की पुत्री यमुना । कूलहु=तट, किनारा । दुलहु=दूल्हा । समतूलहु=अनुकूल । बिलसे=विलास किया । भुजमूलहु=भुजाओ के आलिगन ।

प्रसंग—गोपियो को योग सन्देश शूल के समान चुभ रहा है । अतः वे इसे स्वीकार नही कर सकती ।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं कि हे उद्धव ! तुम कृष्ण द्वारा भेजे गए इस योग-सन्देश को कह कर हमारे हृदय मे शूल चुभा रहे हो और हमें

असह्य वेदना पहुँचा रहे हो। हमें लगता है कि तुम्हें हरिपद के छोड़ने का दुख है क्योंकि इससे तुम उनके अनुराग से वंचित हो गए हो। अब उनके प्रेम में व्याकुल बने इधर-उधर भटक रहे हो और भला-बुरा सोचने-समझने की तुम्हारी शक्ति जाती रही है जिससे तुम हमारे साथ ऐसा कठोर व्यवहार कर रहे हो और हम कृष्ण-प्रेम को छोड़ देने की बात कर रहे हो। जो तुम ज्ञानोपदेश जबरदस्ती हमारे हृदय मे डालने का प्रयत्न कर रहे हो, यह उक्ति हमे विश्वास है कृष्ण के कोमल-सुन्दर मुख से नही निकली क्योंकि कृष्ण कोमल-वृत्ति के प्रतिनिधि है, वे अपने कोमल मुख से हमारे लिए योग-साधना जैसी कठोर बातो का विधान नही कर सकते। यदि तुमने हमसे कृष्ण का मूल सन्देश ही कहा होता और उसमे अपनी ओर से कुछ न मिलाया होता तो ऐसा करते हुए तुम्हारा मुख लज्जा के मारे झुक न गया होता। अतः हमे विश्वास हो गया है कि तुमने कृष्ण का मूल सन्देश हमसे नही कहा बल्कि अपनी ओर से उसमे बहुत कुछ और बातें मिलाई हैं जिससे तुम लज्जा के मारे गड़े जा रहे हो और तुम्हारा मुख लाल हो गया है।

हे उद्धव! यह ठीक है, तुम बड़े लोग हो और तुम उस विशाल मथुरा नगरी के वासी हो, वह उत्तम स्थान हो सकता है किन्तु यहाँ शान्तिदायक यमुना का किनारा है। वहाँ तुम लोग चतुर्भुजधारी भगवान् विष्णु का स्मरण करते हो, उनकी आराधना करते हो, जबकि यहाँ हम अपने नन्दकुमार कृष्ण की अनन्य उपासिकाएँ हैं। अतः तुमसे हममे कोई समानता नहीं है। मथुरावासियो की, बड़े लोगो की जो तुमने योग-सन्देश वाली बड़ी बातें कही हैं, वे व्रजवासियो के अनुकूल नही हैं। अर्थात् व्रजवासी प्रेममार्गी हैं, ज्ञानोपदेश उनके लिए सर्वथा अनुपयुक्त है। यह तो मथुरावासियों के लिए ही उपयुक्त है क्योंकि वहाँ के लोग भोगलिप्त हैं। हम तो पहले ही वियोगिनी हैं, और तपस्वियों का जीवन-यापन कर रही है। यहाँ तो कृष्ण गोपियो के साथ अर्थात् हमारे साथ हमारे कण्ठों मे अपनी भुजाओं के हार डाल कर विलास किया करते थे और हमें आनन्दित किया करते थे। उस समय की उनकी विलक्षण छवि हमारे मन मे समाई हुई है और हमें उनका वही रूप प्रिय है। विष्णु का चतुर्भुजधारी रूप हमारे लिए कोई आकर्षण नही रखता, वह तुम्हें ही रुच सकता है।

विशेष—गोपियाँ तो कृष्ण के मनोहारी रूप की अनन्य प्रेमिकाएँ है और उनके सम्मुख विष्णु के चतुर्भुजधारी रूप को हेय समझती है।

अलकार—उल्लेख।

मधुकर ! यहाँ नहीं मन मेरो।
गयो जो सग नदनदन के बहुरि न कीन्हो फेरो।,
लयो नयन मुसकानि मोल है, कियो परायो चेरो।
सौंप्यो जाहि भयो बस ताके, बिसर्यो बास-बसेरो॥
को समुझाय कहै सूरज जो रसबस काहू करो ?
मदे पर्यो, सिधारु अनत लै, यह निर्गुन मत तेरो॥२४८॥

शब्दार्थ—बहुरि=फिर। चेरो=दास। बिसर्यो=भूल गया। बास=बसेरो=रहने का स्थान। रसबस=रसमग्न। मदे=मद, मूल्यहीन। सिधारु=सिधारो, जाओ। अनत=अन्यत्र।

प्रसंग—गोपियों का मन पराया हो गया, उनका नही रहा, यही उनकी विवशता है। इसी कारण वे उद्धव के निर्गुण-ब्रह्म को स्वीकार नही कर सकती।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कह रही है कि हे उद्धव ! हम तुम्हे क्या बताएँ, हमारा मन तो यहाँ हमारे पास नही है। वह जो एक बार नन्दनन्दन कृष्ण के साथ मथुरा चला गया, पुन वापस नही लौटा। अब तुम्ही कहो कि हम बिना मन के किस प्रकार योग-साधना करे, क्योकि योग-साधना मन द्वारा ही सम्भव है और तभी निर्गुण-ब्रह्म को प्राप्त किया जा सकता है। कृष्ण ने अपने नेत्रो द्वारा हमारी ओर प्रेमभरी दृष्टि से मुस्करा कर निहारा और इस दृष्टि और मुस्कान के बदले मे हमारा मन मोल ले लिया। अर्थात् हमारा मन उनकी प्रेमभरी दृष्टि और बाँकी चितवन, मनोहारी मुस्कान पर पूर्णतया मुग्ध होकर उनका दास बन गया और अब हमारे कब्जे मे नही आता। इस प्रकार जब हमारा मन उनका दास बन गया है और अधिकार मे नही रहा तो हमने इसे कृष्ण को सौप दिया है, क्योकि यह उन्ही के ही वश मे था। अब तो यह अपना मूल निवासस्थान—हमारे हृदय को पूर्णतया विस्मृत कर बैठा है। अब तो यह सदा कृष्ण की मोहिनी मूर्ति के ध्यान मे डूबा रहता है और इसे कुछ और नही भाता।

हमारा मन तो पूर्णतया कृष्ण के प्रेम मे निमग्न हो चुका है। ऐसे मे क्या समझा कर इसे वहाँ से हटाएँ, ऐसा करना सर्वथा असम्भव प्रतीत होता है। अर्थात् जब मन कृष्ण-प्रेम मे इतना दृढ़ है तो किस प्रकार हम इसे वहाँ से विरक्त करे ? यह एकदम असम्भव है। अत हे उद्धव ! यह तुम्हारा ज्ञान एव निर्गुण-ब्रह्म हमारे लिए व्यर्थ की वस्तु है, मूल्यहीन है, तुम इसे कही अन्यत्र ले जाओ, सम्भवत. वहाँ इसे अपनाने वाले मिल जाएँ। यहाँ तो कोई इसका अनुसरण करना नही चाहता।

विशेष—प्रस्तुत पद मे एक बार फिर गोपियो की कृष्ण के प्रति दृढ प्रेम-निष्ठा व्यक्त हुई है।

अलंकार—साध्यवसाना रूपक।

मधुकर ! हमहीं को समझावत।
बारबार ज्ञानगाथा व्रज अबलन आगे गावत॥
नंदनंदन बिन कपट कथा कहि कत अनरुचि उपजावत ?
स्त्रक चंदन तन में जो सुधारत कहु कैसे सचु पावत ?
देखु बिचारि तुहि अपने जिय नागर है जु कहावत ?
सब सुमनन फिरि फिरि नीरस करि काहे को कमल बँधावत ?
कमलनयन करकमल कमलपग कमलवदन बिरमावत।
सूरदास प्रभु अलि अनुरागी काहे को और झुकावत॥२४६॥

शब्दार्थ—अबलन=अबलाओं के। कत=क्यो। अनरुचि=अनिच्छा, विरक्ति। उपजावत=उत्पन्न करता है। सचु=सुख। स्त्रक=माला। सुधारत=धारण करना। नागर=चतुर, ज्ञानी। सुमनन=फूलो को। बिरमावत=विश्राम करता है। झुकावत=झुंकाता है, बकवास करता है।

प्रसग—गोपियो के मत मे जो जिसमें अनुरक्त होता है, वह उसे त्याग किसी अन्य को स्वीकार नही करता। उनका भी कृष्ण मे गूढ़ अनुराग है, इसलिए वे निर्गुण-ब्रह्म को स्वीकार नही कर सकती।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कह रही है कि हे मधुकर ! तू बार-बार हमे ही क्यो समझा रहा है और निर्गुण-ब्रह्म की कथा सुना रहा है ? तू कम से कम अपनी ओर तो देख कि यह तू कितना अन्याय कर रहा है ? तू व्रज-अबलाओ अर्थात् हम गोपियो के सम्मुख बार-बार ज्ञान कथा के राग अलाप

रहा है और निर्गुण-ब्रह्म की प्रशसा कर रहा है। यह तेरी ज्ञान चर्चा छल-कपट से भरी हुई है क्योकि इसमे नन्दनन्दन कृष्ण का कही नाम नही। तू ऐसी कथा सुना कर क्या हमारे मन मे प्रेम-मार्ग के प्रति विरक्ति उत्पन्न करने का प्रयत्न नही कर रहा है ? कृष्ण की नाम-चर्चा के बिना तेरी इस ज्ञान कथा मे हमारी तनिक भी रुचि नहीं है, यदि तू यहा कुछ समय व्यतीत करना चाहता है तो हमे कृष्ण की ही कथा सुना। हे उद्धव ! तू सारे ससार मे अपनी बुद्धिमत्ता के लिए प्रसिद्ध है और ज्ञानी विद्वान् कहलाता है, अत तू ही अपने मन मे एक बार विचार करके देख कि जिस तन का हम सुन्दर पुष्पो की माला पहन कर शृगार करती थी, चन्दन का लेप कर जिसके सौन्दर्य को निखारती थी, उसमे भस्म मल कर हम किस प्रकार सुख पा सकती है। तू एक बार स्वय को ही देख ले। तू सब पुष्पो पर बार-बार घूम-घूम कर उनके पराग का पान कर उन्हे नीरस बना देता है किन्तु स्वय को कमल-कोश मे कैद करा कर तनिक भी दुख का अनुभव नही करता है, तू कमल के प्रति अपने मोह को कभी त्याग नही पाता। जिस प्रकार भ्रमर का कमल के प्रति प्रेम सच्चा प्रेम है और इसके लिए वह जीवन त्यागने के लिए भी सकोच नही करता, उसी प्रकार हम भी कृष्ण के अनुराग मे दृढ हैं, असह्य विरह-व्यथा का सहन करना हमे स्वीकार्य है किन्तु निर्गुण-ब्रह्म को ग्रहण करना नही।

हे उद्धव रूपी भ्रमर ! तू कमल का अनन्य प्रेमी है तो फिर हम यह समझ नही पा रही कि तू कमल के समान नेत्रो वाले, कमल के समान हाथो वाले, कमल के समान चरणो वाले, कमल के समान सुन्दर मुख वाले कृष्ण के पास ही सदा क्यो नही बना रहता, उन्हे छोड कर यहाँ क्यो चला आया है और अपनी ज्ञान कथा से हमे दुखी कर रहा है। हमे लगता है कि तू भी हमारी तरह कृष्ण का अनन्य स्नेही है किन्तु हमें दिक् करके आनन्द अनुभव करता है। तुझे हम अबलाओ से जली-कटी सुन कर मजा आता है। वास्तव मे तू बडा अन्यायी है जो स्वय तो कृष्ण-प्रेम मे विह्वल है और सदा उनके चरणों मे बने रहने की चाह को प्रश्रय देता है और हमे उन्हे त्याग निर्गुण-ब्रह्म को स्वीकार करने का अनुरोध कर रहा है।

विशेष—गोपियो ने कमल और भ्रमर के माध्यम से कृष्ण के प्रति अपने प्रेम की अनन्यता प्रदर्शित की है।

अलंकार—(१) सम्पूर्ण पद मे अप्रस्तुत प्रशंसा ।
(२) 'कमलनयन'''कमलवदन' मे उपमा एव अनुप्रास ।

को गोपाल कहाँ को वासी, कासों है पहिचान ?
तुमसों संदेसा कौन पठाए, कहत कौन सों आनि ?
अपनी चाँउ आनि उड़ि बैठ्यो भँवर भलो रस जानि ।
कै वह बेलि बढ़ो कै सूखो, तिनको कह हितहानि ॥
प्रथम वेनु वन हरत हरिन-मन राग-रागिनी ठानि ।
जैसे बधिक बिसासि त्रिवस करि बधत बिषम सर तानि ॥
पय प्यावत पूतना हती, छपि बालि हन्यो, बलि बानि ।
सूपनखा, ताडका निपाती सूर स्याम यह बानि ॥२५०॥

शब्दार्थ—आनि=ले आकर । चांउ= इच्छा, अभिलाषा । तिनको= उनको । कह =क्या । हित हानि=स्वार्थ की हानि । वेनु=-बीन । बिसासि =विश्वास दिला कर । बधत=वध करता है । सर=वाण । पय=दूध । हती=मारी । छपि =छिप कर । निपाती=नष्ट किया । बानि=स्वभाव ।

प्रसग—कृष्ण द्वारा भेजे गये निर्गुण-ब्रह्म एव योग के सन्देश से गोपियाँ अत्यन्त दुखी हो उठी है और कृष्ण द्वारा किये गए अनेक छलपूर्ण कार्यों द्वारा उन्हे विश्वासघाती सिद्ध कर रही हैं ।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं कि हे उद्धव ! तुम्हारे यह गोपाल कौन हैं और कहाँ के रहने वाले है, यहाँ ब्रज मे उनकी किसके साथ जान-पहचान एव परिचय है, तुम्हारे द्वारा यह योग-सन्देश किसने भिजवाया है और तुम किससे यहाँ आकर कह रहे हो ? गोपियो का तात्पर्य है कि वह उद्धव के ऐसे विश्वासघाती गोपाल को नही जानती । तुम्हारे इस गोपाल की प्रकृति बिलकुल उस भ्रमर के सदृश है जो अपनी मधुपान की इच्छा को पूरा करने के लिये किसी पुष्प को श्रेष्ठ और मधुरसपूर्ण जान कर, उस पर आ बैठता है और फिर उसे मधुहीन करके उड कर कही अन्यत्र चला जाता है । फिर वह लौट कर कभी वापस नही आता । चाहे वह फूल धारण करने वाली लता अधिक विकसित हो, अथवा सूख जाय, उसके हित को कोई हानि नही, क्योंकि वह मधु की तलाश मे किसी अन्य पुष्प पर बैठा होता है । कृष्ण ने भी हमारे साथ ऐसा ही दुर्व्यवहार किया है । जब हम खिली हुई कली के समान पूर्ण

यौवन धारण किये हुए थी, वे यहाँ हमारा रसभोग करते रहे और फिर हमे रसहीन जान कर मथुरा चले गये और कुब्जा के साथ भोग मे लिप्त हो गये और हमारी खोज-खबर लेने की आवश्यकता नही समझी।

हे उद्धव! तुम्हारे गोपाल का शिकार करने का तरीका बिलकुल बहेलिये जैसा है। जैसे बहेलिया पहले वन मे जाकर बीन से मधुर राग-रागिनी बजाता है और हिरन का विश्वास प्राप्त करने की कोशिश करता है और जब हिरन बीन के मोहिनी सगीत द्वारा मुग्ध होकर उसके वश मे हो जाता है तो बहेलिया भयंकर बाण तान कर मारता है और हिरन का वध कर देता है। इसी प्रकार तुम्हारे गोपाल ने अपनी वशी द्वारा मोहिनी सगीत का जादू बिखेरा जिससे हम उस पर विश्वास करने लगी। फिर उसने हमारे प्रति प्रेम प्रदर्शित किया, हम उसकी चाल को न जान सकी और उस पर मुग्ध हो उसके वश मे हो गईं। फिर वह हमारा भोग करता रहा और शीघ्र लौट आने का वचन देकर हमे छोड़ मथुरा चला गया और अब योग का दाहक सन्देश भेज कर हमारे प्राणों का हरण करना चाहता है।

वस्तुतः यह गोपाल की प्रकृति ही है। यह धोखे बाजी उसकी चरित्रगत विशेषता है। हमारे साथ चाल चल कर उसने कोई नई बात नही की। उसने अपनी मामी पूतना के स्तन से दूध पीते-पीते ही उसका वध कर दिया था, बालि-सुग्रीव—दोनो भाई जब परस्पर युद्धरत थे तो उसने राम के रूप मे पेड के पीछे छुप कर धोखे से बालि का वध किया था। वामन-अवतार के रूप मे उसने राजा बलि को छला था, उससे सकल्प करवा कर अपने तीन कदमो से नाप कर छल से उसके राज्य पर आधिपत्य कर लिया था। राजा बलि को पाताल मे शरण लेनी पड़ी थी। राम-अवतार में सूर्पणखा को लक्ष्मण द्वारा नाक-कान कटवा देने से कुरूप बना दिया था, और ताड़का को अपने बाण द्वारा मार डाला था। ये दोनों नारियाँ थी, वेदो मे नारी की हत्या को जघन्य अपराध माना गया है किन्तु गोपाल को ऐसा करने मे रत्ती भर सकोच नही हुआ था। वस्तुतः कृष्ण का ऐसे छल कपटपूर्ण कार्य करने का स्वभाव पड गया है, उसे ऐसा करने मे अब तनिक भी लज्जा अनुभव नही होती।

विशेष—(१) प्रस्तुत पद में गोपियो की विरह-व्यथा, व्याकुल-विषम मानसिक दशा का अत्यन्त मनोवैज्ञानिक और यथार्थ चित्रण प्रस्तुत किया

गया है।

(२) किसी के प्रति नाराज होने पर उसके सत्कार्य भी अवगुण प्रतीत होते हैं। गोपियाँ भी कृष्ण से नाराज हैं, इसलिए उनके द्वारा सम्पन्न लोकोद्धारक सत्कार्य उन्हे छलपूर्ण और अन्यायकारक प्रतीत हो रहे है।

(३) इस पद मे धृति, असूया, अधर्म आदि भावो का अत्यन्त सुन्दर चित्रण हुआ है।

अलकार—अप्रस्तुतप्रशसा और उपमा।

मधुकर के पठए तें तुम्हरी व्यापक न्यून परी।
नगरनारि-मुखछवि-तन निरखत द्वै बतियाँ बिसरीं॥
ब्रज को नेह, अरु आप पूर्नता एकौ ना उबरी।
तीजो पंथ प्रकट भयो देखियत जब भेंटी कुबरी॥
यह तो परम साधु तुम डहक्यो, इन यह मन न धरी।
जो कछु कह्यो सुनि चल्यो सीस धरि जोग जुगुति-गठरी॥
सूरदास प्रभुता का कहिए प्रीति भली पसरी?
राजमान सुख रहै कोटि पै घोष न एक घरी॥२५१॥

शब्दार्थ—पठए ते=भेजने से। व्यापक=व्यापकता। न्यूनपरी=कमी हो गई। उबरी=पूरी हुई, सार्थक हुई। डहक्यो=बहका लिया। पसरी=फैली। राजमान=राज-सम्मान। घोष=अहीरो की बस्ती।

प्रसंग—गोपियाँ कृष्ण के ब्रह्मरूप और सर्वव्यापकता पर व्यग्य करती हुई सीधे उन्ही को सम्बोधित करती हुई अपनी करुणा प्रकट कर रही हैं।

व्याख्या—हे कृष्ण! मधुकर रूपी उद्धव को अपना योग का सन्देश देकर यहाँ हमारे पास भेजने से तुम्हारी सर्वव्यापकता मे कमी आ गई है। वस्तुत. इससे यह सिद्ध होता है कि तुम सर्वव्यापक नही हो क्योकि यदि तुम सर्वव्यापक होते तो तुम्हे मथुरा से ब्रज की ओर दूत भेजने की आवश्यकता ही न पडती, तुम स्वय ही हमारे हृदय मे स्थित होकर अपना योग का सन्देश सम्प्रेषित कर देते। आजकल तुम मथुरा मे विद्यमान हो और जब से वहाँ गये हो, वहाँ की नगर-नारियो के मुख की शोभा तथा शारीरिक सौन्दर्य को देख कर उन पर मुग्ध हो गए हो। इस मुग्धावस्था मे तुम ब्रज-वासियों के प्रति प्रेम और अपनी पूर्णता इन दोनो बातो को भूल बैठे हो। इन दोनो मे से तुम

अपने एक-पन की भी रक्षा नही कर सके। इसके उपरान्त जब तुम्हारी मथुरा मे कुब्जा से भेंट हुई, तुम उस पर भी पूर्णरूप से मुग्ध हो गए और उस कुब्जा के साथ तुम्हारे सम्बन्ध के रूप मे एक तीसरा पथ उदय होता प्रतीत हुआ अर्थात् तुम पिछली दोनो बाते—व्रज के प्रति प्रेम और अपनी पूर्णता को विस्मृत कर एक तीसरे मार्ग के अनुगामी हुए।

हे कृष्ण ! उद्धव के रूप मे जिस व्यक्ति को तुमने अपना दूत बना कर योग-सन्देश भेजा है, वह अत्यन्त सज्जन और साधु प्रकृति का है। इसे तुमने बहका-फुसला कर यहाँ भेज दिया है ताकि तुम्हारी भोग-लीला वहाँ निर्विघ्न चलती रहे। क्योंकि यह तुम्हारा अभिन्न मित्र था और तुम्हारी सेवा में ही निरन्तर नियुक्त था। यदि तुम इसे टाल कर यहाँ न भेजते तो तुम्हारे चरित्र पर इसे सन्देह हो जाता और फिर तुम्हारी योग एव निर्गुण-ब्रह्म सम्बन्धी सारी पोल खुल जाती। अतः तुमने इसे वहाँ से टाल कर यहाँ भेज दिया, किन्तु यह इतना भोला है कि तुम्हारी भेदपूर्ण बातो को न समझ सका और अपने ज्ञान का लोहा मनवाने के लिए यहाँ चला आया। तुमने जो कुछ पट्टी इसे पढाई, उसे सच समझ कर यह योग-साधना की ज्ञान गठरी लेकर यहाँ चला आया और हमे अपना ज्ञानोपदेश देने लगा। अब तुम इसकी अनुपस्थिति का पूर्ण लाभ उठाते हुए कुब्जा के साथ मुक्त भोग लीला मे प्रवृत्त हो और इस प्रकार प्रेम-पथ का प्रसार करते हुए अपनी प्रभुता का भलीभाँति प्रदर्शन कर रहे हो। गोपियो का कहने का तात्पर्य यह है कि राजा होते हुए भी तुम एक दासी कुब्जा के साथ उन्मुक्त प्रेम करके अपनी प्रभुता का श्रेष्ठ परिचय दे रहे हो। इस प्रकार तुम्हारी कीर्ति सारे जग मे फैल रही है। हे कृष्ण ! वहाँ मथुरा मे तुम राज-सम्मान प्राप्त करके करोड़ प्रकार के सुख-वैभव का उपभोग कर रहे हो। किन्तु तुम्हे यह ख्याल कभी नही आता कि व्रजवासी तुम्हारे अभाव मे कितने व्यथित है, अतः घड़ी भर के लिए भी यहा चले आओ जिससे हम दुःखी जनो को तनिक सात्वना मिले किन्तु तुम जानते हो कि अहीरो की इस बस्ती मे राज-महल के समान सुख-भोग कहाँ ? इसलिए ही तो तुम यहाँ आने से कतराते हो।

विशेष—(१) कृष्ण के प्रति गोपियो का उपालम्भ द्रष्टव्य है।

(२) गोपियाँ यहाँ उद्धव को पूर्ण निर्दोष सिद्ध करती हुई अपनी व्यथा के

लिए कृष्ण को उत्तरदायी ठहरा रही हैं।

(३) 'तीजोपथ' से अभिप्राय है—'मुरारेस्तृतीयः पथा' अर्थात् सारे सामाजिक और शास्त्रीय विधि-विधानो एव बन्धनो को त्याग एकमात्र कृष्ण मे अनुरक्ति। 'पुष्टिमार्गीय भक्ति'—सिद्धान्त का यही मूल है।

(४) 'यह······गठरी' इस पक्ति मे गोपियों का उक्तिवैचित्र्य अत्यन्त हृदयग्राही है।

अलंकार—(१) 'जोग जुगती गठरी' में रूपक।

(२) 'सूरदास···एक घरी'—वक्रोक्ति।

मधुकर ! बादि बचन कत बोलत ?
तनक न तोहिं पत्याऊँ, कपटी अंतर-कपट न खोलत ॥
तू अति चपल अलप को सगी विकल चहूँ दिसि डोलत।
मानिक काँच, कपूर कटु खली, एक संग क्यो तोलत ?
सूरदास यह रटत वियोगिनि दुसह राह क्यों झोलत।
अमृतरूप आनंद अंगनिधि अनमिल अगम अमोलत ॥२५२॥

शब्दार्थ—बादि=व्यर्थ। कत=क्यो। तनक=तनिक। पत्याउँ= विश्वास करूँ। अन्तर-कपट=हृदय मे स्थित षड्यत्रकारी योजनाएँ। अलप= तुच्छ। विकल=व्याकुल होकर। कटु=कड़वा। खली=खल। झोलत= जलाता है। अगनिधि=साकार स्वरूप। अगम=अगम्य। अमोलत= अमूल्य बनाना।

प्रसंग—गोपियाँ कृष्ण-विरह मे पहले ही व्यथित है। उद्धव की योग द्वारा प्राप्त निर्गुण-ब्रह्म की चर्चा सुन कर झल्ला उठती है और सगुण की तुलना में उसे त्याज्य घोषित करते हुए उद्धव से कहती हैं—

व्याख्या—हे मधुकर ! तू व्यर्थ की बाते कह-कह कर हमारा समय क्यो नष्ट कर रहा है। हमे तेरी बातो पर रत्तीभर भी विश्वास नही है। तू छली और कपटी है, इसीलिए तो बना-बना कर बाते कह रहा है, अपने हृदय मे स्थित हमारे प्रति षड्यत्रकारी योजनाओ को स्पष्ट नही करता। हम तेरे विषय मे सब कुछ जानती हैं। तू स्वभाव का चचल है और ओछे स्वभाव और छोटे दिल वाले कृष्ण का साथी है। कुसगति के कारण तेरा स्वभाव अस्थिर और चचल हो गया है। इसी कारण सदा व्याकुल बना चारो ओर भटकता फिरता

है। तू ऐसा जड़मति है, इसका हमे पहले ज्ञान ही नही हुआ। तेरी मूर्खता का इससे बडा और क्या उदाहरण हो सकता है कि तू हमारे माणिक्य-मोतियो और कपूर के समान मूल्यवान कृष्ण की तुलना अपने कांच के समान मूल्य-हीन और कड़वी खल के समान निस्सार निर्गुण-ब्रह्म से करके दोनों को एक समान घोषित कर रहा है। दोनों मे कोई समानता नही। कृष्ण रसिक शिरोमणि है जबकि तुम्हारा ब्रह्म सारहीन है।

हे मधुकर! तुम बार-बार अपनी ज्ञानकथा की रट लगाकर हम विरहिणी गोपियो को विरह-वेदना की अग्नि मे और अधिक क्यो दग्ध कर रहे हो। अर्थात् तुम हमे कृष्ण को भूल कर निर्गुण-ब्रह्म का उपदेश देकर हमारी विरहाग्नि को और भी अधिक प्रज्जवलित कर रहे हो और हमे असह्य वेदना पहुँचा रहे हो। तुम सम्भवत. नही जानते कि हमारे कृष्ण अमृत के समान शीतल और जीवनदायक है। उनकी रूपमाधुरी आनन्द प्रदान करती है और वे सम्पूर्ण मनोरम अगों से युक्त है और रूप को साकार करते है। तू उनके साथ अपने अगम्य, निराकार, मूल्यहीन, निरर्थक, असगत निर्गुण-ब्रह्म की चर्चा क्यो कर रहा है? हमारे कृष्ण प्रत्यक्ष साकारस्वरूप है जबकि तुम्हारा निर्गुण-ब्रह्म परोक्ष, निराकार है, दोनो मे कोई तुलना नही की जा सकती।

विशेष—इस पद मे एक बार फिर सगुण-भक्ति को निर्गुण-ब्रह्म की भक्ति से श्रेष्ठ घोषित किया गया है।

अलंकार—(१) 'मानिक···तोलत'—उपमा।

(२) 'अमृतरूप···अमोलत'—अनुप्रास।

मधुकर! देखि स्याम तन तेरो।
हरि-मुख की सुनि मीठी बातै डरपत है मन मेरो॥
कहत हौं चरन छुवन रसलंपट, वरजत हौं बेकाज।
परसत गात लगावत कुकुम, इतनी में कछु लाज?
बुधि विवेक अरु वचन-चातुरी ते सब चितै चुराए।
सो उनको कहो कहा बिसान्यो, लाज छाँडि ब्रज आए॥
अब लो कौन हेतु गावत है हम आगे यह गीत।
सूर इते सौं गारि कहा है जौ पै त्रिगुन अतीत? ॥२५३॥

शब्दार्थ—वरजत=मना करता है। वेकाज=अकारण, व्यर्थ। परसत=

स्पर्श करते । कुंकुम=रोली । हेतु=कल्याण । गारि=गाली, बुराई ।

प्रसंग—उद्धव के ज्ञानोपदेश को सुन कर गोपियाँ विक्षोभ से भर उठी हैं और उसे जली कटी सुना रही हैं ।

व्याख्या—गोपियां उद्धव से कह रही हैं कि हे उद्धव ! तुम्हारे श्याम शरीर को देख कर और कृष्ण के मुख से निकले हुए योग-सन्देश के रूप मे चिकनी चुपडी बाते सुन कर हमारा मन भयभीत हो उठा है और अनेक आशकाओ से भर गया है । हमे लगता है कि तुम दोनो मिल कर हमारे विरुद्ध कोई षड्यंत्र कर रहे हो और भयानक कुचक्र चलाना चाहते हो । हे रस के लोभी भ्रमर ! हम तो तुमसे बार-बार प्रार्थना कर रही हैं कि किसी प्रकार तू कृष्ण के चरण स्पर्श करने मे हमारी सहायता कर किन्तु तू हमे व्यर्थ ही इस कार्य के लिए मना कर रहा है । आखिर इसमे तेरी किस बात की हानि है और तुझे क्या भय है ? पहले जब कृष्ण यहा रहते थे तो वे हमारे शरीर का विभिन्न अवस्थाओ मे स्पर्श करते थे और हमारे माथे पर कुंकुम लगा कर हमारा शृगार करते थे । ऐसा करते समय उन्हे कभी भी लज्जा का अनुभव नही हुआ । और अब हम यदि उनके चरणो का स्पर्श कर लेगी तो इसमे उनके लिए कौन सी लज्जित होने की बात है । यह कोई लज्जित होने की बात नही, फिर हम इसके अतिरिक्त उनसे और कुछ तो चाहती नही ।

हे उद्धव ! कृष्ण ने अपनी मादक दृष्टि और बाकी चितवन से हमारी ओर निहारा था जिससे हम उन पर मुग्ध हो गई और हमारी सारी बुद्धि, विवेक एवं वाक्-चातुर्य सब कुछ नष्ट हो गया, हमे अपना ही होश नही रहा, यहां तक कि हमारा हृदय भी हमारे वश मे नही रहा, सब कुछ कृष्ण ने चुरा लिया । अब हमारी समझ में नही आता कि उनका यहा क्या रह गया था जिसे ले जाने के लिए तुम यहा निर्लज्ज बन कर दौडे चले आए हो अर्थात् कृष्ण से पूछो कि उनका यहा क्या छूट गया है जिसे लेने के लिए तुम्हे यहाँ भेजा है और तुम निर्लज्ज बन कर यहां बैठे हो । तुम हमारी किस कल्याण की भावना से प्रेरित होकर हमारे सम्मुख निर्गुण-ब्रह्म की कथा का राग अलाप रहे हो ? अर्थात् सर्वस्व तो कृष्ण हरण कर चुके है । अब वे इस उपदेश के बदले हमसे और क्या चाहते हैं, यह बात तनिक हम से समझाकर कहो । तुम्हारा निर्गुण-ब्रह्म तीनो गुणो—सत, रज, तम से परे अर्थात् गुणहीन है—ऐसे गुणहीन

ब्रह्म को हमे अपना लेने की प्रेरणा दे रहे हो। हमारे लिए इससे बड़ी और कोई गाली नही है अर्थात् निर्गुण-ब्रह्म हमारे लिए अभिशाप है क्योंकि इसे अपनाने के लिए हमे अपने प्रिय कृष्ण की स्मृति से भी दूर होना पड़ेगा।

विशेष—(१) ब्रह्म को 'त्रिगुणातीत' कह कर गोपिया उस पर व्यंग्य कर रही हैं।

(२) योग के सन्देश से गोपिया आशकित हो उठी हैं कि कृष्ण उनसे पिण्ड छुड़ाने के लिए कोई षड्यन्त्र कर रहे है।

अलकार—'त्रिगुत अतीत' मे श्लेष।

मधुकर काके मीत भए ?
दिवस चारि की प्रीति सगाई सो लै अनत गए॥
डहकत फिरत आपने स्वारथ पाखँड और ठए।
चांड़े सरे चिन्हारी मेटी, करत हैं प्रीति न ए॥
चितहि उचाटि मेलि गए रावल मन हरि हरि जु लए।
सूरदास प्रभु दूत-धरम तजि विष के बीज बए॥२५४॥

शब्दार्थ—काके=किसके। मीत=मित्र। प्रीति-सगाई=प्रेम-सम्बन्ध। दिवस-चारि=चार दिन अर्थात् थोडे समय के लिए। अनत=अन्यत्र। डहकत=बहकाते हुए। ठए=रचते है। पाखड=आडम्बर। चांडे=इच्छा, अभिलाषा। सरे=पूरी हो जाने पर। चिन्हारी=पहचान, परिचय। ए=यह। उचाटि=विरक्त होकर। रावल=महल, राजभवन। हरि=हरण कर लिया। बए=बोए।

प्रसग—गोपिया भ्रमर और कृष्ण की स्वार्थी प्रकृति की तुलना करती हुई दोनो को स्वार्थी घोषित कर रही है।

व्याख्या—गोपियां उद्धव से कह रही है कि हे उद्धव ! ये भ्रमर किसके मित्र होते है ? अर्थात् ये किसी के भी सच्चे मित्र और हितैषी नही होते। ये तो सदा अपना स्वार्थ सिद्ध करना ही जानते हैं, इसी कारण थोडे समय के लिए फूल के साथ प्रेम का नाता जोडते है और रस-पान करके अन्यत्र चले जाते है और फिर मुड़ कर फूल की ओर नही निहारते। ये अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए नित्य नए आडम्बरो की रचना करते है और औरो को बहकाते फिरते और जब इनका स्वार्थ सिद्ध हो जाता है अर्थात् इनकी इच्छा पूरी हो जाती

है तो ये फूलो के साथ अपनी जान-पहचान के चिह्न तक मिटा डालते है। अर्थात् अपना स्वार्थ सिद्ध होते ही पुराने लोगो को पहचानने से इन्कार कर देते है और फिर नवीन प्रेम की तलाश मे जुट जाते हैं। वस्तुत: ये किसी से प्रेम नही करते, केवल प्रेम का दिखावा करते है और नया प्रेमी मिलने पर पुराने को छोड़ने मे तनिक भी सकोच नही करते। कृष्ण का व्यवहार भी ऐसा ही था। पहले उन्होने हमारे प्रति गूढ प्रेम का दिखावटी प्रदर्शन किया और हमारे साथ भोग-विलास करने लगे। तृप्त होते ही हमे छोड़ मथुरा चले गए और वहा कुब्जा के साथ नवीन भोग-लीला मे प्रवृत्त हमारे साथ के पूर्ण सवध को विस्मृत कर वैठे हैं।

हमारे साथ भोग मे जव कृष्ण को तृप्ति अनुभव न हुई तो उनका मन यहाँ से उचट हो गया। वे हमे यहाँ रोता-विलखता छोड़ कर स्वय मथुरा के राजमहल में जा बैठे और वहाँ कुब्जा के प्रेम मे पूर्णतया डूब गए परन्तु कृष्ण हमारा मन तो हरण करके अपने साथ ही ले गए हैं। हे उद्धव! तुम्हारे स्वामी और सखा कृष्ण तो हैं ही स्वार्थी और विश्वासघाती। किन्तु तुम हमारे साथ कौन-सा कम कर रहे हो। तुम तो सन्देशवाहक के धर्म को भी भूल रहे हो। सन्देशवाहक का धर्म है कि वह सच्ची बात को ही सम्प्रेषित करे किन्तु तुम सच्ची बात न कह कर ज्ञानचर्चा द्वारा हमारे जीवन मे विष बो रहे हो अर्थात् हमे कृष्ण को भूल निर्गुण-ब्रह्म की आराधना का उपदेश देकर हमारे जीवन मे जहर घोल रहे हो।

विशेष—गोपियाँ मधुकर के माध्यम से कृष्ण की स्वार्थपरायणता पर व्यग्य कर रही हैं।

अलकार—(१) सम्पूर्ण पद मे काकुवक्रोक्ति।

(२) 'हरि-हरि जु लए'—मे यमक।

मधुकर ! कहाँ पढ़ो यह नीति ?
लोकबेद स्रुति-ग्रंथ-रहित सब कथा कहत बिपरीत ।।
जन्मभूमि ब्रज, जननि जसोदा केहि अपराध तजी ?
अति कुलीन गुन रूप अमित सब दासी जाय भजी ।।
जोग समाधि गूढ़ स्रुति मुनिमग क्यो समुझिहैं गँवारि !
जो पै गुन-अतीत व्यापक तौ होहि, कहा है गारि ?

रहु रे मधुप! कपट स्वारथ हित तजि बहु बचन बिसेखि।
मन क्रम बचन बचत यहि नाते सूर-स्याम-तन देखि ॥२५५॥

शब्दार्थ—बिपरीत=उल्टी, भिन्न। अमित=अत्यधिक। भजी=अगीकार कर ली, भजन करने लगी। गूढ=जटिल। स्रुति=वेद। मुनिमग=मुनियों की साधना का मार्ग। गुन-अतीत=गुणातीत, गुणो से परे, रहित। बिसेखि=विशेष। तन=ओर।

प्रसंग—गोपियो की दृष्टि में नारियो के लिए योग-साधना जटिल होने के कारण अव्यावहारिक तथा शास्त्र विरुद्ध है। यही बात वे उद्धव से भ्रमर के माध्यम से कह रही हैं।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कह रही है कि हे मधुकर! यह तूने नया नीति-शास्त्र कहाँ से पढ़ा और सीखा है जिसके अनुसार तू हम ब्रज-अबलाओ को योग-साधना करके निर्गुण-ब्रह्म प्राप्त करने का उपदेश दे रहा है। तेरा यह उपदेश लोकमत, वेद एव अन्य शास्त्र-ग्रन्थ सभी के विरुद्ध है क्योकि इन सबके अनुसार युवा नारियो के लिए योग-साधना वर्जित है, अतः यह तुम सर्वथा उल्टी बात क्यो कह रहे हो। इसमे तुम्हारा कौन-सा हित-निहित है। हमे यह बताओ कि आखिर कृष्ण ने अपनी जन्मभूमि ब्रज को तथा माता यशोदा को उनके किस अपराध के दण्डस्वरूप त्याग दिया। हमे त्याग देते तो ठीक ही था। किन्तु इन्होने तो हमारी समझ मे कोई ऐसा कार्य नही किया जिसके फलस्वरूप इनका त्याग कर दिया जाता। वस्तुतः निरपराधो को दण्ड देना कृष्ण की प्रकृति बन चुकी है और उन्हे इसी मे आनन्द आता है। चलो मान लिया कि हम नीच अहीर कुल से सम्बद्ध है और इसके विपरीत कृष्ण ने अत्यन्त उच्च यादव कुल मे जन्म लिया है और वे परम रूपवान और गुण-सम्पन्न है, फिर हमे यह बात समझ मे नही आती कि वह अपनी समस्त श्रेष्ठ परम्पराओ को विस्मृत कर एक दासी कुब्जा के प्रेम मे किस कारण गिरफ्तार हो गए। वस्तुत उनके लिए कुल, रूप के बन्धन कोई सीमा निर्धारण नही करते। उन्होंने तो हमे सजा देनी थी इसीलिए वे हमारा परित्याग कर यहाँ से चले गए।

वेदो-शास्त्रो ने भी योग-साधना की जटिलता को स्वीकार किया है। यह मार्ग केवल ऋषि मुनियो की साधना के लिए ही उपयुक्त है। हम अनपढ, गँवार अहीर-बालाएँ है, न तो इस जटिल, गूढ मार्ग को समझ पाने में समर्थ

हैं और न इस पर आचरण करने के योग्य। यदि तुम्हारा निर्गुण-ब्रह्म गुणातीत और सर्वव्यापक है तो हमारे लिए यह सबसे बड़ा अभिशाप है, इससे बड़ी गाली और कोई नही हो सकती क्योंकि हम इसे स्वीकार करने मे असमर्थ है, इसका कारण यह है कि हमारे हृदय में पहले से ही सर्वगुण सम्पन्न साकार-रूप कृष्ण विद्यमान हैं। रे दुष्ट-कपटी-भ्रमर ! बस अब शान्त हो जा। अधिक बक झक न कर। अपना कपट-स्वार्थ त्याग दे और अधिक बातें न बना। हम और अधिक नही सहन कर सकती। हम मन-वचन, कर्म से यह कह रही हैं—अर्थात् सत्य-भाषण कर रही है कि कृष्ण की ओर देख कर, उनके मान-सम्मान का ध्यान कर तुझे कुछ नही कह रही। यदि तू उनका सखा और दूत न होता, तो अपनी इन अनर्गल बातो के कारण अभी तक बच न पाता।

विशेष—(१) योग-साधना को नारियो के लिए अनुपयुक्त घोषित करके सगुण-भक्ति की निष्ठा की गई है।

(२) गोपियो का कृष्ण और उद्धव के प्रति क्रोध का भाव दर्शनीय है। उनकी यह खीझ अत्यन्त प्रभावशाली है।

(३) 'अतिकुलीन''जाय भजी'—इस पंक्ति मे कृष्ण पर कुब्जा के साथ सम्बन्ध के कारण गहन व्यग्य किया गया है।

मधुकर ! होहु यहाँ तें न्यारे।
तुम देखत तन अधिक तपत है अरु नयनन के तारे।।
अपनो जोग सैंति धरि राखौ, यहाँ लेत को, डारे ?
तेरे हित अपने मुख करिहैं मीठे ते नहि खारे।।
हमरे गिरिवरधर के नाम गुन बसे कान्ह उर बारे।
सूरदास हम सबै एकमत, तुम सब खोटे कारे।।२५६।।

शब्दार्थ—न्यारे=अलग, दूर। तारे=पुतलियाँ। सैंति=सम्हाल कर रखे। डारे=डाले हुए हो। खारे=कड़वे। एकमत=एक राय की। खोटे=दगाबाज, धोखेबाज।

प्रसंग—गोपियो के मना करने पर भी उद्धव अपना योग का उपदेश जारी रखते हैं जिससे गोपियाँ झल्ला उठती है और भ्रमर के माध्यम से उद्धव को फटकारती हुई कहती है कि उन्होने देख-परख लिया है कि श्यामवर्णीय सभी धोखेबाज होते हैं।

व्याख्या—गोपियाँ भ्रमर के माध्यम से कह रही है कि हे मधुकर! तुम्हारे लिए यही उचित है कि तुम अब यहाँ से दूर चले जाओ। हमारी नजरो से ओझल हो जाओ। तुम्हे देखते ही हमारा शरीर और जलने लगता है और आँखो की पुतलियो से आग बरसने लगती है। तुम अपनी इस ज्ञान-कथा को अपने पास सम्भाल-सहेज कर रखो, यहाँ इसका प्रदर्शन न करो। यहाँ इसका कोई ग्राहक नही। तुमने व्यर्थ ही इसे फैला कर बिकने के लिए रख छोड़ा है। हम तुम्हारे लाभ के लिए कृष्ण-स्मृति मे हुए मीठे मुखो को नीरस निर्गुण-ब्रह्म का स्मरण कर खारे और कड़वे नही करेगी। अर्थात् तुम्हारा निर्गुण-ब्रह्म कड़वा एव त्याज्य है, जबकि कृष्ण अमृत के समान जीवनदायक और ग्रहणीय है। हमारे कान्ह बचपन से ही हमारे हृदय मे बसे हुए है। हम उनके नाम की दीवानी है और उनके गोवर्धन-पर्वत धारण करने वाले गुणो के कारण उन पर मुग्ध है। अर्थात् कृष्ण जब बालक थे और उन्होने गोवर्धन-पर्वत धारण करने जैसी लीलाएँ की थी तभी से हम उनकी अनुरागिनी है। तुम्हारे पूर्ण चरित्र पर अवलोकन करने के उपरान्त हमारी यह दृढ़ धारण बन गई है कि तुम काले रग वाले छली और धोखेबाज हो, अतः हम तुम्हारी बातो मे नही आने वाली।

विशेष—(१) प्रस्तुत पद अपनी सरल-सहज अभिव्यजना शैली के कारण की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

(२) गोपियो की खीझ और श्यामवर्णीय कृष्ण, उद्धव के प्रति अविश्वास भावना को सुन्दर अभिव्यक्ति मिली है।

(३) 'तोरे हित''नहि खारे'—इस पंक्ति से मिलता-जुलता भाव सूर ने अन्यत्र इस प्रकार व्यक्त किया है—

'जिन भौरन अम्बुज रस चाख्यौ, क्यो करील फल खावै।"

मधुप! बिराने लोग बटाऊ।
दिन दस रहत काज अपने को तजि गए फिरे न काऊ॥
प्रथम सिद्धि पठई हरि हमको, आयौ ज्ञान अगाऊ।
हमको जोग, भोग कुब्जा को, वाको यहै सुभाऊ॥
कीजै कहा नंदनदन को जिनके है सतभाऊ।
सूरदास प्रभु तन मन अरप्यो प्रान रहै कै जाऊ॥२५७॥

शब्दार्थ—विराने=पराये। वटाऊ=यात्री, राहगीर। फिरे=लौटे। काउ=कभी भी। अगाऊ=आगे-आगे, पहले ही। वाको=उनका। सतभाऊ=सच्चा भाव। अरप्यो=अर्पित कर दिया। जाऊ=जाएँ।

प्रसंग—गोपियाँ प्रेम मे कृष्ण के विश्वासघात और अपने प्रति उपेक्षा के कारण दुखी है। वे भ्रमर के माध्यम से उद्धव से कह रही हैं कि—

व्याख्या—हे मधुप ! रास्ते पर आने-जाने वाले लोग—अर्थात् राहगीर सदा पराये ही रहते है, कभी अपने नही बन पाते क्योकि वे अपने स्वार्थ के लिए प्रेम-सम्बन्ध स्थापित करते हैं और फिर कच्चे धागे की तरह तोड़ कर चले जाते हैं। वे राह पर चलते हुए अपने किसी कार्यवश दस दिन के लिए—अर्थात् थोडे समय के लिए कही बीच मे अपना पडाव डाल देते हैं और काज सिद्ध होते ही तुरन्त सभी रिश्ते-नातो की कृत्रिम जान तोड़ कर चले जाते हैं। वे अपनी मजिल की ओर बढते हुए फिर कभी मुड़ कर नही देखते और न ही कभी लौट कर आते हैं। कृष्ण ने भी हमारे साथ ऐसे हो बटोही जैसा व्यवहार किया है। अपनी मजिल की ओर बढते हुए उन्होंने कुछ समय के लिए व्रज में पडाव किया। अपने सौन्दर्य के प्रति हमारे मन में आकर्षण उत्पन्न किया। और हमारे साथ भाँति-भाँति की प्रेम-क्रीड़ाएँ कीं और फिर हमसे मन भर जाने पर हमे छोड़ कर मथुरा जा बैठे और अब लौट कर आने का नाम ही नही लेते। इस प्रकार के लोग लाख प्रयत्न करने पर भी अपने नही हो सकते।

पहले पहल तो कृष्ण ने हमे सिद्धि भेजी थी अर्थात् यह आश्वासन दिया था कि उनके साथ मिलन होने पर हमे सिद्धि प्राप्त होगी किन्तु सिद्धि हमे अभी मिली ही नही और यह ज्ञानोपदेश पहले ही तुम यहाँ ले आये जिससे हमे और दुखी कर रहे हो। हम तो कृष्ण-मिलन के लिए उत्सुक थी और उनकी प्रतीक्षा कर रही थी कि तुम यह योग हमारे लिए ले आए हो और हमे कृष्ण को भुला कर निर्गुण-ब्रह्म को अपना लेने का उपदेश दे रहे हो। इस अन्याय के लिए हम उन्हे क्या दोष दें, वस्तुतः वह बाध्य हैं। परपीड़न अब उनका स्वभाव बन चुका है। आज कुब्जा उनकी प्रिया है और उनके निकट है, इसलिए उसके साथ वह स्वय भोग-क्रीडा में आकण्ठ डूबे हुए हैं और हमे पराया जान कर योग का सन्देश लिख कर भेजा है किन्तु हम उनके प्रति किसी

दुर्भावना को प्रश्रय नही दे सकती। नन्दनन्दन के प्रेम में हम निष्ठावान है, इसलिए हम कुछ कर नही सकती, वह चाहे हमारे साथ कितना ही अन्याय करे। हमने तो अपना तन-मन उन्ही को अर्पित कर रखा है। अर्थात् हम पूर्णतया उन्हे समर्पित है, हम उनके व्यवहार के प्रतिरोध के अपने व्रत से नही टल सकती, अब प्राण रहे या नष्ट हो जाएँ। हम किसी भी परिस्थिति मे कृष्ण को त्याग तुम्हारे निर्गुण-ब्रह्म को स्वीकार नही करेंगी।

विशेष—(१) गोपियो की प्रेम मे विवशता और निष्ठा दोनो का एक साथ अत्यन्त सुन्दर चित्रण हुआ है। कृष्ण की उदासीनता पर उन्हे कोई प्रलोभन अपने प्रेम-मार्ग से विलग नही कर सकता।

(२) 'बटाऊ' यह शब्द 'बटोही' का बिगडा हुआ रूप है। 'बटोही' शब्द आज भी हरियानवी' और दिल्ली प्रदेश के आस-पास प्रचलित बोलियो मे प्रयुक्त होता है जिसका अर्थ है—मेहमान।

(३) 'हमको जोग, भोग कुब्जा को' मे असूया सचारी भाव की छटा दर्शनीय है।

(४) अन्तिम पक्ति मे पुष्टिमार्गीय भक्ति के अनुरूप 'मार्जार-शिशुवत्' आत्म-समर्पण का विधान किया गया है। पुष्टिमार्गीय भक्त का विश्वास है—'कृष्णानुग्रहरूपा ही पुष्टिः।'

मधुकर! महाप्रवीन सयाने।
जानत तीन लोक की बातै अबलन काज अयाने॥
जे कच कनक-कचोरा भरि-भरि मेलत तेल-फुलेल।
तिन केसन को भस्म बतावत, टेसू कैसो खेल॥
जिन केसन कबरी गहि सुंदर अपने हाथ बनाई।
तिनको जटा धरन को, ऊधो! कैसे कै कहि आई?
जिन स्रवनन ताटक, खुभी अरु करनफूल खुटिलाऊ।
तिन स्रवनन कसमीरी मुद्रा, लटकन, चीर झलाऊ॥

जिहि मुख मीत सुभाखत गावत करत परस्पर हास।
ता मुख मौन गहे क्यों जीवै, घूटै ऊरध स्वास ?
कंचुकि छीन, उवटि घसि चदन, सारी सारस चंद।
अब कंथा एकै अति गूदर क्यों पहिरै, मतिमंद ?
ऊधो, उठौं सबै पा लागैं, देख्यो ज्ञान तुम्हारो।
सूरदास मुख बहुरि देखिहैं जीजो कान्ह हमारो ॥२५८॥

शब्दार्थ—महाप्रबीन=बहुत योग्य। अयाने=अनजान। कच=केश। कनक-कचोरा=सोने का कटोरा। फलेल=इत्र। टेसू=एक खेल, जिसमें पुतला बना, सजा, सवार कर उसे पानी में डुबा देते हैं। कवरी=वेणी। स्रवनन=कानो। ताटक=कुण्डल। कसमीरी=स्फटिक। झलाऊ=झोला। चख=आँखें। नकवेसरि=नथ। खूली=थैली। मीत=प्रिय। सुभाखत=अच्छी बातें करना। कचुकि=चोली। कथा=गुदड़ी।

प्रसग—प्रस्तुत पद मे गोपियो द्वारा उद्धव के ज्ञान मार्ग और योगमार्ग का उपहास उडाना चित्रित है। उद्धव जब श्रीकृष्ण से प्रेम करने की अपेक्षा निर्गुण-ब्रह्म की प्राप्ति के लिए योगमार्ग और उसके विविध उपकरणों का महत्व प्रतिपादित करता है तो गोपियाँ श्रीकृष्ण के सगुण स्वरूप मे अपनी आस्था और योग की अपेक्षा भक्ति का महत्व स्पष्ट करती हुई कहती हैं कि—

व्याख्या—हे मधुकर ! (मधुकर के समान स्वार्थी और रस लोभी-उद्धव जी) आप वैसे तो बहुत योग्य, विद्वान् एव चतुर बनते हो, संसार की सभी विधाओ के ज्ञाता हो किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि स्त्रियो के मामले मे आप बिलकुल अनजान हो। स्त्रियाँ स्वभाव से कोमल, सौन्दर्य प्रिय एवं अपने प्रियतम के लिये सर्वथा समर्पित होती हैं, उन्हें अपने प्रियतम को रिझाने मे ही आनन्द मिलता है। आपने योगमार्ग तथा उसके लिये समाधि, साधन विशेष तथा विशेष प्रकार के रहन-सहन का उल्लेख किया है किन्तु जरा सोचो कि ये सभी कष्ट-कारक साधना कृष्ण वियोग मे सतप्त गोपियाँ भला कैसे कर सकती है। हम अपने कोमल, काले, घने बालो को सजाने सवारने के लिये सोने के कटोरो मे इत्र और तेल डाला करती थी अपने प्रिय को रिझाने के लिए नाना प्रकार की सजावट किया करती थी उन्ही बालो मे तुम भस्म रमाने की बात कहते हो। यह बालको के खेल टेसू के समान नही, जहाँ पहले सजा सवार

कर टेसू का जलूस निकालते है पुन अपने हाथो से पानी मे डूबा देते हैं। हमारे इन्ही बालो को अपने हाथो मे लेकर कृष्ण वेणी संवारा करते थे, बालो की तरह-तरह की सजावट किया करते थे। उन्ही बालो को जटा बनाकर धारण करने की बात तुमने कैसे कह दी है; हमे आश्चर्य है कि सब यह कह कर भी तुम अपने को योग्य और चतुर समझते हो? तुम्हारी चतुरता तो इसी से स्पष्ट हो गयी है कि तुम उन कानो मे स्फटिक की मुद्रा लटकाने के लिये कह रहे हो जिन्हे हम खुभी, कर्णफूल अथवा अन्य आभूषणो से सजाया करती थी। शरीर पर कोमल वस्त्र पहनती थी किन्तु तुम एक लम्बा चौडा झोला पहनने को कहते हो जो बहुत भद्दा लगता है। अपने शरीर को आकर्षक और सुन्दर बनाने के लिये हम मस्तक पर तिलक, आँखो मे काजल तथा नाक मे वेसरि या नथ पहना करती थी किन्तु तुम इन सबको त्याग करके शरीर पर भस्म रमाने की बात करते हो यह उपदेश सर्वथा अनुचित और तुम्हारे अज्ञान को ही प्रकट करता है। हम अपने गले मे कई तरह की आकर्षक माला, हीरे, मोती आदि अमूल्य हार पहनती थी किन्तु तुम उसी गले को बाँधने के लिये योग-साधना का शृगार अपनाने को कहते हो, भला उन हीरे मोतियो की समता यह सिगी कैसे कर सकती है? अपने जिस मुख से हमने अपने प्रियतम से मधुर वार्तालाप किये, उनके साथ तरह-तरह से हास-परिहास किया, अब उसी मुख को मूक रखकर हम जीवित कैसे रह सकती है? प्राणायाम द्वारा अपने श्वासो को रोकने का क्रम हम कैसे अपना सकती हैं? हमने अपनी रुचि के अनुकूल बारीक वस्त्र की चोली पहनी, शरीर की कोमलता की रक्षा के लिये तरह-तरह के उबटन लगाये, चदन के लेप किये, चाँदनी के समान कोमल उज्जवल साड़ी पहनी किन्तु उसी शरीर पर मोटा, भद्दा तरह-तरह के टुकड़ो को जोड़ कर बनाया गया गूदर पहनने की तुम्हारी सम्मति वस्तुत मदमति होने की साक्षी है। लगता है कि तुम सर्वथा अज्ञानी, मूर्ख और अयोग्य हो, हे उद्धव! हम सबने आपका ज्ञान जान लिया है, अतः हम सब आपके पाँव पड़ती है कि तुम यहाँ से चलो जाओ। हमारा विश्वास है कि हमारे श्यामसुन्दर चिरजीव हैं वह हमें पुनः अवश्य दर्शन देगे।

विशेष—प्रस्तुत पद में योगमार्ग का उपहास वास्तव मे सगुण भक्ति की प्रतिष्ठा ही है। पुष्टिमार्ग मे जिस रागानुगाभक्ति को सर्वश्रेष्ठ कहा गया

है गोपियाँ उसी भक्ति भाव की साकार प्रतिमाएँ हैं। सूरदास जी ने अपने भक्तिमार्ग का प्रतिपादन करते हुए जीवन की वास्तविकता को दर्शाया है कि नारी स्वभाव से ही कोमल, सौन्दर्य प्रिय एवं प्रियतम के लिये पूर्णतया समर्पित होती है। जिसने अपने शरीर, आँख, नाक, कान आदि से आनन्द और सरसता का आस्वादन किया हो उसे काल्पनिक सुख की लालसा नही रहती। कृष्ण की अनन्य प्रेमिकाओ को भी किसी अकल्पित, अकथ लोक का आकर्षण कैसे बांध सकता था। व्यंग्य की मधुरता मन पर गहरा प्रभाव करती है।

अलकार—(१) 'जे कच······तेल फुलेल'—अनुप्रास।

(२) 'भरि-भरि मेलत'—वीप्सा।

मधुकर ! कौन देस तें आए ?
जब तें क्रूर गयो लै मोहन तब तें भेद न पाए ॥
जाने सखा साधु हरिजू के अवधि वदन को आए।
अब या भाग, नंदनंदन को या स्वामित को पाए ॥
आसन, ध्यान, वायु-अवरोधन, अलि, तन मन अति भाए।
है विचित्र अति, गुनत सुलच्छन गुनी जोगमत गाए ॥
मुद्रा, सिंगी, भस्म, त्वचा-मृग, व्रजजुवती-तन ताए।
अतसी कुसुमवरन मुख मुरली सूर स्याम किन लाए ? ॥२५६॥

शब्दार्थ—अवधि=समय। वदन=कहना। स्वामित=प्रभुत्व। वायु-अवरोधन=प्राणायाम। गुनत=समझना। त्वचा-मृग=मृगचर्म। ताए=सतप्त। अतसी=अलसी।

प्रसंग—प्रस्तुत पद मे गोपियों के अनन्य प्रेम तथा योगमार्ग की अनुपयोगिता को व्यक्त किया गया है। उद्धव योगमार्ग और उसके विविध उपकरणो को धारण करने का उपदेश देते है तो गोपियाँ उन सबको निरर्थक कह कर कृष्ण के प्रति अपना लगाव प्रकट करती हैं।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से पूछती हैं कि हे मधुकर ! तुम किस देश से आये हो, जो इस प्रकार की अटपटी बातें व्रजवासियो से कह रहे हो। जब से वह कठोर अक्रूर हमारे मनमोहन को अपने साथ मथुरा ले गये हैं तभी से हमे उनका कोई भी समाचार नही मिला। हम सभी इस विश्वास पर जीवित हैं कि श्रीकृष्ण एक दिन अवश्य दर्शन देंगे। आप आये तो हमने समझा कि

आप श्रीकृष्ण के परम मित्र हो, शायद कृष्ण के आने की सूचना देने अर्थात् विरह की अवधि समाप्त होने वाली है, ऐसा कहने आये हो। किन्तु आपकी बाते सुनकर ऐसा लगता है कि अब भाग्य मे लिखा होगा तो श्रीकृष्ण के दर्शन होगे या आपके योगमार्ग का अनुगमन करने से, उसमे सिद्धि पाकर हमे प्रभुता प्राप्त होगी। हे उद्धव ! आपने योगमार्ग के अन्तर्गत जिस आसन, ध्यान, प्राणायाम, आदि का वर्णन किया है, जिन्हे आप हमारे लिये अच्छा समझते है, वे सभी बहुत अच्छी है, अनोखी है किन्तु हमारे लिये अनुपयोगी है। इन्हे तो वही समझ सकता है जो सभी सद्गुणो से युक्त हो, वस्तुत. विद्वान्, गुणी लोग ही योगमार्ग की प्रशसा कर सकते है, हम सभी सामान्य है भला कैसे समझ सकती हैं। हे उद्धव ! आप हमारे लिये योग-मुद्रा, सिंगी, भस्म, मृगचर्म आदि जो ले आये है उनकी हमे आवश्यकता नही, इनसे तो गोपिकाओ के शरीरो का सताप और भी वढ जायेगा। आप हमारे लिए कृष्ण के गले मे शोभा देने वाली अलसी के फूलो की माला, आकषक रंग वाली मुरली क्यो नही ले आये, उन्हे पाकर हमारा जीवन धन्य हो जाता।

विशेष—प्रस्तुत पद मे निहित व्यग्यार्थ अत्यन्त सहज और मार्मिक है। गोपियाँ उद्धव के ज्ञान का उपहास करती हुई योगमार्ग को केवल ज्ञानियो के लिये उपयोगी कहती है क्योकि वहाँ तर्क प्रधान होता है, प्रभुता की कामना रहती है किन्तु भक्त तो केवल भाव मे मग्न रहता है, इसलिये गोपियाँ योग-मार्ग के उपकरणो तथा उनसे होने वाले प्रभुत्व की अपेक्षा कृष्ण की मुरली को अधिक महत्व देती है। कृष्ण के गले मे शोभा देने वाली पुष्पमाला मे साकार का सौन्दर्य निहित है तो मुरली तो उन्हे कृष्ण तक ही पहुँचा सकती है। इस पद मे पुष्टिमार्गी भक्तिभाव का महत्व सहज रूप मे साकार हो गया है।

अलंकार—'अतसी कुसुम······लाए'—लुप्तोपमा।

मधुकर ! कान्ह कही नहीं होही।
यह तौ नई सखी सिखई है निज अनुराग बरोही॥
सँचि राखी कूबरी-पीठि पै ये बातैं चकचोही।
स्याम सुगाहक पाय, सखी री, छार दिखायो मोही॥

नागरमनि जे सोभा-सागर जग जुवती हँसि मोही ।
लियो रूप है ज्ञान ठगोरी, भलो ठग्यो ठग वोही ।।
है निर्गुन सरवरि कुवरी अब घटी करी हम जोही ।
सूर सो नागरि जोग दीन जिन तिनहिं आज सब सोही ।।२६०।।

शब्दार्थ—बरोही=वलपर । चकचोही=चुहुल बाजी । छार=भस्म । नागरमणि=पुरुष श्रेष्ठ । ठगोरी=धोखा । सखरि=बराबरी । नागरि=नारी ।

प्रसग—प्रेम की अनन्यता मे किसी अन्य की झलक पाकर भी प्रेमी मन क्षुब्ध हो जाता है । श्रीकृष्ण के मथुरा जाने के पश्चात् अनेक स्थलो पर गोपियो ने कुब्जा के नाम पर अनेक व्यग्योक्तियाँ कही है । वस्तुतः भ्रमरवृत्ति के प्रतीक पुरुष के प्रति नारी की प्रतिक्रिया ही इसमे प्रकट हुई है । प्रस्तुत पद मे सूरदास जी ने उद्धव के योगमार्ग का उपहास जिस ढग से किया है उससे व्यग्य की तीव्रता और प्रेम की सरसता का सुन्दर समावेश हुआ है । गोपियाँ उद्धव को कहती हैं कि—

व्याख्या—हे उद्धव ! तुमने जिस योगमार्ग का वर्णन किया है, जिसे तुमने कृष्ण का सन्देश कहा है, वह कृष्ण ने नही कहा होगा । क्योकि अभी कुछ समय पूर्व तक कृष्ण यही तो थे, वे इस मार्ग का उपदेश नही दे सकते । ऐसा लगता है कि यह सन्देश कृष्ण की नई सखी कुब्जा ने कृष्ण को सिखाया है, उसी ने अपने प्रेम के बल से ऐसी बाते कृष्ण को सिखाई होगी । गोपी अपनी सखी को कहती है कि हे सखी ! ऐसा लगता है कि इस प्रकार की चुहल भरी बाते कुब्जा ने अपने कूबड़ मे सचित कर रखी थी, अब श्रीकृष्ण जैसा गुणग्राहक पाकर वह मुझे भस्म दिखा रही है । स्वय तो कृष्ण के प्रेम में मग्न हो गयी है और हमारे लिये योगमार्ग पर चलकर भस्म रमाने की बात कहती है । वास्तव मे कृष्ण को पाकर उसका अभिमान इतना बढ गया है कि वह दूसरो को राख के समान, तुच्छ समझने लगी है । श्रीकृष्ण पुरुष श्रेष्ठ, सुन्दर और चतुर हैं, शोभा और सौन्दर्य के सागर हैं, उनकी मधुर मुस्कान ने संसार भर की स्त्रियो को मोहित कर लिया था किन्तु अब वही कृष्ण कुब्जा के सौन्दर्य से मोहित हो गये है । जिस कृष्ण के रूप सौन्दर्य को देखकर उनकी मुस्कान देखकर कोई भी युवती उन पर मोहित हो जाती थी अब

वही कृष्ण उस कुबड़ी पर आकृष्ट हो गये है। उसने भी श्रीकृष्ण का अपार सौन्दर्य प्राप्त करके बदले मे यह ज्ञान उन्हे दिया है। कुब्जा ने उन्हें ठग लिया है जो सबको ठगता रहा है। अब कृष्ण ने हमे सदेश भेजा है तो यह भी उसी धोखे का परिणाम ही है। शायद कृष्ण को भी इसी ठगी का आभास हुआ हो। चलो अच्छा हुआ कृष्ण ने हमे ठगा था आज कुब्जा ने उसे ठग कर निर्गुण बना दिया है। हे उद्धव ! यह उपदेश भी चतुर कुब्जा ने भेजा है क्योकि श्रीकृष्ण के साथ रहते हुए वह अपने को इतनी बड़ी मानने लगी है कि जो भी कर ले उसे शोभा दे सकता है, किन्तु यह उपदेश हमारे विश्वास अथवा प्रेम को प्रभावित नही कर सकेगा।

विशेष—इसमे भक्ति की अनन्यता और नारी स्वभाव की सहज और सरस अभिव्यक्ति हुई है। कुब्जा के सौन्दर्य पर कृष्ण का मोहित होना, कुब्जा के कूबड़ मे हास परिहास की अनेक बातो मे ज्ञान और योग का सचित होना, कृष्ण के अमित सौन्दर्य और प्रभाव आदि के उल्लेख मे व्यग्य का माधुर्य मर्मस्पर्शी है। भक्त हृदय की भावनाओ की अभिव्यक्ति मे कवि को पूर्ण सफलता मिली है, क्योकि इसे कवि की स्वानुभूति भी कह सकते है।

अलंकार—(१) 'स्याम सुगाहक······मोही'—श्लेष।

(२) 'है निर्गुण सरवरि······जोही'—अनुप्रास।

मधुकर ! अब धौ कहा कर्यो चाहत ?
ये सब भई चित्र की पुतरी सून्य सरीरहि दाहत॥
हमसों तोसो बैर कहा, अलि, स्याम अजान ज्यों राहत।
झारि झूरि मन तो हरि लै गए बहुरि पयारहि गाहत॥
अब तौ तोहि मरुत को गहिबो कह स्रम करि तू लैहै ?
सूरज कोट-मध्य तू ह्वै रह, अपनो कियो तू पैहै॥२६१॥

शब्दार्थ—पुतरी=पुतली। सून्य=खाली। दाहत=जलाना। पयारहि =पयाल, अनाज के पौधो के सूखे डण्ठल। गाहत=झाडना, अनाज के दाने अलग करने की क्रिया। मरुत को=वायु को। स्रम=मेहनत। कोट-मध्य =कमरे मे।

प्रसग—गोपियो द्वारा बार-बार योग और ज्ञानमार्ग का उपहास सुनकर, श्रीकृष्ण के प्रति अनन्य प्रेम को देखकर तथा कृष्ण वियोग मे सतप्त गोपियो

की मनोव्यथा जानकर भी उद्धव उपदेश देते रहे। प्रत्येक बात की सीमा होती है। अन्ततोगत्वा गोपियाँ क्षुब्ध हो जाती है और उद्धव को मौन रहने अथवा ब्रज से लौट जाने के लिये कह उठती है।

व्याख्या—हे उद्धव ! तुमने कई प्रकार से निर्गुण ब्रह्म और योगमार्ग का वर्णन कर लिया है, जिसे सुनकर सभी गोपियाँ इस प्रकार निर्जीव सी हो गयी हैं जैसे किसी चित्र मे किसी पुतली का शरीर अकित रहता है। तुम इनके निष्प्राण से शरीरो को जलाने वाले ये उपदेश क्यो दे रहे हो ? आखिर तुम क्या करना चाहते हो ? हमसे आपकी कौन सी दुश्मनी है जिसका बदला ले रहे हो, हे भ्रमर ! तुम भी उस कृष्ण से अनजान बन रहे हो, जिनके गुण श्रवण और रूप दर्शन से सुख शान्ति प्राप्त होती है। उद्धव हमारे मन तो श्रीकृष्ण झाड़ झूडकर अपने साथ ही ले गये है, यही कारण है कि हम पर आपके किसी भी उपदेश का प्रभाव नही हो रहा। आपके सभी प्रयत्न निष्फल रहे हैं। जिस प्रकार अनाज के दाने निकाल लेने के पश्चात् पयाल को गाहना, उलट पलट कर डन्डे से पीटना व्यर्थ हो जाता है, पयाल का भूसा बन जाता है किन्तु उसमे से अनाज नही मिलता। उसी प्रकार आपके उपदेश हमारे शरीरो को जलाकर भस्म कर सकते है, उन पर प्रभाव नही कर सकते। हे उद्धव ! अच्छा तो यही है कि तुम अब यहाँ से हवा खाओ, अपना रास्ता पकडो, और मथुरा को लौट जाओ क्योकि तुम्हारा सारा परिश्रम व्यर्थ हो गया है। अब तुम अपनी वाणी को मुख मे ही रोक लो, किसी प्रकार का उपदेश मत देना, याद रखो अब यदि तुम कुछ कहोगे तो अपने किये का फल पाओगे।

विशेष—प्रस्तुत पद मे गोपियो की मन.स्थिति को प्रकट करने के लिये कवि ने अनाज की प्रक्रिया का जो रूपक बाँधा है वह सजीव, सरस और प्रभावशाली है। किसी के उपदेश का प्रथम प्रभाव मन पर होता है, वह मन ही जब उनके पास नही तो फिर प्रभाव किस पर होता। इस तरह मानवीय भावनाओ का सहज प्रतिपादन करने मे कवि को पूर्ण सफलता मिली है।

अलकार—(१) 'ये सब भई······दाहक'—रूपक।

(२) 'मधुकर······किये तू पैहै'—अप्रस्तुत प्रशसा।

मधुकर ! आवत यहै परेखो।

जब बारे तब आस बड़े की, बड़े भए सो देखो।

जोग-जज्ञ, तप, दान, नेम-ब्रत करत रहे पितु-मात।
क्यों हूँ सुत जो बढ्यो कुसल सों, कठिन मोह की बात॥
करनी प्रगट प्रीति पिक-कीरति अपने काज लौ भीर।
काज सरयो दुख गयो कहाँ धौं, कहँ बायस को बीर॥
जहँ जहँ रहौ राज करौ तहँ तहँ लेव कोटि सिर भार।
यह असीस हम देति सूर सुनु न्हात खसै जनि बार॥२६२॥

शब्दार्थ—परेखो=जाँच पडताल। बारे=बचपन। पिक-कीरति=कोयल की प्रकृति। भीर=मुसीबत। सर्यो=पूरा होना। बायस=कौआ। खस=गिरे। बार=बाल।

प्रसंग—श्रीकृष्ण के वियोग में दुखी गोपियाँ उनके नानाविध-कार्य-कलापो का स्मरण करती है। उद्धव का उपदेश सुनकर उन्हे अत्यधिक दुख होता है। ऐसी मनः स्थिति मे कृष्ण के प्रति अपने मोह, उसके स्वार्थ अथवा उपेक्षा भरे व्यवहार और कृष्ण के प्रति अपनी शुभकामनाओ को प्रकट करती हुई गोपियो की आस्था को सूरदास जी ने प्रस्तुत किया है।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव को कहती है कि हे मधुकर! जीवन की परीक्षा, तरह-तरह के व्यवहारो की जाँच पडताल करने से यही ज्ञात होता है कि मोह का बन्धन अत्यन्त कठिन और दुखदायी होता है। जब बालक छोटा होता है तो माता-पिता यह आशा लगाए रहते है कि बालक बड़ा होकर सुख देगा किन्तु जब वह बड़ा होकर उनके अनुकूल नही रहता तो माता-पिता को कष्ट होता है। सभी माता-पिता उस मोह के बधन मे रहकर तरह-तरह के योग, यज्ञ, तप, दान, पुण्य, नियम, व्रत आदि करते रहते है ताकि उनकी सतान सभी प्रकार की कुशलता मे वृद्धि करे। किन्तु बडा होने पर जब पुत्र माता-पिता को छोड जाय तो उनको अकथनीय कष्ट होता है। नन्द और यशोदा ने श्रीकृष्ण को पाने के लिए नानाविध तप, यज्ञ, दान और व्रत आदि किये थे, उन्होने कृष्ण के साथ जीवन की अनेक आकाक्षाएँ लगा रखी थी किन्तु कृष्ण के मथुरा चले जाने पर उन्हे जो कष्ट हो रहा है उसकी कल्पना भी नही हो सकती। श्रीकृष्ण का यहा से चले जाना उसी स्वार्थ भाव को प्रकट करता है जो कोयल मे रहता है। कोयल अपने अण्डे कौए के घोसले मे रख देती है, वही उसके बच्चे जन्म लेते है, जब तक वे बच्चे छोटे होते है, उडने मे असमर्थ

होते है तब तक तो वे कौओ के साथ प्रेम से रहते है किन्तु बड़े हो जाने पर अपना काम निकल जाने पर वे सम्बन्ध अथवा प्रीति को भुलाकर उड़ जाते हैं। कृष्ण भी हमे छोड़ कर चले गए है फिर भी हमारा मन यही आशीर्वाद देता है, कामना करता है कि वे जहाँ भी रहे सुख-सम्पति पर राज्य करे, अपने सिर पर करोड़ो दायित्वो का भार लेकर उनमे सफल रहे। हमारा मन तो यही कहता है कि श्रीकृष्ण का नहाते हुए भी कभी एक बाल तक न गिरे।

विशेष—प्रस्तुत पद मे मोह के बधन और सच्चे प्रेम का सरस चित्रण हुआ है कृष्ण के चले जाने पर गोपियाँ दुखी है किन्तु उनके हृदय से कृष्ण के प्रति वही भाव प्रकट होते है जिसमे श्रीकृष्ण के गौरव, सुख समृद्धि की कामना रहती है।

अलंकार—(१) 'मधुकर'''खसै जनि बार'—अप्रस्तुत प्रशसा।

(२) 'जह जह'''सिर भार'—वीप्सा।

मधुकर ! प्रीति किए पछितानी।
हम जानी ऐसी निबहैगी उन कछु औरै ठानी॥
कारे तन को कौन पत्यानो ? बोलत मधुरी बानी।
हमको लिखि लिखि जोग पठावत आपु करत रजधानी॥
सूनी सेज स्याम बिनु सोको तलफत रैनि बिहानी।
सूर स्याम प्रभु मिलिकै बिछुरे तातें मति जु हिरानी॥२६३॥

शब्दार्थ—पत्यानो=विश्वास। पठावत=भेजता। रैनि=रात। हिरानी=चकित।

प्रसंग—प्रस्तुत पद मे गोपियो के मन की उस स्थिति का चित्रण किया गया है जब वह कृष्ण वियोग मे दुखी होकर पश्चाताप करती हैं। इसमे भी गोपियो के प्रेम की अनन्यता की सरस अभिव्यक्ति हुई है।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव को कहती है कि हे मधुकर ! हम तो कृष्ण से प्रेम करके पछता रही है, हमने जिसे अपना सर्वस्व माना था, वह निष्ठुर हमे छोडकर मथुरा मे जाकर हमे भूल ही गया है। हमने तो यह समझा था कि कृष्ण के साथ हमारा प्रेम जीवन भर निभेगा। किन्तु उन्होने तो अपने मन मे कुछ और-ही सोच रखा था। यह सत्य है कि काले शरीर वालो पर विश्वास नही करना चाहिए, क्योंकि ये बहुत मीठी बाते करते है किन्तु मन मे स्वार्थ

श्रीर कपट रखते है। भ्रमर काला होता है, फूलो पर गुजार करता रहता है किन्तु रस पान करने के पश्चात् उन फूलो को भुला देता है। कोयल की बोली भी बहुत मीठी है किन्तु वह भी स्वार्थ से पूर्ण है। कृष्ण भी तो काला है जो हमारे प्रेम को भुलाकर मथुरा मे चला गया है। आज भी वह हमे तो योगमार्ग की साधना का सन्देश लिखकर भेज रहा है किन्तु स्वय वहाँ पर राजपाट का कार्य कर रहा है। वह तो जीवन के कार्य व्यापारो मे हमे भुला चुका है और उसके बिना सूनी शैया देखकर मेरा मन तडपता रहता है, प्रत्येक क्षण वियोग व्यथा मे तड़पते हुए रात व्यतीत होती रहती है श्रीकृष्ण हमसे मिलकर हमे प्रेमानन्द का आस्वादन करवाकर हमसे बिछुड़ गया है इसलिए हमारी बुद्धि भी विस्मृत है, भटकी हुई है—जीवन मे कृष्ण के अभाव से व्यथा, अशान्ति ही छाई हुई है।

विशेष—प्रस्तुत पद मे कृष्ण और भ्रमर की समान वृत्तियो को लेकर गोपियो ने केवल व्यग्य ही नही किया अपितु अपनी व्यथा का भी सजीव चित्रण किया है। कोयल भ्रमर आदि से कृष्ण और उद्धव पर भी जो व्यग्य ध्वनित होता है उसमे कवि चातुर्य के दर्शन होते है।

अलंकार—'हमको लिखि'''करत रजधानी'—वीप्सा।

मधुकर की संगति तें जनियत वंस अपन चितयो !
बिन समझे कह चहति सुंदरी सोइ मुख-कमल गह्यो ॥
व्याधनाद कह जानै हरिनी करसायल की नारि ?
आलापहु, गावहु, कै नाचहु दावँ परे लै मारि ॥
जुआ कियो ब्रजमंडल यह हरि जीति अविधि सों खेलि।
हाथ परी सो गही चपल तिय, रखी सदन मे हेलि ॥
ऊनो कर्म कियो मातुल बधि मदिरा-मत्त प्रमाद।
सूर स्याम एते औगुन में निर्गुन तें अति स्वाद ॥२६४॥

शब्दार्थ—वस अपन चितयो=अपने वश को देखना। गह्यो=ग्रहण किया। व्याधनाद=शिकारी की आवाज। करसायल=मृग। दाँव=मौका। अबिधि=अवधि। सदन हेलि=घर मे डाल रखी। ऊनो=निकृष्ट। मातुल=मामा। प्रमाद=पागलपन।

प्रसग—भ्रमरगीत के प्रस्तुत पद मे कृष्ण प्रेम मे समर्पित गोपियो ने कृष्ण के अनेक दोषो का वर्णन करके उसके स्वभाव का विश्लेषण किया है किन्तु इस आलोचना मे जिन दोषो का सकेत किया गया है उनके बावजूद वे सभी कृष्ण के प्रति अपनी आस्था ही प्रकट करती है।

व्याख्या—उद्धव द्वारा श्रीकृष्ण की अनेक लीलाओ अथवा क्रीड़ाओ का वर्णन सुन कर गोपियाँ उसे समझाती है कि हे मधुकर! श्रीकृष्ण ने यदि कोई अनुचित कार्य किए अथवा उनके किसा काम मे दोष दिखाई देता हो तो उसमे कृष्ण का कोई दोष नही वह तो सभी सगति के प्रभाव से हुआ है। जिस प्रकार विभिन्न रसो का पान करने वाला भ्रमर फूलो पर गुंजार करता रहता है, फूलो की मादकता मे खो-सा जाता है किन्तु अपने वश की याद आते ही वह बाँस के वृक्षो मे रहता है। श्रीकृष्ण भी हम सबसे नानाविध प्रेम बढाते रहे, सभी गोपियो के साथ क्रीड़ाएँ करते रहे और आज सबको छोड कर मथुरा मे यादव वश मे रहने लगे है। एक गोपी अन्य गोपिकाओ को समझाने का यत्न करती है कि आप सभी कृष्ण के मुख कमल के लिए आग्रह क्यो करती हो, वह तो भ्रमर के समान रसपान करके चला गया। भोली भाली हिरणी भला शिकारी की आवाज को कैसे समझ सकती है, शिकारी वीणा बजाता है, हिरणी उसकी मधुर ध्वनि मे मग्न हो जाती है। शिकारी तरह-तरह के राग अलापता है, मधुर गीत गाता है कभी-कभी मस्ती मे नाच भी उठता है, हिरणी उस नाच मे छिपे स्वार्थ को तो नही जानती और शिकारी मौका मिलते ही उसका वध कर देता है। श्रीकृष्ण ने भी व्रजवासियो के साथ ऐसा ही खेल खेला है, जब वह जा रहे थे तो अवधि का दाँव लगाकर बाजी जीत गये है। यहाँ पर हमे तो धोखा देकर चले गए है और वहां जाकर जो चतुर स्त्री उन्हे मिली है उसे अपने महल मे डाल लिया है। कृष्ण ने और भी अनुचित कार्य किए है, उन्होने अपने मामा कस का वध कर दिया है। यह तो ऐसा है जैसे किसी ने मदिरा की मस्ती अथवा पागलपन मे किसी की हत्या कर दी हो। किन्तु यह सब होने पर भी, इतने अवगुणो का भण्डार होने पर भी कृष्ण हम सबको निर्गुण से अधिक सुखद प्रतीत होते है।

विशेष—प्रस्तुत पद में गोपियो ने कृष्ण के तथाकथित दोषों का उल्लेख करते हुए उनके लीला पुरुषोतम स्वरूप की ही प्रतिष्ठा की है।

वस्तुत: निन्दा के व्याज से यहाँ कृष्ण की प्रशंसा ही की गई है। वैसे भी प्रेमी प्रिय के दोष नही गिनता उनके लिए तो प्रिय के समान अन्य कोई भी वस्तु नही होती, फिर निर्गुण-ब्रह्म उसकी बराबरी कैसे कर सकता था।

अलंकार—(१) 'मधुकर की…कमल गह्यो'—अन्योक्ति रूपक।

(२) 'आलापहु…लै मारि—'अनुप्रास।

मधुकर चलु आगे तें दूर।
जोग सिखावन को हमे आयो बडो निपट तू क्रूर॥
जा घट रहत स्यामघन सुंदर सदा निरंतर पूर।
ताहि छांड़ि क्यो सून्य अराधैं, खोवैं अपनो मूर?
ब्रज में सब गोपाल उपासी, कोउ न लगावै धूर।
अपनो नेम सदा जो निबाहै सोई कहावै सूर॥२६५॥

शब्दार्थ—निपट=बिलकुल। क्रूर=कठोर। घट=शरीर, मन। मूर=मूलधन। उपासी=उपासक। धूर=भस्म। नेम=नियम।

प्रसंग—उद्धव द्वारा बार-बार ज्ञान और योगमार्ग की बातो को सुन कर गोपियो का क्रोध बढ जाता है, वे उसे फटकारती हुई निर्गुण की निन्दा तथा सगुण भक्ति की प्रमुखता प्रतिष्ठित करती है।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव को फटकारती हुई कहती है कि हे मधुकर! हमारी आँखो से दूर हो जाओ। हमारी वियोग जन्य स्थिति का ध्यान न करके तुम बार-बार योगमार्ग का उपदेश देते जा रहे हो, तुम वास्तव मे बिल्कुल कठोर और निर्दयी हो। जिनके हृदय मे घनश्याम के वर्ण वाले श्यामसुन्दर का निवास है, जिनको उनकी सगुण-साकार-सौन्दर्य सुषमा की झाँकी मिल चुकी है, वे भला उसे छोडकर तुम्हारे उस निर्गुण की आराधना क्यो करेंगे जिसका कुछ भी तो आधार नही, जो सर्वथा शून्य है। ऐसा करने से तो अपने पास जो कुछ भी मूलधन है, हृदय मे जो छविसागर विद्यमान है उससे भी हाथ धोने पडेगे। याद रखो कि ब्रज मे सभी उस गोपाल की उपासक हैं जिसके साथ सबने मिल कर अनेक क्रीडाएँ की है। यहाँ कोई भी तुम्हारे योगमार्ग की धूलि नही रमाएगी। हमारा दृढ विश्वास है कि जो व्यक्ति सभी दुखो और बाधाओ के रहते हुए भी अपने नियम का पालन करता है वही सच्चा शूरवीर कहलाता है।

विशेष—प्रस्तुत पद में गोपियो की आस्था और भगवान् कृष्ण के प्रति अनन्य प्रेम की अभिव्यक्ति हुई है। अपना नियम पालन करने वाला ही सच्चा शूरवीर होता है, इस सत्य को प्रायः सभी भक्त कवियो ने अपनाया है। सरस विषयानुकूल शब्द विन्यास के कारण यह पद सहजता को प्रकट करता है।

अलंकार—'जा घट रहत···पूर'—अनुप्रास।

मधुकर ! सुनहु लोचन बात।
बहुत रोके अंग सब पै नयन उड़ि उड़ि जात॥
ज्यो कपोत वियोग-आतुर भ्रमत है तजि धाम।
जात दृग त्यों, फिरि न आवत बिना दरसे स्याम॥
रहे मूँदि कपाट पल दोउ, भए घूँघट ओट।
स्वास काढ़ि तो जात तितही निकसि मन्मथ फोट॥
स्रवन सुनि जस रहत हरि को, मन रहत धरि ध्यान।
रहत रसना नाम रटि, पै इनहिं दरसन हान॥
करत देह विभाग भोगहिं जो कछू सब लेत।
सूर दरसन ही बिना यह पलक चैन न देत॥२६६॥

शब्दार्थ—लोचन बात=आँखो की बात। कपोत=कबूतर। दरसे=देखे। पल=पलक। तितही=वही। मन्मथ=कामदेव। फोट=उद्‌गार। रसना=जिह्वा। हान=हानि। विभाग=बँटवारा।

प्रसंग—श्रीकृष्ण के दर्शन करने की इच्छुक गोपियाँ अपने नेत्रो की व्याकुलता और आतुरता का वर्णन करती हुई कहती है कि—

व्याख्या—हे मधुकर ! हमारी आँखो की बात सुनो, श्रीकृष्ण के वियोग मे इनकी व्याकुलता अन्य सभी अगो से बहुत अधिक है। हमने शरीर के अन्य अगो को तो रोक लिया है किन्तु ये किसी प्रकार नही रुकते। हर समय कृष्ण दर्शन के लिए इधर-उधर भटकते रहते है। जिस प्रकार कबूतर कबूतरी के वियोग मे व्याकुल होकर अपना स्थान छोड कर इधर-उधर भटकता रहता है उसी प्रकार हमारे नेत्र भी कृष्ण दर्शन की आकुलता मे भटकते रहते है, लौट कर नही आते, ससार की किसी भी अन्य वस्तु मे इनका ध्यान नही लगता। हमने अपने नेत्रो को बाँधने का बहुत प्रयास किया, पलको के किवाड बन्द

करके ऊपर से घूँघट की ओट मे कर रखा है किन्तु कृष्ण वियोग में निकलने वाली आहो के साथ ही ये उसी दिशा की ओर उन्मुख हो जाते है, जिधर श्यामसुन्दर गये थे। ऐसी स्थिति मे हमारे मन से नाना प्रकार के उद्गार प्रगट होने लगते हैं जिनसे उसी काम का सकेत मिलता है जो कृष्ण मिलन की इच्छाओ का मूल है। हम तो श्रीकृष्ण का यशोगान सुनकर उसी के ध्यान मे मग्न रहती हैं, हमारी जिह्वा हर समय कृष्ण नाम रटती रहती है किन्तु आँखे कृष्ण दर्शन से वचित ही रहती है। शरीर के सभी अग सुनने अथवा रटने की मस्ती का आनन्द पा लेते है किन्तु आँखो को उनके दर्शन नही होते। वे सभी तो आनन्दानुभूति का उचित विभाजन कर लेते है किन्तु आँखो को कुछ नही मिलता। इसीलिए पल भर के लिए भी इन्हे चैन नही मिलता।

विशेष—प्रस्तुत पद में विरहानुभूति की कलात्मक अभिव्यक्ति हुई है। कृष्ण का यशोगान कानो से सुनकर शरीर के सभी अंग रसास्वादन कर लेते है इससे आँखो की आकुलता बढ जाना स्वाभाविक है। हम जिसकी प्रशसा सुनते है उसे देखने की लालसा तीव्र हो जाती है किन्तु गोपियो के नेत्र अपने प्रिय के दर्शन नही कर सकते, इसलिए उन्हे अन्य इन्द्रियो से अधिक व्याकुल कह कर सूरदास जी ने सगुण साकार भक्ति की प्रतिष्ठा मे अभिवृद्धि कर दी है।

अलकार—(१) 'ज्यो कपोत···स्याम'—उपमा।

(२) 'रहे मूँदि कपाट···ओट'—रूपक।

(३) 'रहत रसना···लेत'—अनुप्रास।

मधुकर ! जो हरि कही करै।
राजकाज चित दयो साँवरे, गोकुल क्यो बिसरै ?
जब लौं घोष रहे हम तब लौं सतत सेवा कीन्ही ?
बारक कहे उलूखल बाँधे, वहै कान्ह जिय लीन्ही ।।
जौ पै कोटि करै ब्रजनायक बहुतै राजकुमारी।
तौ ये नंद पिता कहँ मिलिहै अरु जसुमति महतारी ?
गोवर्द्धन कहँ गोपबृंद सब कहँ गोरस सद पैहो ?

सद—ताजा ।

प्रसग—इस पद मे गोपियो ने कृष्ण को व्रज लौटने के लिए व्रजभूमि की सुख-सुविधाओ का लालच देने का प्रयास किया है ।

व्याख्या—हे उद्धव ! यदि श्रीकृष्ण एक बार यहाँ आ जाये तो जैसा वे कहेगे हम सभी वैसा ही करेगी । श्रीकृष्ण मथुरा मे जाकर राज्य के विभिन्न कार्यों मे अत्यधिक व्यस्त हो गये है किन्तु उन्होने व्रजभूमि को क्यों भुला दिया है । यहाँ रहते हुए उन्हें सभी सुख प्राप्त थे फिर भी उन्होने गोकुल तथा यहाँ के वासियो को बिलकुल भुला दिया है, हमसे क्या अपराध हो गया है ? जब तक श्रीकृष्ण गोकुल मे रहे तब तक हम सबने लगातार उनकी सेवा की है, उस सब को उन्होने भुला दिया है । शायद श्रीकृष्ण ने अपने मन मे एक गाठ बाँध ली है, जब हमने एक बार माता यशोदा से कृष्ण की शिकायत कर दी थी और माता ने कृष्ण को ओखली से बाँध दिया था । उस एक बात के लिए कृष्ण ने यह कठोरता धारण कर ली है । यह अपराध क्या इतना बडा था कि उन्होने हम सबके प्यार को बिलकुल ही विस्मृत कर दिया है । आज श्रीकृष्ण राजा है वह जो चाहे कर सकते है, यदि वे चाहे तो हमारी जैसी बहुत सी सुन्दर राजकुमारियाँ उन्हे मिल सकती है किन्तु करोडो यत्न करने पर भी उन्हे नन्द जैसे पिता और यशोदा जैसी माता नही मिल सकती । मथुरा मे सभी प्रकार के सुख-साधन मिल सकते है किन्तु वहाँ गोवर्धन जैसा पर्वत कहाँ है ? वहाँ स्नेह और सेवा भाव से पूर्ण ग्वाल बाल भी कहाँ है ? वहा ताजा दूध भी कहाँ मिल सकता है । ये सभी सुख, साधन, स्नेह तथा स्नेही गोकुल में ही मिल सकते है इसलिए हमारा यही आग्रह है कि जैसे भी हो श्रीकृष्ण को एक बार यहाँ अवश्य ले आओ ।

विशेष—प्रस्तुत पद मे गोपियो की शालीनता और वाक्‌चातुर्य की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। व्रजभूमि की सुख सुविधाओ का उल्लेख करते हुए गोपियो ने अपने को सर्वथा अलग कहा है किन्तु व्यग्यार्थ मे तो उन्ही की समर्पित भक्ति भावना तथा अनन्यता साकार हो गयी है ।

अलकार—(१) सम्पूर्ण पद मे अन्योक्ति ।

(२) 'गोवर्धन···पैहो'—अनुप्रास ।

मधुकर ! भल आए बलबीर ।
दुर्लभ दरसन सुलभ पाए जान क्यों परपीर ?
कहत बचन, बिचारि बिनवहिं सोधियो उन पाहिं ।
प्रानपति की प्रीति, ऊधो ! है कि हम सों नाहिं ?
कौन तुम सों कहै, मधुकर ! कहन जोगै नाहिं ।
प्रीति की कछु रीति न्यारी जानिहौ मन माहिं ।।
नयन नींद न परै निसिदिन बिरह बाढ़्यो देह ।
कठिन निर्दय नंद के सुत जोरि तोड़्यो नेह ।।
कहा तुम सों कहै, षटपद ! हृदय गुप्त कि बात ।
सूर के प्रभु क्यो बनै जौ करै अबला घात ? ।।२६८।।

शब्दार्थ— दुर्लभ=मिलने मे मुश्किल । सोधियो=पता लगाना । जोगै=उचित । रीति=ढग । न्यारी=अनोखी । नेह=प्रेम । षटपद=भ्रमर ।

प्रसग—इस पद मे उद्धव के ज्ञानमार्ग पर व्यग्य करती हुई गोपियों ने श्रीकृष्ण के दर्शनो की उत्कण्ठा और अपने प्रेम की अनन्यता का चित्रण किया है ।

व्याख्या—गोपियाँ कहती है कि हे उद्धव ! आप यहाँ पर आये यह बहुत भला हुआ किन्तु वास्तविक भलाई तो तभी होगी जब बलराम जी के भैया यहाँ आ जाएँ । आप श्रीकृष्ण के साथ रहने वाले, ज्ञान और योगमार्ग के रहस्यो के ज्ञाता तथा अन्यान्य विद्याओ के पण्डित है, हम जैसो के लिए आपके दर्शन बहुत मुश्किल है फिर भी हमारे लिए सुलभ हो गए, यह हमारे लिए बहुत अच्छी बात है किन्तु आप भी तो दूसरो के दुख नही समझते । शायद इसलिए कि आपको ब्रह्म रूप कृष्ण के दर्शन आसानी से हो गये है अत. आप को वियोग के दुख का कुछ भी अनुमान नही हो सकता । हे उद्धव ! आप से हमारी एक ही विनय है कि आप जो कुछ भी कहे, अपने ज्ञान और योग का

नही जा सकता, केवल अनुभव किया जा सकता है। कृष्ण के साथ तुम्हारा प्रेम केवल हमारा मन ही जानता है उसे शब्दो मे बाँधना सम्भव नही। आजकल हमारे शरीर मे वियोग का संताप अत्यन्त तीव्र है, रात-दिन आँखो मे नीद नही आती, पलभर के लिए भी चैन नही मिलता, और उधर नन्द के पुत्र ने हमारे प्रेम सूत्र को तोड कर हमे भुला दिया है। वह बहुत कठोर है। हे उद्धव ! यह जो मन की अनुभूति है, हृदय का गुप्त आनन्द है इसे शब्दो मे तुम्हारे सामने कैसे कहे ? अब यदि हमारा प्रियतम ही अवलाओ पर आघात करे, हमे मारने के लिए उद्धत हो तो हम भला क्या कर सकती हैं। इसलिए वही घडी भली होगी जब स्वय श्रीकृष्ण आकर हमे दर्शन देगे।

विशेष—प्रस्तुत पद मे गोपियो की विरह-व्यथा के साथ-साथ उद्धव के ज्ञान मार्ग पर फबती कसने की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। 'जिस तन लागे वह तन जाने।' एक प्रसिद्ध लोकोक्ति है इसमे उसी का सहारा लेकर गोपियो ने अपनी बात को अधिक सजीव बना दिया है। कृष्ण के प्रति अनन्य प्रेम तो परीक्षा की कसौटी पर रखा जा चुका है अत. ज्ञान अथवा योग का प्रभाव कुछ नही होता। इसीलिए उद्धव को कहा जाता है कि वह भला प्रेम-विरह की तीव्रता कैसे अनुभव कर सकता है। कृष्ण-प्रेम की अनन्यता तो केवल गोपियाँ ही अनुभव कर सकती है, जिसे सूरदास की काव्यात्मक भाषा ने अधिक सजीव बना दिया है।

अलंकार—(१) 'दुर्लभ ··परपीर'—अनुप्रास।
(२) 'कहा तुम सो···की बात'—वक्रोक्ति।

मधुकर ! यह कारे की रीति।
मन दै हरत परायो सर्वस करै कपट की प्रीति ॥
ज्यौं षटपद अंबुज के दल मे बसत निसा रति मानि।
दिनकर उए अनत उड़ि बैठे फिर न करत पहिचानि ॥
भवन भुजग पिटारे पाल्यो ज्यो जननी जनि तात।
कुल-करतूति जानि नहि कबहूँ सहज सो डसि भजि जात ॥
कोकिल काग कुरंग स्याम की छन छन सुरति करावत।
सूरदास प्रभु को मुख देख्यो निसदिन ही मोहि भावत ॥२६९॥

शब्दार्थ—रीति=ढग। सर्वस=सब कुछ। अंबुज=कमल। रति=प्रेम।

उए=उदय हुए। अनत=अन्य कही। भुजग=साँप। जनि=जन्म लेकर। डसि=डक मार कर। कुरंग=हरिण। सुरति=याद।

प्रसग—उक्त पद मे गोपियाँ कृष्ण की कठोरता, स्वार्थपरता पर व्यग्य करने के लिए काले रग वालो के स्वभाव आदि का उल्लेख करते हुए कृष्ण के प्रति अपने प्रेम को व्यक्त करती है।

व्याख्या—हे भ्रमर! काले रग वाले सभी जीवो का एक ही स्वभाव होता है कि पहले प्रेम बढ़ा कर फिर प्रेमी जनो का सब कुछ हर लेते है। उनका प्रेम छल कपट पर आधारित होता है। जिस प्रकार रात होने पर भ्रमर कमल की पखुड़ियो मे ही वन्दी हो जाता है, उसका प्रेम कमल के प्रति इतना अधिक दिखाई देता है जिसे लोग आदर्श प्रेम मान लेते है किन्तु सूर्योदय होने के साथ ही जब कमल खिलता है तो भ्रमर उसमे से उड जाता है, पुन. लौट कर उस कमल की ओर नही आता। उसी प्रकार कृष्ण गोकुल मे रहे, हम सबके मन मे बसे, किन्तु फिर हमारा सर्वस्व लेकर मथुरा चले गये है, लौट कर हमारी दशा देखने नही आये। यह सब उनके काले रग का ही स्वभाव है। यह कपट व्यवहार भ्रमर के समान ही है।

जिस प्रकार सपेरा साँप को पिटारे मे रखकर इस प्रकार पालता है जैसे माँ अपने पुत्र को जन्म देकर पालती है, किन्तु काले रग वाला सर्प अपने वश का प्रभाव कभी नही छोडता, मौका मिलते ही उस पालन करने वाले को डस कर चला जाता है। कोयल भी स्वार्थ पूर्ण करने के बाद कौए के घोसले को त्याग कर उड़ जाती है। इसी प्रकार कृष्ण ने भी हम सबसे जो व्यवहार किया है, विश्वासघात किया है, हमे त्याग दिया है। यह सब उसके काले होने के कारण ही है। कोयल, कौए और हिरण को देखकर हर समय कृष्ण की याद आती रहती है। किन्तु यह सब होकर भी सूरदास जी कहते है कि प्रभु के उस मुख को देखने के लिये हर समय आकुलता बढती रहती है। हम सभी उनके रूप सौन्दर्य के चिन्तन मे रात दिन मग्न रहती है।

विशेष—प्रस्तुत पद मे गोपियो ने कृष्ण के श्याम वर्ण को लेकर जिस प्रकार से व्यग्य किया है, उन्हे कपटी, स्वार्थी, निर्दयी आदि घोषित किया है और अत मे उन्ही के लिये आकुलता प्रकट की है यह सब गोपियो के अनन्य प्रेम का ही परिचायक है।

अलंकार—(१) 'मन दै हरत······रति मानि'—उपमा।
(२) 'कोकिल······स्याम की'—अनुप्रास।
(३) 'छनछन······करावत'—वीप्सा।

मधुप ! तुम कहा यहै गुन गावहु।
यह प्रिय कथा नगर-नारिन सो कहौ जहाँ कछु पावहु॥
जानत मरम नदनंदन को और प्रसंग चलावहु।
हम नाही कमलिनि-सी भोरी करि चतुराई मनावहु॥
जनि परसौ अलि ! चरन हमारे बिरह-ताप उपजावहु।
हम नाही कुबजा-सी भोरी, करि चातुरी दिखावहु॥
अति विचित्र लरिका की नाई गुर दिखाय बहरावहु।
सूरदास प्रभु नागरमनि सों कोउ बिधि आनि मिलावहु॥२७०॥

शब्दार्थ—मरम=भेद। प्रसग=वात। भोरी=भोली। जनि=नही। परसो=छुओ। लरिका=बच्चा। नाई=समान। गुर=गुड़। नागरमनि=पुरुष श्रेष्ठ। विधि=ढग।

प्रसंग—प्रस्तुत पद मे गोपियाँ उद्धव के ज्ञानोपदेश का तिरस्कार करती हुई उनसे श्रीकृष्ण के दर्शन करवाने का आग्रह करती हैं।

व्याख्या—हे भ्रमर ! तुम अपने ज्ञानमार्ग, योगमार्ग का वार-वार बखान कर रहे हो। अपने निर्गुण-ब्रह्म के गुणो का गान कर रहे हो, यह कथा हमे अच्छी नही लगती। हमे तो सगुण साकार कृष्ण की भक्ति के अतिरिक्त कुछ भी समझ मे नही आता। तुम अपने निर्गुण-ब्रह्म तथा तत्सम्बन्धी ज्ञान को नगरवासी स्त्रियो को सुनाओ, शायद वही तुम्हे इस कथा को समझने वाली मिल जायेगी। तुम नन्दनन्दन श्रीकृष्ण का कोई रहस्य जानते हो तो इस प्रसग को छोडकर कुछ और बात सुनाओ। हम चिकनी चुपड़ी बातो मे नही फसेगी। हम उन कमलिनियो के समान भोली नही जिन्हे अपनी मधुर गुजार सुनाकर तुम खिला लेते हो। उन्हे भरमा कर मडराने लगते हो। हमे तो केवल कृष्ण और उसकी भक्ति के अतिरिक्त कुछ भी आकर्षक नही लगता।

हे भ्रमर ! तुम हमारे पैरो पर मडरा रहे हो, हमे स्पर्श मत करो, क्योकि यह स्पर्श विरह-सताप को उत्पन्न करता हे। हम उस कुब्जा के समान भोली-भाली नही जिसे कृष्ण ने अपनी मीठी-मीठी बातो को फुसला लिया है।

यहाँ तुम्हारी कोई चालाकी काम नही आयेगी। जिस प्रकार कोई व्यक्ति किसी बच्चे को मिठाई दिखाकर बहकाने का यत्न करता है उसी प्रकार तुम्हारा यह उपदेश अनोखा है लेकिन हमारे मन पर इसका कुछ भी असर नहीं हो सकता। हे उद्धव ! इन व्यर्थ की बातो को छोड़कर कोई ऐसा उपाय करो जिससे ससार के सभी पुरुषो मे श्रेष्ठ श्रीकृष्ण से हमारा मिलन हो सके। किसी भी प्रकार उन्हे मिलाने की कृपा करो।

विशेष—प्रस्तुत पद मे रागानुगाभक्ति की अनुगामिनी गोपियो का आग्रह, व्यग्य और कृष्ण के प्रति अनन्यता का सफल प्रतिपादन हुआ है। भ्रमर कमल, कुब्जा आदि के सकेत से व्यग्य मे सजीवता और मार्मिकता की वृद्धि हो गई है।

अलकार—(१) सम्पूर्ण पद मे मालोपमा।
(२) 'यह प्रिय ...कछु पावहु'—अनुप्रास।

मधुकर ! पीत बदन किहि हेत ?
जनु अतरमुख पांडु रोग भयो जुबतिन जो दुख देत ॥
रसमय तन मन स्याम-धाम सो ज्यो उजरो संकेत।
कमलनयन के बचन सुधा से करट घूँट भरि लेत ॥
कुत्सित कटु बायस सायक सो अब बोलत रसखेत ?
इन चतुरी तें लोग बापुरे कहत धर्म को सेत ॥
माथे परो जोगपथ तिनके वक्ता छपद समेत।
लोचन ललित कटाच्छ मोच्छ बिनु महि में जिएँ निचेत ॥
मनसा बाचा और कर्मना स्यामसुंदर सों हेत।
सूरदास मन की सब जानत हमरे मनहिं जितेत ॥२७१॥

शब्दार्थ—पीत बदन=पीला मुख। किहि हेत=किस लिये। जनु=मानो। पाडु रोग=पीलिया। उजरो=उजड़ा हुआ, सुनसान। सकेत=मिलन स्थल। करट=कौआ। कुत्सित=घृणित। बायस=कौआ। सायक=तीर। रसखेत=प्रेम क्षेत्र। बापुरे=वेचारे। सेत=पुल। छपद=भ्रमर। ललित=कोमल। मोच्छ=मुक्ति। निचेत=अचेत। कर्मना=कर्म से। हेत=प्रेम। जितते=जितना।

प्रसग—उद्धव द्वारा दिये गये सदेश पर सदेह करती हुई गोपियाँ उद्धव

का उपहास करती है, उसके ज्ञान मार्ग और योग-साधना की अपेक्षा अपने भक्तिमार्ग का महत्व स्पष्ट करती हुई उद्धव को कहती हैं कि—

व्याख्या—हे मधुकर ! हमें ज्ञानमार्ग का उपदेश करते हुए तुम्हारा मुख पीला क्यो हो रहा है ? ऐसा प्रतीत होता है कि युवतियो, गोपियो को दु ख देते हुए तुम्हारे हृदय मे पीलिया रोग हो गया है, जिसकी झलक तुम्हारे मुख पर मिल रही है। भ्रमर के सिर पर एक पीला सा चिह्न होता है, उद्धव पीताम्बर धारण किये हुए है जिसकी झलक उनके मुख पर पीलेपन की झलक दिखाती है, गोपियाँ उसे उद्धव के हृदय मे चल रही दुविधा के कारण दुर्वलता का चिह्न मानती हैं। गोपियाँ ज्ञान और योग के उपदेश को दुख का कारण मानती हैं, और दुख देने वाले उद्धव के लिये पश्चाताप का कारण भी मानती है। हे उद्धव ! श्यामसुन्दर के वियोग मे हमारे मिलन के जो स्थान थे वे सभी उजड़ गये है, कृष्ण जव यहाँ थे तो सभी का तन-मन प्रेम की सरसता से ओतप्रोत था, उस समय कमल से सुन्दर नयनो वाले कृष्ण के अमृतमय वचन सुनाई देते थे तो कौए की कर्कश ध्वनि भी उसमे विलीन सी हो जाती थी। किन्तु आज प्रेम, भक्ति और रसमयता की भूमि व्रजभूमि मे ज्ञान और योग की ये नीरस बाते कौए की घृणित, कठोर बातो के समान तीर वनकर हमारे हृदय मे लगती है। तुम भी शरीर से कृष्ण के समान दिखाई देते हो किन्तु तुममे वह सरसता नही जो श्रीकृष्ण मे थी। क्या कृष्ण की इसी चतुरता, कठोरता और स्वार्थपरता के कारण ही वेचारे लोग उन्हें धर्म का सेतु कहते है, मुक्तिदाता मानते है। जवकि हम उन्हे तन-मन-प्राण से प्रेम करती थी किन्तु हमारे भाग्य में हमें यह योगमार्ग मिला है जिसके उपदेशक भ्रमर सहित आप वने हुए हैं। इसे भाग्य की विडम्वना ही कहना होगा जो हमे योगमार्ग का उपदेश सुनना पड़ रहा है। किन्तु उद्धव यह याद रखो कि जव तक श्रीकृष्ण के दर्शन नही होते तव तक जगत् मे हमारा जीवन निष्प्राण सा ही है। केवल कृष्ण की कृपा कटाक्ष से हमारी मुक्ति होगी। जव वह कृपा दृष्टि हमे मिलेगी, उनके सुन्दर नेत्रो के एक सकेत से ही हमे मोक्ष मिल जायेगा, हमें ज्ञानमार्ग, निर्गुण-ब्रह्म तथा योग साधना की कोई आवश्यकता नही है। हम सव तो मन, वचन और कर्म से श्यामसुन्दर से प्रेम करती है, उसी के ध्यान मे मग्न रहती है। हमारे मन मे जो कुछ

भी है, जिस प्रकार का भी प्रेम है, जो भी गुण अथवा दोष है, सभी को श्रीकृष्ण भलीभाँति जानते हैं। हमे किसी अन्य साधना अथवा मार्ग की आवश्यकता नही।

विशेष—प्रस्तुत पद में गोपियो के रागानुगाभक्ति तथा पुष्टिमार्ग के सिद्धान्तों का सफल चित्रण है। गोपियाँ तन-मन से कृष्ण के लिये समर्पित है। कृष्ण की दृष्टि से ही मुक्ति प्राप्त हो सकती है। भक्त हृदय में बसे, प्रेम से स्वय भगवान भी प्रेरित होते है और भक्तो का कल्याण करते है। उद्धव का मुख पीला पड़ने का सकेत यही ध्वनित करता है कि उसका मन दुविधा में उलझा हुआ है, वह अपनी बात में विश्वस्त नही इसलिये उसके चेहरे पर घबराहट दिखाई देती है। सूरदास ने अपने भक्ति सिद्धान्त के साथ मानवीय भावों का कलात्मक चित्रण किया है।

अलंकार—(१) 'जनु अतरमुख······दुःख देत'—उत्प्रेक्षा।
(२) 'रसमय तन······भरि लेत'—उपमा उदाहरण।
(३) 'लोचन······निचेत'—अनुप्रास।

मधुकर! मधु मदमाती डोलत।
जिय उपजत सोइ कहत न लाजत सूधे बोल न बोलत॥
वकत फिरत मदिरा के लीन्हे बारबार तन घूमत।
व्रीडारहित सबन अवलोकत लता-कली मुख चूमत॥
अपनेहू मन की सुधि नाहीं पर्‌यो आन ही कोठो।
सावधान करि लेहि अपनपो तब हम सों करु गोठो॥
मुख लागी है पराग पीक की, डारत नाहिन धोई।
तासों कह कहिए सुनु, सूरज, लाज डारि सब खोई॥२७२॥

शब्दार्थ—मधु मदमाती=मदिरा के नशे मे मस्त। सूधे=सीधे। व्रीड़ा=लज्जा। अवलोकत=देखते हुए। आन ही=अन्य। अपनपो=अपनापन। गोठो=गोष्ठी, वार्तालाप। पराग=सुगन्धि। कह=क्या।

प्रसंग—प्रस्तुत पद में गोपियो ने उद्धव के उपदेश को कुत्सित, बहक और अनर्गल सिद्ध करने के लिये उद्धव की निन्दा की है, उसे भली-बुरी, जली कटी बाते कही हैं।

व्याख्या—हे मधुकर ! तुम फूलो की सरसता का पान करके उसी की मस्ती मे घूम रहे हो, तुम्हे अपनी सुधबुध नही रही। जिस प्रकार कोई शराबी उसकी मस्ती मे भटकता है उसे कुछ होश नही रहता। वह सीधी और स्पष्ट बात नही कह पाता, उसके मन मे जो कुछ भी होता है बोलता रहता है। जिस प्रकार भ्रमर निर्लज्ज होकर लता, कलियो के मुख को चूमता है, सबको देखता हुआ भटकता रहता है, जिस प्रकार शराबी का शरीर पर बस नहीं रहता, वह लज्जा मर्यादा का त्याग कर जो कुछ मुँह मे आये बकता रहता है उसी प्रकार तुम भी शायद किसी नशे की मस्ती में रहकर हमे बार-बार यह उपदेश दे रहे हो। जो हमारे लिए उपयुक्त नही। उद्धव तुम्हे अपनी सुध-बुध नही, तुम अपनेपन मे नही हो और शायद भटक कर किसी अन्य स्थान पर आ गए हो, पहले अपनेपन को सम्भाल लो फिर हमारे से गोष्ठी, वार्तालाप करना। भ्रमर के मस्तक पर पीले निशान, उद्धव के मुख पर लगी पान की लालिमा आदि का संकेत करती हुई गोपियाँ कहती है कि हे भ्रमर ! तुम्हारे मुख पर उस मस्ती के कारण का चिह्न है, तुम्हारे मुख पर उस सुगन्धि का निशान लगा हुआ है। पहले तुम अपने मुँह को धोलो। अन्यथा जो अपनी लाज शर्म आदि को धो लेते है उन्हे क्या कहा जा सकता है। जो निर्लज्ज हो उसे समझाना भी व्यर्थ है।

विशेष—इसमे गोपियो ने उद्धव के उपदेश को पागल का प्रलाप, शराबी की बहक आदि कहकर उसकी बहुत भर्त्सना की है। वस्तुतः गोपियों के ये कठोर वचन भी कृष्ण के प्रति उनकी अनन्यता के परिचायक हैं।

अलकार—(१) 'बकत फिरत......घूमत'—वीप्सा।
(२) 'क्रीडा रहित......चूमत'—रूपक।
(३) 'तासो कहत......सब खोई'—लोकोक्ति।

मधुकर ! ये सुनु तन मन कारे।
कहूँ न सेत सिद्धताई तन परसे है अंग कारे॥
कीन्हो कपट कुंभ विषपूरन पयमुख प्रगट उघारे।
बाहिर बेष मनोहर दरसत, अंतरगत जु ठगारे॥
अब तुम चले ज्ञान-विष ब्रज दै हरन जु प्रान हमारे।
ते क्यो भले होंहि सूरज प्रभु रूप, बचन कृत कारे।।२७३॥

शब्दार्थ——सेत=श्वेत। सिद्धताई=सिद्धि; प्राप्ति। परसे=स्पर्श किए। कुँभ=घड़ा। विषपूरन=विष से भरा हुआ। पयमुख=दूध के मुख वाला। ठगारे=ठग। कृत=कर्म।

प्रसंग—प्रस्तुत पद मे काले रग वालों के स्वभाव का वर्णन करते हुए गोपियाँ उद्धव और उसके ज्ञान मार्ग को छल और कपट कह कर व्यग्य करती हैं।

व्याख्या——हे भ्रमर! सुनो, ये जो काले रग वाले हैं ये सभी शरीर और मन से भी काले, स्वार्थी, छली और कपटी होते है। कृष्ण, अक्रूर, उद्धव, भ्रमर, कोयल आदि सभी का रग काला है और सभी के व्यवहार कठोरता, निर्ममता एव स्वार्थपरता से परिपूर्ण हैं। इनमे सफेदी उदारता, कोमलता आदि का चिन्ह भी प्राप्त नही होता। उद्धव का वेष और रग आदि सभी आकर्षक है किन्तु हृदय से यह भी धोखेबाज है। ब्रजवासियो को निर्गुण-ब्रह्म और योगमार्ग का उपदेश देने वाले उद्धव तो उस घडे के समान है जो बाहर से तो बहुत सीधे सादे सरल दिखाई देते है, दूध मुँहे से लगते है किन्तु जिनका अन्तर्मन जहर से भरे घडे के समान है। हे उद्धव! तुम ब्रजभूमि मे, ब्रजवासियो के हृदय मे ज्ञान रूपी विष के बीज बोकर हमारे प्राण छीन लेना चाहते हो, इसमे तुम्हारा क्या दोष है? जो शरीर से काले होते है उनके रूप रग, आकार, प्रकार और कर्म भी वैसे ही होते हैं। जो मन; वचन, कर्म से स्वार्थी धोखेबाज हो उनसे और क्या आशा की जा सकती है।

विशेष—प्रस्तुत पद मे श्रीकृष्ण के काले रंग और उद्धव से उसका साम्य दिखाकर गोपियो ने अपनी प्रेम-भावना को ही व्यक्त किया है। काले रंग वाले विभिन्न जीवो का नाम लेकर उनके स्वभाव का सहज चित्रण करने में कवि को पूर्ण सफलता मिली है।

अलंकार——(१) सम्पूर्ण पद मे रूपक।

(२) 'कीन्हो कपट···उघारे'—अनुप्रास।

मधुकर! तुम रसलंपट लोग।

तुम चंचल हौ, चोर सकल अँग बातन क्यों पतियात ?
सूर विधाता धन्य रच्यो जो मधुप स्याम इकगात ॥२७४॥

शब्दार्थ—रस लंपट=रस का लोभी। कमलकोस=कमल के मध्य। निमिष=पल। पुहुप=पुष्प। बहुरै=फिर। बेलिन=लतायें। नेकु=कुछ। नेरे=समीप। पतियात=विश्वास करना। इकगात=समान शरीर।

प्रसंग—प्रस्तुत पद में भ्रमर और श्रीकृष्ण को स्वार्थी, कपटी और रस-लोभी कह कर गोपियो ने दोनो की कथनी और करनी मे अन्तर दिखाया है। उद्धव पर भ्रमर और कृष्ण के माध्यम से व्यग्य किया है।

व्याख्या—हे मधुकर ! तुम सभी केवल रस लोभी और स्वार्थी हो, तुम्हारी, कृष्ण और स्वयं उद्धव की कथनी और करनी मे भेद है। तुम सभी जो कहते हो, उससे उलटे चलते हो। स्वय कमल की पखुड़ियो मे रह कर निरन्तर सरसता का आस्वादन करते रहते हो और हमे सासारिक विषयो से विरक्त रहने वाले योगमार्ग का उपदेश देते हो। जो स्वयं भोग मे लीन रहता है उसका उपदेश केवल पाखड ही है। उद्धव ! तुम भी तो अपने कार्य की सिद्धि के लिए, हमे ज्ञान और योग का उपदेश देने के लिए व्रज में घूम रहे हो और एक क्षण भर के लिए भी थकावट महसूस नही करते, इसका भी यही कारण है कि तुम्हारा मन न तो उस काम मे रस अनुभव करता है और न ही तुम हम सबके मन की दशा का अनुभव करते हो। इसका एक ही कारण है कि तुम स्वार्थी, लोभी और कठोर हो। भ्रमर फूलो का रसपान करता रहता है, उन्ही मे मग्न रहता है किन्तु जब फूल मुरझा जाते हैं, उनका रस समाप्त हो जाता है तो भ्रमर उन लताओ के पास भी नही जाता, उसी प्रकार तुम भी स्वार्थी, चचल और रसलोभी हो, तुम्हारी बातो पर कौन विश्वास कर सकता है ? कौन कह सकता है कि तुम्हारे उपदेश को स्वीकार कर लेने पर हम सभी को सुख मिलेगा ? वास्तव मे वह विधाता धन्य है जिसने श्रीकृष्ण और भ्रमर को एक-सा शरीर दिया है, दोनो का स्वरूप और स्वभाव एक-सा बनाया है।

विशेष—प्रस्तुत पद मे गोपियो का व्यग्य सहज और मर्मस्पर्शी रूप मे प्रकट हुआ है। भ्रमर के स्वभाव से कृष्ण और दोनों के द्वारा उद्धव की जिस ढग से प्रतारणा की गई है उसमे गोपियो के निश्छल प्रेम की झलक मिलती है।

अलंकार—सम्पूर्ण पद मे अतिशयोक्ति और अप्रस्तुतप्रशंसा।

मधुकर ! कासों कहि समझाऊँ ?
अँग अँग गुन गहे स्याम के, निर्गुन काहि गहाऊँ ?
कुटिल कटाक्ष बिकट सायक सम, लागत मरम न जाने।
मरम गए उर फोरि पिछौंहै पाछे पै अहटाने॥
घूमत रहत सँभारत नाहिन, फेरि फेरि समुहाने।
टूक टूक ह्वै रहे ढोर गहि पाछे पग न पराने॥
उठत कबंध जुद्ध जोधा ज्यों बाढ़त संमुख हेत।
सूरस्याम अब अमृत-बृष्टि करि सींचि प्रान किन देत ?॥२७५॥

शब्दार्थ—गहे=ग्रहण किए। कुटिल=टेढे। कटाक्ष=आखो के संकेत। सायक=तीर। मरम=भेद। फोरि=फोड़ कर। पिछौहै=पीछे की ओर। अहटाने=आहट मिलना। समुहाने=सामने से। टूक-टूक=टुकड़े-टुकड़े। ढोर=साथ। पराने=भागे। कबध=सिर के बिना धड। किन=क्यो।

प्रसंग—प्रस्तुत पद मे गोपियाँ अपने अनन्य प्रेम और बिरह की पराकाष्ठा का उल्लेख करती हुई, श्रीकृष्ण के दर्शनो की इच्छा अत्यन्त दीन भाव से प्रकट करती हुई कहती है।

व्याख्या—हे मधुकर ! हम अपनी विरह-व्यथा किसको समझाये ? हमारी भावना को कौन समझ सकता है, क्योकि हमारे शरीर का प्रत्येक कण श्याम-मय हो चुका है, उसी के रग मे रगा हुआ है, श्यामसुन्दर के साथ जो समय व्यतीत किया है उसकी स्मृति सर्वत्र छायी हुई है, इसीलिए इस शरीर को, जीवन अथवा प्राणो को निर्गुण-ब्रह्म को कैसे सौप सकती है। सगुण कृष्ण की उपासना छोड कर निर्गुण ब्रह्म की साधना कैसे हो सकती है ?

जब श्रीकृष्ण यहाँ थे, उनके साथ क्रीडा करते हुए उनकी चितवन के तीर इतने तीक्ष्ण थे कि उनका रहस्य हम जान न सकी। कृष्ण की मनोहारी छवि और आंखो की चंचलता ने हमारे मन अपने वश में कर लिये। उनकी चितवन के तीर हमारे हृदय को विदीर्ण कर पीठ तक पहुँच गए, जब तक श्रीकृष्ण यहाँ रहे तब तक तो हमे किसी प्रकार की व्यथा का अनुभव नही हुआ था किन्तु जब वे मथुरा चले गए तो हमें उस पीड़ा का पता चला। हमारा हृदय

तो हमेशा उसके पीछे चलता रहा किन्तु जब वे हमें छोड़ कर चले गए तभी हमे इस व्यथा की आहट मिली है।

कृष्ण के कटाक्ष रूपी तीरों ने हमें इतना वेसुध बना दिया कि हम बार-बार पीठ तक पहुँचे घावो को देखने के लिए आकुल हो उठी, कृष्ण के कटाक्षो अथवा उनके बहाने कृष्ण के दर्शन करने के लिए हमने बहुत प्रयास किया किन्तु उनके दर्शन नही हुए । उन कटाक्षो से मन, प्राण अथवा शरीर टुकडे-टुकडे हो गया फिर भी उन्होने घावो का साथ नही छोडा, कृष्ण के प्रति मोह का त्याग नही किया । जिस प्रकार युद्ध क्षेत्र मे किसी योद्धा का मस्तक कट जाने पर भी उसका शरीर आगे ही बढता जाता है, वीर योद्धा का शरीर-पाँव-पीछे नही लौटाता उसी प्रकार हम सभी कृष्ण के कटाक्ष रूपी तीरो से घायल होने, विरह व्यथा मे अत्यधिक संतप्त होने पर भी उसके दर्शन करने को आतुर हैं। हे उद्धव ! हमारी यह दशा जान कर भी श्यामसुन्दर हमें दर्शन देकर, दर्शनो के अमृत की वर्षा करके हमे जीवन प्रदान क्यो नही करते । हम पर दया करके दर्शन क्यो नही देते ?

विशेष—प्रस्तुत पद मे गोपियो की विरह-व्यथा का चित्रण अत्यन्त मार्मिक रूप मे हुआ है । मिलन समय का आनन्द वियोग की घडियो मे स्मृति बन कर अधिक मार्मिक हो जाता हे । कवि ने युद्धक्षेत्र मे वीर योद्धा का रूपक प्रस्तुत करके गोपियो के प्रेम की अनन्यता को साकार कर दिया है ।

अलकार—(१) 'कुटिल कटाक्ष'''न जाने'—उपमा ।

(२) 'अग अग गुण, फेरि फेरि समुहाने, टूक टूक मे'—पुनरुक्तिप्रकाश ।

(३) सम्पूर्ण पद मे सागरूपक की सफल योजना ।

मधुप ! तुम देखियत हो चित कारे ।
कालिंदी तट पार बसत हौ, सुनियत स्याम-सखा रे !
मधुकर, चिहुर, भुजंग, कोकिला अवधिन ही दिन टारे ।
वै अपने सुख ही के राजा तजियत यह अनुहारे ।।
कपटी कुटिल निठुर हरि मोही दुख दै दूरि सिधारे ।
बारक बहुरि कबै आवैगे नयनन साध निवारे ।।
उनकी सुनै सो आप बिगोवै चित चोरत बटमारे ।
सूरदास प्रभु क्यों मन मानै सेवक करत निनारे ।।२७६।।

शब्दार्थ—देखियत=दीखते हो। चिहुर=बाल। टारे=व्यतीत किए। तजियत=छोड़ देते। अनुहारे=समान। निठुर=कठोर। वारक=एक बार। बहुरि=पुन.। साथ=इच्छा। बिगोवैं=बिगाड़े। बटमारे=लुटेरे। निनारे=अलग।

प्रसग—प्रस्तुत पद में कृष्ण के स्वार्थी, कठोर और कपट पर व्यंग्य करती हुई गोपिया उनके प्रति अपने प्रेम की अभिव्यक्ति करती हैं।

व्याख्या—हे मधुकर ! तुम भी अपने रूप और गुण से, शरीर और मन से काले ही दिखाई देते हो। तुम्हारा स्वभाव भी कृष्ण के समान ही कठोर और स्वार्थी है। हमने सुना है कि तुम यमुना के उस पार वसी हुई मथुरा नगरी के वासी हो और श्यामसुन्दर के घनिष्ठ मित्र हो, इसलिए यह स्वाभाविक ही है कि तुम्हारा स्वभाव भी कृष्ण के अनुकूल हो। भ्रमर, काले घुघराले केश, सर्प और कोयल आदि सभी काले रग वाले है, सभी अपने स्वार्थ को महत्व देने वाले है। कुछ अवधि विशेष तक साथ देने के पश्चात् कृष्ण के समान ही छोड कर चले जाते है। अपना मतलब पूरा करते ही सुख साधन के स्वामी होते ही छोड़ कर चल देते है। भ्रमर फूलों से रसपान करने तक, केश यौवन रहने तक, कोयल उडने की क्षमता पाने तक ही साथ देते है उसके पश्चात् तो घूम कर देखते भी नही।

श्रीकृष्ण कपटी, कठोर और कुटिल है, पहले तो उन्होंने हमारे मन को मोहित कर लिया और अब हमे वियोग का दुख देकर वें यहाँ से वहुत दूर मथुरा मे चले गए है। न जाने वह कृष्ण अब कब आकर दर्शन देकर हमारी आँखो की अभिलाषा पूर्ण करेंगे। हमारी एकमात्र इच्छा कृष्ण दर्शन करने की है। श्रीकृष्ण तो अपनी रूप माधुरी दिखा कर दूसरो के मन को उसी प्रकार चुरा लेते है जिस प्रकार लुटेरे धोखे से राहगीरो को लूट लेते हैं, इसलिए उद्धव तुम्हारे द्वारा दिए गए कृष्ण के सदेश-योगमार्ग की साधना को जो भी मान लेगी वह तो अपना ही अनिष्ट कर लेगी। हमारा मन यह बात स्वीकार नही करता कि श्रीकृष्ण अपने सेवकों को अपने से अलग कर देंगे। भगवान् भक्तों का त्याग नही करते। प्रियतम प्रियतमा को विलग नही कर सकता।

विशेष—इस पद में गोपियो ने कृष्ण मे अनेक दोषो का उल्लेख

किया है । उन्हें स्वार्थी, कपटी आदि सिद्ध किया है किन्तु वास्तव में यह प्रेमानुभूति की प्रगाढ़ता की ही अभिव्यक्ति है. पद के अन्त में श्रीकृष्ण के प्रति गोपियों का विश्वास उसी की पूर्णता प्रदर्शित करता है ।

अलंकार—(१) 'मधुकर···दिन टारे'—दीपक ।

(२) 'कपटी कुटिल···निवारे'—अनुप्रास ।

मधुकर ! को मधुवनहिं गयो ?
काके कहे सँदेस लै आए, किन लिखि लेखु दयो ?
को वसुदेव-देवकीनंदन, को जदुकुलहि उजागर ?
तिनसों नहिं पहिचान हमारी, फिरि लै दीजो कागर ॥
गोपीनाथ, राधिकावल्लभ, जसुमति - नंद - कन्हाई ।
दिन प्रति दान लेत गोकुल में नूतन रीति चलाई ॥
तुम तौ परम सयाने ऊधो ! कहत और की औरै ।
सूरजदास पथ के वहँके बोलत हौ ज्यो बौरे ॥२७७॥

शब्दार्थ—मधुवनहिं=मथुरा को । काके=किसके । लेखु=पत्र । उजागर=प्रसिद्ध । कागर=पत्र । नूतन=नई । बौरे=पागल ।

प्रसग—प्रस्तुत पद मे गोपियाँ उद्धव के ज्ञानमार्ग का उपहास करती हुई और कृष्ण के प्रति अपने प्रेम की अभिव्यक्ति करती हुई कहती है ।

व्याख्या—हे मधुकर ! तुमने अभी तक जो भी कुछ कहा है उससे हमारा कोई परिचय नही, हमे मथुरावासी कृष्ण की जानकारी नही । तुम किसका सन्देश लेकर आये हो ? तुम्हारा सन्देश क्या है ? तुम्हे पत्र लिख कर किसने दिया है ? कौन से कृष्ण मथुरा गये है ? इन सभी बातो को हम नही जानती । वह वसुदेव, देवकी का पुत्र कौन है ? वह लोक-प्रसिद्ध यदुवश कौनसा है ? किस वश के नायक कृष्ण ने तुम्हे यह पत्र दिया है हम उसे नही पहचानती, इसलिए योग-सन्देश तथा निर्गुण-ब्रह्म का प्रतिपादक यह पत्र उन्ही को जाकर लौटा दो । हे उद्धव ! हम तो उस कृष्ण को जानती है जो गोपियो का प्राण धन है, जो राधिका वल्लभ और नन्द-यशोदा का पुत्र है, जो कन्हैया है, जिसने गोकुल मे रहते हुए ऐसी परम्परा चलाई थी कि प्रतिदिन हमसे दधि दान लिया करता था, हमारे साथ तरह-तरह की क्रीड़ाएँ करता था । हे उद्धव ! तुम तो बहुत बुद्धिमान चतुर, नाना विधाओं के ज्ञाता हो किन्तु जो बाते कर रहे हो

उनसे तो यही प्रतीत होता है कि तुम कहना कुछ और चाहते हो किन्तु कह कुछ और रहे हो। कृष्ण का नाम लेकर निर्गुण-ब्रह्म का उपदेश सुन कर तो हमे विश्वास हो गया है कि तुम रास्ता भटक गये हो और पागलों का-सा प्रलाप कर रहे हो।

विशेष—गोपियों ने कृष्ण के जिस रूप को प्यार किया था वह उनका ब्रजवासी रूप था, उसी स्वरूप में उन्हें परमसुख प्राप्त था इसीलिए गोपियो ने मथुरावासी कृष्ण, उसके सन्देश आदि को पहचानने से इन्कार किया है। पद के अन्त में उद्धव को पथ से भटका हुआ अथवा पागल-सा प्रलाप करने वाला कहकर गोपियो ने निर्गुण-ब्रह्म, योगमार्ग और ज्ञानमार्ग का खण्डन किया है।

अलंकार—(१) 'काके कहे...दयो'—अनुप्रास।
(२) 'मधुकर...उजागर'—वक्रोक्ति।
(३) 'तुम तो...बौरें'—उत्प्रेक्षा।

देखियत कालिंदी अति कारी।
कहियो, पथिक! जाय हरि सों ज्यों भई बिरह-जुर-जारी॥
मनो पलिका पै परी धरनि धँसि तरँग तलफ तनु भारी।
तटबारू उपचार-चूर मनो, स्वेद-प्रवाह पनारी॥
बिगलित कच कुस कास पुलिन मनो, पंकजु कज्जल सारी।
भ्रमर मनो मति भ्रमत चहूँ दिसि, फिरति है अंग दुखारी॥
निसिदिन चकई-ब्याज बकत मुख किन मानहुँ अनुहारी।
सूरदास प्रभु जो जमुना-गति सो गति भई हमारी॥२७८॥

शब्दार्थ—कालिंदी=यमुना। बिरह-जुर=वियोग का ज्वर। पलिका=पलग। धरनि=पृथ्वी। तरग=लहर। तटबारू=किनारे की रेत। उपचार-चूर=दवाई का चूर्ण। स्वेद=पसीना। पनारी=धारा। बिगलित=गलता हुआ। कच=कोमल बाल। कुसकास=घासपात। पुलिन=किनारा। पकजु=कीचड़। मति=बुद्धि। चकई-ब्याज=चकवी के बहाने। अनुहारी=समानता।

प्रसंग—वियोगावस्था में विरहिनी को सम्पूर्ण प्रकृति अपने समान दुखी ही दिखाई देती है। कृष्ण वियोग की पीड़ा मे संतप्त गोपियाँ उद्धव के माध्यम से अपनी व्यथा का सन्देश प्रेषित करते हुए यमुना को वियोगिनी रूप में

चित्रित करते हुए अपनी मन·स्थिति को ही प्रकट करती हैं।

व्याख्या—हे पथिक ! तुम जाकर श्रीकृष्ण जी को कह देना कि तुम्हारे वियोग के ज्वर से सतप्त होकर यमुना नदी भी काली हो गई है। जिस प्रकार वियोगिनी अपने प्रिय की याद मे जलते हुए दीन, क्षीण और मलिन हो जाती है उसी प्रकार तुम्हारी याद करती हुई यमुना का रूप भी परिवर्तित हो गया है। जैसे कोई वियोगिनी आकुल-व्याकुल होकर तड़पती है उसी प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि यह यमुना वियोगिनी पलग से धरती पर गिर पडी हो, यमुना की लहरे ही उस वियोगिनी की तड़प को प्रकट करती हैं। उसके किनारे पर पड़ी हुई बालू ही जैसे ओषधि का चूर्ण बन कर बिखरी हुई है, क्षीण सी धारा ऐसी है जैसे वियोगिनी का पसीना प्रवाहित हो रहा है। किनारो पर फैली हुई घासपात उस विरहिनी के केश है, कीचड़ ही जैसे उसकी मलिन काली-सी साडी है। वियोगिनी अपनी पीडा मे सुध-बुध खो चुकी है, यमुना तट के पुष्पो पर मँडराने वाले भ्रमरो की गुंजार मानो उसी की पीडा ध्वनि है, उसका प्रत्येक अग दुख से परिपूर्ण है। चकवी की पीडा भरी आवाज के बहाने यमुना ही अपना दुख प्रकट कर रही है। यमुना के समान ही हमारी दशा क्यो नही समझ लेते। श्रीकृष्ण से जाकर यह निवेदन करना कि वे हमारी दशा को समझ कर हमे दर्शन देने की कृपा करे।

विशेष—प्रस्तुत पद मे गोपियो की व्यथा का चित्रण करने के लिए प्रकृति के उद्दीपन रूप का चित्रण किया गया है। ग्रीष्मकालीन यमुना की क्षीण धारा, उसके विभिन्न रूपो, भ्रमरो की गुंजार, चकवी की पुकार आदि के द्वारा गोपियो की मनःस्थिति का सजीव चित्रण किया गया है। वियोगावस्था की विभिन्न मनोदशाओ-अभिलाषा, उद्वेग, औत्सुक्य, ग्लानि आदि का भी सुन्दर चित्रण किया गया है।

अलंकार—(१) 'कहियो···जारी'—रूपक।
(२) 'मनो पलिका···पनारी'—उत्प्रेक्षा।
(३) 'निसदिन···अनुहारी'—अपह्नुति।
(४) 'विगलित कच···मनो'—अनुप्रास।

सुनियत मुरली देखि लजात।
दूरहि तें सिंहासन बैठे, सीस नाय मुसकात॥

सुरभी लिखी चित्र भीतिन पर तिनहिं देखि सकुचात।
मोरपंख को बिजन बिलोकत बहरावत कहि बात॥
हमरी चरचा जो कोउ चालत, चालत ही चपि जात।
सूरदास ब्रज भले बिसर्यो, दूध दही क्यों खात ? ॥२७६॥

शब्दार्थ—नाय=झुका कर। सुरभी=गाय। भीति=दीवार। बिजन=पखा। चपि जात=दब जाना।

प्रसंग—मथुराधीश कृष्ण पर व्यग्य करती हुई गोपियाँ ब्रजभूमि के उन तत्वो का सकेत करती है जो कृष्ण को अत्यधिक प्रिय थे किन्तु जिन्हे वे भुला चुके थे। प्रस्तुत पद मे कवि ने व्यग्य की सरसता एक नए रूप मे ढाली है।

व्याख्या—हे उद्धव ! हमने सुना है कि श्रीकृष्ण मुरली देखकर लज्जित हो जाते है। यदि उन्हे कोई मुरली दिखा देता है तो वह दूर ही से सिहासन पर बैठे-बैठे सिर झुका कर मुस्करा देते है। उनके महल की दीवारो पर गौओं के चित्र अकित है पर उन्हे देखते ही वह सकुचित हो जाते है। यदि कोई उनको मोर पखो के पखे से हवा करता है तो उसे देखते ही वह बातो मे बहलाने, बहकाने का यत्न करते है। यदि उनके सामने कोई हमारी चर्चा प्रारम्भ करता है, गोप, ग्वाल या गोपियो के विषय मे बात करता है तो वह लज्जा से एकदम दब से जाते है। ब्रजभूमि मे रहते हुए श्रीकृष्ण को मुरली, गौए, मोर-मुकुट तथा गोपियो से अत्यधिक प्रेम था किन्तु जब से वह मथुराधीश बने है उन्होने ब्रजभूमि तथा उससे सम्बद्ध अन्य सभी को भुला दिया है। हे उद्धव ! श्रीकृष्ण ने ब्रजभूमि को भुला दिया है तो कोई बात नही किन्तु वह दूध-दही आदि क्यो खाते हैं ? इनसे भी तो गौओ, ग्वालो, गोपियो आदि का सम्बन्ध है। हमे भुलाने की बात तो तब मानी जाय जब वह दूध-दही आदि को भी त्याग दे।

विशेष—इस पद मे व्यंग्य करती हुई गोपियो के हृदय मे स्थित कृष्ण-प्रेम की सरसता और अनन्यता का परिचय मिलता है। सूरदास जी के प्रायः सभी व्यग्यात्मक पदो के अन्तिम चरण मे इस प्रेम की अनन्यता का प्रतिपादन पुष्टिमार्ग की भावना का परिचायक है।

अलंकार—'हमरी चरचा''क्यो खात'—वक्रोक्ति।

किधौं घन गरजत नहिं उन देसनि ?
किधौं वहि इन्द्र हठिहि हरि बरज्यो, दादुर खाए सेसनि ।।
किधौं वहि देस बकन मग छाँड्यो, घर बूड़ति न प्रवेसनि ।
किधौं वहि देस मोर, चातक, पिक बधिकन बधे बिसेपनि ।।
किधौं वहि देस बाल नहिं भूलति गावत गीत सहेसनि ।
पथिक न चलत सूर के प्रभु पैं जासों कहौं सँदेसनि ।।२८०।।

शब्दार्थ—किधौ=कही, क्या। हठिहि=जबरदस्ती। बरज्यो=मना किया। दादुर=मेढक। सेसनि=साँपो। बकन=बगुलो। घर=पृथ्वी। बधिकन=शिकारियो। बाल=बालिकाये। सहेसनि=सहर्ष।

प्रसंग—श्यामसुन्दर के विरह की व्यथा मे सतप्त गोपियो का दुख वर्षा ऋतु मे बहुत बढ जाता है। वर्षा ऋतु मे सभी मार्ग अवरुद्ध हो गए हैं तो वे अपना सदेशा कैसे भेजेगी, इसी विवशता का चित्रण प्रस्तुत पद मे किया गया है।

व्याख्या हे उद्धव ! क्या उस मथुरा नगरी मे वर्षा ऋतु नही आती, वहाँ पर बादलो की गड़गडाहट सुनाई नही देती अथवा श्रीकृष्ण ने जबरदस्ती देवराज इन्द्र को वहाँ बरसने से रोक दिया है ? क्या मथुरा के सभी मेढको को साँपो ने खा लिया है क्योकि मेढको के टर्राने की आवाज कही नही आती। बादलो तथा वर्षा के न होने के कारण बगुलो ने वहाँ उडना बन्द कर दिया है अथवा वहाँ की धरती पानी मे डूब गई है जोकि कोई भी मार्ग दिखाई नही देता। ऐसा लगता है जैसे वर्षा की पूर्व सूचना देने वाले सभी पक्षियो—मोर, चातक, कोयल आदि को शिकारियो ने मार डाला है क्योकि उनका स्वर कही भी सुनाई नहीं देता। क्या उस देश की बालिकाएँ आनन्द-विभोर होकर गीत गाती हुई भूले नही भूलती जिन्हे देख सुनकर कृष्ण को व्रजभूमि की स्मृति हो सकती। यहाँ तो वर्षा की अधिकता के कारण चारों ओर 'जल' भरा हुआ है, जिससे सभी मार्ग बन्द हो चुके है, हम वर्षाकाल के दृश्यो से अधिक व्याकुल हो उठी हैं, अपने श्याम का दर्शन चाहती है किन्तु कोई ऐसा मार्ग नही जहाँ से कृष्ण को सन्देश भेज सके।

विशेष—इस पद मे गोपियों की आकुलता का मार्मिक चित्रण है। वर्षा-कालीन प्रकृति के दृश्य रतिभाव को उद्दीप्त करते है किन्तु कृष्ण के पास

पहुँचने का, उसे सन्देश भेजने का कोई उपाय न पाकर उनकी विरह-व्यथा और भी तीव्र हो जाती है। इसमे प्रकृति के उद्दीपन रूप का परम्परागत चित्रण हुआ है।

अलंकार—सम्पूर्ण पद मे सदेह अलकार की सफल योजना है।

कोउ सखि नई चाह सुनि आई।
यह व्रजभूमि सकल सुरपति पै मदन मिलिक करि पाई॥
घन धावन, बगपाँति पटो सिर, बैरख तड़ित सुहाई।
बोलत पिक चातक ऊँचे सुर, मनो मिलि देत दुहाई॥
दादुर मोर चकोर बदत सुक सुमन समीर सुहाई।
चाहत कियो बास बृंदावन, बिधि सों कहा बसाई ?
सीवँ न चापि सक्यो तब कोऊ, हुते बल कुँवर कन्हाई।
अब सुनि सूर स्याम-केहरि बिनु ये करिहैं ठकुराई॥२८१॥

शब्दार्थ—चाह=समाचार। सुरपति=इन्द्र। मदन=कामदेव। मिलिक=जागीर। धावन=संदेशवाहक। पटो=पगड़ी। बैरख=पताका। तड़ित=बिजली। बदत=कहना। विधि=विधाता। बसाई=जोर। सीवँ=सीमा। न चाप सक्यो=दबा न सका। स्याम-केहरि=श्याम रूपी सिंह। ठकुराई=शासन।

प्रसंग—वर्षा ऋतु आई और उसके सौन्दर्य को देखकर गोपियो की व्याकुलता बढ गई, प्रत्येक गोपी श्रीकृष्ण से मिलना चाहती है। मिलन की इसी आकाक्षा को लेकर गोपियाँ यह कल्पना करने लगती हैं कि व्रजभूमि पर कामदेव का राज्य स्थापित हो गया है। प्रस्तुत पद मे वर्षा ऋतु को कामदेव के रूप मे चित्रित किया गया है।

व्याख्या—हे उद्धव ! एक सखी यह नया समाचार लाई है कि कामदेव ने सम्पूर्ण व्रजभूमि को देवराज इन्द्र से जागीर रूप मे प्राप्त कर लिया है। अब यहाँ केवल कामदेव का ही राज्य है। आकाश मे उड़ते बादल कामदेव के सदेश-वाहक है, जो आकाश मे उड़ते हुए यह बता रहे हैं कि कामदेव पधारने वाले है, आकाश मे उडते हुए बगलों की पंक्तियाँ ही उन सदेशवाहको की पगड़ी है और सुहावनी, चमकती हुई बिजली ही उसकी ध्वजा है जो सदा ही फहराती रहती है। कोयल, चातक आदि पक्षी ऊँचे-ऊँचे स्वरो मे बोलते हुए मानो

मिलकर अपने शासक का गुणगान कर रहे है। मेढक, मोर, चकोर आदि सभी मिलकर श्री श्यामसुन्दर का गुणगान कर रहे हैं, तोते तथा भक्त सभी मिलकर मन मे प्रेम की तीव्रता की सरसता का आस्वादन कर रहे है। ऐसा प्रतीत होता है जैसे कामदेव अपने दलबल के साथ किसी प्रकार ब्रज मे रुकना चाहता है। यह ठीक है कि कृष्ण के यहाँ न होने पर कामदेव की सत्ता स्थापित हो जावेगी, हम क्या करें भाग्य से किसी का वश नही चलता। कामदेव यदि यहाँ निवास करेगा तो हम सबको बहुत कष्ट होगा। हे उद्धव! जब तक श्रीकृष्ण और बलराम यहाँ थे तब तक तो कामदेव और उसके सेवक ब्रजभूमि की सीमा पार नही कर सके, यहाँ पर उसका प्रभाव न हो सका किन्तु अब यह सुनकर कि श्यामसुन्दर रूपी सिंह ब्रज भूमि मे नही है कामदेव रूपी हाथी अपनी प्रभुता स्थापित करना चाहता है। अब यह ब्रजवासियो को निरन्तर दुख देता रहेगा और हमे भाग्यवश उसे सहना होगा।

विशेष—इस पद मे गोपियों की आकुलता का आकर्षक चित्रण हुआ है। जब तक कृष्ण ब्रज मे थे तब तक सभी की भावनाएँ उन्ही मे केन्द्रित रहती थी। कामदेव किसी भी प्रकार प्रभाव नही कर सकता था, किन्तु उनके चले जाने के पश्चात् तो सभी तत्व दुखदायी हो गए है। वर्षा ऋतु पहले तो सुखद होती थी किन्तु वियोगावस्था मे तो वह सतप्त ही करती है। प्रकृति के उद्दीपन रूप को अलकारिक शैली मे प्रस्तुत करने मे कवि-कल्पना और रचना-चातुर्य दर्शनीय है।

अलकार—(१) सम्पूर्ण पद में—सागरूपक।
(२) 'दादुर मोर···सुहाई'—अनुप्रास।
(३) 'बोलत पिक···दुहाई'—उत्प्रेक्षा।

बरु ये बदराऊ बरसन आए।
अपनी अवधि जानि, नदनंदन! गरजि गगन घन छाए॥
सुनियत है सुरलोक बसत सखि, सेवक सदा पराए।
चातक-कुल की पीर जानि कै तेउ तहाँ तें धाए॥
द्रुम किए हरित, हरषि बेली मिलि, दादुर मृतक जिवाए।
छाए निविड़ नीर तृन जहँ तहँ पंछिन हूँ प्रति नाए॥

समझति नहिं सखि ! चूक आपनो बहुतै दिन हरि लाए।
सूरदास स्वामी करुणामय मधुबन बसि बिसराए ॥२८२॥

शब्दार्थ—बदराऊ=बादल। पराए=दूसरे के। द्रुम=वृक्ष। दादुर=मेढक। निविड़=घनी। चूक=भूल। मधुबन=मथुरा।

प्रसग—वर्षा ऋतु आ गयी किन्तु कृष्ण नही आए तो गोपियां बादलो की प्रशसा करती हुई कृष्ण के स्वभाव तथा विलम्ब करने पर अपने भाव प्रकट करती हैं।

व्याख्या—हे सखी ! देखो यह बादल बरसने आ गए है, पृथ्वी पर ग्रीष्म सताप की वृद्धि, चातक, मोर आदि की पुकार को सुनकर उनके मन को प्रसन्न करने के लिए वर्षाकाल के बादल अपने निश्चित समय पर आ गए है, किन्तु नन्दनन्दन श्रीकृष्ण व्रज लौट आने की जो अवधि कह गए थे वह समाप्त होने पर भी नही लौटे। हे सखी ! ऐसा सुना है कि ये बादल देवलोक मे रहते हैं और सदा दूसरों के आधीन रहते है। इन्द्र देवता के अधीन कार्य करते है क्योंकि ये इतने उदार, दयालु और करुणामय हैं कि चकवा-चकवी आदि की पीडा का अनुभव करते हुए ये सुरलोक से भी आ गए है। बादलो ने प्रेमी-हृदयो की व्यथा को समझा और उनके मन को प्रसन्न करने के लिये आ गए किन्तु कृष्ण वापिस लौटकर नही आए।

बादल आये और उनकी सरसता पाकर वृक्ष हरे भरे हो गए हैं, लतायें भी वृक्षो से मिलकर प्रसन्नता से खिल पड़ी है, गर्मियो के कारण जो जीव निष्प्राण से हो गए थे, वे मेढक जैसे मृतक थे किन्तु वर्षा-जल का स्पर्श पाकर जीवित हो उठे है, चारो ओर उनकी ध्वनि गूँज रही है। वर्षा होने पर चारो ओर घनी हरियाली छा गई है, जल पाकर घास घनी हो गई है और जहा तक पक्षी क्रीडा करते दिखाई देते हैं मानो जल पाकर उनका मन तृप्त हो गया, खुशी मे नाचने लगे है। किन्तु हे सखि ! मुझे अपनी भूल अभी तक ज्ञात नही हो सकी जिसके लिए श्रीकृष्ण मथुरा मे रहने लगे हैं और उन्होने हमे भुलाकर जैसे अपना सम्बन्ध ही समाप्त कर दिया है।

विशेष—इसमे कृष्ण के प्रति गोपियो की आकुलता का सरस और प्रभावशाली चित्रण किया गया है। प्रकृति के उद्दीपन रूप का ही चित्रण किया गया है।

अलंकार—(१) 'बरू ये···छाए'—अनुप्रास ।
(२) 'सुनियत···हरि लाए'—उत्प्रेक्षा ।

परम वियोगिनि गोविंद बिनु कैसे बितवैं दिन सावन के ?
हरित भूमि, भरे सलिल सरोवर, मिटे मग मोहन आवन के ॥
पहिरे सुहाए सुवास सुहागिनि-झुंडन झूलन गावन के ।
गरजत घुमरि घमण्ड दामिनी मदन धनुष धरि धावन के ॥
दादुर मोर सोर सारंग पिक सोहैं निसा सूरमा बन के ।
सूरदास निसि कैसे निघटत त्रिगुन किए सिर रावन के ॥२८३॥

शब्दार्थ—बितवैं=व्यतीत करे । सलिल=जल । मग=मार्ग । सुहाए=सुहावने । घुमरि=घुमडकर । दामिनी=बिजली । मदन=कामदेव । धावन=झपटना । निसा=रात्रि । सूरमा=शूरवीर । निघटत=समाप्त होना । सिर रावन के=दस ।

प्रसंग—सावन की रात, घुमडते बादलो, कडकती बिजली, मोर, चातक आदि की आवाजे सब मिलकर गोपियो की विरहाग्नि को अधिक तीव्र करती है, ऐसे समय मे उन्हे रात काटनी मुश्किल हो गई । इसी व्यथा को इस पद मे प्रकट किया गया है ।

व्याख्या—हे सखी ! श्रीकृष्ण के वियोग में संतप्त गोपियाँ उनके बिना सावन मास को कैसे व्यतीत करेंगी । वर्षा के कारण सारी धरती हरी-भरी हो गयी है, घास बड़ी हो गयी है जिससे सभी पगडडियाँ छुप गयी हैं, सभी सरोवर जल से भरे हुए हैं, कृष्ण के लौट आने वाले सभी मार्ग जलमग्न हो चुके है, ऐसी परिस्थिति मे कृष्ण कैसे आयेंगे ? सुहागिनी नारियो के झुण्ड सुन्दर, सुगन्धित वस्त्र पहन कर वर्षा ऋतु के गीत गाती रहती हैं और आकाश में बादल घुमडते हुए, गरजते हुए वातावरण मे आनन्द और सरसता का संचार करते हैं । बिजली चमकती है तो उसे देख कर ऐसा ही प्रतीत होता है मानो कामदेव हाथों मे धनुष धारण करके हमे मारने के लिए झपट रहा है ।

बादल गरजते है तो उनके साथ मेढ़क और मोरो की आवाजे भी गूँजने लगती है और उनका शोर सुनकर कोयल और चातक भी बोलने लगते हैं । कोयल और चातक की आवाजे वियोगी हृदयो मे काम को उद्दीप्त करती है किन्तु रात्रिकाल के इन वीरों की आवाजे सुनकर गोपियों को पलभर भी चैन

नही मिलता। ऐसी स्थिति में व्याकुल होकर गोपियाँ कहती हैं कि जब एक रात भी काटना मुश्किल हो रहा है तो रावण के सिरों से तीन गुना दिन अर्थात् सावन का पूरा महीना कैसे कटेगा ?

विशेष—ऐसा माना जाता है कि प्रेम मे पल युगो मे और युग पलो मे परिणत हो जाते है उसी प्रकार कृष्ण के वियोग मे एक दिन भी काटना सभव नही। यही कारण है कि सखियाँ चिन्ता करती है कि एक मास की लम्बी अवधि कैसे बीतेगी ?

अलंकार—(१) 'गरजत घुमरि···सावन के'—रूपक।

(२) 'पहिरै सुहाए···गावन के'—अनुप्रास।

(३) सम्पूर्ण पद में—उत्प्रेक्षा।

हमारे माई ! मोरउ बैर परे।
घन गरजे बरजे नहिं मानत त्यों त्यों रटत खरे॥
करि एक ठौर बीनि इनके पंख मोहन सीस धरे।
याही तें हम ही को मारत, हरि ही ढीठ करे॥
कह जानिए कौन गुन, सखि री ! हम सों रहत अरे।
सूरदास परदेस बसत हरि, ये बन तें न टरे॥२८४॥

शब्दार्थ—माई=सखी। मोरउ=मोर भी। बरजा=मना करने। ठौर =स्थान। बीनि=चुनकर, इकट्ठे करके। अरे=अडे रहना। टरे=टलना।

प्रसंग—विरह व्यथा से पीडित गोपियां वर्षा ऋतु मे मोरो की आवाज सुनती हैं तो उनकी पीड़ा और भी बढ जाती है, इस पद मे गोपियाँ मोरो को अपना शत्रु मान कर अपनी भावना को प्रकट करती है।

व्याख्या—हे सखी ! अब तो ये मोर भी हमारे शत्रु बन गये हैं। कृष्ण के वियोग मे व्यथित गोपियो के लिए अभी तक तो वर्षाकाल के विभिन्न उपकरण ही दुखकारक थे किन्तु अब मोर भी हमारे दुश्मन हो गए हैं। जब आकाश मे घनघोर बादल घुमडते हैं तो उन्हे देखकर मोर जोर-जोर से कूकने लगते है। यदि उन्हे मना किया जाय तो और भी जोर से बोलने लगते हैं। जब कृष्ण यहाँ थे तो उन्होने सारे पखो को एकत्र कर उनका मुकुट धारण कर लिया था, उसने ही मोरो को सम्मान देकर ढीठ बना दिया था, यही कारण है कि अब ये सब हमें मारने, दुख देने को तत्पर रहते हैं। श्रीकृष्ण

हमसे रूठ गये हैं तो ये भी उनका पक्ष लेकर हमारी व्यथा को वढाते रहते हैं। हे सखी ! कौन कह सकता है कि किस भाव अथवा गुण से प्रेरित होकर मोर सदा ही हमसे अडे रहते हैं, हमारे सन्ताप को वढ़ाते रहते हैं। श्रीकृष्ण तो हमसे रूठ कर मथुरा चले गए है किन्तु ये इतने ढीठ है कि इस वन से टलते ही नही।

विशेष—गोपियाँ मोरो को अपना दुश्मन कहती हैं किन्तु वास्तविकता यह है कि वे उनके माध्यम से श्रीकृष्ण को ही याद करती हैं। कृष्ण का मोर मुकुट गोपियो को अति प्रिय है, मोरपंखो मे कृष्ण की छवि देखती हुई गोपियाँ मोर मुकुट के व्याज से श्रीकृष्ण को स्मरण करती हैं, उसके लिए अपनी प्रेम-भक्ति प्रकट करती हैं।

अलंकार—(१) 'घन गरजे···रटत खरे'—पुनरुक्तिप्रकाश।

(२) 'करि एक···ढीठ करे'—प्रत्यनीक।

सखी री ! हरिहि दोप जनि देहु।
जातें इते मान दुख पैयत हमरेहि कपट सनेहु॥
विद्यमान अपने इन नैनन्ह सूनो देखति गेहु।
तदपि सूल-व्रजनाथ-विरह तें भिदि न होत वड़ वेहु॥
कहि कहि कथा पुरातन ऊधो ! अव तुम अत न लेहु।
सूरदास तन तो यों ह्वै हैं ज्यो फिरि फागुन-मेहु॥२८५॥

शब्दार्थ—हरिहि=हरि को। इते=इतना। पैयत=पाना। विद्यमान=उपस्थित। गेहु=घर। भिदि=विंधकर। वेहु=वेध, छेद। पुरातन=पुरानी। फागुन-मेहु=जीवन-रहित, जलरहित।

प्रसंग—प्रेमी प्रिय पर दोपारोपण न करके अपनी न्यूनता को ही देखता और कहता है। प्रस्तुत पद मे गोपी कृष्ण पर दोपारोपण करने की अपेक्षा अपने प्रेम मे न्यूनता देखने का भाव व्यक्त करती है।

व्याख्या—हे सखी ! श्रीकृष्ण को दोप न दो, उनमें कोई कमी अथवा दोप नही है वस्तुत. हमारे प्रेम मे ही कुछ कमी रह गई है, हमारे प्रेम मे कहीं कुछ छल या कपट होगा तभी तो कृष्ण हमे त्याग कर मथुरा चले गए हैं और हम उनके वियोग का दुख सहन कर रही है। इससे वडा प्रमाण और क्या होगा कि हम सभी कृष्ण के विना अपने घरो को सूना, उदास देख रही है फिर

भी हमारा हृदय विदीर्ण नही हुआ, कृष्ण-विरह के तीर खाकर भी हृदय फटा नही। हे उद्धव ! पुरानी बातो को कह कर ज्ञान-मार्ग और योग-साधना का उपदेश दे-देकर हमारे प्राण मत लो, तुम्हारा उपदेश मान कर, निर्गुण-ब्रह्म को अपना कर हमारा जीवन फागुन-मेह के समान जीवनरहित हो जाएगा। फागुन के बादलो मे जल नही रहता, कृष्ण का त्याग करने पर हमारा जीवन भी नही रहेगा।

विशेष—प्रस्तुत पद मे सात्विक प्रेम की सरस अभिव्यक्ति हुई है। अनन्यता के कारण कृष्ण के अभाव मे जीवित न रहना और प्रेमाभक्ति के कारण अपने मे कमी देखना—प्रेम के दोनो पक्षो का सफल प्रतिपादन हुआ है।

अलंकार—(१) 'विद्यमान···बड़ बेहु'—रूपक।
(२) 'कहि कहि···न लेहु'—पुनरुक्तिप्रकाश।

उघरि आयो परदेसी को नेहु।
तब तुम 'कान्ह-कान्ह' कहि टेरति फूलति ही, अब लेहु॥
काहे को तुम सर्बस अपनो हाथ पराए देहु।
उन जो महा ठग मथुरा छाँड़ी, सिंधुतीर कियो गेहु॥
अब तौ तपन महा तन उपजी, बाढ्यो मन संदेहु।
सूरदास विह्वल भईं गोपी, नयनन्ह बरस्यो मेहु॥२८६॥

शब्दार्थ—उघरि=प्रकट। नेहु=प्रेम। टेरति=पुकारती। ही=मन। अब लेहु=परिणाम देख लो। सर्बस=सब कुछ। देहु=देना। गेहु=घर।

प्रसंग—गोपियो ने सुना कि कृष्ण मथुरा छोड़ कर द्वारिका चले गए है तो उनकी निराशा बढ़ गई। उन्हे विश्वास हो गया है कि अब कृष्ण लौट कर नही आयेंगे। ऐसी स्थिति मे गोपियाँ परस्पर उलाहना देते हुए अपनी प्रेमाभिव्यक्ति करती है।

व्याख्या—हे सखी ! अब तो परदेसी का प्यार भली प्रकार स्पष्ट हो गया है। कृष्ण से प्यार किया था किन्तु वह निष्ठुर हमे छोड़ कर चल दिया तो उसका परिणाम भली प्रकार भोग लो। जब कृष्ण यहाँ थे तो तुम हर समय कृष्ण-कृष्ण कह कर पुकारती रहती थी, उस समय तुम अपने मन मे फूली न समाती थी, समझती थी कि कृष्ण तुम्हे अत्यधिक प्रेम करते है अब उसका फल देख लो। तुमने अपने जीवन का सर्वस्व उन पराये हाथो मे क्यो सौंप

दिया था, वह कृष्ण तो महा छली, धोखेबाज निकला, पहले हमारा मन हरण किया और स्वय हमे त्याग कर मथुरा चला गया और अब तो उसने मथुरा को भी त्याग दिया है और बहुत दूर सागर तट पर स्थित द्वारिका को चला गया है। अब तो कृष्ण के लौटने मे सन्देह हो गया है जिससे सम्पूर्ण शरीर मे विरह पीड़ा अधिक बढ गई है। सूरदास कहते हैं कि इस प्रकार परस्पर वार्ता करती हुई गोपियो की व्याकुलता इतनी बढ गयी कि उनकी आँखो से आंसुओं की वर्षा होने लगी।

विशेष—प्रस्तुत पद मे गोपियो की विरहानुभूति का मनोहारी चित्रण हुआ है।

अलंकार—(१) 'उघरि आयो'''नेहु'—वक्रोक्ति।

(२) 'तब तुम'''लेहु'—वीप्सा, अनुप्रास।

(३) 'अब तो तपन'''सदेहु'—अतिशयोक्ति।

हरि न मिले, री माई! जन्म ऐसे ही लाग्यो जान।
जोवत मग द्यौस द्यौस बीतत जुग-समान॥
चातक-पिक-बयन, सखी! सुनि न परैं कान।
चंदन अरु चंदकिरन कोटि मनो भानु॥
जुवती सजे भूषन रन आतुर मनो त्रान।
भीषम लौं डासि मदन अर्जुन के बान॥
सोवति सर-सेज सूर, चल न चपल प्रान।
दच्छिन-रवि अवधि अटक इतनीऐ जान॥२८७॥

शब्दार्थ—जोवत=प्रतीक्षा करते। द्यौस=दिवस। बयन=वचन। कोटि=करोड। रन-आतुर=युद्ध के लिए तत्पर। त्रान=कवच। डासि=बिछा कर। सरसेज=तीरो की शैय्या। अटक=रुके हुए। इतनीऐ=इतने से ही।

प्रसग—कृष्ण-विरह के सताप मे मरणासन्न गोपियो मे प्राण इसी अवधि की आशा पर टिके हुए है कि कृष्ण आकर दर्शन दे ताकि वे जीवित रह सकें। यही भावना भ्रमरगीत के प्रस्तुत पद मे चित्रित की गई है।

व्याख्या—हे सखी! श्रीकृष्ण के दर्शन हमे प्राप्त नही हो सके हैं। उनके लौट आने की प्रतीक्षा मे हमारा एक-एक दिन युग-युग के समान बीत रहा है। किन्तु वह नही आए, तो अब हमे ऐसा प्रतीत होने लगा है कि यह जीवन

विरह मे तडपते हुए बीत जाएगा। सभी इन्द्रियाँ शिथिल हो गयी हैं। श्रीकृष्ण के मिलने की आशा भी समाप्त हो गयी है। अब तो चातक और कोयल के मधुर स्वर भी नही सुनाई देते। चन्दन का लेपन और चन्द्रमा की किरणे अब हमे करोड़ो सूर्य के समान वियोग मे दग्ध करने वाली जान पड़ती है। युवतियाँ अपने प्रिय श्रीकृष्ण के साथ रति-युद्ध करने के लिए आतुर हैं। इसी कारण आभूषणो को कवच के समान अपने हृदय पर धारण किये हुए है। उन्हें विश्वास है कि ऐसा करके वह अपनी रक्षा करने मे समर्थ हो सकेगी।

जिस प्रकार महाभारत के युद्ध मे अर्जुन की बाणवर्षा से घायल होकर भीष्म पितामह सरशैय्या पर सो गए थे उसी प्रकार कामदेव के बाणो से घायल हो कर गोपियाँ भी सरशैय्या पर सो रही हैं किन्तु उनके चंचल प्राण नही निकलते। भीष्म तो सूर्य के दक्षिणायन की अवधि बीत जाने की प्रतीक्षा में प्राण धारण किये रहे थे। उसी प्रकार गोपियो के प्राण भी केवल एक आशा पर टिके हुए है कि श्रीकृष्ण अवश्य लौटेगे और आकर दर्शन देगे। अन्यथा गोपियो के प्राण तो कभी के निकल गये होते।

विशेष—प्रस्तुत पद मे वियोग की चरमावस्था-मरणासन्न होने का चित्रण किया गया है। इसमे गोपियो की अनन्यता तथा भावुकता दर्शनीय है। भीष्म पितामह की सरशैय्या से समानता दिखाने मे गोपियो की निष्ठा का प्रतिपादन हुआ है। भाषा की भावानुकूलता के कारण सम्पूर्ण पद प्रभावी बन गया है।

अलकार—(१) 'जीवत मग'''जुग समान'—पुनरुक्ति।

(२) 'चन्दन अरू'''मनो भानु'—उत्प्रेक्षा।

(३) 'भीषम लौ'''इतनीए जान'—रूपक।

तुम्हरे बिरह, ब्रजनाथ, अहो प्रिय! नयनन नदी बढ़ी।
लीने जात निमेष-कूल दोउ एते मान चढ़ी॥
गोलक-नव-नौका न सकत चलि, स्यो सरकनि बढ़ि बोरति।

शब्दार्थ—निमेष-कूल=पलको रूपी किनारे। एते=इतनी। गोलक=पुतली। स्यो=सहित। सरकनि=गति या प्रवाह। बोरति=डुबाती। ऊरध=ऊपर, दीर्घ। समीर=वायु। तरु=वृक्ष। तोरति=तोड़ती। कुचील=गन्दा। हस्त=हाथ। जीजै=जीवित रहे। सुकर=सुन्दर हाथ। गहि लीजै=ग्रहण कीजिए।

प्रसंग—प्रस्तुत पद मे गोपियो ने अपनी विरह-व्यथा का वर्णन करते हुए श्रीकृष्ण से प्रार्थना की है कि आंसुओ की नदी मे डूबते व्रज की रक्षा करे।

व्याख्या—हे प्रियतम ! व्रज के स्वामी, आपके वियोग मे हमारी आंखो से आंसुओं की नदी प्रवाहित होकर बह रही है। इस नदी का प्रवाह इतना तीव्र है कि उसमे पलको के किनारे भी डूबने लगे हैं। बाढ आने पर नदी के किनारे डूबने लगते हैं तो उसमे नौका चलनी भी मुश्किल होती है, उसी प्रकार आंखो में आंसू भरे रहने पर आंखो की पुतलियाँ भी स्थिर है, वे इधर-उधर नही चल पाती। उमड़ी हुई अश्रु-नदी ने कृष्ण की प्रतीक्षा मे एकटक देखने वाली पुतलियो को भी डुबा दिया है। विरह-व्यथा की तीव्रता से, हमारे दीर्घ निश्वासो की वायु से आंसुओ की नदी मस्तक पर लगे तिलक आदि को भी किनारे के वृक्षो के समान तोड़ती जा रही है। आंसुओ ने कज्जल रूपी कीचड को बहा दिया है जिससे इस नदी के किनारे, हृदय, अधर और कपोल आदि बहुत मैले हो गए है। नदी के इस स्वरूप को देखकर मुख से निकलने वाले वचन इस प्रकार रुक गये हैं जैसे पथिक थक कर खडे हो जाते हैं, उनके हाथ और पांवो मे शक्ति नही रहती। इस प्रकार हे श्रीकृष्ण, हमारा सारा शरीर शिथिल हो गया है, हम ही नही सम्पूर्ण गोकुल इन आँसुओ मे डूब जायेगा। ऐसे समय मे और तो कोई उपाय नही है केवल आपके दर्शन ही जीवन दान दे सकते हैं। हे रमापति ! कृपा करके अपने सुन्दर हाथो का सहारा देकर अपने रूप का दर्शन देकर सभी को जीवन दान दीजिए।

विशेष—इस पद मे गोपियो की विरह दशा का काव्यात्मक चित्रण किया गया है। वियोग मे आंसू आते है किन्तु उनका चमत्कारपूर्ण चित्रण करते हुए कवि ने अपने काव्य कौशल का सुन्दर परिचय दिया है। नदी का रूपक बांध कर कवि ने विभिन्न मनोभावो को प्रस्तुत करने मे सफलता प्राप्त की है।

अलकार—(१) सम्पूर्ण पद मे सांगरूपक।

(२) 'कज्जल कीच''कपोल'—अनुप्रास।

(३) 'अस्रु-सलिल''गहि लीजै'—अतिशयोक्ति।

हमको सपनेहू में सोच।
जा दिन ते बिछुरे नंदनंदन ता दिन तें यह पोच॥
मनो गोपाल आए मेरे घर, हँसि करि भुजा गही।
कहा करौं बैरिनि भइ निंदिया निमिष न और रही॥
ज्यो चकई प्रतिबिंब देखिकै आनंदी पिय जानि।
सूर पवन मिस निठुर बिधाता चपल करयो जल आनि॥२८९॥

शब्दार्थ—सोच=चिन्ता। पोच=कायर, भयभीत। गहि=पकड़। निमिष=पलक। प्रतिबिम्ब=छाया, परछाईं। आनन्दी=प्रसन्न।

प्रसग—अपने प्रियतम कृष्ण के वियोग मे गोपियाँ उसी की चिन्ता में डूबी रहती है, यहाँ तक कि स्वप्न मे भी उन्ही के दर्शन करती रहती है, प्रस्तुत पद मे इसी मनःस्थिति का वर्णन किया गया है।

व्याख्या—हे उद्धव! जिस दिन से नन्दनन्दन श्रीकृष्ण हमसे विछुड़े है तब से हमारा मन हर समय चिन्ता मे डूबा रहता है। उसी दिन से हमारा मन इतना दुर्बल हो गया है कि सोते, जागते अथवा स्वप्न मे भी कृष्ण का चिन्तन करता रहता है। हर समय ऐसा ही अनुभव होता है कि कृष्ण हमारे घर मे आए है और उन्होने हँस कर मेरी भुजाओ को पकड़ लिया है। उस समय हम चौंक पड़ती है तो कृष्ण को पास न देख कर अधिक व्याकुल हो जाती है। क्या करे वैरिन नीद भी तो नही मानती, स्वप्न आता है तो निद्रा भी भग हो जाती है जिससे वह स्वप्न भी देखने का अवसर नही रहता। जिस प्रकार चकवी अपना प्रतिबिम्ब देखकर उसे अपना प्रियतम समझ कर आनन्दमग्न हो जाती है किन्तु निर्दयी विधाता चचल पवन के माध्यम से जल मे हलचल पैदा कर उस प्रतिबिम्ब को मिटा देता है, चकवी प्रतिबिम्ब लुप्त होते देखकर अधिक व्याकुल हो उठती है उसी प्रकार हमारे मन मे एक क्षणिक स्वप्न आनन्द और उत्सुकता का सचार करता है किन्तु अन्ततोगत्वा चिन्ता तथा व्याकुलता की वृद्धि ही करता है।

विशेष—प्रस्तुत पद मे विरहाकुल मन का मनोवैज्ञानिक चित्रण हुआ है। प्रिय प्रेमी की स्मृति मे ऐसे लीन हो जाता है कि उसे दिन अथवा रात

कभी भी चैन नही मिलता। चकवी का उदाहरण प्रस्तुत करके कवि ने वियोग पीड़ा को अधिक मार्मिक एवं प्रभावी बना दिया है।

अलंकार—(१) 'जा दिन……यह पोच'—अनुप्रास।

(२) 'मनो-गोपाल……गही'—उत्प्रेक्षा।

(३) 'ज्यो चकई……जानि'—दृष्टान्त।

(४) 'सूर पवन……आनि'—कैतवापन्हुति।

अँखिआँ अजान भईं।
एक अंग अवलोकत हरि को और हुती सो गईं॥
यों भूली ज्यों चोर भरे घर चोरी निधि न लईं।
बदलत भोर भयो पछितानी, कर तें छाँड़ि दईं॥
ज्यों मुख परिपूरन हो त्यों ही पहिलेइ क्यों न रईं।
सूर सकति अति लोभ बढ्यो है, उपजति पीर नईं॥२६०॥

शब्दार्थ—अवलोकत=देखते हुए। हुती=थी। निधि=सम्पति। बदलत =सोचते हुए, यह ले अथवा वह ले। परिपूरन=पूर्ण, भरा हुआ। रईं=रम गईं। सकति=शक्ति।

प्रसंग—प्रस्तुत पद मे गोपियो ने कृष्ण-दर्शन के इच्छुक नेत्रो की लोभी प्रवृत्ति की भर्त्सना की है।

व्याख्या—हे उद्धव! हमारी आंखे तो ससार के सभी तत्वो से अनजान हो गयी है। श्रीकृष्ण के सुन्दर, सलोने स्वरूप को लगातार देखते रहने के कारण ये अपनापन भूल चुकी है। उस अतीव सौन्दर्य को सामने पाकर किसी भी अन्य स्वरूप को देखने की इच्छा ही नही रहती, उसी को देखते-देखते अब और किसी का ज्ञान भी नही रहा। ये आंखे कृष्ण सौन्दर्य का पूर्ण उपभोग भी नही कर पायी थी कि वह चले गये और आंखे इस प्रकार पछताने लगी है जिस प्रकार कोई चोर धन, वैभव, सुख समृद्धि से परिपूर्ण घर में जाकर केवल यह सोचता रहता है कि यह लूँ अथवा वह लूँ और इस प्रकार विचारो की दुविधा मे ही रात बीत जाती है। वह कुछ भी न पा सकने पर केवल पश्चाताप करता रहता है। हमारी आखे भी अब यह सोचती है कि उस परम सौन्दर्य को आत्मसात् कर लेती अथवा उसी मे लीन हो जाती किन्तु अब तो केवल वियोग का दुख ही शेष है। अब आंखों में कृष्ण के

दर्शनों के लोभ की शक्ति इतनी बढ़ गयी है कि दर्शन न कर सकने के कारण उनमे नित नवीन पीड़ा उत्पन्न होती रहती है।

विशेष—इसमे श्रीकृष्ण के अमित सौन्दर्य के प्रभाव तथा उसके देखने की लालसा का अत्यन्त सरस ढग से वर्णन किया गया है।

अलंकार—'यों भूली······न लई'—दृष्टान्त।

दधिसुत जात हौ वहि देस।
द्वारका हैं स्यामसुंदर सकल भुवन-नरेस॥
परम सीतल अमिय-तनु तुम कहियो यह उपदेस।
काज अपनो सारि, हमको छाँड़ि रहे बिदेस॥
नंदनदन जगत बदन धरहु नटबर-भेस।
नाथ! कैसे अनाथ छाँड्यो कहियो सूर सँदेस॥२६१॥

शब्दार्थ—दधिसुत=चन्द्रमा। वही=उसी। अमिय तनु=अमृत से भरा शरीर। काज—काम। सारि=पूरा कर। भेस=वेष।

प्रसंग—प्रस्तुत पद मे गोपियो ने चन्द्रमा के द्वारा अपने प्रियतम श्रीकृष्ण को सदेश भेजा है, अपनी विरहावस्था का उल्लेख किया है।

व्याख्या—हे दधिसुत! तुम ससार मे समान रूप से भ्रमण करते हो। तुम उस देश मे भी जाते हो जहाँ श्यामसुन्दर रहते है। सम्पूर्ण संसार के स्वामी श्रीकृष्ण द्वारिका नगरी मे रहते है। तुम शातिमय, शीतलता देने वाले हो, तुम्हारा शरीर अमृत से भरपूर है, उस कृष्ण से जाकर मधुर वाणी मे यह कहना कि आप तो अपना कार्य पूरा करके गोपियो को वियोग मे तड़पते छोड़ कर यहा विदेश मे आ गये हो। यह उचित नही, पहले तो हमारे साथ नाना प्रकार की क्रीडायें करके हमारे मन को अपने प्रेम मे रगा और अब उसे छोड़ कर आप आ गये है, इससे हम सभी अत्यन्त दुःखी है। हे नन्दनन्दन! हे ससार मे सभी के वन्दनीय प्रभु! फिर से एक बार अपना नटवर वेष धारण करके हमे दर्शन दो। आप ही हमारे नाथ है फिर हमे अनाथ के समान क्यों

के अनन्य प्रेम का ही परिचायक है।

अलंकार—(१) 'नाथ कैसे······सदेस'—परिकरांकुर।

(२) 'नन्द नन्दन······भेस'—अनुप्रास।

जाहि री सखी ! सीख सुनि मेरी।
जहाँ बसत जदुनाथ जगतमनि बारक तहाँ आउ दै फेरी ॥
तू कोकिला कुलीन कुसलमति, जानति बिथा बिरहिनी केरी।
उपवन बैठि बोलि मृदुबानी, वचन बिसाहि मोहिं करु चेरी ॥
प्रानन के पलटे पाइय जस, सेंति बिसाहु सुजस की ढेरी।
नाहिन कोउ और उपकारी सब विधि वसुधा हेरी ॥
करियो प्रगट पुकार द्वार है अबलन्ह आनि अनंग अरि घेरी।
व्रज लै आउ सूर के प्रभु को गावहि कोकिल ! कीरति तेरी ॥२६२॥

शब्दार्थ—जाहि=जाओ। बारक=एक बार। फेरी=फेरा। कुलीन=अच्छे वंश वाली। कुसलमति=अच्छी बुद्धि। बिथा=पीडा। केरी=की। बिसाहि=मोल लेकर। चेरि=दासी। पलटे=बदले मे। सेति=बिना मूल्य के। बिसाहु=मोल लो। हेरी=देखी। अनग=कामदेव। अरि=शत्रु। कीरति=यश।

प्रसग—विरहोन्माद मे गोपियाँ किसी भी प्रकार कृष्ण के दर्शन चाहती हैं। इस पद मे गोपियाँ कोयल की खुशामद करके उसे कृष्ण के पास जाने की प्रार्थना करती है।

व्याख्या—हे सखी कोयल ! मेरी एक शिक्षा सुनो और एक बार उस स्थान पर हो आओ जहाँ जगत् शिरोमणि यदुवश स्वामी श्रीकृष्ण रहते हैं। हे कोयल ! तुम अच्छे कुल मे उत्पन्न हो और चतुर भी हो और वियोगिनी की व्यथा को भली प्रकार जानती हो। इसलिये एक बार कृष्ण की नगरी मे जाकर उनके उपवन मे बैठकर अपनी मधुर वाणी सुना, जिसे सुनकर शायद श्रीकृष्ण को हमारा ध्यान आ जाये, इस प्रकार तू अपने मधुर वचनो से मुझे मोल लेकर अपनी दासी बना ले। संसार का नियम है कि प्राणो के बदले प्राण देकर यश प्राप्त करना किन्तु तुम केवल अपने मधुर वचन बोलकर मुझे बिना मूल्य के मोल ले लो, इस प्रकार तुम्हे अत्यधिक यश प्राप्त होगा। हे कोयल ! हमने सारी पृथ्वी की भली प्रकार देख भाल कर ली है कही भी तुम्हारे

समान और कोई उपकारी दिखाई नही दिया। तुम कृष्ण के द्वार पर जाकर ऊँचे स्वर से यह पुकार करना कि गोपियो को कामदेव रूपी शत्रु ने बुरी तरह घेर लिया है और तुम्हारे वियोग में सप्तत अबलाये उसका सामना करने मे असमर्थ हैं। शायद श्रीकृष्ण तुम्हारी पुकार सुनकर द्रवित हो उठे। हे कोयल ! यदि तू एक बार सूरदास के प्रभु श्रीकृष्ण को ब्रज मे ले आये तो तेरी कीर्ति अक्षय हो जायेगी; हम इस उपकार को कभी भुला न सकेंगी।

विशेष—भारतीय काव्य मे सन्देश प्रेषित करने की पद्धति अति प्राचीन है। पक्षियो, बादलो अथवा पवन के माध्यम से अनेक कवियो ने सदेश काव्य लिखे है। उपरोक्त पद मे गोपियो का सदेश उनकी भावुकता, व्याकुलता और अनन्यता का द्योतक है।

अलंकार—'तू कोकिला……केरी'—अनुप्रास।

कोउ, माई ! बरजै या चंदहि।
करत है कोप बहुत हम्ह ऊपर, कुमुदिनि करत अनंदहि॥
कहाँ कुहू, कहँ रवि अरु तमचुर, कहाँ बलाहक कारे ?
चलत न चपल, रहत रथ थकि करि, बिरहिनि के तन जारे॥
निदति सैल, उदधि पन्नग को, सापति कमठ कठोरहि।
देति असीस जरा देवी को, राहु केतु किन जोरहि ?
ज्यो जलहीन मीन-तन तलफत त्योंहि तपत ब्रजबालहि।
सूरदास प्रभु बेगि मिलावहु मोहन मदनगोपालहि॥२६३॥

शब्दार्थ—माई=सखी। बरजै=मना करे। कोप=क्रोध। कुमुदिनि=कमलिनी। तमचुर=मुर्गा। बलाहक=बादल। कुहु=अमावस की रात। निंदती=निन्दा करती है। पन्नग=शेषनाग। सापति=शाप देती है। कमठ=कच्छप। जरा=एक राक्षसी। जोरही=जोड़ती है।

प्रसंग—वियोगिनी गोपियो के लिये चन्द्रमा अथवा चन्द्रकिरणो से शोभित रात विशेष दुखदायी होती है। विरह मे रात कटती नही तो चन्द्रमा को कोसती हुई गोपियाँ कहती है।

व्याख्या—हे सखी ! कोई इस चन्द्रमा को मना कर दे कि हमे इस प्रकार दुःख न दे। यह हम पर तो क्रोध करता है और कुमुदिनी को आनन्दित करता है। हम वियोगिनियो के दुख को बढाते हुए यह थलता ही नही जबकि इसे देख

कर कुमुदिनी प्रसन्नता का अनुभव करती है। अपनी वेदना-वृद्धि का अनुभव करती हुई गोपियाँ कहती हैं कि अमावस्य की अधेरी रात कहाँ है? प्रातः-कालीन सुर्योदय की सूचान देने वाली मुर्गे की आवाज कहाँ खो गयी है? वे काले घने बादल पता नही कहाँ छुप गये है? वे आ जायें तो भी इसका मुख ढक जाएगा, इसका सौन्दर्य हमे श्रीकृष्ण के मुख के सौन्दर्य की समता दिखाकर दुखी न कर सकेगा। अमावस अथवा काले बादलो से चन्द्रमा ढक जाता है, दिखाई नही देता, इसलिए गोपियाँ उन्हे याद करती हैं। क्योकि यह शीघ्र चलता नही और अपने रथ को एक स्थान पर रोक कर खडा रहता है जिससे रात व्यतीत नही होती और वियोग व्यथा मे पीड़ितो का शरीर अधिक सतप्त होता रहना है।

गोपियाँ कहती हैं कि हम मन्दराचल पर्वत की निन्दा करती है, समुद्र, शेषनाग और कच्छप की कठोर पीठ को शाप देती है क्योकि इन्ही के कारण चन्द्रमा का जन्म हुआ था। समुद्र मन्थन के समय मन्दराचल को मथानी बनाकर उसे कच्छप की पीठ पर रखा गया था और शेषनाग की डोरी बना-कर देवताओ और राक्षसो ने मिलकर मथन किया था तो सागर से प्राप्त चौदह रत्नो मे एक चन्द्रमा भी था। गोपियाँ यह कहती हैं कि न वह मंथन होता और न ही चन्द्रमा जन्म लेकर आज हमे दुख देता। वे जरा राक्षसी को आशीर्वाद देती है और कहती है जिस प्रकार उसने जरासन्ध के दोनो हिस्सो को जोड़कर उसका शरीर पूर्ण करा दिया था, वह आकर राहू और केतु को क्यो नही जोड़ देती ताकि वह चन्द्रमा को खा जाये। जिस प्रकार जल के बिना मछली तड़फती है उसी प्रकार कृष्ण के बिना गोपियाँ तड़फती रहती है, सूरदास जी कहते है कि कोई उस प्रभु मदनगोपाल को उनसे शीघ्र मिला दे।

विशेष—प्रस्तुत पद मे गोपियो की विरह-व्यथा का चित्रण करने के लिए जिन पौराणिक गाथाओ का उल्लेख किया गया है अथवा प्रकृति के जिन उपकरणो का सकेत किया गया है उनसे भावाभिव्यक्ति अधिक सजीव और प्रभावी हो गयी है।

अलकार—(१) 'चलत न···तन जारे'—अनुप्रास।

(२) 'ज्यो जलहीन···व्रजबालहि'—उपमा।

(३) 'कहाँ कुहू'''तन जारे'—अतिशयोक्ति ।

जो पै कोउ मधुबन लै जाय ।
पतिया लिखी स्यामसुंदर को, कर कंकन देउँ ताय ।।
अब वह प्रीति कहाँ गई, माधव ! मिलते बेनु बजाय ।
नयन-नीर सारंग-रिपु भोजै दुख सो रैनि विहाय ।।
सून्य भवन मोहिं खरो डरावै, यह ऋतु मन न सुहाय ।
सूरदास यह समौ गए तें, पुनि कह लैहै आय ?२९४।।

शब्दार्थ—मधुबन=मथुरा । पतिया=पत्र । कंकन=कगन । ताय=उसको । सारंग-रिपु=कमल का शत्रु चन्द्रमा । रैनि=रात । विहाय=व्यतीत हो । सून्य=खाली ।

प्रसंग—विरह व्यथा से पीड़ित गोपियाँ श्रीकृष्ण को पत्र भेजना चाहती हैं किन्तु जब कोई सदेश वाहक नही मिलता तो उनकी व्यथा की अभिव्यक्ति इस पद मे की गई है ।

व्याख्या—गोपियाँ कहती है कि यदि कोई मथुरा जाने वाला हमारे पत्र को श्रीकृष्ण तक पहुँचा दे तो मैं उसे अपने हाथ का कंगन उतार कर दे दूगी । विरह भावना मे कृष्ण के लिए वे कहती है कि हे कृष्ण ! तुम्हारा वह प्रेम अब कहाँ खो गया है जब आप हमें वंशी बजाते हुए मिला करते थे । आज आपके वियोग के दुख मे रात व्यतीत नहीं होती, जिन आँखो को आप कमल के समान कहते थे अब उनसे हर समय आँसू बहते रहते हैं जिससे चन्द्रमा के समान हमारा मुख हर समय मलिन रहता है । आपके बिना यह घर सूना-सूना है जो हर समय मुझे डराता रहता है, यह ऋतु अपने पूर्ण सौन्दर्य से पूर्ण होने पर भी हमारे मन को अच्छी नही लगती । यदि यह समय बीत गया तो उसके बाद लौटने पर भी आपको क्या मिलेगा । क्योकि, आपके वियोग मे हम जीवित नही रहेगी ।

विशेष—प्रस्तुत पद में गोपियो की विरहावस्था का चित्रण करते हुए कवि ने बारहमासा तथा सदेश काव्य परम्परा की शैली को अपनाया है ।

अलकार—(१) 'नयन नीर'''विहाय'=रूपकातिशयोक्ति ।
(२) 'पतिया लिखि'''ताय'=अनुप्रास ।

हरि परदेस बहुत दिन लाए।
कारी घटा देखि बादर की नैन नीर भरि आए॥
पा लागौं तुम्ह, बीर बटाऊ! कौन देस तें धाए।
इतनी पतिया मेरी दीजौ जहाँ स्यामघन छाए॥
दादुर मोर पपीहा बोलत सोवत मदन जगाए।
सूरदास स्वामी जो बिछुरे प्रीतम भए पराए॥२६५॥

शब्दार्थ—बीर=भाई। बटाऊ=पथिक। मदन=कामदेव।

प्रसग—इस पद मे गोपियाँ श्रीकृष्ण के पास पत्र ले जाने के लिए पथिक से प्रार्थना करती है।

व्याख्या—हे भैया पथिक! श्रीकृष्ण बहुत दिनो से परदेस गए हुए हैं, जबसे वे गए हैं उनका कोई सदेश नही आया। आज आकाश मे काली घटायें देखकर हमे श्याम की याद अधिक सताने लगी है, विरह व्यथा की तीव्रता के कारण आँखो मे आँसुओ का पानी भर गया है। हे पथिक! तुम किस देस से आए हो? कहाँ जा रहे हो? हमारी आपसे एक ही प्रार्थना है कि हमारा यह पत्र वहाँ पहुँचा दो जहाँ श्यामसुन्दर रहते हैं। उन्हे पत्र के साथ यह सन्देश भी देना कि वर्षा ऋतु मे मेढक, मोर, पपीहा, आदि ने शोर मचा कर कामदेव को जगा दिया है। वर्षा-ऋतु के सौन्दर्य और उसमे पपीहे, मोर तथा मेढको की आवाजो ने हमारे हृदय मे कामोद्दीपन कर दिया है। हमारे प्रभु श्रीकृष्ण हमसे एक बार ऐसे बिछुडे है कि सदा-सदा के लिए पराए हो गए हैं। हमे उन्होने विस्मृत कर दिया है। जिससे हमारा दुख अधिक बढ गया है।

विशेष—विरहावस्था मे प्रियतम की स्मृति मन में अनेक उद्वेग उत्पन्न करती है। उपरोक्त पद मे स्मृति सचारीभाव का सरस चित्रण हुआ है।

अलकार—'दादुर मोर…जगाए'=अतिशयोक्ति।

आजु घनस्याम की अनुहारि।
उनै आए साँवरे, ते सजनी! देखि रूप की आरि॥
इंद्रधनुष मनो नवल बसन छवि, दामिनि दसन बिचारि।
जनु बगपाँति माल मोतिन की, चितवत हितहि निहारि॥

गरजत गगन, गिरा गोविंद की सुनत नयन भरे वारि।
सूरदास गुन सुमिरि स्याम के बिकल भई ब्रजनारि ॥२९६॥

शब्दार्थ—अनुहारि=समानता। उनै=उमडे। आरि=मुद्रा। नवल=नवीन। बसन=दाँत। बगपाँति=बगुलो की पक्ति। हितहिं=प्रेम सहित। गिरा=वाणी। वारि=जल।

प्रसग—प्रस्तुत पद मे वर्षा ऋतु के उमडते बादलों से श्यामसुन्दर की समानता का अनुभव करती हुई गोपिका अपनी विरहाकुलता का वर्णन करती है।

व्याख्या--हे सखि! आकाश में काले-काले बादलो को देखो, उनमे श्रीकृष्ण के स्वरूप की ही समानता दिखाई देती है। ये साँवरे बादल उमड़ते आ रहे है उनमे श्रीकृष्ण की मुख-मुद्रा की ही समानता दिखाई देती है। बादलो के आँचल मे खिला हुआ इन्द्रधनुष मानो कृष्ण के नवीन सुन्दर वस्त्रों की छवि के समान है। बादलो मे चमकती हुई बिजली श्रीकृष्ण के दाँतों के सदृश है। बादलो की समानता और शीतलता मे उड़ती हुई बगुलो की पक्तियाँ ऐसी हैं जैसी श्रीकृष्ण के गले मे मोतियो की माला शोभा देती है। ये सभी बादल जब हमे देखते है तो ऐसा ही प्रतीत होता है जैसे कृष्ण ही हमे प्रेम से देख रहे है। बादल गरजते हैं तो उनकी ध्वनि की गभीरता मे गोविन्द की वाणी का आभास पाकर हमारी आँखो मे अश्रु भर आते है, इस प्रकार श्रीकृष्ण के गुणो का स्मरण करती हुई सभी गोपिकाएँ व्याकुल हो उठी।

विशेष—इस पद मे श्रीकृष्ण के स्वरूप का सादृश्य प्रकृति से जिस रूप में किया गया है उसमें गुण और रूप का पूर्ण सादृश्य दिखाई देता है।

अलकार—(१) सम्पूर्ण पद मे स्मरण अलकार है।
(२) 'इन्द्रधनुष मनो···निहारि'=उत्प्रेक्षा।
(३) 'गरजत गगन···वारि'=अनुप्रास।

हर को तिलक, हरि! चित को दहत।
कहियत है उडुराज अमृतमय, तजि सुभाव मोको वह्नि बहत॥
छपा न छीन होय, मेरी सजनी! भूमि-डसन-रिपु काधौं बसत।
ससि नहिं गमन करै पच्छिम दिसि, राहु ग्रसत गहि, माझों न गहत॥

ऐसोइ ध्यान धरत तुम, दधिसुत ? मुनि महेस जैसी रहनि रहत ।
सूरदास प्रभु मोहन मूरति चितै जाति पै चित न सहत ।।२६७।।

शब्दार्थ—हर=महादेव । दहत=जलाता है । उडुराज=चन्द्रमा । वह्लि=अग्नि । बहत=धारण करता है । छपा=रात । छीन=समाप्त । भूमि-डसन रिपु=सांप । गमन=प्रस्थान । गहत=ग्रसना, काट देना । दधिसुत=चन्द्रमा ।

प्रसंग—वियोगिनी गोपियो को चन्द्रमा का सौन्दर्य संतप्त करता है, शरीर से सुन्दर, शीतल तथा अमृतमय होकर भी जब चन्द्रमा विपरीत आचरण करता है तो गोपियां उसकी शिकायत कृष्ण से करती हैं ।

व्याख्या—हे प्रभु ! महादेव जी के मस्तक का तिलक-चन्द्रमा हमारे हृदय को जला रहा है । सभी लोग चन्द्रमा को तारागणो का राजा और अमृत का भण्डार कहते है किन्तु यह अपना स्वभाव, दूसरो को शीतलता और नवजीवन देना-त्याग कर मुझे अग्नि धारण करने वाला दिखाई देता है । मुझे तो अग्नि की तरह जलाता है । हे सखी ! यह रात समाप्त नही होती, एक-एक रात युगो लम्बी होती जा रही है । न जाने भूमि पर सोने वालों का शत्रु, सर्प कहां छिप गया है जो आकर मुझे डसता नही । काश ! मुझे सांप ही डस लेता ताकि इस कष्ट से छुटकारा तो मिल जाता । यह चन्द्रमा पश्चिमी आकाश की ओर नही चलता, यह एक ही स्थान पर स्थित है, इसलिए रात व्यतीत नहीं हो रही, पता नही वह राहू आकर इसे ग्रस क्यो नही लेता जिससे चन्द्रमा मुझे तो कष्ट न देता । हे दधिसुत, चन्द्रमा ! क्या तुम महादेव अथवा, मुनियों की तरह ध्यान मग्न होकर समाधिस्थ हो गए हो, जो अपने स्थान से जरा भी आगे नही चल रहे । परिणामस्वरूप रात व्यतीत नही होती । हे चन्द्रमा ! तुम्हारी मूर्ति हमारे कृष्ण के समान ही सुन्दर है, हमारा मन तुम्हे देखना चाहता है क्योकि इसमे हमे कृष्ण का सौन्दर्य दिखाई देता है किन्तु हमारा मन तुम्हारे रूप सौन्दर्य को सहन नही कर पा रहा क्योकि हमारा मन यह जानता है कि कृष्ण हमे छोड़कर मथुरा चले गए हैं ।

विशेष—प्रस्तुत पद मे सूरदास जी के काव्य कौशल और चमत्कार को देखा जा सकता है । कवि ने प्रतीकात्मक अथवा दृष्टकूट शैली का आधार लेकर अपने भावो की सरस अभिव्यक्ति की है ।

अलंकार—(१) 'हर का तिलक'''दहत'=रूपकातिशयोक्ति।
(२) 'कहियत है'''बहत'=विशेषोक्ति।
(३) 'ऐसोई ध्यान'''रहत'=परिकरांकुर।
(४) 'चिते जाति'''सहत'=विरोधाभास।

ए सखि ! आजु की रैनि को दुख कह्यो न कछु मोपै परै।
मन राखन को बेनु लियो कर, मृग थाके उडुपति न चरै॥
वाही प्राननाथ प्यारे बिनु सिव-रिपु बान नूतन जो जरै।
अति अकुलाय बिरहिनी व्याकुल भूमि डसन-रिपु भख न करै॥
अति आतुर ह्वै सिंह लिख्यो कर जेहि भामिनि को करुन टरै।
सूरदास ससि को रथ चलि गयो, पाछे तें रवि उदय करै॥२९८॥

शब्दार्थ—रैनि=रात। मोपै=मुझ से। मन राखन=मन बहलाने। बेनु=वंशी। उडुपति=चन्द्रमा। सिव-रिपु=कामदेव। नूतन=नवीन। अकुलाय=घबराकर। भूमि-डसन-रिपु=साँप। भख=भक्षण। आतुर=बेचैन। भामिनि=स्त्री, राधा। टरै=टले।

प्रसंग—प्रस्तुत पद मे राधा के विरहोन्माद का चित्रण किया गया है। चाँदनी रात में चन्द्रमा के सौन्दर्य को देखकर राधा का संताप अत्यधिक बढ जाता है, सखियाँ सभी प्रयत्न करने पर भी उसकी व्यथा कम न कर सकी। ऐसी स्थिति मे एक सखी राधा की स्थिति का वर्णन करती है।

व्याख्या—हे सखी ! आज रात में श्री राधा जी को जो कष्ट हुआ उसका वर्णन मुझ से नही हो सकता। श्रीकृष्ण के वियोग में व्यथित मन को बहलाने के लिए उन्होने श्रीकृष्ण की वंसी लेकर बजानी शुरू कर दी जिसे सुनकर चन्द्रमा के रथ को हांकने वाले हिरण मोहित होकर रुक गये, जिससे चन्द्रमा का आगे बढना रुक गया, रात रुक गयी और कृष्ण के विना राधा का संताप बढ़ने लगा और ऐसे समय मे राधा मे कामोद्वेग बढ़ा जिससे वह व्याकुल होकर तड़पने लगी। बेचैन राधा की वेदना देखी नही जाती थी; उस समय धरती पर सोने वालो का शत्रु सर्प भी वहाँ न आया, यदि वही आकर उसे डस लेता, प्राण हरण कर लेता तो भी उसका पीड़ा से छुटकारा तो हो जाता। राधा की इस दारुण दशा को देख कर मुझे एक उपाय सूझा और मैंने सिंह का एक चित्र बनाया जिसे देखकर चन्द्रमा के रथ मे जुते हुए हिरण भयभीत होकर

भागने लगे, जिससे चन्द्रमा ढलने लगा और कुछ ही समय मे अस्त हो गया। तत्पश्चात् सूर्योदय हुआ, रात समाप्त हो गयी।

विशेष—उपरोक्त पद मे राधा के वियोग का चित्रण चमत्कारपूर्ण ढंग से किया गया है। कवि ने ऊहात्मक पद्धति का आश्रय लेकर हिन्दी काव्य की एक परम्परा विशेष का पालन किया है। चमत्कारमूलक होकर भी व्यग्य की सरसता से पूर्ण उक्त पद मे सूरदास के काव्य कौशल को देखा जा सकता है।

अलंकार—(१) 'मन राखन···चरै'—विषादन।

(२) 'अति अकुलाय···करै'—सूक्ष्म।

(३) 'ऐ सखि···परै'—अतिशयोक्ति।

देखौ माई ! नयनन्ह सों घन हारे।
बिन ही ऋतु बरसत निसि बासर सदा सजल दोउ तारे॥
ऊरध स्वास समीर तेज अति सुख अनेक द्रुम डारे।
बदन सदन करि बसे बचन-खग ऋतु पावस के मारे॥
ढरि ढरि बूँद परत कंचुकि पर मिलि अंजन सों कारे।
मानहु सिव की पर्नकुटी बिच धारा स्याम निनारे॥
सुमिरि सुमिरि गरजत निसिवासर अस्रु-सलिल के धारे।
बूड़त ब्रजहि सूर को राखै बिनु गिरिवरधर प्यारे॥२६६॥

शब्दार्थ—निसिवासर=रात-दिन। तारे=पुतलियाँ। उरध=ऊँची, लम्बी। समीर=वायु। द्रुम=वृक्ष। बदन=मुख। बचन-खग=वचन रूपी पक्षी। पावस=बरसात। कचुकि=चोली। पर्नकुटी=पत्तो से बनी कुटी। निनारे=अलग। बूडत=डूबते हुए। को=कौन।

प्रसंग—कृष्ण वियोग मे गोपियो की आँखे हर समय आँसू बहाती रहती हैं। प्रस्तुत पद मे आँसुओ की बादलो से तुलना करते हुए एक सखी उसके स्वरूप तथा सौन्दर्य का वर्णन करती हुई कहती है।

व्याख्या—हे सखी ! हमारे नेत्रो से बहते हुए आँसुओ से बादल भी हार गए है। बादल तो केवल ऋतु विशेष मे बरसते है, बरस कर खाली भी हो जाते है किन्तु हमारे नेत्र रात-दिन बरसते रहते है, आँखो की पुतलियाँ हर समय सजल रहती है। हमारे दीर्घ निश्वासो की वायु वर्षाकालीन तूफान के समान तीव्र गति से चलती है और उसने हमारे सुख रूपी सभी वृक्षो को गिरा

दिया है, नष्ट कर दिया है। वर्षा होने पर पक्षी अपने घोसलों मे छिप कर बैठे रहते है उसी प्रकार हमारे वचन वियोग की पीडा के कारण मुख रूपी घर से वाहर नही निकलते, मन के भावो को शब्दो मे प्रकट नही किया जा सकता।

हमारी आंखो मे लगे हुए काजल को लेकर आँखो से हर समय आँसू टपकते रहते है, जब वे आँसू हमारी कचुकी पर गिरते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है जैसे किसी कुटिया मे प्रतिष्ठित दो शिवलिंगो पर वर्षा के जल की दो धाराएँ अलग-अलग गिर रही है। श्रीकृष्ण का वार-वार स्मरण करते हुए हर समय आँसू गिरते रहते हैं जैसे वादल वार-वार गरजते हुए मूसलाधार वर्षा करते है। इस प्रकार के आँसुओ मे सम्पूर्ण व्रजभूमि डूव रही है, इसे उस प्रियतम गोवर्धनधारी के बिना इसे अब और कौन वचा सकता है? कृष्ण के दर्शन अथवा मिलन से ही यह अश्रुधारा थम सकती है।

विशेष—उपरोक्त पद मे आँसुओ और वादको का जो रूपक वाँधा गया है वह भावपूर्ण एव कलात्मक है। आँसुओ का निरन्तर वहना, कृष्ण की स्मृति करते हुए अधिक तीव्र होना, पुतलियों का हर समय सजल रहना में गोपियो की प्रेम भावना का सजीव चित्रण है। तेज-निश्वासो से सुखो का नष्ट होना, वियोग की तीव्रता मे कुछ वोल न सकना आदि मे मनःस्थिति का वास्तविक दिग्दर्शन होता है। आँसुओ का कचुकी पर गिरना, गोपियो के उन्नत उरोजो, शारीरिक सौन्दर्य आदि का चित्रण करने मे कवि को अपूर्व सफलता मिली है।

अलंकार—(१) सम्पूर्ण पद मे साँगरूपक।

(२) ढरि ढरि''' सुमरि सुमिरि'—पुनरुक्तिप्रकाश।

(३) 'नयनन्ह सो'''हारे'—रूपक।

(४) 'मानहु सिव'''निनारे'—उत्प्रेक्षा।

(५) 'गिरिवरधर'—परिकरांकुर।

जौ तू नेकहू उड़ि जाहि।
बिविध वचन सुनाय वानी यहाँ रिझवत काहि॥
पतित मुख पिक परुष पसु लौं कहा इतो रिसाहि।
नाहिनै कोउ सुनत समुझत, विकल विरहिनि याहि॥

राखि लेवौ अवधि लौ तनु, मदन ! मुख जनि खाहि ।
तहूँ तौ तन-दगध देख्यो, बहुरि का समुझाहि ॥
नंदनंदन को बिरह अति कहत वनत न ताहि ।
सूर प्रभु ब्रजनाथ बिनु लै मौन मोहि बिसाहि ॥३००॥

शब्दार्थ—नेकहू=कुछ भी । बिविध=अनेक प्रकार । रिझवत=प्रसन्न करती । पतित=नीचा । परुष=कठोर । रिसाहि=क्रोधित । थाहि=थाह लेना । जनि=मत । तहूँ तौ=तू तो । दगध=जला हुआ । बहुरि=फिर ।

प्रसंग—विरहाकुल गोपियाँ कोयल की आवाज सुन कर अधिक व्यथित होती है, उनमे कृष्ण मिलन की इच्छा अधिक तीव्र हो जाती है । उस समय गोपिया कोयल और कामदेव से न सताने की प्रार्थना करती है ।

व्याख्या—हे कोयल ! यदि तू यहाँ से उड कर कही और चली जाए तो हम पर तेरी कृपा होगी । तू अपने विविध प्रकार के मधुर बोल सुनाकर यहाँ किसे प्रसन्न कर रही है ? हमे तो तुम्हारे मीठे वोल सुन कर दुःख होता है, कृष्ण के वियोग मे जलने वाली गोपियो को तुम्हारी मधुरता प्रसन्न न कर सकेगी । हे कोयल ! तू अपना मुँह नीचा करके यह कठोर वचन क्यो बोल रही है, इतना क्रोध में क्यो आ रही है ? जिस प्रकार मरखना पशु मुख नीचा करके आक्रमण करता है उसी प्रकार तुम्हारे बोल भी हमारे दुख को बढ़ाते है । ससार मे कोई भी ऐसा नही करता है, जो वियोगिनी के व्यथित हृदय को सुनता, समझता अथवा उसकी थाह पा सकता हो । इस व्यथा को वही समझ सकता है जिसने स्वयं इसे अनुभव किया हो ।

हे कामदेव ! तुम हमारे मन मे मिलन की आकांक्षाओ को तीव्र करके हमे सदा जलाते रहते हो, कृपा करके हमारे जीवन को नष्ट न करो । उस समय तक इस शरीर को बचा रहने दो जब तक श्रीकृष्ण अवधि समाप्त होने पर लौटे । तुम्हे तो शरीर के जलने का भली प्रकार अनुभव है फिर हम तुम्हे क्या समझावे । जिसने जलन की अनुभूति पा ली है उसे तो दूसरो की जलन से सहानुभूति होनी ही चाहिए । हे कामदेव ! नन्दनन्दन श्रीकृष्ण का वियोग इतना तीव्र है जिसे कहा नही जा सकता । हे कोयल ! इस समय व्रजपति श्रीकृष्ण यहाँ नही हैं, उनकी अनुपस्थिति मे तुम्हारे मधुर वचन हमारे दु ख को वढ़ाते है इसीलिए तू मौन होकर मुझे अथवा हमे विना मूल्य के मोल ले-ले ।

यदि तुम मौन हो जाओ तो हम आजीवन तुम्हारा उपकार मानेंगी।

विशेष—उपरोक्त पद में गोपियो की विरह-वेदना और कृष्ण दर्शनो की लालसा का सरस चित्रण हुआ है। कामदेव की पौराणिक गाथा का उल्लेख करके कवि ने अनुभूति की गहनता को साकार कर दिया है।

अलंकार—(१) 'पतित मुख…रिसाहि'—अनुप्रास।
(२) 'नाहिनै कोउ…बिसाहि'—अतिशयोक्ति।

मधुकर ! जोग न होत सँदेसन।
नाहिन कोउ ब्रज में या सुनिहै कोटि जतन उपदेसन ॥
रबि के उदय मिलन चकई को सध्या-समय अँदेसन।
क्यों बन बसै बापुरे चातक, बधिकन्ह काज बवेसन ॥
नगर एक नायक बिनु सूनो, नाहिन काज सबैसन।
सूर सुभाय मिटत क्यों कारे जिहि कुल रीति डसैसन ॥२०१॥

शब्दार्थ—संदेसन=संदेशों से। जतन=उपाय। उपदेसन=उपदेशो। चकई=चकवी। अदेसन=निस्सदेह। बापुरे=वेचारे। बधिकन्ह=शिकारी। सबैसन=सब से। डसैसन=डसना।

प्रसग—कवि कुल शिरोमणि, भक्त सूरदास कृत 'भ्रमरगीत' के प्रस्तुत पद मे गोपियो की भक्तिभावना और योग-साधना की निरर्थकता पर व्यग्य की अभिव्यक्ति हुई है। उद्धव द्वारा योग का उपदेश सुन कर सगुण साकार कृष्ण की रागात्मक भक्ति मे मग्न गोपियाँ कहती हैं।

व्याख्या—हे उद्धव ! केवल उपदेश अथवा किसी का सदेश सुन कर कभी योग नही होता, उसके लिए तो व्यक्ति की भावना तथा तदनुसार साधना अपेक्षित होती है। आप करोड़ो प्रकार के उपाय कर लो, किन्तु इस ब्रजभूमि में कोई भी आपका उपदेश नही सुनेगा। प्रत्येक ब्रजवासी श्रीकृष्ण के प्रेम मे मग्न है, उसे आपके निर्गुण निराकार, ज्ञान और योग से मिलने वाले ब्रह्म की कोई चाह नही। अपने दृढ़ विश्वास को प्रकट करते हुए गोपियाँ उद्धव को समझाती हैं कि सन्ध्या के समय चकवी अपने प्रिय से बिछुड़ जाती है परन्तु सूर्य उदय होने पर वह अपने प्रियतम को प्राप्त कर लेती है, इसमे किसी प्रकार का संदेह नहीं। उसी प्रकार अवधि व्यतीत होने पर हमारा श्रीकृष्ण से मिलन भी असदिग्ध है। उद्धव के उपदेश को कठोर, अनुचित और स्वार्थपूर्ण सिद्ध

करते हुए गोपियां कहती है कि उद्धव चातक बेचारा पी-पी की पुकार करता हुआ वन मे निवास करता है, वह किसी को दुख नही देता फिर भी शिकारी उसकी हत्या करता है। शिकारी चातक के दुख को नही समझता, उसी प्रकार हम सभी श्रीकृष्ण के वियोग मे सतप्त है फिर भी आप हमे योग का उपदेश देकर अधिक दुखी करते है। सम्पूर्ण ब्रजधाम अपने एक नायक श्रीकृष्ण के बिना सूना हो गया है, हमे अन्य किसी से कोई लगाव नही। हमे तो केवल अपना प्रिय कृष्ण ही चाहिए, आपके निर्गुण-ब्रह्म की हमे कोई आवश्यकता नही, लेकिन आपका भी दोष नही, संसार मे किसी का स्वभाव बदल नही सकता, सभी काले स्वार्थी होते है, मधुकर रस लेकर उड़ जाता है, कृष्ण हमारा हृदय लेकर चले गए है, सांप भी काला होता है दूसरो को डक ही मारता है, आप भी हम सब की मन.स्थिति जानते हुए भी निर्गुण का उपदेश देकर दुख दे रहे है।

विशेष—उपरोक्त पद मे कवि ने रागानुगा भक्ति की अनन्य उपासिकाओ गोपियों की मनोदशा का सहज किन्तु मार्मिक चित्रण किया है। लोक जीवन मे प्रचलित विश्वासो तथा प्राकृतिक उपकरणो से प्रेमाभक्ति का स्वरूप अधिक स्पष्ट हो गया है। व्यग्य मे तीव्रता और मार्मिकता है किन्तु कटुता नही।

अलंकार—अनुप्रास, अन्योक्ति और वक्रोक्ति अलंकारो का सहज प्रतिपादन है।

यहि डर बहुरि न गोकुल आए।
सुन री सखी! हमारी करनी समुझि मधुपुरी छाए॥
अधरातिक तें उठि बालक सब मोहि जगैहैं आय।
बिनु पदत्रान बहुरि पठवैगी बनहि चरावन गाय॥
सूनो भवन आनि रोकैगी चोरत दधि नवनीत।
पकरि जसोदा पै लै जैहैं, नाचति गावति गीत॥
ग्वालिनि मोहि बहुरि बांधेगी केते बचन लगाय।
एते दुखन सुमिरि सूर मन, बहुरि सहै को जाय॥३०२॥

शब्दार्थ—मधुपुरी=मथुरा। छाए=रहे। अधरातिक=आधी रात। पदत्रान=जूते। बहुरी=पुन। पठवैगी=भेजेगी। नवनीत=मक्खन। केते=कितने हो। बचन=दोष।

प्रसंग—वियोग की तीव्रता मे सयोग की पूर्वानुभूत भावनाये अथवा घटनायें स्मृति पटल पर साकार हो जाती है। सच्चा प्रेमी बीती बातो को याद करते हुए प्रिय पर दोषारोपण न करके अपने मे ही दोषो का आरोप कर लेता है। भ्रमरगीत के प्रस्तुत पद मे सूरदास जी ने गोपियो की ऐसी ही मनःस्थिति का चित्रण किया है। श्रीकृष्ण लौट कर व्रज मे क्यो नही आए ? इसका प्रतिपादन एक गोपिका इस प्रकार करती है कि—

व्याख्या—हे सखि ! श्रीकृष्ण मथुरा मे ही क्यो रह गए है ? व्रजभूमि मे क्यो नही लौटे, इसका कारण तो हमारे अपने ही कर्म है। मेरी समझ मे तो यह आता है कि श्रीकृष्ण यह सोच कर कि व्रज मे आधी रात के समय ही ग्वाल-बाल आकर जगा देगे और फिर गोपिया मिल-जुल कर सभी को नगे पाव वन मे गौओ को चराने भेज देगी। अथवा फिर से किसी सूने घर मे दही माखन चुराते हुए आकर पकड लेगी और फिर गीत गाती हुई नाचती हुई मुझे पकड़ कर यशोदा माता के पास ले जायेगी। फिर तरह-तरह के आरोप लगा कर माता यशोदा मुझे फिर बाध देगी। हे सखि ! आज श्रीकृष्ण अपने मन मे उन सभी दुखो का स्मरण करते हुए, जो हम सब उन्हे दिया करती थी और यह सोचकर कि फिर उन सभी को जाकर कौन सहन करे, व्रजभूमि मे नही लौटे।

विशेष—भक्त कवि सूरदास जी ने उपरोक्त पद मे गोपियो की भक्ति, समर्पण और निरीहता का सजीव चित्रण किया है। इसमे श्रीकृष्ण की लीलाओ का सकेत, गोपियो के सहज प्रेम की अभिव्यक्ति है।

अलकार—स्मरण और अनुप्रास अलंकारो की सहज योजना, भाव, भाषा और सगीत का समन्वय इस पद की विशेषता है।

तब तें बहुरि न कोऊ आयो।
वहै जो एक बार ऊधो पै कछुक सोध सो पायो ॥
यहै विचार करै, सखि माधव इतो गहरू क्यों लायो।
गोकुलनाथ कृपा करि कबहूँ लिखियौ नाहि पठायो ॥
अवधि आस एती करि यह मन अब जैहै बौरायो।
सूरदास प्रभु चातक बोल्यो, मेघन अंबर छायो ॥२०३॥

शब्दार्थ—वहुरि=पुनः। सोध=खबर। इतो=इतना। गहर=विलम्व। पठायो=भेजा। बौरायो=भ्रमित, पागल।

प्रसग—भक्त शिरोमणि सूरदास ने 'भ्रमरगीत' मे रागानुगाभक्ति की बहुमुखी अभिव्यक्ति की है। श्रीकृष्ण मथुरा चले गए तो उनकी वाट देखती हुई गोपिया विरह-व्यथा मे बेसुध-सी रहती हैं। अपने प्रिय की अनुरागिनी गोपियो की व्यथा को ही इस पद मे प्रकट किया गया है।

व्याख्या—गोपिया कहती हैं कि जब से श्रीकृष्ण मथुरा गए है तब से कोई भी लौट कर नही आया। उसके पश्चात् तो केवल उद्धव से ही कुछ समाचार मिला है। हे सखी! कृष्ण ने इतनी देर क्यो की है? अपना कोई समाचार नही भेजा, यह विचारणीय है। आज तक उन्होने कोई पत्र भी तो लिख कर नही भेजा। न जाने गोकुल के स्वामी ने सब कुछ क्यो भुला दिया है। वे कुछ दिन पश्चात् लौटने को कह गए थे किन्तु इतना समय व्यतीत हो गया, वे नही आए। वियोग की इन घडियो को मन केवल एक ही आशा से गिन रहा था कि श्याम अवश्य लौट आयेगे। किन्तु अब ऐसा लगता है कि मन अपनी सुध-बुध खो देगा। आकाश में बादलो को घुमड़ते देख कर चातक पी-पी की पुकार करने लगता है, उसी प्रकार सभी गोपिया उस घनश्याम की याद करते हुए अपनी व्यथा कहती रहती है।

विशेष—(१) उपरोक्त पद मे कवि ने गोपियो की आस्था, वियोग की व्यथा एवं भावुकता का सहज चित्रण किया है। आकाश में छाए मेघ और चातक की पुकार से गोपियो की मन.स्थिति साकार हो जाती है।

(२) भाषा मे सरसता, प्रवाह एवं ध्वन्यात्मकता का सफल निर्वाह हुआ है।

मेरो मन मथुराइ रह्यो।
गयो जो तन तें वहुरि न आयो, लै गोपाल गह्यो॥
इन नयनन को भेद न पायो, केइ भेदिया कह्यो।
राख्यो रूप चोरि चित-अंतर सोइ हरि सोघ लह्यो॥
आए बोलत ता बिन ऊधो 'मनि दै लेहु मह्यो"।
निर्गुन साँटि गोविंदहि माँगत, क्यों दुख जात सह्यो॥

जेहि आधार आजु लौं यह तनु ऐसे ही निबह्यो।
सोइ छिड़ाय लेत सुनु सूरज, चाहत हृदय दह्यो ॥२०४॥

शब्दार्थ—बहुरि=पुनः। सोध लह्यो=खोज कर ली। मह्यो=मट्ठा। साटि=बदले मे। निबह्यो=निर्वाह किया। छिड़ाय=छुडा लेना। दह्यो=जलाना।

प्रसंग—प्रियतम के रूप सौन्दर्य को मन में रखकर जीवन व्यतीत करने वाली गोपियों को उद्धव का उपदेश प्राण घातक प्रतीत होता है। प्रस्तुत पद मे गोपियों के प्रेम की अनन्यता का चित्रण किया गया है। गोपियाँ तरह-तरह के विचार प्रगट करती हुई श्रीकृष्ण को ही जीवन का एकमात्र आधार स्वीकार करती हैं।

व्याख्या—हे सखी! मेरा मन तो वह गोपाल श्रीकृष्ण ले गये है। जिस दिन से वे मथुरा गये है मेरा मन भी उनके साथ ही मथुरा चला गया है। मेरा यह शरीर तो कृष्ण के बिना प्राणहीन है। मेरे मन प्राणो में तो घनश्याम का सलोना रूप सौन्दर्य छाया हुआ है। हे सखी! कृष्ण के दर्शन की उतावली आखे हर समय उसकी बाट देखती रहती है, उसे न देखकर आसू बहाती रहती है। इन आंखो का भेद कोई नही जानता। शायद किसी भेदिये द्वारा श्रीकृष्ण ने यह जान लिया है कि हमारे मन मे उनका रूप सौन्दर्य छाया हुआ है। आज उद्धव शायद वही जीवनाधार मांगने आये है। उद्धव निर्गुण-ब्रह्म के बदले हमसे गोविन्द माँगते है। वे हमे सगुण, साकार, सोलह कला सम्पूर्ण श्रीकृष्ण की भक्ति त्याग कर निर्गुण-ब्रह्म के लिये योगसाधना ग्रहण करने को कहते है। यह तो उसी प्रकार है जैसे कोई अमूल्य मणि के बदले में मामूली मट्ठा ग्रहण करने की बात कहता हो। यह दुख भला किस प्रकार सहन हो सकता है। आज तक जिस कृष्ण के सौन्दर्य, औदार्य तथा भक्ति भाव के आधार पर इस शरीर का निर्वाह हो सका है। हमारा जीवन श्रीकृष्ण की आशा लगाये मृत नही हुआ। उद्धव वह आधार हमसे छीन लेना चाहता है। उद्धव का उपदेश और कुछ नही केवल हमारे प्राणो को जलाने का कारण है।

विशेष—इस पद मे नेत्रों की दशा, श्रीकृष्ण के रूप सौन्दर्य को चुराकर अपने अन्तर में रखने और किसी भेदिये द्वारा समाचार पाकर उसे

लेने के रूपक मे सरसता व अनन्यता का समावेश है। निर्गुण को मट्ठा तथा सगुण को मणि कहने मे भी गोपियों की रागानुभक्ति मे अनन्यता प्रकट हुई है।

अलंकार—अनुप्रास, रूपक अलकारो का सफल निर्वाह हुआ है।

लोग सब देत सुहाई बातें।
कहनहि सुगम करत नहि धावै, बोलि न आवत तातें ॥
पहिले आगि सुनत चदन सी सती बहुत उमहै।
समाचार ताते अरु सीरे पीछे कौन कहै ॥
कहत सबै सग्राम सुगम अति कुसुमलता करवार।
सूरदास सिर दिए सूरमा पाछे कौन विचार ? ॥३०५॥

शब्दार्थ—सुहाई=प्रिय। सुगम=आसान। उमहै=उत्साह मे भरना। ताते=गर्म। सीरे=शीतल। करवार=तलवार। सूरमा=वीर।

प्रसंग—कविकुल शिरोमणि भक्त सूरदास जी ने 'भ्रमरगीत' के माध्यम से गोपियो की विरहाकुलता के साथ-साथ सगुणोपासना की श्रेष्ठता का भी प्रतिपादन किया है। उद्धव के ज्ञान और योग का प्रतिवाद करती हुई गोपियाँ अत्यन्त सरलता से उद्धव पर व्यग्य करती हैं। प्रस्तुत पद मे उक्त दोनो भावों को व्यक्त किया गया है।

व्याख्या—उद्धव द्वारा प्रतिपादित योग और ज्ञान मे खोखलापन अथवा क्लिष्टता की प्रमुखता बताते हुए गोपियाँ कह रही हैं कि सभी लोग ऐसी बाते करते हैं जो दूसरो को सुखद अथवा सुगम लगती हो किन्तु ऐसे लोगो की कथनी और करनी मे अन्तर आ जाता है। उद्धव जिस योग का प्रतिपादन करते हैं वह कहने और सुनने मे तो आसान है किन्तु करने मे तो वह अत्यन्त कठिन है। वास्तव में करके दिखाना उचित होता है केवल कहना, उपदेश देना कदापि उचित नही, क्योकि कठिनाई का अनुभव, सुख-दुख, हास-पीडा आदि का आस्वादन तो स्वय कार्य करने वाले को ही होता है। यदि कोई स्त्री सती होने को तत्पर हो तो उसे अग्नि भी चन्दन के समान शीतल ही नजर आती है। वह अपने उत्साह मे इतनी मग्न होती है कि उसे बाहर की किसी बाधा का आभास नही होता। किन्तु जब वह सती होती है तो उसकी जलन का अनुभव केवल वही कर पाती है, कोई दूसरा यह नही बता सकता

कि आग चन्दन सी शीतल थी अथवा जलाने वाली थी। कहने वाले केवल कहते है, करने का अनुभव उन्हे नही होता। जब कोई वीर योद्धा रणभूमि को जाता है तो वह अपने उत्साह, लक्ष्य की प्राप्ति तथा बाधाओं को कुचलने के दृढ निश्चय मे इतना निमग्न होता है कि उसे तलवारो की तीक्ष्ण धार भी फूलो की माला सी लगती है, लोग यही समझते और कहते है कि वह तलवार की धार नही फूलो की शैय्या है किन्तु जब वह युद्ध मे वीरगति को प्राप्त हो जाता है तो कोई यह बता नही सकता कि उसे तलवार की धार कैसी लगी थी। जिस प्रकार सती अथवा शूरवीर की स्थिति का बखान सरल है उसी प्रकार उद्धव द्वारा योग और ज्ञान का प्रतिपादन सरल है किन्तु उसका अनुगमन कठिन है। गोपियाँ सगुणोपासना के सरल मार्ग को त्याग कर योग के कठिन मार्ग को अपनाना नही चाहती।

विशेष—उपरोक्त पद मे सामाजिक जीवन मे मान्य जीवनादर्शों सती व सुरमा को लेकर जिस ढग से गोपियो ने अपनी साधना मे आस्था व्यक्त की है उसमे व्यग्य की मधुरता का समावेश भी प्रशसनीय है।

अलकार—विरोधाभास, रूपक और अनुप्रास अलकारो का सफल निर्वाह हुआ है।

बिछुरत श्री ब्रजराज आज सखि ! नैनन की परतीति गई।
उडि न मिले हरि-संग-बिहंगम ह्वै न गए घनस्याम-मई।
यातें क्रूर कुटिल सह मेचक वृथा मीन छवि छीनि लई।
रूप-रसिक लालची कहावत, सो करनी कछु तौ न भई॥
अब काहे सोचत जल मोचत, समय गए नित सूल नई।
सूरदास याही तें जड़ भए जब ते पलकन दगा दई॥३०६॥

शब्दार्थ—परतीति=विश्वास। बिहगम=पक्षी, खजन। क्रूर=कठोर। मेचक=कालापन। भई=हुई। मोचत=छोडना। सूल=पीड़ा। दगा=धोखा।

प्रसंग—गोपिया श्रीकृष्ण के वियोग मे दुखी हैं, आँखे हर समय श्यामसुन्दर का सौन्दर्य देखना चाहती है, उनमे से आँसू बहते रहते है। ऐसी स्थिति मे अपने सताप को प्रकट करती हुई नाना प्रकार की कल्पनाएँ करती रहती हैं। प्रस्तुत पद मे गोपिया पश्चाताप करती हुई आँखो की कमियो, त्रुटियो का

वर्णन करती हैं।

व्याख्या—हे सखी ! हमें इन आँखो पर बहुत विश्वास था किन्तु आज जब व्रजराज श्रीकृष्ण हमसे बिछुड़ गये तो वह सभी विश्वास समाप्त हो गया है। आँखो की सुन्दरता का वर्णन करते हुए अनेक उपमाये कही जाती थी किन्तु आज वे सभी झूठी सिद्ध हो चुकी हैं। आँखो के लिये खंजन पक्षी की उपमा दी जाती थी किन्तु यदि ये पक्षी होते तो उड़कर श्रीकृष्ण से मिलते, न तो नयन उड़कर मिले, न ही घनश्याम की श्यामता में मिलकर वैसे बने, अत. खंजन पक्षी की उपमा भी व्यर्थ सिद्ध हो गयी। इन आँखो को मछली भी कहा जाता था, इन्हे उसकी सुन्दरता एव शोभा प्राप्त थी किन्तु मछली की उपमा भी निरर्थक ही रही। मछली अपने प्रियतम जल से बिछुटते ही प्राण त्याग देती है किन्तु इन आँखो ने ऐसा भी नही किया। इसलिए आँखो को मछली की समानता कैसे दी जा सकती है। ये आँखे श्यामसुन्दर के रूप का सौन्दर्य रसास्वादन करना चाहती हैं। हर समय उसके लिये तड़पती हैं किन्तु यह सब होकर भी इनकी करनी तदनुकूल नही हो सकी। निरन्तर आँसू बहाने वाली आँखों को गोपियाँ कहती है कि समय व्यतीत हो जाने के बाद आंसू बहाने का कुछ भी लाभ नही। अवसर बीत जाने के बाद चिन्ता करना अथवा नित्यप्रति नई तकलीफो को भोगना ही होगा। आँखो ने ही नही, पलको ने भी आँखो को धोखा दिया है। ऐसा लगता है कि कृष्ण के वियोग में नेत्र जड़ हो गये है उनमे किसी प्रकार की हचलच नही, अब तो पलके भी नही लगती। दुख की अधिकता, प्रिय के प्रति आसक्ति ने आँखो को इतना विह्वल कर दिया है कि उनमे किसी प्रकार की गति नही रही, केवल जाने वाले प्रियतम के पथ पर लगी हुई आँखे हर समय आंसू बहाती रहती हैं।

विशेष—उपरोक्त पद मे विरह की अतिशयता का प्रतिपान हुआ हैं। वियोगावस्था में प्रेमी का पश्चाताप, पुरानी स्मृतियो तथा प्रियतम के रूप सौन्दर्य को लेकर भिन्न-भिन्न रूपो से प्रकट होता रहता है। सूरदास जी उस अवस्था विशेष का चित्रण करने मे पूर्णतया सफल हुए हैं।

अलकार—उल्लेख, उपमा, श्लेष अलकारो का सफल निर्वाह हुआ है।

को कहै हरि सौं बात हमारी ?
हम तौ यह तब तें जिय जान्यौ जबै भए मधुकर अधिकारी ॥

एक प्रकृति, एकै कैतव-गति, तेहि गुन अस जिय भावै।
प्रगटत है नव कंज मनोहर, ब्रज किंसुक कारन कत आवैं॥
कंजतीर चंपक-रस-चंचल, गति सब ही तें न्यारी।
जा अलि की संगति बसि मधुपुरि सूरदास प्रभु सुरति बिसारी॥२०७॥

शब्दार्थ—मधुकर=भ्रमर, उद्धव। प्रकृति=स्वभाव। कैतव-गति=धोखे की चाल। किंसुक=टेसू। कत=क्यो। कजतीर=कमल के समीप। चपक-रस-चचल=चपा के रस की इच्छा। सुरति=याद।

प्रसग—सरल स्वभाव वाली गोपियो का कृष्ण के प्रति सहज प्रेम था। कृष्ण के वियोग में उनका प्रतिपल कृष्ण की याद मे व्यतीत हो रहा था। विश्वास था कि एक दिन कृष्ण लौटेंगे, किन्तु जब उद्धव ने आकर निर्गुण ब्रह्म और उसकी प्राप्ति के लिये योगमार्ग का संदेश अथवा उपदेश दिया तो गोपियाँ निराशा और व्यथा मे अपने को असहाय समझने लगी। श्रीकृष्ण की बेवफाई, उद्धव की कठोरता और भ्रमर की स्वार्थपरता के कारण उन्हे लगा कि ये सभी एक ही स्वभाव और गुण वाले है। इसी असाह्यावस्था मे वे अपनी विवशता, जिसमें प्रेम की अनन्यता और भक्ति की समर्पण भावना का मिश्रण है, को इस पद मे व्यक्त करती है।

व्याख्या—अब हमारे मन की बात एव श्रीकृष्ण के वियोग जन्य दुख को कृष्ण तक कौन पहुँचायेगा? पहले तो विश्वास था कि कृष्ण हमारी स्थिति को समझेंगे, उन्हे हमारी याद अवश्य आती होगी किन्तु यह जानकर कि मधुकर उद्धव—जैसे व्यक्ति ही कृष्ण के निकट है, इन्ही को कृष्ण की ओर से बात करने का अधिकार प्राप्त है, हमारे मन ने समझ लिया है कि अब कृष्ण तक हमारी बात नही पहुँच सकती। क्योकि श्रीकृष्ण और उद्धव दोनो का स्वभाव भ्रमर के समान स्वार्थी और धोखे की चाल चलने वाला है, इसलिए उन्हे एक सी बाते ही अच्छी लगेगी। भ्रमर फूलो का रसपान करता हुआ एक फूल से दूसरे पर उड़ता रहता है और उसे पुराने फूलो की याद नही रहती, जिसे कमल का रस मिले वह भला टेसू के फूल पर क्यो आयेगा। आज कृष्ण के पास अनेक नये-नये कमल है फिर भला वह ब्रज रूपी टेसू के फूलो के पास क्यो आएगा? भ्रमर रस के लोभ मे कमल के पास रहकर भी चपा का रस लेना चाहता है, भले ही वह उसके काम का नही होता।

वस्तुतः भ्रमर की चाल ही कुछ निराली है। ऐसे स्वार्थी लोगों की संगति मे रहकर मथुरावासी कृष्ण ने हमारी याद भुला दी है।

विशेष—गोपियो के माध्यम से पुरुष के अत्याचारो से पीड़ित नारी की व्यथा, पुरुष की स्वार्थवृत्ति के साथ-साथ प्रेम से समर्पित भक्त आत्मा की अनन्यता का इस पद मे मार्मिक चित्रण हुआ है। गोपियाँ यह सब जानकर भी केवल कृष्ण को दोष नही देती अपितु कृष्ण के चारो ओर जो स्वार्थी लोग एकत्र हो गए है उन पर ही आरोप लगाती हैं। सामाजिक और पारिवारिक बन्धनो मे जकड़ी नारी-जीवन की विडम्बना भी तो यही है कि वह पुरुष पर खुल कर आरोप नही लगा पाती।

अलकार—अनुप्रास, दीपक, रूपक और व्याजनिन्दा अलकारो का सफल निर्वाह है।

हमारे स्याम चलन चहत हैं दूरि।
मधुवन बसत आस ही सजनी! अब मरिहैं जो बिसूरि॥
कौने कही, कहाँ सुनि आई? केहि दिसि रथ की धूरि।
संगहि सबै चलौ माधव के नातरु मरिबो झूरि॥
पच्छिम दिसि एक नगर द्वारका, सिंधु रह्यौ जल पूरि।
सूर स्याम बयो जीवहि वाला, जात सजीवन मूरि॥३०८॥

शब्दार्थ—बिसूरि=भुलाना। धूरि=धूल। नातरु=नही तो। झूरि=झुलस कर। मूरि=जड़ी।

प्रसग—भमर गीत मे कुछ पद ऐसे भी हैं जिन्हे भ्रमर गीत परम्परा से असम्बद्ध कहा जाता है। प्रस्तुत पद उसी क्रम के अन्तर्गत है। गोपियो को पता चला कि श्रीकृष्ण मथुरा छोड़कर द्वारिका जा रहे हैं। अभी तक तो उन्हे आशा थी कि मथुरा तो निकट ही है, कभी न कभी कृष्ण अवश्य आयेगे किन्तु सुदूर पश्चिम मे स्थित द्वारिका जाने का समाचार पाकर उनकी व्यथा बढ जाती है और गोपियाँ परस्पर वार्तालाप करती हुई अपनी भावाभिव्यक्ति करती हैं।

व्याख्या—हे सखि! हमारे प्रिय श्यामसुन्दर अब बहुत दूर जाना चाहते हैं, अभी तक तो वे मथुरा मे रहते थे और हमारे मन मे उनके लौटने की आशा थी किन्तु अब यदि श्रीकृष्ण हमे भुलाकर चले गए तो हमारा मरना

निश्चित है। यह समाचार पाकर सभी गोपियाँ व्याकुल होकर परस्पर तरह-तरह के प्रश्न करने लगती है कि यह समाचार किसने सुनाया है। कौन कहाँ से सुन कर आई है ? जिस रथ मे श्यामसुन्दर जा रहे है उसकी धूलि कौन सी दिशा मे है ? सभी कहती हैं कि आओ हम सब श्याम के साथ ही चले, नही तो वियोगाग्नि मे झुलस कर सबको मरना होगा। तभी एक सखि बताती है कि श्रीकृष्ण पश्चिमी सागर के तट पर स्थित द्वारिका को जा रहे है, जिसके चारो ओर जल से भरा हुआ समुद्र है। गोपियाँ सुनकर और भी व्याकुल हो जाती है कि अब ये सब बालाएँ किस प्रकार जीवित रहेगी क्योकि उनके जीवन के एक मात्र आधार, मृत के लिए जीवनदायिनी सजीवनी के समान श्रीकृष्ण उन्हें छोड़कर जा रहे है।

विशेष—इस पद मे विरहिनी गोपियो की आकुलता तथा कृष्ण के प्रति उनके अनन्य प्रेम की सरस अभिव्यक्ति हुई है। भाषा मे सरसता, प्रवाह और प्रसाद गुण का सफल निर्वाह हुआ है।

उती दूर तें को आवै हो।
जाके हाथ सँदेस पठाऊँ सो कहि कान्ह कहाँ पावै हो ॥
सिंधुकूल एक देस कहत हैं, देख्यो सुन्यो न मन धावै हो।
तहाँ रच्यो नव नगर नंदसुत पुरि द्वारका कहावै हो ॥
कचन के सब भवन मनोहर, राजा रंक न तृन छावै हो।
ह्वाँ के सब बासी लोगन को ब्रज को बसिबो नहिं भावै हो ॥
बहु बिधि करति बिलाप बिरहिनी बहुत उपाव न चित लावै हो।
कहा करौं कहँ जाउँ सूर प्रभु, को मोहि हरि पै पहुँचावै हो ॥३०६॥

शब्दार्थ—पठाऊँ=भेजूँ। धावै=भागे। रच्यो=बनाया। कचन=सोना। रक=भिखारी। तृन=घास।

प्रसग—श्रीकृष्ण के द्वारिका गमन का समाचार पाकर गोपियो की व्याकुलता अत्यधिक बढ जाती है। उनके लिए द्वारिका नगरी तो सभी प्रकार से अगम्य ही थी, ऐसी स्थिति मे श्रीकृष्ण की महिमा, द्वारिकावासियो के वैभव के समक्ष अपनी अकिंचनता को देखकर उनकी व्यथा और भी बढ़ जाती है। इसी मन.स्थिति को सूरदास जी ने प्रस्तुत पद में चित्रित किया है।

व्याख्या—एक गोपी कहती है कि श्रीकृष्ण जितनी दूर जा रहे हैं वहाँ

से यहाँ तक भला कौन आ सकेगा ? द्वारिका जाने के पश्चात् तो कृष्ण को संदेश भेजना भी सभव न होगा। यदि कोई सदेशवाहक मिल भी गया तो भला वह भी श्रीकृष्ण का कैसे मिल सकेगा, क्योकि श्रीकृष्ण ने, जो नवीन नगर बनाया है वह तो हमारी पहुँच से बहुत परे है। सुनते हैं कि सुदूर सागर तट पर श्रीकृष्ण ने एक सुन्दर नगर बनाया है जिसे हमने न देखा न सुना है, जो स्थान देखा-सुना नही वहाँ तो मन की गति भी सम्भव नही। उस द्वारिका नगरी के सभी भवन सोने से बने हुए है, एक से एक मनोहर है, वहाँ तो राजा और रंक सभी सोने के महलों मे रहते हैं, कोई भी घास व तिनको का छप्पर डाल कर नही रहता। इस प्रकार के वैभव सम्पन्न नगरवासियो को व्रज मे बसना कैसे अच्छा लग सकता है। यहाँ तो सभी लोग अपनी झोपड़ियों में रहते है। भला उन झोपड़ियो में द्वारिकावासी कृष्ण को कैसे आने देंगे ? इस प्रकार व्यथित गोपियाँ तरह-तरह से विलाप करती हैं। नानाप्रकार से चिन्ता करने पर भी उन्हे कोई उपाय नही सूझता। गोपियाँ रोती हुई यही कहती हैं कि अब हम क्या करे, किस के पास जायें, कौन हमें प्रियतम श्रीकृष्ण के पास पहुँचा सकता है ?

विशेष—प्रस्तुत पद मे गोपियों की विरह-व्यथा को सरस एवं स्वाभाविक रूप मे चित्रित किया गया है। प्रियतम की महानता के समक्ष अपनी अकिंचनता का आभास सात्विक प्रेम का परिचायक होता है। गोपियो की आकुलता कृष्ण के प्रति अनन्यता की अभिव्यक्ति ही है।

हमै नंदनंदन को गारो।
इंद्र कोप व्रज बह्यो जात हो, गिरि धरि सकल उबारो॥
रामकृस्न बल बदति न काहू, निडर चरावत चारो।
सगरे बिगरे को सिर ऊपर बल को बीर रखवारो॥
तब ते हम न भरोसो पायो केसि तृनाव्रत मारो।
सूरदास प्रभु रंगभूमि में हरि जीतो, नृप हारो॥३१०॥

शब्दार्थ—गारो=गर्व। कोप=क्रोध। बदति=परवाह। सगरे=सभी। बल को बीर=बलराम के भाई। नृप=राजा।

प्रसग—प्रस्तुत पद मे गोपियाँ श्रीकृष्ण के विभिन्न कार्य कलापो को स्मरण करती हुई उनकी प्रशसा तथा उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करती

है। श्रीकृष्ण के भरोसे ब्रजवासी कितने निश्चिन्त थे, उसकी एक झलक प्रस्तुत पद मे प्राप्त होती है।

व्याख्या—गोपियाँ कहती है कि हमे नन्दनन्दन श्रीकृष्ण पर गर्व है। उन्होने सम्पूर्ण ब्रजभूमि के कष्टो का निवारण किया, तरह-तरह की विपत्तियो को समाप्त कर ब्रजवासियो का जीवन सुरक्षित और सुखद बनाया। जब इन्द्र ने क्रोध मे आकर ब्रजभूमि को डुबाने का प्रयत्न किया था उस समय श्रीकृष्ण ने ही गोवर्धन पर्वत को उठाकर सभी का उद्धार किया, देवराज इन्द्र का गर्व दूर किया था। बलराम और श्रीकृष्ण की शक्ति के भरोसे हम सभी किसी की भी परवाह नही करती थी। निर्भीक होकर अपनी गौओ को चराया करती थीं। बलराम के भाई कृष्ण सभी बिगडे हुए कामो को अपने सिर पर लेकर उन्हे पूरा करते थे और ब्रजवासियो की आपदाओ से रक्षा करते थे। जिस समय कृष्ण ने केशी और तृणावर्त जैसे भयकर राक्षसों का सहार किया तबसे हम सबका भरोसा और भी बढ गया था। जब श्रीकृष्ण राजा कस का निमत्रण पाकर मथुरा गए थे, तो कस की रगभूमि मे उन्होने अनेक राक्षसो का सहार कर विजय प्राप्त की थी, उनकी शक्ति के समक्ष राजा कंस भी पराजित हो गया था। ऐसे बलशाली विपत्ति-विदारक कृष्ण पर हमे अभिमान है।

विशेष– इसमे श्रीकृष्ण की तेजस्विता की स्तुति की गई है। वस्तुतः प्रिय की उदारता, तेजस्विता, शक्तिमता तथा लोक कल्याण की आकांक्षा आदि सद्गुणो पर प्रेमिका का गर्वित होना स्वाभाविक ही है। इस पद में सूरदास जी ने श्रीकृष्ण के लोक रक्षक रूप का चित्रण किया है। वैसे तो सूरदास जी ने वात्सल्य और श्रृंगार का ही चित्रण किया है, किन्तु उपरोक्त पद में श्रृगार का प्रतिपादन वीरकाव्यो की उस शैली का संकेत करता है जहाँ नायिका नायक की वीरता पर मुग्ध होकर अपना सर्वस्व निछावर कर देती थी।

ऐसे माई पावस ऋतु प्रथम सुरति करि माधवजू आवै री।
बरन बरन अनेक जलधर अति मनोहर बेष।
यहि समय यह गगन-सोभा सबन ते सुबिसेष॥

उड़त बक, सुक - बृंद राजत, रटत चातक मोर।
बहुत भाँति चित हित-रुचि बाढ़त दामिनी घनघोर ॥
धरनि-तनु तृनरोम हर्षित प्रिय समागम जानि।
और द्रुम बल्ली वियोगिनि मिलीं पति पहिचानि ॥
हंस, पिक, सुक, सारिका अलिपुंज नाना नाद।
मुदित मगल मेघ बरसत, गत विहग - विषाद ॥
कुटज, कुंद, कदब, कोविद, कनिकार, सु-कंजु।
केतकी, करबीर, चिलक बसत-सम तरु मजु ॥
सघन तरु कलिका-अलंकृत, सुकृत सुमन सुवास।
निरखि नयनन्ह होत मन माधव-मिलन की आस ॥
मनुज मृग पसु पच्छि परिमित औ अमित जे नाम।
सुख स्वदेस बिदेस प्रीतम सकल सुमिरत धाम ॥
ह्वै है न चित्त उपाय सोच न कछू परत बिचार।
नाहि ब्रजबासी बिसारत निकट नंदकुमार ॥
सुमिरि दसा दयाल सुदर ललित गति मृदु हास।
चारु लोल कपोल कुडल डोल बलित-प्रकास ॥
बेनु कर कल गीत गावत गोपसिसु बहु पास।
सुदिन कब यहि आँखि देखैं बहुरि बाल-विलास ॥
बार बारहिं सुधि रहति अति विरह व्याकुल होति।
बात-बेग सो लगै जैसो दीन दीपक-ज्योति ॥
सुनि विलाप कृपाल सूरजदास प्रान प्रतीति।
दरस दै दुख दूरि करिहैं, सहि न सकिहैं प्रीति ॥३११॥

शब्दार्थ—पावस=वर्षा ऋतु। सुरति=याद। बरन=रग। जलधर=बादल। वक=बगुला। राजत=शोभित। हित-रुचि=प्रेम की अभिलाषा। दामिनी=बिजली। द्रुम=वृक्ष। वल्ली=वेल। पिक=कोयल। सारिका=मैना। विहग-विषाद=पक्षियो का दुख। कुटज=कमल। कोविद=कचनार। कबीर=कनेर। सुकृत=पुष्प। सुबास=सुगन्धि। परिमित=पर्यन्त। बिसारत=भुलाकर। वेनु=वंशी। कल=सुन्दर। वात वेग=वायु का झोका। प्रतीति=विश्वास।

प्रसग—प्रेम और प्रकृति का सबन्ध चिरन्तन है। प्राकृतिक सौन्दर्य भावुक मनो मे नाना प्रकार की अनुभूतियो को जागृत करता है। सयोग और वियोग की विपरीत स्थितियो के अनुसार ही प्रकृति सौन्दर्य को देखा जाता है। प्रस्तुत पद मे पावस ऋतु का व्यापक चित्रण है। वर्षा ऋतु आने वाली है, प्रकृति के विभिन्न उपकरणो के निखरते सौन्दर्य को देखकर कृष्ण के वियोग से संतप्त गोपियाँ आशा करने लगी है कि जिस प्रकार ग्रीष्म के सताप की समाप्ति पर वर्षा ऋतु का आगमन हो रहा है शायद उसी प्रकार श्रीकृष्ण के आगमन से वियोग की घड़ियाँ समाप्त हो जाये। गोपियाँ परस्पर वार्तालाप करती हुई कहती हैं।

व्याख्या—हे सखि! वर्षा ऋतु आने वाली है, क्या ऐसा हो सकता है कि श्रीकृष्ण पहले की तरह वर्षा ऋतु की सरसता का स्मरण करके पुनः ब्रज को लौट आयें। गोपी अपनी सखी को वर्षा ऋतु के सौन्दर्य का वर्णन करती हुई कहती है कि आकाश मे तरह-तरह के रगो वाले बादल छा रहे है, उनका आकार-प्रकार अत्यन्त आकर्षक है। वस्तुत. आकाश की इस समय की शोभा अन्य सभी समयो से सुन्दर और आकर्षक है। नीले आकाश मे श्वेत बगुलो की पक्तियाँ उड रही है, पक्षी वृन्द अपने अपने सौन्दर्य से बहुत सजीले दिखाई देते हैं, चातक और मोर की आवाजे वातावरण मे गूज रही है। आकाश मे घनघोर बादलो मे बिजली की चमक और कड़क इतनी सुहावनी है जिसे देखकर मन मे तरह-तरह से प्रेम की अभिलाषा बढती जाती है। सम्पूर्ण वातावरण मिलन के आनन्द से ओतप्रोत है, पृथ्वी का शरीर भी प्रसन्नता से भरपूर है, उस पर घास के तिनके ऐसे प्रतीत होते है जैसे आनन्दातिरेक मे रोगटे खडे हो जाये। अपने प्रियतम को मिलने की आकाक्षा मे लताये वृक्षों से इस प्रकार लिपट रही हैं जैसे कोई वियोगिनी परदेश से आये पति को देखकर लिपट जाती है। हंस, कोयल, तोते, मैना तथा भ्रमरो की गुजार से वातावरण विविध ध्वनियो से गूँज उठा है। प्रसन्नता से भरे बादलो से मगलकारी वर्षा हो रही है जिसने ग्रीष्म से सतप्त पक्षियो के दुख दूर कर दिए है। चारो ओर तरह-तरह के वृक्ष फूलो से लद कर बसन्त की मधुरता और सरसता की समानता कर रहे है। कमल, मकरन्द, कदम्ब, कचनार, कनेर, केवडा और चिलक आदि अपनी सुन्दरता दिखा रहे है। घने वृक्ष कलियो से सुसज्जित हो

रहे है, उनसे फूलो की सुगन्धि फैल रही है। इस प्राकृतिक सौन्दर्य सुषमा को देखकर श्यामसुन्दर से मिलने की इच्छा हो रही है। वस्तुत इस सरस वातावरण मे मनुष्य, पशु-पक्षी और जितने भी असख्य जीवधारी है, उनके जो भी प्रियतम विदेश मे है, वे सभी इस ऋतु मे स्वदेश को याद कर लौट रहे होगे। गोपियाँ तरह-तरह से विचार करती है किन्तु उन्हे कुछ भी उपाय नही सूझता, वे सभी तो श्रीकृष्ण को याद करती है। कोई भी ब्रजवासी कृष्ण को विस्मृत नही करता। कृष्ण के स्वरूप सौन्दर्य हास-विलास और उनकी क्रीडाओ को निरन्तर स्मरण करते हुए ब्रजवासी उसी के ध्यान मे मग्न रहते हैं। कृष्ण के सुन्दर और कोमल गालो पर उनके कुण्डलो की शोभा तथा झूमते हुए प्रकाश के साथ मधुर मुस्कान को गोपियाँ निरन्तर स्मरण करती रहती है। वे याद करती है कि अपने कर-कमलो मे वशी लिए हुए ग्वाल-बालो से घिरे हुए मधुर गीत गाते हुए श्रीकृष्ण की उन बाल लीलाओ को फिर से ये आँखे कब देख सकेगी। वह शुभ दिन कौन सा होगा जब कृष्ण को देखकर ये आँखे तृप्त होगी। श्रीकृष्ण को बार-बार याद करती हुई गोपियो की व्याकुलता बढती रहती है, रह-रह कर उनका हृदय ऐसे तडप जाता है जैसे वायु के झोके से दीपक की ज्योति रह-रह कर बुझने को होती है। गोपियो की इस करुण स्थिति को देख सुन कर कवि की आत्मा मे यह विश्वास और भी दृढ हो जाता है कि परम दयालु कृष्ण गोपियो का विलाप सुनकर, उनके दुख दूर करेगे, उन्हे दर्शन देगे।

विशेष—उपरोक्त पद मे प्रकृति के आलम्बन और उद्दीपन दोनो रूपो का विशद वर्णन हुआ है। वर्षा ऋतु के प्राय सभी उपकरणो की गणना करते हुए कवि ने गोपियो की मन.स्थिति को साकार करने का प्रयास किया है। कृष्ण के सौन्दर्य तथा कार्य-कलाप की स्मृति प्रकृति के उक्त वातावरण मे अधिक तीव हो जाती है। पुष्टिमार्गी सिद्धान्त के अनुसार भक्त की भावना से भगवान् भी अवश्य प्रभावित होते है। यही कारण है कि सूरदास यह विश्वास प्रकट करते है, कि गोपियो की व्याकुलता से प्रेरित होकर भगवान् अवश्य दर्शन देगे।

अलकार—इस पद मे अनुप्रास, उत्प्रेक्षा उपमा, रूपक, स्मरण आदि अलकारो का निर्वाह हुआ है।

चलहु धौं लै आवहिं गोपालै ।
पायँ पकरि कै निहुरि बिनति कहि, गहि हलधर की बाँह बिसालै ।।
बारक बहुरि आनि कै देखहिं नंद आपने बालै ।।
गैयन गनत गोप-गोपी-सह सीखत बेनु रसालै ।।
यद्यपि महाराज सुख-सपति कौन गनै मोतिन अरु लालै ।
तदपि सूर आकरषि लियो मन उर घुँघचिन की मालै ।।३१२।।

शब्दार्थ—निहुरि=निहोरे करना, आग्रह । हलधर=बलराम । बारक=एक बार । बालै=ग्वाल-बाल । बेनु=बंशी । गनै=गिनती करे । घुंघचिन=गुंजा अथवा रत्ती ।

प्रसंग—श्रीकृष्ण के वियोग में संतप्त गोपियाँ कृष्ण पर अपना अधिकार समझती थी । उसका विश्वास था कि ब्रजभूमि, ब्रजवासी गोप, गोपियो तथा गौओ को देखकर श्यामसुन्दर मथुरा के वैभव को भुला देगे । इसी विश्वास के आधार पर वे परस्पर वार्तालाप करती हुई कहती है कि हम सब स्वय जाकर कृष्ण को ले क्यो न आये । सूरदास ने इसी भाव को प्रस्तुत पद मे चित्रित किया है ।

व्याख्या—हे सखी ! आओ हम सभी स्वयं चल कर गोपाल को ले आये । हम वहा जाकर कृष्ण के पाव पकड कर आग्रह करेंगी, श्री बलराम की विशाल भुजाओ को पकड कर उनसे भी अनुरोध करेगी तो श्याम अवश्य आ जायेंगे । हम उनसे यही प्रार्थना करेगी कि एक बार फिर से गोकुल मे आ जाओ ताकि आपके वियोग मे दुखी नन्द बाबा अपने बालक को देख लें । एक बार आकर अपनी गौओं को गिन कर सम्भाल लो क्योकि तुम्हारे दर्शनो की प्यासी गौएँ भी दिन प्रतिदिन क्षीण होती जा रही है । जिन गोप-गोपिकाओ के साथ रह कर तुमने अनेक लीलाएँ की, उनके साथ बंशी बजाई, सीखी और सिखाई, एक बार आकर उनकी दशा भी देख जाओ । हम प्रार्थना करेगी कि महाराज आपके भण्डार मे अमित सुख सम्पत्ति है, इतने मोती और लाल आदि है जिनकी गिनती नही हो सकती, फिर भी हमारा विश्वास है कि ब्रजभूमि की झोपडियो तथा गोप-ग्वालो के गले मे पडी गुंजा की मालाएँ आपके मन को आकर्षित कर लेगी ।

विशेष—उपरोक्त पद मे गोपियो ने व्यंग्य की मधुरता का आश्रय लिया

है। नन्द के दु:ख, गौओ की क्षीणता, गोप-ग्वालो की उदासीनता तथा व्रज-भूमि की सादगी आदि की याद दिला कर कृष्ण के मन को व्रजभूमि की ओर आकृष्ट करने का प्रयास किया गया है। वस्तुतः निश्छल प्रेम की अभिव्यक्ति करने मे सूरदास को अपूर्व सफलता मिली है।

अलंकार—अनुप्रास, श्लेष अलकारो का सहज निर्वाह हुआ है।

> बलैया लैहौ, हो बीर बादर !
> तुम्हरे रूप सम हमरे प्रीतम गए निकट जल-सागर ॥
> पा लागौ द्वारका सिधारौ विरहिन के दुखदागर।
> ऐसो सग सूर के प्रभु को करुनाधाम उजागर ॥३१३॥

शब्दार्थ—बादर=बादल। सम=समान। सिधारौ=जाओ। दुखदागर=दुख मिटाने वाले। करुणाधाम=दयालु।

प्रसंग—'भ्रमरगीत' के रचयिता सूरदास जी ने प्रेम और माधुर्य का शायद कोई कोना नही छोडा। जीवन के नानाविध कार्य-व्यापारो मे केवल अपने प्रिय की झलक देखने वाली गोपिकाओ की मन.स्थिति का व्यापक चित्रण इसका प्रमाण है। आकाश मे बादल घिर आए तो गोपियां अपने प्रियतम को सदेश भेजने को आकुल हो उठी और बादल से आग्रह करने लगी।

व्याख्या—हे भाई बादलो ! हम आप पर बलिहारी है, कृपा करके हम दुखियो का एक आवश्यक कार्य कर देवे। हमारे प्रियतम श्रीकृष्ण, जिनका रूप-रग आपके समान ही है, जल से परिपूर्ण सागर के पास स्थित द्वारिका चले गए है। हमारी एक ही प्रार्थना है कि विरहिनियो के दुख दूर करने के लिए आप वहाँ जाये, हम आपके पैरो पड़ती हैं कि जाकर कृष्ण को हमारी दशा का वर्णन करे। आपको दु खो के संताप दूर करने वाला कहा जाता है, कृपा करके हमारी दशा का भान कृष्ण को करवा दो, हमे विश्वास है कि जब उन्हे हमारी दशा का पता चलेगा तो वे अवश्य पधारेगे। कृष्ण अत्यन्त दयालु है, किसी दुखी की प्रार्थना सुनकर उनकी करुणा, द्रवित हो जाती है, वे दुख दूर करने के लिए तत्पर हो जाते हैं। हमे भी जब उनके दर्शन होगे तो जीवन के सभी सताप मिट जायेगे। अतः हे बादल कृपा करके हमारा सदेश कृष्ण तक पहुँचा कर अपना नाम सार्थक करो।

विशेष—इस पद मे अनेक परम्पराओ का सफल निर्वाह हुआ है। प्रिय

की अनुरूपता देख कर आकुलता की वृद्धि, बादलो द्वारा प्रिय को संदेश भेजना, बादलो से भाई का सम्बन्ध जोड़ना, प्रियतम की उदारता के उल्लेख आदि मे गोपियो की अनन्यता और कवि की कल्पना का सुन्दर समन्वय हुआ है। सागर से आनेवाले बादलो को सागर तट पर स्थित नगर मे भेजना भी गोपियो का एक व्यग्य है। जिससे बादलो और कृष्ण के रूप साम्य तथा करुणामयता का सकेत मिलता है।

अलंकार—अनुप्रास, स्मरण अलकारो की योजना हुई है।

उपमा न्याय कही अगन की।
गए मधुपुरी क्यो फिरि आवैं, सोभा कोटि अनंगन की॥
मोरमुकुट सिर सुरधनु की छबि दूरहिं ते दरसावैं।
जो कोउ करै कोटि कैसेहू नेकहु छुवन न पावै॥
अलक भ्रमर भ्रमि भ्रमत सदा वन बहु-बेलीरस चाखै।
कमल-कोस-बासी कहियत पै बंस-बस आपनो मन राखै॥
कु डल मकर, नयन नीरज से, नासा सुक कबिकुल गावै।
थिर न रहै, सकुचै निसि-वस ह्वै, पंजर रहिकै बेनु सुनावै॥
भ्रू धनु प्रान-हरन-दसनावलि हीरक, अधर सुबिब।
सहज कठिन, संगति बुधि-हर्ता, तहँ कीन्हों अवलंब॥
भुजा प्रचंड महा-रिपु मारक अस सो क्यों ठहराय।
तामें सप्त-छिद्र-युत मुरली मनहर मंत्र पढ़ाय॥३१४॥

शब्दार्थ—न्याय=उचित। अनगन=कामदेवो। सुरधनु=इन्द्र धनुष। नेकहु=कुछ भी। अलक=केश। वेलीरस=लताओ की सरसता। वस-वस=वांसों का झुरमुट। मकर=मगरमच्छ। सुक=तोता। थिर=स्थिर। पजर=शरीर। भ्रू धनु=धनुष के समान भौहे। दसनावलि=दातो की पक्ति। हीरक हीरा। सुबिब=सुन्दर वेल; बिम्बाफल। बुधि-हर्ता=बुद्धि, विवेक का हरने वाला। अवलम्ब=आश्रय। अस=कथा। युत=सहित। मनहर=मन हरण करने वाला।

प्रसंग—प्रस्तुत पद में गोपियो ने श्रीकृष्ण के अगों के लिए प्रसिद्ध उपमानो को न्यायोचित सिद्ध करते हुए उनके स्वभाव पर व्यग्य किया है।

व्याख्या—कवि ने श्रीकृष्ण के अगो के लिए जो उपमाये दी है वे सभी

सर्वथा उचित है, श्रीकृष्ण के रूप, गुण, स्वभाव को स्पष्ट करने वाली है। उनके शरीर की सुन्दरता को करोड़ो कामदेवो के समान कहा गया है, भला इतने सौन्दर्य वाले श्रीकृष्ण मथुरा जाने के बाद लौट कर वापिस क्यो आयेंगे। मथुरा की सौन्दर्य-प्रेमी युवतियाँ उन्हे कैसे आने देगी। श्रीकृष्ण के मस्तक पर मोर मुकुट शोभा देता है जिसे इन्द्रधनुष के समान कहा जाता है, वह सुन्दरता तो दूर से ही दिखाई देती है। यदि कोई व्यक्ति इन्द्र धनुष को पाने के लिए यत्न करे तो करोड़ो यत्न करने पर भी वह उसे छू नही सकता, केवल दूर से ही उसकी शोभा देख कर प्रसन्न हो सकता है। उनके कोमल-काले केशो को भ्रमर के समान कहा गया है, यह भी सर्वथा उचित है। भ्रमर बन उपवन मे नाना लता पुष्पों का रसपान करता रहता है, उसे कमल के मध्य विश्राम करने वाला कहा जाता है किन्तु भ्रमर अपने मन मे सदा अपने वश बास के झुरमुट का ध्यान रखता है। फूलो का रसपान करने के पश्चात् बास मे ही निवास करता है। कवि ने कृष्ण के कानो मे शोभित कुण्डलो को मछली, आँखो को कमल और नासिका को तोते की उपमा दी है, ये उपमायें भी उचित है। कृष्ण भी उपरोक्त पदार्थो के समान चचल ही है, कुण्डल लहराते रहते है, कमल रात होने पर मुरझा जाता है और तोता पिजरे मे बंद होकर बोलियाँ बोलता रहता है। उनकी भौहो की धनुष से उपमा दी जाती है वस्तुत: वह प्राण हरण करने वाली ही है, उनके दातो को हीरो की समान कहा गया है और अधरो को बिम्ब के समान माना गया है। कृष्ण भी उसी प्रकार व्यवहार करने वाले है।

गोपियो ने प्रत्येक उपमान के व्यग्यार्थ मे कृष्ण की निष्ठुरता का सकेत किया है। कामदेवो की सुन्दरता मथुरा की युवतियो को प्रिय लगेगी और नटवर नागर वही रुक जायेंगे। मोर मुकुट इन्द्र धनुप के समान सुन्दर है किन्तु उसका स्पर्श मिलना सम्भव नही। अलके भ्रमर के समान है, व्रजवासियो मे रह कर नाना प्रकार की क्रीडाओं का आनन्द लेकर कृष्ण उसी प्रकार त्याग गए है जैसे भ्रमर कमल को त्याग कर बास मे रहने लगता है। मकर, नीरज एव शुक से भी कृष्ण की अस्थिरता, स्वार्थवृत्ति आदि का ही सकेत किया गया है। भौहे किसी को भी अपनी चितवन से घायल कर देती हैं, हीरा देखने मे सुन्दर है किन्तु रसास्वादन करने वाले के लिए जहर है। बिम्बाफल भी तो

केवल भ्रम उत्पन्न करता है, ऊपर से जैसा दीखता है अन्दर से वैसा नही होता। इसी क्रम मे गोपिया कहती है कि उनकी भुजाएं अति प्रचड है, शत्रुओ का हनन करने वाली है, फिर वे भला हमारे कधो पर कैसे टिक सकती है जबकि उसके हाथो मे जो मुरली है वह भी सात छिद्रो वाली तथा दूसरो के मन को हरने वाला मत्र पढती रहती है। इस प्रकार कृष्ण का हमारे साथ जो व्यवहार है, हमे त्याग कर चले जाना, वापिस न आना वह सभी उनके गुण और स्वभाव का ही परिचायक है।

विशेष—उक्त पद मे विभिन्न उपमानो के माध्यम से कृष्ण के स्वभाव अथवा दोषों का वर्णन बडी विदग्धता से किया गया है। गोपियो की विरहाकुलता मे कृष्ण के स्वभाव का ऐसा विश्लेषण उनकी भावुकता एव कृष्ण से घनिष्ठता का परिचायक है।

अलंकार—(१) 'गए मधुपुरी···अनंगन की'—उपमा।
(२) 'अलक भ्रमर···चाखै'— रूपक।
(३) 'कमल कोस···मन राखै'—यमक।
(४) 'मोर मुकुट···पावै'—काव्यलिंग।
(५) 'भ्रूधनु···अवलत्र–'—यथाक्रम।

बारक जाइयो मिलि माधौ।
को जानै कब छूटि जायगो स्वाँस, रहै जिय साधौ॥
पहुनेहु नंद बबा के आवहु, देखि लेहुँ पल आधौ।
मिल ही में बिपरीत करी बिधि, होत दरस को बाधौ॥
सो सुख सिव सनकादि न पावत जो सुख गोपिन लाधो।
सूरदास राधा बिलपति है, हरि को रूप अगाधो॥३१५॥

शब्दार्थ—बारक=एक बार। साधौ=अभिलाषा। पहुनेहु=मेहमान बन कर। मिल ही मे=सब बाते बन जाने पर भी। बाधौ=रुकावट। लाधो =पाया।

प्रसंग—प्रस्तुत पद मे राधा की करुण दशा का सकेत कर गोपिया कृष्ण को सदेश भेजती है कि आकर दशन दे जाए।

व्याख्या—हे माधव ! एक बार आकर मिल जाओ, क्योकि आपके वियोग मे हमारा जीवन अत्यधिक दुखी है और हमारे मन मे केवल एक बार आपके

दर्शन करने की अभिलाषा है। पता नही हमारे श्वास कब छूट जाये ? कब प्राण चले जाय और हमारे मन की अभिलाषा मन ही मे रह जाय। हे कृष्ण ! आप भले ही नन्द बाबा के मेहमान बनकर कुछ समय के लिये आ जाओ, हम आधा पल भी आपका दर्शन करके अपनी इच्छा पूरी कर लेंगी। हमारी तो सभी बाते बनी हुई थी, आपके यहाँ रहने पर हमे सभी प्रकार से आनन्द था किन्तु भाग्य ही उल्टा हो गया जिससे हमारे मिलन मे अनेक बाधाये आ गई। गोपियो को तो वह सुख प्राप्त था जो शिव और सनकादिक ऋषि-मुनियो को भी प्राप्त नही होता। योगी, ऋषि, मुनि आदि तो कठोर तपस्या और दीर्घ साधना के पश्चात् परमानन्द प्राप्त कर पाते है किन्तु हमे बिना तपस्या के सहज रूप मे ही कृष्ण का साहचर्य प्राप्त था। हे प्रभु ! आपके अगाध-सौन्दर्य को देखने के लिए राधा हर समय विलाप करती रहती है, उसी का ध्यान करके एक बार यहाँ आकर उसे दर्शन दे जाओ।

विशेष—उपरोक्त पद मे सगुण कृष्ण को देखने की इच्छा मे सगुण भक्ति के प्रति आस्था तथा शिव सनकादि के साथ गोपियो के सुख की तुलना मे निर्गुण-ब्रह्म, ज्ञान तथा योगमार्ग का प्रतिवाद ही साकार हुआ है। इसमे रागानुगाभक्ति की सरसता का प्रतिपादन उत्कृष्ट रूप में हुआ है।

अलकार—'सो सुख······लाधो'—अनुप्रास।

निसिदिन बरसत नैन हमारे।
सदा रहति पावस ऋतु हम पै जब तें स्याम सिधारे॥
दृग अजन लागत नहिं कबहूँ, उर-कपोल भए कारे।
कंचुकि नहिं सूखत सुनु सजनी ! उर-बिच बहत पनारे॥
सूरदास प्रभु अंबु बढ्यो है, गोकुल लेहु उबारे।
कहँ लौं कहौं स्यामघन सुदर बिकल होत अति भारे॥३१६॥

शब्दार्थ—पावस ऋतु=वर्षा ऋतु। सिधारे=गये। अजन=काजल। कंचुकि=चोली। पनारे=धारायें। अबु=जल। उबारे=बचा लेना।

प्रसग—श्रीकृष्ण के वियोग मे रात दिन आंसू बहाती हुई गोपिया अपनी करुण दशा का वर्णन करती हुई वर्षा ऋतु से अपनी तुलना करती हुई कहती है।

व्याख्या—हे सखि ! श्रीकृष्ण के वियोग मे दुखी होकर, उनके दर्शन

करने की आतुरता मे हमारे नेत्र रात-दिन बरसते रहते है, आसू बहाते रहते हैं। जबसे श्री कृष्ण यहा से मथुरा गये है तबसे हम पर सदा वर्षा ऋतु छायी हुई है। आँखो से निरन्तर अश्रु वर्षा होती रहती है। आँखो को अजन से आँजने पर भी काजल टिकता नही, आसुओ के साथ बह-बह कर हमारे हृदय तथा कपोलो को काला करता रहता है। निरन्तर आसुओ की धाराये हृदय पर बहने के कारण कचुकी सदा गीली रहती है, कभी सूख नही पाती। सूरदास के प्रभु! हमारी आँखो से बहने वाला जल इतना बढ गया है कि इससे बाढ़ सी आ गयी है, इससे गोकुल के डूब जाने का खतरा उत्पन्न हो गया है। अब आप आकर इसे बचा लो, जैसे गोवर्धन पर्वत को धारण करके पहले भी गोकुल की रक्षा की थी। हे घने श्याम बादलो के समान सुन्दर प्रभु! हम आपको कहाँ तक कहे, केवल एक ही प्रार्थना है कि यहाँ पर सभी आपके वियोग मे दुखी और व्याकुल है।

विशेष—उक्त पद मे गोपियो की विरह व्यथा का मार्मिक चित्रण हुआ है। भावुकता, सरसता और चित्रमयता की दृष्टि से यह पद अति उत्तम है।

अलकार—(१) 'निसदिन······सिधारे'—रूपक।
(२) 'कचुकी······पनारे'—अतिशयोक्ति।
(३) 'कह लौ······अतिभारे'—उपमा।

आछे कमल-कोस-रस लोभी द्वै अलि सोच करे।
कनक बेलि औ नवदल के ढिग बसते उझकि परे॥
कबहुँक पच्छ सकोचि मौन ह्वै अंबु-प्रवाह झरै।
कबहुँक कंपित चकित निपट ह्वै लोलुपता बिसरे॥
विधु मंडल के बीच विराजत अमृत अग भरे।
एतेउ जतन बचत नहिं तलफत बिनु मुख सुर उचरे॥
कीर, कमठ, कोकिला उरग-कुल देखत ध्यान धरे।
आपुन क्यो न पधारौ सूर प्रभु, देखे कह बिगरे॥३१७॥

शब्दार्थ—आछे=अच्छे। द्वै अलि=दो आखे। कनक बेलि=स्वर्णलता। ढिग=पास। उझकि परे=उचक कर चले गये। पच्छ=पख। सकोचि=समेट कर। अंबु-प्रवाह=जल की धारा। लोलुपता=लालच। बिधुमडल=चन्द्रमण्डल। इतेउ=इतने पर भी। उचरै=बोले। कीर=तोता। कमठ=

कछुआ । उरग=सर्प ।

प्रसग—प्रस्तुत पद मे गोपियो ने अद्‌भुत वाक्‌चातुर्य से श्रीकृष्ण के साथ अपने अनन्य प्रेम की अभिव्यक्ति की है ।

व्याख्या—कमल कोश मे रहकर, कमल रस के लोभी ये दो भ्रमर कितने विचित्र है कि हर समय चिन्ता मे मग्न रहते है । कमल के समान सुन्दर मुख पर शोभित और सरल सौन्दर्य का आस्वादन करने के इच्छुक गोपियो के नेत्र सदा कृष्ण के चिंतन मे मग्न रहते है । ये कमल स्वर्ण-लता सी सुन्दर देह और उस लता की कोमल कपोलो, ओठो के साथ रहते हुए भी उचाट से रहते है । अपने आसपास सभी प्रकार की सुन्दरता और सरसता होने पर भी ये आँखे तो केवल कृष्ण के अनुपम सौन्दर्य को देखना चाहती हैं ।

कभी तो ये अपने पंख समेट लेते हैं, पलकें बन्द हो जाती हैं और कभी, उनमे से चुपचाप अश्रुओ का प्रवाह बहने लगता है । कभी अचानक कांप उठते है और आश्चर्य मे भर कर चारो ओर देखने लगते है । उस समय सौन्दर्य अवलोकन करने का लोभ बिल्कुल विस्मृत हो जाता है । श्रीकृष्ण को सामने न देखकर किसी अन्य सौन्दर्य सुषमा को नही देखते । ये भ्रमर-आँखे-चन्द्र-मण्डल के समान मुख के मध्य रहते हैं, उनके प्रत्येक अग मे अमृतधारा रहती है चारो ओर गोपियो का अमृतमय सौन्दर्य रहने पर भी इनकी रक्षा नही हो सकती । कृष्ण-वियोग मे उनके दर्शनो के लिये आतुर नेत्र तडपते रहते है, कभी-कभी आतुरता इतनी बढ जाती है कि बिना मुख के भी बोलने लगते हैं । चुपचाप आसू बहाते रहते हैं जिससे उनकी व्यथा मुखर हो जाती है । तोते, कछुए, कोयल और सापो के समूह को देखकर इनकी चिन्ता बढ जाती है । तोते के समान सुन्दर नासिका, कछुए के समान चौडी पीठ, कोयल के समान मधुर वचन तथा सापो के समान काले घुंघराले गालो को देखकर उन्हे श्रीकृष्ण के सौन्दर्य की स्मृति होती है और यह उनकी स्मृति मे ही मग्न हो जाते है । हे प्रभु ! आप स्वय क्यो नही आ जाते, केवल एक बार आकर इन आँखो की दयनीय दशा को देख जाओ । केवल एक बार देखने से आपका क्या बिगडेगा ।

विशेष—उक्त पद में गोपियो का अनन्य अनुराग और कृष्ण सौन्दर्य का अलंकारिक भाषा मे वर्णन हुआ है । सरसता भावप्रवणता एव कलात्मकता

की दृष्टि से यह पद महत्वपूर्ण है ।

अलंकार—(१) 'कनक वेलि⋯भरे'—रूपक ।
(२) 'विधु मण्डल⋯भरे'—रूपकातिशयोक्ति ।
(३) 'एतेउ जतन⋯⋯उचरे'—विशेषोक्ति ।

सवन अवध सुंदरी वधै जनि ।
मुक्तामाल, अनंग ! गंग नहिं, नवसत साजे अर्थ-स्यामघन ।।
भाल तिलक उडुपति न होय यह कवरि ग्रंथि अहिपति न सहस-फन ।
नहिं विभूति दधिसुत न भाल जड़ ! यह मृगमदचंदन-चर्चित तन ।।
न गजचर्म यह असित कंचुकी, देखि विचारि कहाँ नदीगन ।
सूरदास प्रभु तुम्हरे दरस बिनु बरबस काम करत हठ हम सन ।।३१८।।

शब्दार्थ—अवध=वध न करने योग्य । जनि=मत । अनंग=कामदेव । नवसत=सोलह श्रृंगार । अर्थ=निमित । उडुपति=चन्द्रमा । कवरि ग्रंथि=वेणी का जूड़ा । अहिपति=शेषनाग । विभूति=भस्म । दधिसुत=चन्द्रमा । मृगमद=कस्तूरी । चर्चित=शोभित । असित=काली । सन=से ।

प्रसंग—श्रीकृष्ण के विरह में संतप्त गोपियों को कामदेव सताता है, तो गोपियाँ समझती हैं कि शायद कामदेव उनके श्रृंगार को देखकर उन्हें शिव समझ कर पिछला बदला ले रहा है । कामदेव के भ्रम का निराकरण करने के लिये गोपियाँ अपने श्रृंगार का वर्णन करती हैं ।

व्याख्या—हे कामदेव ! सारा संसार स्त्रियों को अवध्य मानता है, उनकी हत्या नहीं की जाती, फिर तू हमारा वध क्यों कर रहा है । शायद तुम्हें हमारा सौन्दर्य श्रृंगार देखकर यह भ्रम हो गया है कि हम शिव हैं किन्तु वास्तविकता यह नहीं है । हमने तो अपने प्रभु श्यामसुन्दर के लिये सोलह श्रृंगार किये थे जिस पर तुम्हें भ्रम हो गया है । हे कामदेव ! हमारे गले में श्वेत मोतियों की माला है, यह शंकर के गले में शोभित गंगा नहीं । जिसे तुमने चन्द्रमा समझ लिया है वह तो हमारे मस्तक पर लगा हुआ तिलक है और जिसे तुमने हजार फनों वाला शेषनाग समझ लिया है वह हमारी वेणी का बंधा हुआ जूड़ा है । हे जड़ अनंग ! हमारा शरीर कस्तूरी और चंदन के लेप से सुसज्जित है जिसे तुमने शायद शंकर के शरीर पर रमी हुई भस्म और माथे का चन्द्रमा समझ लिया है । हमने तो काले रंग की चोली

पहन रखी है यह शकर के शरीर पर लिपटी हुई गज की खाल नही है। जरा सोचो, विचार करो कि हमारे साथ नन्दीगन कहाँ है। शकर तो नदी के साथ रहते है। इस प्रकार अपने भ्रम को छोडो और हमे मत सताओ। गोपियाँ विरहाकुल होकर प्रार्थना करती हैं कि हे प्रभु! आपके दर्शनों के विना, हमें अकेली देख कर कामदेव हमसे जिद कर रहा है, हमे सताता है, इससे वचने के लिये हमे दर्शन दो।

विशेष—वियोगावस्था मे इस प्रकार की मन:स्थिति का चित्रण करते सए भारतीय काव्य परम्परा मे कामदेव और शिव के इस प्रसंग को अनेक कवियो ने चित्रित किया है। सूरदास जी ने भावात्मकता, सरसता और कलात्मकता का सुन्दर निर्वाह उक्त पद में किया है।

अलकार—सम्पूर्ण पद में भ्रान्तापन्हुति का सफल निर्वाह हुआ है।

कोकिल ! हरि को वोल सुनाव।
मधुवन तैं उपटारि स्याम कहँ या व्रज लै कै आव॥
जाचक सरनहि देत सयाने तन, मन धन, सब साज।
सुजस विकात वचन के वदले, क्यों न विसाहत आज॥
कीजै कछु उपकार परायो यहै सयानो काज।
सूरदास प्रभु कहु या अवसर वन वन वसंत विराज॥३१६॥

शब्दार्थ—वोल=वाणी। उपटारि=उचाट कर। कहँ=को। जाचक=भिखारी,. याचक। सरनहि=शरण में आया हुआ। विसाहत=खरीद लेती।

प्रसंग—कोयल की वाणी वियोग व्यथा में वृद्धि करने वाली मानी जाती है। गोपियाँ कोयल से प्रार्थना करती है कि वे उनके सामने अपने वोल वोलने की अपेक्षा कृष्ण के पास जाकर वोने तो शायद श्याम को गोपियो की याद आ जाय।

व्याख्या—हे कोयल! तू कृष्ण के पास जाकर अपनी मधुर वाणी सुना। वे मथुरा चले गये हैं। वहा जाकर उनके मन को उचाट करके यहाँ व्रज मे ले आ, इससे हमारा उपकार होगा और तुम्हारा यश फैलेगा। संसार के चतुर लोग अपनी शरण मे आकर याचना करने वालो को तन, मन, धन आदि सभी कुछ प्रदान करके यश प्राप्त करते हैं किन्तु तुम्हे तो कुछ भी खर्च करना नही

पडेगा केवल वचनो से कृष्ण को आकृष्ट करना है, इस तरह आज तुम हमे विना मोल के खरीद लोगी। बुद्धिमान लोगो का यही काम होता है कि किसी का उपकार किया जाय, इसलिये तुम कृष्ण के पास चली जाओ और यह कहो कि यह अवसर ऐसा है कि प्रत्येक वन मे बसन्त छाया हुआ है। जब कृष्ण यह सुनेगे तो व्याकुल होकर हमे दर्शन देने के लिये आ जायेगे।

विशेष—उपरोक्त पद मे गोपियो के कृष्ण के प्रति अनन्य प्रेम का चित्रण हुआ है। गोपियाँ श्रीकृष्ण के लिये आतुर है और उसी कारण कोयल को कृष्ण के पास भेजती हैं ताकि सुनकर शायद उसे व्रज का ध्यान हो जाय।

अलंकार—सम्पूर्ण पद मे अन्योक्ति अलकार है।

कहाँ रह्यो, माई ! नंद को मोहन।
वह मूरति जिय ते नहिं विसरति गयो सकल-जग-सोहन ॥
कान्ह विना गोसुत को चारै, को ल्यावै भरि दोहन ?
माखन खात सग ग्वालन के, और सखा सब गोहन ॥
ज्यों ज्यो सुरति करति हौं, सखि री ! त्यों त्यों अधिक मनमोहन।
सूरदास स्वामी के बिछुरे क्यों जीवहि इन छोहन ॥३२०॥

शब्दार्थ—बिसरति=भूलति। सोहन=शोभा। दोहन=दोहनी, दूध वाला वर्तन। गोहन=साथ। सुरति=याद। छोहन=क्षोभ से।

प्रसग—कृष्ण वियोग मे दुखी गोपियाँ कृष्ण की बाल क्रीडाओ का स्मरण करती है। प्रिय के साथ बीती घड़ियो की याद ही तो वियोग मे सहारा हो जाती है।

व्याख्या—हे सखि ! नन्द बावा के पुत्र मोहन कहाँ चले गये है, वह जब से गए है उनकी मोहनी मूरती किसी भी प्रकार भूलती नही। वह मूरति तो सम्पूर्ण ससार को सुन्दर बनाने वाली, शोभित करने वाली मन से जाती नही। कृष्ण के विना अब गौओ और बछडो को जंगल मे चराने कौन ले जाय, उनके वियोग मे तो सभी उदास है, किसी का भी मन काम में नही लगता। अब कौन दूध दुह कर दोहनी भर-भर कर लायेगा, क्योकि उसके विना तो गौएँ भी उदास हैं। जब कृष्ण यहाँ थे तो सभी सखाओ के साथ मिलकर तरह-तरह की क्रीडाएँ करते हुए आनन्द मग्न होकर माखन खाते फिरते थे, उस समय सम्पूर्ण व्रज मे आनन्द व्याप्त रहता था। किन्तु उनके चले जाने के

पश्चात् वह आनन्दोल्लास समाप्त हो गया है। हे सखी ! ज्यों-ज्यों कृष्ण के उस स्वरूप की याद आती है वैसे-वैसे वह कृष्ण मन को और भी मोहक लगते हैं। अब अपने स्वामी प्रभु श्रीकृष्ण से बिछुड़कर हम सभी वियोग दुख सहते हुए कैसे जीवित रह सकती हैं।

विशेष कृष्ण की बाल क्रीडाओं की स्मृति ही वियोग की घड़ियों में जीवनाधार हो जाती है। इस स्मृति में भी विरह की एक टीस रहती है जिसकी अभिव्यक्ति करने में कवि को पूर्ण सफलता मिली है।

अलंकार—(१) 'वह मूरति···मोहन'—स्मरण।
(२) 'ज्यों-ज्यों···मनमोहन'—पुनरुक्ति प्रकाश।

परम चतुर सुंदर सुख-सागर तन को प्रिय प्रतिहार।
रूप-लकुट रोके रहतो, सखि! अनुदिन नंदकुमार॥
अब ता बिनु उर-भवन भयो है सिव-रिपु को संचार।
दुख आवत मन, हटक न मानत, सुनो देखि अगार॥
असु सउसास जात अंतर ते करत न सकुच बिचार।
निसा निमेष कपाट लगे बिनु ससि सत सत सर मार॥
यह गति मेरी भई हैं हरि बिनु नाहिं कछू परिहार।
सूरदास प्रभु वेगि मिलहु तुम नागर नंदकुमार॥३२१॥

शब्दार्थ—प्रतिहार=पहरेदार। रूप-लकुट=सौन्दर्य की लाठी। अनुदिन=प्रतिदिन। सिव-रिपु=कामदेव। हटक=मना करना। अगार=घर। असु=प्राण। सउसास=विश्वास के साथ। निमेष-कपाट=पलकों के किवाड़। सर=तीर। परिहार=बचाव। नागर=चतुर।

प्रसंग—कृष्ण से बिछुड़ने के बाद गोपियों को अनेक संकटों का सामना करना पड़ा। प्रस्तुत पद में उन्हीं संकटों का उल्लेख किया गया है।

व्याख्या—हे सखि! जब तक श्रीकृष्ण यहाँ रहे तब तक वे ही हमारे रक्षक थे। कृष्ण, जो अत्यधिक चतुर, अतुल सौन्दर्यशाली तथा सुख के सागर हैं, पहले तो वही हमारी सभी संकटों से रक्षा करते थे, प्रतिदिन नन्दकुमार अपने रूप की लाठी लेकर हमारे हृदय द्वार पर पहरा देते थे। उनके रूप सौन्दर्य के कारण किसी भी प्रकार का भाव हमारे हृदय में प्रविष्ट भी नहीं हो सकता था। अब उनके बिना तो हमारे हृदय रूपी घर में कामदेव का संचार होता रहता है। मन में नानाविध भावनायें उत्पन्न

होती रहती है। संसार भर के दुख मन में प्रविष्ट होते रहते है, घर को सूना देखकर कामदेव हमे सताता है, मना करने पर भी नही मानता।

हमारे प्राण भी किसी प्रकार का सकोच या विचार नही करते और हमारे श्वासो के साथ बाहर निकलते है। विरह की अधिकता के कारण हमें श्वास लेने में भी प्राणान्तक पीडा होती है। रात के समय पलको के किवाड बन्द नही होते, नीद नही आती तो चन्द्रमा सैकड़ो तीर मार कर हमें दुख देता है। एक तो पलके लगती नही और दूसरी ओर चन्द्रमा को देखकर कृष्ण की स्मृति ताजा हो जाती है, स्मृति की घड़ियो मे कष्ट बहुत बढ जाता है। आज कृष्ण के बिना मेरी ऐसी दशा हो गई है जिसका कोई भी बचाव नजर नही आता। केवल कृष्ण के दर्शन ही इन दुखो मे रक्षा कर सकते है। इसलिए गोपियाँ प्रार्थना करती है कि हे चतुर नन्दकुमार! कृपा करके हमसे शीघ्र मिलो ताकि जीवन के सभी सताप नष्ट हो जायँ।

विशेष—इस प्रकार के पदो मे गोपियो के विरह का अप्रत्यक्ष शैली में वर्णन हुआ है। मार्मिकता, भावुकता और सरलता की दृष्टि से यह पद महत्वपूर्ण है।

अलंकार—(१) 'परम चतुर...प्रतिहार'—उल्लेख।
(२) 'रूप-लकुट...सचार'—रूपक।
(३) 'दुख आवत...विचार'—रूपकातिशयोक्ति।

ऐसो सुनियत है द्वै सावन।
वहै बात फिरि फिरि सालति है स्याम कह्यो है आवन॥
तब तौ प्रीति करी, अब लागीं अपनो कीयो पावन।
यहि दुख सखी निकसि उत जैये जितै सुनै कोउ नावँ न॥
एकहि बेर तजो हम्ह, लागे मथुरा नेह बढ़ावन।
सूर सुरति कत होति हमारी, लागीं नीको भावन॥२२॥

शब्दार्थ—सुनियत=सुना जाता है। सालति=दुख देती। निकसि=निकल कर। उत=उधर। नाव=नाम। सुरति=याद। कत=कैसे। नीकी=अच्छी। भावन=अच्छी लगन।

प्रसंग—भारतीय ज्योतिषशास्त्र के अनुसार जब पुरुषोतम मास हो तो एक मास बढ जाता है। सावन मास दो होने का समाचार पाकर विरहिनी

गोपियो परस्पर वार्ता में अपनी वेदना का वर्णन करती है।

व्याख्या—हे सखि! ऐसा सुना जाता है कि इस वर्ष दो सावन मास होगे। इसे सुनकर हमे बार-बार दुख होता है क्योकि श्रीकृष्ण कह गए थे कि वे शीघ्र लौटेगे किन्तु वे तो नही आए उनकी अनुपस्थिति मे दो सावन आ गए है इससे हमारा सताप और अधिक बढेगा। इसमे किसी का दोष नही, जब श्रीकृष्ण यहाँ थे तो हमने लोकलाज, कुल, धर्म आदि की परवाह न करके कृष्ण से प्यार किया था, अब अपने उन्ही कर्मो का फल मिलने लगा है। इस दुख के कारण मन चाहता है कि वहाँ चले जाएँ जहाँ हमारा नाम भी कोई न जानता हो। कृष्ण तो ऐसे निर्मोही एव निष्ठुर निकले कि उन्होने हमे एक बार ही त्याग दिया, लौट कर देखा भी नही। अब तो वह मथुरा मे वहाँ की नारियो के साथ अपना प्रेम बढा रहे होगे। अब उन्हे हमारी याद भी कैसे आ सकती है। क्योकि अब उन्हे नगर की सुन्दर और चतुर नारियाँ अच्छी लगने लगी होगी, वे भला कृष्ण को हम गवारिनो के पास कैसे आने देगी।

विशेष—इसमे गोपियो ने प्रेम की तल्लीनता मे कृष्ण पर हरजाई होने का आरोप लगाया है किन्तु वास्तव मे यह भी प्रेम की अनन्यता का ही चिन्ह है, जब प्रिय के साथ किसी अन्य का सम्बन्ध जानकर प्रेमिका के मन मे ईर्ष्या, खीझ अथवा क्रोध प्रकट होने लगे।

अलकार—(१) 'बहै बात'''आवन'=पुनरुक्तिप्रकाश।
(२) 'सूर सुरति'''भावन'—अनुप्रास।

कहा होत अब के पछताने ?
खेलत खात हँसत अँग-सँग रहि, हम न स्याम-गुन जाने ॥
को बसुदेव, कौन की थाती, को है साखि जबहिं उन आने।
सो बतराय देहु, ऊधो! हमैं तुमहूँ तौ अति निपट सयाने ॥
यह नहिं कथा काक कोकिल की, कपट रंग मन माहि समाने।
सूर, समय ऋतुराज बिराजे मिले जाय निज कुल पहिचाने ॥३२३॥

शब्दार्थ—थाती=धरोहर। साखि=गवाही। आने=लाये। बतराय=बतला। काक=कौए। ऋतुराज=वसन्त।

प्रसंग—अपने प्रति कृष्ण के कपट व्यवहार को देख अथवा समझकर गोपियाँ क्षुब्ध होकर उद्धव को कहती है।

व्याख्या—हे उद्धव ! अब पछताने, पश्चाताप करने पर भी क्या होगा ? हम सब श्रीकृष्ण के साथ रही, उनके साथ खेलते, खाते और हस-हंस कर सदा साथ रहने पर भी हम श्याम के गुणो को नही समझ सकी। हे उद्धव ! यह वसुदेव कौन है ? किस की धरोहर के रूप मे कृष्ण को यहाँ रखा गया था ? और जब उन्हे यहाँ लाया गया था उस समय की साक्षी कौन है ? ये सभी बाते हमे समझा दो क्योकि तुम अत्यन्त चतुर, बुद्धिमान और विभिन्न तत्वो के ज्ञाता हो। हमे इस बात का विश्वास नही होता कि कृष्ण का जन्म होते ही वसुदेव उन्हे इस प्रकार गोकुल मे छोड़ गए होगे। यह कोई कौए और कोयल की कहानी नही कि कोयल के अडे कौए के घोसले मे पले, बढे, कोयल के बच्चो का जन्म हुआ और जब उनमे उडने की क्षमता आई, वे उड़कर कही और चले गए। वस्तुत. उनका मन तो आरम्भ से ही कपट से भरा हुआ था। उन्होने यहाँ रहकर हमसे प्रेम बढाया, अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए प्रेम का दिखावा करते रहे और अपना काम निकाल कर अपने वश मे जा मिले है जैसे वसन्त काल मे खिले हुए पुष्पो का रसपान भ्रमर करता रहता है और बाद में वह अपने कुल अर्थात् बाँस मे जाकर रहने लगता है। कृष्ण भी यहाँ रहकर विहार करते रहे और बाद मे हम सबको त्याग कर, भुलाकर मथुरा जाकर रहने लगे है।

विशेष—उक्त पद मे कृष्ण के स्वार्थ पूर्ण प्रेम पर व्यग्य करती हुई गोपियो ने कृष्ण के प्रति अपनी निश्छल अनुरक्ति को व्यक्त किया है।

अलकार—(१) 'यह नहिं कथा···समाने'—अनुप्रास।
(२) 'यह नहि···पहिचाने'—दृष्टान्त।

बिनु माधव राधा-तन, सजनी ! सब बिपरीत भई।
गई छपाय छपाकर की छबि, रही कलंकमई॥
लोचनहू तै सरद-सारसै सुछबि निचोय लई।
आँच लगे च्योनो सोनो ज्यों त्यों तन-धातु हई।
कदली-दल सी पीठि मनोहर, सो जनु उलटि गई।
सपति सब हरि हरी, सूर प्रभु, बिपदा दई दई॥३२४॥

शब्दार्थ—बिपरीत=उल्टी। छपाय=छिपना। छपाकर=चन्द्रमा। कलकमई=काली। सरद-सारसै=शीतकालीन कमल। निचोय=निचोड़।

च्योनो=रसायनी को घरिया। हई=मारी गई, भस्म। कदलीदल=केले का पत्ता।

प्रसग—प्रस्तुत वद मे विरह व्यथिता राधा के शरीर की क्षीणता, मलिनता और उदासीनता का चित्रण करके उसके कृष्णप्रेम को स्पष्ट किया गया है।

व्याख्या—हे सखि ! श्रीकृष्ण के वियोग मे राधा के शारीरिक सौन्दर्य की दशा बिल्कुल बदल गई है। उसके अग-प्रत्यग की सभी विशेषताएँ लुप्त सी हो गई हैं। उसका चन्द्रमा के समान सुन्दर मुख अब सर्वदा मलिन दिखाई देता है। उसकी शोभा, सुन्दरता तथा उज्ज्वलता समाप्त हो गई है। केवल चन्द्रमा की कलक-कालिमा ही शेष रह गई है। राधा के नेत्र शीतकालीन कमल की तरह सुघड सरस तथा आकर्षक थे किन्तु कृष्ण वियोग के सताप मे निरतर आँसू बहाते हुए वही नेत्र विहीन हो गए हैं। उनकी सुन्दरता ऐसे ही निचोड ली गई है जैसे कोई औषधि-निर्माता किसी वनस्पति का सम्पूर्ण रस निचोड लेता है। श्री राधा जी के शरीर की स्वर्णिम काति भी समाप्त हो गई है। जिस प्रकार सोने को घरिया मे बन्द कर अग्नि पर रख कर उसकी भस्म बनाई जाती है उसी प्रकार कृष्ण वियोग की अग्नि मे जल कर उनका शरीर काला पड गया है। राधा जी की पीठ केले के पत्ते की तरह चौडी, चिकनी और कोमल थी किन्तु वियोग का दुख सहते-सहते वह भी खुरदरी, केवल हड्डियो का ढाँचा मात्र रह गई है। जिस प्रकार कदली के पत्ते की उल्टी तरफ डण्ठल बाहर निकला होता है उसमे कोमलता नही होती, इसी प्रकार श्रीकृष्ण ने राधा को वियोग देकर उसकी सभी सुन्दरता रूपी सम्पत्ति का हरण कर लिया है और विधाता ने उसे विपदाये दे-दी है। अब तो राधा का जीवन दुखो का आगार बन कर रह गया है।

विशेष—उक्त पद मे राधा के सौन्दर्य का सूक्ष्म निरीक्षण तथा उसकी विरह-व्यथा का चित्रण सजीव और मार्मिक रूप मे हुआ है।

अलकार—(१) 'गई छपाय'''कलकमयी'—अनुप्रास, रूपकातिशयोक्ति।

(२) 'कदलीदल—उलटि गई'—उपमा, उत्प्रेक्षा।

(३) सपति सब '''दई दई—यमक।

कराव रे, सारंग ! स्यामहिं सुरति कराव ।
पौढ़े होहिं जहाँ नँदनदन ऊँची टेर सुनाव ॥
गयो ग्रीषम, पावस ऋतु आई, सब काहू चित चाव ।
उन बिनु ब्रजवासी यो सोहत ज्यों करिया बिनु नाव ॥
तेरो कह्यो मानिहैं मोहन, पाँय लागि लै आव ।
अब की बेर सूर के प्रभु को नैननि आनि दिखाव ॥३२५॥

शब्दार्थ—कराव=कराओ । सारग=पपीहा । सुरति=याद । पौढे=लेते हुए । टेर=पुकार । करिया=नाविक ।

प्रसंग—इस पद में वियोगिनी गोपियाँ पपीहे से प्रार्थना करती है कि वही उनके दर्शन करवा दे ।

व्याख्या—हे पपीहा ! तुम ही जाकर श्रीकृष्ण को हमारी याद दिला दो । जहाँ नन्दनन्दन श्रीकृष्ण लेटे हो, विश्राम कर रहे हो, वहाँ जाकर ऊँचे स्वर मे यह पुकार करना कि अब ग्रीष्म ऋतु समाप्त हो गई है, वर्षा ऋतु का आगमन हो गया है जिससे सभी के मनो से मिलन की इच्छा, उमग का आनन्द छाया है । सम्पूर्ण सृष्टि आनन्द की, मिलन की अनुभूति मे मग्न है किन्तु कृष्ण के बिना ब्रजवासियो की स्थिति तो उसी प्रकार है जैसे बिना नाविक के नौका । सभी ब्रजवासी वेसहारा है कृष्ण वियोग मे सतप्त है । हे पपीहा ! हमारी दशा का वर्णन कृष्ण से करके, उनसे अनुनय-विनय करके, उनके चरणो मे गिरकर किसी भी प्रकार यहाँ उन्हे ले आओ । हमारा विश्वास है कि कृष्ण तुम्हारी बात मान लेगे । इसलिए एक बार श्रीकृष्ण को यहाँ लाकर हमे उनके दर्शन करवा दो ।

विशेष—इसमे गोपियो की आतुरता, विनयशीलता तथा विरहोन्माद की सरस अभिव्यक्ति हुई है ।

अलंकार—(१) 'कराव रे···कराव'—अनुप्रास ।
(२) 'गयो ग्रीष्म···नाव'—दृष्टान्त ।

सखी री ! हरि आवैं केहि हेत ?
वै राजा तुम ग्वाल, बुलावत यहै परेखो लेत ॥
अब सिर छत्र कनक-मनि राजै, मोरचंद नहिं भावत ।
सुनि ब्रजराज पीठि दै बैठत, जदुकुल-बिरद बुलावत ॥

द्वारपाल प्रति पौरि विराजत, दासी सहस अपार ।
गोकुल गाय-दुहन-दुख कब लौं, सूर, सहै सुकुमार ॥३२६॥

शब्दार्थ—केहि हेत=किस लिए । परेखो=उलाहना । मोरचद=मोरमुकुट । पीठि दै=पीठ फेरकर । विरद=यश । पौरि=ड्योढि ।

प्रसग—प्रस्तुत पद मे मथुरा के स्वामी कृष्ण पर व्यग्य करती हुई गोपिया उनके प्रति अपना प्रेम प्रकट करती हैं ।

व्याख्या—हे सखी ! अब कृष्ण ब्रज मे किसलिए आयेगे ? अब यहाँ उन्हे किस आकर्पण से बुलाया जा सकता है । वस्तुत: हममे और उनमे बहुत-सा अन्तर है । वे तो मथुरा के राजा हैं और हम-तुम साधारण गाव की रहने वाली ग्वालिने, फिर भी जब तुम उन्हे बुलाती हो तो वे इसे अपने लिए एक उलाहना मान कर उदास हो जाते हैं । उन्हें यह सब अच्छा नही लगता । अब तो उनके सिर पर रत्न, मणियो से जड़ित स्वर्ण का छत्र शोभा देता है फिर भला उन्हे मोर पखो का मुकुट कैसे अच्छा लग सकता है । मथुरा के वैभव और ऐश्वर्य के सामने ब्रजभूमि की साधारणता उन्हे अच्छी नही लगती । अब तो उन्हे ब्रजराज कहलाना भी अच्छा नही लगता, यदि उन्हे ब्रजराज कह दो तो वे पीठ मोड़ लेते हैं और यदुवश की प्रशसा को सुनना उन्हें अच्छा लगता है । उनके महल की प्रत्येक ड्योढी पर द्वारपाल खड़े रहते है और उनकी सेवा के लिए हर समय अनेक दास-दासिया प्रस्तुत रहती हैं । इस प्रकार के वैभव, सुख और आराम को छोड कर वे ब्रज मे क्यो आयेगे, क्योकि गोकुल मे आकर गाय दुहने का कष्ट उनका सुकुमार शरीर कैसे सहन करेगा ।

विशेष—उक्त पद मे कृष्ण के वैभव पर व्यग्य करती हुई गोपियो ने जिस विपमता का वर्णन किया है उसमे भी प्रेम की सरसता प्राप्त होती है ।

अलंकार—(१) 'द्वारपाल···अपार'—अनुप्रास ।
(२) 'गोकुल···सुकुमार'—वक्रोक्ति ।

परम सुखद सिसुता को नेहु ।
सो जनि तजहु दूर के बासे, सुनहु सुजान ! जानि गति येहु ॥
भँवर, भुजंग, काक अरु कोकिल जनि पतियाहु चितै तुम देहु ।
ऊधो अरु अक्रूर क्रूरकृत उपवन कुटिल किए रचि गेहु ॥

ये द्वै विनती लिखी कृपानिधि सो आदर करि लेहु।
सूरदास प्रभु क्यों न मिलहु अब तौ तन मन फागुन के मेहु ॥३२७॥

शब्दार्थ—सिसुता=वचपन। वासे=निवासी। पतियाहु=विश्वास करो। कूरकृत=कठोर कार्य। गेहु=घर। मेहु=वादल।

प्रसग—प्रस्तुत पद मे गोपियो ने वचपन के प्रेम का सकेत करते हुए कृष्ण को पत्र लिख कर मिलने की प्रार्थना की है।

व्याख्या—हे सुजान श्रीकृष्ण! वचपन का प्रेम अत्यन्त सुखदायक होता है। तुम भी इस प्रेम की गति को जानते और समझते हो कि यह प्रेम कितना प्रगाढ, निस्वार्थ, अटूट और अनन्य होता है। इसलिए हमसे दूर मथुरा मे निवास कर लेने पर भी इस प्रेम का त्याग न करना। हे कृष्ण! तुम भ्रमर, सर्प, कौए और कोयल के प्रेम पर ध्यान न देना, उन पर विश्वास न करना क्योकि इन सबका प्रेम स्वार्थ पर आधारित होता है। ये सभी स्वार्थ पूरा हो जाने पर अपने प्रिय का त्याग कर देते है। वचपन का प्रेम इस प्रकार के दोषो से मुक्त होता है। हमारे और तुम्हारे प्रेम मे जो घनिष्टता थी वह स्वार्थ आवृत प्रेम मे कहां मिलती है। उद्धव और अक्रूर के कठोरता तथा निर्दयता भरे कामो ने हमारे जीवन के फूलते-फलते उपवनो को, वसे-वसाए घरो को विल्कुल नष्ट कर दिया है। जव से अक्रूर तुम्हे अपने साथ ले गए हैं तव से हमारे घर-उपवन सभी उजड़ गए है, सभी कुछ सूना-सूना हो गया है। अव उद्धव जो सदेश लाया है वह तो तुम्हारी सुन्दर मूर्ति की स्मृति तक को भुला देने वाला है, हे कृपानिधि! हमने आपको पत्र मे दो ही प्रार्थनाये की है, उन्हे सम्मान से स्वीकार करना, अपने वचपन के प्रेम का समादर करते हुए हमारी दो प्रार्थनाएँ मान लेना। पहली प्रार्थना है—भ्रमर, सर्प, कौआ और कोयल आदि पर विश्वास न करना क्योकि इनका प्रेम स्वार्थ पर आधारित होता है। दूसरी प्रार्थना है कि अक्रूर और उद्धव की वातो पर विश्वास न करना क्योकि इन्हे प्रेमानुभूति नही है। गोपियां पुन. प्रार्थना करती है कि हे प्रभु! आप अव भी आकर हमे दर्शन क्यो नही देते, अव तो आपके वियोग मे हमारा जीवन फागुन के वादलो के समान है जिनका जल समाप्त हो चुका है। हमारा जीवन भी समाप्त प्राय है! न जाने कव प्राणान्त हो जाए, इसीलिए हमे शीघ्र आकर दर्शन देकर जीवन प्रदान करो।

विशेष—बचपन के प्रेम की प्रगाढ़ता तथा अनन्यता दिखाने के लिए कवि ने स्वार्थपूर्ण प्रेम के उदाहरण प्रस्तुत किए है जो सर्वथा सार्थक तथा प्रभावशाली है। कृष्ण के वियोग मे फागुन के बादलो की स्थिति का सकेत करके गोपियो की शारीरिक तथा मानसिक स्थिति का स्परूप स्पष्ट किया गया है।

अलंकार—(१) 'ऊधो अरु'''रचि गेहु'—अनुप्रास।
(२) 'सूरदास'''के मेहु'—रूपक।

बिनु धर वह उपराग गह्यो।
ना जानौं यह राहु उमापति कित ह्वै सोध लह्यो॥
ताके बीच नीच नयनन में अजन-रूप रह्यो।
बिरह-सिंधु-बल पाय प्रगट भयो नाहिन परत कह्यो॥
दुसह दसन-दुख दलि नैनन जल परस न तरत सह्यो।
मानहुँ स्रवत सुधा अंतर तें, उर पर जात बह्यो॥
अब मुखससि ऐसो लागत ज्यों बिनु माखनहि मह्यो।
सूर दरस-हरि दान दिए बिनु सुख-प्रकास निबह्यो॥३२८॥

शब्दार्थ—धर=शरीर, धड़। उपराग=ग्रहण। सोध=खोज। अजन रूप=काला रंग। दसन-दुख=दातो का दुःख। परस=स्पर्श। स्रवत=प्रवाहित। मह्यो=मठा। निबह्यो=नष्ट हो गया है।

प्रसंग—प्रस्तुत पद मे विरह-व्यथित गोपियो के विरह को कामदेव रूपी राहु, राधा के मुख को चन्द्रमा मान कर, राहु द्वारा चन्द्रमा को ग्रहण करने का रूपक बांध कर विरहावस्था को चित्रित किया है।

व्याख्या—हे कृष्ण! बिना शरीर वाला यह राहु चन्द्रमा को ग्रस लेना चाहता है। राहु का शरीर नही, विरह भी अशरीरी है जो चन्द्रमा के समान सुन्दर राधा को सता रहा है उसे ग्रस लेना चाहता है। कृष्ण के वियोग मे दुखी राधा को कामदेव सता रहा है। यह राहुरूपी कामदेव शायद शिव से बदला लेने के लिए उसका पता पाकर यहां आ गया है। शिव के मस्तक पर चन्द्रमा शोभा देता है और कामदेव ने राधा के चन्द्रमुख को ही शकर का मस्तक मान लिया है। इस प्रकार राधा को दुख भोगना पड रहा है।

गोपियां कहती है कि यह राहु आखो के पास ही काजल रूप मे छिपा हुआ था जो अब विरह रूपी सागर का बल पाकर प्रकट हो गया है। यह

राधा के मुख-चन्द्र को कितना दुख दे रहा है, यह अकथनीय है, कोई भी इसका वर्णन रही कर सकता। राहु और कामदेव का रग काला माना गया है और विरह जन्य आमुओ से वहता हुआ काजल फैल कर सारे मुख पर छा रहा है। आसू निरन्तर बहते रहते हैं, उसके लिए गोपिया कल्पना करती है कि दुख रूपी दातो से विरह रूपी राहु राधा के मुख चन्द्र को दवा लेना चाहता है, उसकी असह्य वेदना के कारण निरन्तर आसू वह रहे हैं। ये आसू सताप के कारण इतने गर्म है कि उन्हे स्पर्श करना भी सम्भव नही है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस चन्द्रमा के हृदय मे जो प्रेमरूपी अमृत भरा हुआ था वही अव विरहाग्नि से तप्त होकर हृदय पर वह रहा है। जव वह हृदय मे था तव तक शीतल अमृत था किन्तु वियोग की घड़ियो मे बाहर आया तो अत्यन्त गम है। काजल आसुओ के साथ बहता-बहता सारे मुखमण्डल पर फैल गया है। ठीक वैसे जैसे ग्रहण लगने पर चन्द्रमा मलिन हो जाता है। अब वह मुख शोभा मे रहित हो गया है। जिस प्रकार माखन के विना मट्ठे मे सरसता तथा स्निग्धता नही रहती उसी प्रकार कृष्ण के वियोग मे राधा-मुख की काति विलीन हो गई है। हे प्रभु ! राधा का समस्त सौन्दर्य नष्ट हो चुका है, यह तो केवल आपके दर्शनो से ही पुन. प्राप्त होगा। जिस प्रकार चन्द्रमा को ग्रहण लगने पर उसकी मुक्ति के लिए तरह-तरह के दान दिए जाते हैं जिससे चन्द्रमा को राहु से मुक्ति मिले, इसी प्रकार हे कृष्ण ! आपके दर्शन का दान पाकर राधा की काति, सौन्दर्य, सुषमा सभी कुछ उसे प्राप्त हो जायेगा।

विशेष—उपरोक्त पद मे राधा की विरहजन्य स्थिति का भावपूर्ण और सरस चित्रण हुआ है। ग्रहण का रूपक गोपियो की भावना के साकार करने मे समर्थ है।

अलकार—(१) 'विनु धर···गह्यो'—रूपकातिशयोक्ति।

(२) 'मानहुँ···वह्यो'—उत्प्रेक्षा।

(३) 'अव मुख ससि···मह्यो'—उपमा।

(४) 'सूरदास···निवह्यो'—भ्रम।

गोपालहि वालक ही तें टेव।
जानति नाहिं कौन पै सीखे चोरी के छल-छेव॥

माखन-दूध धर्यो जब खाते सहि रहतीं करि कानि ।
अब क्यो सही परति, सुनि सजनी ! मन मानिक की हानि ।।
कहियो, मधुप ! सँदेस स्याम सो राजनीति समुझाय ।
अजहूँ तजत नाहि वा लोभै, जुगुत नही जदुराय ।।
बुधि विवेक सरबस या ब्रज को लै जो रहे मुसकाय ।
सूरदास प्रभु के गुन अवगुन कहिए कासो जाय ।।३२६।।

शब्दार्थ—टेव=आदत । छल छेव=छल छन्द । कानि=मर्यादा । जुगुत उचित ।

प्रसग—इस पद मे कृष्ण की वचपन की आदत-चोरी का सकेत करती हुई गोपिया कृष्ण पर व्यग्य करती है ।

व्याख्या—हे उद्धव ! गोपाल कृष्ण की तो वचपन से ही चोरी की आदत है । पता नही उसने चोरी करने के ये छल-छन्द कहा से सीखे ? चोरा करने की आदत के साथ तरह-तरह के तरीके और वहाने उसने कहा से सीखे हैं, इसका पता नही चलता । पहले तो जव भी हम उसे माखन और दूध आदि चोरी करते या चोरी से खाते देख कर पकड लेती थी, उसे कोई भी दण्ड नही देती थी क्योकि हम समझती थी कि दूध-दही आदि वहुमूल्य पदार्थ नही किन्तु अब तो उसने हमारे अमूल्य मन का हरण किया है, नाना मणियो से भी कीमती इस रत्न को भला हम कैसे जाने देगी ।

हे उद्धव ! तुम जाकर श्यामसुन्दर को यह सदेश देना तथा राजनीति की ऊँच-नीच समझाकर कहना कि अभी तक आपने अपनी स्वार्थ वृत्ति को नही छोडा, अभी भी आप दूसरों के मन को चुराकर भाग आए है, यह सव यदुवशी श्रेष्ठ कृष्ण के लिए उचित नही । आज तो श्रीकृष्ण ने ब्रजभूमि के वुद्धि-विवेक रूपी धन का हरण कर लिया है, सभी ब्रजवासी उसके वियोग मे अपनी वुद्धि आदि को भूल गए है और कृष्ण तो सर्वस्व चुरा कर प्रसन्न और मुस्करा रहे है । किन्तु हम उसके गुण-अवगुणो का वर्णन किसके पास जाकर करे । वे हमारे मन-मन्दिर मे रहते है, जगत् के स्वामी हैं इसलिए उनके गुण-अवगुणो का वखान नही हो सकता ।

विशेष—इस पद मे कृष्ण के अनेक अवगुणो का वर्णन करने के वाद भी गोपिया उसी के लिए समर्पित है । प्रेम की यह सरस अभिव्यक्ति ही इस पद

का प्राण है।

अलंकार—सम्पूर्ण पद मे व्याजस्तुति।

जदपि मै बहुतै जतन करे।
तदपि-मधुप ! हरिप्रिया जानि कै काहु न प्रान हरे॥
सौरभ युत सुमनन लै निज कर सतत सेज धरे।
सनमुख होति सरद-ससि, सजनी ! तऊ न अंग जरे॥
चातक मोर कोकिला मधुकर सुर सुनि स्रवन भरे।
सादर ह्वै निरखति रतिपति को नैक न पलक परे॥
निसिदिन रटति नंदनदन, या उर तें छिन न टरे।
अति आतुर चतुरग चमू सजि अनँग न सर सँचरे॥
जानति नाहिं कौन गुन या तन जातें सबै डरे।
सूरदास सकुचन श्रीपति के सुभटन बल बिसरे॥३३०॥

शब्दार्थ—हरिप्रिया=कृष्ण की प्रेयसी। सौरभ-युत=सुगन्धित। सतत=निरन्तर। तऊ=तो भी। रतिपति=कामदेव। नैक=तनिक। परे=झपके। टरे=टले। चमू=सेना। अनग=कामदेव। सचरै=चलाए। सकुचात=सकोच। श्रीपति=श्रीकृष्ण। सुभटन=योद्धाओ। बिसरे=भूल गया।

प्रसग—श्रीकृष्ण के वियोग मे अत्यधिक सतप्त रह कर, तरह-तरह के दुख सहते हुए भी राधा अथवा गोपियो के प्राण क्यो बचे हुए है, इसी भाव को बडे ही कलात्मक एव भावात्मक रूप से इस पद मे चित्रित किया गया है।

व्याख्या—गोपिया उद्धव को कहती है कि हे भ्रमर ! हमने अपने प्राण देने के अनेक उपाय किए किन्तु मुझे श्रीकृष्ण की प्रेमिका समझ कर किसी ने भी मेरे प्राण लेने का साहस नही किया। वियोगिनी के प्राण हरने मे समर्थ उपायो का उल्लेख करती हुई गोपिका कहती है कि मै अपनी शैया पर निरन्तर सुगन्धित फूलो को अपने हाथो से सजाती रही कि शायद सुमन शैय्या के कारण काम उद्दीप्त होकर मेरे प्राण ले-ले, किन्तु ऐसा न हो सका। हे सखि ! मैं शीतकालीन चन्द्रमा के सम्मुख टकटकी लगा कर बैठी रही, फिर भी विरह-संताप मे मेरा शरीर जल न सका। चातक, मोर, कोयल तथा भ्रमर के स्वरो को बहुत तन्मय होकर सुनती रही, जो स्वर सुनकर वियोगी का हृदय जलकर भस्म हो जाता है वे सभी मिलकर भी मुझे जला न सके। हम बडे आदर से,

बिना पलक झपके कामदेव को देखती रही परन्तु इसमें भी इच्छा पूर्ति न हो सकी। किसी भी उपाय से प्राण न निकले। हमने रात-दिन नन्दनन्दन कृष्ण का नाम रटा, एक क्षण के लिए भी वे इस हृदय से दूर नही हुए, इसीलिए कामदेव अपनी चतुरंगिणी सेना लेकर हम पर प्रहार करने आया किन्तु वह भी अपने बाणो को चलाने मे समर्थ न हो सका।

गोपियाँ आश्चर्य प्रकट करती है कि पता नही इस शरीर मे क्या गुण है जिसके कारण सभी इससे डर जाते है। इसका एक ही कारण हो सकता है कि हमारे हृदय मे निरन्तर विद्यमान श्रीकृष्ण के भय से सभी योद्धा अपनी-अपनी शक्ति को भूल जाते हैं, हमारे पास तक फटक नही सकते।

विशेष—उक्त पद मे विभिन्न दुखदायी तत्वो का उल्लेख करने में विरह की तीव्रता का परिचय मिलता है किन्तु उन सबकी असफलता के मूल मे श्रीकृष्ण का हृदय मे विराजमान रहना, भक्ति की अनन्यता का द्योतक है, जिसे कवि ने अत्यन्त कलात्मक ढंग से व्यक्त किया है।

अलंकार—सम्पूर्ण पद मे काव्यलिंग।

माधव सो न बनै मुख मोरे।
जिन्ह नयनन्ह ससि स्याम बिलोक्यो ते क्यों जात तरनि सों जोरे ?
मुनि-मन-रमन ये जोग, कमठ तन मंदर-भार सहै क्यों, ओ रे !
तरुनी-हृदय कुमुद के बंधन कुंजर क्यों न रहत बिनु तोरे॥
नीलांबर-घनस्याम नीलमनि पैयत है क्यों धूम के भोरे।
सूर भृंग कमलन के बिरही चपक मन लागत कहुँ थोरे॥३३१॥

शब्दार्थ—मुख मोरे=मुख मोड़ना। बिलोक्यो=देखा। तरनि=सूर्य। कमठ=कछुआ। मन्दर=मन्दराचल। कुमुद=कमलिनी। कुंजर=हाथी। पैयत=प्राप्त होना। भोरे=धोखे। भृंग=भ्रमर।

प्रसंग—उद्धव द्वारा दिये गए ज्ञानोपदेश को सुनकर गोपियाँ उसका प्रतिवाद करती है और विभिन्न उदाहरणो से कृष्ण के प्रति अपनी अनन्यता का प्रतिपादन करती है।

व्याख्या—हे उद्धव ! जिसका श्रीकृष्ण से प्रेम हो जाय वह उससे मुँह फेर नही सकता। उसका प्रेम कभी भी किसी कारण से छोडा नही जा सकता। जिस किसी ने अपनी आँखो से चन्द्रमा के समान सुन्दर शीतल और

सुखद कृष्ण के स्वरूप को देखा है वह तुम्हारे निर्गुण-ब्रह्म के ज्ञान रूपी सूर्य से आँखे क्यो मिलायेगा। तुम्हारा ज्ञान तो सूर्य के समान जलाने वाला है किन्तु श्रीकृष्ण का सौन्दर्य तो मन और प्राणो को शीतल करने वाला है। यह योग साधना तो मुनियो के मन मे रहने वाली है, जिनका मन कच्छप की तरह कठोर होता है वही योग और ज्ञान रूपी मन्दराचल का भार वहन कर सकते हैं। किन्तु हमने श्रीकृष्ण के अमृतमय सौन्दर्य और रागानुगा भक्ति का रस पा लिया है फिर हम इस कठोर और बोझल साधन को क्यो अपनाये ? हम युवतियाँ हैं, हमे तुम्हारा यह कठिन मार्ग अच्छा क्यो लगेगा। जिस प्रकार कमलिनियो का बन्धन हाथी अवश्य तोड़ देता है उसी प्रकार तुम्हारा यह हाथी के समान योगमार्ग भला हमारे कोमल-मन के बन्धन मे कैसे रहेगा। श्याम-सुन्दर का सौन्दर्य नीले आकाश अथवा नीलमणि के समान है उसे धुएँ के धोखे मे पाया नही जा सकता, इसी प्रकार सगुण-साकार कृष्ण की भक्ति का आनन्द योग और ज्ञान के धोखे से प्राप्त नही हो सकेगा। भ्रमर कमल को प्यार करता है, उसी के वियोग मे दुखी होता है, भटकता है किन्तु भूलकर भी चम्पा को प्यार नही करता, उसी प्रकार हम भी सगुण कृष्ण की उपासना को त्याग कर तुम्हारे निर्गुण-ब्रह्म को ग्रहण नही कर सकती।

विशेष—उपरोक्त पद मे रागानुगाभक्ति की अनन्यता तथा निर्गुण भक्ति की उपेक्षा की सरस और सफल अभिव्यक्ति हुई है, भक्ति की प्रतिष्ठा तथा ज्ञान और योग मार्ग का प्रतिवाद करते हुए कवि ने कलात्मकता का सफल निर्वाह किया है।

अलंकार—(१) 'मुनि-मन रमन···ओ रे'—रूपक।
(२) 'सूर भृ ग···थोरे'—निर्दशना।

और सकल अगन तें, ऊधो! अँखियाँ अधिक दुखारी।
अतिहि पिराति, सिराति न कबहूँ, बहुत जतन करि हारी॥
एकटक रहति, निमेष न लावति, बिथा बिकल भइ भारी।
भरि गइँ बिरह-बार बिनु दरसन चितवति रहति उघारी॥
रे रे अलि! गुरु ज्ञान-सलाकहि क्यो सहि सकति तुम्हारी।
सूर सुअंजन आनु रूप रस आरति हरन हमारी॥३३२॥

शब्दार्थ—पिराति=दुखती। सिराति=शीतल होती। निमेष=पलक।

विथा=व्यथा। विरह्-वाय=विरह की वायु। उघारि=खुली। गुरु=भारी। ज्ञान-सलाकहि=ज्ञान रूपी सलाई। मुग्रजन=काजल। आरति=दुख।

प्रसंग—कृष्ण दर्शनो के लिए आकुल गोपियो की आँखें शरीर के अन्य अगो से दुखी है। इसी का वर्णन प्रस्तुत पद मे किया गया है।

व्याख्या—हे उद्धव! श्रीकृष्ण के वियोग मे हमारी आँखें शरीर के अगो की अपेक्षा अधिक दुखी हो रही है। हमने अनेक यत्न किये किन्तु इनकी पीडा कम न हुई। हर समय दुखित ही रही। इन्हे कभी शीतलता नही मिली। इस प्रकार हमारे सभी यत्न असफल हो गए। ये आँखे श्रीकृष्ण के वियोग मे हर समय उनका मार्ग देखती रहती है, एकटक देखती हुई आँखे पलक भी नही झपकती। इस प्रकार व्यथा से अत्यधिक व्याकुल रहती है। श्रीकृष्ण के दर्शन न होने के कारण इन आँखो मे वियोग की वायु भर गई है और यह हर समय खुली हुई सुध-बुध खोकर श्रीकृष्ण के लौटने का मार्ग देखती रहती हैं। जिस प्रकार सन्निपात रोग मे सुध-बुध विस्मृत हो जाती है उसी प्रकार हमारी आँखे सब कुछ भूल कर केवल कृष्ण की बाट जोहती रहती हैं। हे उद्धव! हमारी आँखे इतनी दुख रही हैं कि तुम्हारे ज्ञान-मार्ग की शलाका को सहन नही कर सकती। इन आँखो की शाति के लिए, दुख दूर करने के लिए श्रीकृष्ण के रूप रस का, उनके दर्शन का श्रेष्ठ अजन हमे ला दो। श्रीकृष्ण का दर्शन करके इन आँखो की सभी व्यथा समाप्त हो जायेगी।

विशेष—प्रस्तुत पद मे वियोगावस्था मे प्रियतम की प्रतीक्षा मे तल्लीन आँखो का सरस एव मार्मिक चित्रण हुआ है, इससे गोपियो के अनन्य प्रेम का परिचय मिलता है। 'रे रे अलि' मे गोपियो की आकुलता अभिव्यक्त हुई है।

अलकार—(१) 'अतिहि···करि हारी'—अनुप्रास।
(२) 'भरि गईं···तुम्हारी'—रूपक।

भूलति हौं कत मीठी बातन।
ये अलि हैं उनहीं के सँगी, चचल चित्त, सांवरे गातन॥
वै मुरली धुनि कै जग मोहत, इनकी गुंज सुमन-मन पातन॥
वै उठि आन आन मन रजत, ये उड़ि अनत रग-रस-रातन॥
वै नवतनु मानिनि-गृह बासी, ये निसिदिवस रहत जलजातन।
ये षटपद, वै दुपद चतुर्भुज, इनमे नाहिं भेद कोउ भाँतन॥

स्वारथ निपुन सर्बरस-भोगी जनि पतियाहु बिरह-दुख-दातन।
वै माधव, ये मधुप, सूर सुनि, इन दोउन कोऊ घटि घाट न ॥३३३॥

शब्दार्थ—कत=क्यो। गातन=शरीर वाले। मन-पातन=मन आकृष्ट करने वाले। आन-आन=दूसरो। रजत=प्रसन्न करते। अनत=और कही। रातन=अनुरक्त। नवतनु=नवयुवती। जल जातन=कमलो। पतियाहु=विश्वस्त। दुख-दातन=दुख देने वाले। घटि-घाट=कम।

प्रसंग—उद्धव के ज्ञानोपदेश को सुन कर क्षुब्ध गोपियाँ भ्रमर से कृष्ण तथा उद्धव की तुलना करती हुई उन्हे स्वार्थी और धोखेबाज सिद्ध करती है।

व्याख्या—हे सखियो! उद्धव जी की मीठी बातो मे भूलती क्यो हो? इनकी सभी बाते स्वार्थपूर्ण और भटकाने वाली है। ये जो भ्रमर है उन्ही कृष्ण के साथी है, उन्ही के समान चचल-चित वाले है, कही एक स्थान पर स्थिर नही रहते, शरीर से भी सावले है। भ्रमर फूलो पर मडराता रहता है, कृष्ण भी कल तक हमसे क्रीडा करते रहे, यहाँ से मथुरा और अब वहाँ से द्वारिका चले गए हैं। इन सभी का रूप गुण स्वभाव समान है, इनके बहकावे मे क्यो आती हो?

गोपियाँ भ्रमर और कृष्ण के कार्यव्यापार और स्वभाव की तुलना करती हुई कहती है कि कृष्ण तो मुरली की मधुर ध्वनि से सम्पूर्ण जगत को मोहित करते है और भ्रमर की मधुर गुजार फूलो के मन को आकर्षित करती रहती है। श्रीकृष्ण तो एक स्थान त्याग कर दूसरे स्थान पर जाकर मनोरजन करते हैं—पहले व्रज मे हमसे मनोरजन करते रहे और अब मथुरा मे कुब्जा से मनोरजन करते है, और ये भ्रमर एक पुष्प से दूसरे पर उडते हुए उनका रसपान करने मे मग्न रहते है। श्रीकृष्ण नवयौवना और मानिनी कुब्जा के घर मे निवास करते है और भ्रमर रातदिन कमलो के पास रहते है। दोनो के स्वभाव मे कुछ भी अन्तर नही। यही नही उनके शरीर मे भी साम्य है, दोनो का रग काला है, भ्रमर को षटपद माना जाता है तो कृष्ण के भी दो पैर और चार भुजाएँ हैं, इस प्रकार किसी प्रकार का भेद नही। ये सभी अपने स्वाथ साधन मे चतुर तथा सभी प्रकार के रसो का आस्वादन करने वाले है इसलिए इनकी बातो पर विश्वास न करो, ये सभी वियोग-दुख देने वाले है। कृष्ण को माधव कहते हैं इन्हे मधुप कहा जाता हे इन दोनो मे कोई भी एक-दूसरे से कम

नही है।

विशेष—उक्त पद में भ्रमर और कृष्ण के रूप, गुण स्वभाव आदि की समता करते हुए उद्धव के ज्ञानोपदेश पर व्यग्य की सरसता दर्शनीय है।

अलकार—(१) सम्पूर्ण पद मे—सम।
(२) 'वै उठि'''रजत'—पुनरुक्तिप्रकाश।
(३) 'वै माधव'''घाट न'—अनुप्रास।

हरि सों कहियो, हो, जैसे गोकुल आवै।
दिन दस रहे सो भली कीन्ही, अब जनि गहरु लगावै॥
नाहिन कछू सुहात तुमहि बिनु, कानन भवन न भावै।
देखे जात आपनी आँखिन्ह हम कहि कहा जनावै?
बाल बिलख, मुख गउ न चरति तृन, बछरा पीवत पय नहिं धावै।
सूर स्याम बिनु रटति रैनदिन, मिलेहि भले सचु पावै॥३३४॥

शब्दार्थ—जनि=मत। गहरु=देर। सुहात=अच्छा लगता। कानन=वन। जनावै=बताये। पय=दूध। सचु=सुख।

प्रसंग—गोपियो की विरहाकुलता और उद्धव द्वारा श्रीकृष्ण को वापिस आने के सदेश का चित्रण प्रस्तुत पद मे किया गया है।

व्याख्या—हे उद्धव! श्रीकृष्ण से जाकर इस प्रकार हमारा सदेश देना जिससे वह गोकुल मे शीघ्र वापिस लौट आये। उन्हे कहना कि आप मथुरा मे कुछ दिन रह चुके है यह अच्छी बात है किन्तु अब और विलम्ब न करें, शीघ्र लौट आये। श्रीकृष्ण को कहना कि उनके बिना हम वियोगिनियो को कुछ भी अच्छा नही लगता, अब तो न हमे वन अच्छा लगता है और न ही घर मन को शान्ति देता है। हे उद्धव! आप स्वय अपनी आँखो से हमारी दशा देखकर जा रहे हो, फिर हम और क्या बताएं? उन्हे जाकर कहना कि आप के वियोग में गोपियाँ, ग्वाल-बाल सभी बिलखते रहते हैं, गौओ ने घास चरना छोडा हुआ है, बछडे भी दौड कर दूध पीने के लिए नही जाते। व्रज मे कृष्ण के बिना सभी ग्वाल, गोपी, गाय और बछडे आदि रात-दिन उन्ही का नाम रटते रहते है, केवल आपके मिलन से, दर्शन करने से ही सबको सुख प्राप्त होगा।

विशेष—गोपियो की मन.स्थिति, कृष्ण-प्रेम तथा आस्था की सफल अभिव्यक्ति की गयी है।

अलंकार—(१) 'नाहिन''न भावै'—अनुप्रास।
(२) 'बाल बिलख''धावै'—अतिशयोक्ति।

सखी री ! मथुरा में द्वै हंस।
एक अक्रूर और ये ऊधो, जानत नीके गंस॥
ये दोउ छीर नीर पहिचानत, इनहि बधायो कंस।
इनके कुल ऐसी चलि आई, सदा उजागर बंस॥
अजहूं कृपा करौ मधुबन पर जानि आपनो अंस।
सूर सुयोग सिखावत अबलन्ह, सुनत होय मनभ्रंस॥३३५॥

शब्दार्थ—गंस=कुटिलता। छीर=दूध। नीर=जल। बधायो=मरवाया। अजहूँ=अब भी। अंस=साथी। मनभ्रंस=व्याकुलता।

प्रसंग—उद्धव के ज्ञानोपदेश को सुनकर क्षुब्ध गोपियां उसका मजाक उड़ाती हुई कहती है कि—

व्याख्या—हे सखी ! मथुरा मे दो हंस उद्धव और अक्रूर रहते है। ये दोनो सज्जन, विवेकी एवं ज्ञानी माने जाते है। दोनों ही कुटिल कार्य करने मे कुशल है। अक्रूर गोकुल मे आये थे और धोखे से श्रीकृष्ण को साथ ले गये थे, अब उद्धव आये है; हमे ज्ञानोपदेश देकर हमे कृष्ण से विमुख करना चाहते हैं। दोनों ही कहने मे सज्जन किन्तु कर्म से कुटिल है। ये दोनो गुण और दोष, दूध और पानी को पहचानते है, अच्छे और बुरे की इन्हे पूर्ण जानकारी है, इन्ही ने अपने गुण से कंस को मरवाया है। इनके वंश की ऐसी ही रीति है, इस काम मे, अपने को सज्जन कहना किन्तु कार्य असज्जनता के करने, इनका वंश बहुत प्रसिद्ध है।

गोपियाँ उद्धव से प्रार्थना करती है कि अब भी जाकर मथुरा पर अपनी कृपा दृष्टि करे, क्यो इनके गुण और स्वभाव वाले संगी-साथी सभी वही रहते है, वही इनके ज्ञानोपदेश का स्वागत करेगे, उसे अपनायेगे। यह उद्धव कितने योग्य है कि हम अबलाओ को योगमार्ग की शिक्षा देने आये है जिसे सुनकर भी मन व्याकुल हो उठता है। इस प्रकार की अटपटी बाते करना यहाँ उचित नही।

विशेष—(१) प्रस्तुत पद मे व्यंग्य की वक्रता और सरसता दर्शनीय है।
(२) सम्पूर्ण पद मे वक्रोक्ति का चमत्कार प्रकट हुआ है।

वारक कान्ह करौ किन फेरो ?
दरसन दै मधुवन को सिधारो, सुख इतनो बहुतेरो ॥
भलेहि मिले बसुदेव देवकी जननि जनक निज कुटुँब घनेरो ।
केहि अवलब रहै हम ऊधो ! देखि दुःख नद-जसुमति केरो ॥
तुम विनु को अनाथ-प्रतिपालन, जाजरि नाव कुसंग सबेरो ।
गए सिंधु को पार उतारै, अब यह सूर थक्यो व्रज-बेरो ॥३३६॥

शब्दार्थ—वारक=एक बार । किन=क्यो नही । घनेरो=विशाल । अवलम्ब=सहारा । प्रतिपालन=पालन करने वाला । जाजरि=जीर्ण । सबेरो=सम्पूर्ण । व्रज-बेरो=व्रज रूपी बेड़ा ।

प्रसंग—कृष्ण के विना अपने जीवन को बेसहारा समझती हुई गोपियाँ उनके पास अपनी प्रार्थना का सदेश भेजती है ।

व्याख्या—हे श्रीकृष्ण ! आप एक बार व्रजवासियों को आकर दर्शन क्यो नही दे जाते ? आप हमे एक बार दर्शन देकर मथुरा लौट जाना हमारे लिये इतना सुख भी पर्याप्त होगा । आप वहाँ जाकर अपनी माता देवकी तथा पिता वसुदेव को मिले है यह बहुत अच्छा हुआ है, आपका विशाल कुटुम्ब भी आपको मिला है यह भी भली बात है किन्तु हे उद्धव ! हम यहाँ व्रज मे किसके सहारे रहे, यहाँ पर नन्द और यशोदा की वेदना को देखते हुए कैसे रहे ? नन्द, यशोदा तथा हमारे जीवन का एकमात्र सहारा तो श्रीकृष्ण ही है ।

हे श्रीकृष्ण ! आपके विना हम अनाथो का पालनकर्त्ता कौन है । हमारी जीवन-नौका जीर्णशीर्ण हो चुकी है, पुरजन-परिजन सभी कुसगति के समान दुःखदायक हो गये है । आपके विना हमारा जीवन सभी प्रकार से अनाश्रित, असहाय एव दुखपूर्ण हो गया है । अब तो व्रज के जीवन की नौका विरह-सागर के थपेड़ो से थक चुकी है, जर्जर हो चुकी है, आपके विना इसे सागर से पार कौन करेगा ? केवल आप ही हमारे जीवन को बचा सकते है, इसलिए कृपा करके एक बार अवश्य दर्शन दें ।

विशेष—इस पद मे गोपियो की आतुरता, भगवान् के प्रति समर्पण एव अकिन्चनता की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है ।

अलकार—(१) 'वारक······फेरो'—अनुप्रास ।
(२) 'तुम बिनु······व्रजबेरो'—रूपक ।

मानौ ढरे एक ही साँचे ।
नखसिख कमल-नयन की सोभा एक भृगुलता-बाँचे ॥
दारुजात कैसे गुन इनमें, ऊपर अतर स्याम ।
हमको धूम गयद बतावत, बचन कहत निष्काम ॥
ये सब असित देह धरे जेते ऐसेई, सखि ! जानि ।
सूर एक ते एक आगरे वा मथुरा की खानि ॥३३७॥

शब्दार्थ—ढरे=ढले हुए । भृगुलता-बाचे=भृगु की लात का चिह्न छोड़कर । दारुजात=भ्रमर । गयद=हाथी । असित=अश्वेत, काले । आगरे=बढकर ।

प्रसंग—उद्धव और कृष्ण को समान शरीर, स्वभाव वाला सिद्ध करते हुए गोपियाँ निर्गुण ब्रह्म सम्बन्धी ज्ञानमार्ग को भी धोखे का स्वरूप कहती है ।

व्याख्या—हे सखी ! उद्धव और कृष्ण दोनो ही रूप, गुण और स्वभाव मे एक से ही हैं । ऐसा लगता है कि वे एक ही साँचे मे ढाले गये है । उद्धव के अग-प्रत्यग श्रीकृष्ण के समान ही है, अन्तर यदि है तो यही कि श्रीकृष्ण के वक्षस्थल पर भृगु मुनि की लात का चिह्न अंकित है । इन दोनो मे भ्रमर के सभी गुण विद्यमान है, भ्रमर स्वार्थी, सौन्दर्य प्रेमी, रसलोलुप तथा कठोर होता है, उद्धव और कृष्ण भी उक्त गुणो से युक्त है । ये दोनो अन्तर्बाह्य दृष्टि से काले है । हमें निष्काम भाव का उपदेश देने वाले उद्धव धोखेबाज है, तभी तो वे हमे अस्तित्वहीन, अरूप, निस्सार निर्गुण ब्रह्म का उपदेश देते है । जिस प्रकार धुएँ का हाथी केवल भ्रम ही उत्पन्न करता है उसी प्रकार इनका निर्गुण ब्रह्म भी तो केवल धोखामात्र है । हे सखी ! ये जितने भी काले शरीर वाले-भ्रमर, कृष्ण और उद्धव है, सभी एक से एक बढकर धोखेबाज तथा स्वार्थी होते है । मथुरा की खान मे तो इनका अमित भण्डार है, इसलिये इन पर विश्वास नही करना चाहिए ।

विशेष—१ उक्त पद मे गोपियो द्वारा निर्गुण ब्रह्म का प्रतिवाद तथा कृष्ण और उद्धव के गुण स्वभाव पर व्यग्य करने मे कवि कल्पना को पूर्ण सफलता मिली है ।

अलकार—(१) 'मानौ ढरे······बाँचे'—उत्प्रेक्षा ।
(२) 'सूर एक······खानि'—रूपक ।

बातै कहत सयाने की सी ।
कपट तिहारो प्रगट देखियत ज्यों जल नाए सीसी ॥
हौं तो कहत तिहारे हित की काहे को तू भरमत ।
हमहूँ मया तिहारी हैं कछु, थोरी सी है मंमत ॥
छाय बसाय गए सुफलकसुत नेकहु लागी बार न ।
सूर कृपा करि आए ऊधो तापै ढेवा डारन ॥३३८॥

शब्दार्थ—सयाने=बुद्धिमान । प्रगट=स्पष्ट । नाए=डालने से । तिहारे=तुम्हारे । भरमत=भ्रमित होता है । मया=मोह । मंमत=ममता । सुफलकसुत=अक्रूर । नेकहु=तनिक । बार=देर । ढेवा=गीली-मिट्टी का ढेर ।

प्रसंग—प्रस्तुत पद मे उद्धव के ज्ञानोपदेश पर उपहास करते हुए निर्गुण ब्रह्म का प्रतिवाद किया गया है ।

व्याख्या—हे उद्धव ! तुम हमे जो उपदेश दे रहे थे, बाहर से तो वह बहुत बुद्धिमता तथा चतुरता का रूप अनुभव होता है किन्तु हम तुम्हारी वास्तविकता से परिचित हैं । जिस प्रकार खाली शीशी पानी मे डालने से उसमे से बुलबुले उठते हैं, शीघ्र ही मिट जाते है उसी प्रकार तुम्हारी बातो का खोखलापन प्रकट हो चुका । तुम हमारे मन मे स्थित श्रीकृष्ण की स्मृति छीन लेना चाहते हो और उसके स्थान पर निर्गुण ब्रह्म के विचारो को थोपना चाहते हो ।

हे उद्धव ! हम तो तुम्हारी भलाई की बात करती है कि तुम किसलिये भटकते हो, जो उपदेश हम सुनना नहीं चाहती, उसे ही बार-बार सुना रहे हो । क्योंकि तुम कृष्ण के मित्र हो, इसलिए हमारे मन मे तुम्हारे लिए कुछ ममता कुछ स्नेह, कुछ अपनापन है । इसलिए जब तुम बार-बार व्यर्थ की बाते करते हो तो हमे कष्ट होता है । आपसे पहले अक्रूर आये थे और उन्होने वियोग की छाया बनाकर हमे उसमे बसा दिया है । जब अक्रूर श्रीकृष्ण को लेकर गये तो हमे आश्वासन दे गये थे कि श्रीकृष्ण शीघ्र ही लौट आयेंगे, हम सभी आज तक उस आश्वासन की छाया मे बैठी हुई है । अब आप पधारे है, आप इसलिए आए है कि अवधि रूपी झोपड़ी के चारो ओर मिट्टी की दीवारे खडी करके हमे उसमे बन्द कर देना चाहते है ताकि हमारा जीवन समाप्त हो

जाय। किन्तु वहाँ भी तुम्हे सफलता नही मिलेगी क्योकि हम नन्दनन्दन कृष्ण की स्मृति को हृदय से निकाल नही सकती।

विशेष—उक्त पद मे गोपियो ने जिस ढग से उद्धव की बातो का प्रतिवाद किया है उसमे वाक्‌विदग्धता और सरसता का सफल निर्वाह हुआ है।

अलकार—(१) 'बातें कहत······की सी'—वक्रोक्ति।

(२) 'छाय बसाय······डारन'—उत्प्रेक्षा।

आए नँदनंदन के नेव।
गोकुल आय जोग बिस्तारयो, भली तुम्हारी टेव॥
जव बृंदाबन रास रच्यो हरि तबहिं कहाँ तू हेव।
अब जुबतिन को जोग सिखावत, भस्म अधारी सेव॥
हम लगि तुम क्यों यह मत ठान्यो ज्यो जोगिन को भोग।
सूरदास प्रभु सुनत अधिक दुख, आतुर बिरह-बियोग॥३३९॥

शब्दार्थ—नेव=मत्री, नायब। विस्तार्‌यो=फैलाया। टेव=आदत। हेव=था। सेव=सेवन करना। ठान्यो=निश्चय किया।

प्रसंग—इस पद मे युवतियो के लिये योग-साधना को व्यर्थ सिद्ध किया गया है। गोपियाँ उद्धव का उपहास करती हुई कहती है कि—

व्याख्या—देखो! ये नन्दनन्दन श्रीकृष्ण के नायव मत्री, मित्र आये है। जो स्वय श्रीकृष्ण के पास से लौटे है। ऐसे है उद्धव! तुमने गोकुल मे आकर निर्गुण ब्रह्म का विस्तृत विवेचन किया है, तुम्हारी यह आदत वडी विचित्र है कि जिस वात को तुम स्वय नही जानते उसका प्रतिवाद करते हो। अच्छा यह तो वताओ कि जव श्रीकृष्ण ने हम गोपियो के साथ रास रचाई थी, तो तुम कहाँ थे? क्या तुमने उस अतुल सौन्दर्य के दर्शन भी किए हैं, जो आज हम युवतियो को योगसाधना का उपदेश दे रहे हो। हमे भस्म रमाकर अधारी लेकर साधना करने को कह रहे हो? तुम हमे इस मत का उपदेश देते हो किन्तु हमारे लिए तो यह उसी प्रकार व्यर्थ है जिस प्रकार किसी योगिनी के लिए भोग विलास की सामग्री। उद्धव! तुम्हारा उपदेश सुनकर हमे श्रीकृष्ण की याद अधिक दुख देती है, विरह व्यथा की आकुलता वढ़ जाती है। इसलिए इस ज्ञान मार्ग और योग-साधना का उपदेश मत करो।

विशेष—इस पद मे व्यग्य की तीव्रता और आस्था की तन्मयता दर्शनीय है।

अलंकार—(१) 'आए‥‥नेव'—अनुप्रास।

(२) 'हम लगि‥‥भोग'—उपमा।

मनौ दोउ एकहि मते भए।
ऊधो अरु अक्रूर बधिक दोउ ब्रज आखेट ठए॥
बचन-पास बांधे माधव-मृग, उनरत घालि लए।
इनहीं हती मृगी - गोपीजन सायक-ज्ञान हए॥
बिरह-ताप को दवा देखियत चहुँ दिसि लाय दए।
अब धौं कहा कियो चाहत है, सोचत नाहिंन ए॥
परमारथी ज्ञान उपदेसत विरहिन प्रेम-रए।
कैसे जियहि स्याम बिनु सूरज चुंवक मेघ गए॥३४०॥

शब्दार्थ—एकहि मते=समान मत वाले। आखेट=शिकार। ठये=निश्चय किया। बचन-पास=वचनो का वंधन। माधव-मृग=कृष्ण रूपी हिरण। उनरत=उछलते हुए। घालि लए=पकड़ लिए। हती=घायल। सायक-ज्ञान=ज्ञान के वाण। दवा=दावाग्नि। परमारथी ज्ञान=ब्रह्मज्ञान। प्रेम-रए=प्रेम मे रंगी हुई।

प्रसग—उद्धव के उपदेश मे अक्रूर और उद्धव की मिली-भगत का सदेह करती हुई गोपियाँ कृष्ण के प्रति अपना प्रेम भाव प्रकट करती हुई कहती है—

व्याख्या—हे सखि! अक्रूर की करनी तथा उद्धव के उपदेश को सुनकर ऐसा प्रतीत होता है कि दोनो एक ही मत के हैं। दोनो ने मिलकर एक ही कार्य को सिद्ध करना चाहा है कि गोपियाँ और ब्रजवासी कृष्ण की स्मृति को भुला दे। उद्धव और अक्रूर दोनो ही शिकारी हैं और इन्होने ब्रजभूमि को अपने आखेट का क्षेत्र बनाने का निश्चय कर लिया है। इन्होने श्रीकृष्ण को उछलते, कूदते, आनन्द विहार करते हुए को अपने वचन रूपी वधन मे जकड कर घेर लिया है। इन दोनो ने ही ज्ञान के तीर चला-चलाकर गोप, गोपियो को घायल कर दिया है। इस समय चारो ओर विरहाग्नि प्रज्वलित हो रही है, ऐसी अवस्था मे इन्हे क्या करना चाहिए, ऐसी सलाह कोई भी नही देता। कोई सोचता भी नही। आज विरह की दावाग्नि चारो दिशाओ मे लगी हुई है। अब ये क्या करना चाहते है? इसके विषय मे अभी क्या कुछ करना चाहिए यह ज्ञात

नहीं। आज ये प्रेमरंग में रंगी हुई हैं, श्रीकृष्ण के रंग में रंगी हुई वियोगिनियो के लिए यह ज्ञानोपदेश ग्रहण करने योग्य नही है। जिस प्रकार बादलो के समाप्त होने पर भी चातक मौन हो जाता है उसी प्रकार तुम्हारे निर्गुण ब्रह्म के उपदेश से हमारे मन की कसक और भी बढ गई है, हम भला कृष्ण के वियोग मे जीवित कैसे रहेगी।

विशेष—उक्त पद मे अक्रूर और उद्धव की तुलना करते हुए गोपियो ने कृष्ण के प्रति अपने उद्‌गार प्रकट किए है जिनमे सरसता और व्यंग्यात्मकता का चित्रण करने मे कवि को पूर्ण सफलता मिली है।

अलंकार—(१) 'मनो···मत भये'—उत्प्रेक्षा।

(२) 'वचन-पास···घालि लए'—रूपक।

(३) 'विरह ताप···नाहिंन ए'—सन्देह।

या ब्रज सगुन-दीप परगास्यो।
सुनि ऊधो! भृकुटी त्रिवेदि तर निसिदिन प्रगट अमास्यो।
सब के उर-सरवनि सनेह भरि सुमन तिली को बास्यो।
गुन अनेक ते गुन कपूर सम परिमल बारह मास्यो॥
विरह-अगिनि अगन सब के, नहिं बुझत परे चौमास्यो।
ताके तीन फुँकैया हरि से, तुम से, पचलरा स्यो॥
आन-भजन तृन सम परिहरि सब करती जोति-उपास्यो।
साधन भोग निरंजन ते रे अंधकार तम नास्यो॥
जा दिन भयो तिहारो आवन बोलत हौं उपहास्यो।
रहि न सके तुम, सीक रूप ह्वै निर्गुन-काज उकास्यो॥
बाढ़ी जोति सो केस-देस लौं टूट्यो ज्ञान-मवास्यो।
दुरवासना-सलभ सब जारे जे छै रहे अकास्यो॥
तुम तौ निपट निकट के बासी, सुनियत हुते खवास्यो।
गोकुल कछु रस-रीति न जानत, देखत नाहिं तमास्यो॥
सूर. करम की खीर परोसी, फिरि फिरि चरत जवास्यो॥३४१॥

शब्दार्थ—सगुण-दीप=सगुण ज्योति को जगाने वाला। त्रिवेदि=तिपाई, चौकी। उर-सरवनि=हृदय रूपी प्याला। बास्यो=निवास। गुन=बत्ती। परिमल=सुगन्धि। चौमास्यो=चौमासा, वर्षा ऋतु। फुकैया=आग

दहकाने वाली फूंकनी। पचसरा=कामदेव। परिहरि=त्याग कर। उपास्यो =उपासना। तम=अन्धकार। उपहंस्यो=मजाक भरी बाते। उकास्यो= उकसाया। केस-देस=ब्रह्माण्ड। मवास्यो=किला। सलभ=पतगा। छै रहे =छाए हुए। खवास्यो=मत्री।

प्रसग—प्रस्तुत पद मे गोपियो ने निर्गुण ब्रह्म की साधना तथा उससे प्राप्त होने वाली ज्ञान ज्योति को सगुण भक्ति के रूप मे देखकर उद्धव के समक्ष सगुण प्रभु की प्रेम लक्षणा भक्ति के स्वरूप और व्यापकता का प्रतिपादन किया है।

व्याख्या—हे उद्धव! इस ब्रजभूमि में तो सर्वत्र सगुण ब्रह्म की ज्योति व्याप्त है। स्वय पर-ब्रह्म श्रीकृष्ण अपने सगुण स्वरूप और सौन्दर्य में जन-जन के मन में स्थित है। उद्धव! हमारी भृकुटि रूपी तिपाई के नीचे हमारी आँखों मे उनका स्वरूप रात-दिन छाया रहता है। प्रत्येक ब्रजवासी के हृदय रूपी पात्र मे उनके लिए अपार स्नेह है उनके मनो मे स्नेह उत्पन्न करने वाले भाव ही तिलो के समान है जहाँ से प्रेम-भक्ति की सरसता उमड़ती रहती है। श्रीकृष्ण के अपार गुणो से जो गुण अर्थात् बाते बनी हैं, उसका प्रकाश सुगन्धि बनकर बारहो महीने, फैलता रहता है। सुगन्धि के समान सुखकारी एवं सूक्ष्म, प्रकाश सबको आह्लादित करता रहता है।

सभी ब्रजवासियो का जीवन श्रीकृष्ण के वियोग की अग्नि से सतप्त है, किन्तु वह न तो कम होता हे और न ही समाप्त, चौमासा आया तो उसके साथ घुटन, गर्मी भी आई किन्तु किसी का मन विचलित न हुआ। वर्षा ऋतु आई तो उसकी सरसता ने वियोग पीडा को भड़का दिया किन्तु सगुण का प्रेम फिर भी कम न हो सका। इस वियोगाग्नि को भड़काने वाले तीन लोग हैं, प्रथम स्वय श्रीकृष्ण जिनका सौन्दर्य और प्रेम हमारे मन पर छाया हुआ है और जो हमे छोड़कर चले गए है। दूसरे, तुम स्वय जो योग-साधना का सदेश देकर हमारी व्यथा को बढ़ाते जा रहे हो और तीसरे कामदेव जो हमारे हृदय मे कामोद्दीपन करता रहता है। तीनो ही हमारी विरहाग्नि को भड़काते रहते हैं किन्तु हमारा मन अपने लक्ष्य, आराध्य को क्षण भर भी भुला नही पाता।

हे उद्धव! यहाँ तो सभी केवल उस ज्योति पुरुष श्रीकृष्ण की उपासिका हैं उनके लिए तो मात्र कृष्ण ही आराध्य और प्राप्य हैं इसलिए अन्य किसी

की भक्ति अथवा साधना को इन सभी ने तिनके के समान तुच्छ समझ कर त्याग रखा है। ससार के जितने भी भोग पदार्थ है उनसे सभी निर्लिप्त हैं, सभी ने सासारिक भोगो को कृष्ण-विमुख कर दिया है। इससे उनके मन में अज्ञान, अस्थिरता आदि का अधकार सर्वथा नष्ट हो चुका है। हे उद्धव ! तुम जिस दिन से आए हो तभी से तुम उपहास भरी बाते कर रहे हो। हमारे लिए तो ज्ञानमार्ग तथा योग साधना जैसा कठिन मार्ग केवल उपहास मात्र ही है। इससे तो हमारे मन मे सोया हुआ प्रेम पुन तीव्र हो गया है। जिस प्रकार सीक की सहायता से दीपक की लौ को अधिक प्रकाशवान् बना दिया जाता है उसी प्रकार तुम्हारा सदेश पाकर हमारी भक्ति भावना अधिक तीव्र हो गई है। यह ज्योति बढ कर मस्तक तक व्याप्त हो गई है जिससे ज्ञान का गढ गिर गया है। ब्रह्माण्ड मे प्रकाश फैलता है तो सभी भ्रम नष्ट हो जाते है उसी प्रकार सगुण भक्ति का प्रकाश ससार व्यापी हुआ तो ज्ञान, अहकार आदि की सीमाएँ नष्ट हो जाती है, अभी तक अनेक प्रकार की दुर्वासनाओ से मन का आकाश घिरा हुआ था किन्तु ब्रह्म की भक्ति के कारण सभी हीन वृत्तियाँ, दुर्वासनाये समाप्त हो गई है।

उद्धव ! तुम तो श्रीकृष्ण के बिल्कुल साथ रहने वाले हो, ऐसा कहा जाता है कि तुम उनके खास मित्र, मत्री हो फिर भी तुम्हे गोकुल और यहाँ के निवासियो के मन मे व्याप्त भक्ति भाव का कुछ भी पता नही, तुम यह तमाशा क्यो देख रहे हो। हमने तो तुम्हारे सामने बढिया खीर बना कर रखी थी किंतु तुम बार-बार उसे त्याग कर केवल जवास का चारा चुगने मे मजबूर दिखाई दे रहे हो।

विशेष—उक्त पद मे निर्गुण ब्रह्म की नीरसता एव सगुण भक्ति की सरसता का रोचक वर्णन किया गया है। ज्ञानमार्ग मे जिन तत्वो को प्रमुखता दी जाती है उन सबके अर्थ का समाहार श्रीकृष्ण मे करते हुए गोपियो की आस्था और विश्वास का चित्रण करने मे कवि को विशेष सफलता मिली है।

अलकार—(१) सम्पूर्ण पद मे सागरूपक का सफल निर्वाह हुआ है।

(२) 'सगुनदीप, त्रिबेदि, गुन, फुकैया, निरजन, केस, देस' आदि मे श्लेप।

(३) 'बिरह अगिनि···चौमास्यौ'—विशेषोक्ति।

सब जल तजे प्रेम के नाते ।
तऊ स्वाति चातक नहि छांड़त प्रकट पुकारत ताते ॥
समुझत मीन नीर की बातें तऊ प्रान हठि हारत ।
सुनत कुरग नादरस पूरन, जदपि व्याध सर मारत ॥
निमिष चकोर नयन नहि लावत, ससि जोवत जुग बीते ।
कोटि पतंग जोति बपु जारे, भए न प्रेम-घट रीते ॥
अब लौं नहि बिसरीं वे बातें संग जो करीं ब्रजराज ।
सुनि ऊधो ! हम सूर स्याम को छांड़ि देहि केहि काज ? ॥३४२॥

शब्दार्थ—तजे=त्यागे । मीन=मछली । नीर=जल । कुरंग=हरिण । नादरस=सगीत की ध्वनि । व्याध=शिकारी । सर=तीर । निमिष=पलक । जोवत=देखते हुए । वपु=शरीर । रीते=खाली । बिसरी=भूली ।

प्रसग—प्रस्तुत पद मे गोपियों के एकनिष्ठ प्रेम को विभिन्न उदाहरणों द्वारा स्पष्ट किया गया है ।

व्याख्या—हे उद्धव ! श्रीकृष्ण का जो प्रेम हमारे मन मे प्रतिष्ठित है वह कभी भी समाप्त नही हो सकता । चातक स्वाति नक्षत्र के जल को प्यार करता है, इसीलिए वह अन्य सभी प्रकार के जल को त्याग देता है, उसमे सम्बन्ध विच्छेद कर लेता है किन्तु स्वाति जल के लिए उसकी प्यास कभी शान्त नही होती और वह उसके लिए सदा पुकारता रहता है । मछली जल से प्यार करती है, उसे ज्ञात होता है कि जल उसे छोड कर आगे बढता रहता है, वह निर्मोही है किन्तु मछली का प्यार कम नही होता, वह जल से अलग होते ही अपने प्राण त्याग देती है । हिरण वंशी अथवा वीणा की आवाज से प्रेम करता है, शिकारी सगीत की आवाज से उसे मोहित करके उसका वध कर देता है किन्तु हिरण के हृदय से संगीत का प्रेम कम नही होता । चकोर चन्द्रमा को प्यार करता है, उसके रूप-सौन्दर्य को देखने के लिए युगो से एक-टक चन्द्रमा को देखता रहता है, एक पल के लिए भी उधर से मुह नही फेरता । शलभ-दीपक की ज्योति को प्यार करता है । उस ज्योति ने करोड़ों पतगो के शरीर जला दिए है फिर भी उसके प्रेम का पात्र खाली नही होता । शरीर जला कर भी पतग दीपक की लौ से प्यार करता है । हे उद्धव ! जिस प्रकार चातक, मछली, हरिण, चकोर और

शलभ का प्रेम कम नही होता उसी प्रकार हमारा प्रेम भी एकनिष्ठ और सदा एक सा रहने वाला है। व्रजराज श्रीकृष्ण ने हमारे साथ जो प्रेम भरी बातें की हैं, तरह-तरह की क्रीडाओ का आनन्द दिया है उन्हे तथा उनके अनुपम सौन्दर्य को हम कैसे भुला सकती है। उद्धव ! हम श्रीकृष्ण को किसलिए छोड दे ? तुम्हारे निर्गुण ब्रह्म के लालच मे आकर लीला पुरषोत्तम श्रीकृष्ण को भुलाया नही जा सकता।

विशेष—उक्त पद में प्रेम के विभिन्न आदर्शो का उल्लेख करते हुए कवि ने गोपियो की भावुकता, निष्ठा तथा कृष्ण के प्रति आस्था का मोहक और प्रभावी चित्रण किया है।

अलकार—चातक, मीन, मृग, चकोर आदि का एक ही धर्म बताने के कारण—तुल्ययोगिता।

ऊधो ! मन की मन ही माँझ रही।
कहिए जाय कौन सों, ऊधो ! नाहिंन परति सही॥
अवधि अधार आवनहि की तन, मन ही बिथा सही।
चाहति हुती गुहार जहाँ तें तहँहि ते धार वही॥
अब यह दसा देखि निज नयनन सब मरजाद ढही।
सूरदास प्रभु के बिछुरे तें दुसह बियोग-दही॥३४३॥

शब्दार्थ—माझ=मे। अधार=सहारा। बिथा=व्यथा, पीडा। गुहार=पुकार। तहँहि=वही से। देखि=देखो। ढही=गिरी। दही=जली।

प्रसंग—उद्धव से योग सदेश सुन कर गोपियाँ अत्यन्त हताश और दुखी हो जाती है। उनके जीवन का एकमात्र आधार श्रीकृष्ण ही था, उसी के न आने की सम्भावना से दुखी होकर वे पुकार उठती है।

व्याख्या—हे उद्धव ! तुम्हारे मुख से श्रीकृष्ण का योग सदेश सुनकर हमारे मन की सभी भावनाये मन मे ही रह गई है। अभी तक ऐसा विश्वास था कि श्रीकृष्ण वापिस आयेगे, हमारे जीवन मे पुन. वही आनन्दोल्लास भर जायेगा किन्तु जब उन्होने ही योग मार्ग का सदेश भेजा है तो हमारे मन की सभी इच्छाएँ वही दब गयी है। अभी तक तो श्रीकृष्ण के लौटने का विश्वास था, हम सबने उनके आने की अवधि के सहारे ही तन और मन की सभी व्यथा सही है किन्तु अब हमसे यह विरह-व्यथा भी सही नही जाती। तुम्ही

बताओ कि हम अपनी व्यथा किसे सुनाएँ, हमे तो एक ही विश्वास था कि श्रीकृष्ण के आने पर हमारा दुख समाप्त हो जायेगा, हम जब भी श्रीकृष्ण से प्रार्थना करेंगी वे आकर हमारी रक्षा कर लेगे, किन्तु जब वही से जलधारा का प्रवाह आ गया तो हमारा डूबना तो निश्चित ही है। अब तो आप स्वय अपनी आँखो से देख लो कि हमारी सभी मर्यादाये श्रीकृष्ण के लिए समर्पित थी, हमारी मर्यादा की सीमा केवल श्रीकृष्ण ही थे, आज वह सीमा भी जैसे गिर गई है। प्रभु श्रीकृष्ण के बिछुड जाने पर वियोग की पीड़ा इतनी असह्य है कि हम सभी उस अग्नि मे जल कर दग्ध हो रही हैं।

विशेष—इस पद मे गोपियो की कातरता का मार्मिक चित्रण हुआ है।

अलकार—'अवधि···बिथा सही'—अनुप्रास।

स्याम को यहै परेखो आवै।
कत वह प्रीति चरन जावक कृत, अब कुब्जा मन भावै॥
तब कत पानि धर्यो गोवर्धन, कत ब्रजपतिहि छुड़ावै ?
कत वह वेनु अधर मोहन धरि लै लै नाम बुलावै ?
तब कत लाड़ लड़ाय लडैते हँसि हँसि कंठ लगावै ?
अब वह रूप अनूप कृपा करि नयनन हू न दिखावै॥
जा मुख-संग समीप रैनि-दिन सोई अब जोग सिखावै।
जिन मुख दए अमृत रसना भरि सो कैसे विष प्यावै ?
कर मीड़ति पछताति हियो भरि, क्रम क्रम मन समुझावै।
सूरदास यहि भाँति बियोगिनि ताते अति दुख पावै॥३४४॥

शब्दार्थ—परेखो=मलाल। जावक=महावर। पानि=हाथ। वेनु=वशी। लाड़=प्रेम। लड़ैते=प्रियतम। समीप=निकट। रसना=वाणी। मीडति=मसलती। क्रम-क्रम=धीरे-धीरे।

प्रसंग—कृष्ण के योग सदेश को सुनकर विरह-व्यथा से पीडित गोपियाँ श्रीकृष्ण की लीलाओ का स्मरण करती हुई अपनी विवशता का वर्णन करती हैं।

व्याख्या—हे उद्धव! तुम्हारे मुख से श्रीकृष्ण का सदेश सुन कर हम सब को अत्यन्त दुख हुआ है। हमारे मन मे श्रीकृष्ण के लिए एक ही बात आती है कि कल तक तो वे हमारे साथ तरह-तरह की क्रीडाएँ करते रहते थे किन्तु

अब हमे यह योग का सदेश कैसे भेजा है । कहाँ तो वह हमसे इतना प्रेम करते थे कि अपने हाथो से हमारे पैरो पर महावर रचाया करते थे किन्तु अब वही हमे छोड़कर मथुरा जाकर कुब्जा से प्यार करने लगे है । कहाँ तो इन्द्र के क्रोध से व्रज की रक्षा करने के लिए गोवर्धन को हाथो पर उठा लिया था, वरुण के बन्धन से राजा नन्द को मुक्त किया था । कहाँ तो श्रीकृष्ण अपने सुन्दर अधरो पर मुरली रख कर मधुर स्वरो मे हमारा नाम ले-लेकर पुकारा करते थे, हम सभी वशी की मधुर ध्वनि सुन कर सभी कुछ भूल कर उनके पास पहुँच जाती थी तो हमारे प्रियतम श्रीकृष्ण तरह-तरह से प्रेम-क्रीड़ाएँ करते हुए हमे अपने कठ से लगा लेते थे। जो कृष्ण हमे इतना अधिक प्रेम किया करते थे, अब वही अनुपम सौन्दर्य के आगार कृपा करके हमारी आखो को दर्शन देकर तृप्त क्यो नही करते ।

श्रीकृष्ण के चन्द्रमा से भी अधिक शोभाशाली मुख के अत्यन्त समीप रह कर हमने रात-दिन अनेक क्रीड़ाएँ की है, जिस मुख शोभा का अवलोकन करके हमारी आखे तृप्त नही होती थी वही अब योग की शिक्षा देते है इससे अधिक विडम्बना और क्या होगी ? जिस मुख से हमने अमृत भरे वचन सुने, अब वही मुख हमे इस प्रकार के विष के समान तीखे वचन सुना रहा है, यह कैसे हो सकता है, मधुर, सरस एव प्रेम-भरी बाते करने वाले मुख से निर्गुण की नीरस बातो को सुन कर मन को विश्वास नही होता है। हे उद्धव ! अब तो पिछली बाते याद कर हमारा मन पछता रहा है। हम सभी हाथ मसलती हुई उस अवसर को याद करती है कि यदि कृष्ण को मथुरा न जाने देती तो आज यह दुख तो न भोगना पडता। हमने अपने मन को धीरे-धीरे समझाना भी चाहा था किन्तु आज यह सदेश सुन कर हमारा दुख और भी बढ गया है। इस प्रकार श्रीकृष्ण के वियोग मे गोपियाँ अत्यधिक दुख पाती हैं ।

विशेष—वियोग की स्थिति मे पूर्वस्मृतियाँ जाग कर दुख मे वृद्धि कर देती हैं इसी भाव की उक्त पद मे सरस अभिव्यक्ति हुई है ।

अलंकार—(१) 'कत वह···भावै'—वक्रोक्ति ।

(२) 'तव कत···लगाव'—प्रतिवस्तूपमा ।

(३) 'तव कत लाड़···लड़ैते'—अनुप्रास ।

(४) 'हसि-हंसि' 'क्रम-क्रम'—पुनरुक्तिप्रकाश ।

सखी री ! मो मन धोखे जात ।
ऊधो कहत, रहत हरि मधुपुरि, गत आगत न थकात ।।
इत देखौं तौ आगे मधुकर मत्त-न्याय सतरात ।
फिरि चाहौं तौ प्राननाथ उत सुनत कथा मुसुकात ।।
हरि साँचे ज्ञानी सब झूठे जे निर्गुन जस गात ।
सूरदास जेहि सब जग डहक्यो ते इनको डहकात ।।३४५।।

शब्दार्थ—मधुपुरी=मथुरा । गत-आगत=आते-जाते । मत्त-न्याय=पागल के समान । सतरात=बड़बड़ाता । फिरि-चाहौं=फिर कर देखना । उत=उधर । डहक्यो=ठगा ।

प्रसंग—गोपियों को विश्वास है कि उद्धव द्वारा दिया गया उपदेश कृष्ण का सदेश नही, शायद उद्धव को मूर्ख बनाया गया है, इसी भाव को प्रस्तुत पद मे दर्शाया गया है ।

व्याख्या—हे सखि ! उद्धव के यह कहने पर कि श्रीकृष्ण मथुरा में रहते है तो मेरा मन धोखे मे आ गया है । यह मन कभी गोकुल और कभी मथुरा के फेरे लगाता रहता है, निरन्तर आते-जाते हुए भी यह मन थकता नही । किन्तु इसमे मुझे दो विपरीत रूप दिखाई देते हैं । व्रज में देखती हूँ तो आँखो के सामने ज्ञान-गर्व के कारण उद्धव बडबडाते दिखाई देते हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे मस्ती मे पागल भ्रमर गुंजार करता रहता है । यदि फिर कर मथुरा की ओर देखती हूँ तो वहाँ प्राणेश्वर श्रीकृष्ण को मुस्कराते हुए देखती हूँ । वे उद्धव की कथा को सुन कर मुस्कराते है जैसे किसी मूर्ख की बाते सुनकर कोई मुस्करा देता है । हे सखी ! ससार मे यदि कुछ सत्य है तो वे है श्रीकृष्ण और ये ज्ञानी जो निर्गुण-ब्रह्म, ज्ञान मार्ग तथा योग-साधना की प्रशसा करते फिरते है, सभी झूठे हैं । केवल सगुण-ब्रह्म ही सत्य है । निर्गुण-ब्रह्म तो असत्य और धोखा मात्र है । वस्तुत जिसने अपनी माया से सारे ससार को ठगा हुआ है, बहकाया हुआ है उसी श्रीकृष्ण ने उद्धव को भी बहका दिया है । यह ज्ञानमार्ग भगवान् की माया में भटकता रहता है । इसीलिए उद्धव जो कह रहा है वह कृष्ण का सदेश नही अपितु उद्धव को मूर्ख बनाने की एक क्रीड़ा मात्र है ।

विशेष—उक्त पद में निर्गुण ब्रह्म का प्रतिवाद तथा सगुण की प्रतिष्ठा के साथ ज्ञानी और भक्त का अन्तर भी स्पष्ट किया गया है । भक्त जगत् और

ब्रह्म दोनों का आस्वादन करता है जबकि निर्गुण पथी संसार को असत्य कह कर उस ब्रह्म की झलक भी नहीं पाता, भटकता रहता है।

अलंकार—'इत देखौ···मुसकात'—विशेषोक्ति।

ब्रज तें द्वै ऋतु पै न गई।
पावस अरु ग्रीषम प्रचंड, सखि ! हरि बिनु अधिक भई॥
ऊरध स्वास समीर, नयन घन, सब जलजोग जुरे।
बरसि जो प्रगट किए दुख-दादुर हुते जे दूरि दुरे॥
बिषम बियोग दुसह दिनकर सम दिनप्रति उदय करे।
हरि बिधु बिमुख भए कहि सूरज को तनताप हरे॥३४६॥

शब्दार्थ—द्वै=दो। पै=परन्तु। ऊरध=दीर्घ। जलजोग=जल की वर्षा का योग। दुरै=छुपे। तनताप=शरीर का कष्ट।

प्रसंग—प्रस्तुत पद मे गोपियो ने अपने विरह-संताप की तीव्रता का वर्णन किया है।

व्याख्या—हे सखि ! जब से श्रीकृष्ण यहाँ से गए है तब से सम्पूर्ण ब्रज पर दो ऋतुएँ—पावस और ग्रीष्म सदा छाई रहती है। कृष्ण के विना ये ऋतुएँ अधिक प्रचड और दुखदाई हो गई है। श्रीकृष्ण के वियोग मे उठने वाले दीर्घ निश्वास ही वर्षा ऋतु की प्रचंड वायु है, और बादलो के रूप मे हमारे नेत्रो से जल बहता रहता है। अश्रु जल की वर्षा ने हमारे मन मे सोई हुई स्मृतियो को पुन. जगा दिया है। जिस प्रकार जल की वर्षा होने पर पृथ्वी की गहराई मे सोए हुए मेढक जाग उठते है, उनकी ध्वनि वातावरण मे गूजने लगती है उसी प्रकार वर्षा ने हमारे मन मे कृष्ण मिलन की कामना को अधिक तीव्र और मुखर बना दिया है। इस प्रकार यह वर्षा ऋतु हमारे लिए अधिक दुखदायी हो गई है।

विशेष—अनुभूति की तीव्रता प्रकृति के कार्यव्यापार में भी परिवर्तन कर सकती है। गोपियो की आतुरता तथा वाक्चातुर्य से कवि ने ग्रीष्म और वर्षा का साथ होना चित्रित किया है।, उसमे रचना कौशल और कल्पना-वैभव दर्शनीय है।

अलंकार—(१) 'पावस···तनताप हरे'—रूपक।
(२) 'वरपि जो···दुरे'—अनुप्रास।
(३) 'विषय···उदय करें'—उपमा।

तुमहिं मधुप ! गोपाल-दुहाई।
कबहुँक स्याम करत ह्यां को मन, किधौं निपट चित सुधि विसराई ?
हम अहीरि मतिहीन बापुरी हटकत हू हठि करहिं मिताई।
वै नागर मथुरा निरमोही, अँग अँग भरे कपट चतुराई॥
सांची कहहु देहु स्त्रवनन सुख, छांड़हु जिया कुटिल धूताई।
सूरदास प्रभु विरद-लाज धरि मेटहु ह्याँ की नेकु हँसाई॥३४७॥

शब्दार्थ—गोपाल-दुहाई=गोपाल की शपथ। कबहुँक=कभी। किधो=अथवा। वापुरी=वेचारी। हटकत हू=मना करने पर भी। मिताई=मित्रता। नागर=चतुर। स्त्रवनन=कानों को। जिया=हृदय। धूताई=धूर्तता। विरद-लाज=यश की रक्षा के लिये। नेकु=तनिक।

प्रसग—गोपियाँ श्रीकृष्ण को मन, वचन और कर्म से प्यार करती हैं। इस प्रेम की तीव्रता मे ही वे उद्धव से पूछने लगी कि बताओ उनके प्रियतम श्रीकृष्ण कभी हमारी भी याद करते हैं।

व्याख्या—हे मधुप ! मधुप के समान स्वार्थी, निर्दयी उद्धव ! तुम्हे श्यामसुन्दर की शपथ है कि सच सच वताओ कि क्या कभी श्रीकृष्ण यहाँ की याद भी करते हैं, कभी उन्हे हमारा भी ध्यान आता है अथवा उन्होने हमारी याद को अपने हृदय से विलकुल भुला दिया है। हम ग्वालिनें सामान्य स्त्रियो के समान है, हम दीन-हीन एवं मूर्ख है। जब हम कृष्ण को प्यार करने लगी थी तो सभी ने हमे रोका था, मना किया था किन्तु हम दूसरो के रोकने पर भी जिद मे उनसे प्रेम करती रही हैं। उनसे मित्रता रखने के लिए समाज, धर्म, जाति परिवार आदि की मर्यादाओ का भी हमने त्याग कर दिया, कृष्ण

ही हमारे सर्वस्व थे। उनके लिए जगत् मे यदि किसी ने मजाक उड़ाया तो भी हमने सम्बन्ध-विच्छेद न होने दिया।

श्रीकृष्ण मथुरा मे जाकर अधिक निर्मोही हो गए है। उनके अंग-अंग मे चतुरता के साथ-साथ कुटिलता और धूर्तता भी विद्यमान है, तुम भी तो उसी के मित्र हो। इसलिए हे उद्धव! अपने हृदय की समस्त कुटिलता तथा चालाकी को छोडकर यह बता दो कि क्या श्रीकृष्ण हमे कभी याद करते हैं, ऐसी मधुर वाणी सुनकर हमारे कानो को सुख प्राप्त होगा। गोपियाँ भगवान् से प्रार्थना करती हैं कि हे प्रभु! इस ससार मे लोग हमारा मजाक न कर सके। ससार मे हमारी जग-हँसाई न हो इसलिए आप अपने यश की ध्वजा को सुरक्षित रखने के लिए, भक्तो की रक्षा के लिए, दिये गए वचन की पूर्ति के लिए हमे शीघ्र दर्शन प्रदान करे।

विशेष—उक्त पद मे गोपियो की सरलता के साथ ग्रामीण जनता की सरलता और विषयासक्ति के त्याग एव श्रीकृष्ण के दर्शनो की आकुलता का भव्य चित्रण हुआ है। ग्रामीण एव नागरिक जीवन की तुलना करने मे भी कवि को पूर्ण सफलता मिली है। पौराणिक आख्यानो से कवि का भाव अधिक उजागर हो गया है।

अलंकार—(१) 'हम अहीरि···मिताई'—अनुप्रास।
(२) 'वै नागर···चतुराई'—पुनरुक्तिप्रकाश।

बिरही कहँ लौं आपु सँभारै ?
जब तें गग परी हरिपद तें बहिबो नाहि निवारै॥
नयनन ते रवि बिछुरि भँवत रहै, ससि अजहूँ तन गारै।
नाभि तें बिछुरे कमल कंट भए, सिधु भए जरि छारै॥
बैन तें बिछुरी बनि अबिधि भई बिधि ही, कौन निवारै।
सूरदास सब अँग ते बिछुरी केहि बिधा उपचारै॥३४८॥

शब्दार्थ—कह लौ=कहाँ तक। हरिपद=विष्णु के चरण। निवारे=टालना, रुकना। अजहूँ=अभी तक। गारै=क्षीण करना। कट=कटक। छारै=भस्म। अबिधि=विपरीत। बिधि=विधाता, ब्रह्मा। उपचारे=इलाज करे।

प्रसग—कृष्ण वियोग के कारण उत्पन्न अपनी असह्य वेदना और उससे

होने वाली सम्भावित हानि का वर्णन करती हुई गोपियो की भावनाएँ प्रस्तुत पद मे चित्रित की गयी है।

व्याख्या—विरही मन अपने आप को कहाँ तक सम्भाले, अपने प्रियतम से बिछुड कर असह्य विरह-व्यथा मे सतप्त रहने वाला अपने मन अथवा बुद्धि को कहाँ तक वश मे रख सकता है। जो भी अपने आश्रयदाता अथवा प्रियतम से बिछुड जाता है उसे जीवन भर शान्ति नही मिलती। अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए गोपियाँ अनेक उदाहरण देती है। जब से गगा भगवान् विष्णु के चरणो से अलग हुई है तभी से वह निरन्तर बहती जा रही है, एक क्षण के लिए भी उसे विश्राम नही मिला। हमारे पौराणिक विश्वास के अनुसार गगा का जन्म भगवान् के चरणो से हुआ है और वह निरन्तर बहती जा रही है। इसी प्रकार सूर्य और चन्द्रमा जिन्हे भगवान् विष्णु के दो नेत्र माने जाते है, जब से विष्णु से विलग हुए हैं उन्हे शान्ति नही मिली। सूर्य तभी से निरन्तर दग्ध होता हुआ भटक रहा है, एक पल भी विश्राम नही पा सका और चन्द्रमा भी विष्णु के वियोग मे अपने शरीर को गलाता रहता है। सूर्य उदय और अस्त होने के चक्कर मे भटकता रहता है जबकि चन्द्रमा का शरीर बढता और घटता रहता है। कमल विष्णु की नाभि से अलग हुआ तभी से उसमे काँटे उत्पन्न हो गए है। और सागर भी जब से विष्णु से रहित हुआ है तभी से वियोगाग्नि बडवानल मे जलकर भस्म होता रहता है। विष्णु ही कृष्ण रूप में अवतरित हुए तो सागर से उनके अलग होने की कल्पना कर ली गयी।

जब वाणी-सरस्वती विष्णु के वचनो से विलग हुई तो उससे भी अनुचित और असगत कार्य होने लगे। यहाँ तक कि स्वय विधाता भी उससे न बच सका। जो सरस्वती ब्रह्मा की पुत्री मानी जाती है, उसे ब्रह्मा की पत्नी भी कहा जाने लगा। इस प्रकार जो भी प्रियतम से अलग होता है, वियोग-दुख सहता है, उसे कभी भी विश्राम अथवा शाति नही मिलती। गोपियाँ कहती है कि ये सभी—गगा, सूर्य, चन्द्रमा, कमल और सिंधु आदि को तो प्रभु के किसी एक अग से अलग होना पड़ा किन्तु हम सबने तो श्रीकृष्ण के सर्वांग सुन्दर शरीर का आनन्द भोगा हुआ है, हमारा उपचार तो केवल एक ही विद्या से हो सकता है और वह विद्या है श्रीकृष्ण के दर्शन। उसके बिना जीवन मे लेषमात्र सुख या आनन्द नही मिल सकता।

विशेष—उक्त पद मे विभिन्न पौराणिक गाथाओ का सकेत करते हुए गोपियो ने विरह की दारुण वेदना का प्रभावी वर्णन किया है। अपने को कृष्ण के सर्वांग शरीर से सम्बद्ध कह कर गोपियो ने अपने समर्पण और अनन्य भाव को साकार कर दिया है।

अलकार—(१) 'विरही'''आपु सभारै'—काव्यलिंग।
(२) 'जबते'''निवारै'—अर्थान्तरन्यास।
(३) 'बैन ते'''निवारै'—अनुप्रास।
(४) 'सूरदास सब'''उपचारै'—व्यतिरेक।

हे गोपाल गोकुल के बासी।
ऐसी बातै सुनि सुनि ऊधो! लोग करत हैं हाँसी।
मथि मथि सिंधु-सुधा सुर पोषे, संभु भए विष - आसी॥
इमि हति कंस, राज दै औरनि, आपु चाहि लई दासी।
बिसरयो सूर बिरह-दुख अपनो सुनत चाल औरासी॥३४६॥

शब्दार्थ—हाँसी=मजाक। सुर=देवता। पोषे=पालन किया। विष-आसी=विषपान करने वाला। इमि=इस प्रकार। हति=मार कर। बिसरयो=भूल गया। औरासी=विचित्र।

प्रसग—प्रस्तुत पद मे गोपियो ने कृष्ण के स्वभाव और चचलता पर व्यग्य करते हुए निर्गुण-ब्रह्म का प्रतिवाद किया है।

व्याख्या—हे उद्धव! जिस कृष्ण का नाम लेकर तुम हमे निर्गुण-ब्रह्म, ज्ञान-मार्ग अथवा योग-साधना का उपदेश दे रहे हो वह गोपाल इसी गोकुल का ही रहने वाला है, उनके नाम से निर्गुण-ब्रह्म की बातें सुन-सुनकर लोग उनकी हँसी उडाते है। कल तक जो सबके साथ रहकर सगुण साकार स्वरूप मे तरह-तरह की क्रीड़ाएँ करते रहे आज अचानक निर्गुण-निराकार बन गए है, इससे कोई भी तुम्हारी बात पर विश्वास नही करेगा। वैसे उनके स्वभाव मे स्वार्थ-वृत्ति और चचलता का सबको पता है। अनादिकाल से उसकी जो भी गाथाएं सुनने को मिलती हैं सभी मे चचलता स्पष्ट झलकती है।

देवताओ और राक्षसो को लेकर उन्होने समुद्र मथन किया था और उससे जो रत्न मिले सभी दूसरों को दे दिये, अमृत देवताओ को देकर अमर बना

दिया और जो हलाहल मिला उसे भगवान् शिव को देकर नीलकठ वना दिया था और स्वय लक्ष्मी को साथ ले गए थे। नारी-सौन्दर्य के प्रेमी और उसके सुख को चाहने वाले विष्णु का अवतार कृष्ण भी तो उसी स्वभाव के है। जब राजा कस के अत्याचार अत्यधिक हो गए तो कृष्ण ने नाना प्रकार के उपाय करके, तरह-तरह के सकट सहकर कस का वध कर डाला और जो राज्य मिला वह तो दूसरो को दे दिया और स्वयं ने दासी कुब्जा को प्रेम से अपने पास रख लिया, ऐसे स्वार्थी, चचल, निर्मोही कृष्ण की बातो को सुन-सुनकर अथवा तुम्हारे मुख से उनका सन्देश सुनकर हमे इतना कष्ट हुआ है कि हम अपनी विरह-व्यथा को उसके सामने गौण समझने लगी हैं।

विशेष—उक्त पद मे कृष्ण की चचलता, नारी लोभ तथा स्वार्थवृत्ति को स्पष्ट करने के लिए जिन पौराणिक आख्यानो का उल्लेख किया गया है उससे निर्गुण-ब्रह्म के प्रतिवाद के साथ गोपियो की प्रेमभावना भी स्पष्ट होती है। अपने प्रियतम की स्मृति मे लीन गोपियाँ यह कैसे सह सकती है कि कोई उनके प्रियतम की हँसी उड़ाये, इसीलिए उन्हें अपना विरह-दुख भी कुछ समय के लिए भूल जाता है।

अलंकार—'ऐसी बाते···विष आसी'—पुनरुक्तिप्रकाश।

बदले को बदलो लै जाहु।
उनकी एक हमारी द्वै, तुम सबै जनैया आहु॥
तुम तौ हमै जानि कै भोरो, सोई सारो दाव।
हमरी वेर मुकरि कै मागत, हिये चौगुनो चाव॥
अब तुम सखा वेगि ही जैहो, मेटहु उनको दाहु।
सूरदास ब्यौहार भए ते हम तुम दोऊ साहु॥३५०॥

शब्दार्थ—द्वै=दो। जनैया=जानने वाले, ज्ञानी। आहु=हो। भोरो=भोला। सारो दाव=चाल चली। मुकरि कै=इन्कार करके। दाहु=दुख। साहु=साहूकार।

प्रसग—इस पद में गोपियाँ विरह से कातर होकर कृष्ण के लिए कठोर शब्दो मे व्यंग्य करती है।

व्याख्या—हे उद्धव! आप हमारे लिए श्रीकृष्ण का संदेश लाये, अब हम से भी उसके बदले कुछ ले जाओ ताकि व्यवहार की समता बनी रहे। तुम

कृष्ण से हमारे लिए एक वस्तु लाये थे निर्गुण-ब्रह्म। हम उस एक के बदले दो वस्तुएँ तुम्हे देती है—एक तो उनका भेजा हुआ निर्गुण-ब्रह्म और दूसरी हमारे हृदयो मे बसी हुई उनकी स्मृति। क्योकि अब वह स्मृति भी क्यो रखी जाए। उद्धव! तुम तो सभी प्रकार की विद्याओ के ज्ञाता हो। शास्त्र और व्यवहार को भली प्रकार जानते हो, इसलिए इस लेन-देन के व्यवहार मे भी समता बनी रहे, अतः हमारी दोनो वस्तुएँ लेते जाओ। तुमने तो हम सबको भोली भाली जानकर, यह समझ कर कि इन नादान स्त्रियो को कुछ भी समझ नही, अपना दाव चलाया था। हमे निर्गुण-ब्रह्म का उपदेश दिया था जिसे हम स्वीकार कर ले किन्तु तुम्हारा वह दाव नही चला। श्रीकृष्ण के प्रति अनन्य भक्ति और सगुण प्रेम के कारण तुम्हारा उपदेश हमे प्रभावित नही कर सका, अब हमारी बारी हैं इसलिए खेलने से इंकार करके क्यो भागते हो? तुम्हारी इस विवशता अथवा कमजोरी को देखकर हमारे हृदयो मे चौगुना चाव बढ गया है, हम एक का जवाब दो से देने को तैयार है।

हे कृष्ण के मित्र! अब शीघ्र ही अपने सखा के पास चले जाओ और उनके मन का दुख दूर कर दो। शायद वे सोचते हो कि उनकी वस्तु निर्गुण-ब्रह्म के बदले मे हम उन्हे कुछ नही लौटायेगी। इसलिए तुम निर्गुण-ब्रह्म और कृष्ण की स्मृति दोनो ले जाओ। ऐसा करने से तुम्हारे व्यवहार की समानता भी बनी रहेगी और हम तुम दोनो साहूकार हो जायेगे। क्योकि व्यापार मे लेन-देन की बराबरी को विशेष महत्त्व दिया जाता है।

विशेष—इस पद मे गोपियो का व्यग्य उनके बाल्यकालीन प्रेम का ही प्रतिफल है। बचपन मे निरन्तर पनपते हुए प्रेम मे सकोच अथवा भय नही रहता, इसमे सखा भाव की सहज अभिव्यक्ति हुई है। व्यंग्य, माधुर्य और सरसता की दृष्टि से यह पद महत्त्वपूर्ण है।

अलकार—(१) 'बदले···बदलो लै जाहु'—अनुप्रास।
(२) 'उनकी एक···साहु'—परिवृत्ति।

ऊधो! सूधे नेकु निहारो।
हम अबलनि को सिखवन आए, सुन्यो सयान तिहारो॥
निर्गुन कह्यो; कहा कहियत है! तुम निर्गुन अति भारी।
सेवत सगुन स्यामसुंदर को लई मुक्ति हम चारी॥

हमें सालोक, सरूप, सयुज्यो रहत समीप सदाई।
सो तजि कहत और की औरै, तुम अलि ! बड़े अदाई॥
हम मूरख तुम बड़े चतुर हो, बहुत कहा कहिए।
ये ही काज सदा भटकत हो, अब मारग गहिए॥
अहो अज्ञान ! ज्ञान उपदेशत ज्ञानरूप हम ही।
निसिदिन ध्यान सूर प्रभु को अलि ! देखत जित तितही॥२५[illegible]॥

शब्दार्थ—सूधे=सीधे, सामने। नेकु=तनिक। निहारो=देखो। सयान=चतुराई। सदाई=हमेशा। अदाई=धूर्त। जित-तितही=इधर उधर, सर्वत्र।

प्रसंग—जब उद्धव गोपियों के किसी तर्क का उत्तर न दे सके, निरुत्तर हो गए तब गोपियाँ उनके निर्गुण-ब्रह्म और ज्ञान मार्ग से अपनी सगुण भक्ति की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करती है।

व्याख्या—हे उद्धव ! अब हमारी बातों का उत्तर न देकर तुम नीचे क्यों देखते हो, जरा मुँह उठाकर हमारी ओर तो देखो, तुम तो हम अबलाओं को निर्गुण-ब्रह्म की शिक्षा देने आए थे और हमने तुम्हारे ज्ञान को सुन लिया है, चतुराई को समझ लिया है। तुमने जिस निर्गुण का वर्णन किया है उसकी क्या बात है ? हमें तो लगता है कि तुम स्वयं ही गुणों से रहित हो, जो कहते हो उसे समझते नहीं, फिर भी उपदेश दिए जाते हो, यह तो सूझता है कि तुम्हें हमारे सगुण ब्रह्म की सीधी-सादी बात समझ नहीं आती।

हे उद्धव ! तुम जिन चार प्रकार की मुक्तियों का हमें लालच दिखाते हो वे चारों मुक्तियाँ, सालोक्य, सारूप्य, सायुज्य और सामीप्य मुक्तियाँ-सगुण साकार श्यामसुन्दर की उपासना करते हुए सदा हमारे पास रहती हैं। किन्तु तुम इन मुक्तियों को छोड़कर और ही बातें इधर-उधर की हाँकते चले जा रहे हो। वस्तुतः तुम बहुत ही दुष्ट हो।

तुम्हारे कहने के अनुसार हम सभी तो मूर्ख हैं और तुम बहुत चतुर, ज्ञानी विद्वान हो, इससे और अधिक क्या कहा जा सकता है। वास्तव में तुम स्वयं ही जड़मूर्ख हो जो बिना किसी लक्ष्य के इधर-उधर भटकते रहते हो। अब तो यही उचित है कि तुम मथुरा का रास्ता पकड़ो, यहाँ से चले जाओ। हे अज्ञान स्वरूप ! तुम हमें तो ज्ञानमार्ग का उपदेश देते हो परन्तु यह नहीं जानते कि

हम गोपियाँ स्वयं ही ज्ञान स्वरूप है क्योकि हम रातदिन अपने प्रभु श्रीकृष्ण के ध्यान मे मग्न रहती है और ससार के कण-कण मे, चराचर जगत् मे उस परम ब्रह्म श्रीकृष्ण को व्याप्त देखती है। ससार कृष्णमय है और हम स्वय भी कृष्णमय है। यही तो ज्ञान की, साधना की, भक्ति की चरमावस्था है।

विशेष—प्रस्तुत पद मे गोपियो के व्यग्य मे प्रेमलक्षणा भक्ति की अनुभूति का साकार स्वरूप प्राप्त होता है और उसके साथ ही शुद्धाद्वैतमत का सैद्धान्तिक प्रतिपादन भी हुआ है। प्रेमलक्षणा भक्ति के द्वारा उस परम-सत्य का पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो जाता है और साकार का उपासक अपने मार्ग पर सरलता से बढ सकता है। इसी भाव को कवि ने व्यग्य की सरसता का पुट देकर अभिव्यक्त किया है।

अलंकार—(१) हम अबलनि'''भारी'—वक्रोक्ति।
(२) 'निर्गुन कह्यो'''भारी'—यमक।
(३) 'सो तजि'''अताई'—अतिशयोक्ति।
(४) 'सेवत'''चारी'—अनुप्रास।

जा जा रे भौरा ! दूर दूर।
रंग रूप औ एकहि मूरति, मेरो मन कियो चूर चूर॥
जौ लौं गरज निकट तौ लौं रहै, काज सरे पै रहै धूर।
सूर स्याम अपनी गरजन को कलियन रस लै घूर घूर॥३५२॥

शब्दार्थ—जौ लौं=जब तक। गरज=मतलब। काज सरै=काम पूरा होने। धूर=ऊपर। लै=लेता है। घूर-घूर=घूम-घूम कर।

प्रसंग—इस पद मे गोपियाँ उद्धव की भर्त्सना करती हुई कहती है—

व्याख्या—हे भ्रमर! यहाँ से कही दूर चला जा, तुम्हारा रग, रूप और स्वभाव श्रीकृष्ण के ही समान है। वे तो हमसे प्रेम बढाने के बाद हमे तड़पता छोडकर चले गये, जब तक गोकुल मे रहे हमसे तरह-तरह की क्रीड़ाएँ करते रहे और एक दिन सब कुछ भुलाकर मथुरा चले गए, लौटकर नही आए। तुम भी उसका सदेश लेकर आए, जो निर्गुण-ब्रह्म हमारे मन को ग्राह्य नही, जिसे सुनकर हमारा वियोगी मन अधिक दुखी होता है, उसी ब्रह्म की बार-बार चर्चा करके तुमने हमारा दिल चूर-चूर कर दिया है। जब तक कृष्ण को अपना मतलब पूरा करना था तब तक हमारे साथ अहीर रूप में ही रह कर

क्रीड़ा करते रहे और जब मतलब पूरा हो गया तो हमें त्याग कर बहुत ऊँचे स्थान और ऊँचे वश मे जा मिले हैं। जिस प्रकार भ्रमर अपने स्वार्थ के लिए कलियो का घूम-घूम कर रसपान करता रहता है और उसके पश्चात् सबको भुला कर अपने वश, बांस मे जाकर बैठ जाता है। इस प्रकार कृष्ण, उद्धव और भ्रमर तीनो का गुण, कर्म और स्वभाव समान हैं, तीनों ही प्यार करने वालो के दिल को चूर-चूर कर देते हैं।

विशेष—उक्त पद मे कृष्ण; उद्धव और भ्रमर की स्वार्थ लोलुपता तथा चचलता पर मार्मिक व्यग्य प्रस्तुत किया गया है।

अलंकार—(१) 'जा जा', 'दूर दूर', चूर चूर', घूर घूर'। आदि मे पुनरुक्तिप्रकाश।

(२) 'काज सरै···धूर'—श्लेप।

ऊधो ! धनि तुम्हरो व्यवहार।
धनि वै ठाकुर, धनि वै सेवक, धनि तुम वर्तनहार ॥
आम को काटि बबूर लगावत, चंदन को कुरवार।
सूर स्याम कैसे निबहैगी अंधधुंध सरकार ॥३५३॥

शब्दार्थ—धनि=धन्य। वर्तनहार=व्यवहार करने वाले। ठाकुर=स्वामी। कुरवार=खोदकर।

प्रसंग—प्रस्तुत पद मे उद्धव के ज्ञानोपदेश पर व्यग्य किया गया है।

व्याख्या—हे उद्धव ! हमारे साथ तुम्हारा व्यवहार धन्य है, तुम्हारे वे स्वामी जिनका सदेश लाए हो वह भी धन्य है और उनके सेवक, अनुयायी भी धन्य हैं जो विना सोचे-समझे ऐसे तत्त्व का प्रचार करते हैं जिन्हे वे स्वय भी नही जानते। उद्धव तुम्हारा व्यवहार तो उस व्यक्ति-सा है जो आम के वृक्ष को उखडवा कर उसके स्थान पर बबूल का पेड़ लगाता हो। आम की सरसता और सुगन्धि के स्थान पर कडवा, कांटेदार तथा फूलो-फलो से रहित बबूर का वृक्ष लगवाना मूर्खता का ही तो प्रमाण है। चन्दन के शीतल वृक्ष को कटवाने वाले के समान ही तुम्हारा व्यवहार है जो सगुण-साकार भक्ति के स्थान पर नीरस कठोर-साधना वाली निर्गुण भक्ति की शिक्षा देता है। इस प्रकार का अन्यायपूर्ण व्यवहार अथवा स्वार्थवृत्ति से प्रेरित यह शासन आदेश नही चल सकता।

विशेष—इसमे सगुण साकार उपासना की सरसता और निर्गुण-ब्रह्म ज्ञान मार्ग तथा योगसाधना की नीरसता, अस्पष्टता तथा कठोरता का तुलनात्मक उल्लेख गोपियो की भक्ति भावना का प्रतिपादक है।

अलंकार—(१) 'ऊधो ! धनि···सरकार'—अन्योक्ति।
(२) 'धनि वै ठाकुर···बर्तनहार'—वक्रोक्ति।

जाहु जाहु ऊधो ! जाने हौ पहचाने हौ।
जैसे हरि तैसे तुम सेवक, कपट-चतुराई-साने हौ॥
निर्गुन-ज्ञान कहाँ तुम पायौ, केहि सिखए ब्रज आने हौ।
यह उपदेस देहु लै कुबजहि जाके रूप लुभाने हौ॥
कहँ लगि कहौ योग की बातै, बाँचत नैन पिराने हौ।
सूरदास प्रभु हम है खोटी तुम तो बारह बाने हौ॥३५४॥

शब्दार्थ—चतुराई=चालाकी। सानै=युक्त। आने हौ=आये हो। बाचत=पढ़ते हुए। पिराने=दुखते। बारहबाने=खरे, अच्छे।

प्रसग—उद्धव द्वारा निर्गुण-ब्रह्म और ज्ञानमार्ग का उपदेश सुन कर गोपियाँ उसे फटकारती हुई कहती है—

व्याख्या—हे उद्धव ! अब तुम वापस चले जाओ, हम सभी तुम्हे भली-प्रकार जानती और पहचानती है। तुम क्या हो ? तुम्हारा स्वभाव क्या है ? तुम कितने स्वार्थी और कपटी हो ? हमे सब कुछ पता है। वस्तुत. जैसे तुम्हारे स्वामी श्रीकृष्ण छली, स्वार्थी, निर्मोही और चचल है उसी प्रकार तुम भी तो उनके सेवक हो, तुम दोनो ही छल-कपट की चतुराई से भरे हुए हो। पहले अपने प्रेम से, मधुर वाणी से दूसरो के मन का हरण करके त्याग देना और ऊपर से निर्गुण-ब्रह्म का सन्देश भेज कर और भी दुखी करना—यह तुम दोनो का स्वभाव है। हे उद्धव ! जिस निर्गुण-ब्रह्म का तुम उपदेश दे रहे हो वह ज्ञान तुम्हे कहाँ से मिल गया है ? और अब किसके सिखाने पर यह ज्ञान और योग का भण्डार लेकर ब्रज मे आए हो ? यहाँ ब्रजभूमि मे कोई भी तुम्हारा यह ज्ञान स्वीकार नही करेगा। हमे यह नही चाहिए, इसे मथुरा वापिस ले जाओ और जाकर उस कुब्जा को दे दो जिसके रूप सौन्दर्य पर आजकल प्रभु बहुत रीझे हुए है।

उद्धव ! आखिर तुम कहाँ तक हमे योगमार्ग की शिक्षा दोगे ? तुम्हारे इस

ज्ञान को पढते-पढते तो हमारी आखे भी दुखने लगी है। हमे तुम्हारा उपदेश नही चाहिए। तुम्हारे विचार मे हम खोटी है, मूर्ख हैं, नासमझ है किन्तु तुम तो सभी प्रकार से शुद्ध, खरे और बुद्धिमान हो। जब यह समझते हो कि हम खोटी है तो फिर हमे उपदेश दे-देकर दुखी क्यो करते हो ?

विशेष—इसमे कृष्ण और उद्धव पर स्वार्थी और चचल होने का व्यग्य बड़ा सटीक है। उद्धव को 'बारहबाने' कह कर काकुवक्रोक्ति से उसे सिद्ध करने मे कवि-कौशल की छटा दिखाई देती है।

अलंकार—(१) 'जाहु'''पहचाने हो'—पुनरुक्तिप्रकाश।
(२) 'जैसे हरि'''बाने हो'—वक्रोक्ति।

मधुबन सब कृतज्ञ धर्मीले।
अति उदार परहित डोलत है, बोलत वचन सुसीले॥
प्रथम आय गोकुल सुफलकसुत लै मधुपुरिहि सिधारे।
वहाँ कंस ह्याँ हम दीनन को दूनो काज सँवारे॥
हरि को सिखै सिखावन हमको अब ऊधो पग धारे।
ह्वाँ दासी रति की कीरति कै, यहाँ जोग विस्तारे॥
अब या विरह-समुद्र सबै हम बूड़ी चहति नही।
लीला सगुन नाव हो, सुनु अलि, तेहि अवलंब रही॥
अब निर्गुनहि गहे जुवतीजन पारहि कहौ गई को।
सूर अक्रूर छपद के मन में नाहिन त्रास दई को॥३५५॥

शब्दार्थ—कृतज्ञ=उपकार मानने वाला। धर्मीले=धर्मात्मा। सुसीले=शीतलता भरे। सुफलकसुत=अक्रूर। दीनन=दुखी। सिखै=सिखाकर। पग धारे=पधारे। दासी-रति=कुब्जा के साथ रतिक्रीड़ा। कीरति=यश। बूड़ी=डूबना। अवलब=सहारा। छपद=भ्रमर। त्रास=भय। दई=दैव, भाग्य।

प्रसग—प्रस्तुत पद मे श्रीकृष्ण के व्यवहार—छल कपट, निर्दयता आदि से दुखी गोपियाँ सभी मथुरावासियो पर व्यग्य करती है।

व्याख्या—हे उद्धव ! तुम्हारी मथुरा मे सभी दूसरो का उपकार मानने वाले, धर्मात्मा, बडे उदार मन वाले, परोपकार के लिए हर समय प्रयत्नशील

रहने वाले एवं सुशील है। तुम्हारी बातों से यही ज्ञात होता है किन्तु वे किसी का उपकार याद नही रखते, भुला देते है। स्वार्थी, और कठोर है। सभी के सभी छल, कपट के व्यवहार मे चतुर है। पहले मथुरा से अक्रूर आये थे और अपनी मीठी मीठी चिकनी-चुपडी बातो मे बहका कर श्रीकृष्ण को साथ ले गए थे। अक्रूर ने एक ही काम से मथुरा मे कस का वध करवा दिया और इधर व्रज मे हम सभी को वियोगाग्नि मे दग्ध होने के लिए छोड़ दिया। उसके बाद न तो कृष्ण आए और न ही उनका कोई सन्देश। यह सब होने पर भी मथुरावासियो को कृतज्ञ और परोपकारी मान लेना कहाँ तक उचित होगा।

अब उद्धव व्रज मे पधारे है। पहले तो कृष्ण को हमारे विपरीत किया, हमारे विरुद्ध बहुत कुछ सिखाया-पढाया और अब उसके नाम से ही हमे शिक्षा देने के लिए, कृष्ण से विमुख करने के लिए ज्ञान और योग का उपदेश देने चले आए हो। तुम्हारी शिक्षा से प्रेरित श्रीकृष्ण वहाँ पर तो कुब्जा के प्रेम मे मग्न अपने यश का विस्तार कर रहे हैं और यहाँ तुम योग-साधना का प्रचार और प्रसार करने मे सलग्न हो। उद्धव ! हम तो सभी श्रीकृष्ण के वियोग सागर मे डूबी हुई है, उसी के प्रेमपाश मे बँधी हुई है। इसलिए डूबने के अतिरिक्त और कोई मार्ग शेष नही। इस विरह समुद्र को पार करने के लिए केवल सगुण-ब्रह्म की लीला रूपी नाव ही है, वही हमे वियोग दुख से मुक्त कर सकती है। किन्तु तुम हमे निर्गुण-ब्रह्म रूपी नाव दे रहे हो, जिस नौका मे गुण-रस्सी नही उसका सहारा लेकर कौन युवती आज तक पार जा सकी है ? क्योंकि निर्गुण-ब्रह्म अथवा निर्गुण-ब्रह्म रूपी नौका को ग्रहण करने वाली रस्सी ही नही होती। अक्रूर, भ्रमर तथा उद्धव किसी के मन मे भी भगवान् का भय नही। अक्रूर श्रीकृष्ण को ले गए, उन्होने हमारी दुखद अवस्था पर ध्यान नही दिया, भ्रमर तो स्वभाव से ही स्वार्थी है और तुम हम सब की दुर्दशा देख कर भी ज्ञान और योग का उपदेश देते जा रहे हो।

विशेष—उक्त पद मे गोपियो ने मथुरावासी श्रीकृष्ण के स्वभाव पर व्यग्य करते हुए अपनी आस्था को प्रकट किया है।

अलकार—सम्पूर्ण पद मे वक्रोक्ति।

ऊधो ! भूलि भले भटके।
कहत कही कछु बात लड़ैते तुम ताही अटके॥

देख्यो सकल सयान तिहारो, लीन्हे छरि फटके।
तुमहि दियो बहराय इतै कों, वै कुबजा सों अटके ॥
लीजो जोग सँभारि आपनो जाहु तहाँ टटके।
सूर स्याम तजि कोउ न लैहे या जोगहि कटुके ॥३५३॥

शब्दार्थ—लडैते=प्रियतम, कृष्ण। अटके=रुके। सयान=बुद्धिमता। फटके=जाँच करके। बहराय=बहका कर। टटके=शीघ्र।

प्रसंग—प्रस्तुत पद मे गोपियाँ श्रीकृष्ण और योगमार्ग आदि का मजाक उड़ाती हैं।

व्याख्या—हे उद्धव ! तुम भूल कर व्रज मे आए और यहाँ आकर अपना मार्ग भूल गए हो, यह अच्छा हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि तुम्हें हमारे प्रियतम श्रीकृष्ण ने कुछ बात कह दी है और तुम उसी को पकड़ कर उसका प्रचार कर रहे हो। हे उद्धव ! हमने भली प्रकार झाड-फटकार कर तुम्हे और तुम्हारी योग्यता को परख लिया है। तुमने कृष्ण की बातो को सत्य मान लिया है जबकि इसमे भी कृष्ण का छली रूप ही प्रकट होता है। कृष्ण ने तुम्हे तो बातो मे भटका कर इधर भेज दिया है और स्वयं कुब्जा के साथ प्रेम-क्रीड़ाओ मे मग्न हैं। अपनी आनन्द क्रीड़ाओ मे किसी प्रकार की बाधा न आए, इसलिए तुम्हे खिसका दिया किन्तु तुम कृष्ण की चाल समझ न सके। अब तो तुम शीघ्र ही वापस चले जाओ, अपनी योग-साधना को समेट कर साथ ले जाओ, क्योकि व्रज मे कोई भी तुम्हारे इस उपदेश को, नीरस ब्रह्म तथा उसकी कठोर साधना को स्वीकार नही करेगा। यहाँ तो सभी का प्राप्य, अवलम्ब यदि है तो श्रीकृष्ण। अत मथुरा जाकर उन्हे ही योग आदि लौटा दो।

विशेष—उद्धव की बातों का प्रतिवाद करने के लिए, स्वय उसी को मूर्ख बनाने की कल्पना के कारण यह पद अत्यन्त रोचक हो गया है।

अलकार—(१) 'ऊधो ! भूलि···भटके'—अनुप्रास।
(२) 'देख्यो सकल···अटके'—वक्रोक्ति।

जोग सँदेसो ब्रज मे लावत।
थाके चरन तिहारे, ऊधो ! बार बार के धावत ॥
सुनिहै कथा कौन निर्गुन की, रचि पचि बात बनावत।
सगुन-सुमेरु प्रगट देखियत, तुम तृन की ओट दुरावत ॥

हम जानत परपंच स्याम के, बातन ही बहरावत।
देखी सुनी न अब लौं कबहूँ, जल मथे माखन आवत।।
जोगी जोग-अपा सिंधु में ढूंढ़े हू नहि पावत।
ह्याँ हरि प्रगट प्रेम जसुमति के ऊखल आप बँधावत।।
चुप करि रहौ, ज्ञान ढँकि राखौ; कत हौ बिरह बढ़ावत।
नंदकुमार कमलदल-लोचन कहि को जाहि न भावत ?
काहे को विपरीत बात कहि सबके प्रान गँवावत ?
सोहै सा कित सूर अबलनि जेहि निगम नेत कहि गावत ? ।।३५७।।

शब्दार्थ--थाके=थक गए। धावत=भागते। पचि=हैरान होकर। दुरावत=छुपाना। भावत=अच्छा लगना। सोहै=शोभित। निगम=वेद। नेति=अन्तहीन।

प्रसग—इस पद मे सगुण की तुलना मे निर्गुण को सर्वथा नगण्य सिद्ध करते हुए गोपियाँ उद्धव का मजाक उड़ाती है।

व्याख्या—हे उद्धव! कृष्ण का योग सन्देश मथुरा से व्रज मे लाते हुए तुम्हारे चरण थक गए होगे। वार-बार के आने-जाने मे जो परिश्रम करना पडा है उसका भी तुम्हे कुछ लाभ नही हुआ। क्योकि यहाँ कोई भी ऐसा नही जो निर्गुण-ब्रह्म की बात को सुने। भले ही तुमने बहुत प्रकार की बाते बनाकर, विभिन्न तर्को से अपना मत समझाने का प्रयत्न किया है, इसके लिए तुम्हे काफी कष्ट भी उठाना पड़ा है फिर भी तुम्हारे निर्गुण-ब्रह्म की बातें कोई नही सुनता। वास्तव मे तुम्हारा यह परिश्रम सत्य के विपरीत है। जो सगुण साकार ब्रह्म सुमेरु पर्वत के समान स्पष्ट, सजीव, अडिग एवं अमित सौन्दर्य के आगार के रूप मे दिखाई देता है तुम उसे निर्गुण-ब्रह्म की ओट मे इस प्रकार छुपाना चाहते हो जैसे तिनके की ओट मे पर्वत, किन्तु यह प्रयत्न भी सफल नही हो सका।

उद्धव! हम सभी श्यामसुन्दर के छल, कपट और प्रपच को भली प्रकार जानती है। वह तो सभी को बातो के मायाजाल मे बहका देता है। तुमसे पीछा छुड़ाने के लिये, नित्यप्रति ज्ञानचर्चा की नीरसता की अपेक्षा आनन्द की केलि-क्रीडाओ मे मग्न रहने के लिए उन्होने तुम्हे हमारे पास भेज दिया है। कृष्ण की बातो मे तो असम्भव को सम्भव दिखाने की विशेष कला निहित है।

आज तक कभी किसी ने यह नही देखा या सुना कि जल का मन्थन करने से माखन निकलता है, ठीक उसी प्रकार तुम्हारा यह उपदेश है। हमे तो तुम्हारा योग और ज्ञान सर्वथा निरर्थक और फलहीन ही लगता है। जिस ब्रह्म को पाने के लिए बड़े-बडे योगी योग साधना के अथाह सागर मे डुबकियाँ लगाते हैं, नाना प्रकार की कष्टकारक साधनाएँ करते है किन्तु वह परब्रह्म परमात्मा उन्हे प्राप्त नही होता। निर्गुण का साधक अथक प्रयास करने पर भी उस ज्योति रूप को पा नही सकता, उसी ब्रह्म को हमने अपने सामने नानाविध क्रीडाएँ करते हुए देखा है। माता यशोदा के प्रेम मे बँधे भगवान् कृष्ण स्वय को ऊखल से बँधवाते है। प्रेम और भक्ति से भगवान् अपने भक्त की इच्छानुसार रूप लेकर उसे दर्शन देते है। तुम्हारे निर्गुण-ब्रह्म मे यह गुण नही।

विरह व्यथिता गोपियाँ उसे कहती है कि उद्धव अब बिल्कुल चुप हो जाओ, हमे ज्ञान और योग का उपदेश मत दो, यह अपने ज्ञान का सदेश अपने पास ही बाँधो और सम्भाल कर मथुरा ले जाओ। व्यर्थ मे उपदेश सुना-सुना कर हमारा विरह दुःख क्यो बढा रहे हो ? भला तुम्ही बताओ कि ससार मे कौन ऐसा प्राणी है जिसे कमल से सुन्दर नेत्रो वाले नन्दकुमार श्रीकृष्ण अच्छे नही लगते। बार-बार उल्टी-सीधी बाते कहकर हम सबके प्राण लेने की बात मत करो। अरे उद्धव ! जिस ब्रह्म के लिए तुम यह कहते हो कि वेद भी उसे नही पा सके, स्वय ईश्वर की वाणी भी जहाँ आकर मौन हो जाती है, वही ब्रह्म भला युवतियो को कैसे भला लग सकता है, ग्राह्य हो सकता है।

विशेष—उक्त पद मे सगुण ब्रह्म को निर्गुण-ब्रह्म की अपेक्षा श्रेष्ठ सिद्ध किया गया है। गोपियाँ की वाक्पटुता, स्पष्टता और व्यंग्यात्मकता आदि से मिल कर इस पद की सरसता और महत्व बहुत ही बढ गया है।

अलंकार—(१) 'थाके चरण······धावत'—पुनरुक्तिप्रकाश।
(२) 'सगुन सुमेरु······दुरावत'—रूपक।
(३) 'हम जानत···बतावत'—निदर्शना।

कहा भयो हरि मथुरा गए।
अब अलि ! हरि कैसे सुख पावत तन द्वै भाँति भए॥
यहाँ अटक अति प्रेम पुरातन, ह्वाँ अति नेह नए।
ह्वाँ सुनियत नृप-बेष, यहाँ दिन देखियत बेनु लए॥

कहा हाथ पर्यो सठ अक्रूरहिं वह ठग ठाट ठए।
अब क्यों कान्ह रहत गोकुल बिनु जोगन के सिखए॥
राजा राज करौ अपने घर माथे छत्र दए।
चिरंजीव हौ, सूर नंदसुत, जीजत मुख चितए॥३५८॥

शब्दार्थ—अटक=बन्धन। पुरातन=पुराना। ह्वाँ=वहाँ सुनियत=सुना जाता है। नृप वेष=राजसी वेश। दिन=प्रतिदिन। सठ=दुष्ट। ठाठ ठए=जाल रचने। जीजत=जीती है। चितए=देखती हुई।

प्रसंग—प्रस्तुत पद मे कृष्ण के प्रेम मे मग्न गोपियो ने कृष्ण की चचल वृत्ति और उनके मथुरा प्रवास की लीलाओ के आधार पर व्यग्य करते हुए कृष्ण के प्रति अनन्य प्रेम भावना को व्यक्त किया है।

व्याख्या—हे उद्धव ! श्रीकृष्ण मथुरा चले गये किन्तु इससे उनको क्या सुख मिला है ? अब तो उनको दो प्रकार से प्रेम निर्वाह करना पडता होगा जिससे उन्हे विशेष कष्ट होता होगा। अभी तक कृष्ण को कभी भी दुविधापूर्ण जीवन व्यतीत नही करना पड़ा किन्तु अब तो उन्हे हर समय दो विपरीत भावो का निर्वाह करना पड़ता है। एक ओर तो उनके मन मे हमारी व्रजभूमि की एव गोप-ग्वालो की स्मृति आती होगी और दूसरी ओर वे कुब्जा के साथ रग-रेलियो मे मग्न रहते है। एक और आनन्दोल्लास मे निमग्न रहना और दूसरी ओर गोपियो के लिए योग-सन्देश भेजना भी तो उसी दुविधा का ही निर्वाह है। यहाँ पर हमारे साथ उनका प्रेम अत्यन्त प्राचीन था, जिसमे किसी प्रकार का प्रदर्शन अपेक्षित नही रहता किन्तु वहाँ पर तो प्यार भी नया है जिसके लिए तरह-तरह का दिखावा भी करना होता है। प्रेम के इन दोनों रूपो का निर्वाह करने मे भी उन्हे कठिनाई अनुभव होती होगी। मथुरा मे सुनते हैं कि श्रीकृष्ण को राजसी वेष-भूषा मे रहना पड़ता है, इसमे भी तरह-तरह के बन्धन और दिखावे का निर्वाह आवश्यक है, जबकि यहाँ पर उन्हे प्रतिदिन एक ही लिबास मे वसी लिये हुए देखा करती थी।

हे उद्धव ! उस दुष्ट अक्रूर को कपट का यह जाल रचने से क्या मिला ? क्योकि उधर तो श्रीकृष्ण का जीवन दुविधा मे उलझा रहता है और इधर हम सभी श्रीकृष्ण के वियोग मे तडपती रहती हैं। हमे तो केवल एक ही चिन्ता

सताती रहती है कि कृष्ण उन योगमार्ग को मानने वाली योगिनियो की शिक्षा मे उलझ कर, गोकुल के बिना कैसे जीवित रहते होगे। क्योकि कृष्ण भी तो हमे अत्यधिक प्रेम करते थे, उसकी स्मृति मन से जा नही सकती, हमारी याद उनके मन को व्यथित करती होगी, जिस विवशता के कारण वे यहाँ नही आ पाते, हमे उन्ही की चिन्ता है। हमारी तो अब केवल एक ही कामना है कि श्रीकृष्ण अपने वश के साथ मिलकर चिरकाल तक शासन करे, उनके मस्तक पर राजकीय मुकुट शोभित रहे। नन्दकुमार श्रीकृष्ण चिरजीव रहे और हम सभी उनका मुखचन्द्र देखती हुई जीवित रहें।

विशेष—उक्त पद मे गोपियो की भक्ति भावना तथा कृष्ण के प्रति अनन्य समर्पण और भावुकता की सरस अभिव्यक्ति हुई है।

अलकार—'यहाँ अटक''वेनु लए'—अनुप्रास।

तुम्हारी प्रीति, ऊधो! पूरब जनम की अब तो भए मेरे तनहु के गरजी।
बहुत दिनन तें बिरमि रहे हो, संग तें बिछोहि हमहिं गए बरजी॥
जा दिन तें तुम प्रीति करी हो घटति न, बढ़ति तूल लेहु नरजी।
सूरदास प्रभु तुम्हरे मिलन बिनु तन भयो ब्योंत बिरह भयो दरजी॥३५६॥

शब्दार्थ—तनहु=शरीर के। गरजी=इच्छुक। बिरमि=विश्राम। बिछोहि=छोड कर। बरजी=मना किया। घटति न=नही घटती। तूल=लम्बाई। नरजी=नाप लो। ब्योंति=नाप।

प्रसंग—प्रस्तुत पद मे गोपियो ने कृष्ण के प्रति प्रेम तथा उनके वियोग में अपनी दशा का वर्णन किया है।

व्याख्या—हे उद्धव! तुम जाकर कृष्ण को यह सन्देश देना कि उनके साथ तो हमारा जन्म-जन्मान्तर का साथ है, यह हमारा प्रेम केवल इस जन्म का तो है नहीं किन्तु अब तो यह प्रेम हमारे शरीर को, जीवन को नष्ट करने वाला बन गया है। यह प्रेम किसी प्रकार से छूट नही सकता, तुमने जो योग का सन्देश भेजा है, उसमें तो तुम्ह भुलाना पड़ता है किन्तु तुम्हे भुला देने से हम जीवित नही रह सकती। आप स्वय तो मथुरा मे जाकर विश्राम कर रहे हो, हमे छोड़ गये हो और साथ ही हमे वहाँ आने से मना भी कर गये हो, इसलिए हमारी व्यथा और भी बढ़ गयी है।

हे कृष्ण ! जिस दिन से हमने तुमसे प्रेम किया है वह घटता नही, अपितु दिन-प्रतिदिन बढता ही जा रहा है। जिस प्रकार रुई लम्बाई मे बढती जाती है उसी प्रकार हमारा प्रेम भी तुम्हारे चले जाने के बाद बढ़ता ही जा रहा है। चाहो तो इसे नाप कर हमारी परीक्षा लेकर देख लो। हे प्रभु ! अब आपके वियोग मे संतप्त, मिलने के लिए आतुर हमारा शरीर कपडे के समान हो गया है, जिसे विरह रूपी दरजी क्रम-क्रम से काट रहा है। इसलिए कृपा करके दर्शन दो अन्यथा जीवन नष्ट हो जाएगा।

विशेष—इस पद मे गोपियो के प्रेम की अनन्यता और विरह के सताप का रोचक और मार्मिक चित्रण हुआ है।

अलंकार—(१) 'जा दिन...नरजी'—अनुप्रास, उपमा।

(२) 'सूरदास...दरजी'—उत्प्रेक्षा।

गोपालहि लै आवहू मनाय।
अब की बेर कैसेहु करि, ऊधो ! करि छल बल गहि पाय॥
दीजो उनहिं सुसारि उरहनो संधि संधि समुझाय।
जिनहिं छाँड़ि बढ़िया महँ आए ते बिकल भए जदुराय॥
तुम सों कहा कहौं, हो मधुकर ! बातै बहुत बनाय।
बहियाँ पकरि सूर के प्रभु की, नंद की सौंह दिवाय॥३६०॥

शब्दार्थ—मनाव=मनाकर। बेर=बार। गहि पाय=पाँव पकड़ कर। सुसारि=भली प्रकार, समझा कर। उरहनो=उलाहना। सधि-सधि=एक-एक करके। बढ़िया=बाढ़। बिकल=व्याकुल। सौह=सौगन्ध।

प्रसंग—श्रीकृष्ण के दर्शन करने को आतुर गोपियाँ कृष्ण को एक बार गोकुल लाने का आग्रह करती है।

व्याख्या—हे उद्धव ! किसी भी प्रकार कृष्ण को मनाकर यहाँ ले आओ। अब तो चाहे कोई छल कपट अथवा बल का प्रयोग करना पडे, चाहे उनके समक्ष अनुनय-विनय करनी पडे, उनके पाँव पड़कर भी एक बार यहाँ ले आओ। उन्हे जाकर हमारा यह उलाहना भली-प्रकार समझा कर उसके एक-एक अग को स्पष्ट करते हुए कह देना कि जिन्हे त्याग कर तुम विरह की बाढ मे छोड़ आए हो वे सभी आपके दर्शन करने को आतुर है, विरह समुद्र मे डूबती हुई बहुत दुखी हो रही है। हे उद्धव ! तुमसे अधिक बाते बना कर हम क्या

कहे ? हमारी तो यही प्रार्थना है कि हमारे प्रभु को वाहो से पकड़कर और नन्द वावा की सौगन्ध देकर यहाँ अवश्य ले आओ।

विशेष—उक्त पद मे गोपियो की आकुलता और प्रेम व्यवहार मे अपने अधिकार प्रयोग की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। नन्द की सौगन्ध देना अथवा वाँह पकड़ कर ले आने का आग्रह वालपने के प्रेम का ही प्रतिफल है।

अलंकार—(१) 'दीजौ···समुझाय'—पुनरुक्तिप्रकाश।

(२) 'जिनही···जदुराय'—रूपकातिशयोक्ति।

कै तुम सों छूटै लरि, ऊधो, कै रहिए गहि मौन।
एक हम जरैं जरे पर जारत, वोलहु कुवच कौन ?
एक अंग मिले दोऊ कारे, काको मन पतियाए ?
तुम सी होय सो तुम सो वोलै, लीनै जोगहि आए॥
जा काहू कों जोग चाहिए सो लै भस्म लगावै।
जिन्ह उर ध्यान नदनंदन को तिन्ह क्यो निर्गुन भावै ?
कहो सँदेस सूर के प्रभु को, यह निर्गुन अँधियारो।
अपनो वोयो आप लूनिए, तुम आपुहि निरवारो॥३६१॥

शब्दार्थ—कै=अथवा। लरि=लड़कर। जारत=जलाना। कुवच=बुरे वचन वोलने वाला। पतियाए=विश्वास करे। लीनै=लेकर। भाव=अच्छा लगे। लूनिए=काटिये। निरवारो=सुलझाओ, निपटाओ।

प्रसंग—उद्धव के ज्ञानोपदेश को सुनते-सुनते गोपियाँ झुँझला उठती है और अपने प्रियतम (कृष्ण) के ध्यान मे मग्न होकर उद्धव को फटकारने लगती हैं।

व्याख्या—हे उद्धव ! तुम्हारा निर्गुण-ब्रह्म सम्वन्धी उपदेश सुनते हुए हम तग आ चुकी है। अव तो तुमसे छुटकारा पाने के केवल दो उपाय ही हो सकते हैं, या तो हम तुमसे लड पडे और या तुम अपना उपदेश वन्द करके चुप हो जाओ। एक तो हम पहले ही श्रीकृष्ण की विरहाग्नि में जल रही हैं, ऊपर से तुम हमे श्रीकृष्ण से विमुख करने वाले निर्गुण-ब्रह्म का वार-वार उपदेश देकर और भी जला रहे हो, अव तुम्ही वताओ कि तुम दोनो मे दुर्वचन-कटुवचन वोलने वाला कौन है ? किन्तु उद्धव इसमे तुम्हारा भी कोई दोष नही है। वस्तुतः तुम दोनो—कृष्ण और उद्धव—एक-से ही रग-रूप वाले, काले,

कपटी, कठोर और स्वार्थी हो, तुम्हारी बातो पर भला कौन विश्वास कर सकता है।

उद्धव ? तुम यह योग का सन्देश लेकर आए हो, किन्तु तुम्हारे उपदेश को तो वही सुन या ग्रहण कर सकती है जो तुम्हारी तरह ही छली, कपटी अथवा स्वार्थी हो। अथवा कोई योगिनी ही तुम्हारे इस तत्वज्ञान मे रुचि ले सकती है। हम गोपियाँ तो कृष्ण के सगुण साकार सौन्दर्य से प्रेम करती है; इसलिए हमे योग की आवश्यकता नही। जिसे योग की आवश्यकता है वही शरीर पर भस्म रमा सकता है। यह स्मरण रखो कि जिसके हृदय मे हर समय नन्दनदन श्रीकृष्ण का ध्यान रहता है उन्हे निर्गुण-ब्रह्म भला कैसे अच्छा लग सकता है। हमारी ओर से जाकर कृष्ण को कह दो कि यह निर्गुण-ब्रह्म का ज्ञान तो अन्धकार के समान है जिसमे कोई भी भटक सकता है, और यह तुम्हारा बोया हुआ है, तुम्ही इसे आकर काट लो, निर्गुण का तत्व ज्ञान भी तो हमारे हृदयो मे निराशा का अधकार फैलायेगा, इसलिए हे प्रभु, आप, स्वय ही आकर इस उलझन को सुलझा दो। आपके दर्शन करने से ही सभी भ्राँतियाँ समाप्त हो जायेगी।

विशेष—इस पद मे सगुण और निर्गुण की तुलना करते हुए निर्गुण को उलझन, अन्धकार एव भटकाने वाला बताया गया है जब कि सगुण स्पष्ट, सुन्दर, आकर्षक तथा भ्रातियों का निराकरण करने वाला है।

अलकार—(१) 'एक हम'''कौन'—अनुप्रास।

(२) 'कही सदेस'''अधियारो'—रूपक।

ऐसो, माई ! एक कोद को हेतु।
जैसे बसन कुसुँभ-रग मिलि कै नेकु चटक पुनि सेत॥
जैसे करनि किसान बापुरो नौ नौ बाहै देत।
एतेहू पै नीर निठुर भयो उमगि आय सब लेत॥
सब गोपी भाखे ऊधौं सों, सुनियो बात सचेत।
सूरदास प्रभु जन तें बिछुरें ज्यों कृत राई रेत॥३६२॥

शब्दार्थ—माई=सखी। कोद=ओर। हेतु=कारण। बसन=वस्त्र। नेकु=तनिक। चटक=चमक। सेत=सफेद। बापुरो=बेचारा। बाहै दैत=

जोतना। एतेहू=इतने पर भी। निठुर=कठोर। भाखै=कहना। राई रेत =रेत मे राई का मिलना।

प्रसंग—इस पद में गोपियो ने अनन्य प्रेम के महत्व तथा स्वरूप को स्पष्ट किया है।

व्याख्या—हे सखी! एक पक्षीय प्रेम तो उसी प्रकार का होता है जैसा हम भोग रही हैं। जिस प्रकार कोई वस्त्र कुसुम्मी रग मे (टेसू के फूलों के रंग मे) रगा हो तो उसकी चमक तो क्षणिक होती है और वह पुनः श्वेत हो जाता है उसी प्रकार वेचारा किसान इस आशा से किसी खेत को नौ-नौ वार जोतता है कि वर्षा होगी तो अनाज प्रचुर मात्रा मे उत्पन्न होगा किन्तु उसके प्रेम को न समझ कर निष्ठुर मेघ इतने वरसते हैं कि सारा खेत ही वहा ले जाते हैं और वेचारा किसान केवल हाथ मलते हुए रह जाता है। किन्तु उद्धव हमारा प्रेम टेसू के फूलों, किसान के प्रेम-सा न होकर द्विपक्षीय है। हमारा प्रेम तो भक्त और भगवान का प्रेम है, भगवान् अपने भक्तो को अत्यधिक प्रेम करते हैं, भक्त का कभी त्याग नहीं करते, जिस प्रकार रेत में राई मिल जाय तो उसे अलग करना सम्भव नही उसी प्रकार भक्त को भगवान् से अलग करना भी सम्भव नही है। इसलिए हमारा कृष्ण से विलग होना सम्भव नही है।

विशेष—पुष्टिमार्ग के अनुसार भगवान् सदैव भक्तो के साथ रहते हैं, भक्त भगवान् के चरणो मे समर्पित होकर ही मोक्ष का आनन्द पा लेता है। उक्त पद मे उसी सिद्धान्त का सरस प्रतिपादन हुआ है।

अलंकार—(१) 'जैसे करनि•••देत'—पुनरुक्तिप्रकाश।
(२) 'सब गोपी•••राई रेत'—दृष्टान्त।

मधुकर, मन सुनि जोग डरै।
तुमहू चतुर कहावत अति ही इतो न समुझि परै॥
और सुमन जो अनेक सुगंधित, सीतल रुचि सो करै।
क्यों तू कोकनद वनहिं सरै औ और सवै अनरै?
दिनकर महाप्रतापपुंज-वर, सवको तेज हरै।
क्यो न चकोर छाँड़ि मृग-अंकहि वाको ध्यान करै?

उलटोइ ज्ञान सबै उपदेसत, सुनि सुनि जीय जरै।
जबू-वृक्ष कहो क्यों, लंपट ! फलवर अंब फरै॥
मुक्ता अवधि मराल प्रान है जौ लगि ताहि चरै।
निघटत निपट, सूर, ज्यौं जल बिनु व्याकुल मीन मरै ॥३६३॥

शब्दार्थ—कोकनद=कमल। सरै=जाता है। अनरै=अनादर करता है। दिनकर=सूर्य। मृग अकहि=चन्द्रमा। वाको=उसका। जम्बू-वृक्ष=जामुन का पेड़। फरै=फले। मुक्ता=मोती। मराल=हंस। निघटत=समाप्त। मीन=मछली।

प्रसग—प्रस्तुत पद मे प्रेम का स्वरूप प्रतिपादित किया गया है। जो जिसको सच्चे मन से प्रेम करता है उसके लिए अन्य सभी पदार्थ हेय होते हैं। गोपियाँ विविध उदाहरण देकर उद्धव को समझाने का प्रयास करती हैं।

व्याख्या—हे भ्रमर ! तुम्हारे मुख से योग साधना तथा निर्गुण-ब्रह्म की बातो को सुनकर हमारा मन भयभीत होता है। तुम इतने चतुर-ज्ञानी, विभिन्न शास्त्रो के ज्ञाता और अनुभवी हो, फिर भी तुम्हे इतनी-सी बात समझ मे नही आती कि जो जिससे प्रेम करता है उसके लिए अपना प्रियतम ही जगत् मे सर्वश्रेष्ठ है, उसे छोडकर वह किसी और से प्रेम नही करता। अपने प्रियतम को छोड़ कर किसी अन्य की ओर देखना उसे कभी भी अच्छा नही लगता। तुम स्वय ही बताओ कि ससार मे अनेक प्रकार के सुन्दर, सरस, सुगन्धित और आकर्षक फूल है किन्तु तुम अन्य सभी का अनादर करके केवल कमलो के वन मे ही विहार क्यो करते हो ? सूर्य महान प्रतापी, तेजस्वी और प्रकाश का अमित भण्डार है, ससार के कण-कण का अन्धकार नष्ट करता है, किन्तु चकोर सूर्य की प्रचण्डता, तेजस्विता आदि को भुला कर सदैव चन्द्रमा को ही क्यो देखता रहता है ? इसका एक ही कारण है कि भ्रमर अथवा चकोर को क्रमशः कमल और चन्द्रमा के अतिरिक्त और किसी से भी प्रेम नही। किन्तु तुम यह बात भी नही समझते। हमे अपने प्रेमाधार श्रीकृष्ण को त्याग कर निर्गुण-ब्रह्म से मन लगाने की बात कहते हो, तुम्हारी यह मूर्खतापूर्ण, उलटी बाते सुनकर तो हमारा हृदय जल रहा है।

हे लम्पट ! जामुन के वृक्ष से फल-राज आम कैसे उत्पन्न हो सकता है ? हमारे हृदय मे कृष्ण को छोड़कर और किसी का ध्यान कैसे आ सकता है ?

हस केवल मोती ही खाता है, जीवन भर और कुछ नही खाता, मछली केवल जल को प्यार करती है, जब जल बिलकुल समाप्त हो जाता है तो वह अपने प्राण भी दे देती है। यही सच्चा प्रेम है। हम भी श्रीकृष्ण के वियोग मे तड़प-तड़प कर प्राण दे देगी किन्तु उस श्यामसुन्दर के अतिरिक्त किसी को भी अपने हृदय मे नही ला सकती।

विशेष—उक्त पद मे गोपियो के अनन्य प्रेम और सगुण भक्ति का सुन्दर प्रतिपादन हुआ है।

अलंकार—(१) 'उलटोई'''जीय जरै'—पुनरुक्तिप्रकाश।

(२) 'निघटत'''मीन मरै'—उपमा।

(३) सम्पूर्ण पद में निदर्शना।

विरचि मन बहुरि राच्यो आय।
टूटी जुरै बहुत जतनन करि तऊ दोष नहिं जाय॥
कपट हेतु की प्रीति निरंतर नोइ चोखाई गाय।
दूध फटे जैसे मइ काँजी, कौन स्वाद करि खाय?
केरा पास ज्यो बेर निरंतर हालत दुख दै जाय।
स्वाति-बूँद ज्यों परे फनिक-मुख परत विषै ह्वै जाय॥
ऐसी केती तुम जो उनको कहो बनाय बनाय।
सूरजदास दिगंबर-पुर मे कहा रजक-ब्योसाय॥३६४॥

शब्दार्थ—विरचि=विरक्त होकर, उचट कर। राच्यो=अनुरक्त हुआ। नोई=पैर रस्सी से बाँधकर। चोखाई=दूध-दुही हुई। केरा=केला। फनिक मुख=सर्प का मुख। केती=कितनी ही। दिगम्बर पुर=नगो का नगर। रजक=धोबी।

प्रसग—प्रस्तुत पद मे गोपियाँ निर्गुण-ब्रह्म का प्रतिवाद और प्रेम-भावना की एकनिष्ठता पर अपने विचार प्रकट करती हुई कहती है।

व्याख्या—हे उद्धव! यदि किसी का मन अपने प्रियतम से उचाट होकर, विरक्त होकर पुनः उसमे अनुरक्त होता है, प्रेम मे व्यवधान उत्पन्न हो जाता है, प्रेमास्पद के विषय मे उदासीनता बढ जाने पर फिर से उसमे आसक्ति आती है तो अनेक प्रयत्न करने पर भी उसका दोष नही जाता। टूटी वस्तु के जुड़ जाने पर भी उसका निशान मिटता नही। रस्सी टूट जाने पर उसे जोड़ा

जाय तो बीच मे गाँठ पड़ ही जाती है। उसी प्रकार हमने श्रीकृष्ण से प्रेम किया था उसमे हमे धोखा हुआ, कृष्ण हमे छोड़कर चले गये और हम सभी वियोगाग्नि मे जल रही है। अब तुम्हारे निर्गण-ब्रह्म से उसी तन्मयता से प्रेम होना सम्भव नही। यह जो छल और कपट से भरा प्रेम है वह तो उसी प्रकार का है जैसे गाय को खूब खिला-पिलाकर उसके पैरो को रस्सी से बाँधकर दूध दुहा जाता है और दूध दुह लेने के बाद भी उस गाय के पैरो में रस्सी बाँधकर उसे चरने के लिए छोड दिया जाता है ताकि कही भाग न जाय। उसमे स्व-तन्त्रता और आनन्द की कमी आ जाती है। जैसे दूध फट जाने पर खट्टा हो जाता है, उसमे वह स्वाद नही रहता उसी प्रकार प्रेम मे व्याघात आने पर उसकी सरसता मे कमी आ जाती है।

प्रेम मे समानता का होना भी आवश्यक है अन्यथा वह दुखदायी हो जाता है। जैसे वेर के वृक्ष के समीप केले का पेड सदा दुख ही पाता है, उसके पत्ते हवा से हिलते हैं तो वेर के काँटे उन्हे छलनी बना देते है। हमारी सगुण भक्ति के निकट यदि निर्गुण-ब्रह्म की धारणा आ गयी तो उससे हमे सताप ही मिलता रहेगा। उद्धव! तुम जो भी उपदेश दे रहे हो उसको सुनने के लिए पात्रता भी होनी चाहिए। अपात्र को मिली वस्तु विपरीत गुण धारण कर लेती है, जैसे स्वाति बूँद सर्प के मुख मे पडते ही जहर हो जाती है। तुम्हारा निर्गुण-ब्रह्म भी हमारे लिए वैसा ही घातक बन जाएगा, यदि हमने उसे ग्रहण कर लिया तो हमारा प्राणान्त हो जाएगा।

हे उद्धव! निर्गुण-ब्रह्म, ज्ञानमार्ग तथा योग साधना आदि की बातो को चाहे तुम कैसे भी बना-बनाकर सुना लो किन्तु यहाँ पर कोई भी उसे स्वीकार करने वाली नही। तुम्हारे सभी प्रयत्न उसी प्रकार निष्फल हो जायेगे जैसे कोई धोबी दिगम्बरो की नगरी मे जाकर कपडे धोने का व्यापार करके सफल-ता पाना चाहे। जैसे उस नगरी मे कोई कपड़ा पहनता ही नही जो धुलवाने पडे इसी प्रकार यहाँ सभी कृष्ण प्रेम मे रगी हुई है, उन पर निर्गुण-ब्रह्म का कुछ भी प्रभाव नही हो सकता।

विशेष—सगुण भक्ति और कृष्ण प्रेम की भावना को तर्कसगत रूप देकर कवि ने भावना और बुद्धि का समुचित समन्वय किया है।

अलंकार—(१) 'कपट हेतु...करि खाय'—प्रतिवस्तूपमा।

(२) 'केरा पास'''दै जाय'—उपमा।
(३) 'स्वाति-बूँद'''ह्वै जाय'—विषम।
(४) 'सूरजदास'''व्यौसाय'—श्लेष।

कहत कत परदेसी की बात ?
मंदिर-अरध-अवधि बदि हम सों, हरि-अहार चलि जात ॥
ससि-रिपु बरष सूर-रिपु युग बर, हर-रिपु किए फिरै घात।
मघ-पंचक लै गए स्यामघन, आय बनी यह बात ॥
नखत, वेद, ग्रह जोरि अर्ध करि को बरजै हम खात।
सूरदास प्रभु तुमहि मिलन को कर मीड़ति पछितात ॥ ६५॥

शब्दार्थ—कत=क्यो। मदिर==मन्दिर-घर। अरध-अवधि=आधा पक्ष की अवधि। ससि-रिपु=दिन। सूररिपु=रात। हर-रिपु=कामदेव। मघ-पचक=मघा नक्षत्र से पाँचवाँ नक्षत्र चित्रा अर्थात चित। नखत=नक्षत्र (सत्ताईस)। वेद=चार। ग्रह=नौ। अर्धकरि=आधा करके। वीस=विप। बरजै=रोके। मीडति=मसलती।

प्रसंग—उद्धव के मुख से कृष्ण का सदेश निर्गुण-ब्रह्म का तत्वाज्ञान सुनकर गोपियाँ खीझ पड़ती हैं तो उनकी व्यथा को प्रस्तुत पद मे प्रतिपादित किया गया है।

व्याख्या—हे उद्धव! तुम हमसे परदेशी-कृष्ण की बातें क्यो करते हो ? वह हमसे प्रेम बढाने के पश्चात् धोखे मे हमे त्याग कर चले गए है। मथुरा में जाकर बस गए है, हमे उनकी बातो को सुन कर दुख होता है। इसलिए हमें उनका सदेश मत सुनाओ। कृष्ण हमे कह गए थे कि वे एक मास के एक पक्ष अर्थात् पन्द्रह दिन तक लौट आयेगे किन्तु वे नही आए। उनके वियोग के सताप मे जो मास बीत रहे है उससे शेर का आहार अर्थात् मांस भी दिन प्रतिदिन क्षीण हो रहा है। कृष्ण के वियोग मे हमारा एक-एक पल व्यतीत होना कठिन हो गया है। शशि का शत्रु अर्थात् दिन तो वर्ष के बराबर मालूम होता है और सूर्य का शत्रु अर्थात् रात्रि युग के समान लम्बी हो गई है। इस पर हर का शत्रु अर्थात् कामदेव हम पर हर समय आघात करता रहता है। कृष्ण को मिलने की आकाक्षा हमे हर समय सताती रहती है। क्योकि हमारा चित तो श्याम घन के समान सुन्दर श्रीकृष्ण अपने साथ ले गए है, इसीलिए उनके वियोग मे

हमारी यह स्थिति हो गयी है कि एक-एक पल युग के समान हो गया है, व्यतीत नही होता।

गोपियाँ अपनी व्यथा को सांकेतिक गूढ भाषा मे प्रकट करती हुई कहती हैं कि हे उद्धव ! हमे नक्षत्र २७+वेद ४+ग्रह ६ को जोड़कर उसका आधा बीस अर्थात् विष खाने से कौन रोक सकता है। कृष्ण के वियोग का संताप इतना बढ गया है कि मर जाने की इच्छा होती है। ऐसे समय केवल कृष्ण ही अपना दर्श देकर हमें विष खाने से रोक सकते है। हे प्रभु ! आज हम सभी आपको मिलने के लिए तरस रही है, दर्शन न कर सकने के कारण केवल हाथ मसलती हुई पछता रही है कि हमने तुम्हारी बातो पर विश्वास क्यो किया। यदि हम अक्रूर की चाल को समझ लेती तो यह व्यथा तो न होती।

विशेष—उक्त पद सूरदास के प्रसिद्ध दृष्टकूटो मे से एक है। इस पद्धति में कवि अपने भावो को इस प्रकार की क्लिष्ट भाषा मे प्रकट करते है जिससे अर्थ समझने मे विशेष प्रयत्न करना पड़ता है। चमत्कार प्रिय कवियो की परम्परा का निर्वाह करने मे भी सूरदास जी को विशेष सफलता मिली है।

अलंकार—सम्पूर्ण पद मे—दृष्टकूट।

ऊधो ! मन माने की बात।
दाख छुहारा छाँड़ि अमृत-फल बिष-कीरा विष खात ॥
जौ चकोर को दै कपूर कोउ तजि अंगार अघात ?
मधुप करत घर कोरि काठ में बँधत कमल के पात ॥
ज्यों पतंग हित जानि आपनो दीपक सो लपटात।
सूरदास जाको मन जासों सोई ताहि सुहात ॥ ६६॥

शब्दार्थ—दाख=अगूर। छाँड़ि=छोडकर। कीरा=कीडा। अघात=तृप्त होना। मधुप=भ्रमर। कोरि=कुतरकर। पतग=शलभ। हित=प्रेम। सुहात=अच्छा लगना।

प्रसग—प्रेम मे अनन्यता होने पर प्रेमी का मन उस स्थिति को प्राप्त कर लेता है जब वह अच्छे-बुरे, गुण-अवगुण का भेद भुलाकर केवल अपने प्रिय में ही निमग्न रहता है।

व्याख्या—उद्धव ! तुम्हारे निर्गुण-ब्रह्म की बाते हमे किसी प्रकार अच्छी नहीं लगती हैं। इसमें बुरा मानने की बात नही। यह तो अपने-अपने मन की

बात है; जिसका मन जिस पर आ जाय उसके लिए वही सब कुछ होता है। जैसे विष का कीडा विप खाने मे ही सुख मानता है, उसके सामने यदि अमृत के समान मधुर, जीवनदायी फल अंगूर और छुहारा रखा जाय तो वह उसे छोड देता है। चकोर चन्द्रमा को प्यार करता है। चन्द्रमा के भ्रम मे उसे अगारे खाने पड़ते है तो प्रसन्नता से खा लेता है, उसी मे तृप्त रहता है। उसे यदि कोई शीतल, सुगन्धित कपूर खिलाने का प्रयत्न करता है तो वह उसे भी त्याग देता है। प्रेमी मार्ग की बाधाओ को कुचल देता है किन्तु प्रिय की मामूली वस्तु भी उसके लिए स्वर्गिक सुख देने वाली हो जाती है। भ्रमर कठोर वृक्ष के तने को कुतरकर उसमे अपना घर बना लेता है, काठ की कठोरता उसके सामने बाधक नही बनती, किन्तु वही भ्रमर कमल की कोमल पखड़ियो मे अपने को बँधवा लेता है। पतगा दीपक की लौ से प्यार करता है, जब भी उस ज्योति को देखता है उसके साथ लिपट जाता है। इसमें उसका शरीर जल जाता है, जीवन नष्ट हो जाता है किन्तु वह अपने प्रेम को भुलाता नही। इन सबसे एक ही बात स्पष्ट होती है कि जिस का मन जिसमे रमा हो उसे वही अच्छा लगता है। हे उद्धव ! तुम्हारा निर्गुण-ब्रह्म भले ही अत्यन्त व्यापक, विशाल, महान् क्यो न हो; हमारा मन तो श्रीकृष्ण के प्रेम मे निमग्न है, उसे त्याग कर हमे कुछ भी नही चाहिए।

विशेष—इस पद मे जीवन के स्वाभाविक प्रसिद्ध उदाहरणो से प्रेम की अनन्यता का रोचक प्रतिपादन किया गया है।

अलकार—सम्पूर्ण पद मे समुच्चय।

कर-कंकन तें भुज-टाँड़ भई।
मधुबन चलत स्याम मनमोहन आवन-अवधि जो निकट दई॥
जोहति पंथ मनावति संकर बासर निसि मोंहि गनत गई।
पाती लिखत बिरह तन व्याकुल कागर ह्वै गयो नीरमई॥
ऊधो ! मुख के बचनन कहियो हरि सों सूल नितप्रतिहि नई।
सूरदास प्रभु तुम्हरे दरस को बिरह बियोगिनि बिकल भई॥३६७॥

शब्दार्थ—ककन=कगन। टाड=बाजू मे पहनने वाला भूषण। जोहती=बाट देखती। बासर=दिन। गनत=गिनते हुए। कागर=कागज। नीरमयी=जलमय। बचनन कहियो=जबानी कहना। सूल=दुख।

प्रसग—कृष्ण के वियोग मे सतप्त गोपियाँ दिन प्रतिदिन क्षीण होती जा रही है। प्रस्तुत पद मे उसी कृशता का वर्णन किया गया है।

व्याख्या—हे उद्धव ! श्रीकृष्ण के वियोग का दुख सहते-सहते हमारा शरीर दिन प्रतिदिन क्षीण होना जा रहा है। यही कारण है कि जो पहुँची अथवा कगन हाथ मे पहना करती थी अब वही बाजूबन्द के रूप मे पहना जा सकता है। जब हमारे मनमोहन श्रीकृष्ण मथुरा चलने लगे थे तो उन्होंने वापस आने के लिए पन्द्रह दिन की अवधि कही थी, वह अवधि समाप्त हो, प्रभु से शीघ्रमिलन हो, इसके लिए हम निरन्तर उनकी बाट देखती रही, रात-दिन कृष्ण के लौटने की आशा मे भगवान् शकर से नाना प्रकार की मनोतियाँ मनाती रही किन्तु वे श्याम लौट कर नही आये। अब तो विरह के सताप में सारा शरीर इतना दुखी है कि जब हम अपने विरह का दुख लिखती है तो पत्र लिखने का कागज आँसुओ से भीग कर एकदम जलमय हो जाता है, इसलिए अब तो पत्र लिखना भी मुश्किल हो गया है। हे उद्धव ! तुम जाकर श्रीकृष्ण को हमारी दशा का जबानी ही वर्णन करना, उन्हे बताना कि हमारे मन मे आपसे मिलने की अत्यन्त उत्कण्ठा है और आपके वियोग मे हम नित्य-प्रति बहुत कष्ट सहन करती रहती है। व्रज की सभी गोपियाँ आपके विरह की अग्नि मे जल रही है, उनके मन मे आपके ही दर्शनो की लालसा बनी हुई है।

विशेष—इस पद में विरहजन्य कृशता को आलकारिक चमत्कारिक रूप देकर चित्रित किया गया है। वियोगिनी का चित्रण करते हुए अनेक कवियो ने ऊहात्मक पद्धति का सहारा लिया है, प्रस्तुत पद मे उसी शैली का अवलम्बन किया गया है।

अलकार—'कर ककन ते···भई'—सम्बन्धातिशयोक्ति।

फूल बिनन नहिं जाउँ सखी री ! हरि बिन कैसे बीनौं फूल।
सुन री, सखी ! मोहिं रामदोहाई फूल लगत तिरसूल॥
वे जो देखियत राते राते फूलन फूली डार।
हरि बिन फूल झार से लागत झरि झरि परत अँगार॥
कैसे के पनघट जाउँ सखी री ! डोलौं सरिता-तीर।
भरि भरि जमुना उमड़ि चली है इन नैनन के नीर॥

इन नैनन के नीर सखी री! सेज भई घरनाउँ।
चाहति हौं याही पै चढ़िकै स्याम-मिलन कों जाउँ॥
प्रान हमारे बिन हरि प्यारे रहे अधरन पर आय।
सूरदास के प्रभु सों सजनी कौन कहै समुझाय॥३६८॥

शब्दार्थ—बिनन=चुनते हुए। तिरसूल=त्रिशूल। राते-राते=लाल लाल। झार=अग्नि की ज्वाला। डोलौ=घूमूँ। सरिता-तीर=नदी किनारा। घरनाऊ=बाँस मे उलटे घडे बाँधकर बनाई हुई नाव। याही पै=इसी पर।

प्रसंग—वियोगावस्था मे प्रकृति के शीतल, कोमल और आकर्षक तत्व भी दाहक, कठोर और दुखप्रद दिखाई देते है। प्रस्तुत पद मे गोपियो की इसी दशा का चित्रण किया गया है।

व्याख्या—हे सखी! मैं फूल चुनने के लिए उपवन मे नही जाऊँगी, क्योकि मैं जब भी फूलो को देखती हूँ तो मेरे सम्मुख कृष्ण का कोमल, सुन्दर, स्वरूप छा जाता है। मन मे नाना प्रकार की उमगे हिलोरे लेने लगती है, इसलिए कृष्ण के बिना मैं फूल कैसे चुन सकती हूँ। हे सखी! मैं राम की सौगन्ध खाकर कहती हूँ कि ये फूल श्रीकृष्ण के बिना मुझे त्रिशूल के समान मालूम पड़ते हैं। वे जो वृक्षो पर टेसू के लाल लाल फूलो के समूह दीखते हैं वे सभी कृष्ण के अभाव मे ऐसे प्रतीत होते है जैसे वे फूल अग्नि की ज्वाला हैं और जैसे अगारे झडकर धरती पर गिर रहे है।

हे सखी! मैं पनघट पर भी कैसे जा सकती हूँ, यमुना के किनारे पर भ्रमण करने के लिए भी नही जा सकती, क्योकि यमुना को देखकर ही आँखो मे अश्रुधारा प्रवाहित हो जाती है। और जब आखो मे पानी भरा हुआ होता है तो अपनी शैया भी ऐसी दिखाई देती है जैसे बाँस मे उल्टे घडे बाँधकर बनाई हुई नौका हो। मै चाहती हूं कि श्याम को मिलने के लिए इसी नौका पर बैठकर चलूँ। वास्तव मे हमारे प्राण श्रीकृष्ण के बिना अधरो तक आ गए है। किन्तु हे सखी! कौन ऐसा व्यक्ति है जो कृष्ण को यहाँ की स्थिति समझा सके। आज उनके विरह ने हमारे जीवन का सभी सुख, आनन्द और उल्लास समाप्त कर दिया है उनके दर्शन करने से ही हमारी वेदनाये समाप्त हो सकती है।

विशेष—शृंगार वर्णन करते हुए प्राचीन कवियो ने प्रकृति के आलम्बन और उद्दीपन रूप को चित्रित किया है। प्रस्तुत पद मे प्रकृति के उद्दीपन रूप का प्रतिपादन किया गया है। फूलो को अगारे समझना, आँखो मे अश्रुधारा का बहना, सुखद शैया देखकर कातरता का बढना आदि मे कवि ने भावो की सरस अभिव्यक्ति की है।

अलंकार—(१) 'वे जो······परत अगार'—पुनरुक्तिप्रकाश।
(२) 'फूल बिनन······फूल'—अनुप्रास।
(३) 'कैसे कै······कों जाऊँ'—अतिशयोक्ति।

ऊधो जू ! मै तिहारे चरनन लागौ बारक या ब्रज करबि भाँवरी।
निसि न नींद आवै, दिन न भोजन भावै, मग जोवत भई दृष्टि झाँवरी॥
वहै बृंदावन स्याम सघन वन, बहै सुभग सरि साँवरी।
एक स्याम बिनु स्याम न भावै सुधि न रही जैसे बकत बावरी॥
लाज छाँड़ि हम उतहिं आवतीं चलि न सकति आवै बिरह-ताँवरी।
सूरदास प्रभु बेगि दरस दीजै होय है जग में कीरति रावरी॥३६९॥

शब्दार्थ—बारक=एक बार। करबि=करें। भावरी=फेरा। मग जोवत=रास्ता देखते। झांवरी=धुंधली। सरि=सरिता। स्याम=कृष्ण, काला रग। बावरी=पागल। तांवरी=ताप।

प्रसग—कृष्ण के दर्शनो के लिए आकुल गोपियाँ उद्धव से प्रार्थना करती हुई कहती हैं।

व्याख्या—हे उद्धव जी ! मैं आपके चरणो मे पडकर प्रार्थना करती हूँ कि कोई ऐसा प्रयत्न करो जिससे श्रीकृष्ण एक बार ब्रज में आकर हमे दर्शन दे जावें। उनके वियोग मे हमे पल भर भी चैन नही मिलता। न तो रात मे नींद आती है और न ही दिन मे कुछ खाना पीना अच्छा लगता है। प्रियतम कृष्ण की प्रतीक्षा मे उनका रास्ता देखते-देखते अब तो दृष्टि भी धुंधली हो गयी है। वैसे तो यहाँ सभी वस्तुएँ वही चिर परिचित है किन्तु वियोगावस्था मे कोई भी अच्छी नही लगती। यह वृन्दावन, यहाँ के सघन वन-उपवन सभी वही है जहाँ श्रीकृष्ण के साथ हमने सुखद समय व्यतीत किया है। यह यमुना नदी भी वही है किन्तु एक श्यामसुन्दर के अभाव मे हमे काले रग की कोई भी वस्तु

अच्छी नही लगती। वियोग-जन्य सताप के कारण हमे तन-वदन की भी होश नही, जिस प्रकार पागल व्यक्ति बकता रहता है उसी प्रकार हम भी अनाप-शनाप बकती रहती हैं। हे उद्धव! हम प्रियतम कृष्ण को मिलने के लिए सभी लोकलाज, मर्यादा आदि को त्याग कर मथुरा ही चली जाती किन्तु विवश हैं, विरह-ज्वर की तीव्रता इतनी बढ गई है कि हम चल भी नही सकती। इसलिए हमारी दशा को देखकर शीघ्र ही कोई ऐसा उपाय करो जिससे श्याम हमे दर्शन दे। ऐसा होने से संसार मे आपकी भी कीर्ति व्याप्त होगी।

विशेष—उक्त पद मे विरहाकुल गोपियों की आतुरता और कृष्ण दर्शन की आकाक्षा का सुन्दर प्रतिपादन हुआ है।

अलंकार—(१) 'ऊधो जी······भांवरी'—अनुप्रास।
(२) 'एक स्याम······बावरी'—यमक।
(३) 'लाज छाड़ि······तांवरी'—अतिशयोक्ति।

ऊधो! जबहिं जाव गोकुलमनि आगे पैयां लागन कहियो।
अब मोहिं विपति परी दर्सन बिनु, सहि न सकत तन दारुन दहियो॥
सरदचंद मोहिं बैरि महा भयो, अनिल सहि न परै किहि विधि रहियो?
सूर स्याम बिनु गृह वन सूनो, विन मोहन काको मुख चहियो॥३७०॥

शब्दार्थ—जाव=जाओ। पैया लागन=चरण-स्पर्श। दहियो=जलना। अनिल=वायु। किहि विधि=किसी प्रकार। चहियो=देखे।

प्रसंग—कृष्ण वियोग की व्यथा को प्रकट करती हुई गोपियाँ कहती है कि—

व्याख्या—हे उद्धव! जब तुम मथुरा वापिस आओ तो वहाँ जाकर श्रीकृष्ण को हमारी ओर से चरणस्पर्श का अभिवादन करना। हमारी ओर से यह प्रार्थना भी करना कि अब आपके दर्शन नही होते और वियोग की विपत्ति इतनी बढ़ गई है कि हमारा शरीर वियोगाग्नि का सताप सह नही सकता। चन्द्रमा हमारा भयकर विरोधी हो गया है, हमे हर समय जलाता है, शीतल वायु का स्पर्श करके भी हमारा मन जल उठता है, अब तुम्ही बताओ कि हम कैसे जीवित रह सकती है। आज तो श्रीकृष्ण के बिना घर और वन दोनो ही सूने-सूने लगते है। कृष्ण ही हमारे प्राणाधार हैं, उनके मुखचन्द्र के

अतिरिक्त अब हम किसका मुख देखे। केवल कृष्ण के दर्शन से ही हमारी विपत्ति मिट सकती है।

विशेष—प्रकृति के उद्दीपन रूप के माध्यम से गोपियो की आकुलता का चित्रण सरस और आकर्षक है।

अलंकार—(१) 'अब मोहि···दहियो=अनुप्रास।

(२) 'सरद चन्द···रहियो'—अतिशयोक्ति।

(३) 'सूर स्याम···चहियो'—उत्प्रेक्षा।

मेरे मन इतनी सूल रही।
वे बतियाँ छतियाँ लिखि राखो जे नंदलाल कही॥
एक दिवस मेरे गृह आए मैं ही मथति दही।
देखि तिन्हें मै मान कियो सखि सो हरि गुसा गही॥
सोचति अति पछितात्ति राधिका मूर्छित धरनि ढही।
सूरदास प्रभु के बिछुरे तें बिथा न जाति सही॥३७१॥

शब्दार्थ—सूल=पीड़ा। बतियाँ=बाते। छतियाँ=दिल मे। गुसा गही =क्रोध किया। ढही=गिरी। बिथा=पीड़ा।

प्रसंग—वियोगावस्था मे पुरानी स्मृतियाँ मन को अधिक व्यथित कर देती हैं। गोपियाँ कृष्ण-विरह के मूल मे कुछ पुरानी घटनाओ को कारण मानकर कहती हैं।

व्याख्या—हे सखी! मेरे मन मे कुछ पुरानी बातो की स्मृति के कारण अत्यधिक व्यथा हो रही है। मुझे वे बाते कभी नही भूलती जो श्रीकृष्ण ने एक बार मुझे कही थी, उन बातो को तो मैंने हृदय मे छुपा रखा है। हे सखी! एक दिन श्रीकृष्ण मेरे घर आए थे, उस समय मैं दही बिलो रही थी और तब मैंने श्रीकृष्ण को देखकर कुछ मान कर लिया, स्वय उठकर, आगे बढकर कृष्ण का स्वागत नही किया, ऐसा प्रतीत होता है कि उसी बात को क्रोध मे आकर हृदय मे रख लिया है, शायद इसीलिए श्रीकृष्ण के वियोग को सहन करना पड रहा है। इस प्रकार चिन्ता करती हुई, पश्चाताप करती हुई राधिका मूर्च्छित होकर धरती पर गिर पड़ी, सूरदास जी कहते है कि श्रीकृष्ण के बिछुड़ने से उत्पन्न व्यथा जानी नही जा सकती।

विशेष—शास्त्रीय दृष्टि से उक्त पद में शृंगार रस का सफल प्रतिपादन हुआ है। नायिका राधा, नायक श्रीकृष्ण आश्रय और आलम्बन हैं। रति स्थायी भाव के साथ उसके अन्य अगो का भी इस पद मे स्पष्ट चित्रण हुआ है। स्मरण सचारी भाव के आधार पर कवि ने शास्त्रीय शैली तथा सिद्धान्तो का जैसा प्रतिपादन किया है उसमे कवि कौशल की पूर्ण झलक मिलती है।

अलकार—'वै बतियाँ···कही'—अनुप्रास।

देखौ माधव की मित्राई।
आई उघरि कनक-कलई ज्यों दई निज गए दगाई॥
हम जाने हरि हितू हमारे उनके चित्त ठगाई।
छाँडी सुरति सबै ब्रजकुल की निठुर लोग बिलमाई॥
प्रेम निवाहि कहा वै जानै साँचेई अहिराई।
सूरदास बिरहिनीं विकल-मति कर मीँजै पछिताई॥३७२॥

शब्दार्थ—मित्राई=मित्रता। उघरि=प्रकट होना। दई निज=बिलकुल। दगाई=धोखा। सुरति=याद। निठुर=निर्दयी। बिलमाई=रह रहे है।

प्रसंग—श्रीकृष्ण की निष्ठुरता को याद करती हुई गोपियाँ व्यग्य करती हुई कहती है कि—

व्याख्या—हे सखी! कृष्ण की मित्रता देखो, कितनी छल और कपट से भरी हुई है। जिस प्रकार किसी वर्तन पर सोने का पानी चढ़ा हुआ हो और कुछ ही दिनो मे वह कलई उतर जाती है, वर्तन का असली रूप प्रकट हो जाता है उसी प्रकार कृष्ण के कपट-प्रेम का भेद खुल गया है। वह जो भी प्रेम करते थे उसमे निहित धोखा साफ समझ मे आ गया है। हमने तो कृष्ण को अपना प्रिय और हित-चिन्तक ही समझा था। किन्तु उनके हृदय में तो अविश्वास और छल भरा हुआ था तभी तो उन्होने सम्पूर्ण ब्रजभूमि की याद भुला कर मथुरा के कठोर लोगो मे रहना प्रारम्भ कर दिया है। वास्तव मे शुद्ध प्रेम का निर्वाह करना वे नही जानते, वे तो सच्चे सर्प सिद्ध हुए हैं। जिस प्रकार साँप अपने पालने वाले को ही समय पाकर डस लेता है उसी प्रकार कृष्ण ने भी गोपियो के शुद्ध प्रेम की अवहेलना करके उन्हे वियोगाग्नि मे डाल कर स्वंय मथुरा मे रहना शुरू कर दिया है। इस प्रकार सभी गोपियाँ विरह-मताप मे व्याकुल होकर केवल पश्चाताप करती रहती हैं।

विशेष—उक्त पद में कृष्ण के प्रेम पर व्यंग्य करते हुए मथुरावासियो को कठोर कहा गया है। गोपियो के लिए तो मथुरावासी केवल धोखेबाज ही है—अक्रूर धोखे से कृष्ण को साथ ले गये थे, उद्धव कृष्ण की स्मृति को भी समाप्त करना चाहते हैं और स्वयं कृष्ण ने भी वहाँ जाकर सभी ब्रजवासियो को भुला दिया, इस व्यंग्य ने उक्त पद की रमणीयता मे वृद्धि कर दी है।

अलंकार—(१) 'आई उघरि…दगाई'—उपमा।

(२) 'प्रेम निबाहि…अहिराई'—श्लेष।

मै जान्यो मोको माधव हित है कियो।
अति आदर अलि ज्यों मिलि कमलहि मुख-मकरद लियो॥
बरु वह भली पूतना जाको पय-सँग प्रान पियो।
मनमधु अँचै निपट सूने तन यह दुख अधिक दियो॥
देखि अचेत अमृत-अवलोकनि, चालि जु सीचि हियो।
सूरदास प्रभु वा अधार के नाते परत जियो॥३७३॥

शब्दार्थ—अलि=भ्रमर। मकरन्द=पराग। बरु=इससे तो। पय-सग=दूध के साथ। मनमधु अचै=मन रूपी मधु पीकर। अवलोकनि=दृष्टि। अधार=सहारा।

प्रसंग—प्रस्तुत पद मे श्रीकृष्ण की निष्ठुरता पर गोपियाँ उपालम्भ देती है।

व्याख्या—हे उद्धव! मैं यह समझती थी कि कृष्ण ने मुझसे प्रेम किया है। किन्तु वास्तव मे वह प्रेम नही केवल छल ही था। जिस प्रकार भ्रमर कमल के प्रति प्रेम प्रकट करता है, बडे आदर और उत्साह से कमल को मिलता है किन्तु जब कमल के मुख से उसका रस पान कर लेता है तो उस कमल को छोड़ कर अन्यत्र उड़ जाता है। उसी प्रकार कृष्ण ने भी हम से प्रेम बढ़ाकर हृदय छीन कर हमे त्याग दिया है। हमसे तो वह पूतना राक्षसी ही अच्छी थी जिसके दूध के साथ-साथ कृष्ण ने उसके प्राण हरण कर लिये थे किन्तु हमारे मन रूपी मधु को पीकर और हमारे शरीर को सर्वथा सूना करके चले गए है। यह अधिक दुखद है क्योकि अब हमे वियोग का दुख सहना पड रहा है। अब हमारा जीवन तो उनमे ही अनुरक्त है किन्तु उन्होने हमे सर्वथा भुला दिया है। कृष्ण से विलग होकर भी हमारे प्राण क्यो नही गए, उसकी कल्पना करती

हुई गोपिका कहती हैं कि जब श्रीकृष्ण मथुरा जाने लगे थे तो हम सभी अपने तन, मन प्राण की सुध-बुध खोकर अचेत सी हो गई थी, उस समय श्रीकृष्ण ने अपनी जीवनदायिनी दृष्टि से हमे देखा, वह दृष्टि हमारे मन मे इतनी गहरी उतर गयी है कि आज उनके वियोग में केवल वही दृष्टि हमारे जीवन का आधार बन गयी है। उस दृष्टि ने हमे एक विश्वास दिया है कि श्रीकृष्ण एक दिन अवश्य आकर दर्शन देगे।

विशेष—उक्त पद मे गोपियो के प्रेम और कृष्ण के प्रति विश्वास का सरस और प्रभावशाली चित्रण किया गया है।

अलकार—(१) 'अति आदर···लियो'—उपमा, रूपक।

(२) 'मनमधु···सींची हियो'—रूपक।

(३) 'सूरदास···परत जियो'—काव्यलिग।

अब या तनहि राखि का कीजै ?
सुनि री सखी ! स्यामसुंदर बिन बाटि विषम विष पीजै ॥
कै गिरिए गिर चढ़िकै, सजनी, कै स्वकर सीस सिव दीजै।
कै दहिए दारुन दावानल, कै तो जाय जमुन धँसि लीजै ॥
दुसह वियोग विरह माधव के कौन दिनहिं दिन छीजै ?
सूरदास प्रीतम बिन राधे सोचि सोचि मनही मन खीजै ॥३७४॥

शब्दार्थ—तनहि=शरीर को। बाटि=पीसकर। कै=या तो। गिर=पर्वत। स्वकर=अपने हाथों। दावानल=जगल की आग। दुसह=असह्य। छीजै=क्षीण हो।

प्रसंग—इस पद मे वियोगिनी राधिका की वेदना का चित्रण किया गया है।

व्याख्या—हे सखी ! श्रीकृष्ण के वियोग मे अब इस शरीर को रखकर क्या करना है ? जब श्यामसुन्दर हमारे साथ नही तो विरह का भयंकर विष हमे पीस-पीस कर पीना होगा। अपना जीवन नष्ट करना होगा। धीरे-धीरे कष्ट सहकर मृत्यु की ओर जाने के अतिरिक्त और उपाय ही क्या है ? हे सखी ! अब या तो पर्वत से गिरकर प्राण त्याग दे, अपने हाथो अपना सिर काट कर भगवान् शिव को भेंट कर दे, जंगल की आग मे जलकर भस्म हो जाये अथवा यमुना मे डूब कर प्राण दे दे इनसे ही शीघ्र मृत्यु हो सकती है।

क्योंकि श्रीकृष्ण के वियोग का दुख सहते हुए धीरे धीरे, दिन-प्रतिदिन क्षीण होने से तो प्राण दे देना ही उत्तम है। इस प्रकार अपने प्रियतम के वियोग में राधिका तरह-तरह की चिन्ता करती हुई मन-ही-मन खीझती रहती है।

विशेष—उक्त पद मे वियोगिनी राधा की मन.स्थिति का चित्रण स्वाभाविक और मार्मिक है।

अलंकार—(१) 'सुनि री···विष पीजै'—अनुप्रास।

(२) 'सूरदास···खीजै'—पुनरुक्तिप्रकाश।

यशोदा का वचन उद्धव-प्रति

संदेसो देवकी सो कहियो।
हौं तो धाय तिहारे सुत की कृपा करत ही रहियो॥
उबटन तेल और तातो जल देखत ही भजि जाते।
जोइ जोइ माँगत सोइ सोइ देती करम करम करि न्हाते॥
तुम तो टेव जानतिहि ह्वै हो तऊ मोहिं कहि आवै।
प्रात उठत मेरे लाल लड़ैतेहि माखन-रोटी भावै॥
अब यह सूर मोहिं निसिवासर बड़ो रहत जिय सोच।
अब मेरे अलक-लड़ैते लालन ह्वै है करत सँकोच॥३७५॥

शब्दार्थ—हौं=मै। धाय=पालने वाली। तातो=गर्म। भजि जाते=भाग जाते। करम-करम करि=क्रम-क्रम से। टेव=आदत। तऊ=तो भी। लडैतेहि=लाड़ले।

प्रसंग—प्रस्तुत पद में कृष्ण के वियोग मे दुखी माता यशोदा का देवकी के नाम सदेश का चित्रण है। अपने दुलारे की क्रीडाओं को, उसके स्वभाव को याद करती हुई माँ के इस सन्देश मे वात्सल्य वियोग का अनुपम वर्णन किया गया है।

व्याख्या—हे उद्धव! मथुरा जाकर देवकी को मेरा यह सन्देश देना कि मैं तुम्हारे पुत्र की आया हूँ, उसे पालने वाली हूँ, इसी नाते मुझ पर कृपा बनाये रखना। मेरे लाड़ले कृष्ण का स्वभाव बहुत अनोखा है, जब मैं उसे नहलाया करती थी तो वह नहाने का सामान—उबटन, तेल और गर्म पानी देखकर भाग जाया करते थे, नहाने के लिए तैयार नही होते थे तो मै उन्हे

तरह-तरह से मनाने की कोशिश करती थी। बातो, कहानियो को सुना-सुना कर जब मैं उसे मनाती थी। उस समय वह जो-जो वस्तु माँगते वही देने की कोशिश करते हुए नहाने के लिए तैयार करती थी। इस प्रकार नहाने के लिए क्रम-क्रम से उन्हे मनाया जाता था।

देवकी को कहना कि तुम तो कृष्ण की मां हो, इसलिए उसकी आदतों को जानती होगी, फिर भी मुझे कृष्ण के स्वभाव का वर्णन करना अच्छा लगता है। मेरे लाड़ले दुलारे कृष्ण को प्रातःकाल उठते ही माखन रोटी खाना अच्छा लगता है।

अब तो मुझे रात-दिन केवल एक ही चिन्ता रहती है कि मेरे प्यारे कृष्ण स्वभाव से ही संकोची है, वह कभी कुछ माँगते नही, उनका ध्यान रखने के लिए देवकी को ही सजग रहना होगा। जिस प्रकार मैंने उनकी आदतों का उल्लेख किया है उन्ही के अनुसार कृष्ण के खान-पान आदि पर ध्यान देना।

विशेष—वात्सल्य रसावतार सूरदास जी ने मातृ हृदय की शायद ही किसी भावना को अछूता छोड़ा हो। यशोदा की आकुलता, विनयशीलता, कृष्ण के प्रति स्नेह आदि के साथ जीवन की व्यावहारिकता को भी सरसता का सम्पुट देकर चित्रण करने मे कवि को विशेष सफलता मिली है। कृष्ण के संकोच का सकेत मातृ हृदय की सजीव झांकी है।

अलंकार—'जोइ जोइ···करि न्हाते'—पुनरुक्तिप्रकाश।

यद्यपि मन समुझावत लोग।
सूल होत नवनीत देखिकै मोहन के मुख-जोग॥
प्रात-समय उठि माखन-रोटी को बिन माँगे दैहै?
को मेरे बालक कुँवर कान्ह को छन-छन आगो लैहै?
कहियो जाय पथिक! घर आवैं राम स्याम दोउ भैया।
सूर वहाँ कत होत दुखारी जिनके मो सी मैया॥३७६॥

शब्दार्थ—सूल=पीड़ा। नवनीत=माखन। जोग=योग्य। दैहै=देगा। आगो लैहै=आगे बढकर इच्छा पूरी करेगा।

प्रसंग—पुत्र वियोग में दुखी यशोदा किसी पथिक के द्वारा कृष्ण को सदेश भेजकर अपने दुख को प्रकट करती है।

व्याख्या—हे पथिक! जब से कृष्ण मथुरा गये है मैं उनके वियोग मे बहुत

दुखी हूँ। भले ही मुझे दुखी देखकर लोग मुझे समझाते है, तरह-तरह से बहलाने की कोशिश करते हैं फिर भी मेरा मन कृष्ण की याद मे दुखी रहता है। प्रात काल जब मै दही बिलोती हूँ तो माखन देखकर मुझे अत्यधिक वेदना होती है, क्योकि मै यही सोचती हूँ कि यह माखन तो मेरे लाड़ले कृष्ण के खाने के योग्य है। उसके साथ ही मुझे यह चिन्ता घेर लेती है कि मथुरा में अब कौन प्रात काल उठते ही कृष्ण को बिना माँगे माखन-रोटी देगा ? कृष्ण स्वभाव से सकोची है और वहाँ के लोग उसके स्वभाव से परिचित नही, कृष्ण को बहुत कठिनाई आती होगी। यहां तो मैं हर समय उसका मुख जोहती थी वहाँ ऐसा स्नेह कौन करेगा ? इसलिए हे पथिक ! जाकर कृष्ण से कहना कि वे दोनो भाई बलराम और कृष्ण शीघ्र ही घर लौट आये। जिनकी मुझ जैसी माँ हो, ऐसे बच्चो को परदेश मे दुखी नही होना चाहिए।

विशेष—उक्त पद मे मातृ-हृदय की सम्पूर्ण ममता, करुणा, आकुलता और वात्सल्य की मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है। बच्चो से बिछड़ कर माँ किस प्रकार आशकाएँ कर सकती है, बच्चो के पालन-पोषण के लिए चिन्तित हो सकती है, इस सबका सरलतम भाषा मे सरसतम चित्रण किया गया है।

अलकार—'को मेरे ' 'लैहे'—पुनरुक्तिप्रकाश।

जो पै राखति हौ पहिचानि।
तौ वारेक मेरे मोहन को मोंहि देहु दिखाई आनि॥
तुम रानी वसुदेव गिरहिनी हम अहीर ब्रजवासी।
पठै देहु मेरो लाल लड़ैतो वारौं ऐसी हांसी॥
भली करी कंसादिक मारे अवसर-काज कियो।
अब इन गैयन कौन चरावै भरि-भरि लेत हियो॥
खान, पान परिधान, राजसुख केतोउ लाड़ लड़ावै।
तदपि सूर मेरो यह बालक माखन ही सचु पावै॥३७७॥

शब्दार्थ—पहिचानि=सम्बन्ध। वारक=एक वार। आनि=लाकर। पठै देहु=भेज दो। वारो ऐसी हाँसी=ऐसी हँसी चूल्हे मे जाय। परिधान=वस्त्राभूषण। केतोउ=कितना ही। सचु=सुख।

प्रसंग—माता यशोदा पथिक के द्वारा देवकी को सदेश भेजती हैं, जिसमें

मातृ-हृदय की पावनता, धन-वैभव और राजसुख की अपेक्षा सरल-जीवन के प्रति आसक्ति आदि की सहज अभिव्यक्ति हुई है।

व्याख्या—हे पथिक ! तुम मथुरा जाकर देवकी को यह सन्देश देना कि यदि तुम मेरे साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध रखना चाहती हो, व्यावहारिकता बनाये रखना चाहती हो तो एक बार मेरे लाड़ले मोहन को लाकर मुझे उसके दर्शन करवा दो। उसे कहना कि तुम तो वसुदेव जी की गृहणी हो, मथुरा की रानी हो, धन, सम्पत्ति, ऐश्वर्य और सत्ता से युक्त हो और हम तो साधारण अहीर, व्रज के गाओ मे रहने वाली हैं, इसलिए हम से कोई हसी-मजाक करना भी क्या उचित है ? ऐसी हँसी भी भाड़ में जाय, जिसके लिए मुझे अपने लाल से दूर होना पडे। यह ठीक है कि अक्रूर कुछ दिन के लिए कृष्ण को साथ ले गए थे किन्तु अब तो बहुत दिन हो गए, अब मेरे लाड़ले कृष्ण को अवश्य भेज दो। यह ठीक है कि अवसर के अनुकूल कृष्ण ने आचरण किया और अपने कर्त्तव्य का पालन करते हुए कंस आदि राक्षसों का वध किया किन्तु अब तो वह कार्य भी समाप्त हो गया है। अब तो कृष्ण को वापिस भेज दो क्योंकि यहाँ गौएँ कृष्ण के वियोग मे आहे भरती रहती है, उनको वन मे चराने के लिए कौन ले जा सकता है ? हे देवकी ! तुम श्रीकृष्ण को भले ही खाने, पीने, वस्त्राभूषणो तथा अन्य राजसी सुखो से कितने ही लाड लडा लो किन्तु यह स्मरण रखो कि मेरे इन लाडलो को सच्चा सुख केवल माखन खाने से ही मिलता है और यह माखन व्रज मे ही प्राप्त हो सकता है। इसलिए कृष्ण और बलराम को यहाँ भेज दो।

विशेष—उक्त पद मे यशोदा के वात्सल्य, स्वाभिमान तथा भावुकता का सुन्दर समन्वय हुआ है। सरल भाषा मे मातृ-हृदय की अभिव्यक्ति करने मे कवि को विशेष सफलता मिली है।

अलंकार—(१) 'अब इन···हियो'—पुनरुक्तिप्रकाश।

(२) 'खान पान···लडावै'—अनुप्रास।

कुब्जा-संदेश

मो पै काहे को झुकति ब्रजनारी ?

काहू के भाग मों साझो नाहिन, हरि की कृपा नियारी ॥

फलन माँझ जैसे करुई तूमरि रहति जो घूरे डारी।
हाथ परी जब गुनी जनन के बाजति राग दुलारी ॥
यह सँदेस कुब्जा कहि पठयो अरु कीन्ही मनुहारी।
तन टेढ़ी सब कोउ जानत, परसे भइ अधिकारी ॥
हौं तो दासी कसराय की, देखहु हृदय विचारी।
सूर स्याम करुनाकर स्वामी अपने हाथ सँवारी ॥३७८॥

शब्दार्थ—झुकति=कोप करती हो। साझो=हिस्सा। नियारी= अनोखी। घूरे=कूडे। पठ्यो=भेजा। परसे=छूने।

प्रसग—गोपियों की अनेक जली कटी बाते सुनकर कुब्जा के मन की प्रतिक्रिया प्रस्तुत पद मे प्रकट की गयी है। कुब्जा कृष्ण की कृपा के प्रति आभार मानती हुई कहती है।

व्याख्या—हे व्रजवासिनी गोपिकाओ, मुझ पर किस लिए क्रुद्ध होती हो, श्रीकृष्ण का मुझ से प्रेम है इसमे मेरा तो कोई दोष नही यह तो सब उस प्रभु की अपार कृपा का प्रतिफल है। मै किसी के भाग्य में साझीदार नही, यह तो प्रभु की अनोखी कृपा है जो उन्होने मुझे अपना लिया। जिस प्रकार फलो मे कड़वी तूमरी सबसे निकृष्ट होने के कारण कूडे-कर्कट के ढेर पर पडी रहती है किन्तु वही तूमरी जब किसी गुणवान व्यक्ति के हाथो मे पड जाती है तो वही सुन्दर सरस राग बजाने लगती है। कुब्जा ने यह सदेश गोपियों को भेजा और साथ ही अनुरोध किया कि मै तो शरीर से सर्वथा टेढी हूँ, सारा जगत् जानता है कि मैं अत्यन्त कुरूप हूँ, यह तो केवल श्रीकृष्ण का स्पर्श पाकर मै उनके प्रेम की अधिकारिणी बन सकी हूँ। मेरी तो कोई भी योग्यता नही, केवल भगवान् की अनुकम्पा मात्र है। जरा अपने मन मे विचार करो कि मैं तो राजा कस की दासी थी जिसे अपार दयालु परम प्रिय स्वामी ने करुणा मे भर कर मुझे अपने हाथो से सजाया है।

विशेष—कुब्जा के प्रति गोपियो के व्यंग्य अत्यन्त तीखे, कटीले और विरोधी भाव थे किन्तु उक्त पद मे कुब्जा को भी भगवान् की समर्पित प्रेमिका के रूप मे प्रस्तुत करके कवि ने उसके व्यक्तितत्व को नवीनता प्रदान की है।

अलंकार—'फलन माझ'.....'अधिकारी'—दृष्टान्त

उद्धव-गोपी-संवाद

उद्धव-वचन

हौं तुम पै व्रजनाथ पठायो। आतमज्ञान-सिखावन आयो॥
आपुहि पुरुष आपुही नारी। आपुहि बानप्रस्थ व्रतधारी॥
आपुहि पिता, आपुही माता। आपुहि भगिनी, आपुहि भ्राता॥
आपुहि पंडित, आपुहि ज्ञानी। आपुहि राजा, आपुहि रानी॥
आपुहि धरती, आपु अकासा। आपुहि स्वामी, आपुहि दासा॥
आपुहि ग्वाल, आपुहि गाई। आपुहि आप चरावन जाई॥
आपुहि भँवर, आपुहि फूल। आतम ज्ञान बिना जग भूल॥
रक राव दूजो नहिं कोय। आपुहि आप निरंजन सोय॥
यहि प्रकार जाको मन लागै। जरा, मरन, जी तें भ्रम भागै॥

शब्दार्थ—पठायो=भेजा गया। आतमज्ञान=ब्रह्म-ज्ञान। रक= भिखारी। राव=राजा। जरा=वृद्धावस्था।

प्रसंग—'भ्रमरगीत' प्रसग मे महाकवि सूरदास ने उद्धव और गोपियो के सवाद मे सगुणभक्ति के महत्व, स्वरूप तथा निर्गुण-ब्रह्म के ज्ञान और उसे प्राप्त करने के मार्ग का प्रतिपादन किया है। प्रस्तुत पद मे निर्गुण की व्यापकता का वर्णन किया गया है। उद्धव मथुरा से आए है, उनके मुख से निर्गुण-ब्रह्म के तत्वज्ञान की अभिव्यक्ति की गई है।

व्याख्या—उद्धव कहते है कि हे गोपियो! मुझे आपके पास व्रज के स्वामी श्रीकृष्ण ने भेजा है। मैं आपको ब्रह्मज्ञान की शिक्षा देने आया हूँ। याद रखो केवल ब्रह्म ही सत्य है शेष सब कुछ नश्वर है। यह आत्मज्ञान सभी को प्राप्त होना चाहिए। क्योकि इसके बिना मानव की मुक्ति नही, उसके भ्रम का निवारण नही होता। उद्धव गोपियों को यही समझाते हैं कि आत्मज्ञान अथवा ब्रह्मज्ञान होने पर जीव माया जाल से मुक्त हो जाता है। ससार मे जो कुछ भी दिखाई देता है वह सभी नाशवान है किन्तु ब्रह्म तो ससार के नानाविध रूपो में फैले हुए है। निर्गुण-ब्रह्म ही एक मात्र सत्य है, वह स्वय पुरुष है, स्वय ही नारी है। वह ब्रह्म स्वयं ही वानप्रस्थ व्रत को धारण करने वाला है। वह स्वयं ही पिता, माता, बहन, भाई है और स्वय ही पण्डित, ज्ञानी, राजा तथा रानी है, जितने प्रकार के

नाते रिश्ते है वे सभी निर्गुण-ब्रह्म से ही बने है। वही ब्रह्म पृथ्वी भी है और आकाश भी, स्वामी भी है और दास भी है। वह स्वय ही ग्वाल है और स्वयं ही गाय है। इसीलिए वह स्वयं ही अपने आपको चराने वाला कहता है। वह ब्रह्म ही भंवरा है जो फूलों का रसपान करता है और आत्मज्ञान के बिना यह जगत् तो केवल एक भूल है। यह जो ससार के नाते-रिश्ते है उनसे न तो कोई राजा है और न ही भिखारी, यह तो सबमें उस निरजन निराकार की शक्ति ही विद्यमान है। जिस किसी व्यक्ति का मन उस निर्गुण, निराकार परात्पर ब्रह्म से लग जाता है उसके मन मे वृद्धावस्था और मृत्यु का भय समाप्त हो जाता है, उसके मन से सभी प्रकार का अज्ञान और भ्रम समाप्त हो जाता है।

विशेष—उक्त पद मे उद्धव ने अद्वैतवाद के आधार पर निर्गुण-ब्रह्म का प्रतिपादन किया है। इस मत के अनुसार सत्य केवल ब्रह्म ही है अन्य सभी स्वरूप अथवा संबन्ध तो नश्वर, मिथ्या और भ्रम मात्र ही है।

अलंकार—'आपुहि पुरुष···जग भूल'—उल्लेख।

गोपी-वचन

सुनु ऊधो ! ह्याँ कौन सयानो ? । तुम तौ महापुरुष बड़ज्ञानी ।।
जोगी होय सो जोगहि जानै । नवधा भक्ति सदा मन मानै ।।
भाव-भगति हरिजन चित धारे । ज्योति-रूप सिव सनक बिचारे ।।
तुम कह रचि रचि कहत सयानो । अबला हरि के रूप दिवानी ।।
जात पीर बभा नहिं जानै । बिनु देखे कैसे रुचि मानै ।।
फिरि फिरि कहे वहै सुधि आवै । स्यामरूप बिनु और न भावै ।।
जोग-समाधि जोति चित लावै । परमानंद परमपद पावै ।।
नवकिसोर को जबहिं निहारै । कोटि ज्योति वा छवि पै वारै ।।
सजल मेघ घनस्याम-सरीर । रूप ठगी हलधर के वीर ।।
सिर श्रीखंड, कुंडल, बनमाल । क्यों बिसरै वै नयन विसाल ?
मृगमद तिलक अलक घुँघरारे । उन मोहन मन हरे हमारे ।।
भ्रकुटी विकट, नासिका राजै । अरुन अधर मुरली कल वाजै ।।
दाडिम-दसन-दमक द्युति सोहै । मृदु मुसकानि मदन-मन मोहै ।।

चारु चिबुक, उर पर गजमोती। दूरि करत उडुगन की जोती ।।
कंकन, किंकिनि, पदिक विराजै। चलत चरन कल नूपुर बाजै ।।
वन की धातु चित्र तनु किए। वह छवि चुभि जु रही हम हिये ।।
पीत वसन छवि वरनि न जाई। नखसिख सु दर कुँवर कन्हाई ।।
रूपरासि ग्वालन को संगी। कब देखैं वह रूप त्रिभंगी ।।
जो तुम हित की बात सुनावौ। मदनगोपालहि क्यों न मिलावौ ?

शब्दार्थ—नवधा=नौ प्रकार की। जात-पीर=प्रसव की पीड़ा। बझा=बाँझ। सुधि=याद। कोटि ज्योति=करोडो प्रकार का प्रकाश फैलाने वाला। सजल=जल से भरे। श्रीखण्ड=चन्दन। मृगमद=कस्तूरी। अलक=बाल। भृकुटी=भवें। दाड़िम=अनार। दुति—प्रकाश। चिबुक=ठोड़ी। उडुगन=तारे। किंकिनी=तड़ागी। रूपरासि=रूप का भण्डार।

प्रसग—उद्धव ने ब्रह्मज्ञान का उपदेश दिया, जिसे सुनकर सगुण ब्रह्म की उपासिकाओ को आश्चर्य और दुख होना स्वाभाविक था। प्रस्तुत पद मे गोपियाँ उद्धव को उत्तर देती है।

व्याख्या—हे उद्धव ! तुम तो बहुत बड़े ज्ञानी, विद्वान, चतुर महापुरुष हो जो इस प्रकार के गूढ तत्व को समझते हो तथा दूसरो को उसका उपदेश भी देते हो किन्तु विचार करो तो यहाँ पर हम मे कौन इस प्रकार की चतुर और योग्य है जो तुम्हारे ब्रह्म ज्ञान को समझ सके। इस योग मार्ग को तो कोई योगी ही समझ सकता है, हमारा मन तो नवधा भक्ति मे ही मग्न रहता है भगवान् के भक्त तो अपने मन मे केवल भावभक्ति को ही स्वीकार करते हैं, उनके लिए सगुण भगवान् उनके साथ रहते है। ज्योतिरूप ब्रह्म की आराधना करते हुए शिव और सनकादि ऋषि-मुनि उस ज्योतिरूप को प्राप्त न कर सके। तुमने तो अपनी बात को तरह-तरह से बना कर गाया है किन्तु हम सभी गोपियाँ तो केवल अपने कृष्ण के रूप सौन्दर्य मे ही मग्न है, हमे उसके अतिरिक्त किसी भी तत्त्व ज्ञान की आवश्यकता नही है। हे उद्धव ! बाँझ स्त्री को प्रसव पीड़ा का अनुभव नही होता, उसी प्रकार निर्गुण-ब्रह्म के दर्शन न करने से उसके साथ प्रेम कैसे हो सकता है ? निर्गुण-ब्रह्म को आँखो से देख लेने पर ही तो उससे प्रेम हो सकता है। तुम तो बार-बार अपने

निर्गुण-ब्रह्म का गुणगान करते जा रहे हो किन्तु हमे उसमे भी अपने श्याम की याद आती है, हमे तो श्यामसुन्दर के स्वरूप और दर्शन के अतिरिक्त कुछ भी अच्छा नही लगता ।

जो व्यक्ति ज्योतिरूप ब्रह्म मे मन लगाकर योग की समाधि लगाए, उसे कैवल्य मुक्ति प्राप्त होगी, वह परमानन्द को पाकर मोक्ष प्राप्त करेगा । किन्तु हम जब भी किशोरावस्था को प्राप्त श्रीकृष्ण के रूप सौन्दर्य को देखती है तो उस परम सौन्दर्य धाम, रसरूप निर्गुण-ब्रह्म की करोड़ो ज्योति न्यौछावर कर देती हैं । कृष्ण के अतुल सौन्दर्य के समक्ष तुम्हारे निर्गुण-ब्रह्म का सौन्दर्य तो कुछ भी महत्त्व नही रखता । घनश्याम के सांवले शरीर का रंग जल से भरे बादलों के समान है, हमे तो हलधर के भाई कृष्ण के सौन्दर्य ने ठग-सा लिया है, मोहित कर लिया है । उनके मस्तक पर चन्दन का तिलक, कानो मे कुण्डल तथा गले मे वनमाला शोभा देती है, इस प्रकार बड़े-बडे नेत्रो वाला कृष्ण कैसे भूला जा सकता है । जिसने कस्तूरी का तिलक किया हुआ है और जिसके घुँघुराले काले केश हैं उस कृष्ण ने हमारे मन का हरण कर लिया है । तिरछी भौहो और तीखी नाक से शोभित कृष्ण के लाल-लाल ओठो पर रखी हुई मधुर मुरली बजती रहती है, उनके दाँतो की चमक बिजली तथा अनार के दानो के समान है, मधुर मुस्कान से तो वह कामदेव का मन भी मोहित कर लेने है । सुन्दर ठोड़ी, हृदय पर गजमोतियो की माला इतनी आकर्षक है कि वह तारो की चमक को भी दूर करती है । कृष्ण के हाथो मे कगन, कमर मे तडागी तथा वक्ष पर पदक विराजमान है, जब वह चलते हैं तो पैरो के नूपुर मधुर ध्वनि मे बजते हैं । इस प्रकार के सुन्दर कृष्ण की सुन्दर मूर्ति गेरू के रग से रगी हुई हमारे मन मे घर किए हुए है । पीताम्बरधारी कृष्ण के सौन्दर्य का वर्णन नही किया जा सकता । कृष्ण कन्हैया तो नखशिख से सुन्दर है । ऐसे रूप-सौन्दर्य के आगार, गोपियो के साथ क्रीडा करने वाले उस त्रिभगी के दर्शन हमे कब होगे ? हे उद्धव ! यदि तुम हमारे हित की बात करते हो तो उस मदनगोपाल को लाकर क्यो नही मिला देते ?

विशेष—उपरोक्त पद मे निर्गुण-ब्रह्म का प्रतिवाद तथा सगुण ब्रह्म की प्रतिष्ठा की गई है । गोपियो ने ज्योतिरूप ब्रह्म को अप्राप्य तथा सगुण

साकार को सहज प्राप्य माना है, इसीलिए कृष्ण के नखशिख का वर्णन करके उसके स्वरूप का सौन्दर्य स्पष्ट किया गया है।

अलंकार—(१) 'सुनु ऊधो···सयानी'—वक्रोक्ति।

(२) 'फिरि फिरि···आवै'—पुनरुक्तिप्रकाश।

(३) 'सजल···वीर'—उपमा।

(४) 'पीत वसन···जाईं'—अतिशयोक्ति।

उद्धव-वचन

ताहि भजहु किन सबै सयानी ? खोजत जाहि महामुनि ज्ञानी ॥
जाके रूप-रेख कछु नाहीं। नयन मूँदि चितवहु चित माहीं ॥
हृदय-कमल मे जोति विराजै। अनहद नाद निरंतर बाजै ॥
इड़ा पिंगला सुखमन नारी। सून्य सहज में बसै मुरारी ॥
मात पिता नहिं दारा भाई। जल थल घट घट रहे समाई ॥
यहि प्रकार भव दुस्तर तरिहौ। जोग-पंथ क्रम क्रम अनुसरिहौ ॥

शब्दार्थ—ताहि=उसको। चितवहु=देखो। अनहद=वह ध्वनि जो सुनाई नही देती। निरंतर=लगातार। नारी=नाड़ी। दारा=पत्नी। घट घट=कण कण। भव=संसार। दुस्तर=कठिनता से पार हो।

प्रसंग—उद्धव के तत्वज्ञान का प्रतिवाद करके जब गोपियों ने सगुण साकार के सौन्दर्य और महत्व की प्रतिष्ठा की तो उन्हे ब्रह्म-ज्ञान और योग साधना का उपदेश देते हुए उद्धव कहते है—

व्याख्या—हे चतुर गोपियो ! आप सब उस ज्योति रूप ब्रह्म की भक्ति क्यो नही करती जिसे बड़े-बड़े मुनि, ज्ञानी आदि खोजते रहते हैं। उस ब्रह्म का कोई रूप, रग, आकार नही है, उसे अपनी आँखे बन्द कर, ससार के नश्वर पदार्थों से मुँह मोड़ कर, हृदय मे उस ज्योति रूप के दर्शन करो। वह ज्योति रूप ब्रह्म हृदय रूपी कमल मे निवास करता है, और उस स्थान पर निरन्तर अनहद नाद का स्वर ध्वनित होता रहता है। अनहद नाद जिसे कानो से नही सुना जाता अपितु हृदय से अनुभव किया जाता है। इस ज्योतिरूप को प्राप्त करने वाली साधना पक्ष का स्पष्टीकरण करते हुए उद्धव समझाते हैं कि उस ब्रह्म को पाने के लिए अपनी कुण्डलिनी शक्ति को जगाकर, उसके द्वारा इड़ा,

पिंगला और सुषुम्ना आदि नाड़ियो के उस पार शून्य स्थल पर सहज साधना द्वारा पाया जा सकता है। ब्रह्म शून्य स्थल मे रहते है। यह जो ससार है वह ब्रह्म इसके ऊपर है, उसका कोई पिता, माता, पत्नी अथवा भाई नही, वह अजन्मा, अमर है और विश्व के कण-कण मे परिव्याप्त है। इसको पाने के लिए, अति कठिन ससार सागर को पार करने के लिए आप सब भी योग-साधना का क्रम-क्रम से अनुसरण करो। इसी से परमानन्द की प्राप्ति होगी।

विशेष—उक्त पद मे उद्धव ने योग-साधना के क्रम का सक्षिप्त रूप से वर्णन किया है। इसमे योगियो के पारिभाषिक शब्द-सकेतो हृदय कमल, अन-हदनाद, इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना, शून्य, समाधि आदि के द्वारा परमानन्द की प्राप्ति का मार्ग बताया गया है। इसमे निर्गुण-ब्रह्म की साधना की क्लिष्टता का आभास मिल जाता है।

अलंकार—(१) 'हृदय···बाजै'—रूपक, अनुप्रास।

(२) 'मात पिता···समाई'—पुनरुक्तिप्रकाश।

गोपी-वचन

यह मधुकर ! मुख मूँदहु जाई। हमरे चित बित हरि यदुराई॥
ब्रजबासिनि गोपाल-उपासी। ब्रह्मज्ञान सुनि आवै हाँसी॥
अब लौं जोग कबहुँ नहिं आयो। मानो कुबजा-रूपहि पायो॥
खोलि सुगाहक पाय दिखायो। माधव मधुकर-हाथ पठायो॥
अबला ठगी सकल ब्रज हेरी। सो ठग ठग्यो कंस की चेरी॥
राम-जनम-तपसी जदुराई। तिहि फल बधू कूबरी पाई॥
सीता-बिरह बहुत दुख पायो। अब कुबजा मिलि हियो सिरायो॥
ज्ञान निरास कहा लै कीजै। जोग-मोट दासी-सिर दीजै॥

शब्दार्थ—मधुकर=भ्रमर। मूदहू=बन्द करो। वित=धन। उपासी उपासक। अब लौ=अब तक। सुगाहक=अच्छा ग्रहण करने वाला। हेरी= देखकर। चेरी=दासी। तपसी=तपस्वी। सिरायो=शीतल हुआ। जोग-मोट=योग की गठरी।

प्रसग—योग-साधना का उपदेश सुन कर गोपिया खीझ कर उद्धव को चुप करवाने के लिए कृष्ण के स्वभाव पर व्यग्य करती हुई कहती है—

व्याख्या—हे मधुकर ! अपना मुँह बन्द कर लो, हमें तुम्हारा उपदेश नहीं सुनना। हमारे मन मे तो केवल एक ही सम्पदा है श्रीकृष्ण, और सभी गोपिया उसी की उपासिका हैं। इसलिए तुम्हारे मुख मे ब्रह्म-ज्ञान की बातें सुनकर हम सबको हँसी आती है। अब तक तो कृष्ण ब्रज मे रहते थे, तब तो उन्हे कभी भी योग की याद नही आयी। कृष्ण ने कभी भी निर्गुण-ब्रह्म तथा योग-साधना का उपदेश नही दिया। किन्तु अब ऐसा प्रतीत होता है कि उन्हे कुब्जा के रूप मे योग की उपलब्धि हुई है। कुब्जा ने कृष्ण को अच्छा ग्राहक समझ कर यह योग-मार्ग दिखाया है और कृष्ण ने हम सबको इसके लिए अच्छा पात्र समझ कर तुम्हारे हाथो यह सन्देश भेजा है। किन्तु उद्धव ! यहाँ तो कृष्ण भी धोखा खा गए हैं। जिसने अपने अलौकिक सौन्दर्य और चचल चितवन से देखकर सभी ब्रजवासिनी गोपियों का मन हरण कर लिया है, जिसकी मोहिनी ने सभी को ठग लिया है उसी ठग को कस की दासी कुब्जा ने ठग लिया है। उसी ने कृष्ण को योगमार्ग की शिक्षा देकर अपने आधीन कर लिया है।

ऐसा लगता है कि पूर्व जन्म मे जब कृष्ण राम के रूप में अवतरित हुए थे तो उन्होने सीता के वियोग मे अति कठिन तपस्या की थी, उसके वियोग का सन्ताप सहन करना पडा था परन्तु अब तो कुब्जा को पाकर हृदय शीतल हो गया होगा। हे उद्धव ! हम सभी तो कृष्ण के वियोग मे तड़प रही हैं, हम तुम्हारा यह ज्ञान लेकर क्या करेगी ? हमे तो केवल कृष्ण-दर्शनो की लालसा है। यह योग-साधना रूपी गठरी यहाँ से ले जाओ और जाकर उसी कुब्जा के सिर पर पटको। यह मार्ग तो ऐसे ही लोगो के लिए उपयुक्त है।

विशेष—इस पद मे गोपियो के हृदय में व्याप्त कृष्ण-प्रेम की अभिव्यक्ति हुई है। इसी के साथ कृष्ण और कुब्जा को लेकर जो व्यग्य किया गया है उसमे गोपियो की भावुकता और वाग्विदग्धता का सुन्दर परिचय मिलता है।

अलंकार—(१) 'अबला ठगी···की चेरी'—अनुप्रास।

(२) ज्ञान निरारा···दीजै'—रूपक।

उद्धव-वचन

वह अच्युत अविगत अविनाशी। त्रिगुन-रहित वपु, धरे न दासी ॥
हे गोपी ! सुनु बात हमारी। है वह सून्य सुनहु ब्रजनारी ॥

नहिं दासी ठकुराइनि कोई। जहँ देखहु तहँ ब्रह्महि सोई॥
आपुहि औरहि ब्रह्महिं जानै। ब्रह्म बिना दूसर नहिं मानै॥

शब्दार्थ—अच्युत=सदा स्थिर रहने वाला। अबिगत=जिसके पास पहुँचा न जा सके। त्रिगुण=सत, रज तथा तम गुण। वपु=शरीर। ठकुराइनि=स्वामिनी। ब्रह्महि=ब्रह्म ही।

प्रसंग—गोपियो का व्यंग्य सुनकर भी उद्धव अपने निर्गुण-ब्रह्म का बार-बार प्रतिपादन करते हुए गोपियो को समझाते है।

व्याख्या—हे गोपियो! हमारी बात सुनो और समझो। वह ब्रह्म निर्गुण-निराकार होकर भी सर्वव्यापक और सर्वशक्तिमान है। वह न तो अपने स्थान से च्युत होता है, न ही उस तक पहुँचा जा सकता है और न ही उसका कभी नाश होता है। वह सत, रज तथा तम तीनो गुणो से रहित है, अजन्मा और अमर है। ऐसे ब्रह्म को कोई भी अपने वश मे नही कर सकता। हे व्रज की गोपिकाओ, हमारी बात सुनो, समझो और विश्वास रखो कि वह ब्रह्म सर्वदा शून्य है, निर्गुण है। उसके लिए न तो कोई दासी है और न ही कोई स्वामिनी है। सम्पूर्ण ससार जहाँ तक भी है उसे ब्रह्ममय ही समझो। संसार की प्रत्येक वस्तु को ब्रह्म के रूप मे ही देखो, जब कोई व्यक्ति अपने और दूसरो को ब्रह्म ही समझ लेता है, ब्रह्म के विना किसी दूसरे को नही मानता, उसी को मोक्ष मिलता है, परमानन्द की प्राप्ति होती है।

विशेष—इस पद मे भी निर्गुण-ब्रह्म की महत्ता को ही प्रतिपादित किया गया है। जो आदि मध्यान्त हीन है, जो गुणातीत है, उसकी व्यापकता और शक्ति का परिचय इस पद मे दिया गया है।

अलंकार—'वह अच्युत''''''न दासी—अनुप्रास।

गोपी-वचन

बार बार ये बचन निवारो। भक्ति-बिरोधी ज्ञान तुम्हारो॥
होत कहा उपदेसे तेरे? नयन सुबस नाहीं, अलि, मेरे॥
हरिपथ जोवत निमिष न लागै। कृस्न-बियोगिनि निसिदिन जागै॥
नंदनंदन के देखे जीवै। रुचि वह रूप, पवन नहिं पीवै॥
जब हरि आवैं तब सुख पावै। मोहन मूरति निरखि सिरावै॥
दुसह बचन अलि हमहिं न भावै। जोगकथा ओढ़ै कि दसावै॥

शब्दार्थ—निवारो=हटाओ। सुबस=स्ववश, अपने वश। जोवत=देखते हुए। निमिष=पलक। सिरावै=शीतल होना। डसावै=विछाये।

प्रसंग—उद्धव द्वारा बार-बार निर्गुण-ब्रह्म का उपदेश सुनकर गोपियाँ उसे रोकती हैं।

व्याख्या—हे उद्धव ! तुम बार-बार निर्गुण-ब्रह्म का उपदेश देते जा रहे हो, इसे बन्द कर दो, क्योंकि, हमे तुम्हारी ये बाते नही सुननी। तुम्हारा यह ज्ञानमार्ग हमारी सगुण-साकार के प्रति रागानुगाभक्ति का विरोधी है, इसलिए हमे वह मार्ग या उससे सम्बद्ध सिद्धान्तो को सुनने की इच्छा नही। उद्धव ! आप उपदेश दे रहे हो किन्तु इससे कुछ भी लाभ नहीं होगा। क्योंकि तुम्हारा यह ज्ञान मार्ग केवल श्रवण और मनन के योग्य है जबकि हमारी आँखो ने श्रीकृष्ण के जिस स्वरूप को देखा है वह मन पर छाया हुआ है और आज कृष्ण के पास न रहने पर भी हमारी आँखे चारो ओर उसी सौन्दर्य धाम को ढूँढती रहती हैं। ये आँखे मेरे वश मे नही। जब से श्रीकृष्ण मथुरा चले गए हैं ये आँखे हर समय उनके लौटने की राह देख रही हैं, पल भर के लिए भी इनकी पलके झपकती नही। कृष्ण की वियोगिनी आँखे रात-दिन जागती रहती है इसलिए भी तुम्हारा ब्रह्मज्ञान सुनने की हमे कोई इच्छा नही है। हम तो नन्द-नन्दन श्रीकृष्ण को देखकर ही जीवित रह सकती है, हमारी रुचि केवल कृष्ण के रूप सौन्दर्य को देखना है, तुम्हारे निर्गुण-ब्रह्म की साधना करते हुए, प्राणायाम करते हुए वायु का भक्षण कौन करेगा ? हम तो तभी सुख पायेगी जब श्रीकृष्ण लौट कर आयेंगे और हमें दर्शन देगे। मोहन की मूर्ति देखकर ही हमारा मन शीतल होगा। उद्धव ! तुम्हारे कठोर वचन हमे अच्छे नही लगते, यह ज्ञान और योग की बातें हम सुनना नही चाहती। तुम्हारी योगकथा को अपनाकर हम उसे ऊपर ओढे या नीचे विछायें ? यह हमारे किसी काम की नही।

विशेष—इस पद मे गोपियो की रागानुगाभक्ति मे अनन्यता की सफल अभिव्यक्ति हुई है।

अलंकार—(१) 'बार बार……निवारो'—पुनरुक्तिप्रकाश।

(२) 'हरिपथ……न लागे'—श्लेप।

उद्धव-वचन

ऊधो कहै, धन्य ब्रजबाल। जिनके सर्बस मदनगोपाल ।।
वह मत त्याग्यो, यह मति आई। तुम्हरे दरस भगति मै पाई ।।
तुम मम गुरु मै दास तुम्हारो। भगति सुनाय जगत निस्तारो ।।
'भ्रमरगीत' जे सुनै सुनावै। प्रेमभक्ति सो प्रानी पावै।
सूरदास गोपी बड़भागी। हरिदरसन की ठगौरी लागी ।।३७६।।

शब्दार्थ—सर्बस=सर्वस्व। मति=बुद्धि। मम=मेरी। निस्तारो= मुक्ति दो। ठगौरी=जादू।

प्रसंग—गोपियो की भक्तिभावना देखकर उद्धव का मन इतना द्रवित हुआ कि वह गोपियो को अपना गुरु मानकर स्वय ही सगुण साकार भक्ति का अनुयायी हो जाता है। इस पद मे उद्धव की मन.स्थिति का चित्रण किया गया है।

व्याख्या—उद्धव कहने लगे कि हे व्रज बालाओ ! आप सभी धन्य है। जिनके सर्वस्व स्वय भगवान् श्रीकृष्ण है, मदनगोपाल है, आपकी अनन्य भक्ति, कृष्ण के प्रति अपार श्रद्धा देखकर मैने अपना मत ज्ञानमार्ग तथा योगसाधना को त्याग दिया है और अब मुझे समझ आ गई है। वस्तुत: आपके दर्शन करके ही मुझे भक्ति भावना प्राप्त हुई है। हे गोपियो ! आप मेरी गुरु है और मै आपका दास हूँ। आपने ही मुझे भक्ति भावना सुना कर जगत् से मुक्ति का मार्ग दिखाया है।

जो लोग 'भ्रमरगीत' को प्रेम और श्रद्धा से सुनेगे तथा दूसरो को सुनायेंगे, वे लोग इस रागानुगाभक्ति को प्राप्त करेगे। गोपियाँ बहुत भाग्यशालिनी हैं जिन्हे श्रीकृष्ण के दर्शन की ललक है, जिन के मन पर केवल एक ही जादू छाया हुआ है। कृष्ण के दर्शन का जादू इतना तीव्र है कि वे हर समय कृष्ण दर्शन के लिए व्याकुल रहती है।

विशेष—इस पद मे रागानुगाभक्ति की श्रेष्ठता स्थापित की गई है। भ्रमरगीत का लक्ष्य है निर्गुण भक्ति की अपेक्षा सगुणभक्ति की प्रतिष्ठा, सूरदास जी ने इस लक्ष्य पूर्ति मे सफलता पाई है।

मथुरा लौटने पर उद्धव का वचन कृष्ण-प्रति

माधव जू ! मै अति सचु पायो ।
अपने जानि सदेस-व्याज करि व्रजजन-मिलन पठायो ।।
छमा करो तौ करौं वीनती जो उत देखि हौं आयो ।
श्रीमुख ज्ञानपथ जो उचर्‌यो तिन पै कछु न सुहायो ।।
सकल निगम-सिद्धांत जन्म-स्रम स्यामा सहज सुनायो ।
नहि स्रुति, सेष, महेस, प्रजापति जो रस गोपिन गायो ।।
कटुक कथा लागी मोहि अपनी, वा रस-सिंधु समायो ।
उत तुम देखे और भाँति मैं, सकल तृषाहि वुझायो ।।
तुम्हरी अकथ-कथा तुम जानो हम जन नाहि वसायो ।
सूरदास सुंदर पद निरखत नयनन नीर वहायो ।।३८०।।

शब्दार्थ—सचु=सुख । संदेस-व्याज=सदेश के वहाने । पठायो=भेजा । उत=उधर । उचर्‌यो=कहा । निगम=वेद । जन्म-स्रम=जन्म भर का परिश्रम । स्यामा=राधा । स्रुति=वेद । सेष=शेषनाग । प्रजापति=ब्रह्मा । रस=आनन्द । कटुक=कड़वी । रस-सिंधु=आनन्द सागर । तृषाहि=प्यास । वसायो=वस मे होना ।

प्रसंग—गोपियो की प्रेमाभक्ति को अपनी आँखो से देखकर, गोपियो की अनन्यता से प्रभावित उद्धव भी ज्ञानमार्ग भूलकर प्रेमाभक्ति के अनुयायी हो जाते है । उद्धव जिस समय लौटकर मथुरा पहुँचे तो कृष्ण के समक्ष उपस्थित होकर अपनी दशा वताते है ।

व्याख्या—हे माधव ! आपने मुझे व्रजभूमि मे भेजा था, वहाँ जाकर मैंने अत्यधिक सुख प्राप्त किया है । आपने तो अपना सदेश देने के वहाने मुझे व्रजवासियो से मिलने के लिए भेजा था । अव वहाँ की स्थिति या समाचार कहने से पूर्व मैं आपसे क्षमा याचना करके विनती करता हूँ कि जो कुछ मैं वहाँ देखकर आया हूँ, उसने तो मेरे जीवन की धारा ही पलट दी है । आपने अपने मुख से ज्ञान-मार्ग का जो वर्णन किया था, मैंने उस सिद्धान्त को कई प्रकार से गोपियों को सुनाया किन्तु वे सभी आपकी प्रेमाभक्ति मे इतनी निमग्न हैं कि उन्हे मेरी कोई बात भी अच्छी नही लगी । ज्ञानपथ अथवा योगसाधना उनके

लिए सर्वथा अनुपयुक्त सिद्ध हुए है। सम्पूर्ण वेदो मे जिन सिद्धान्तो का निरूपण किया गया है, आजीवन साधना करने पर भी जो सिद्धान्त समझ पाना अत्यन्त कठिन है, उन सभी सिद्धान्तो का सार श्री राधिका जी ने सहज-सरलता से कह दिया है। वस्तुतः जो भक्ति-रस गोपियो ने गाया है, भक्ति का जो आनन्द उन्होने प्रकट किया है उस महिमा को सम्पूर्ण वेद, शेषनाग, भगवान् शिव अथवा स्वय ब्रह्मा भी नही कह सकते।

ब्रज मे भक्ति रस का जो सागर उमड़ा हुआ है उसमे मै इतना निमग्न हो गया था कि गोपियो के सामने ज्ञान और योग की बात करते हुए मुझे स्यय ही कडवी लग रही थी। वहाँ जाकर तो मैने आपको भी दूसरे ही रूप मे देखा। यहाँ पर तो आप राजराजेश्वर, परमशक्तिशाली, योगी और ज्ञान के भण्डार हैं किन्तु वहाँ आपको लीला पुरुषोतम तथा रसेश्वर रूप मे देखा, जिसे देखकर मेरे मन की सभी प्यास बुझ गई। हे प्रभु! आपकी कथा तो अकथनीय है, वस्तुतः इस कथा को तो केवल आप ही जानते है, हम सामान्य ससारी भला उसको कहाँ समझ सकते है। जीवो के वश में भगवान् का वर्णन करना सभव नही। इस प्रकार श्रीकृष्ण से बाते करते हुए उद्धव भगवान् के चरणो मे देखते-देखते आँसू बहाने लगते हैं।

विशेष—रागानुगाभक्ति बौद्धिक तर्कों से ऊपर है, अनुभूति जन्य है। इस पद मे उद्धव के उद्गारो को प्रकट करते हुए भक्ति की महत्ता स्पष्ट की गई है। कृष्ण चरणो मे देखते-देखते आँसू बहाने वाले उद्धव से यही संकेत मिलता है कि सगुण का उपासक उपास्य की निकटता पाकर परमानन्द की अनुभूति पा लेता है।

अलंकार—(१) 'सकल······गोपिन गायो'—अतिशयोक्ति।
(२) 'सूरदास······नीर बहायो'—अनुप्रास।

दिन दस घोष चलहु गोपाल।
गैयन की अवसेर मिटावहु भेटहु भुज भरि ग्वाल॥
नाचत नहीं मोर वा दिन तै आए बरषा-काल।
मृग दूबरे दरस तुम्हरे बिनु सुनत न बेनु रसाल॥
बृंदावन भावतो तुम्हारो देखहु स्याम तमाल।
सूरदास मैया जसुमति के फिरि आवहु नदलाल॥३८१॥

शब्दार्थ—घोप=अहीरों का गाँव। अवसेर=दुख। भेंटहु=मिलो। दूवरे=दुवले। रसाल=मीठी। भावतो=अच्छा लगता था।

प्रसग—प्रेमाभक्ति के रस मे मग्न होकर उद्धव मथुरा लौट आये; इस पद मे उद्धव गोकुल की स्थिति को याद करके कृष्ण से व्रज चलने की प्रार्थना करते है।

व्याख्या—हे गोपाल! दस एक दिन के लिये गोकुल को चलो, जिससे गोकुलवासियो की विरह-वेदना समाप्त हो सके। आपके वियोग मे गौएँ तथा ग्वाल सभी दुखी है, इसलिए आप चल कर गौओ को दर्शन देकर उनके दुख दूर करो, और ग्वालो को आलिगन मे बाँध कर मिलो, जिससे उनकी सभी उदासीनता समाप्त हो सके। हे कृष्ण! जिस दिन से आप व्रज को त्याग कर आ गये है तब से मोरो ने नाचना त्याग दिया है, अब तो वर्षाकाल आने पर भी वे नही नाचते क्योकि उनका ध्यान सदा आपके दर्शन करने को आतुर है। आपके दर्शन न कर सकने और आपकी मधुर मुरली के मादक स्वर न सुन पाने के कारण सभी मृग अत्यन्त दुर्वल हो गए हैं। हे गोपाल! आपको भी तो वृन्दावन बहुत अच्छा लगता है। अब एक बार वहाँ जाकर अपने शरीर के समान सुन्दर तमाल वृक्षो को देख आओ। हे नन्दलाल! एक बार व्रज मे जाकर माता यशोदा के पास अवश्य हो आओ।

विशेष—उद्धव प्रेमाभक्ति मे निमग्न हो गए तो उन्हे दूसरो के लिये सहानुभूति होने लगी। उक्त पद मे गाय, ग्वाल, मोर, मृग, तमाल वृक्ष आदि के दुखो का सकेत करके कृष्ण के हृदय मे उन सबके लिये सहानुभूति उत्पन्न करने का सफल प्रयत्न किया गया है।

अलकार—'नाचत मोर···रसाल'—उत्प्रेक्षा।

अब अति पंगु भयो मन मेरो।
गयो तहाँ निर्गुन कहिवे को, भयो सगुन को चेरो॥
अति अज्ञान कहत कहि आयो दूत भयो वहि केरो।
निज जन जानि जतन ते तिनसो कीन्हों नेह घनेरो॥
मै कछु कही ज्ञानगाथा ते, नेकु न दरसति नेरो।
सूर मधुप उठि चल्यो मधुपुरी वोरि जोग को वेरो॥३८२॥

शब्दार्थ—पंगु=लगडा। कहिवे की=कहने के लिये। चेरो=दास।

केरो=का। बिनसो=उनसे। नेकु=तनिक। नेरो=निकटता। बोरि=डुबा-कर। वेरो=वेड़ा।

प्रसग—गोपियो की प्रेमाभक्ति से पराजित होकर अपनी हीनता को मानते हुए उद्धव कृष्ण के सम्मुख अपनी बात प्रकट करते हैं।

व्याख्या—हे प्रभु! मै जब से मथुरा लौटा हूँ तभी से मेरा मन एकदम असमर्थ, लगडा हो गया है। गोकुल जाकर मेरी सम्पूर्ण चंचलता समाप्त हो गयी है, पहले मैं अपने ज्ञान के अभिमान मे भटकता रहता था। किन्तु गोपियो का दर्शन करके मेरा मन भक्ति भावना मे स्थिर हो चुका है। कहने के लिये तो मैं गोपियो को अपने अज्ञान की बाते कह आया हूँ किन्तु उन पर उनका कोई प्रभाव नही पडा। उन्होने मुझे अपने ही परिवार का एक अग समझ कर मेरा सभी प्रकार से सत्कार करवाया। मैंने अनेक प्रकार से ज्ञान की गाथा कही, उनमे से किसी ने भी रुचि नही दिखाई। मेरी ज्ञान-गाथा चलती रही किन्तु गोपियाँ तो कृष्ण प्रेम मे इतनी निमग्न थी कि उन्हे उस गाथा ने प्रभावित नही किया। अपनी पराजय देखकर मै अपने ज्ञान के वेड़े को गोपियो के प्रेम सागर मे डुवा कर आ गया हूँ। मै समझ गया हूँ कि निर्गुण ब्रह्म, ज्ञानमार्ग तथा योगसाधना नीरस तथा निस्सार है। इनकी अपेक्षा सगुण साकार की रागानुगाभक्ति अधिक रोचक, आकर्षक तथा मनमोहक है। मैंने ज्ञानमार्ग को त्याग कर भक्तिमार्ग को अपना लिया है।

विशेष—इस पद मे उद्धव के माध्यम से भक्ति मार्ग की प्रतिष्ठा की गयी है, जिसे भ्रमरगीत का मूल लक्ष्य कहा जा सकता है।

अलकार—'निज जन···घनेरो'—अनुप्रास।

माधव! सुनौ व्रज को नेम।
बूझि हम षट मास देख्यों गोपिकन को प्रेम।।
हृदय ते नहिं टरत उनके स्याम राम-समेत।
अस्रु-सलिल-प्रवाह उर पर अरघ नयनन देत।।
चीर अंचल, कलस कुच, मनो पानि पदुम चढ़ाय।
प्रगट लीला देखि, हरि के कर्म, उठती गाय।।
देह गेह-समेत अर्पन कमललोचन-ध्यान।
सूर उनके भजन आगे लगै फीको ज्ञान।।३८३।।

शब्दार्थ—नेम=नियम। बूझि=समझना। टरत=बदलता। सलिल-प्रवाह=जल का प्रवाह। उर=हृदय। चीर=वस्त्र। कलस-कुच=घड़े के समान सुघड कुच। पानि=हाथ। पदुम=कमल। गेह-समेत=घर सहित।

प्रसंग—प्रस्तुत पद मे कृष्ण प्रेम मे निमग्न गोपियो की निष्ठा, कृष्ण-प्रेम मे निमग्नता का चित्रण किया गया है। उद्धव श्रीकृष्ण के समक्ष गोपियो की स्थिति का वर्णन करते हुए कहते है—

व्याख्या—हे माधव ! ब्रजवासी आपके प्रेम मे किस नियम और निष्ठा से जीवन बिता रहे हैं, यह मैंने ब्रज मे छः मास व्यतीत करके समझा है। गोपियो के प्रेम और प्रेम पर आधारित उनकी साधना कैसी है, इसे मैंने बहुत निकटता से देखा है। उनके हृदय में बलराम सहित आप की मूर्ति इस प्रकार स्थित है जो एक पल भर के लिये भी टलती नही। इस युगल-मूर्ति मे ही उनका ध्यान लगा रहता है। आपके वियोग मे आसू बहाती अपने वक्षस्थल को हाथो से दबा कर बैठी गोपिकाओ को देखकर यही प्रतीत होता है कि वे आपकी युगल-मूर्ति पर अपने नेत्रो के आंसुओ के जल का निरन्तर अर्घ्य देती रहती है। अपने अचल रूपी वस्त्र, कुच रूपी कलश और कर-कमलो को अपने हृदय में स्थित अपने आराध्य की मूर्ति पर अर्पित करती रहती हैं। वे भगवान् की लीलाओं को अपने सामने प्रगट रूप मे देखती हैं, श्रीकृष्ण के विभिन्न कर्मों का प्रत्यक्ष अनुभव करती हुई वे इतनी निमग्न हो जाती हैं, समाविस्थ सी हो जाती है और तन्मयता मे कृष्ण लीलाओ को गाने लगती हैं। कमल जैसे सुन्दर नेत्रो वाले श्रीकृष्ण के ध्यान मे वे इतनी मग्न हो जाती हैं कि उन्हें शरीर और घर-बार आदि की सुधि नही रहती, उनका सर्वस्व ही आराध्य के लिये समर्पित हो जाता है। ऐसी भक्तिभावना को देखकर मुझे अपना ज्ञान उनके सामने फीका लगा।

विशेष—इसमे गोपियो की भावुकता और एकागता का आलकारिक शैली मे चित्रण किया गया है।

अलंकार—(१) 'चीर अचल'''चढाय'—उत्प्रेक्षा, रूपक।

(२) 'देह गेह'''ध्यान'—लुप्तोपमा।

कह लौ कहिए ब्रज की बात।
सुनहु स्याम ! तुम बिनु उन लोगन जैसे दिवस बिहात ॥

गोपी, ग्वाल, गाय, गोसुत सब मलिन बदन, कृस गात।
परम दीन जनु सिसिर-हेम-हत अंबुजगन बिनु पात॥
जो कोउ आवत देखति हैं सब मिली बूझति कुसलात।
चलन न देत प्रेम-आतुर उर, कर चरनन लपटात॥
पिक, चातक बन बसन न पावहिं, बायस बलिहि न खात।
सूर स्याम संदेसन के डर पथिक न वा मग जात॥३८४॥

शब्दार्थ—कह लौं=कहाँ तक। बिहात=व्यतीत होना। मलिन बदन=उदास मुख। कृस गात=दुर्बल शरीर। सिसिर-हेम-हत=पाले के मारे हुए। अंबुजगन=कमल। बूझति=पूछती। पिक=कोयल। बायस=कौआ। वा मग=उस रास्ते।

प्रसग—प्रस्तुत पद मे उद्धव ने ब्रजवासियो की वियोगावस्था का कृष्ण के समक्ष वर्णन किया है।

व्याख्या—हे श्यामसुन्दर! मैं आपको ब्रज भूमि तथा वहाँ के निवासियो की बात कहाँ तक सुनाऊँ। आपके बिना, वियोग मे सतप्त उन लोगो के दिन किस प्रकार व्यतीत होते है। यह कहना सम्भव नही है। सभी गोपियाँ, ग्वाल बाल, गौएँ तथा बछडे जो आपको सामने पाकर हर समय आनन्दोल्लास मे मग्न रहते थे, जिन्हे दुख लेशमात्र भी नही था अब सभी के चेहरे उदास है और दुख सहते-सहते उनके शरीर भी अत्यन्त दुर्बल-क्षीण हो गये है। उन्हे देख कर ऐसा प्रतीत होता है जैसे कमल शीतकालीन हिमपात से मुरझा कर अत्यन्त हीन हो गये है। सभी गोपियाँ मथुरा से आने वाले मार्ग पर किसी को आता देखती है तो सभी मिलकर उससे आपके कुशल समाचार पूछती है। उनका हृदय प्रेम के कारण इतना आकुल हो जाता है कि वह पथिक को जाने नही देती, उसके चरणो से लिपट कर दीन-सी बनी आपकी कुशलता का समाचार पूछती रहती है।

गोपियो की आतुरता के कारण अब ब्रज के वनो मे कोयल और चातक बस नही पाते, क्योकि उनकी आवाज सुनकर गोपियो की विरह व्यथा बढ जाती है। इसलिए वे उन्हे किसी वृक्ष पर बैठने नही देती। कौए बलि का अन्न नही खाते क्योकि गोपियां उनसे कृष्ण का सन्देश, सुनना चाहती हैं अथवा अपना सदेश भेजती है। गोपियो के संदेश, आग्रह और अनुरोध से डर

कर अब तो कोई पथिक भी उस मार्ग से नही जाता ।

विशेष—इस पद मे कृष्ण विरह-जन्य आतुरता का सरस चित्रण किया गया है । प्रियतम का सन्देश पाने के लिये पथिको को रोकना, कौए के हाथ सन्देश भेजना, चातक तथा कोयल की आवाज से व्यथित होकर उन्हे उड़ाने मे नारी-हृदय की सहज अभिव्यक्ति करने में कवि पूर्णतया सफल हुआ है ।

अलकार—(१) 'गोपी···कृस गात'—अनुप्रास ।
(२) 'परम दीन···पात'—उत्प्रेक्षा ।
(३) 'पिक चातक···खात'—अतिशयोक्ति ।

उनमें पाँच दिवस जो वसिये ।
नाथ ! तिहारी सौं जिय उमगत, फेरि अपनपो कस ये ?
वह लीला विनोद गोपिन के देखे ही वनि आवै ।
मोको बहुरि कहाँ वैसो सुख, वड़भागी सो पावै ॥
मनसि, वचन, कर्मना, कहत हौं नाहिन कछु अब राखी ।
सूर काढ़ि डार्‌यो हौं ब्रज तें दूध-माँझ की माखी ॥३८५॥

शब्दार्थ—वसिवे=रहिये । सौं=सौगन्ध । अपनपो=अपनापन । मोको =मुझे । बहुरि=फिर । मनसि=मन से । कर्मना=कर्म से । माँझ= मध्य । माखी=मक्खी ।

प्रसग—मथुरा लौटकर उद्धव कृष्ण के सम्मुख गोपियो के प्रेम का वर्णन करते है ।

व्याख्या—हे कृष्ण ! यदि उन गोपियो मे कोई पाँच दिन भी रह ले तो मैं आपकी सौगन्ध खाकर कहता हूँ कि उसका मन भी प्रेम भावना की उमग से भरपूर हो जायेगा । गोपियो के प्रेम का आस्वादन करने वाला व्यक्ति अपने-पराये का भेद भूल जाता है, उसका अपनत्व भी कृष्ण भक्ति में मग्न हो जाता है । गोपियो की प्रेम-लीला, प्रेममग्नता और विनोद देखकर केवल अनुभव किया जा सकता है, उसका वर्णन नही हो सकता । मुझे तो वह सुख पुनः कहाँ मिल सकता है ? इसे तो कोई भाग्यशाली ही पा सकता है । उद्धव के मन मे आशका है कि यदि वह पुन. गोकुल मे जायेगे तो गोपियाँ

उन्हे ज्ञान का उपदेशक मान कर कही क्रुद्ध न हो जाय। हे प्रभु ! मैंने मन, वचन और कर्म से जैसा वहाँ देखा, अनुभव किया वह सब कुछ आपको बता दिया है। आपसे कुछ भी छुपाकर नही रखा। मुझे तो गोपियो ने व्रज में से ऐसे निकाल दिया है जैसे दूध मे से मक्खी निकाल कर फेंक दी जाती है।

विशेष—गोपियो का कृष्ण-प्रेम और उसके प्रभाव का सहज, रोचक तथा प्रभावी चित्रण हुआ है।

अलंकार—'सूर काढि'''माखी'—उपमा।

चित्त दै सुनौ, स्याम प्रवीन !
हरि तिहारे विरह राधे, मै जो देखी छीन।
कहन को संदेस सुंदरि, गवन मो तन कीन॥
छुटी छुद्रावलि, चरन अरुझे, गिरी बलहीन।
वहुरि उठी संभारि, सुभट ज्यो परम साहस कीन॥
बिन देखे मनमोहन मुखरो सब सुख उनको दीन।
सूर हरि के चरन-अंवुज रही आसा लीन॥३८६॥

शब्दार्थ—प्रवीन=चतुर। छीन=क्षीण, दुर्वल। गवन=चलना। छुद्रावलि=करधनी। अरूझे=उलझे। वहुरि=पुन.। सभारि=सम्भल कर। सुभट=योद्धा। अवुज=कमल। लीन=मग्न।

प्रसग—इस पद मे विरह-व्यथिता राधा की दशा का उद्धव ने वर्णन किया है।

व्याख्या—हे चतुर स्याम ! आपके वियोग मे तड़पती हुई राधा को मैने वहुत क्षीण अवस्था मे देखा है, जैसा मैंने उन्हे देखा है. उसका वर्णन ध्यान देकर सुनो। वह सुन्दरी राधे अपना सदेश देने के लिए मेरी ओर आने लगी तो उस समय उसकी करधनी कमर से गिर पडी, वह इतनी क्षीण हो गई है कि अपनी करधनी भी सम्भाल नही सकती। करधनी राधा के पैरो पर गिरी तो उसके चरण उलझ गए, क्षीण और दुर्वल राधा सम्भल न सकी और गिर पड़ी। पुन: अपने को सम्भाल कर राधा खडी हुई, उस समय राधा की हिम्मत ऐसी ही थी जैसे युद्ध-भूमि मे घायल योद्धा अपना साहस समेट कर खड़ा हो जाता है। दुर्वलता, क्षीणता, आतुरता आदि के दुख सहती हुई राधा को भले ही सभी सासारिक सुख प्राप्त है किन्तु श्यामसुंदर के दर्शन न होने के कारण

उसको सुख हेय तथा त्याज्य हैं। उसकी सभी आशाएँ तो कृष्ण के चरण कमलो मे लीन है। आप ही उसके सुख, सौदर्य आदि के आधार है।

विशेष—इस पद मे विरह-जन्य कृशता का वर्णन करते हुए कवि ने कोरे चमत्कार का सहारा न लेकर भावात्मक सरसता को प्रमुखता दी है।

अलंकार—(१) 'बहुरि उठी···कीन'—रूपक, उपमा।
(२) 'छुटी छुद्रावलि···बलहीन'—अतिशयोक्ति।

माधव ! यह ब्रज को ब्योहार।
मेरो कह्यो पवन को भुस भयो, गावत नंदकुमार॥
एक ग्वारि गोधन लै रेंगति, एक लकुट कर लेति।
एक मंडली करि बैठारति, छाक बाँटि कै देति॥
एक ग्वारि नटवर बहु लीला, एक कर्म-गुन गावति।
कोटि भाँति कै मै समुझाई नेकु न उर में ल्यावति॥
निसि वासर ये ही व्रत सब ब्रज दिन-दिन नूतन प्रीति।
सूर सकल फीको लागत है देखत वह रसरीति॥३८७॥

शब्दार्थ—पवन को भुस=व्यर्थ। रेंगति=धीरे-धीरे चलती। लकुट=लाठी। छाक =दोपहर का भोजन। रस-रीति=आनन्द त्योहार।

प्रसंग—प्रस्तुत पद मे उद्धव ने वियोगिनी गोपियो के प्रेम-व्यवहार का वर्णन किया है कि किस प्रकार वे सभी कृष्ण की विभिन्न लीलाओ की नकल करके अपने मन को सान्त्वना देने का प्रयत्न करती है।

व्याख्या—हे माधव ! व्रजवासियो, विशेष रूप मे गोपियों का व्यवहार तो बहुत ही विचित्र है। जब मैंने उन्हे निर्गुण-ब्रह्म, ज्ञान-योग तथा योगसाधना का उपदेश दिया तो किसी ने भी मेरी बातो की ओर ध्यान नही दिया। मेरा तत्व-ज्ञान तो इस प्रकार व्यर्थ हो गया है जैसे पवन के वेग से भूसा उड जाता है। गोपियो की भक्ति भावना के समक्ष मेरा तत्व-ज्ञान टिक न सका। मैं उपदेश देता रहा और वे मग्न होकर कृष्ण के गीत गाती रही। प्रत्येक गोपी किसी न किसी रूप मे कृष्ण की विभिन्न लीलाओ का अनुकरण कर रही थी। एक गोपी अपनी गौओ को लेकर वन में चराने के लिए ले जाते हुए कृष्ण के समान धीरे-धीरे चल रही थी। एक गोपी हाथ मे लाठी लेकर गौओ को लेकर चल रही थी। जिस प्रकार श्रीकृष्ण ग्वाल-मडली को एक करके खेलते अथवा

हास-परिहास करते थे उसी प्रकार एक सखी गोपियो की मण्डली बिठाने मे तल्लीन थी। एक अन्य गोपी श्रीकृष्ण के विभिन्न कर्मो और गुणो का गान कर रही थी। वियोगावस्था की तीव्रता मे सुध-बुध खोकर भी गोपियाँ कृष्ण की विभिन्न लीलाओ की नकल करने मे तल्लीन थी। यदि एक गोपी सभी ग्वालो मे छाक-दोपहर का भोजन करने को बाट रही थी तो दूसरी नटवर कृष्ण की रास लीलाओ की नकल मे सलग्न थी। इस प्रकार सभी अपने प्रियतम की स्मृति अथवा उसके क्रिया-कलापो का अनुकरण करती हुई कुछ समय की प्रसन्नता प्राप्त कर रही थी।

मैंने करोड़ो प्रयत्न किए, समझाया-बुझाया किन्तु कोई भी गोपी मेरी बातो पर ध्यान नही देती थी। उनका तो रात-दिन केवल एक ही व्रत था जिसे गोपियाँ मनाया करती थी। व्रजभूमि मे तो पावन प्रेम की नित नूतन धारा प्रवाहित होती रहती है। गोपियो की इस रसरीति को देख कर उनके सामने उद्धव को अपना ज्ञान सर्वथा फीका लगने लगा।

विशेष—उपरोक्त पद मे भक्ति की महिमा स्थापित की है। गोपियाँ रागानुगाभक्ति की प्रतीक है। उनके जीवन का प्रत्येक क्षण उस भक्ति-भावना के व्यावहारिक रूप को बनाए रखना है।

अलंकार—(१) 'मेरो···नन्दकुमार'—लोकोक्ति।

(२) 'एक ग्वारि···ल्यावति'—अनुप्रास।

(३) 'निसिवासर···प्रीति'—पुनरुक्तिप्रकाश।

कहिबे मैं न कछू सक राखी।
बुधि बिबेक अनुमान आपने मुख आई सो भाखी॥
हौं पचि कहतो एक पहर मे, वै छन माँहि अनेक।
हारि मानि उठि चल्यौ दीन ह्वै छाँड़ि आपनो टेक॥
कठ बचन न बोलि आयो, हृदय परिहस-भौन।
नयन भरि जो रोय दीन्हो ग्रसित-आपद दीन॥
श्रीमुख की सिखई ग्रंथन की कथि सब भई कहानी।
एक होय तेहि उत्तर दीजै सूर उठी अबुहानी॥३८८॥

शब्दार्थ—भाखी=कही। पचि=परिश्रम करके। टेक=जिद। परिहस

=परिहास। ग्रसित आपद=विपत्ति ग्रस्त। अवुहानी=प्रेत सा चढ़ना।

प्रसंग—व्रज-प्रवास मे अपनी असफलता का वर्णन करते हुए उद्धव कहते है कि—

व्याख्या—हे कृष्ण ! गोपियों का ब्रह्म-ज्ञान तथा उसके अंग प्रत्यग का वर्णन करने मे मैंने कुछ कमी नही छोड़ी। मैंने तो अपनी वुद्धि, ज्ञान और अनुमान के आधार पर जो कुछ कह सकता था, जो विचार मेरे मन मे उदित हुए, उन सभी को गोपियो के सामने रखा किन्तु मुझे सफलता न मिली। मैं पर्याप्त प्रयत्न करके, वडे परिश्रम से जिस तथ्य को एक पहर लगा कर कहता था, गोपियाँ क्षण भर मे ही अनेक तथ्य कह जाती थी। इस प्रकार वहुत मेहनत करके भी जव सफलता न मिली तो मैंने अपनी जिद छोड़ कर अपनी पराजय स्वीकार कर ली और दीन भाव से उठ कर चला आया हूँ। गोपियों की अनन्य भक्ति, अडिग विश्वास और समर्पित प्रेम को देख कर मेरा मन इतना मुग्ध हो चुका था कि गद्गद् कण्ठ से कोई शव्द नही निकलता था; गोपियो के परिहास से मन प्रेमाभक्ति में मग्न हो चुका था। उस समय मैं आखो मे आँसू भरकर उनके सामने इस प्रकार रो दिया था जैसे विपत्ति मे ग्रस्त होकर कोई दीन दुर्वल रो उठता है।

हे प्रभु ! आपने श्रीमुख से जो सिखाया, नाना ग्रथो के कथन का सचय करके जो सुनाया, वह सव कुछ मैने गोपियो को सुनाया किन्तु उन पर कुछ भी प्रभाव नही हुआ। वह सव कुछ तो केवल एक कहानी वन कर ही विखर गया। हे प्रभु ! उनमे से कोई एक प्रश्न करे तो उसका उत्तर दिया जा सकता था किन्तु वहाँ तो जैसे सव पर प्रेत छाया हुआ था, सभी एक साथ वोलने लगती थी। इसलिए मैं निरुत्तर होकर लौट आया हूँ।

विशेष—उक्त पद मे निर्गुण-ब्रह्म के सिद्धान्तो की नीरसता और सगुण भक्ति की सरसता का वडे कलात्मक ढग से वर्णन किया गया है। उद्धव का निरुत्तर होना वस्तुत: निर्गुण-भक्ति की पराजय है और भ्रमरगीत के कवि का यही अभीष्ट भी था।

अलंकार—'नयन भरि······दीन'—उपमा।

कहौं तो सुख आपनो सुनाऊँ।
व्रज जुव्रतिन कहि कथा जोग की क्यों न इतो दुख पाऊँ॥

हौं इक बात कहत निर्गुन की वाही मे अटकाऊँ।
वै उमड़ी बारिधि तरंग ज्यो जाकी थाह न पाऊँ॥
कौन कौन को उत्तर दीजै ताते भज्यों अगाऊँ।
वै मेरे सिर पाटी पारहिं, कंथा काहि ओढ़ाऊँ?
एक आँधरी, हिय की फूटी दौरे पहिरि खराऊँ।
सूर सकल ब्रज षटदरसी, हौ बारहखड़ी पढ़ाऊँ॥३८९॥

शब्दार्थ—इतो=इतना। वाही मे=उसी मे। अटकाऊँ=रुका रहता था। बारिधि तरंग=समुद्र की लहर। अगाऊँ=पहले ही। कथा=गुदडी। हिय की फूटी=ज्ञान-हीन। खराऊँ=खडाऊँ। षटदरसी=षट दर्शनो को जानने वाले। बारहखड़ी=अक्षर ज्ञान।

प्रसग—प्रस्तुत पद मे उद्धव ने अपनी उस दशा का वर्णन किया है जो ब्रज मे जाकर हुई थी।

व्याख्या—हे प्रभु! यदि आप अनुमति दे तो मै आपको उस सुख का वर्णन करूँ जो मुझे ब्रज मे मिला है। वस्तुतः ब्रज मे मेरी जो दुर्दशा हुई उसका एक सुखद फल तो यह हुआ कि मुझे भक्ति भाव की उपलब्धि हुई है और दुर्दशा का दुख तो होना चाहिए था, क्योकि मैने कृष्ण की अनन्य प्रेमिकाओ को निर्गुण-ब्रह्म की कथा सुनाकर दुखी किया था। उसका प्रतिफल मिलना तो आवश्यक था। मैं तो निर्गुण-ब्रह्म सम्बन्धी कोई एक बात कह कर उसी मे अटका रहता था किन्तु गोपियाँ तो सागर की तरगो के समान उमड़ पडती थी। उनकी प्रेम तरगो की थाह पाना सम्भव नही था। वे सभी नाना प्रकार के प्रश्नो की बौछार करने लगती थी तो उनका जवाब दे पाना असम्भव हो जाता था। यह सोचकर कि गोपियो के कौन-कौन से प्रश्नो का उत्तर दे सकूँगा, मै पहले ही वहाँ से भाग आया हूँ।

मै तो उन्हे निर्गुण-ब्रह्म का तत्त्व ज्ञान सुनाकर, योगमार्ग समझाकर जीवनमुक्ति का मार्ग दिखाने का प्रयत्न करता रहा, निर्गुण की उपासिका सन्यासिनी बनाने की कोशिश करता था किन्तु वे उलटे मेरे सिर के बालो की माँग निकाल रही थी, मुझे सगुण-साकार की रागानुगाभक्ति की ओर प्रेरित कर रही थी। इस प्रकार प्रेमपगी गोपियो को निर्गुण-ज्ञान की कथा कैसे ओढ़ा सकता था। प्रेमाभक्ति के समक्ष ज्ञान और योग कथा की तरह ही

अनाकर्षक सिद्ध हुआ। मेरी स्थिति तो उसी के समान हो गई जैसे कोई आँखो से अन्धी हो, और उसकी ज्ञान की आँखे भी फूट जाएँ और वह महामूर्ख लकडी की खड़ाऊँ पहन कर भागने लगे। ऐसी स्त्री अपने हाथ-पैर तोड लेती है। मैं भी अपना ज्ञान और योग भूल कर उनकी भक्तिभावना से प्रभावित हो चुका हूँ। मेरी मूर्खता तो इसी से स्पष्ट हो जाती है कि मैं प्रेमाभक्ति में मग्न गोपियो को निर्गुण का ज्ञान देने चला गया, वे गोपियाँ जो छहो शास्त्रों की ज्ञाता हैं उन्हे ज्ञान का उपदेश विद्वान को अक्षरज्ञान करवाने के समान ही है। इसी मूर्खता के कारण ब्रज में जाकर मुझे यह दुख भोगना पडा है।

विशेष—उद्धव ने स्वानुभूति के आधार पर ज्ञान और योग मार्ग को प्रेमाभक्ति से तुच्छ और नीरस बताया है।

अलंकार—(१) 'वै उमडी······न पाऊँ'—उपमा।
(२) 'कौन कौन······अगाऊँ'—पुनरुक्तिप्रकाश।

तब तें इन सबहिन सचु पायो।
जब ते हरि-संदेस तिहारो सुनत तांवरो आयो॥
फूले ब्याल, दुरे ते प्रगटे, पवन पेट भरि खायो।
मूले मृगा चौंकि चरनन तें, हुतो जो जिय बिसरायो॥
ऊँचे बैठि विहंग-सभा-बिच कोकिल मंगल गायो।
निकसि कंदरा तें केहरि हू माथे पूंछ हिलायो॥
गृहबन ते गजराज निकसि कै अग अंग गर्व जनायो।
सूर बहुरिहो, कह राधा, कै करिहो बैरिन भायो? ॥३६०॥

शब्दार्थ—सबहिन=सभी ने। तांवरो=ज्वर। ब्याल=सर्प। दुरे=छुपे हुए। चरनन=चरते हुए। हुतो=था। विहग-सभा=पक्षियो की सभा। कदरा=गुफा। जनायो=प्रकट किया। बहुरिहो=लौट आओ। बैरिन-भायो=दुश्मनो को अच्छा लगे।

प्रसग—प्रस्तुत पद मे उद्धव ने राधा का कृष्ण के नाम संदेश कहा है, जिसमे विरहिनी राधा के सताप का चित्रण किया गया है।

व्याख्या—हे प्रभु! राधिका जी ने आपके नाम एक सदेश भेजा है, जिसमे उन्होने अपनी दशा का वर्णन किया है। श्रीराधिका ने कहला भेजा है कि हे प्रभु! जब से मैंने आपका सदेश सुना, ज्ञान और योगमार्ग का अवलम्ब

अपनाने का उपदेश सुना है तभी से मुझे विषम ज्वर ने घेर लिया है। आपके वियोग मे विरह-ज्वर न मुझे इस प्रकार घेर लिया है जिससे मेरा शरीर क्षीण, शोभाहीन हो गया है। अभी तक मेरे शारीरिक सौन्दर्य के लिए तुमने जो भी उपमान माने थे वे सभी सदा छिपे रहते थे किन्तु अब तो शारीरिक सौन्दर्य नष्ट हो गया है इसलिए सर्प, कोयल, सिह आदि सभी वैरी सचमुच सुख पा रहे है।

आपके साथ रहते हुए मेरी वेणी के काले, घु घराले, कोमल, चिकने बालों को देखकर सर्प लज्जित होकर छुप गए थे किन्तु अब तुम्हारे वियोग के कारण वेणी का सौन्दर्य नष्ट हो गया, बाल सूखे, बिखरे हुए और उलझे हुए हैं, इसलिए सर्प प्रसन्नता मे फूले नही समाते और अपने बिलो से बाहर आकर भरपेट वायु भक्षण कर रहे है। पहले तो मेरी आंखो की सुन्दरता को देखकर चरते हुए मृग चौक पड़ते थे किन्तु निरन्तर आपकी बाट जोहते हुए आँसू बहाती हुई आँखो का सौन्दर्य नष्ट हो चुका है, इसलिए अब हिरन भी नही चौकते। मेरे कण्ठ का माधुर्य रो-रोकर नष्ट हो गया है इसलिए कोयल पक्षियो के समूह मे बैठकर निश्चित होकर गीत गाती है। शरीर की क्षीणता ने सौन्दर्य तथा शारीरिक अनुपात को भी बिगाड़ दिया है, यही कारण है कि मेरी कमर के सौन्दर्य की चिन्ता न करके सिह अपनी गुफा से बाहर आकर गर्व से माथा उठाकर पूछ हिला रहे है। अब मेरी गति में वह मस्ती नही रही जो आपके यहाँ रहते हुए थी, इसे समझकर हाथी भी जगल के घरो से बाहर आकर मस्ती में चलने लगे है। इसलिए हे कृष्ण ! आप पुनः यहाँ लौट आओ, राधा की प्रार्थना है कि आप आकर हमे दर्शन दे, नही तो वही करो जो शत्रुओ के मन को अच्छा लगता है। आप नही आये तो मेरा नष्ट होना निश्चित ही है।

विशेष—इस पद मे शृगार-काव्य मे मान्य उपमानो के माध्यम से राधा के सौन्दर्य तथा विरह सताप का मार्मिक और कलात्मक चित्रण हुआ है। कवि ने नख-शिख वर्णन की पुरानी परम्परा मे अपनी मौलिकता का भी परिचय दिया है।

अलंकार—(१) 'जबते······भरि खायो'—उत्प्रेक्षा।
(२) 'भूले······बिसरायो'—श्लेष।
(३) 'ऊँचे बैठि······हिलायो'—अतिशयोक्ति।

(४) 'गृहवन······जनायो'—पुनरुक्तिप्रकाश।

सुनहु स्याम जू वै ब्रज-बनिता बिरह तुम्हारे भईं बावरी।
नाहिन नाथ और कहि आवत छांड़ि जहाँ लगि कथा रावरी॥
कबहुँ कहति हरि माखन खायो कौन बसै या कठिन गाँव री।
कबहुँ कहति हरि ऊखल बांधे घर घर तें लै चलो दांवरी॥
कबहुँ कहति ब्रजनाथ बन गए जोवत मग भई दृष्टि झाँवरी।
कबहुँ कहति वा मुरली महियाँ लै लै बोलत हमरो नाँव री॥
कबहुँ कहति ब्रजनाथ साथ तें चंद्र ऊग्यो है एहि ठाँव री।
सूरदास प्रभु तुम्हरे दरस बिनु अब वह सूरति भई साँवरी॥३६१॥

शब्दार्थ—बावरी=पगली। रावरी=आपकी। दांवरी=रस्सी। जोवत=देखते हुए। झावरी=धु धली। महियाँ=मे। ठांव=स्थान।

प्रसंग—ब्रज से लौटने के बाद उद्धव श्रीकृष्ण से विरहोन्माद से संतप्त गोपियो की दशा का वर्णन करते हुए कहते है।

व्याख्या—हे श्यामसुन्दर! आपके वियोग मे वे गोपियाँ विक्षिप्त सी हो गई है, ब्रज-बालायें लगातार वियोग का दुख झेलती हुई अपने तन-वदन की सुध-बुध खो बैठी है। हे नाथ! उनके मुख से आपकी कथाओ को छोड़ कर और कुछ भी नही निकलता। हर समय केवल आपकी लीलाओ का गान करती रहती हैं। कभी कहती है कि कृष्ण ने सारा माखन छीन कर खा लिया है, अब इस दुष्ट गांव मे, चोरो के गांव मे कौन रहे? कभी कहती है कि माता यशोदा ने कृष्ण को ऊखल से बांध दिया है इसलिए अपने-अपने घर से रस्सी लेकर चलो, जिससे कृष्ण को मजबूती से बांध लिया जाय। कभी कहती हैं कि ब्रजपति वन की ओर गए हैं, उनका मार्ग देखते हुए आँखें भी धुंधली हो गई हैं किन्तु वे अभी तक लौट कर नही आए। कभी कहती हैं कि वे कृष्ण मुरली के मधुर स्वरो मे हमारा नाम लेकर पुकार रहे है, चलो उनके साथ रासलीला का समय हो गया है। कभी कहती है कि इसी स्थान पर श्रीकृष्ण के साथ चन्द्रमा का उदय हुआ था, किन्तु अब वही चन्द्रमा (राधा) आपके वियोग का सताप सहते-सहते सावली मूर्ति बन गई है।

विशेष—श्रीकृष्ण की लीलाओ का स्मरण करते हुए गोपियो के व्यंग्यार्थ

मे उनकी भावात्मकता की सुन्दर और आकर्षक अभिव्यक्ति इस पद मे हुई है।

अलंकार—'कबहुँ कहति······भई सावरी—रूपकातिशयोक्ति।

हरि आए सो भली कीनी।
मोहिं देखत कहि उठी राधिका अक तिमिर को दीनी॥
तनु अति कँपति बिरह अति व्याकुल उर धुकधुकी खेद कीनी॥
चलत चरन गहि रही गई गिरि स्वेद-सलिल भय भीनी॥
छूटी लट, भुज फूटी बलया, टूटी लर, फटि कंचुकि झीनी।
मनो प्रेम के परन परेवा याही ते पढ़ि लीनी॥
अवलोकति यहि भाँति मानो छूटी अहिमनि छीनी।
सूरदास प्रभु कहौ कहाँ लगि है अयान मति हीनी॥३६२॥

शब्दार्थ——भली कीनी=अच्छा किया। अक=हृदय। तिमिर=अधकार। खेद=दुख। स्वेद-सलिल=पसीने का जल। बलया=वलय, कगन। झीनी=बारीक। परेवा=कबूतरी। याही ते=इसी से। अवलोकति=देखती। अहिमनि=सर्प की मणि। अयान=अज्ञानी। मति हीनी=पागल।

प्रसंग—प्रस्तुत पद मे कृष्ण विरह मे निरन्तर जलते हुये राधा की विक्षिप्तावस्था का वर्णन करते हुए उद्धव श्रीकृष्ण को ब्रजप्रवास के अनुभव बताते है।

व्याख्या—हे प्रभु! आपके विरहोन्माद मे राधा इतनी व्याकुल है कि उसे अपने-पराये का भी भान नही रहता। जिस समय मैं ब्रज मे गया तो राधा मुझे देखकर कहने लगी कि हे कृष्ण! आपने बहुत अच्छा किया जो ब्रज मे लौट आये हो। ऐसा कह कर राधा उठी और अधकार को ही आपका रूप मानकर उसे अक मे भरने को आतुर हो उठी। उस समय राधा का शरीर विरह की आकुलता के कारण काँप रहा था, उसके हृदय मे व्याप्त दुख के कारण उसकी धडकने भी तेज हो गई। अधकार को कृष्ण समझने का भ्रम दूर होने पर उसमे सकोच और भय व्याप्त हो गया।

जिस समय मैं मथुरा के लिए चलने लगा तो राधा ने मेरे पैरो को पकड लिया, सभल न सकने पर वह गिर पड़ी, उस समय किसी अज्ञात आशका से उसका सारा शरीर पसीने से भीग गया था, उस समय राधा की स्थिति अत्यन्त

दयनीय थी। राधा के बाल बिखरे हुए थे, बाँहो मे पड़े कगन टूट गए थे, गले की माला टूट कर बिखर गई थी और बारीक वस्त्र से बनी चोली फट गई थी। राधा की यह स्थिति देखकर ऐसा प्रतीत होता था कि इससे ही उसके प्रेम को पढ़ा जा सकता है। किसी फन्दे मे पड़ी कबूतरी जिस प्रकार छटपटाती है, राधा का भी यही हाल था। वह इस प्रकार व्याकुल होकर देख रही थी जैसे सर्प मणि खोकर व्याकुल हो जाता है। हे प्रभु! मैं राधा की स्थिति का कहाँ तक वर्णन कर सकता हूँ। मैं तो अज्ञानी हूँ, बुद्धिहीन हूँ, इसलिए मेरी यह सामर्थ्य ही कहाँ है कि मैं राधा के उन्माद का वर्णन कर सकूँ।

विशेष—इस पद मे राधा के विरहोन्माद का प्रभावशाली ढग से चित्रण किया गया है।

अलंकार—(१) 'छूटी लट······झीनी'=अनुप्रास।
(२) 'अवलोकति······छीनी'=उत्प्रेक्षा।

सुनो स्याम यह बात और कोउ क्यो समुझाय कहै।
दुहुँ दिसि को रति-विरह विरहिनी कैसे कै जु सहै॥
जब राधे तबही मुख माधो माधो रटति रहै।
जब माधो होइ जात सकल तनु राधा विरह दहै॥
उभय अग्र दौ दारु-कीट ज्यो सीतलताहि चहै।
सूरदास अति विकल बिरहिनी कैसेहु सुख न लहै॥३६३॥

शब्दार्थ—दुहुदिसि=दोनो ओर। रति-विरह=प्रेम का वियोग। दहै=जलाये। उभय=दोनो।

प्रसंग—प्रस्तुत पद मे राधा के विरहोन्माद का चित्रण है। वियोग सताप में एक स्थिति ऐसी भी आती है जब प्रेमी प्रियतम से तादात्मय कर लेता है। वह एक ही समय मे अपने और अपने प्रियतम के हाव-भावो का अनुकरण करने लगता है। इसी भाव को इस पद मे दर्शाया गया है।

व्याख्या—हे श्याम! यह बात कि राधा किस प्रकार वियोग दुख सहा करती है कोई भी नही कह सकता। इसका स्वरूप वही समझ सकता है जिस। स्वयं उसका अनुभव किया हो। एक विरहिनी प्रेम-वियोग के दोनो पक्षो का दुख कैसे भोगती है इसे कहा नही जा सकता। राधा की स्थिति यह है कि जब

वह राधा रूप मे होती है तो उस समय माधव-माधव की रट लगाए रहती है। जब प्रियतम का नाम स्मरण करती हुई वह अपने को उसी रूप में समझने लगती है, स्वयं को कृष्ण मान लेती है तब भी उसका शरीर विरहाग्नि में जलता रहना है। जिस प्रकार कोई कीडा लकडी मे घर बनाकर रहता है, अगर लकडी के दोनो किनारो पर आग लग जाय तो वह कीडा अग्नि से बचने के लिए तडपता है, भटकता है, सुख और शीतलता पाने की इच्छा करता है। राधा की स्थिति भी कुछ इसी प्रकार की है। वह निरन्तर वियोग दुख सहती जा रही है उसे किसी भी रूप में, राधा अथवा कृष्ण, सुख, शान्ति नही मिलती।

विशेष—शृगार रस के कवियो ने इस प्रकार की स्थिति का अनेक काव्यों मे चित्रण किया है। महाकवि सूरदासजी ने अपने भक्ति सिद्धान्तो के अनुरूप इसका भव्य चित्रण किया है।

अलकार—(१) 'जब राधे······रहै'—पुनरुक्तिप्रकाश।
(२) 'उभय अग्र······चहै'—उपमा।

उमगि चले दोउ नैन विसाल।
सुनि सुनि यह संदेस स्यामघन सुमिरि तिहारे गुन गोपाल॥
आनन बपु उरजनि के अतर जलधारा बाढ़ी तेहि काल।
मनु जुग जलज सुमेर-सृग ते जाय मिले सम ससिहि सनाल॥
भीजे बिय आँचर उर राजित तिन पर बर मुकुतन की माल।
मनो इंदु आए नलिनी-दलऽलकृत-अमी-ओसकन-जाल॥
कहँ वह प्रीति रीति राधा सो कहँ यह करनी उलटी चाल।
सूरदास प्रभु कठिन कथन तें क्यों जीवै बिरहिनि वेहाल॥३६४॥

शब्दार्थ—उमगि=उमडकर। तिहारे=तुम्हारे। आनन=मुख। बपु=शरीर। उरजनि=उरोजो। जलज=कमल। सृग=शिखर। सनाल=नाल सहित। बिय=दोनो। आँचर=आँचल। इन्दु=चन्द्रमा। अमी=अमृत।

प्रसग—कृष्ण के योग सन्देश तथा ज्ञानोपदेश सुनकर राधिका जी की जो दशा हुई थी उसी का वर्णन इस पद मे किया गया है। उद्धव श्रीकृष्ण को राधा की दशा का वर्णन करते है।

व्याख्या—हे कृष्ण ! जब निर्गुण-ब्रह्म और ज्ञान-योग का सन्देश श्रीराधिका जी ने सुना तो निर्गुण की नीरसता, योग-साधना की कठोरता उन्हें असह्य लगी, उस समय श्यामघन के समान आपके स्वरूप तथा गुणो का स्मरण करते हुए उनकी बडी-बडी आँखो मे आँसू छलक आये। आपके सन्देश को सुनने के साथ ही उनके आँसू मुख पर ढुलक पडे, और दोनो उरोजो के मध्य मे से होती हुई जलधारा प्रवाहित होने लगी। राधा के मुख पर वहते आँसुओ को देखकर ऐसा प्रतीत होता था मानो दो कमल सुमेरु पर्वत के दो शृंगो से कमल नाल सहित उठकर चन्द्रमा के बराबर पहुँच गए हो।

श्रीराधिका जी के आँसुओ से भीगे आँचल मे दोनो उरोज शोभा दे रहे थे, उन पर सुन्दर मोतियो की माला लहरा रही थी जिसे देख कर यह प्रतीत होता था मानो राधा-मुख रूपी चन्द्रमा के प्रगट होने पर कमलिनी रूपी उरोजो पर अमृत के समान ओसकणो का जाल शोभा दे रहा हो। चन्द्रमा से अमृत द्रवित होता है, यहाँ भी आँसुओ को अमृत माना गया है। हे कृष्ण कहा तो आप राधा को अत्यधिक प्यार करते थे और कहाँ अब योग-सन्देश भेज कर उसे सताने वाला यह उल्टा कार्य किया है। हे प्रभु ! तुम्हारे सन्देश मे निहित कठोरता-सगुण साकार कृष्ण को भुला कर निर्गुण निराकार मे ध्यान लगाना —को सुनकर इतनी अधिक व्याकुल होने वाली राधिका विरह दुख सहती हुई जीवित कैसे रहेगी ?

विशेष—उक्त पद मे राधा की विरह-व्यथा, उसके सौन्दर्य, भावुकता तथा प्रेम का आलकारिक भाषा मे सरस चित्रण किया गया है। कवि के राधा के सौन्दर्य का चित्रण करने मे काव्य-मर्मज्ञता की सुन्दर अभिव्यक्ति देखी जा सकती है।

अलंकार—(१) 'सुनि सुनि······गोपाल'—पुनरुक्तिप्रकाश।

(२) 'आनन वपु······माल'—उत्प्रेक्षा।

नैन घट घटत न एक घरी।
कबहुँ न मिटत सदा पावस ब्रज लागी रहति झरी।
विरह इन्द्र बरसत निसिबासर यहि अति अधिक करी।
उरध उसास समीर तेज जल उर भुवि उमँगि भरी।

बूडति भुजा रोम द्रुम अंबर अरु कुच उच्च थरी।
चलि न सकत थकि रहे पथिक सब चंदन कीच खरी।
सब ऋतु मिटि एक भई ब्रज महि यहि बिधि उलटि धरी।
सूरदास प्रभु तुम्हरे बिछुरे मिटि मर्याद टरी ॥३६५॥

शब्दार्थ—घट=घडा। घरी=घडी। पावस=बरसात। निसिवासर=रातदिन। उरध=दीर्घ। उसास=आहे। भुवि=भूमि। बूडति=डूबती। द्रुम=वृक्ष। टरी=समाप्त हुई।

प्रसग—प्रस्तुत पद मे विरहिनी गोपियो की व्यथा का वर्णन किया गया है। कृष्ण की याद मे आँसू बहाती हुई गोपियो की मनोदशा का उल्लेख उद्धव ने इस प्रकार किया है।

व्याख्या—हे प्रभु ! जब से आप ब्रजभूमि को छोड कर आए हैं तभी से गोपिया निरन्तर आँसू बहा रही है। उनके नेत्र रूपी घडे एक घडी के लिए भी कम नही होते, आँसू रुकते नही। ब्रजभूमि मे निरन्तर आँसुओ की झडी देखकर प्रतीत होता है कि ब्रजभूमि मे सदा वर्षा ऋतु छायी हुई है जो कभी बन्द नही होती। विरह रूपी इन्द्र रात-दिन बरसता रहता है, इसी के कारण यह झडी भी बढती जाती है। गोपियो के दीर्घ निश्वास ही तेज वायु है, जिससे आँसुओ की धारा अधिक तेज होकर बहती है, जिसमे उमगो भरा हृदय ही भूमि के समान भीगता रहता है। जिस प्रकार अति वृष्टि धरती आकाश को भर देती है उसी प्रकार आँसुओ की झडी में राधाजी की भुजाओ रूपी शाखाएँ, रोम रूपी वृक्ष, वस्त्र रूपी आकाश तथा उरोज रूपी ऊँचे ऊँचे शिखर डूब रहे हैं। आँसुओ के इस प्रवाह ने गोपियो के शरीर पर चर्चित चन्दन को धो दिया है। जिससे ब्रज की गलियो मे चन्दन की कीचड भर गयी है, जिसके कारण पथिक चल नही सकते, सभी मार्ग मे रुके हुए है। विधाता ने जैसे ऋतुओ के क्रम को उलटा कर दिया है क्योकि ब्रज मे तो केवल एक ही ऋतु—वर्षा ऋतु छायी रहती है। हे प्रभु ! केवल आपसे बिछुडने के कारण ही यह मर्यादा मिट गयी है, केवल आपका दर्शन होने से ही ब्रज की यह विपत्ति मिट सकती है।

विशेष—उक्त पद मे वियोगावस्था का चमत्कारक शैली मे प्रतिपादन किया गया है। वियोगिनी गोपियो के आँसुओ का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन कवि की कलात्मकता का परिचायक है।

अलकार—(१) 'नैन घट······घटी'—अनुपास, रूपक ।
(२) 'विरह······भरी'—सागरूपक ।
(३) बूडति······खरी'—अतिशयोक्ति ।

मै समुझाई अति, अपनो सो ।
तदपि उन्हे परतीति न उपजी सबै लख्यो सपनो सो ।
कही तिहारी सबै कही मै और कछू अपनी ।
श्रवन न बचन सुनत हैं उनके जो घट महँ अकनी ।
कोइ कहै बात बनाइ पचासक उनकी बात जु एक ।
धन्य धन्य जो नारी ब्रज की बिनु दरसन इहि टेक ।
देखत उमँग्यो प्रेम, यहाँ की धरी रही सब, रोयो ।
सूरदास हौं रह्यौ ठगो सो ज्यों मृग चौंको भोयो ॥३९६॥

शब्दार्थ—अति=बहुत । परतीति=विश्वास । लखो=दिखाई देना । घट=घडा । अकनी=गूज । टेक=प्रतिज्ञा । उमग्यो=उमड़ा हुआ । भोयो =भ्रम मे पडा हुआ ।

प्रसंग—कृष्ण का योग सन्देश लेकर, गोपियो को समझाने के लिए उद्धव ब्रज गए, किन्तु बहुत प्रयत्न करने पर भी सफलता न मिली तो वापस आकर कृष्ण को बताने लगे—

व्याख्या—हे प्रभु ! मैंने आपके सन्देश—निर्गुण ब्रह्म, ज्ञान और योग-साधना को अपनी क्षमता के अनुसार गोपियो को समझाने का बहुत प्रयत्न किया किन्तु उन्हे फिर भी विश्वास नही हुआ । उन सबने मेरी बातो को इसी प्रकार देखा जैसे कोई स्वप्न देखता है, वह स्वप्न आकर्षक होकर भी उसे मिथ्या ही माना जाता है । मैंने आपकी कही हुई सभी बाते उन्हे कही, कुछ अपनी ओर से भी उन्हे समझाया लेकिन वह भी व्यर्थ रहा, उनके कानो पर कोई असर न हुआ । जिस प्रकार घडे मे बात करने से अपनी बात प्रतिध्वनि बनकर सुनाई देती है उसी प्रकार मेरे कानो मे मेरी आवाज ही गूँजती रही, गोपियो पर उसका लेशमात्र भी प्रभाव नही पड़ा । प्रेमाभक्ति मे मग्न उन गोपियो के सामने चाहे कोई पचासो बाते बनाकर कहता रहे किन्तु उनकी तो एक ही बात है, एक ही निश्चय है कि श्रीकृष्ण उन्हे दर्शन देंगे । उनके इस निश्चय को देखकर तो यही कहना पडता है कि वे ब्रजागनाएँ धन्य हैं जो एक ही जिद पर

अडी रहती है कि उन्हे कृष्ण-दर्शनो के अतिरिक्त और कुछ भी नही चाहिये ।

हे श्यामसुन्दर, गोपियो के इस अनुपम प्रेम को देखकर मै इतना प्रभावित हुआ कि मैं जो कुछ भी यहाँ से लेकर गया था, निर्गुण-ब्रह्म तथा उसे पाने के लिए ज्ञान-योग व योग-साधना के सिद्धान्त, वे सब धरे-के धरे रह गए और प्रेमानुभूति पाकर मै भी रो पडा। जिस प्रकार कोई हिरण घास चरते-चरते अचानक वीणा के स्वर सुनकर चौक उठता है, उसी मे मग्न हो जाता है, उसी प्रकार मै भी उनकी प्रेमानुभूति को देखकर उसी मे खो गया ।

विशेष—उक्त पद मे प्रेमाभक्ति के प्रभाव तथा निर्गुण-भक्ति की अपेक्षा सगुण भक्ति की सहजता का सहज एव प्रभावी वर्णन हुआ है ।

अलकार— (१) 'कहि तिहारी······अपनी'—यमक ।

(२) 'धन्य······इहि टेक'—पुनरुक्तिप्रकाश ।

(३) 'सूरस्याम······भोयो'—उपमा ।

सुनि लीन्हो उनही को कह्यो ।
अपनो चाल समुझि मनही मन गुनि अरगाय रह्यो ।।
अवलनि सो कहि परै जापै वात तोरि कनिकानि ।
अनवोले पूरो दै निवह्यो बहुत दिनन को जानि ।।
जानि वूझि कै हौ क्यों पठयो सठ बावरो अयानो ।
तुमहू बूझि वहुत वातन को वहाँ जाहु तौ जानो ।।
आज्ञा भंग होय क्यो मोपै गयौं तिहारे ठीले ।
सूर पठावन ही की ओरी रह्यो जु गज सों लीले ।।३९७।।

शब्दार्थ—गुनी=समझ कर। अरगाय=अलग । तोरि कनिकानि=एक-एक रहस्य खोलकर। अनबोले=विना बोले । निवह्यो=निर्वाह किया । पठयो=भेजा । अयानो=अनजान । वूझि=समझना । ठीले=ठेलने से । ओरी=जिद ।

प्रसंग—प्रस्तुत पद में उद्धव ने व्रज से लौटने पर अपनी असफलता का वर्णन किया है।

व्याख्या—हे कृष्ण ! मैने व्रज में जाकर उन गोपियो की बातो को ही सुना और मन ही मन मे उन वातो पर विचार किया कि मैं जिस निर्गुण-ब्रह्म

का उपदेश इन्हे सुनाने आया हूँ वह इनके लिए उचित नही। मेरे हृदय से ज्ञान मार्ग का विश्वास समाप्त हो गया और मैं गोपियो के प्रेम मे ही मग्न हो गया। हे मित्र ! उन भावुक गोपियो के पास तो किसी ऐसे व्यक्ति को संदेश-वाहक बना कर भेजना चाहिए, जो किसी तत्व अथवा सिद्धान्त के एक-एक अंग का रहस्य खोलकर समझाने मे समर्थ हो, जो स्त्रियो मे वार्ता करने की कला मे प्रवीण हो। मैंने तो बिना बोले ही अपने कर्तव्य का निर्वाह किया, गोपियो की बातो का उत्तर नही दे सका और उनकी प्रेमाभक्ति से प्रभावित होकर यह समझ आया हूँ कि उन्हे योग की शिक्षा देना उचित नहीं, केवल मूर्खतापूर्ण कार्य है।

हे मित्र ! आपने यह जानकर भी कि मैं दुष्ट, पागल तथा अनजान हूँ, मुझे गोकुल मे क्यो भेजा ? तुम स्वय बहुत बातें जानते, समझते हो, बड़े ज्ञानी एव चतुर हो किन्तु यदि तुम स्वय वहा जाओ तो पता चल जायेगा कि तुम्हारी योग्यता किस प्रकार की है। तुम स्वयं भी गोपियो को योग की शिक्षा न दे सकोगे। मैं असफल हो गया हूँ, इसमे मेरा क्या दोष ? मैं तो केवल आपके आदेश पर वहाँ गया, क्योंकि आपकी आज्ञा का उल्लघन नही कर सकता था। केवल आपकी जिद और उतावलेपन के कारण मुझे वहा जाना पड़ा। आपका उतावलापन तो हाथी के समान था, जो किसी भी वस्तु को शीघ्र निगलने को आतुर रहता है। इसी जिद के कारण ही मुझे असफलता मिली है।

विशेष—उक्त पद मे उद्धव की निरीहता और दीनता की झलक मिलती है, जो ज्ञान गर्व की समाप्ति के पश्चात उन्हे प्राप्त हुई। कृष्ण को चुनौती देकर योग शिक्षा के लिये उकसाने मे सख्य भाव के साथ रागानुगा-भक्ति का प्रभाव भी लक्षित होता है।

अलकार—(१) 'अपनी चाल···रह्यो'—अनुप्रास।

(२) 'सूर पठावन···लीले'—उपमा।

जो पै प्रभु करुना के आलै।
तौ कत कठिन कठोर होत मन मोंहि बहुत दुख सालै।।
वहौ बिरद की लाज दीनपति करि सुदृष्टि देखौ।
मोसो बात कहत किन सनमुख कहा अवनि लेखौ।।

निगम कहत बस होत भक्ति तें सोऊ है उन कीनी ।
सूर उसास छाँड़ि हा हा व्रज जल अँखियाँ भरि लीनी ॥३६८॥

शब्दार्थ—आलै=आलय, घर । कत=क्यो । सालै=पीडित करता है । वही विरद=यश की रक्षा करो । सुदृष्टि=कृपा दृष्टि । अवनि=पृथ्वी । सोऊ=वही ।

प्रसग—गोपियो की प्रेमानुभूति और उसके परिणाम को स्वय देख लेने पर उद्धव का हृदय कृष्ण के कठोर व्यवहार से क्षुब्ध है । अपनी इसी भावना का वर्णन करते हुए उद्धव कहते है कि—

व्याख्या—हे प्रभु ! यदि आप वास्तव मे करुणामय हो, दया के भण्डार हो तो गोपियो के प्रति आप इतने कठोर क्यो हैं ? सुनने मे तो यही आता है कि आप दयालु हैं, भक्तो पर आपकी विशेष कृपा रहती है । किन्तु गोपियो के प्रति उपेक्षा का व्यवहार देखकर मेरे मन को बहुत कष्ट हो रहा है । आप तो दीनबन्धु, दयालु, दीनो के रक्षक कहलाते हो कृपा करके अपने उसी यश की लाज बचा लो । व्रजवासी तो तन, मन, वचन से आप मे अनुरक्त हैं, आपके वियोग में बहुत दुखी हो रहे है, कृपा करके उन पर अपनी कृपा दृष्टि करके सबके दुख दूर करो ।

हे कृष्ण ! आप मेरे साथ वार्ता करते हुए आँखे धरती पर क्यों लगाये हुए हो ? लज्जा से जमीन मे क्यो गड़ते जा रहे हो, मुझसे आँखे मिलाकर बात क्यो नही करते ? गोपियो ने तो कोई अनुचित कार्य नही किया, उन्होंने वेद के मार्ग का अनुकरण किया है । वेदशास्त्र यह कहते है कि भक्ति से आप भक्तो के आधीन हो जाते हैं परन्तु आप तो उन्हे छोड कर यहाँ आ गये है । इस प्रकार श्रीकृष्ण से बाते करते हुए उद्धव को गोपियो की स्थिति याद आ गयी और वे हा व्रज ! हा व्रज ! कहते-कहते भावविभोर हो गये और उनकी आँखो मे अश्रुधारा प्रवाहित होने लगी ।

विशेष—इस पद मे उद्धव के परिवर्तित हृदय का सफल चित्रण है । रागानुगाभक्ति को ग्रहण कर लेने पर उसका अहकार विलीन हो गया और भक्ति की भावुकता में ही कृष्ण से भी व्यंग्य वार्ता करते दिखाई देते है ।

अलंकार—(१) 'तो कत…सालै'—अनुप्रास ।
(२) 'सूर उसास…भरि लीनी'—वीप्सा ।

फिरि फिरि मोपै कत दुख पावत ।
अब की ग्रौर चतुर कोउ पठवौ बारन ह्वै है आवत ॥
मै परमारथ सब समुझायो, रोष-सहित वै कोपी ।
सुफलकसुत को कहो मानिहैं आरति करिहैं गोपी ॥
इतनी सुनत कमलदललोचन खैंचि सुकर कर लीन्हो ।
सूर स्याम मुसकाय जानि जिय तरक जानि हँसि दीन्हो ॥३६६॥

शब्दार्थ—मोपै=मेरे कारण । बारन=देर नही । परमारथ=ब्रह्म ज्ञान । कोपी=क्रुद्ध हुई । सुफलकसुत=अक्रूर । आरति करिहैं=सत्कार करेगी । सुकर=स्वकर, अपने हाथो । तरक=तर्क, युक्ति ।

प्रसंग—उद्धव ब्रज से पराजित होकर आये तो उन्होने कृष्ण को अपनी दशा का वर्णन कर दिया । इस आशंका मे कि कही कृष्ण पुनः उन्हे ब्रज मे न भेज दे उद्धव श्रीकृष्ण को कहते है कि—

व्याख्या—हे प्रभु ! आप मुझे फिर ब्रज मे जाने को क्यो कहते हो, आप मुझे भेजकर, मेरे ही कारण दुखी क्यो होना चाहते हो । इस बार तो आप किसी चतुर, योग्य सन्देशवाहक को वहाँ भेजिये, जिससे उसे अधिक देर न लगे, शीघ्र ही सदेश ले भी आयेगा । उद्धव यह बताना चाहते हैं कि अब जो वहा योग साधना सिखाने जायेगा, गोपियाँ उसकी बात सुनने से पहले ही लौटा देगी ।

हे कृष्ण ! मैंने तो गोपियो को ब्रह्मज्ञान अपनी सामर्थ्य से बढ़ कर समझाया है, किन्तु मेरी बात सुनकर सभी गोपिया रोष मे भर कर क्रुद्ध हो गयी, मुझे बहुत जली-कटी सुनाई थी । इसलिये वहा किसी चतुर व्यक्ति को भेजिये । उद्धव एक सुझाव देते है कि अक्रूर जी को वहां भेजे ? उसे तो देखकर ही गोपियाँ उनकी आरती करेगी । उद्धव के सुझाव को सुनकर कृष्ण मुस्करा दिये, वे समझ गये कि उद्धव का मन्तव्य यह है कि यदि अक्रूर भी वहाँ जावेगे तो गोपियाँ उनकी गत बनायेगी । तर्क, भावुकता आदि को समझ-कर कृष्ण ने उद्धव को अपने हाथों से खीच कर हृदय से लगा लिया ।

विशेष—उक्त पद मे व्यंग्यार्थ का चमत्कार और भक्त-हृदय की सात्विकता आदि का आकर्षक चित्रण हुआ है।

अलंकार—(१) 'फिरि······पावत'—पुनरुक्तिप्रकाश।

(२) 'सुफलकसुत······गोपी'—श्लेष, वक्रोक्ति।

कृष्ण-वचन उद्धव-प्रति

ऊधो ! मोहिं ब्रज बिसरत नाही।
हंससुता की सुंदरि कगरी अरु कुंजन की छाही।
वै सुरभि, वै बच्छ दोहनी, खरिक दुहावन जाही।
ग्वालबाल सब करत कुलाहल नाचत गहि गहि बाहीं॥
यह मथुरा कंचन की नगरी मनि-मुक्ताहल जाहीं।
जबहिं सुरति आवति वा सुख की जिय उमगत, तनु नाही॥
अनगन भांति करी बहु लीला जसुदा नंद निबाही।
सूरदास प्रभु रहे मौन ह्वै, यह कहि कहि पछिताही॥४००॥

शब्दार्थ—बिसरत=भूलता। हंससुता=सूर्य-पुत्री यमुना। कगरी=किनारा। छाही=छाया। सुरभी=गौ। दोहनी=दूध दुहने का बर्तन। खरिक=बाड़ा, गोशाला। कुलाहल=शोर। जाही=जहाँ। सुरति=स्मृति। अनगन=अनेक।

प्रसग—भ्रमरगीत के इस अन्तिम पद मे ब्रज, गोपियो, गौओ आदि के विषय में श्रीकृष्ण के भावो का चित्रण है। उद्धव से ब्रज की परिस्थिति जानकर स्वय कृष्ण का मन भर आता है और वह उद्धव को कहते है—

व्याख्या—हे उद्धव ! मुझसे ब्रज की याद भुलाई नही जा सकती। ब्रज-भूमि की याद तो हर समय मेरे मन पर छायी रहती है। ब्रजभूमि का सौन्दर्य अनुपम है। सूर्यपुत्री यमुना के वे तट जहाँ हर समय सात्विकता फैली रहती है। घने कुजो की शीतल छाया, वे गौए, बछडे और हाथो मे दोहनी लेकर गोशालाओ मे दूध दुहने जाना सभी मे एक अलौकिक आनन्द था, जो कभी भी मन से दूर नही हो सकता। जब सायकाल बन से लौटते थे तो सभी ग्वाल बाल बाहो मे बाहे डाल, नाचते गाते हुए लौटा करते थे, वह कोलाहल होता था जिसे सुनने और देखने के लिय सम्पूर्ण ब्रज उमड पडता था। वह सब भला कैसे भूल सकता हूँ।

उद्धव ! यह जो मथुरा नगरी है, जहाँ पर अपार ऐश्वर्य है, सोने, चाँदी, धन-धान्य से, मणियों-मोतियों से सम्पन्न वैभवशाली भवनों से भरी हुई है। यहाँ मुझे सभी राजसी सुख और अधिकार उपलब्ध हैं किन्तु यह मथुरा भी ब्रजभूमि के सुखों से हेय है। मुझे जब भी ब्रज की याद आती है तो उसके सुख की याद में तन-मन की सुधि नहीं रहती। मन में अनेक भाव तरगें लहराती हैं किन्तु कर्त्तव्य में बधा शरीर वहीं का वहीं रह जाता है। मैंने वहाँ पर असख्य प्रकार की क्रीडायें की, नन्द बाबा और माता यशोदा को अनेक बार परेशान किया किन्तु उन्होंने हमारी किसी भावना की उपेक्षा नहीं की, सभी प्रकार से उन्होंने हमें कभी उदास नहीं होने दिया। इस प्रकार ब्रज की याद करते-करते श्रीकृष्ण गद्-गद् हो गये, भावातिरेक में बोलने की अपेक्षा मौन धारण कर लिया और केवल यह कह-कह कर पछताने लगे कि इस प्रकार के सरल, भावुक, निश्छल ब्रजवासियों के प्रेम को क्यों त्याग दिया।

विशेष – इसमें श्रीकृष्ण की जिन भावनाओं का वर्णन है उनसे एक ही सकेत मिलता है कि भगवान् भक्त के प्रति करुणा का त्याग नहीं करते। रागानुगाभक्ति का अनुयायी अपनी शुद्ध सात्विक भक्ति से भगवान् को अपनी ओर आकृष्ट कर ही लेता है।

अलंकार—सम्पूर्ण पद में—स्मरण।

—o—

पुस्तक सूची

प्रिय पाठक,

हमें आशा ही नही अपितु पूर्ण विश्वास है कि आपको हमारी यह पुस्तक अवश्य ही रूचिकर और लाभदायक लगी होगी, क्योंकि हमारा उद्देश्य ही आपको कम-से-कम मूल्य पर अधिक-से-अधिक उपयोगी सामग्री प्रदान करना है। फिर भी यदि आपको इस पुस्तक मे कुछ त्रुटियाँ अथवा अभाव महसूस हुए हो तो हमे अपने सुझाव अवश्य ही भेजिए, जिससे हम इन त्रुटियों को आगामी संस्करण के अवसर पर सुधार सके। छात्र-वर्ग की अधिक-से-अधिक सेवा करना ही हमारा लक्ष्य है, जिसमें आपका भी सहयोग वाँछनीय है। यदि आपको यह पुस्तक पसन्द है तो अपने अन्य साथियों को भी इसे खरीदने का परामर्श दीजिए।

टिप्पणी—हिन्दी-साहित्य से सम्वन्धित समस्त प्रकार की पाठ्य एवं सहायक पुस्तके हम अपने ग्राहकों को वाजार-मूल्य से रियायत पर देते हैं, तथा पुस्तके वी०पी०पी० द्वारा भी भेजते है। हमारी इस योजना का लाभ उठाइए।

अनीता प्रकाशन

हिन्दी एवं संस्कृत साहित्य
के प्रमुख प्रकाशक

हमारे प्रमुख प्रकाशन

प्राचीन काव्य

			मूल्य
1.	विद्यापति की पदावली—आलोचना एवं व्याख्या	—माया अग्रवाल	12-50
2.	कवीर-वाणी सार ,,	,,	10-00
3.	कवीर साखी सार ,,	,,	10-00
4.	मंझन कृत मधुमालती ,,	,,	10-00
5.	भ्रमर गीत सार(सूरदास) ,,	,,	15-00
6.	जायसी ग्रन्थावली ,,	,,	20-00
8.	भंवर-गीत (नन्ददासकृत)— ,,	,,	6-00
7.	बिहारी सतसई —आलोचना सहित आरम्भ से 210 दोहों की व्याख्या	—माया अग्रवाल	7-50
9.	केशव काव्य-सुधा आलोचना सहित व्याख्या	—डा० भाटी	8-00

आधुनिक काव्य

1.	साकेत : एक विवेचन—आलोचना सहित व्याख्या	—माया अग्रवाल	6-00
2.	साकेत : एक विवेचन—नवम सर्ग की आलोचना सहित व्याख्या	—माया अग्रवाल	4-50
3.	प्रिय प्रवास : एक विवेचन--आलोचना सहित व्याख्या	— ,,	10-00

4. नया सप्तक : एक विवेचन—नयी कविता सम्बन्धी शोधात्मक मूल्य
आलोचना और व्याख्या सहित —माया अग्रवाल 8-00
5. नया सप्तक—अज्ञेय और माथुर की कविताओं की आलोचना
सहित विस्तृत व्याख्या —माया अग्रवाल 7-50
6. नया सप्तक—अज्ञेय और मुक्तिबोध . —माया अग्रवाल 7-50
7. आज के लोकप्रिय हिन्दी कवि अज्ञेय : एक विवेचन—अज्ञेय की
कविताओं का आलोचनात्मक अध्ययन —माया अग्रवाल 6-00
8. लहर-मीमांसा—आलोचना और व्याख्या —डा० स्वदेश चावला 7-50
9. कामायनी : एक विवेचन—आलोचना और व्याख्या-डा० कृष्णदेव 10-00
10. उर्वशी : एक विवेचन—आलोचना और व्याख्या—माया अग्रवाल 7-50
11. उन्मुक्त : एक विवेचन— " " 7-50

नाटक

1. आधे अधूरे : एक विवेचन-आलोचना तथा व्याख्या—डा० कृष्णदेव 7-50
2. आषाढ़ का एक दिन : एक विवेचन " " 7-50
3. लहरों के राजहंस—एक विवेचन " " 7-50
4. अंधा-युग : एक विवेचन—आलोचना तथा व्याख्या —डा० कृष्णदेव 7-50
5. एक कण्ठ विषपायी : एक विवेचन " —डा० कृष्णदेव शर्मा 7-50
6. चन्द्रगुप्त : मूल्यांकन—आलोचना तथा व्याख्या —रमेश तरुण 6-00
7. स्कन्दगुप्त : मूल्यांकन— आलोचना तथा व्याख्या —रमेश तरुण 6-00
8. प्रतिनिधि एकांकी : एक विवेचन —माया अग्रवाल 5-00

काव्य शास्त्र

1. भारतीय काव्य शास्त्र—भारतीय काव्य शास्त्र पर सर्वोत्तम कृति
—डा० रामचंद्र वर्मा शास्त्री 20-00
2. भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य शास्त्र —माया अग्रवाल 10-00
3. भारतीय काव्य शास्त्र—प्रश्नोत्तर रूप में —माया अग्रवाल 6-00
4. पाश्चात्य काव्यशास्त्र—प्रश्नोत्तर रूप में —माया अग्रवाल 6-00

इतिहास और भाषा विज्ञान

1. हिन्दी साहित्य : प्रवृत्तियां और विकास—सरल-सुबोध किन्तु
समीक्षात्मक शैली में हिन्दी की विभिन्न प्रवृत्तियों का अध्ययन
—डा० रामचन्द्र वर्मा 13-50
2. भाषा-विज्ञान—भाषा-विज्ञान, हिन्दी-भाषा और देवनागरी लिपि
का वास्तविक विवेचन —डा० रामचन्द्र वर्मा 9-00
3. हिन्दी साहित्य का प्रवृत्यात्मक अध्ययन—प्रश्नोत्तर शैली में सरल
अध्ययन —माया अग्रवाल 7-50

उपन्यास एवं संस्मरण

मूल्य

1. यशपाल और उनकी दिव्या—यशपाल के जीवन-वृत्त और साहित्य सिद्धान्तों आदि सहित प्रौढतर आलोचना —डा० राजपाल शर्मा 10-00
2. महादेवी वर्मा और पथ के साथी—आलोचना और व्याख्या सहित —माया अग्रवाल 4-00

दीपिका और पथ-प्रदर्शिकाएँ

1. समीक्षायन दीपिका-आलोचना और व्याख्या —माया अगवाल 7-50
2. हिन्दी निबन्ध दीपिका—आलोचना और व्याख्या —माया अग्रवाल 2-50
3. [illegible] हिन्दी पद्य प्रदर्शिका—दिल्ली हिन्दी (आनर्स) द्वितीय वर्ष की समस्त पुस्तको का समीक्षात्मक अध्ययन—डा० कृष्णदेव शर्मा 15-00

संस्कृत की कृतियाँ

1. रघुवंश (प्रथम सर्ग)—विशद व्याख्या सहित—डा० रामचन्द्र वर्मा 4-00
2. किरातार्जुनीयम् (प्रथम सर्ग) विशद व्यख्या—डा० रामचन्द्र वर्मा 4-00
3. केनोपनिषद—विशद व्याख्या सहित —डा० रामचन्द्र वर्मा 4-00
4. साहित्य दपण . प्रश्नोत्तर रूप मे —डा० रामचन्द्र वर्मा 6-00
5. मुद्रा राक्षस ,, ,, —डा० रामचन्द्र वर्मा 4-00
6. दशकुमार चारितम् (प्रथम उच्छ्वास) —डा० रामचन्द्र वर्मा 4-00

हमारे द्वारा प्रचारित पुस्तकें

1. पंत और उनका रश्मिबंध—डा० देशराज सिह भाटी 5-00
2. राम की शक्ति पूजा —डा० देशराज सिह भाटी 4-00
3. यशोधरा की टीका—प्रो० श्याम मिश्र 6-00
4. अमृत और विष—प्रो० श्याम मिश्र 7-00
5. कथा भारती—डा० कृष्णदेव शर्मा 6-00
6. सन्धिनी की टीका—प्रो० श्याम मिश्र 5.00
7. सिन्दूर की होली : एक विवेचन—प्रो० श्याम मिश्र 2.00
8. प्रेमचन्द और उनकी कर्मभूमि—डा० प्रमिला गुप्ता 4-00
9. निराला और उनका तुलसीदास—प्रो० राजेश शर्मा 4-00
10. अपने अपने अजनबी—दुर्गा शकर मिश्र 7-50

हमारे प्रकाशनों के प्रमुख वितरक

कला-मन्दिर

दूरभाष : 278828

1687, नई सड़क, दिल्ली-6